श्रीश्रील सनातन गोस्वामीपाद विरचित

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय-खण्डम्

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीश्रील सनातन गोस्वामीपाद विरचित

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय–खण्डम्

प्रथम भाग

(श्रीगोलोक–माहात्म्यम्)

तत्कृत दिग्दर्शिनी टीका सहित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा
अनुवादित एवं सम्पादित

(श्लोकानुवाद तथा दिग्दर्शिनी टीकाके भावानुवाद सहित)

प्रकाशक
श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज

प्रथम संस्करण — ५००० प्रतियाँ
अपरा एकादशी तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२०
२३ मई, २००६

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

समर्पण

परम करुणामय एवं अहैतुकी कृपालु

अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म

नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी

प्रेरणासे

यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके

श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषय–सूची

प्रस्तावना .... पृष्ठ संख्या **क—ङ**

प्रथम अध्याय (वैराग्य) .... पृ०स० **१—१७२**

	विषय	श्लोक–संख्या
१)	श्रीजनमेजय द्वारा माता–पुत्र संवादके विषयमें प्रश्न, इसके उत्तरमें श्रीजैमिनी द्वारा गोलोक–महिमाकी व्याख्या आरम्भ, श्रीमती उत्तराके द्वारा व्रजगोपियों विशेषकर श्रीराधाजीके दास्यकी इच्छा करनेवालोंको प्राप्त होनेवाले लोककी जिज्ञासा	१—२४
२)	श्रीपरीक्षित द्वारा अपने सौभाग्यकी प्रशंसा करना, माताके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके उत्तरमें प्राग्ज्योतिषपुर निवासी विप्रके वृतान्त द्वारा श्रीगोलोककी महिमाका वर्णन, विप्रका दशाक्षर मन्त्र प्राप्त करना, वैराग्य, मन्त्रजप–निष्ठा, मन्त्र–देवताका दर्शन, श्रीशिवके द्वारा स्वप्नमें श्रीमथुरा जानेका आदेश	२५—५३
३)	विप्र द्वारा प्रयागमें माधव–पूजा–उत्सवका दर्शन, वहाँ उपस्थित वैष्णवोंके साथ वार्त्तालाप तथा पुराण आदि श्रवण करना, अपने अभीष्ट देवके विषयमें वितर्क, स्वप्नमें बिना विलम्ब किये मथुरा जानेके लिए श्रीमाधवका आदेश प्राप्त करना, विप्रका मथुरा गमन, विश्रान्ति तीर्थमें स्नान तथा वृन्दावनका वैभव दर्शन करके आनन्दित होना	५४—८७
४)	केशीतीर्थकी पूर्व दिशासे क्रन्दनकी आवाज सुनकर विप्रका कदम्बकुञ्जमें गमन, किशोररूप युक्त गोपकुमारका दर्शन प्राप्त करना, उन्हें	

प्रणामकर उनसे अपने साध्य-साधनके विषयमें पूछना, उसके उत्तरमें 'श्रीनामकीर्त्तनके द्वारा ही अभीष्टका दर्शन सम्भव' ऐसा विश्वास दिलानेके लिए गोपकुमार द्वारा अपने वृत्तान्तका वर्णन ८८—१०९

५) श्रीनामकीर्त्तनमें अनुरक्त किसी विप्रसे मन्त्र प्राप्त करना तथा मन्त्रजपके प्रभावसे चित्तशुद्धि, गृहत्याग, जाह्नवीके तट पर श्रीशालग्रामके पूजक विप्रके उपदेशसे उस देशकी राजपुरीमें श्रीनारायणकी सेवा-परिपाटी दर्शन करके वैसी पूजाका लोभ ११०—१५०

६) निःसन्तान राजाके पुत्र रूपमें ग्रहण होकर श्रीनारायण-पूजामें रत रहने पर भी राज्य-सम्बन्ध होनेके कारण चित्तक्षोभ, दक्षिण देशसे आये हुए तीर्थ-भ्रमणकारी साधुके श्रीमुखसे श्रीनीलाचलपतिकी महाकृपाको श्रवणकर उनके दर्शनकी इच्छासे वहाँ गमन तथा श्रीजगन्नाथदेवके नित्य नवीन महोत्सव दर्शनकर साक्षात्‌रूपमें वैसी सेवाको प्राप्त करनेकी लालसा १५१—१८२

७) नीलाचलके समुद्र तट पर मन्त्रदाता विप्रका पुनः दर्शन तथा उनसे उपदेश प्राप्ति, वहाँका राज्यधिकार प्राप्त करके श्रीजगन्नाथदेवकी सेवाका उत्तमरूपसे संचालन, राज्य सम्पर्क वशतः चित्तकी अप्रसन्नता, स्वप्नमें श्रीईश्वरका आदेश प्राप्तकर पुनः मथुरा गमन १८३—२१९

द्वितीय अध्याय (ज्ञान)........ पृ॰सं॰ **१७३—३८६**

१) मथुरामें कुछ काल वासके बाद श्रीजगन्नाथके दर्शनकी इच्छासे नीलाचलको जाते समय मार्गमें साधुमुखसे स्वर्गमें श्रीउपन्द्रेके सेवा-वैभवका श्रवण, मन्त्रजपके प्रभावसे उपस्थित विमान पर आरोहण (चढ़) कर स्वर्गमें गमन तथा वहाँ श्रीउपेन्द्रकी कृपा प्राप्त करना, किसी एक समय

इन्द्रकी अनुपस्थितिमें स्वर्गराज्यकी प्राप्ति तथा श्रीउपेन्द्रकी सेवा–परिपाटीका विधान १—३१

२) स्वर्गमें देवताओंके एक वर्ष तक वासके बाद भृगु आदि महर्षियोंका साक्षात् दर्शन, श्रीबृहस्पतिके मुखसे महर्लोकका परिचय श्रवण तथा मन्त्रजपके बलसे वहाँ गमन, यज्ञेश्वरकी सेवा प्राप्ति, जनलोकमें गमन, सनत्कुमारके दर्शन तथा महर्षियोंसे तपोलोककी महिमा सुनकर मन्त्रजपके प्रभावसे वहाँ गमन ३२—७५

३) तपोलोकमें चतुःसनका दर्शन, श्रीपिप्पलायनसे स्मरण और समाधिके विषयमें उपदेश प्राप्त करना, ध्यान–योगसे चतुःसन आदि द्वारा श्रीभगवान्का बहुरूप प्रदर्शन, तपोलोकमें ब्रह्माका आगमन, चतुःसनके मुखसे ब्रह्मा और सत्यलोकके तत्त्वका श्रवण ७६—१२८

४) गोपकुमारका सत्यलोकमें गमन, महापुरुषका दर्शन, श्रीलक्ष्मीदेवी द्वारा स्नेहयुक्त कृपाकी प्राप्ति, ब्रह्माका एक दिन समाप्त होने पर त्रिलोकके नाश दर्शन, दैत्योंके भयसे ब्रह्माके अदृश्य होने पर गोपकुमारको ब्रह्मपद प्राप्त, श्रुतियों द्वारा वर्णित मुक्ति और भक्तिका स्वरूपज्ञान १२९—१५९

५) मुक्तिसे भक्तिकी श्रेष्ठता, कर्म–ज्ञान–वैराग्य, समाधिसे भक्तिकी विशेषता, ब्रह्माण्डके बाहर अष्ट आवरणोंका विवरण, भक्तिकी महिमा सुनकर गोपकुमारकी भक्तिवृद्धि तथा श्रीभगवान्के साक्षात् आदेशसे श्रीवृन्दावन गमन १६०—२४०

तृतीय अध्याय (भजन) .... पृ॰स॰ **३८७—५२१**

१) वृन्दावनमें भ्रमण करते–करते अपने गुरुदेवका दर्शनकर उनके श्रीमुखसे उपदेश प्राप्ति, मन्त्रजपके प्रभावसे चिन्मय शरीर प्राप्त कर सप्त–आवरण

भेद करते हुए प्रकृतिके अतीत मुक्तिपदमें गमन, वहाँ श्रीशिव-पार्वतीका दर्शन प्राप्त करना १—५९

२) नन्दीश्वरके मुखसे श्रीमदनगोपाल तथा श्रीशिवका अभेद तत्त्वका श्रवण करना, श्रीगोपकुमार द्वारा अपने मनको आश्वासन देना, सारूप्य-प्राप्त वैकुण्ठ पार्षदोंका आगमन ६०—८३

३) श्रीपार्वतीके आदेशसे गणेश द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डोंके ऊपर स्थित वैकुण्ठकी महिमाका वर्णन, उसके श्रवणसे गोपकुमारकी वैकुण्ठवासकी लालसा तथा उसमें श्रीमहादेवका अनुमोदन, भगवान्के पार्षदों द्वारा श्रीशिवस्तुति तथा गोपकुमारको उपदेश, कीर्त्तनकी महिमा, उनके उपदेशसे गोपकुमारका व्रजमें आगमन ८४—१८६

चतुर्थ अध्याय (वैकुण्ठ) ...... पृ॰स॰ **५२३—७३९**

१) भावाविष्ट चित्तसे श्रीनामसंकीर्त्तनमें अनुरक्त गोपकुमारका व्रजमें भ्रमण करते-करते अपने ईष्टदेवके दर्शनसे प्रेममूर्च्छा तथा श्रीभगवान्के पार्षदों द्वारा उसको वैकुण्ठ लाना १—१९

२) वैकुण्ठका वैभव वर्णन, श्रीवैकुण्ठनाथका दर्शन, उनके दर्शनसे प्रेम-मोह (मूर्च्छा), पार्षदोंके द्वारा मूर्च्छाका दूर करना तथा भगवान्के समीप आये हुए गोपकुमारको वहाँ रहनेके लिए भगवान् द्वारा आदेश २०—८७

३) श्रीभगवान्के समीप गोपकुमारका वेणुवादन तथा श्रीवैकुण्ठ पार्षदोंके साथ वार्त्तालाप ८८—१०७

४) श्रीमदनगोपालकी कारुणाका स्मरणकर चित्तकी अस्थिरता, हठात् श्रीनारदका आगमन तथा गोपकुमारके हृदयको जानकर श्रीनारद द्वारा वैकुण्ठके अप्राकृततत्वका वर्णन १०८—२००

५) श्रीभगवान्‌की अर्चामूर्त्तिकी पूजाके विषयमें गोप–कुमारका प्रश्न तथा श्रीनारदके द्वारा श्रीविग्रह पूजाकी महिमाका वर्णन २०१—२३५
६) अभीष्टदेवकी दर्शनलालसा जानकर श्रीनारदका गोपकुमारके प्रति श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिए उपदेश प्रदान २३६—२४९
७) अयोध्यामें आये हुए गोपकुमारका हनुमान द्वारा स्वागत, गोपकुमार द्वारा श्रीरामचन्द्रका दर्शन तथा उनका स्तव, श्रीरामचन्द्रके द्वारा गोपकुमारका सादर आह्वान तथा द्वारका जानेके लिए आदेश प्रदान करना २५०—२७४

मूल–श्लोकानुक्रमणिका .... पृ॰स॰ **७४१—७५६**

उद्धृत–श्लोकानुक्रमणिका .... पृ॰स॰ **७५७—७६९**

शब्दकोश .... पृ॰स॰ **७७१—७७५**

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता आचार्यकेशरी नित्यलीला-प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए श्रीशचीनन्दन गौरहरिके नित्यपरिकर, भक्तिसिद्धान्त-चक्रवर्त्ती, परहित-कातर श्रील सनातन गोस्वामीकृत श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थके द्वितीय-खण्ड (प्रथम-भाग)को राष्ट्रभाषा हिन्दीमें टीका सहित प्रकाशित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थ दो खण्डोंमें विभक्त है—पूर्व और उत्तर। पूर्व-खण्डका नाम—श्रीभगवत् कृपासार निर्धारण खण्ड तथा उत्तर खण्डका नाम—श्रीगोलोक-माहात्म्य निरूपण खण्ड है। पूर्व-खण्ड सम्पूर्ण रूपमें प्रकाशित हो चुका है। इस द्वितीय या उत्तर-खण्डके प्रथम-भागमें प्रथम चार अध्याय (१) वैराग्य, (२) ज्ञान, (३) भजन तथा (४) वैकुण्ठ—प्रकाशित किये जा रहे हैं। इस ग्रन्थके दोनों खण्डोंमें एक-एक इतिहास है। पूजनीय ग्रन्थकारने मात्र ये दो इतिहास ही नहीं लिखे हैं, बल्कि इनके द्वारा श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलस्वरूपकी उपासनाके लिए उनके स्वरूप-तत्त्वका पूर्णरूपसे विवेचन किया है।

श्रीमद्भागवत समस्त वेद, वेदान्त, पुराण, इतिहास आदि शास्त्रोंका सारस्वरूप है। इस श्रीमद्भागवतका भी मन्थनकर यह ग्रन्थ प्रकटित किया गया है, इसलिए इसका नाम श्रीभागवतामृत है। इस ग्रन्थमें भगवद्भक्तिसे सम्बन्धित सभी विषय स्थान-स्थान पर प्रकाशित हुए हैं। इस ग्रन्थका श्रीजैमिनि-जनमेजय रूप मूल संवाद, श्रीपरीक्षित्-उत्तरा संवाद पर आधारित है। अर्थात् श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे श्रीमद्भागवत सुननेके बाद और तक्षकके आगमनसे पहले श्रीपरीक्षितकी माता श्रीउत्तरादेवीने उनसे कहा था—"हे वत्स! तुमने श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे जो कुछ सुना है, उसका सार मुझे सरल,

सहज-बोधगम्य भाषामें सुनाओ।"—इसी जिज्ञासासे यह ग्रन्थ प्रारम्भ होता है।

इस दूसरे खण्डमें ग्रन्थकारने श्रीशालग्राम भगवान्से लेकर श्रीनन्दनन्दन तक भगवान्के सभी स्वरूप और अवतारोंका विवेचन किया है। गोपकुमारके इतिहास द्वारा इस खण्डका आरम्भ किया गया है। गोपकुमारको अपने श्रीगुरुसे गोपालमन्त्र प्राप्त हुआ था, जिसके प्रभावसे उनका समस्त लोकोंमें बाधा रहित रूपमें गमन सम्भव हुआ। गोपकुमारने पहले इस भू-मण्डलमें भगवान्के समस्त स्वरूपों—श्रीशालग्राम भगवान्, राजाके महलमें स्थित श्रीअर्चास्वरूप तथा श्रीजगन्नाथदेवके प्राचीन अर्चाविग्रहका दर्शन करके क्रमसे उत्तरोत्तर उनकी महिमा वर्णन की है। फिर अपने मन्त्रजपके प्रभावसे वे स्वर्ग, महः, जन, तप तथा सत्य लोकोंमें गये और उन लोकोंके उपास्य भगवान्के स्वरूपोंका दर्शनकर क्रमसे उनका भी उत्कर्ष अनुभव किया। परन्तु गोपकुमारको उन-उन स्थानोंमें पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति नहीं हुई। फिर वे अष्ट आवरणोंमे विराजित भगवान्के स्वरूपोंका दर्शनकर मुक्तिलोक पहुँचे। वहाँ उन्होंने तेजोमय पुरुषका दर्शन किया, किन्तु वहाँ भी उनकी सन्तुष्टि नहीं हुई। फिर उन्होंने विधिपूर्वक नवधा भक्तिमें प्रधान नामसंकीर्त्तनका अनुष्ठान किया, जिसके प्रभावसे वे क्रमसे वैकुण्ठ, अयोध्या तथा द्वारकापुरी गये। परन्तु इन सब लोकोंमें ऐश्वर्यकी प्रधानताके कारण उनको वहाँके उपास्य स्वरूपोंसे भी निःसङ्कोच व्यवहारकी उपलब्धि नहीं हुई। अन्तमें गोपकुमारने प्रकट वृन्दावनमें आकर व्रजके परिकरोंके अनुगत होकर रागानुगा भक्तिका अनुष्ठान किया, जिसके प्रभावसे वे गोलोक वृन्दावन पहुँचे। वहाँ व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त होनेसे उनकी अभीष्ट सिद्धि हुई।

इन इतिहासोंके वर्णनसे यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान्के पृथक्-पृथक् स्वरूपोंके तत्त्वमें कुछ भेद है। श्रीशालग्राम भगवान्से लेकर श्रीनन्दनन्दन तक भगवान्के समस्त स्वरूप सब प्रकारसे पूर्ण हैं और तत्त्वतः एक हैं, परन्तु रसगत विचारसे श्रीनन्दनन्दनका उत्कर्ष है। विशेषकर भगवान्के समस्त स्वरूपोंमें श्रीनन्दनन्दनके उत्कर्षके दो कारण हैं—परिकर वैशिष्ट्य और रसकी उत्कर्षताका वैशिष्ट्य—

(१) तारतम्यञ्च तच्छक्तिव्यक्त्यव्यक्तिकृतम् भवेत्।
(प्रमेय-रत्नावली १/२१)

(२) परिकरवैशिष्टेन आविर्भाव वैशिष्ट्यम्।
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

(३) सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व॰ २/५९)

अर्थात् यद्यपि भगवान्‌के समस्त स्वरूपोंमें तत्त्वकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है, तथापि जहाँ-जहाँ शास्त्रोंमें अंश-कला इत्यादिका वर्णन है, वहाँ भगवत् शक्तिके परिमाणके प्राकट्यकी दृष्टिसे ही विवेचन किया गया है। वह शक्ति परिकरोंके अनुसार ही प्रकट होती है। जिस प्रकार कोई षड्शास्त्रीय पण्डित गायन आदि कलाओंमें भी निपुण हो सकता है, किन्तु उसकी वे शक्तियाँ मण्डलीकी योग्यताके अनुसार ही प्रकट होती हैं। उसी प्रकार भगवान्‌के समस्त स्वरूप सब प्रकारसे सर्वगुणसम्पन्न और पूर्ण हैं, ऐसा होने पर भी उनकी शक्तियाँ उनके परिकरोंकी योग्यताके अनुसार ही प्रकट होती हैं। श्रीनन्दनन्दनके परिकरों जैसे प्रेमी परिकर कहीं भी नहीं हैं, अतएव व्रजके परिकर ही सर्वोत्कृष्ट हैं। इनमें भी श्रीराधिकाजी ही मुख्य हैं। ये सदा श्रीनन्दनन्दनके वाम भागमें विराजमान रहती हैं। अतः श्रीनन्दनन्दन स्वरूपमें ही भगवान्‌की सम्पूर्ण शक्तिका प्राकट्य हुआ है। भगवान्‌के अन्य स्वरूपोंमें सम्पूर्ण शक्ति प्रकट नहीं हुई—इसे पहले खण्डमें ही निरूपण कर दिया गया है।

द्वितीयतः रसकी उत्कर्षता अथवा रसके आस्वादनरूप वैशिष्ट्यमें भी गोपकुमार जहाँ-जहाँ गये, प्रायः भगवान्‌के समस्त स्वरूपोंमें ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्‌के वे स्वरूप अपनी मर्यादा छोड़कर गोपकुमारको आलिङ्गन आदि करके पूर्ण रसास्वादन नहीं करा सके। परन्तु श्रीनन्दनन्दनको प्राप्तकर गोपकुमारकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण हुईं। इसीलिए भगवान्‌के अन्य सभी स्वरूपोंकी तुलनामें श्रीनन्दनन्दनका उत्कर्ष अधिक है।

इस द्वितीय-खण्ड प्रथम-भागमें ग्रन्थकार श्रील सनातन गोस्वामी द्वारा कुछ गहन तत्त्वोंका निरूपण किया गया है, पाठकोंसे अनुरोध है कि धैर्यपूर्वक उसका अनुशीलन करेंगे। श्रील सनातन गोस्वामीका जीवन-चरित्र प्रथम-खण्डकी प्रस्तावनामें विस्तृतरूपसे वर्णन किया जा चुका है।

श्रील सनातन गोस्वामीपादने स्वयं ही इस ग्रन्थ पर दिग्दर्शिनी नामक टीका लिखी है। उस टीकाका भावानुवाद प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। टीकाकी शैलीके अनुसार भावानुवादमें भी पूर्व पक्षका उत्थापनकर उसका समाधान या सङ्गति प्रदर्शित की गयी है। इस शैली द्वारा पाठक प्रत्येक श्लोकका आगे और पीछेके श्लोकोंसे सम्बन्ध जानकर सम्पूर्ण ग्रन्थको एक कड़ीबद्ध श्रृंखलामें समझ पायेंगे। यद्यपि भाषाको यथासम्भव सरल, सहज-बोधगम्य रखनेकी चेष्टा की गयी है, तथापि कुछ स्थानों पर भावको सठीक रखनेके लिए कुछ कठिन शब्दोंका समावेश किया गया है। पाठकोंकी सुविधाके लिए ग्रन्थके अन्तमें शब्दकोशके द्वारा कठिन शब्दोंके सरल अर्थ दिये गये हैं।

मूलग्रन्थ संस्कृत भाषा तथा बंगला लिपिमें है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त तीर्थ महाराजने टीकाको देवनागरी लिपिमें प्रस्तुत किया है। श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुन्दरगोपाल ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुबलसखा ब्रह्मचारी, श्रीमान् उत्तमकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् मधुमङ्गल ब्रह्मचारी तथा श्रीमती वृन्दा दासीने कम्पोजिंग की है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् ओमप्रकाश व्रजवासी तथा श्रीमान् विजयकृष्ण ब्रह्मचारीने प्रूफ संशोधन किया है। श्रीमती शान्ति दासीने अक्लान्त परिश्रम द्वारा ले-आउट आदि सेवा कार्य किये हैं। श्रीमान् माधवप्रिय ब्रह्मचारी, श्रीमान् अमलकृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् कृष्णकारुण्य ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है। इन सबकी सेवाचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और उल्लेखयोग्य है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद वर्षण करें—यही मेरी उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें यदि कोई भूल-त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा संशोधनपूर्वक ग्रन्थका सार ग्रहण कर बाधित करेंगे।

परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठ और कीर्त्तनकर परमार्थके पथ पर अग्रसर हों—यही प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीश्रीगुरुपादपद्मकी
१०८वीं आविर्भाव-तिथि पूजा,
बृहस्पतिवार, १६ फरवरी २००६ ई०
५१९ गौराब्द

श्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय-खण्डम्

प्रथम भाग

(श्रीगोलोक-माहात्म्यम्)

प्रथमोऽध्यायः (वैराग्यम्)

नमः श्रीकृष्णाय भगवते श्रीराधिकारमणाय॥

श्रीजनमेजय उवाच—

सत्यं सच्छास्त्रवर्गार्थसारः संगृह्य दुर्लभः।
गूढ़ः स्वमात्रे पित्रा मे कृष्णप्रेम्णा प्रकाशितः॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीजनमेजयने कहा—हे गुरुदेव! यह सत्य है कि मेरे पिता श्रीपरीक्षितने कृष्णप्रेमवशतः भगवद्भक्तिप्रतिपादक श्रीमद्भागवतादि समस्त शास्त्रोंके दुर्लभ और गूढ़ सारभागको संग्रहकर अपनी माता श्रीउत्तरादेवीको सुनाया था॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

श्रीमच्चैतन्यदेवाय तस्मै भगवते नमः।
यद्रूपमणिमाश्रित्य चित्रं नृत्यत्ययं जड़ः॥
श्रीकृष्णकरुणासारपात्राणामत्र गद्यते।
सदाक्रीड़ाभरानन्दमाधुरीपूरितं पदम्॥
तस्यैव सर्वतः श्रेष्ठं कण्टकोद्धारपूर्वकम्।
निरूपयितुमुत्कर्षमध्यायाः सप्त कल्पिताः॥
तत्राद्ये ह्युत्तराप्रश्नोत्तररूपेतिहासतः।
वक्तुं गोलोक-माहात्म्यं भूर्लोकमहिमोच्यते॥
ग्रामाधिकारिविप्रस्य मण्डलेश्वरभूपतेः।
सम्राजश्च हरेः पूजात्युच्चवैभववर्णनैः॥
अतोऽग्रे तनये मातुः प्रश्नावतरणाय हि।
पारीक्षितस्य हृष्टस्य प्रश्नोऽशोभत जैमिनौ॥

तत्र प्रथमं प्रवक्तुं स्वगुरोः प्रहर्षणार्थं श्रुतार्थानुमोदनेन पृच्छति—सत्यमिति। सच्छास्त्राणि श्रीभगवद्भक्तिपराणि श्रीभागवतादीनि तेषां वर्गः तस्यार्था अभिधेयाः सपरिकरभक्तितदुपायादयस्तेषां सारः हेयरहितोऽंशः दुर्लभः बहुलशास्त्राभ्यासस्य दुःशकत्वात्तात्पर्यविचारादिना दुर्ज्ञेयत्वाच्च। संगृह्य तत्तच्छास्त्रवर्गत एकीकृत्य; मे मम पित्रा परीक्षिता स्वमात्रे उत्तरायै गूढ़ोऽपि प्रकाशित इति यत्तत् सत्यम्। प्रकाशने हेतुः—कृष्णे स्वस्य मातुर्वा यः प्रेमा तेनेति॥१॥

टीकाका भावानुवाद

मङ्गलाचरण

नमः ॐ विष्णुपादाय आचार्य-सिंहरूपिणे।
श्रीश्रीमद्भक्ति-प्रज्ञान केशव इति नामिने॥
अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च-पालिने।
जीव-दुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम दायिने॥

सर्वप्रथम मैं अपने परम आराध्यतम गुरुदेव नित्यलीला-प्रविष्ट ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जिनकी अहैतुकी कृपालेशसे सर्वथा अयोग्य होकर भी प्रपूज्यचरण श्रीलसनातन गोस्वामी द्वारा रचित श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थके मूल-श्लोकोंका अनुवाद तथा उन्हींके द्वारा रचित

'दिग्दर्शिनी' नामक टीकाका भावानुवाद करनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। तदनन्तर ग्रन्थ-रचयिता और स्वयं उसके टीकाकार श्रीलसनातन गोस्वामीके श्रीचरणकमलोंमें प्रणत होकर उनकी अहैतुकी कृपाके लिए कातर प्रार्थना करता हूँ।

इस टीकाका नाम दिग्दर्शिनी है। यह स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित है। इस टीकामें अभिप्रेत अर्थोंका दिग्दर्शन किया गया है, इसलिए इसका नाम 'दिग्दर्शिनी' टीका है।

मैं उन भगवान् श्रीचैतन्यदेवको प्रणाम करता हूँ, जिनके श्रीरूपरूपी मणिका (अथवा श्रील रूप गोस्वामीका) आश्रय करनेसे अधम जड़ व्यक्ति भी इस ग्रन्थ-वर्णनरूप रङ्गमञ्च पर विचित्ररूपसे नृत्य करनेमें सक्षम हो सकता है।

ग्रन्थके अर्थसमूह स्वप्रकाशित ही हैं, ऐसा सोचकर अत्यन्त दैन्यके आवेगवशतः (ग्रन्थकार) कह रहे हैं—मेरे जैसा जड़ व्यक्ति भी इस ग्रन्थ-प्रणयनरूप रङ्गमञ्च पर आश्चर्यपूर्वक नृत्य कर रहा है।

वास्तव पक्षमें देवी-सरस्वती कभी भी भक्ति, भक्त और भगवान्के प्रति अपकर्ष-सूचक वाक्य सहन नहीं कर सकती—इसलिए ग्रन्थकार सरस्वतीके वाक्यों द्वारा ही भगवान्का स्तव कर रहे हैं। स्तुतिपक्षमें कहते हैं—जिनके श्रीनाम तथा श्रीरूपका आश्रय ग्रहण करनेसे स्पन्दनरहित मुझ जैसा जड़ व्यक्ति भी प्रेमानन्दमें विभोर होकर विचित्ररूपसे नृत्य कर रहा है, उन भगवान् श्रीचैतन्यदेवको प्रणाम करता हूँ।

इस द्वितीय खण्डमें श्रीकृष्णके परम कृपापात्र भक्तोंका तथा उन भक्तोंके सर्वदा लीला-आनन्द मधुरिमासे परिपूर्ण स्थानोंका वर्णन किया जायेगा। उन स्थानों तथा परम कृपापात्रोंकी सर्वश्रेष्ठता निरूपण करनेके लिए समस्त प्रकारके विघ्नोंका निराकरण कर सात अध्यायोंकी रचना की गयी है।

इनमें से प्रथम अध्यायमें श्रीउत्तरादेवीके प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए गोलोकका माहात्म्य वर्णन करते हुए सर्वप्रथम भूलोकका माहात्म्य वर्णन किया गया है। पहले ग्रामके अधिकारी विप्र, फिर मण्डलेश्वर राजा तदुपरान्त राज-चक्रवर्तीके क्रमोच्च वैभवोंके साथ श्रीहरिकी

पूजादिका वर्णन किया गया है। अतः प्रारम्भमें श्रीउत्तरदेवी द्वारा अपने पुत्र श्रीपरीक्षितसे पूछे गये प्रश्नोंकी अवतरणाके लिए परीक्षित-पुत्र जनमेजयने हर्षपूर्वक जैमिनिसे शोभनीय प्रश्न किया है।

[प्रथम-खण्डमें कथित प्रसङ्गको श्रवण करनेके उपरान्त वक्ता] श्रीजनमेजयने सर्वप्रथम अपने गुरु श्रीजैमिनिको प्रसन्न करनेके लिए सुने हुए विषयका अनुमोदन करते हुए कहा—हे प्रभो! आपने जो कहा है कि कृष्णप्रेममें उन्मत्त मेरे पिताने अपनी माताके स्नेहके अधीन होकर श्रीमद्भागवतादि भगवद्भक्ति शास्त्रोंका सार अर्थात् भक्तितत्त्वका प्रकाश किया, जो अनेकानेक शास्त्रोंका अनुशीलन करनेवालोंके लिए भी दुर्लभ है और तात्पर्य विचारादि द्वारा भी सुदुर्गम है—यह पूर्णता सत्य है।

यहाँ 'सच्छास्त्र' कहनेका तात्पर्य है—श्रीभगवद्भक्ति प्रतिपादक श्रीमद्भागवतादि शास्त्रसमूह। इन ग्रन्थोंमें वर्णित श्रीभगवान् और उनके परिकरोंके प्रति अभिधेयरूप भक्ति तथा उस भक्तिको प्राप्त करनेके उपायोंका सार अर्थात् हेयरहित परम उपादेय अंश अति दुर्लभ हैं। अर्थात् अनेकानेक शास्त्रोंके अभ्यास द्वारा भी जो प्राप्त नहीं किया जा सकता और उनके तात्पर्यादि विचार द्वारा भी जो यथार्थमें दुर्ज्ञेय हैं, उन अप्राप्य तथा दुर्ज्ञेय अर्थसमूहका संग्रहकर तथा समन्वयपूर्वक भक्ति ही समस्त शास्त्रोंका अभिप्राय है—एक स्वरसे ऐसा प्रतिपादन करते हुए मेरे पिता श्रीपरीक्षितने अपनी माता श्रीउत्तरादेवीको समस्त भक्ति-शास्त्रोंका सार श्रवण कराया था। यद्यपि ये समस्त विषय अत्यन्त गूढ़ हैं, तथापि मेरे पिताने उनका प्रकाश किया था—यही सत्य है। इन सब तत्त्वोंके प्रकाश करनेका हेतु था—श्रीकृष्णके प्रति मेरे पिता श्रीपरीक्षित तथा उनकी माता श्रीउत्तरादेवीका प्रेम॥१॥

श्रीमद्भागवताम्भोधि-पीयूषमिदमापिबन् ।
न तृप्यामि मुनिश्रेष्ठ त्वन्मुखाम्भोजवासितम्॥२॥

श्लोकानुवाद—हे मुनिवर! आपके मुखकमलके सौरभसे युक्त इस श्रीमद्भागवत रूपी महासागरकी सुधाका भलीभाँति पान करने पर भी मैं तृप्त नहीं हो पा रहा हूँ॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि स्वस्य पुनरन्यश्रवणेच्छामावेदयति—श्रीमदिति; श्रीमन्ति सर्वशोभासम्पत्तियुक्तानि यानि भागवतानि भगवत्पराणि शास्त्राणि तान्येवाम्भोधयः शब्दतोऽर्थतश्चानन्तत्वात् तेषाम्। यद्वा, सागराणां क्षीरोद इव सर्वसच्छास्त्राणां श्रीमद्भागवतमेव श्रेष्ठं तदेवाम्भोधिरनवगाह्यमहिमत्वादिना; तस्य पीयूषं मधुरतरसारभूतार्थम् इदं भगवत्कृपासारनिर्धारोपाख्यानोक्तम् आपिबन् सम्यक् पिबन्नपि न तृप्यामि; तत्पानेच्छातो न विरमामि। कुतः? हे मुनिश्रेष्ठ भागवतोत्तम। त्वन्मुखाम्भोजेन तत् सौरभ्येन वासितम्, एवं परमरुच्युत्पादकत्वान्न तृप्तिर्भवेदित्यर्थः॥२॥

भावानुवाद—यद्यपि इस ग्रन्थके प्रथम-खण्डमें वर्णित प्रसंगमें जहाँ श्रीभगवान्के कृपापात्रोंका निरूपण किया गया है, श्रीजनमेजय अपने गुरु श्रीजैमिनिसे श्रीभागवतादि भक्ति-शास्त्रोंका सार श्रवणकर परम आनन्दित हुए थे, तथापि कुछ और अधिक श्रवण करनेकी लालसासे वे अपने श्रीगुरुदेवके समक्ष 'श्रीमद्भागवताम्भोधि' श्लोकोंकी अवतारणा कर रहे हैं। यहाँ 'भागवत्' शब्दसे पहले युक्त 'श्रीमद्' विशेषणका तात्पर्य है—भगवत् पर शास्त्रसमूह समस्त प्रकारकी शोभासे युक्त है। 'अम्भोधि'—वह समुद्रस्वरूप हैं, क्योंकि इसके प्रत्येक शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं। अथवा जिस प्रकार क्षीरसागर अपनी अनन्त और अथाह महिमाके कारण दूसरे-दूसरे सभी समुद्रोंसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवत ही श्रेष्ठ है। पुनः उस क्षीरसागरसे जिस प्रकार अमृत उच्छलित होता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवतसे निकले अमृतके मधुरतर सार अर्थयुक्त इस भगवत्-कृपासार निर्धारणरूप उपाख्यानका भलीभाँति पान करने पर भी मैं पूर्णरूपसे तृप्त नहीं हो पा रहा हूँ। अर्थात् पुनः-पुनः पान करनेकी उत्कण्ठा वर्द्धित हो रही है। क्यों? क्योंकि यह भागवतामृत आप जैसे भागवतोत्तमके श्रीमुखकमल-सौरभसे युक्त होनेके कारण परम रुचिप्रद है, इसलिए पुनः-पुनः पान करने पर भी तृप्ति नहीं हो रही है॥२॥

तन्मातापुत्रयोर्विद्वन् संवादः कथ्यतां तयोः।
सुधासारमयोऽन्योऽपि कृष्णपादाब्जलुब्धयोः॥३॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे विज्ञवर! श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मधु-लोलुप उन माता-पुत्रके कथोपकथनरूप अन्य कोई सुधासारमय संवाद सुनानेकी कृपा कीजिये॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात्तयोः मातापुत्रयोः उत्तरा-परीक्षितोः; अन्योऽपि सम्वादः, सुधायाः सारो यः परममाधुर्यादिस्तन्मयः, यतः कृष्णपादाब्जे लुब्धयोः रसिकयोः। विद्वन्! हे तत्तदभिज्ञ!॥३॥

भावानुवाद—अतएव श्रीकृष्ण-चरणकमलोंके मधुलोलुप उन माता-पुत्रका सुधासारमय संवाद जो परम माधुर्यमय कथोपकथनसे युक्त है, श्रवण करानेकी कृपा करें। किसलिए? क्योंकि आप श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मधुलुब्ध उन रसिक भक्तोंके विषयमें परम अभिज्ञ हैं अर्थात् उसे जाननेवाले हैं॥३॥

श्रीजैमिनिरुवाच—

नैतत् स्वशक्तितो राजन् वक्तुं ज्ञातुञ्च शक्यते।
सर्वज्ञानाञ्च दुर्ज्ञेयं ब्रह्मानुभविनामपि॥४॥

श्लोकानुवाद—श्रीजैमिनिने कहा—हे राजन्! उस संवादको अपनी शक्ति द्वारा वर्णन करना तथा जानना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सम्वाद सर्वज्ञशिरोमणि तथा ब्रह्मानुभवी व्यक्तियोंके लिए भी दुर्ज्ञेय है॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—कस्यापि वाङ्मनसोः शक्त्या तद्गृहीतं न स्यादित्याशयेनोत्तर-माह—नेति। एतद्गोलोकमाहात्म्योपाख्यानादिरूपं श्रीमद्भागवताम्भोधिपीयूषम्; सर्वज्ञानां त्रिकालज्ञत्वसिद्धिमतां ब्रह्मानुभविनां मुक्तानामित्यनेन ब्रह्मानुभवादपि श्रीभगवतस्तदीयानां च महिमज्ञानं दुर्घटमिति सूचितम्॥४॥

भावानुवाद—मन और वचनकी शक्तिके द्वारा कोई भी इस संवादको ग्रहण करनेमें सक्षम नहीं है—इसी अभिप्रायसे श्रीजैमिनि 'नेति' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यह गोलोक-माहात्म्य उपाख्यान श्रीमद्भागवतरूप समुद्रका अमृतसार है, जो कि त्रिकालज्ञ सिद्धपुरुषों, यहाँ तक कि ब्रह्मानुभवी मुक्तजनोंके लिए भी दुर्ज्ञेय है। इस उक्तिके द्वारा श्रीभगवान् तथा भगवान्के पार्षदोंकी महिमाके ज्ञानकी दुर्लभता सूचित हुई है॥४॥

कृष्णभक्तिरसाम्भोधेः प्रसादाद्बादरायणेः।
परीक्षिदुत्तरा-पार्श्वे निविष्टोऽश्रौषमञ्जसा॥५॥

श्लोकानुवाद—मैंने श्रीकृष्णभक्तिरसके समुद्र स्वरूप श्रीशुकदेवकी कृपासे श्रीउत्तरादेवी और श्रीपरीक्षितके समीप बैठकर उन दोनोंके संवादका एकाग्रचित्तसे श्रवण किया था॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् कथं पूर्वं महदुपाख्यानमेकं कथितम्? तत्राह—कृष्णेति। परीक्षिदुत्तरयोः पार्श्वे बादरायणेः श्रीशुकदेवस्य प्रसादादेव निविष्टः सन् अञ्जसा साक्षादश्रौषमेतत्। एतदुक्तं भवति—यद्यप्यहं सर्वज्ञो ब्रह्मानुभववानपि भवामि, तथापि तत्तच्छक्त्या कथितं ज्ञातञ्च नैतत् स्यात्; किन्तु तयोः सम्वादरूपमेतच्छ्रीभागवतामृतं जैमिनिरेव जन्मेजयं श्रावयितुमर्हतीति श्रीशुकदेवेन तयोरन्तिके स्थापितोऽहं साक्षात्तदनुभूयैव कथयामि; तदपि केवलं तस्यैव परमभागवतोत्तमस्य प्रसादादेवेति। एवं ज्ञानशक्त्या विज्ञातस्यार्थस्य प्रतिपादनात् साक्षादनुभूतस्य प्रतिपादनं श्रोतृहृदयग्राहकं समीचीनमिति च सूचितम्॥५॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आपने किस प्रकार इससे पूर्व ऐसे महत् उपाख्यानका वर्णन किया? इसके उत्तरमें श्रीजैमिनि कहते हैं—श्रीशुकदेवकी कृपासे मुझे परीक्षित और उत्तराके समीप बैठनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था तथा मैंने उनके कथोपकथनको एकाग्रचित्तसे साक्षात् रूपमें श्रवण किया था। यद्यपि मैं ब्रह्मानुभवी और सर्वज्ञ हूँ, तथापि महत्कृपाके बिना भगवत्-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता है। इसलिए मैं अपनी शक्तिके द्वारा इसे जाननेमें तथा कहनेमें समर्थ नहीं हूँ।

किन्तु, उत्तरा-परीक्षित संवादरूप इस भागवतामृतको जनमेजयको श्रवण करानेके लिए श्रीजैमिनि ही योग्यपात्र हैं, क्योंकि श्रीशुकदेवकी कृपासे उन्होंने उत्तरा-परीक्षितके समीप बैठकर जो साक्षात् श्रवणकर अनुभव किया था, उसे ही वे कह रहे हैं। यह केवल उन परमभागवत (श्रीशुकदेव)की कृपासे ही सम्भव हुआ है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि ज्ञानशक्ति द्वारा जाने गये अर्थको प्रतिपादन करनेकी तुलनामें साक्षात् अनुभव द्वारा प्राप्त अर्थका वर्णन ही श्रोताके द्वारा अधिकतर हृदयङ्गम होता है तथा यही यथार्थतः उपयुक्त व्यवस्था है॥५॥

परं गोप्यमपि स्निग्धे शिष्ये वाच्यमिति श्रुतिः।
तच्छ्रूयतां महाभाग गोलोकमहिमाधुना॥६॥

श्लोकानुवाद—हे महाभाग्यशाली! परम गोपनीय तत्त्व भी स्निग्ध शिष्यके निकट वर्णन किया जा सकता है—यही श्रुतियोंका सिद्धान्त है। अतएव अब तुम भी इस गोलोक-माहात्म्यका श्रवण करो॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यपि परमरहस्यमिदं, तथापि वक्ष्यामीत्याशयेनाह—परमिति। हे महाभागेति, तच्छ्रवणेऽधिकारः सूचितः। पूर्वं त्वया श्रीभगवत्प्रियतमानां माहात्म्यं श्रुतम्, अधुना गोलोकस्य श्रीभगवत्प्रियतमस्थानस्य महिमा श्रूयताम्, स एव श्रीभागवतामृतरूप इति भावः; श्रीभगवतो भागवतोत्तमानाञ्च माहात्म्य एव तस्य पर्यवसानात्॥६॥

भावानुवाद—यद्यपि यह परम गोपनीय विषय है, तथापि मैं तुम्हें कहूँगा—इसी अभिप्रायसे 'परम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'हे महाभाग!'—इस महाभाग विशेषणके द्वारा यह सूचित हुआ है कि जनमेजय इस गोपनीय विषयको श्रवण करनेके अधिकारी हैं। विशेषतः इससे पूर्व तुमने मुझसे श्रीभगवान्के प्रियतमजनोंका माहात्म्य श्रवण किया था। अब श्रीभगवान्के उन प्रियतमजनोंके स्थान—श्रीगोलोकका माहात्म्य श्रवण करो। वह श्रीभागवतामृत-स्वरूप है, क्योंकि गोलोक-माहात्म्यका वर्णन ही श्रीभगवान् और भागवतोत्तमजनोंके माहात्म्यमें पर्यवसित होता है॥६॥

श्रीकृष्णकरुणासारपात्रनिर्द्धारसत्कथाम् ।
श्रुत्वाभूत परमानन्दपूर्णा तव पितामही॥७॥

श्लोकानुवाद—तुम्हारी पितामही (दादी) श्रीउत्तरादेवी, श्रीकृष्णकी करुणासारके पात्रोंके निर्धारण सम्बन्धी परमोत्कृष्ट कथाको सुनकर परमानन्दित हुई थीं॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीकृष्णस्य करुणासारः परमोत्कृष्टकारुण्यातिशय इत्यर्थः। तस्य पात्राणां निर्द्धारस्य या सती परमोत्तमा कथा ताम्; तव पितामही उत्तरा॥७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी करुणाका सारपात्र अर्थात् परमोत्कृष्ट कृपापात्र। उन कृपापात्रोंके निर्धारण सम्बन्धी जो परमोत्तम कथा है, उसे श्रवणकर तुम्हारी पितामही श्रीउत्तरादेवी परमानन्दित हुई थीं॥७॥

तादृग्भक्तिविशेषस्य गोपीकान्त-पदाब्जयोः।
श्रोतुं फलविशेषं तद्भोगस्थानञ्च सत्तमम्॥८॥
वैकुण्ठादपि मन्वाना विमृशन्ती हृदि स्वयम्।
तच्चानाकलयन्ती सा पप्रच्छ श्रीपरीक्षितम्॥९॥

श्लोकानुवाद—श्रीउत्तरादेवीने श्रीगोपीकान्तके युगलचरणकमलोंमें गोपियों जैसी अनुरागमयी अनिर्वचनीय और असाधारणी भक्तिका फलविशेष श्रवण किया तथा उस फलविशेषका जो भोगस्थान है, वह वैकुण्ठकी तुलनामें भी उत्कृष्टतम है—ऐसा जाना। किन्तु वह किस प्रकार सर्वोत्तम है, श्रीउत्तरादेवी अपनी बुद्धिके द्वारा विवेचन करने पर भी यह स्थिर नहीं कर पायीं। तब उन्होंने अपने पुत्र श्रीपरीक्षितसे पूछा॥८-९॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीगोपीकान्तपादाब्जयोस्तादृशो भक्तिविशेषस्य अनिर्वचनीयाया असाधारण्या भक्ते फलविशेषं श्रोतुं तस्य फलविशेषस्य भोगस्थानञ्च वैकुण्ठलोकादपि सत्तममुत्कृष्टतरं मन्वाना मन्यमाना। यद्वा, तद्भोगस्थानञ्च श्रोतुं तच्च वैकुण्ठादपि सत्तमं मन्वाना; तत्तु कतमदिति हृदि विमृशन्ती विचारयन्ती, तच्च स्वयं हृद्यनाकलयन्ती सा त्वत्पितामही श्रीपरीक्षितं स्वपुत्रं पप्रच्छेति द्वाभ्यामन्वयः; प्रच्छेर्द्विकर्मकत्वात् कर्मद्वयम्॥८-९॥

भावानुवाद—श्रीउत्तरादेवी श्रीगोपीकान्तके युगलचरणकमलोंमें अनिर्वचनीय असाधारणी भक्तिके फल विशेषको श्रवण करनेके लिए और उस फल विशेषका भोगस्थान श्रीवैकुण्ठकी तुलनामें अवश्य ही उत्कृष्टतम होगा, ऐसा विचारकर उस भोगस्थानकी महिमा श्रवण करनेके लिए उत्कण्ठिता थी। किन्तु वह स्थान किस प्रकारका है? चिन्ता और विवेचनके द्वारा भी स्थिर न कर पाने पर तुम्हारी पितामहीने अपने पुत्र श्रीपरीक्षितसे इस प्रकार पूछा—॥८-९॥

श्रीमदुत्तरोवाच—

कामिनां पुण्यकर्तॄणां त्रैलोक्यं गृहिणां पदम्।
अगृहाणाञ्च तस्योर्ध्वं स्थितं लोकचतुष्टयम्॥१०॥
भोगान्ते मुहुरावृत्तिमेते सर्वे प्रयान्ति हि।
महरादिगताः केचिन्मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह॥११॥

श्लोकानुवाद—श्रीउत्तरादेवीने कहा—भू, भुव और स्व—ये तीन लोक सकाम पुण्यकर्म करनेवाले गृहस्थियोंको प्राप्त होनेवाले भोगस्थान हैं। इनसे ऊपर मह, जन, तप और सत्य—ये चार लोक अगृहस्थ अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और यतियोंको प्राप्त होनेवाले भोगस्थान हैं। ये सभी अपने-अपने धर्माचरणके फलस्वरूप स्वर्गादिमें भोग भोगनेके उपरान्त पुनः-पुनः पृथ्वी (भूलोक) पर आकर जन्म ग्रहण करते हैं, तथा महर्लोकादिको प्राप्त होनेवाले निष्काम स्वधर्म परायण व्यक्ति महाप्रलयके समय ब्रह्माजीके साथ मुक्ति प्राप्त करते हैं॥१०-११॥

दिग्दर्शिनी टीका—इतरेषामखिलानां प्राप्यात् श्रीगोपीनाथपदाब्जपरमप्रेमविशेष-वतावश्यं परमोत्कृष्टतरं पदमेकं प्राप्यमुपयुज्यते, तच्च सर्वविलक्षणमेवेति प्रष्टुमन्येषां विविधानां प्राप्यं विविधं पदं निर्दिशति—कामिनामित्यादिना उचितमित्यन्तेन। तत्रादौ कर्मपराणां विरक्ताविरक्तभेदेन विचित्रगतीराह—सार्द्धद्वयेन। पुण्यानि शुभकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि काम्यान्यपि, तत्कर्तृणां गृहिणां गृहस्थानाम्; त्रैलोक्यं भूर्भुवःस्वर्लोक-रूपं पदं भोगस्थानम्; कीदृशानाम् कामिनाम्? तत्तत्फलप्राप्तिवाञ्छावताम्, विचित्रफलसंकल्पेन पुण्यकर्मकारिणामित्यर्थः। एवं ये खलु निष्कामा गृहिणः केवलं स्वधर्माचारनिष्ठास्ते महर्लोकादिकमपि गच्छन्ति, चित्तशुद्ध्यादिद्वारा मुच्यन्तेऽपीति भावः। यथोक्तं श्रीरुद्रेण चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/२४/२९)—*'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चतामेति'* इति। अगृहाणां नैष्ठिकब्रह्मचारि-वनस्थयतीनां तस्य त्रैलोक्यस्योर्ध्वं स्थितमुपरि वर्त्तमानं लोकचतुष्टयं महर्जनस्तपःसत्याख्यं पदम्। यथोक्तं श्रीशुकेन द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰२/६/२०)—*'पादत्रयाद्बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः। अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः।'* इति। अस्यार्थः—'न प्रजायन्ते प्रजादिरूपेणेत्यप्रजा नैष्ठिक-ब्रह्मचारिवनस्थ-यतयः, तेषां ये आश्रमा भोगस्थानानि ते, पादत्रयात्रिलोक्या बहिरासन्। गृहमेधो गृहस्थस्तु अन्तस्त्रिलोक्या अभ्यन्तरे यस्मादबृहद्व्रतः, ब्रह्मचर्यरहितः मैथुनधर्मात्यागी।' इति॥१०॥

तत्र च ये सकामास्ते पुनः पुनर्जन्म लभन्ते; ये च केवलं स्वधर्ममात्रनिष्ठा निष्कामान्ते भोगान्ते मुच्यन्ते। तेषु च केचित् सम्यग्वैराग्यरहिता महर्लोकादौ भोगान् भुक्त्वा महाप्रलये प्राप्ते ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते। केचिच्च स्वेच्छयार्चिरादिमार्गेण भोगान् भुञ्जानाः क्रमशो मुच्यन्ते इत्येतदाह—भोगान्त इति सार्द्धेन। भोगस्यान्ते अवसाने सति मुहुरावृत्तिं पुनःपुनर्जन्म प्रयान्ति लभन्ते भारतवर्षादौ। तथाच श्रीभगवद्गीतासु (श्रीगी॰ ९/२०-२१)—*'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पूण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ ते तं भूक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं*

त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।' इति; तथा (श्रीगी० ८/१६)—*'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'* इति। महर्लोकदिकं प्राप्ताः; आदिशब्देन जनस्तपःसत्यलोकाः। केचिन्निष्कामस्वधर्मपराः। ब्रह्मणा सहेति यावदधिकारमधिकारिणामिति न्यायेन यदा ब्रह्मा मुच्यते, तदा तेऽपि मुक्ता भवन्तीत्यर्थः। तथाचोक्तम्—*'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥'* इति। प्रतिसञ्चरे महाप्रलये; परस्यान्ते द्विपरार्द्धान्ते; कृतात्मानः शुद्धचित्ताः॥११॥

भावानुवाद—अखिल कर्म-परायण अन्यान्य व्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले अनेक प्रकारके स्थानोंकी तुलनामें श्रीगोपीनाथके चरणकमलोंमें परम प्रेमयुक्त व्यक्तियोंको अवश्य ही कोई एक परमोत्कृष्टतर उपयुक्त स्थान प्राप्त होना चाहिए। वह स्थान सबसे विलक्षण भी होना चाहिए—इसे पूछनेके लिए अन्य-अन्य साधकोंके जो विविध प्राप्य स्थान हैं, उनका निर्देश कर रहे हैं।

इनमें से प्रथम ढाई श्लोकोंमें कर्म परायण व्यक्तियोंको विरक्त और अविरक्त भेदसे प्राप्त होनेवाली गतियोंके सम्बन्धमें बतला रहे हैं। 'पुण्यकर्म'का अर्थ है—नित्य-नैमित्तिक आदि शुभकर्म। ऐसे समस्त काम्यकर्म करनेवाले गृहस्थोंको तीन लोक अर्थात् भूलोक, भुवलोक और स्वर्गलोक भोगस्थानके रूपमें प्राप्त होते हैं। ये तीन लोक किस प्रकारके कर्मीलोगोंको प्राप्त होते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—विचित्र फलके संकल्प द्वारा पुण्यकर्म करनेवाले तथा उन कर्मोंके फलको प्राप्त करनेकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको उन तीन लोकोंकी प्राप्ति होती है। केवल स्वधर्म आचरणमें निष्ठ, निष्काम गृही व्यक्ति इन तीन लोकोंसे ऊपर महर्लोकादि स्थानोंमें गमन करते हैं और चित्तशुद्धिके द्वारा क्रमशः मुक्त हो जाते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतके चतुर्थ-स्कन्ध (४/२४/२९)में श्रीरुद्रकी उक्ति है—"स्वधर्मनिष्ठ पुरुष सौ-जन्मोंमें विरिञ्चत्व (ब्रह्माके) पदको प्राप्त होते हैं। तदनन्तर महाप्रलयमें ब्रह्मा और हमलोग अविकृत वैकुण्ठपद प्राप्तकर मुक्त हो जाते हैं।" अगृहस्थी अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और यतिगण—इन तीन लोकोंसे ऊपर स्थित महः, जन, तप और सत्य नामक चार स्थानोंको प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवतके द्वितीय-स्कन्ध

(२/६/२०)में श्रीशुकदेवकी उक्ति है—“प्रजा उत्पन्न न करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और यतियोंको प्राप्त होनेवाला गन्तव्य या भोगस्थान इन तीन लोकोंसे ऊपर स्थित है।” ‘अबृहद्व्रत’ अर्थात् ब्रह्मचर्यरहित मैथुनधर्म परायण गृहस्थी त्रिलोकमें ही अवस्थान करते हैं। उनमें से जो सकाम होते हैं, वे पुनः–पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। जो निष्काम होते हैं तथा केवल स्वधर्मनिष्ठावान् होते हैं, वे भोग भोगनेके उपरान्त मुक्त हो जाते हैं। इनमें से कोई–कोई अर्थात् जिनका वैराग्य पूर्ण नहीं है, वैसे क्रिया–परायण योगी महर्लोकादिमें भोग भोगनेके उपरान्त महाप्रलयके समय ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाते हैं। पुनः कोई–कोई अपनी इच्छासे अर्चिरादि मार्ग द्वारा भोग भोगते हुए क्रमशः मुक्त होते हैं। यही ‘भोगान्ते’ आदि ढाई श्लोकोंमें वर्णन किया गया है।

सकाम पुण्यकारी व्यक्ति भोग भोगनेके उपरान्त भारतवर्षमें ही पुनः–पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता (९/२०–२१)में कहा गया है—“त्रिवेदोक्त सकाम कर्मपरायण व्यक्तिगण यज्ञोंके द्वारा मेरी पूजा करते हैं तथा यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पानकर निष्पाप होकर मेरी (श्रीभगवान्की) आराधना कर स्वर्ग–गमनकी प्रार्थना करते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोकके दिव्य भोगोंका भोग करनेके पश्चात् पुण्यके क्षीण होने पर मृत्युलोकमें पतित हो जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें उक्त सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोंका पुनः–पुनः संसार आवागमन होता है।” श्रीभगवद्गीता (८/१६)में भी श्रीभगवान्ने कहा है—“हे अर्जुन! ब्रह्मलोक (सत्यलोक) तक समस्त लोकोंसे पुनः आगमन करना पड़ता है।” ‘महर्लोकादि’ पदमें ‘आदि’ शब्दके द्वारा जन, तप और सत्यलोकको समझना होगा। ‘केचित्’ अर्थात् निष्काम स्वधर्म–परायण ब्रह्मापदके योग्य अधिकारियोंका यदि ब्रह्माके मुक्त होते समय तक वैसा अधिकार रहता है, तब वे भी ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाते हैं। इसलिए कहा गया है—“वे सब चित्तके शुद्ध होने पर महाप्रलय अर्थात् द्विपरार्द्धके अन्तमें (ब्रह्माकी आयुके अन्तमें) ब्रह्माके साथ ही परम पदको प्राप्त होते हैं”॥१०–११॥

केचित् क्रमेण मुच्यन्ते भोगान् भुक्त्वार्चिरादिषु।
लभन्ते यतयः सद्यो मुक्तिं ज्ञानपरा हि ये॥१२॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई वेदोंमें उक्त क्रियाओंमें अनुरक्त योगी अर्चिरादि मार्गों पर वहाँके अधिष्ठातृ देवताओं द्वारा लाये जाते हैं तथा वे वहाँके समस्त भोगोंको भोगकर क्रमशः मुक्त हो जाते हैं। सम्पूर्ण वैराग्य और ज्ञान-परायण यति अपनी देहके समाप्त होने पर तत्क्षणात मुक्ति प्राप्त करते हैं॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—केचिद्योगपराः; श्रुत्यनुसारिणा अर्चिः-शब्देन अत्राग्न्यभिमानिनी देवता गृह्यते। आदिशब्देन शिशुमारचक्रादि; यथोक्तं श्रीशुकदेवेन द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/२/२४-३१)—*'वैश्वानरं याति विहायसा गतः, सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा। विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्, प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥ तद्विश्वनाभिम् त्वतिवर्त्य विष्णोरणीयसा विरजेनात्मनैकः। नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति, कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते॥ अथो अनन्तस्य मुखानलेन, दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्। निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यम्, यद्द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम्॥ न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित्। यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदं विदां, दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्॥ ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयस्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन्। ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले, वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम्॥ घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं, रूपं च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव। श्रोत्रेण चोपेत्य नभो गुणत्वं, प्राणेन चाकुतिमुपैति योगी॥ स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं, मनोमयं देवमयम् विकार्यम्। संसाद्य गत्या सह तेन याति, विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम्॥ तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-मानन्दमानन्दमयोऽवसाने। एतां गतिं भागवतीं गतो यः, स वै पुनर्नेह विसज्जतेऽङ्ग॥'* इति। ये तु परमहंसास्ते देहान्त एव मुच्यन्त इत्याह—लभन्त इति॥१२॥

भावानुवाद—'केचिद्योगपराः' यहाँ 'केचित्'का अर्थ है—वेदोंमें उक्त क्रिया करनेवाले योगीगण। 'अर्चि'का अर्थ है—अग्नि-अभिमानी देवता। 'आदि' पदसे शिशुमारचक्र (सौर-मण्डल) इत्यादि समझना होगा। जैसा कि श्रीमद्भागवत द्वितीय-स्कन्ध (२/२/२३-३१)में श्रीशुकदेवकी उक्ति है—"कर्मी आदि लोगोंकी गतिकी भाँति योगियोंकी गति सीमाबद्ध नहीं है। वे त्रिलोकके बाहर और भीतर इच्छानुसार आ-जा सकते हैं। उनका शरीर वायुसे भी अधिक सूक्ष्म होता है। अष्टाङ्ग योगबलके द्वारा वे देहान्त होने पर आकाशमार्गके ब्रह्मपथस्वरूप ज्योतिर्मयी सुषुम्ना नाड़ीके माध्यमसे अग्नि-अभिमानी देवताके निकट

पहुँचते हैं और कषायोंके पूर्णरूपसे धुलजाने पर वहाँसे ऊपर हरि सम्बन्धीय शिशुमार ज्योतिश्चक्र पर पहुँचते हैं। तदनन्तर विश्वके नाभिस्वरूप उस विष्णुचक्रको अपने निर्मल लिंग-शरीर द्वारा अतिक्रमणकर ब्रह्मविदोंके भी पूजनीय स्थान महर्लोकको जाते हैं। उस स्थान पर कल्प तक की आयुवाले भृगु जैसे देवऋषिगण रहते हैं।"

"कभी-कभी वे कौतूहलपूर्वक कल्पके अन्त तक वहीं रहनेकी इच्छा करते हैं। किन्तु कल्पके अन्तमें जब अनन्तदेवके मुखसे निकलनेवाली अग्नि द्वारा तीनों लोक दग्ध हो जाते हैं, तब यह स्थान (महर्लोक) भी तप्त हो जाता है। उस समय वे महर्लोकके ऊपर स्थित द्विपरार्ध तक स्थायी सत्यलोकमें गमन करते हैं। वहाँ पर सिद्धशिरोमणि जनोंकी सेवाके लिए विमान उपस्थित रहते हैं। उस स्थान पर मात्र चित्तके दुःखके अलावा शोक, जरा, मृत्यु, आर्त्ति, उद्वेग आदि किसी भी प्रकारका कोई दुःख नहीं है। वह चित्तका दुःख कैसा? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—अहो! हमारे समान भगवत्धर्म न जाननेसे त्रिलोकवासी कितना दुःख भोग रहे हैं। यद्यपि यह दुःख दयासे उदित होता है, फिर भी चित्तको सन्तप्त करता है। सत्यलोकमें पहुँचनेके पश्चात् वह योगी निर्भय होकर अपने सूक्ष्म शरीरको पृथ्वीसे मिला देता है और फिर धैर्यपूर्वक सात आवरणोंका भेदन करता है। पृथ्वीरूपसे जलको और जलरूपसे अग्निमय आवरणोंको प्राप्त होकर वह ज्योतिरूपसे वायुरूप आवरणमें आ जाता है और वहाँसे समय आने पर ब्रह्मकी अनन्तताका बोध करानेवाले आकाशरूप आवरणको प्राप्त करता है। इस प्रकार स्थूल आवरणोंको पार करते समय उसकी इन्द्रियाँ भी अपने सूक्ष्म अधिष्ठानोंमें लीन होती जाती हैं। घ्राणेन्द्रिय गन्ध-तन्मात्रामें, रसना रस-तन्मात्रामें, नेत्र रूप-तन्मात्रामें, त्वचा स्पर्श-तन्मात्रामें, श्रोत्र शब्द-तन्मात्रामें और कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी क्रिया-शक्तिमें मिलकर अपने-अपने सूक्ष्मस्वरूपको प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार योगी पञ्चभूतोंके स्थूल-सूक्ष्म आवरणोंको पार करके अहङ्कारमें प्रवेश करता है। वहाँ सूक्ष्म भूतोंको तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियोंको राजस अहङ्कारमें तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको सात्विक अहङ्कारमें लीन कर देता है। इसके बाद

अहङ्कारके साथ लयरूप गतिके द्वारा महत्तत्त्वमें प्रवेश करके अन्तमें समस्त गुणोंके लयस्थान प्रकृतिरूप आवरणमें जा मिलता है। परीक्षित्! महाप्रलयके समय प्रकृतिरूप आवरणके भी लय हो जाने पर वह योगी स्वयं आनन्दस्वरूप होकर अपने उस निरावरण रूपसे आनन्दस्वरूप शान्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जिसे ऐसी भागवती गतिकी प्राप्ति हो जाती है, उसे फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता।"

इस सत्यलोक या ब्रह्मलोककी प्राप्तिके साधन-भेदके अनुसार इनकी गतियाँ भी तीन प्रकारकी होती हैं। जो लोग पुण्यकर्म करनेके कारण वहाँ पहुँचते हैं, वे पुण्यके तारतम्यके अनुसार विभिन्न स्थानोंको प्राप्त होते हैं। जो साधक हिरण्यगर्भकी उपासना करनेसे वहाँ पहुँचते हैं, वे ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते हैं। तथा जो सौभाग्यशाली भगवान्‌की उपासना द्वारा उस स्थान पर पहुँचते हैं, वे इच्छानुसार ब्रह्माण्डके आवरणोंको भेदकर वैकुण्ठमें गमन करते हैं। आवरण भेदके समय भी विविध प्रकारके भोग होते हैं। ये लोग भोग्य-समष्टिका अर्थात् पृथ्वी पर जितने प्रकारके रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दादि तत्त्व (द्रव्य) हैं, सबका सुख भोगकर वैष्णवलोक (वैकुण्ठ)को जाते हैं। जो ज्ञानपरायण यति हैं, वे देहान्तके समय मुक्ति लाभ करते हैं॥१२॥

भक्ता भगवतो ये तु सकामाः स्वेच्छयाखिलान्।
भुञ्जानाः सुखभोगांस्ते विशुद्धा यान्ति तत्पदम्॥१३॥

श्लोकानुवाद—जो लोग विविध प्रकारकी कामनाओंसे भगवान्‌का भजन करते हैं, वे सभी सकाम भक्तगण अपनी इच्छासे समस्त सुखोंको भोगते हुए भक्तिके प्रभावसे विशुद्ध होकर अर्थात् भोगकालमें भी कर्मपरतन्त्र न होकर भोगके अन्तमें श्रीभगवान्‌के धामको जाते हैं॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं कर्म-ज्ञान-पराणां सकाम-निष्कामभेदेन स्वर्गादिभोगं कालक्रममुक्तिं सद्योमुक्तिञ्चोक्त्वा श्रीभगवद्भक्तानां सकामाकामभेदेन प्राप्यमाह—भक्ता इति द्वाभ्याम्। सकामा भक्ताः, ये खलु भोगाभिलाषेण भगवन्तमभजन् ते इत्यर्थः।

स्वेच्छयेत्यनेन कर्मपारतन्त्र्यादिकं निरस्तम्। अखिलानित्यनेन त्रैलोक्ये महर्लोकादाव-र्चिरादिष्वपि तथा प्रपञ्चान्तर्गतश्वेतद्वीपरमाप्रियादिवैकुण्ठेष्वपि वर्त्तमाना भोगाः गृहीताः। सुखमयान् भोगानित्यनेन च त्रैलोक्यान्तर्गत-भोगस्थितदोष-दुःखादिकं निराकृतम्। विशुद्धाः संच्छिन्न-भोगवासनकाः सन्तः; भुञ्जाना इति वर्त्तमान-निर्देशेन भोगकाल एव भगवद्भक्तिप्रभावेण विशुद्धिरुद्दिष्टा। तस्य भगवतः पदं स्थानं यान्ति लभन्ते॥१३॥

भावानुवाद—इस प्रकार कर्म और ज्ञानपरायण लोगोंके द्वारा सकाम और निष्काम भेदसे स्वर्गादि लोकोंको भोगकर कालक्रमसे मुक्ति तथा सद्योमुक्तिकी प्राप्तिके सम्बन्धमें बतलाया गया है। अब 'भक्ता' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्के भक्तोंको सकाम और निष्काम भेदसे प्राप्त होनेवाले स्थानोंके विषयमें वर्णन किया जा रहा है। सकाम भक्त वे हैं जो भोगकी अभिलाषाके साथ श्रीभगवान्का भजन करते हैं। मूलश्लोकमें 'स्वेच्छा' शब्दके द्वारा यह बताया गया है कि सकाम भक्त भी कर्म परतन्त्र नहीं हैं। 'अखिलान्' शब्दके द्वारा त्रिलोक, महर्लोकादि, अर्चिरादि लोक और प्रपञ्चके अन्तर्गत श्वेतद्वीप या रमाप्रिय वैकुण्ठादि लोकोंमें जितने प्रकारके भी भोग विद्यमान हैं, उन सबको इङ्गित किया गया है। 'भोग' शब्दसे पहले 'सुख' विशेषण पदके प्रयोगसे त्रिलोकके अन्तर्गत भोग्य विषयोंमें जो दुःखमिश्रित है, उस दुःखको निरस्त किया गया है। अर्थात् सकाम भक्त भी उन समस्त विषयोंमें जो दुःख है, उसका भोग नहीं करते। 'भुञ्जाना' इस वर्त्तमान क्रिया द्वारा यह निर्दिष्ट किया गया है कि भोगकालमें भी वे विशुद्ध हैं। अर्थात् भोगकालके समय भगवद्भक्तिके प्रभावसे सकाम भक्तगण भोग-वासनाको सम्पूर्णरूपसे त्यागकर भगवान्के धामको गमन करते हैं॥१३॥

वैकुण्ठं दुर्लभं मुक्तैः सान्द्रानन्दचिदात्मकम्।
निष्कामा ये तु तद्भक्ता लभन्ते सद्य एव तत्॥१४॥

श्लोकानुवाद—जो कामनारहित होकर श्रीभगवान्का भजन करते हैं, वे सब निष्काम भक्त देहान्तके पश्चात् उसी क्षण वैकुण्ठको प्राप्त करते हैं। यह वैकुण्ठधाम घनानन्द और चेतनस्वरूप है तथा मुक्तगणोंके लिए भी परम दुर्लभ है॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव निर्द्दिशति वैकुण्ठं तत्संज्ञकं तल्लक्षणं सामान्येन किञ्चिच्छ्रीशुकेनोक्तमस्ति द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/२/१७-१८)—*'न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः, कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे। न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च, न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥ परं पदं वैष्णवमामनन्ति, तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः। विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा, हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥'* इति। तथा तत्रैव (श्रीमद्भा॰ २/९/९-१०)—*'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः, सन्दर्शयामास परं न यत् परम्। व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं, स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टूतम्॥ प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः, सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः। न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥'* इति। श्रीदशमे च (श्रीमद्भा॰ १०/२८/१४-१५)—*'इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः। दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम्। यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥'* इति। तमसः प्रकृतेः परं लोकमेव विशिनष्ठि—सत्यमित्यादिना। परब्रह्मणो लोकत्वे घनीभाव एव पर्यवस्यति। कीदृशं तत् पदम्? मुक्तैरपि दुर्लभम्। एतेन मुक्तानां प्राप्याद् भक्तानां प्राप्यस्य परमोत्कर्षो निर्दिष्टः। कुतः? सान्द्रो य आनन्दः, चिच्च ज्ञानं, तदात्मकं ब्रह्मघनमित्यर्थः। मुक्तानां चातितुच्छमेव सुखम्; एतच्चाग्रे व्यक्तीभावि; तस्य भगवतो भक्ताः, तत् वैकुण्ठाख्यं पदम्॥१४॥

भावानुवाद—मूल श्लोकमें 'तत्' शब्दके द्वारा वैकुण्ठको निर्दिष्ट किया गया है तथा उसका लक्षण (श्रीमद्भा॰ २/२/१७-१८में) श्रीशुकदेव गोस्वामीके द्वारा किञ्चित् रूपमें व्यक्त किया गया है—"उस स्थान पर देवताओंके प्रभु—स्वयं काल भी अपना प्रभुत्व विस्तार नहीं कर सकते, तो फिर सामान्य इन्द्रादि देवता जो केवलमात्र प्राकृत जगत पर आधिपत्य करनेवाले हैं, वे वहाँ अपना प्रभाव किस प्रकार विस्तार कर पायेंगे? उस स्थान पर सत्त्व, रजः और तमोगुणका विकार नहीं है। इसलिए वहाँ महत्तत्त्व तथा प्रकृति भी अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर पाती। वहाँ जानेवाले अधिकारी व्यक्ति 'नेति-नेति' इस प्रकारके भावसे सदा-निरसनपूर्वक देहादिमें आत्म-बुद्धि परित्यागकर निरन्तर श्रीविष्णुके परमपदको हृदयमें धारण करते हैं तथा एकान्तिक-सौहृदभावसे उन सर्वश्रेष्ठ वैष्णवपदकी महिमा कीर्त्तन करते हैं।" तथा श्रीमद्भागवत (२/९/९-१०)में कथित है—"उस समय श्रीभगवान्ने ब्रह्माकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें अपने लोकका दर्शन कराया था। उस वैकुण्ठ धाममें क्लेश और क्लेशसे उत्पन्न

मोह या भय नहीं है। उस स्थानसे कोई अन्य श्रेष्ठ स्थान नहीं हैं। पुण्यवान आत्मविद्‌गण सदा उस धामकी आकांक्षा करते हैं। उस वैकुण्ठधाममें रजः और तमोगुण नहीं है। रजः और तमोमिश्रित सत्व भी नहीं है। वहाँ शुद्धसत्त्व वर्त्तमान है तथा वहाँ कालका प्रभाव नहीं है। क्रोध-द्वेषादिकी बात तो दूर रहे, वहाँ लौकिक सुख-दुःखादिका मूलकारण माया तक नहीं है। वहाँ सुर और असुरों द्वारा वन्दित भगवान्‌के पार्षद सर्वदा विराजमान रहते हैं।" श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्ध (१०/२८/१४-१५)में भी कहा गया है—"परमकरुणामय विभु श्रीकृष्णने इस प्रकार चिन्ताकर गोपोंको प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मस्वरूप वैकुण्ठ-लोकका दर्शन कराया। वह स्थान चिन्मय, अनन्त, सत्य, स्वप्रकाशित, नित्य और ब्रह्मस्वरूप है। मुनिगण निर्गुण अवस्थाको प्राप्तकर समाधि दशामें उस स्थानका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं।" वही ब्रह्म स्वरूप-शक्तिकी वृत्तिविशेषके प्राकट्य द्वारा सत्यादि स्वरूपमें किसी प्रकारका व्यतिक्रम न कर वैकुण्ठके रूपमें अभिव्यक्त हैं। 'सत्यम्' इत्यादि पदके द्वारा तमस प्रकृतिसे परे वैकुण्ठलोकको विशेषरूपसे लक्ष्य किया गया है। श्रीवैकुण्ठ परब्रह्मका लोक है, अतः वहाँ सब कुछ घनीभूत भावमें ही पर्यवसित हो रहा है। वह पद किस प्रकारका है? इसके उत्तरमें कहते हैं—वह पद मुक्तजनोंके लिए भी दुर्लभ है। इसके द्वारा मुक्तपुरुषोंके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले मुक्तिपदकी तुलनामें भक्तों द्वारा प्राप्त किये जानेवाले श्रीभगवत्‌धामका परमोत्कर्ष निर्दिष्ट हुआ है। धामके परमोत्कर्षका स्वरूप कैसा है? उत्तरमें कहते हैं—'साद्र' इत्यादि—वह धाम घनीभूत आनन्द और चित्-ज्ञानसे पूर्ण ब्रह्मघन-स्वरूप है। मुक्तजनों द्वारा प्राप्त किया जानेवाला सुख किस प्रकार अति तुच्छ है—यह बादमें बतलाया जायेगा। यहाँ 'तद्भक्त'का अर्थ है कि भगवान्‌के भक्त ही इस प्रकारके वैकुण्ठ पदको प्राप्त करते हैं॥१४॥

तत्र श्रीकृष्णपादाब्जसाक्षात्सेवासुखं सदा।
बहुधानुभवन्तस्ते रमन्ते धिक्कृतामृतम्॥१५॥

श्लोकानुवाद—वे इस वैकुण्ठमें सदा श्रीकृष्णके चरणकमलोंका साक्षात् सेवासुख नाना-प्रकारसे अनुभव करते हैं और उनके साथ

नाना-प्रकारकी क्रीड़ाओंमें निमग्न रहते हैं। ऐसे सेवासुखके आगे मुक्तिसुख भी तुच्छ हो जाता है॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—कीदृशं तद्वैकुण्ठे घनसुखम्? तत् संक्षेपेणाह—तत्रेति। श्रीकृष्णपादाब्जयोः साक्षादपरोक्षेण सेवैव सुखम्, बहुधा नानाप्रकारेण सदानुभवन्तः; साक्षाल्लभमानास्ते वैकुण्ठगता भक्ताः; सर्वे तत्र वैकुण्ठे सदा रमन्ते, भगवता सह क्रीड़ां कुर्वन्ति, तत्सेवारूपक्रीड़ासुखमनुभवन्तीत्यर्थः। एतद्विस्तारश्च अग्रे वैकुण्ठवर्णने भावी। कीदृशं सुखम्? धिक्कृतमतितुच्छीकृतममृतं मोक्षसुखं येन तत्, परमानन्दघनत्वात्॥१५॥

भावानुवाद—उस वैकुण्ठमें किस प्रकारका घनीभूत सुख विद्यमान है? इसे संक्षेपमें बतलानेके लिए 'तत्र' इत्यादि श्लोक कहा गया है। उस वैकुण्ठमें रहनेवाले भक्तगण बहुत प्रकारसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंके सेवासुखको साक्षात् और असाक्षात्‌रूपसे सर्वदा अनुभव करते हैं। 'साक्षात्'का तात्पर्य है कि उस वैकुण्ठमें श्रीभगवान्‌के साथ सदा रमण (क्रीड़ा) करते हैं अर्थात् उनकी सेवारूप क्रीड़ासुखका अनुभव करते हैं। इस विषयको आगे वैकुण्ठवर्णन प्रसंगमें विस्तारसे कहा जायेगा। वह (क्रीड़ा) सुख कैसा है? इसके उत्तरमें कहते हैं—परमानन्दघन स्वरूप होनेके कारण उस सुखकी तुलनामें मोक्ष सुख भी अत्यन्त तुच्छ बोध होता है॥१५॥

ज्ञानभक्तास्तु तेष्वेके शुद्धभक्ताः परेऽपरे।
प्रेमभक्ताः परे प्रेमपराः प्रेमातुराः परे॥१६॥

श्लोकानुवाद—ऐसे भक्तोंमें कोई ज्ञानमिश्र भक्त, कोई शुद्धभक्त, कोई प्रेमीभक्त, कोई प्रेमपरभक्त तथा कोई प्रेमातुरभक्त होते हैं॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तेषामेव भावभेदेन प्राप्ये नानाविशेषानाह—ज्ञानेति सार्धचतुर्भिः। एके ज्ञानभक्ता ज्ञानमिश्रभक्तियुक्ताः, यथा—भरतादयः; ज्ञानमत्र मोक्षतुच्छतया श्रीभगवत्पादपद्मभक्तिमहिमादिज्ञानम्। भक्तिश्च नवविधा सेवैव वा; परे शुद्धभक्ताः कर्मज्ञानवैराग्यासंभिन्नभक्तियुक्ता भगवतो भक्तिमात्रकामा, यथा—अम्बरीषादयः; अपरे प्रेमभक्ताः सप्रेमभक्तिमन्तः नित्यात्मसेविताः प्रियतम-प्रभुवर-चरणारविन्द-प्रीतिसङ्गम-सेवामात्रापेक्षकाः, यथा—श्रीहनूमदादयः। परे प्रेमपराः, भक्त्यनासक्त्या प्रेम्णैव तात्पर्यवन्तो निरुपाधिभगवत्कृपाजनितविशुद्धपरम-प्रेमोत्पादित-तद्दर्शनोत्कण्ठा-दर्शन-सख्यनर्मसौहृदादि-शृंखलाबद्धाः, यथा—श्रीमदर्जुनादयः पाण्डवाः। परे प्रेमातुराः,

सन्ततप्रेमसम्पत्त्या विह्वला विचित्रतत्प्रेमसम्बन्धाकृष्टाशया, यथा—श्रीमदुद्धवादयो यादवः। यद्यपि भगवत्प्रेम विना वैकुण्ठप्राप्तिर्न स्यात्तथापि भावभेदेन प्रेम्णैव तारतम्यं कल्पनीयम्। तत्र च शुद्धभक्तिरपि प्रेमभक्तावेव यद्यपि पर्यवस्यति, तथापि शुद्धभक्तेभ्यः प्रेमभक्तानां प्रेमनिष्ठाविशेषेण कश्चिद्विशेषः कल्पनीयः। एवमेतेभ्यः प्रेमपराणाम्, तेभ्यश्च प्रेमातुराणामूह्यः॥१६॥

भावानुवाद—अब श्रीभगवान्‌के भक्तोंके भाव-भेदके अनुसार प्राप्त फलोंमें जो विशेषता है, उसे 'ज्ञान' इत्यादि साढ़े चार श्लोकोंमें बतलाया जा रहा है।

(१) ज्ञानभक्त—ज्ञानमिश्रा भक्तिसे युक्त जैसे श्रीभरत महराज आदि। यहाँ 'ज्ञान' शब्दके द्वारा मोक्ष बुद्धिको तुच्छ समझकर श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी भक्तिकी महिमादिका जो ज्ञान है उसे समझना होगा और 'भक्ति' शब्दके द्वारा नवविधा भक्ति या सेवाको समझना होगा।

(२) शुद्धभक्त—कर्म, ज्ञान, वैराग्यादि द्वारा अनावृत भक्तिसे युक्त केवल भगवान्‌की भक्तिकी ही कामना करनेवाले—जैसे श्रीअम्बरीषादि।

(३) प्रेमीभक्त—सप्रेम भक्तिसे युक्त, अर्थात् जो नित्य आत्मा द्वारा सेवित प्रियतम प्रभुवरके श्रीचरणकमलोंकी प्रीति अर्थात् संगम और सेवामात्रकी ही आशा करते हैं—जैसे श्रीहनुमानादि।

(४) प्रेमपरभक्त—भक्तिके सम्भ्रममय भावमें अनासक्त तथा केवल प्रेम-एक-तात्पर्ययुक्त सौहृदादि-शृंखलामें आबद्व अर्थात् श्रीभगवान्‌की निरुपाधिक कृपासे उदित विशुद्ध परमप्रेमसे उत्पन्न उनके दर्शनकी उत्कण्ठासे पूर्ण सख्य या नर्म सौहृद्यादिरूप शृंखलामें आबद्ध—जैसे श्रीअर्जुन आदि पाण्डव।

(५) प्रेमातुरभक्त—प्रेमविह्वल अर्थात् सर्वदा प्रेमसम्पत्ति द्वारा विह्वल और विचित्र प्रेमसम्पदमें श्रेष्ठ या प्रेमसम्बन्धमें आकृष्ट हृदययुक्त—जैसे उद्धवादि यादवगण।

यद्यपि भगवत्प्रेमके बिना वैकुण्ठकी प्राप्ति नहीं होती, तथापि भाव-भेद और प्रेमके तारतम्यके अनुसार भक्तोंमें तारतम्य मानना होगा। शुद्धभक्ति तथा प्रेमभक्ति स्वरूपतः एक होने पर भी प्रेमनिष्ठाके कारण प्रेमीभक्त श्रेष्ठ हैं। यद्यपि शुद्धभक्त भी प्रेमीभक्तमें ही पर्यवसित

होते हैं, तथापि शुद्धभक्तोंकी तुलनामें प्रेमीभक्तोंकी प्रेम-निष्ठाकी विशेषता अवश्य ही माननी होगी। इसी प्रकारसे प्रेमीभक्तोंसे प्रेमपर भक्तोंकी और प्रेमपर भक्तोंसे प्रेमातुर भक्तोंकी विशेषता स्वीकार करनी होगी॥१६॥

तारतम्यवतामेषां फले साम्यं न युज्यते।
तारतम्यन्तु वैकुण्ठे कथञ्चिद्घटते न हि॥१७॥

श्लोकानुवाद—इन सब भक्तोंमें भक्तिकी समानता रहने पर भी परस्पर भावोंका तारतम्य देखा जाता है, इसलिए इन सबके द्वारा प्राप्त फलोंमें समानता उपयुक्त नहीं है—अर्थात् फलमें भी तारतम्य होगा ही। परन्तु साम्यस्थान वैकुण्ठमें कभी भी फलोंका तारतम्य घटित नहीं हो सकता॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमेतेषां भक्तिसाम्येऽपि भावतारतम्यात् प्राप्येऽपि तारतम्यमेवोचितमित्याशयेनाह—तारतम्यवतामिति। तारतम्यं नाम न्यूनाधिकत्वं तद्वतामेषां पञ्चविधभक्तानां न युज्यत इत्यस्यायमर्थः। ज्ञानभक्तेः सकाशादवश्यमेव शुद्धभक्तिस्तस्यास्तु प्रेमभक्तिस्तस्याश्च प्रेमपरा भक्तिस्तस्या अपि प्रेमातुरा भक्तिः फलविशेषमर्हन्ति, अन्यथा तासामपर्याप्तिरेव स्यात्। किञ्च, पृथग्रुचीनां तेषां परमभक्तिमतामेकरूप-फलदानेनाभीष्टदानमनीप्सितप्रापणञ्च भक्तवत्सलस्य परमकारुणिकस्य भगवतो महिमोचितं न भवतीति। नन्वस्तु नाम वैकुण्ठ एव फलतारतम्यम्, कोऽत्र दोषस्तत्राह—तारतम्यमिति। वैकुण्ठस्य सच्चिदानन्दघनत्वेनैकरूपत्वात्तत्र भेदो न सम्भवतीत्यर्थः॥१७॥

भावानुवाद—इन समस्त भक्तोंमें भक्तिकी समानता होने पर भी भाव-तारतम्यके कारण प्राप्त होनेवाले फलमें भी तारतम्य होगा, इसे अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसी उद्देश्यसे 'तारतम्य' इत्यादि श्लोक कहा गया है। यहाँ तारतम्य कहनेसे प्रेमका न्यूनाधिकत्व (तुलनात्मक न्यूनता और अधिकता)को समझना होगा। इन पाँच प्रकारके भक्तोंके भावोंके तारतम्यके अनुसार फलोंमें समानता होना उपयुक्त नहीं है। ज्ञानभक्तिकी तुलनामें शुद्धभक्ति, शुद्धभक्तिकी तुलनामें प्रेमभक्ति, प्रेमभक्तिकी तुलनामें प्रेमपरभक्ति तथा प्रेमपरभक्तिकी तुलनामें प्रेमातुरभक्तिके फलमें अवश्य ही विशेषता होगी। अन्यथा इनके फलदानमें अपर्याप्ति दोष होगा। विशेषतः अलग-अलग

रुचियुक्त परमभक्तिमान भक्तोंको एक प्रकारका ही फलदान करना अभीष्ट नहीं है तथा भक्तोंके द्वारा एक समान फल प्राप्ति अनभीप्सित (अनिच्छुक) प्राप्ति है। ऐसा फल-दान परम कारुणिक भक्तवत्सल भगवान्‌की महिमाको उचित नहीं ठहराता, इसलिए फलोंमें तारतम्य मानना ही होगा। यदि आपत्ति हो कि श्रीवैकुण्ठमें इस प्रकारका फल-तारतम्य रहनेसे क्या दोष नहीं होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—वैकुण्ठ सच्चिदानन्दघन होनेके कारण एकरूप है, इसलिए वहाँ किसी भी प्रकारका भेदभाव सम्भव नहीं है॥१७॥

पर्यवस्यति सारूप्य-सामीप्यादौ च तुल्यता।
न श्रूयते परं प्राप्यं वैकुण्ठादधिकं कियत्॥१८॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌की सारूप्य, सामीप्य आदि मुक्तियोंमें भी समानता है तथा वैकुण्ठसे अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई प्राप्त करने योग्य स्थान नहीं सुना जाता है॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु वैकुण्ठ एव तेषां भजनानन्दादिसाम्येऽपि केषाञ्चिद्-विचित्रस्वारूप्यादिप्राप्त्या तथा श्रीभगवतस्तत्र सदा पारमैश्वर्यलीलाविष्कारापेक्षया कर्मसत्र-ब्रह्मसत्रवत् केषामपि द्वारपालत्वादिना दूरस्थत्वेन बाह्यत एव केषाञ्चन पादसम्वाहनादिना समीपवर्तित्वेनान्तरीणतयैव महाप्रभुं सेवमानानां तारतम्यं कल्पणीयमिति चेत्तथापि परमार्थविचारात् साम्यापत्तेरपर्याप्तिरेव स्यादित्याह—पर्यवस्यतीति। सारूप्यं भगवत्समानरूपता चतुर्भुजत्वाद्या, सामीप्यं निकटवर्तिता पार्षदत्वादिरूपा; आदिशब्देन सेनापत्याद्यधिकारास्तथा पादसम्वाहन केशप्रसाधनादिसेवाविशेषा ग्राह्याः, न तु सायुज्यम्। तद्धि श्रीभगवत्स्मरणप्रभावेण तद्विद्वेषिभ्योऽप्यसुरेभ्यो दीयमानं मोक्ष एव पर्यवसितम्। तच्च यथाकथञ्चिद्भगवन्तं सेवमानानाम् अत्यन्तानादरणीयं धिक्कारास्पदं नन्वन्यत् किमपि तैः स्व-स्वभावानुरूपं प्राप्तव्यम्, तत्राह—नेति। कियत् किञ्चिदपि वैकुण्ठस्याशेषप्राप्यपरमान्त्यकाष्ठारूपत्वात्॥१८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीवैकुण्ठमें उन समस्त भक्तोंके भजनानन्दमें समानता रहने पर भी किसी-किसी भक्तको विचित्र सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार सत्रों (यज्ञों)में कर्मसत्र और ब्रह्मसत्रके अनुसार भेद होता है, उसी प्रकार वैकुण्ठमें श्रीभगवान्‌की सर्वदा परमैश्वर्यपूर्ण लीला प्रकट करनेके लिए

आवश्यकतानुसार सेवकोंमें भी किसीकी द्वारपालादि रूपमें दूर अवस्थिति और किसीके द्वारा श्रीभगवान्‌के पाद-सम्वाहनादि कार्यके लिए समीपवर्ती या अन्तरङ्ग सेवामें नियोजित होनेके कारण उनमें तारतम्य माना गया है। किन्तु, तथापि परमार्थ विचारसे सभीकी समानता ही पर्यवसित हुई है—इसीको बतलानेके लिए 'पर्यवस्यति' इत्यादि श्लोक कहा गया है। सारूप्य—श्रीभगवान्‌के समान रूप अर्थात् चतुर्भुजत्वादि। सामीप्य—समीपवर्तित्व अर्थात् पार्षदत्वादि रूपमें अवस्थिति। यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा सेनापति आदिका अधिकार और पाद-सम्वाहन, केश-प्रसाधन आदि सेवाको ग्रहण करना होगा, किन्तु सायुज्य मुक्तिको नहीं। यह सायुज्य मुक्ति भगवत्-विद्वेषी असुरोंको श्रीभगवान्‌के स्मरणके प्रभावसे दिये जानेवाले मोक्षके रूपमें प्राप्त होती है। जो लोग अल्पमात्रामें भी भगवान्‌की सेवा करते हैं, उनके लिए सायुज्य मुक्ति अत्यन्त अनादरणीय तथा धिक्कारास्पद है। यदि प्रश्न हो कि भक्तोंके अपने-अपने भावोंके अनुरूप क्या कुछ और भी प्राप्त किया जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'न श्रूयते' इत्यादि। अर्थात् अगणित प्रकारके प्राप्त होनेवाले स्थानोंमें श्रीवैकुण्ठ सर्वश्रेष्ठ है, इसीलिए किसी और प्राप्त किये जानेवाले स्थानके सम्बन्धमें नहीं सुना जाता है॥१८॥

तत्प्रदेशविशेषेषु स्वस्वभावविशेषतः।
स्वस्वप्रियविशेषाप्त्या सर्वेषामस्तु वा सुखम्॥१९॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठके किसी विशेष भागमें मुक्ति प्राप्त पाँच प्रकारके भक्तोंको अपने-अपने भावानुसार, अपनी-अपनी प्रिय (उपास्य) वस्तुको प्राप्तकर विशेष-विशेष सुख हुआ करता है तो हो॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु वैकुण्ठस्यैव स्थानविशेषेषु तैः सर्वैः स्वस्वभावानुरूपं तारतम्येन तत्तत् फलं श्रीभगवच्छक्तिविशेषेण प्राप्तव्यमिति चेत्तथापि श्रीगोपीरमण-चरणाब्जविषयक-तादृश प्रेमविशेषमयानां परमासाधारणानां कतमत् प्राप्यं भवत्विति पृच्छति—तदिति द्वाभ्याम्। तस्य वैकुण्ठस्य प्रदेशविशेषा असाधारण-स्थानानि श्रीमदयोध्या-द्वारकादीनि तेषु। यथोक्तं—*'या यथा भुवि वर्तन्ते पुर्यो भगवतः प्रियाः। तास्तथा सन्ति वैकुण्ठे तत्तल्लीलार्थमादृताः॥"* इति। सर्वेषां मुक्तानां पञ्चविधभक्तानां, वा-शब्दोऽत्र चित्त्यापूर्त्याभ्युपगमे, वैकुण्ठे तत्तद्भेदविशेषस्याप्रसिद्धेः॥१९॥

भावानुवाद—यदि कहा जाय कि श्रीवैकुण्ठमें ही स्थानविशेषके अनुसार उन समस्त भक्तोंको अपने-अपने भावके तारतम्यवशतः श्रीभगवान्‌की शक्ति द्वारा वैसा-वैसा फल प्राप्त होता है। यदि ऐसा ही है, तो भी श्रीगोपीरमणके चरणकमलोंमें विशेष प्रेमसे युक्त परम असाधारण भक्तोंके लिए भी कोई एक विशेष प्राप्त करने योग्य स्थान अवश्य ही होना चाहिए—यही 'तत्' इत्यादि दो श्लोकों (१९-२०)में जिज्ञासा कर रहे हैं। उस वैकुण्ठमें विशेष प्रदेश अर्थात् असाधारण स्थान श्रीमत् अयोध्या, द्वारकादि धाम विद्यमान हैं। जैसा कि शास्त्रोंमें है—"पृथ्वी पर भगवान्‌की प्रिय समस्त पुरियाँ जिस प्रकारसे विराजमान हैं, उन-उन लीलाओंके आदरके लिए वैकुण्ठमें भी वे समस्त पुरियाँ ठीक उसी रूपमें अवस्थान करती हैं।" इस वचनके अनुसार वैकुण्ठमें भी पाँच प्रकारके भक्तोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य अयोध्या और द्वारका आदि असाधारण स्थान विद्यमान हैं। किन्तु मूल श्लोकके 'वा' शब्दके द्वारा चित्तकी अपूर्णता उदित होती है, क्योंकि वैकुण्ठमें वैसा भेद प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् परम असाधारण भक्तोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य फलोंके सम्बन्धमें चित्तकी सन्तुष्टि नहीं होती, क्योंकि वैकुण्ठमें वैसा भेद हो सकता है, ऐसा विश्वास नहीं होता है॥१९॥

परां काष्ठां गतं तत्तद्रसजातीयतोचितम्।
अथापि रासकृत्तादृग्भक्तानामस्तु का गतिः॥२०॥

श्लोकानुवाद—वहाँ प्रत्येक भक्तका भाव या रस ही अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् सुखकी चरम सीमाका अनुभव कराता है। तथापि रासबिहारी श्रीकृष्णके असाधारण रसिक भक्तोंकी क्या गति होती है?॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं तारतम्यसिद्ध्या केषाञ्चित् सुखं नूनं स्यात्, तच्च न सङ्गच्छते; यतो भगवद्भक्तानां विशेषतो वैकुण्ठगतानां मुक्तेभ्योऽधिकमहिमवतां मोक्षादपि परममहत्तरमेव सुखं सर्वेषामप्युचितं स्यात्, तत्राह—परामिति। सुखस्यैव विशेषणम्, परममहत्तायाश्चरमसीमां प्राप्तमित्यर्थः। एवञ्चेत्तर्हि तारतम्यमसङ्गतमित्यत आह—तत्तदिति, तेषां तेषां समवायो रसो भावस्तज्जातीयं तत्स्वभावजं यत्तस्य मुखस्य भावस्तत्ता तस्या उचितम् उपयुक्तमित्यर्थः। स्वस्वरसानुसारेण स्वस्वचित्ते

सर्वेषामेव सुखस्य पराकाष्ठा सम्पद्यत एवेति भावः। रासकृतः श्रीगोपीरमण-चरणकमलयुगलस्य तादृग् भक्तानां सर्वतः असाधारणानां परमानिर्वचनीयसहजपरमप्रेम-विशेषमयानामित्यर्थः। का गतिः कतरत् प्राप्यमस्तु? एतदुक्तं भवति—भवतु वा ज्ञानभक्तेभ्यः शुद्धभक्तानां भजनानन्दगतो विशेषः, एवं स्पर्द्धासूयादिकारणे तारतम्ये सत्यपि भक्तिस्वभावेन पूर्वमेव निराकृतदुःखशोकादिहेतुमात्सर्यादिदोषाणां भगवद्भक्तानां वैकुण्ठगतानामन्योन्यं परमप्रेम्णा सक्तानां निरपायं भगवद्भजनसुखं (निरुपाधिभगवद्भक्तिजं सुखं) सर्वेषां यथासम्भवं संपद्येतैव; तथापि शुद्धभक्तेभ्यो वैकुण्ठवाससुखापेक्षारहितेभ्यो विशेषः। सर्वनिरपेक्षाणां प्रेमभक्तानां परमदासवराणां तथा तदीयसहजानुकम्पा-विशेष-पात्राणां प्रेमपराणां परमसुहृद्वराणां तथा तदेकप्राणानां प्रेमातुराणां परमविचित्रप्रेमसम्बन्धबद्धात्मनां कतमोऽन्यो विशेषोऽस्तु? यदि वा स्कन्दपुराणादि दृष्ट्या वचनप्रामाण्येन वक्तव्यमिदम्, वैकुण्ठ एवायोध्याद्वारकाद्याः पुर्योऽत्रत्या इव तत्तत्परिकरपरिवारयुतास्तादृशेनैव तत्तदीश्वरेण सहिता वर्तन्ते। तत्रैवायोध्यायां हनूमत्सदृशा भक्ताः श्रीरघुनाथं श्रीसीतालक्ष्मणादिभिः सेव्यमानं सदा निरीक्ष्यमाणाः पूर्ववद्दास्यसुखं निजाभीष्टं बहुधानुभवेयुः। तथा द्वारवत्यां श्रीदेवकीनन्दनं यथापूर्वं श्रीबलरामानुजं श्रीरुक्मिणीसत्यभामादिवल्लभमर्जुनसखं निजगृहेषु कदाचिदागच्छन्तं श्रीयुधिष्ठिरादयः परमसौहृदादिना भजन्तस्तथा श्रीयादवाः श्रीमदुद्धवानुगतं श्रीयादवेन्द्रं निखिलधनैश्वर्य-जीवनाधिकतया विचित्रं सेवमाना निरन्तर-विविधप्रेमसम्बन्धपरम्परया बहिरन्तःपरमानन्दभरं यथेच्छं प्राप्नुयुः। पुरात्र वर्त्तमाना यथा निजप्रियतम-प्रभुवरपादपद्मसेवानुकम्पा-प्रेमविलाससौभाग्यमलभन्त, इदानीं वैकुण्ठेऽपि तथैवेत्येवं सति मर्तलोकसकाशाद्वैकुण्ठलोके विशेषस्याभावादपि न कोऽपि दोषः प्रसज्जते। यतः सर्वदा सर्वत्रैव ते ते भगवतः परमानुग्रहविषयाः, अस्तु वा कश्चिद्विशेषः, स तु परमापेक्षिताद्भगवद्विशुद्धप्रेमभजनानन्द-सन्दोहादधिकः समोऽपि वा न स्यादतो नातीवादरणीयः। एवं सति ज्ञानभक्तानां ज्ञानगन्धसम्बन्धेन तादृशप्रेमसम्पत्तिभरानुदयात् वैकुण्ठेऽपि तदनुरूपं मानसिकप्रायं सुखम्; शुद्धभक्तानाञ्च ततोऽधिकं श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादिना सर्वेन्द्रियगतं महासुखम्; प्रेमभक्ताना ञ्च ततोऽधिकतरं सततप्रेम-सन्दर्शन-सेवनवैचित्रीभिर्बहिरन्तःकरणाङ्गगतं परमसुखम्; प्रेमपराणाञ्च ततोऽप्यधिकतमं परमोत्कण्ठादर्शनलाभ-सख्य-नर्मसौहृदादिभिः सर्वात्मगतं परममहासुखम्; प्रेमातुराणाञ्च ततोऽप्यधिकाधिकतमं विचित्रं निरन्तर-प्रेमसन्दर्शन-विहार-व्यवहार परम्पराभिरशेषात्मपरिकरगतं तदतीतञ्च परमोत्कृष्टमहासुखम्। एवं साधन-तारतम्येन फल-तारतम्ये सति परममहासुखविशेषस्य परमान्त्यकाष्ठामये वैकुण्ठे केषाञ्चिदधिकता, केषामपि न्यूनता न सङ्गच्छत इति न वक्तव्यम्। यतः परमान्त्यकाष्ठां गतस्य परममहोत्कृष्टसाधनविशेषस्यैव परमान्त्यकाष्ठां प्राप्तः परममहोत्कृष्टफलविशेषः सम्पद्यते। स च श्रीगोपीरमणचरणारविन्दद्वन्दविषयक-तादृशप्रेमविशेषवतामेव, नान्येषाम्। तदपेक्षया परेषां सर्वेषामेव न्यूनतैव घटते।

तथापि वैकुण्ठलोक-स्वभावात्तत्तद्भाववतां स्वस्वहृदयानुसारेण तत्तद्रसजात्यनुरूपस्य सुखस्य पराकाष्ठा सर्वेषामपि तेषां सम्पद्यत एव। एवं सत्यपि तेषां श्रीनन्दकिशोर-चरणारविन्दद्वन्द्वविषयकसहजतादृशपरमप्रेमभरमयानां सर्वतोऽसाधारणानां सर्वतोऽसाधारणमेव फलमुपयुज्यते, तच्चान्यत् कतमद्भवत्विति पृच्छेदिति॥२०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि पाँच प्रकारके भक्तोंमें इस प्रकारका तारतम्य विचार होनेके कारण किसी-किसीको कम सुख प्राप्त होता होगा, अतः यह सङ्गत नहीं है, क्योंकि भगवद्भक्तोंको, विशेषकर मुक्त जनोंकी तुलनामें भी अधिक महिमावान उन वैकुण्ठगत समस्त प्रकारके भक्तोंको मोक्षसे भी परम महान सुख प्राप्त होना ही उचित है। इसीके समाधानके लिए 'परां काष्ठां' इत्यादि श्लोक कहा गया है। यहाँ 'परां' शब्द सुखका विशेषण है, इसका अर्थ है—वह सुख परम महत् (महान) होनेके कारण अपनी चरम सीमाको प्राप्त हुआ है। यदि ऐसा ही होता है तो पाँच प्रकारके भक्तोंका तारतम्य असंगत होता है। इसलिए 'तत्तत्' आदि शब्द कहा गया है। उन भक्तोंमें स्वभावानुसार जिस प्रकारका रस या भाव होता है, उनमें प्रत्येकके लिए उनके भावानुसार उस प्रकारका सुख होना ही उचित है। अर्थात् उन सबको अपने-अपने रसके अनुसार, चित्तमें अपने-अपने सुखकी चरमसीमा अनुभव होती है।

किन्तु, रासलीला करनेवाले श्रीगोपीरमणके चरणकमलोंके प्रति ऐसे (प्रेमवान) भक्तोंकी—अर्थात् पूर्णतः असाधारण परम अनिर्वचनीय स्वाभाविक प्रेमसे युक्त भक्तोंकी क्या गति होती है और उन्हें कौनसा स्थान प्राप्त होता है? ज्ञानीभक्तोंसे शुद्धभक्तोंके भजनानन्दमें विशेषता होती है, किन्तु स्पर्धा, असूयादि कारणोंसे उनमें तारतम्य होनेका अवकाश नहीं है, क्योंकि साधन-भक्तिकी अवस्थामें ही भक्तिके स्वभावसे उनमें दुःख-शोकादिके कारण-स्वरूप मात्सर्यादि दोष दूर हो जाते हैं तथा वैसे वैकुण्ठगत परम प्रेममें आसक्त भक्तोंको निरुपाधिक भजनसुख यथासम्भव प्राप्त होता है। तथापि वैकुण्ठवासके सुखकी आकांक्षासे रहित शुद्धभक्तोंकी तुलनामें सर्वनिरपेक्ष प्रेमीभक्त अर्थात् परमदासोंमें श्रेष्ठ भक्त तथा उनकी तुलनामें तदेक-प्राण प्रेमातुर भक्त अर्थात् परम विचित्र प्रेमसम्बन्धमें बँधे हुए भक्तोंके लिए उन लोकोंसे

भी अधिक कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य स्थान होता होगा? यद्यपि स्कन्दपुराणादिके प्रामाणिक वचनों द्वारा यही व्यक्त हो रहा है कि वैकुण्ठमें ही अयोध्या, द्वारकादि पुरियाँ अवस्थित हैं और यहाँ (पृथ्वी) पर स्थित अयोध्यादिकी भाँति ही उन-उन परिकर परिवारसे युक्त तथा वैसे-वैसे ईश्वरोंके साथ नित्य वर्त्तमान हैं। अर्थात् वैकुण्ठगत अयोध्यामें भी हनुमान जैसे भक्तगण श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणादिके साथ सदा ही श्रीरघुनाथकी सेवामें निमग्न रहते हैं और सेवा, दर्शनादि द्वारा पूर्ववत् निजाभीष्ट दास्यसुखका अनेक प्रकारसे अनुभव करते हैं। उसी प्रकार द्वारावतीमें भी श्रीबलरामानुज, श्रीरुक्मिणी-सत्यभामादिवल्लभ, अर्जुनसखा यादवेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण पूर्वकी भाँति जब कभी अपने राजभवनमें आते हैं, तब श्रीयुधिष्ठिरादि भक्तजन परम मैत्रीभावसे उनकी सेवा करते हैं। उसी प्रकार श्रीमद् उद्धवानुगत श्रीयादवगण भी निखिल धन, ऐश्वर्य और जीवनकी अपेक्षा भी अधिक विचित्र भावोंसे श्रीयादवेन्द्रकी सेवा कर सर्वदा विविध प्रेमसम्बन्धमें परस्पर बाहर और भीतर अत्यधिक परमानन्दको प्राप्त करते हैं। यहाँ 'पूर्ववत्' शब्दका अर्थ है—जिस प्रकारका सेवासुख पहले लाभ किया था, वर्त्तमानमें भी वैसा ही सेवासुख प्राप्त होता है। अर्थात् इस भौम द्वारकापुरीमें उस समय अर्थात् प्रकटावस्थामें जिस प्रकारसे अपने प्रियतम प्रभुवरके श्रीचरणकमलोंकी सेवारूप अनुकम्पा अर्थात् प्रेमविलासादि द्वारा जैसा सौभाग्य प्राप्त किया था, अब वैकुण्ठमें भी उसी प्रकार सेवासुख प्राप्त करते हैं। ऐसा होने पर भी मर्त्यलोकसे वैकुण्ठलोककी विशेषताका अभाव सिद्ध होता है। किन्तु ऐसा होनेमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि सर्वदा, सर्वत्र, उन-उन सेवाओंको प्राप्त करना ही परमानुग्रहका विषय है। यदि वैकुण्ठमें कोई विशेषता होती है तो हो, किन्तु वह विशेषता परम आकांक्षित विशुद्ध भगवत्प्रेमके अत्यधिक घन सेवासुखसे अधिक या समान हो या न हो—वह इतनी आदरणीय नहीं है।

ऐसा होने पर भी ज्ञानी भक्तोंमें ज्ञानगन्ध-सम्बन्ध रहनेके कारण उनमें प्रेम-सम्पत्तिका उदय न होनेसे उनको वैकुण्ठमें भी प्रायः तदनुरूप मानसिक सुख ही प्राप्त होता है। शुद्धभक्तोंको श्रवण,

कीर्त्तन, स्मरणादि द्वारा ज्ञानी भक्तोंकी तुलनामें समस्त इन्द्रियों द्वारा महासुख प्राप्त होता है। प्रेमी भक्तोंको भी शुद्धभक्तोंकी तुलनामें सर्वदा प्रेम-सन्दर्शन और सेवा-वैचित्र्य द्वारा बाह्य और अन्तःकरणमें अधिकतर परमसुख प्राप्त होता है तथा प्रेमपर भक्तोंको परमोत्कण्ठावशतः दर्शन प्राप्ति और सख्य, नर्मसौहृद्यादि द्वारा प्रेमीभक्तोंकी तुलनामें अधिकतम सर्वात्मगत परम महासुख होता है। प्रेमातुर भक्तोंको परस्पर विचित्र, निरन्तर प्रेम-सन्दर्शन, विहार-व्यवहार द्वारा ही प्रेमपर भक्तोंकी तुलनामें भी विशेष आत्मपरिकरगत तथा उससे अतीत परमोत्कृष्ट महासुख अधिकाधिकतम रूपमें प्राप्त होता है। इस प्रकारसे साधनके तारतम्यवशतः फलका तारतम्य होनेसे परम सुखकी चरम सीमा स्वरूप वैकुण्ठमें किसीकी अधिकता तथा किसीकी न्यूनता होती है। किन्तु 'वैकुण्ठमें इस प्रकारका तारतम्य होना संगत नहीं है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पराकाष्ठागत परम महान श्रेष्ठ साधनका चरम सीमा प्राप्त परम महान श्रेष्ठ फल अवश्य ही स्वीकार करने योग्य है।

यद्यपि श्रीगोपीरमणके चरणकमलोंसे सम्बन्धित वैसे प्रेमीजनसे अन्य समस्त प्रकारके भक्तोंका न्यूनत्व घटित होता है, तथापि वैकुण्ठ लोकके स्वभावके अनुसार उन-उन भावयुक्त समस्त भक्तोंको ही अपने-अपने हृदयके अनुसार उस-उस जातीय भावानुरूप सुखकी चरम सीमा प्राप्त होती है। ऐसा होने पर भी श्रीनन्दकिशोरके युगल-चरणकमलोंसे सम्बन्धित वैसे स्वाभाविक अत्यन्त प्रेमयुक्त अनिर्वचनीय सर्वापेक्षा सबकी तुलनामें असाधारण भक्तोंको सबकी तुलनामें असाधारण फलकी प्राप्ति ही उपयुक्त है। वह असाधारण फल किस प्रकारका है? यही जिज्ञासा की जा रही है॥२०॥

ये सर्वनैरपेक्ष्येण राधादास्येच्छवः परम्।
संकीर्त्तयन्ति तन्नाम तादृशप्रियतामयाः॥२१॥
अन्येषामिव तेषाञ्च प्राप्यञ्चेद् हृन्न तृप्यति।
अहो नन्दयशोदादेर्न सहे तादृशीं गतिम्॥२२॥

श्लोकानुवाद—जिन भक्तोंने सब प्रकारके साध्य-साधनोंसे निरपेक्ष होकर केवल श्रीराधा-दास्यकी इच्छा की है और उसके लिए वैसे प्रेममें निमग्न होकर सदा उनके नामोंका संकीर्त्तन करते रहते हैं, उन भक्तोंको भी यदि अन्य साधारण भक्तों जैसा अर्थात् उसी वैकुण्ठमें कोई विशेष स्थान प्राप्त होता है, तो इससे हमारा हृदय सन्तुष्ट नहीं होता। अहो! मैं नन्दादि गोपोंकी और यशोदादि गोपियोंकी वैसी गति सहन नहीं कर सकती हूँ॥२१-२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—असाधारण्यमेव तद् दर्शयितुं तान् विशिनष्टि—ये इति। सर्वेषु तेषां तेषां तेषु तेषु साधन-साध्यादिषु नैरपेक्ष्येण अपेक्षाराहित्येन परं केवलं श्रीराधायाः श्रीमन्मदनगोपालदेवस्य परममहाप्रियतमाया दास्यस्य दासीभावस्येच्छवः। श्रीराधिकाया दास्यो भवामेत्यभिलाषिण इत्यर्थः। तल्लाभेनैव सुतरां सर्वस्य निजवाञ्छितस्य तदतीतस्य च स्वतः संसिद्धेः। तस्य सर्वासाधारणस्य परममहाफलस्य प्राप्तौ तदुचितं सर्वासाधारणं परममहासाधनं निर्दिशति—संकीर्त्तयन्तीति। तस्य श्रीरासरसिकस्य नाम ये सम्यक् सुस्वरं गाथाबन्धादिनोच्चैर्गायन्तीत्यर्थः। तादृशी सर्वतोऽसाधारणी परममहत्ता परमान्त्यकाष्ठां प्राप्ता अनिर्वचनीया स्वाभाविकी या प्रियता प्रेम तन्मयास्तदेकात्मकाः सन्तः; तस्यैव वा लक्षणं तान्नाम संकीर्त्तयन्तीति॥२१॥

ननु द्वारकादिवच्छ्रीमथुरापुर्यपि वैकुण्ठ एवास्तु। तत्रैव गोकुले यादवादिवदेतेऽपि यथेच्छं निजप्रभुणा सह विहरन्तो यथा पाण्डवेभ्यो यादवास्तथा यादवेभ्योऽप्यधिकाधिकं सुखं निजसाधनानुरूपमनुभवन्तु नाम। तत्राह—अन्येषामिति पाण्डव-यादवादीनामिव। अप्यर्थे चकारः। तेषां श्रीरासकृत्तादृग्भक्तानामपि प्राप्यं फलमस्तु इति चेत् यद्येवं वक्तव्यमित्यर्थः, तथापि मम हृन्मानसः न तृप्यति, न परितुष्यति। प्रायः साधारण्यस्यैवापत्तेः॥२२॥

भवतु वा श्रीगोपीनाथपादपद्मपरमप्रसादप्रभावेण संसाधिततत्प्रेममहासिद्धीनां तादृशी गतिः सोढ़व्या। तथा तेषां श्रीनन्दादीनां गोपानां श्रीयशोदादीनां च गोपीनां तदनुवर्त्तिनामन्येषामपि व्रजजनानां नित्यनित्य-तादृशपरममहाप्रेमपरमान्त्यकाष्ठायां तादृशमेव प्राप्यं कदापि सोढुं न शक्नोम्यसङ्गतत्वादित्याह—अहो इति। पूर्वोक्तस्य बलादभ्युपगमे खेदे वा। नन्दो यशोदा चादिर्यस्य गोपगोपीगणस्य व्रजजनस्य वा तस्य। तादृशीं तत्तत्सदृशीं गतिं प्राप्यं न सहे; महतामल्पानाञ्च साम्यापत्तेरनौचित्यात्॥२२॥

भावानुवाद—उन असाधारण भक्तोंकी गति प्रदर्शन करनेके लिए 'ये इति' श्लोकोंके द्वारा उनकी विशेषता दिखायी जा रही है। जो पूर्वोक्त पाँच प्रकारके भक्तोंके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले समस्त प्रकारके साधन-साध्यादि सुखोंके प्रति निरपेक्ष होकर अर्थात् उनको

जलाञ्जलि देकर परम अर्थात् केवल श्रीराधिकाके—अर्थात् श्रीमन्मदन-गोपालदेवकी परम महाप्रियतमाके दास्यकी लालसासे 'मैं श्रीराधिकाकी दासी होऊँ'—ऐसी अभिलाषा करते हैं, जिसकी प्राप्ति मात्रसे उनकी समस्त प्रकारकी वाञ्छाएँ और वाञ्छातीत सब प्रकारका फल स्वतः ही सिद्ध (प्राप्त) हो जाता है—ऐसे भक्तोंके उस असाधारण परम महाफलको प्राप्त करानेवाले असाधारण परम महासाधनका निर्देश 'संकीर्त्तयन्ति' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। अर्थात् श्रीरासरसिकके नामोंका सम्यक्रूपसे सुस्वरमें गान अथवा गीतादि-छन्दोंमें सुस्वरसे भलीभाँति संकीर्त्तन जो भक्तजन वैसे प्रेममय भावसे अर्थात् सर्वापेक्षा असाधारण परम महिमा प्राप्त अनिर्वचनीय स्वाभाविक प्रेमभावसे एकमात्र प्रेमात्मक होकर नामसंकीर्त्तन करते हैं, उनकी गति अन्यान्य भक्तोंकी गतिकी भाँति होनेसे हमलोगोंका हृदय सन्तुष्ट नहीं होता।

यदि कहा जाय कि द्वारकादिकी भाँति वैकुण्ठमें भी मथुरामण्डल विद्यमान है, अतएव उस मथुरापुरीके गोकुलमें श्रीरासरसिकके भक्त अपने प्रभुके साथ यथेच्छा विहार करें। जिस प्रकार पाण्डवोंकी तुलनामें यादवगण अपने साधनके अनुरूप अधिकाधिक सुखका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार उन श्रीरासरसिकके भक्तगण भी वैकुण्ठमें स्थित मथुरा-गोकुलमें अपने साधनके अनुरूप फल प्राप्त करें। यहाँ 'अन्येषामिव'का अर्थ है—पाण्डव यादवादिकी भाँति। 'तेषां' अर्थात् यद्यपि श्रीरासविहारीके भक्तोंको भी उसी प्रकार अपने साधनानुरूप सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है, तथापि मेरा हृदय तृप्त नहीं हो रहा है। वैसा सुख प्रायः साधारण सुखमें ही पर्यवसित होता है।

अथवा ऐसा होने पर भी श्रीगोपीनाथके चरणकमलोंकी परमकृपाके प्रभावसे उनके प्रेमी महासिद्धगणोंको वैसी ही गति प्राप्त होती है तो हो, किन्तु श्रीनन्दादि गोपों और श्रीयशोदादि गोपियों तथा उनके अनुगत व्रजवासियोंके नित्य-नवीन परम महाप्रेमकी चरम सीमाको प्राप्त महान व्यक्तियोंके लिए वैसी ही गतिको कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'अहो' अर्थात् उनको भी अन्यान्य भक्तों द्वारा प्राप्त साधारण फलका मिलना मैं कदापि सहन नहीं कर सकती। महान और अल्पको एक समान मानना उचित नहीं है॥२१-२२॥

विविधानां महिम्नां हि यत्र काष्ठाः पराः पराः।
कोटीनां पर्यवस्यन्ति समुद्रे सरितो यथा॥२३॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्रमें आकर मिलती हैं, उसी प्रकार श्रीगोप-गोपियोंमें करोड़ों-करोड़ों विविध महिमाओंकी चरम सीमाएँ पर्यवसित होती हैं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—विविधानामिति सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्यादि-सम्बन्धिनां तथा धर्मार्थ-काम-वैराग्य-ज्ञान-विज्ञान-भक्ति-प्रेमादिसम्बन्धिनां च नानाप्रकाराणां महिम्नां माहात्म्यानाम्; पराः पराः परमान्त्या इत्यर्थः। कोटीनामपरिमितानां विविधत्वञ्च महिम्नां प्रत्येकं नानारूपत्वाद् द्रष्टव्यम्। यत्र यस्मिन् श्रीनन्दादौ पर्यवस्यन्ति प्रविशन्तीत्यर्थः। यद्वा, पर्यवसानं प्राप्नुवन्ति। तेषां महिमबोधनायैवान्येषां तत्र तत्र महिमवर्णनात् महिम्नाम् अनन्यगतिकत्वे यथाकथञ्चित् अवश्यं तत्रैव पर्यवसाने च दृष्टान्तः—समुद्र इति॥२३॥

भावानुवाद—श्रीनन्द-यशोदादि व्रजवासियोंकी वैसी गति स्वीकार न करनेका कारण बतानेके लिए 'विविधानाम्' आदि श्लोक कहा गया है। उन श्रीनन्द-यशोदादि व्रजवासियोंमें सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्यादिसे सम्बन्धित अनन्त वैचित्री और धर्म-अर्थ-काम-विज्ञान-भक्ति-प्रेमादिसे सम्बन्धित नाना-प्रकारकी महिमाएँ चरम सीमा तक हैं। 'कोटीनां' अर्थात् अपरिमित (अगणित) महिमाएँ; विविधानां अर्थात् नाना रूपोंमें उनमें दृष्टिगोचर होती हैं। श्रीनन्दादि व्रजवासियोंकी आश्चर्यपूर्ण महिमाओंकी चरम सीमा सदा कृष्णानन्द-सिन्धुको करोड़ों गुण उद्वेलित और उल्लसित करती है। उनके इस महिमासिन्धुके समक्ष समस्त प्रकारके साध्योंकी महिमाएँ ऐकान्तिक गतिरूपी नदीके समान हैं। अर्थात् जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्रमें आकर मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त प्रकारके साध्योंकी महिमाएँ श्रीनन्दादि व्रजवासियोमें पर्यवसित अर्थात् प्रविष्ट होती हैं॥२३॥

तदर्थमुचितं स्थानमेकं वैकुण्ठतः परम्।
अपेक्षितमवश्यं स्यात्तत् प्रकाश्योद्धरस्व माम्॥२४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्द-यशोदादि व्रजवासियोंके लिए वैकुण्ठसे भी परमोत्कृष्ट कोई एक स्थान अवश्य ही होना चाहिए और वह स्थान

अवश्य ही है। इसलिए उस स्थानको प्रकाशित कर दुःख-समुद्रसे मेरा उद्धार कीजिये॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उपसंहरति—तदर्थमिति। श्रीनन्द-यशोदादिनिमित्तं वैकुण्ठतः परमन्यदुत्कृष्टं वा। उचितमिति, श्रीनन्दादेस्तत्तल्लोकस्य समुचितसुखभोगाय भगवतस्तस्य तत्तदैश्वर्यगन्धास्पृष्टं गौरवदृष्ट्यजुष्टं तत्प्रेमर्धित्रुटिकरदोषसम्बन्धादुष्टं ज्ञानसंभिन्नहृदयादृष्टं प्रेमभक्तजनमनोऽभीष्टं लौकिकरीत्यनुसारिलोकाति-लोकोत्तर-प्रेमरसाविष्टसंहृष्टतत्प्रेष्ठ-जनवर्गमृष्टं परमानिर्वचनीय-महानन्दरस-विशेषपरिपुष्टं सर्वतो मिष्टातिमिष्टं सर्वतोऽत्युत्कृष्टं मधुरमधुरविविधपरममहत्ताभरचरमतरकाष्ठाविशिष्टं श्रीकृष्णचरणारविन्द-मकरन्दरसास्वादन परमनिष्ठा-सदा-सन्तुष्ट-श्रीनारदैक-वीणारहोघुष्टं परमयोग्यमित्यर्थः। स्थानमेकमद्वितीयमवश्यमेवापेक्षितमादृतं स्यात्, तच्चावश्यमेवास्ति, परमरहस्य-त्वान्मयाल्पबुद्ध्या न ज्ञायते। तेन च महाशोकसागरे संशयतरङ्गमालिनि भ्रममहावर्तभीषणे निमग्नाऽस्मि। अतस्तत्स्थानं त्वं प्रकाश्य वाग्वृत्त्याभिव्यज्य शोकसागरान्मामुद्धरेत्यर्थः। यद्यपि पृथिव्यां सर्वस्थान मूर्द्धन्यतमा भगवती श्रीमथुरैव श्रीनन्दादीनां तेषां निजप्रभुणा तेन सह तत्तत्क्रीड़ासुखविशेषसम्पादकं परमयोग्यं स्थानं विराजते, तथाप्यस्यां प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन तथा बहिर्दृष्ट्या अत्रत्यानामर्वाचीनानां देहविकाराद्यवकलनेन च मायिकत्वप्रसङ्गाशंकया किम्वा श्रीवैकुण्ठादाविवास्याः प्राप्तिमात्रेणैव सर्वेषु उक्तप्रकारकपरमफलासिद्धेः; साक्षात्-परमपुरुषार्थरूपताहान्याशंक्या, अथवा मर्त्यलोकान्तर्गतत्वेन ब्रह्माण्डनाशे त्रिलोकीनाशे च प्राप्तेऽन्यस्थानवदस्या अपि तिरोभावमाशङ्कैतदनादरात्तेषां प्राप्यत्वेन स्थानान्तरप्रश्न इति ज्ञेयम्। अतएवाग्रे प्रश्नोत्तरतया तेषां प्राप्ये श्रीगोलोके कथितेऽपि पश्चात्तस्मिन्निवास्यामपि श्रीभगवद्-विहारादिकं तथैव वक्ष्यते। तत्र च यद्यपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेनापि श्रीभगवत इव तत्सेवकादीनामिव च तदीयप्रियतमाक्रीड़रूपाया अस्या मायिकत्वप्रसङ्गो न घटत एव, यथात्रैव श्रीनारदेन वक्ष्यते—*'नानाविधास्तस्य परिच्छदा ये, नामानि लीलाः प्रियभूमयश्च। सत्यानि नित्यान्यखिलानि तद्वदेकान्यनेकानि च तानि विद्धि॥'* इति। यच्च अर्वाचीनानां बहिर्विकारादिकं लोकैर्दृश्यते, तच्चाभक्तजनवञ्चनार्थं निजभक्तगण-हर्षणार्थञ्च। यथा परमानन्दघनमूर्त्तिश्रीभगवद्दर्शनविशेषेऽप्यभक्तानां सुखानुदयादि। एतच्चाग्रे तपोलोके व्यक्तं भावि। एवं परमगोप्यत्वेन महान् गुणविशेष एव पर्यवस्यति। इथ्यं सर्वथा प्रलयेऽपि तन्नाशो नास्त्येव। विशेषतो जगतसंहारक-कालात्मक-श्रीसुदर्शनचक्रोपरि वर्त्तमानत्वाच्चास्यां कालभयं कदाचिदपि न घटत इति तत्तदाशङ्कापि न प्रसज्येतैव; तथापि परमनिगूढ़त्वेन सर्वलोकेषु द्रुतं तस्यास्तादृशमाहात्म्य-विशेषास्फूर्त्तेर्नित्य-श्रीभगवत्प्रकटक्रीड़ाविशेषाद्यश्रवणाच्च, तथा प्रश्न इति मन्तव्यम्। अतएव श्रीगोलोकमाहात्म्यानुभवानन्तरमेवास्या अपि तादृशमाहात्म्यानुभवो भवेदिति वक्ष्यति। किन्तु श्रीगोलोकतोऽपि कदाचिदस्या माहात्म्यमधिकं श्रीनारदोक्तयाग्रे व्यक्तं

भावि। यत्कालविशेषे निजाखिलरूपादिभिः सहान्यत्रालभ्यसुखक्रीड़ाविशेषार्थमस्यां श्रीकृष्णो भगवान् स्वयमवतरतीति। केवलं ब्रह्माण्डस्य त्रिलोक्या वा नाशे अस्या अन्तर्धानात् श्रीगोलोकेन सहैक्यापत्तेर्वा चक्रोपरिवृत्तेर्वा यथास्थानावस्थित्यभावेनान्यादृशतयैव यथापूर्वमस्यां क्रीड़ाविशेषो न सम्पद्यत इत्यतस्तदानीं तत् सदृश-श्रीगोलोक एव श्रीभगवान् असंकोचं सुखं विहरतीति बोद्धव्यम्। अतएव हि तस्य परमप्राप्यत्वञ्च सिध्यति। कदाचिच्च श्रीनारदोक्तरीत्यास्या एव ततोऽपि परमं माहात्म्यं सम्पद्यते। एवमप्यनयोः स्थानयोरभेदादेकस्यापि सम्पन्नं सद्द्वयोरपि तत्पर्यवस्यतीत्येवं सर्वमनवद्यमिति दिक्॥२४॥

भावानुवाद—'तदर्थम्' इत्यादि श्लोकके द्वारा पूछे गये विषयका उपसंहार किया गया है। श्रीनन्द-यशोदादिके लिए वैकुण्ठसे भी अतिश्रेष्ठ एक अन्य स्थान होना उचित है अर्थात् उनके समुचित सुखभोगके लिए श्रीभगवान्‌के ऐश्वर्यगन्धकी स्पर्शसे रहित, गौरवदृष्टिसे विवर्जित, उनकी प्रेमरूप सम्पत्तिको शिथिल करनेवाले दोषकी गन्धसे रहित, ज्ञानके द्वारा छिन्न-भिन्न प्रेमिक भक्तोंके मनोभीष्ट लौकिक रीति अनुसार लोकातिलोकोत्तर प्रेमरससे आविष्ट और संहृष्ट (भलीभाँति रोमाञ्चित तथा आनन्दित) उनके प्रियजनों द्वारा सेवित परम अनिर्वचनीय महानन्द-रससे परिपुष्ट, समस्त प्रकारके मिष्ट (मीठे)से भी अत्यन्त मिष्ट, समस्त प्रकारके उत्कृष्टोंसे भी उत्कृष्ट, मधुर-मधुर विविध परम महिमापूर्ण चरम सीमा विशिष्ट, श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मकरन्द रसास्वादन रूपी परम निष्ठामें सदा सन्तुष्ट श्रीनारदकी वीणागानसे जिसका रहस्य प्रकाशित हुआ है, ऐसा एक परमयोग्य अद्वितीय स्थान अवश्य ही होना उचित है और उसका रहना अवश्य ही सम्भव है। किन्तु परम रहस्यमय स्थान होनेके कारण मैं अपनी अल्पबुद्धि द्वारा उसे जान नहीं पा रही हूँ। इसलिए मैं संशयरूपी तरङ्गमालासे पूर्ण भ्रमरूप महाभँवरयुक्त भीषण शोकसागरमें निमग्न हो रही हूँ। अतएव, उस स्थानके सम्बन्धमें वर्णनकर (प्रकाश डालकर) उस भीषण दुःख-समुद्रसे मेरा उद्धार करो।

यद्यपि इस भूमण्डल पर ही सर्वोत्तम भगवती मथुरापुरी विराजमान है जो श्रीनन्दादि व्रजवासियोंका अपने प्रभुके साथ उन-उन विशेष क्रीड़ा सुखोंको सम्पादन करानेवशतः परमयोग्य स्थान है, तथापि प्रपञ्चके अन्तर्गत होनेके कारण अज्ञानी लोग बाह्य दृष्टि द्वारा

धामवासियोंमें देह-विकारादि देखनेके कारण उनके सम्बन्धमें मायिक आशंका कर सकते हैं। अथवा वैकुण्ठादिकी प्राप्ति मात्रसे ही समस्त प्रकारके परम फलोंकी सिद्धि होती है, किन्तु, श्रीमथुरामें ऐसी किसी फल सिद्धिके न दिखलायी देनेके कारण वैसे लोग मथुराके सम्बन्धमें साक्षात्-परम पुरुषार्थकी हानिकी आशंका कर सकते हैं। अथवा मर्त्यलोकके अन्तर्गत होनेके कारण ब्रह्माण्डनाशके समय धाम-नाशकी आशंका कर अथवा परम निगूढ़ होनेके कारण वहाँ शीघ्र ही श्रीवैकुण्ठादिकी भाँति विशेष महिमाकी स्फूर्तिमें सन्देह रहनेके कारण और भगवान्‌की लीलाके नित्य प्रकट रहनेके विषयमें न सुने जानेके कारण उक्त प्रकारकी आशंका और जिज्ञासा उदित होती है—ऐसा जानना होगा। इसलिए आगे प्रश्नोत्तरके द्वारा श्रीनन्दादिके द्वारा प्राप्त करने योग्य स्थान श्रीगोलोकके विषयमें वर्णित होगा, किन्तु उसका वर्णन होने पर भी बादमें उसीकी भाँति इस भौममथुरामें भी श्रीभगवान्‌के विहारादिका आधिक्य स्थापित होगा। भौमधामके सम्बन्धमें ऐसा कहा गया है कि यद्यपि यह धाम प्रपञ्चके अन्तर्गत है, तथापि श्रीभगवान् और उनके सेवकादिकी भाँति उनका अति प्रियतम क्रीड़ारूप स्थान होनेके कारण इस धामकके लिए मायिक प्रसङ्ग (विचार) कभी भी सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें श्रीनारदका वचन है—"श्रीभगवान्‌के नाना-प्रकारके परिकर तथा उनका नाम, लीला और प्रियतम क्रीड़ा-भूमि आदि सब कुछ उन्हींकी भाँति नित्य, सत्य तथा विभुवस्तु हैं अर्थात् एक होने पर भी अनेक प्रकारसे प्रतिभात होते हैं। अतएव यह भौम मथुरामण्डल भी नित्य, सत्य तथा विभुवस्तु है।" श्रीनारदके इस वाक्यसे अनायास ही प्रतिपादित होता है कि श्रीमथुराधाम अप्राकृत और नित्य है। फिर भी अर्वाचीन अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति बाह्य देह-विकारादि जो कुछ देखते हैं, वह अभक्तोंकी वञ्चनाके लिए तथा अपने भक्तोंके हर्षवर्धनके लिए होता है। जिस प्रकार प्रकटकालमें परमानन्दघनमूर्त्ति श्रीभगवान्‌के दर्शनोंसे भी अभक्तोंको सुख नहीं होता और न ही उनकी महिमाका अनुभव होता है—ऐसा समझना होगा। आगे तपोलोकके वर्णनमें यह सब व्यक्त होगा। अतएव यह धाम-तत्त्व गोपनीय होनेके कारण इस प्रकारसे

अभक्त-वञ्चना रूप महागुणमें ही पर्यवसित होता है। यह सर्वदा ही नित्य है, यहाँ तक कि प्रलयके समय भी इसका विनाश नहीं होता। विशेषतः जगत-संहारक कालस्वरूप सुदर्शनचक्रके ऊपर वर्त्तमान होनेके कारण मथुरामें कदापि कालका प्रभाव संघटित नहीं होता, इसलिए कालकी आशङ्काके सम्बन्धमें कोई प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता। तथापि परम निगूढ़ होनेके कारण सबके द्वारा अनुपम रूपमें सुना गया मथुराका वैसा माहात्म्य अनुभव न होने और वहाँ नित्य भगवान्‌की लीलाके वर्त्तमान रहनेके सम्बन्धमें न सुननेके कारण ही इस प्रकारके प्रश्न उत्पन्न होते हैं—ऐसा समझना होगा। अतएव श्रीगोलोकका माहात्म्य अनुभव होनेके उपरान्त भौम धामका भी वैसा माहात्म्य अनुभव होगा—यही कहा जा रहा है। किन्तु श्रीगोलोकसे भी इस (भौमधाम)का माहात्म्य कुछ अधिक है—यह श्रीनारदके वचनोंके द्वारा आगे प्रकाशित होगा। इसका कारण है कि किसी विशेष कालमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अन्य किसी स्थान पर भी प्राप्त न होनेवाले क्रीड़ासुखके लिए अपने अखिलरूपादिके साथ इस स्थानमें अवतीर्ण होते हैं। केवल ब्रह्माण्डके नाशके समय अन्तर्धान हो जाता है अर्थात् लोगोंके दृष्टिगोचर न होने पर भी यह धाम प्रकट ही रहता है। अर्थात् अन्तर्धान शक्तिके प्रभावसे श्रीगोलोकके साथ एक हो जाता है, अथवा सुदर्शनचक्रके ऊपर स्थापित होकर यथास्थान पर ही अवस्थित रहता है अथवा धाम यथा स्थान पर प्रकट नहीं रहता, अतएव साधारण लोगोंकी दृष्टिसे अगोचर रहनेके कारण इस भौमव्रजमें पूर्वकी भाँति श्रीभगवान्‌की लीलाओंकी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु भगवान् अपने परिकरोंके साथ वहाँ नित्य विहार करते हैं। इसलिए तत्सदृश अर्थात् गोलोकमें ही श्रीभगवान् निसंकोचरूपसे सुख-विहार करते हैं, इसलिए श्रीगोलोक ही प्राप्त करने योग्य परम स्थान है—यह प्रमाणित हुआ। कहीं-कहीं श्रीगोलोककी तुलनामें इस भौमव्रजमण्डलका परम माहात्म्य श्रीनारद द्वारा उक्त रीतिसे स्थापित होगा। इस प्रकार इन दोनों स्थानोंके अभेद द्वारा एकत्व सम्पन्न होता है। अतएव गोलोक और भौमव्रजके अभेद होनेके कारण एक स्थानका माहात्म्य प्रतिष्ठित होने पर दूसरे स्थानका भी माहात्म्य

सुप्रतिष्ठित होता है, अर्थात् एकत्वमें पर्यवसित होता है। इस प्रकार समस्त प्रश्नोंका सुसमाधान हुआ॥२४॥

श्रीजैमिनिरुवाच—

मातुरेवं महारम्यप्रश्नेनानन्दितः सुतः।
तां नत्वा साश्रुरोमाञ्चमारेभे प्रतिभाषितुम्॥२५॥

श्लोकानुवाद—श्रीजैमिनिने कहा—अपनी माता श्रीउत्तराके ऐसे अति मनोरम प्रश्नसे आनन्दित होकर राजा परीक्षितने अपने इष्टदेवको प्रणाम किया और रोमाञ्चित कलेवर तथा सजल नयनोंसे उत्तर देने लगे॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—मातुरुत्तरायाः; सुतः श्रीपरीक्षित्; प्रतिभाषितुं प्रश्नस्योत्तरं दातुमारेभे। प्रश्नानुमोदनेन निजेष्टदेवतानमस्कारेण च तत्प्रश्नोत्तरम्—ब्रुव इति, प्रतिज्ञापूर्वकमारम्भः कृत इत्यर्थः॥२५॥

भावानुवाद—माता उत्तराके ऐसे महारमणीय प्रश्नका अनुमोदनकर श्रीपरीक्षितने अपने इष्टदेवको प्रणाम किया तथा प्रतिभाषण अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक उत्तर देना आरम्भ किया॥२५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

श्रीकृष्णजीविते! मातस्तदीयविरहासहे।
तवैव योग्यः प्रश्नोऽयं न कृतो यश्च कैश्चन॥२६॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित बोले—हे कृष्णजीविते! श्रीकृष्ण विरहको सहन करनेमें अक्षम मातः! यह प्रश्न आपके द्वारा ही करने योग्य है। इससे पूर्व इस प्रकारका प्रश्न कभी किसीने नहीं किया है॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र श्रवणे मनोऽभिनिवेशाय तस्या हर्षमुत्पादयितुमादौ प्रश्नमनुमोदते—श्रीकृष्णेति। हे श्रीकृष्णेन जीविते! अश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्राद्गर्भरक्षणेन दत्तप्राणे! इत्यर्थः। यद्वा, श्रीकृष्णे स एव वा जीवितं यस्याः सा श्रीकृष्णार्पितात्मा तदेकप्राणा वा तन्मयीत्यर्थः, तस्याः सम्बोधनम्; तदेवाह—तदीयं कृष्णसम्बन्धिनं विरहं न सहत इति तथा तस्याः सम्बोधनम्। यथोक्तं श्रीसूतेन प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१०/९-१०)—*'सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा। गान्धारी*

धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ॥ वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः। न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः॥' इति। विराटसुता उत्तरा सैव मत्स्यसुता तस्या वारद्वयनिर्देशेन श्रीकृष्णविरहे मोहाधिक्यात् प्रेमविशेषः सूचितः। एवमत्रापि सम्बोधनद्वयेन तस्याः श्रीकृष्णभक्तिविशेषेण परमोत्कर्षो दर्शितः। अतोऽयं प्रश्नस्तवैव योग्यः त्वयैव कर्तुमुचितः। एवकारेण तस्याः सर्वासाधारण्येन प्रश्नस्याप्यसाधारण्यं सूचितम्। तदेवाह—यस्तु प्रश्नः पूर्वं कैरपि न कृतोऽस्तीति॥२६॥

भावानुवाद—माताके प्रश्नको सुनकर प्रश्नके उत्तर सुननेमें मनका निवेश करानेके लिए सर्वप्रथम उन्हें हर्षितकर उनके प्रश्नका अनुमोदन करते हुए कह रहे हैं—'श्रीकृष्ण' इत्यादि। 'हे श्रीकृष्णजीविते!' अर्थात् अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे गर्भकी रक्षाकर श्रीकृष्णने आपके जीवनकी रक्षा की थी। अथवा श्रीकृष्णके प्रति आपका जीवन अर्पित है, इसलिए आप कृष्णजीविता अर्थात् तदेक-प्राण या उनमें तन्मयी हैं—यही 'कृष्णजीविते' सम्बोधनका तात्पर्य है। आप श्रीकृष्णका विरह सहन करनेमें अक्षम हैं, इसलिए आप 'कृष्णविरहासहे' हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१/१०/९-१०)में श्रीसूतकी उक्ति है—"धौम्य, धृतराष्ट्र, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीम, विदुर, युयुत्सु तथा सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, विराटतनया उत्तरा और मत्स्यकन्या जैसी स्त्रियाँ श्रीकृष्णका विरह सहन करनेमें असमर्थ होनेके कारण मूर्च्छित हो गयीं।" यहाँ विराटपुत्री उत्तरा ही मत्स्यकन्या हैं, इसलिए मूल श्लोकमें दो बार उत्तराका नाम निर्देश करके श्रीकृष्ण विरहमें उनके अत्यधिक मोहवशतः उनके अतिशय प्रेमको सूचित किया गया है। उसी प्रकार इस टीकामें उद्धृत श्लोकमें भी दो बार सम्बोधन पद प्रयोग द्वारा श्रीउत्तरादेवीकी श्रीकृष्णके प्रति अत्यधिक भक्तिके परमोत्कर्षको सूचित किया गया है। अतः ऐसा प्रश्न आपके ही योग्य है या आपके द्वारा होना ही उचित है। मूल श्लोकमें 'एव' पदके द्वारा श्रीउत्तराका सबसे असाधारण होना तथा उनके प्रश्नका भी असाधारण होना सूचित हुआ है। विशेषतः ऐसा प्रश्न पहले कभी किसीने नहीं किया है॥२६॥

निजप्रियसखस्यात्र श्रीसुभद्रापतेरहम्।
येन पौत्रतया गर्भे तव सज्जन्म लम्भितः॥२७॥

श्लोकानुवाद—जिन्होंने (श्रीकृष्णने) अपने प्रियसखा, सुभद्रापति श्रीअर्जुनके पौत्ररूपमें मुझे आपके गर्भसे उत्कृष्ट मानव जन्म प्रदान करवाया है॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीमस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भगवतः श्रीकृष्णस्य परमकारुण्येनैव सुसम्पद्यत इति। तदर्थं तन्नमस्काराय भक्त्या प्रथमं स्वस्मिंस्तत्कृतोपकारान् वर्णयति—निजेति पञ्चभिः। अत्र भारतवर्षे मध्यदेशे मनुष्ययोनौ महाक्षत्रियवंशे निजप्रियसखस्य श्रीमदर्जुनस्य पौत्रतया येन श्रीकृष्णेन तव गर्भे सत् अव्यङ्गत्वादिनोत्कृष्टं जन्माहं लम्भितः प्रापितस्तं प्रणम्य प्रश्नोत्तरं ब्रुव इति पञ्चमेनान्वयः। श्रीसुभद्रा भगवद्भगिनी तस्याः पत्युः, न तु तस्यैव अन्यपत्नीकस्येति भगवता सह प्रेमसम्बन्धविशेषः सूचितः॥२७॥

भावानुवाद—अब माता उत्तराके प्रश्नोंका उत्तर भगवान् श्रीकृष्णकी परमकरुणासे ही सुसम्पादित होगा, अतएव श्रीकृष्णको नमस्कार करनेके लिए सर्वप्रथम 'निज' इत्यादिसे प्रारम्भ कर पाँच श्लोकोंमें अपने प्रति किये गये उनके उपकारोंका वर्णन कर रहे हैं। मैंने इस भारतवर्षके मध्य देशमें, मनुष्ययोनिमें, महाक्षत्रियवंशमें, अपने प्रियसखा श्रीअर्जुनके पौत्र-रूपमें जिनकी कृपा द्वारा आपके गर्भसे सत् अर्थात् अविकलांग रूपसे उत्कृष्ट जन्म प्राप्त किया है, उन श्रीकृष्णको प्रणाम कर प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए प्रस्तुत हो रहा हूँ।

श्रीसुभद्रा श्रीकृष्णकी बहन हैं, 'उनके पति'—इस वाक्यके प्रयोग द्वारा श्रीअर्जुनकी अन्य पत्नियोंके सम्बन्धमें उल्लेख न करनेके कारण सुभद्राका ही श्रीभगवान्‌के साथ अत्यधिक प्रेम-सम्बन्ध सूचित हुआ है॥२७॥

गर्भान्तरे च धृतचक्रगदेन येन
ब्रह्मास्त्रतोऽहमवितः सहितो भवत्या।
बाल्ये नरेषु निजरूपपरीक्षणञ्च
नीतो मुहुः परमभागवतोचितं यत्॥२८॥

श्लोकानुवाद—जिन्होंने गदा और चक्र धारणकर गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे आपके साथ मेरी रक्षा की थी तथा जिन्होंने मेरे बाल्यकालमें

मनुष्यरूपमें प्रकटित अपने रूपकी मुझसे बार-बार परीक्षा करवायी थी, जो केवल परम-भागवतोंके द्वारा ही प्राप्त होती है॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—धृतं चक्रं गदा च येन तेन भवत्या सहितोऽहमवितः रक्षितः। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१२/९)—*'क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतो दिशम्। परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः॥'* इति। दशमस्कन्धेऽपि (श्रीमद्भा॰ १०/१/६)—*'द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं, सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्। जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो, मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥'* इति नरेषु विषये निजरूपस्य गर्भे दर्शितस्य। *'अपीव्यदर्शनं श्यामं तड़िद्वाससमच्युतम्। श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहूं तप्तकाञ्चनकुण्डलम्॥'* इत्यादिलक्षणस्य प्रथमस्कन्धोक्तस्य (श्रीमद्भा॰ १/१२/८-९) परीक्षणमयमसौ भवेन्न वेति विचारणम्। बाल्ये कौमारे मुहुर्नीतः प्रापितोऽहम्। तथा च तत्रैव (श्रीमद्भा॰ १/१२/३०)—*'स एव लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः। सर्वं दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह॥'* इति। यत् परीक्षणं परमभागवतानामेवोचितं योग्यं, सदा श्रीकृष्णरूपध्यानाभिनिवेशात्॥२८॥

भावानुवाद—जिन्होंने चक्र और गदा धारणकर आपके साथ मेरी रक्षाकी थी। श्रीमद्भागवत (१/१२/९)में कथित है—"मेरे विघ्नकारियोंके प्रति क्रोधवशतः उनके दोनों नेत्र लाल हो गये थे तथा ज्वलन्त उलकादण्डकी भाँति उनका गदा अत्यन्त वेगसे घूम रहा था।" और श्रीमद्भागवत (१०/१/६)में वर्णन है—"कुरु-पाण्डव वंशके निदानस्वरूप मेरे इस देहके अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रकी अग्नि द्वारा दग्ध होने पर जिन्होंने शरणागत आपके गर्भमें चक्र सहित प्रवेशकर मेरी रक्षा की थी तथा उस गर्भवासके समय मुझे अपने स्वरूपका दर्शन कराया था।" श्रीमद्भागवत (१/१२/८-९)में वर्णन है—"उनके पीत वस्त्र विद्युतकी भाँति उज्ज्वल थे, आजानुलम्बित चार भुजा तथा कानोंमें तप्तकाञ्चन-कुण्डल शोभा पा रहे थे।" इन लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण क्या ये श्रीभगवान् ही हैं? इन समस्त विषयोंकी परीक्षाके लिए बाल्य और कौमारकालमें सब समय ही मैं उनकी भावनामें भावित रहता था। और भी श्रीमद्भागवत (१/१२/३०)में उक्त है—"इस महाप्रभावशाली विष्णुरात (राजा परीक्षित)ने माताके गर्भमें अवस्थान करते समय जिस पुरुषका दर्शन किया था, उनकी भावनासे वे जगतके समस्त लोगोंको, 'क्या ये वही पुरुष हैं?'—इस प्रकार परीक्षा

करते थे, इसलिए जगतमें परीक्षित नामसे प्रसिद्ध हुए।" परीक्षित सर्वदा ही श्रीकृष्णके रूपका ध्यान करनेमें ही लीन रहते थे, इसीलिए उनमें महाभागवतोंके समान योग्यता हुई अर्थात् वे महाभागवत कहलानेके योग्य हुए॥२८॥

येनानुवर्ती महतां गुणैः कृतो
विख्यापितोऽहं कलिनिग्रहेण।
सम्पाद्य राज्यश्रियमद्भुतां ततो
निर्वेदितो भूसुरशापदापनात्॥२९॥

श्लोकानुवाद—जिन्होंने मुझमें श्रेष्ठ गुणोंको प्रदानकर मुझे महत्‌जनोंका अनुगामी किया है, मेरे द्वारा कलियुगका अवरोध कराकर जिन्होंने जगतमें मुझे विख्यात कराया है, मुझे राजैश्वर्य प्रदान किया और अन्तमें विप्रशापके बहाने मुझे उस सम्पत्तिसे विरक्त भी करवाया है॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—गुणैः प्रजापालन–ब्रह्मण्यतासत्यप्रतिज्ञत्वादिभिर्महतामिक्ष्वाकु–प्रभृतीनामनुवर्ती येन कृतः। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१२/१९–२५) श्रीयुधिष्ठिरं प्रति ब्राह्मणानां वाक्यम्—*'पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः। ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा॥ एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः। यशोवितनिता स्वानां दौष्मन्तिरिव यज्वनाम्॥ धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः। हताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः॥ मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव। तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव॥ पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरीशोपमः। आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः॥ सर्व–सद्गुणमाहात्म्य एष कृष्णमनुव्रतः। रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः॥ धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः।'* इति। कलेः कुरुक्षेत्रे प्राची–सरस्वती–तीरे गोमिथुनरूपि–भुमिधर्महिंसकस्य वृषलरूपस्य दिग्विजये निग्रहेण प्रचारसंकोचनरूपेण विख्यापितो जगति परमप्रसिद्धिं नीतः। अद्भुतां निरूपद्रव–विविध–समृद्धिभिश्चित्तचमत्कारजननीमित्यर्थः। ततो राज्यश्रियः सकाशात्; भूसुरस्य शृङ्गिनाम्नः शमीकमुनिसुतस्य यः शापः—*'तक्षकः सप्तमेऽहनि दंक्ष्यति।'* (श्रीमद्भा॰ १/१८/३७) इति–रूपस्तस्य दापनात् दानकारणात्। अन्यथा तादृश–मुनिकुमारस्य नृपे मयि तादृशशापस्य मम च तादृशे मुनौ तादृगपराधस्याघटनात्। अन्यथा तत्प्रसादेन स्वशक्त्यान्यथाकर्तुं शक्यत्वादिति भावः। निर्वेदितो निर्विण्णीकृतः। यथोक्तं श्रीपरीक्षितैव प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१९/१४)—*'तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो, व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम्। निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो, यत्र प्रसक्तो भयमाशु*

धत्ते॥' इति। तस्यायमर्थः—तस्य गृह्यकर्मण एव, अतोऽधस्य पापात्मनः, गृहेष्वासक्तचित्तस्य स्वप्राप्तये परावराणामीशः श्रीकृष्ण एव द्विजशापतया बभूव। यत्र यस्मिन् शापे सति गुहेषु प्रसक्तो जनो भयं धत्ते, निर्विण्णो भवति। यतो निर्वेदमूलः, निर्वेदो वैराग्यं मूलं प्राप्तिकारणं यस्मिन् सः। स्वस्य वैराग्यप्राप्तत्वात्तस्य च भयमूलत्वात् तदर्थं द्विजशापं कारितवानिति॥२९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने प्रजापालन, ब्रह्मण्यता, सत्यप्रतिज्ञा जैसे महान गुणोंको प्रदानकर मुझे ईक्ष्वाकु आदि महाजनोंका अनुगामी किया। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१/१२/१९-२५)में ब्राह्मणने श्रीयुधिष्ठिरसे कहा—"यह बालक साक्षात् मनुपुत्र ईक्ष्वाकुकी भाँति प्रजारक्षक होगा तथा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रकी भाँति सत्यप्रतिज्ञ और ब्राह्मणोंका हितसाधन करनेवाला होगा। उशीनरके पुत्र शिविकी भाँति दाता और शरणागतोंका रक्षाकर्ता होगा। दुष्यन्तपुत्र भरतकी भाँति इसकी कीर्त्ति तथा यश पृथ्वी पर सर्वत्र होगा। कुन्तीनन्दन श्रीअर्जुन और कार्त्तवीर्यकी भाँति धनुर्धारी होगा, अग्निकी भाँति दुर्जेय, समुद्रकी भाँति गम्भीर, सिंहके समान विक्रमशाली, हिमालयकी भाँति साधुजनोंकी सुखपूर्वक सेवा करनेवाला, पृथ्वीकी भाँति क्षमाशील, माता-पिताकी भाँति सहिष्णु, ब्रह्माकी भाँति पक्षपात-रहित, महादेवकी भाँति सुखपूर्वक आराध्य (शीघ्र सन्तुष्ट होनेवाला) तथा रमापति नारायणकी भाँति समस्त प्राणियोंका आश्रयस्वरूप होगा। समस्त सद्‌गुणोंके माहात्म्यके विषयमें यह बालक श्रीकृष्णतुल्य होगा। उदारतामें रन्तिदेव तथा धार्मिकतामें ययाति महाराजके समान होगा। बलिकी भाँति धैर्यशाली और प्रह्लादके समान हरिभक्त होगा।" दिग्विजयके समय कुरुक्षेत्रकी पूर्व दिशामें सरस्वतीके तट पर गायरूपी पृथ्वी और बैलरूपी धर्मके प्रति हिंसाकारी वृषलीरूप (भ्रष्ट स्त्रीके पति) कलिका निग्रह कर उन्होंने मेरे दिग्विजय द्वारा कलिके प्रचारको स्थगितकर मुझे जगतमें विख्यात किया था तथा उपद्रव रहित विविध समृद्धि द्वारा चित्त चमत्कारजनक राज्यश्री प्रदान की थी। इससे अधिक करुणा यह थी कि शमीकमुनिके शृङ्गी नामक पुत्र द्वारा मुझे शाप प्रदान करवाया अर्थात् 'सातवें दिन तुम्हें महानाग तक्षक डसेगा।' वास्तविक रूपमें इस शापमें श्रीकृष्णकी करुणा न होनेसे निर्जन आश्रमवासी उस मुनिकुमारकी

मेरे जैसे राजाके प्रति शाप देनेकी मनोवृत्ति तथा मेरे जैसे राजाकी मुनिके गलेमें मृत साँप पहनानेरूप अपराध करनेकी मनोवृत्ति कदाचित् संघटित नहीं होती। उनकी करुणाके अलावा अपनी शक्तिसे राज्य भोगादिसे निर्वेद प्राप्त करना मेरे लिए कदापि सम्भव नहीं था। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१/१९/१४)में कहा है—"उन कार्य-कारण-नियन्ता स्वयं श्रीभगवान्ने ही मुझ पर कृपा की, क्योंकि एक तो मैं निरन्तर गृहकार्यमें पूर्णरूपसे आसक्त था, उसके ऊपर मैंने ब्राह्मणका अपमान कर पापाचरण किया। ऐसा लगता है कि भगवान्ने सोचा 'भय ही विषयानुरागी व्यक्तिके वैराग्यका कारण है' अतः वैराग्य न होनेसे उनको पानेका कोई अन्य उपाय नहीं है। इसलिए उन्होंने स्वयं ही मेरे प्रति कृपा करके विप्रशापका रूप धारण किया।" इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि गृहकार्यमें ही डूबा रहनेके कारण पापात्मा तथा गृहव्रतमें आसक्त मेरे प्रति सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही द्विजशापका रूप धारण करके आये। जिस शापसे गृहासक्त व्यक्ति भयभीत होते हैं, वह शाप ही मेरे निर्वेदका कारण हुआ है। अतएव यह शाप ही भगवान्की परमकरुणा है अर्थात् निर्वेद अथवा वैराग्य प्राप्तिका मूल कारण है। संसारमें आसक्त व्यक्तियोंके लिए यह शाप भयमूलक है, अतएव इस भयसे मेरा वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसीलिए श्रीकृष्णने इस 'द्विजशाप'को प्रदान करवाया है॥२९॥

तच्छिष्यरूपेण च मत्प्रियं तं
संश्राव्य शापं निलयान्धकूपात्।
श्रीवासुदेवेन विकृष्य नीतः
प्रायोपवेशाय मतिं द्युनद्याम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—जिन श्रीवासुदेवने उस शमीक ब्राह्मणके शिष्यरूपमें मेरे प्रिय उस शापको सुनवाकर मुझको गृहरूपी अन्धकूपसे खींचकर गङ्गा तट पर प्रायोपवेशन अर्थात् अन्न-जल त्यागकर मरनेके लिए बैठने की बुद्धि प्रदान की है॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तच्छिष्यः शमीकशिष्यः तद्रूपेण तं शापं संश्राव्य अन्यथा तदज्ञानेन गङ्गायां प्रायोपवेशाद्यप्रवृत्तेः। तादृश शापश्रवणेनापि मम भयं न जातमुत

हर्ष एवाभूत्। स्वयमेव प्रार्थितत्वादित्याह—मत्प्रियमिति। तथा च तत्र अस्यैव प्रार्थनम्—'ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात्। तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे, यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा॥' (श्रीमद्भा॰ १/१९/२) इति। नातिदीर्घादचिरादेवास्तु; तत्रापि अद्धा साक्षात्, न पुत्रादि-द्वारेणेत्यस्यार्थः। निलय एवान्धकूपस्तत्र पतितस्य स्वयमुत्थानासामर्थ्यात्। तस्माद्-विकृष्य द्युनद्यां श्रीगङ्गायां नीतः। तत्र च प्रायोपवेशाय मरणपर्यन्तभक्ष्य-पेय-वर्जनरूप-व्रताय मतिं नीतः प्रापित इत्यर्थः। येन श्रीवासुदेवेन चित्ताधिष्ठात्रान्तर्यामिरूपेणेति। तत्र तत्र स्वस्य प्रवृत्तौ शाप-प्रतीकाराद्यर्थं गृह एव यज्ञादिकरणार्थञ्चाप्रवृत्तौ हेतुः। यद्वा, श्रीवसुदेवनन्दनेनेति तस्य स्वाभाविकपरममधुरकारुण्यभरः सूचितः। अतस्तत्तदुचितमेवेति भावः॥३०॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌ने ही शमिक ऋषिके शिष्यके रूपमें मुझे शापकी बात सुनवाकर मुझे मृत्यु तक अन्न-जल त्यागकर गङ्गा तट पर बैठनेमें प्रवृत्त करवाया। अन्यथा उस शापका विवरण न जाननेसे उस प्रकार गङ्गा तट पर बैठनेकी मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। उस समय ऐसे शापको सुनकर भी मुझे भय नहीं, किन्तु हर्ष ही हुआ, क्योंकि इस प्रकारकी अवस्था ही मेरे द्वारा प्रार्थनीय थी; इसलिए यह शाप मेरे लिए वरदान बन गया है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१/१२/२)में श्रीपरीक्षितकी प्रार्थना है—"उस देवतुल्य ऋषिकी अवहेलनासे उदित महापाप द्वारा निश्चय ही मैंने श्रीभगवान्‌की अवज्ञा की है। अतएव शीघ्र ही मेरे लिए भयंकर विपत्ति उपस्थित होगी, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। इस विपदसे उद्धार पानेके लिए शीघ्र ही वह विपद साक्षात्‌रूपमें संघटित हो, अर्थात् मेरे पुत्रादि द्वारा वह पाप न भोगा जाय, शीघ्र ही वह मुझ पर ही घटित हो। स्वयं दण्डभोग करनेसे मेरा उपयुक्त प्रायश्चित होगा और मैं पुनः इस प्रकारके गर्हित कर्ममें प्रवृत्त नहीं होऊँगा। गृह-अन्धकूपके समान है, अर्थात् कूपमें पतित होनेसे मनुष्य स्वयं बाहर नहीं आ सकता। यहाँ 'वासुदेव' शब्दका अर्थ है—अन्तर्यामी अथवा चित्ताधिष्ठाता। चित्ताधिष्ठाता श्रीवासुदेवने चित्तमें प्रेरणा या कृपा संचार कराकर मुझे गृहरूपी अन्धकूपसे बाहर निकाला तथा गङ्गा तट पर उपस्थित कराकर मृत्यु तक अन्न-जल त्यागरूपी व्रतमें मेरी बुद्धिको प्रवृत्त किया। श्रीवासुदेवकी इस प्रकारकी कृपा न होनेसे मैं उस विप्रशापका प्रतिकार करनेके लिए गृहमें वास करते हुए ही विविध यज्ञादि कर्मोंमें प्रवृत्त होता। अर्थात् उन समस्त

यज्ञादि कर्मोंमें प्रवृत्त न होनेका एकमात्र कारण श्रीवासुदेवकी करुणा ही है। अथवा 'श्रीवासुदेव' शब्द द्वारा श्रीवसुदेवनन्दनकी परममधुर करुणा ही सूचित होती है और यही समुचित सिद्धान्तके रूपमें प्रतीत होता है॥३०॥

मुनीन्द्रगोष्ठ्यामुपदेश्य तत्त्वं
शुकात्मना येन भयं निरस्य।
प्रमोद्य च स्वप्रियसङ्गदानात्
कथामृतं सम्प्रति च प्रपाये॥३१॥

श्लोकानुवाद—जिन श्रीकृष्णने श्रेष्ठ मुनियोंके समाजमें श्रीशुकदेवके रूपमें तत्त्वका उपदेश प्रदानकर मेरे भयको दूर कर आनन्द प्रदान किया तथा अब आप जैसे अपने प्रियजनका सङ्ग प्रदानकर अपनी कथामृतका पान करा रहे हैं—॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—मुनीन्द्रा वशिष्ठपराशरव्यासनारदादयस्तेषां गोष्ठ्यां अन्योऽन्यं विवादे सति। तथा च हरिभक्तिसुधोदये—*'तेन ते देवतातत्त्वं पृष्टा वादान् वितेनिरे। नानाशास्त्रविदो विप्रा मिथः साधनदूषणैः॥ हरिर्दैवं शिवो दैवं भास्करो दैवमित्युत। काल एव स्वभावस्तु कर्मैवेति पृथग् जगुः॥'* इति। यद्वा, समाजे। एतेनोपदिष्टार्थस्य सर्वसम्मतत्वेन परमनिर्द्धार उक्तः। येन शुकात्मना श्रीव्यासनन्दनरूपेण तत्त्वं परमार्थमुद्दिश्य तद्द्वारा भयं निरस्य प्रमोद्य चेत्यत्र देहात्मादितत्त्वोपदेशेन तक्षकदंशनादेर्जन्ममरणादिसंसाराच्च भयं निरस्य श्रीभगवद्भक्ति-महिमादितत्त्वोपदेशेन च प्रमोद्येति विवेकः। सम्प्रत्यपि श्रीगुरुदेवे तस्मिन्नर्न्तर्हिते अन्तकालेऽस्मिन्नतिसन्निहिते सत्यपि स्वप्रियजनस्य सङ्गदानात् परमवैष्णव्यास्तव सङ्गं दत्त्वा तद्द्वारेत्यर्थः। निजं कथामृतमहं प्रपाये प्रकर्षेण पानं कार्ये। तत्प्रियजनसङ्गे तदीयकथामृतरसपानस्यैव सकलफलसाररूपत्वात्॥३१॥

भावानुवाद—वशिष्ठ, पराशर, व्यास और नारदादि मुनियोंकी गोष्ठीमें परस्पर तत्त्व निर्णय प्रसङ्ग पर विवाद हुआ, उसी गोष्ठीमें श्रीकृष्णने श्रीशुकदेवके रूपमें उपस्थित होकर तत्त्वका उपदेश दिया था। श्रीहरिभक्ति-सुधोदयमें भी लिखा है—"नाना-प्रकारके शास्त्रोंको जाननेवाले तथा नाना-प्रकारके साधनोंको करनेवाले विप्रजनोंसे जब उपास्य तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा गया तो किसीने श्रीहरिको, किसीने श्रीशिवको, किसीने सूर्यको, किसीने कालको, किसीने स्वभावको और

किसी-किसीने कर्म इत्यादिको उपास्य बतलाया।" इस प्रकार अलग-अलग उपास्य-तत्त्वका निरूपण करते हुए वे परस्पर विवाद करने लगे। उस 'मुनिन्द्रगोष्ठि' अर्थात् मुनियोंके समाजमें उन्हीं श्रीकृष्णने व्यासपुत्र श्रीशुकदेवके रूपमें सर्वसम्मत परमार्थतत्त्वका उपदेश प्रदानकर मेरे भयको दूर किया था। अर्थात् देह और आत्मादिके सम्बन्धमें तत्त्वके उपदेश द्वारा तक्षकके डँसनेसे उत्पन्न भय अथवा जन्म मरणादिरूप संसार-भयको दूर कर मुझे आनन्द प्रदान किया। अर्थात् भगवद्भक्तिकी महिमा सम्बन्धी तत्त्वका उपदेश प्रदानकर मुझे आनन्दित किया अर्थात् मुझमें तत्त्व सम्बन्धी विवेक जागृत किया। अब श्रीगुरुदेव (श्रीशुकदेव)के अन्तर्ध्यान होने और मेरे मृत्युकालके उपस्थित होने पर वही श्रीकृष्ण आप जैसी परम वैष्णवी रूपी अपने प्रियजनका सङ्ग प्रदान कराकर अपनी कथामृतका भलीभाँति पान करा रहे हैं। उनके प्रियजनके सङ्गमें उनकी कथामृतरूप रसका पान ही समस्त फलोंका सार है॥३१॥

कृष्णं प्रणम्य निरूपाधिकृपाकरं तम्
संवर्ध्य विप्रवचनादरतो गृहीतम्।
स्वस्यान्तकालमिदमेकमना ब्रुवे ते
प्रश्नोत्तरं सकलवैष्णवशास्त्रसारम्॥३२॥

श्लोकानुवाद—मैं निरुपाधिक (अहैतुकी) कृपाके मूल उन श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ। विप्रवचनका आदर करनेके कारण मेरा अन्तिम दिवस वर्द्धित होकर बहुत बड़ा होगा। अतः अब मैं अनन्य चित्तसे आपके प्रश्नके उत्तरमें जो कहूँगा, उसे समस्त वैष्णव-शास्त्रोंका सार-स्वरूप जानना॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु निजगुणादिकीर्त्तनं महतां परमानुचितम्; तत्राह—निरुपाधिमकारणं कृपापात्रताहेतुं विनेत्यर्थः; कृपां करोत्विति तथा तम्। यद्वा, निरुपाधिकृपाया आकरमुत्पत्तिपदम्; यदि कस्याप्यन्यस्य निरुपाधिकृपा दृश्यते, सापि तदीय-निरुपाधिकारुण्य-सागरकणांशभूतैवेत्यर्थः। अतः सकलगुणहीनस्य निकृष्टस्यापि ममोत्कर्षगणोऽयं तस्य महिम्नैवेति, मम गुणवर्णनादिकमपि सर्वं तन्महामहिम्न्येव पर्यवस्यतीति न दोषोऽथ च गुण एवेति भावः। विप्रवचने य आदरो भक्तिस्तस्माद्धेतोरेव गृहीतं स्वीकृतं स्वस्यान्तकालं देहत्यागसमयं सम्यग्वर्धयित्वा एतदन्त्यदिवसस्यैव

बहुकाल व्यापकतया वृद्धिं कारयित्वा इत्यर्थः। अत एकमनाः एकस्मिन्नेव त्वत्प्रश्नोत्तरे मनो यस्य सः, देहत्यागकालीन-योगादि-कर्त्तव्यपरिहारेणाव्यग्रचित्तः सन्नित्यर्थः। सकलो वैष्णवशास्त्राणां सारो यस्मिन् तत्; सकलानां वैष्णवशास्त्राणां साररूपं वा। इदमितिहासद्वारा वक्ष्यमाणं ब्रुवे वदामि॥३२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अपने गुणादिका वर्णन करना महान व्यक्तियोंके लिए अत्यन्त अनुचित है, इसके लिए कह रहे हैं—श्रीकृष्ण निरुपाधिक कृपाके आकर स्रोत हैं। अर्थात् किसीमें कृपा प्राप्त करनेकी कोई योग्यता न रहने पर भी उसके प्रति कृपा करते हैं, इसलिए कहा जाता है—श्रीकृष्ण निरुपाधिक कृपाके आकर या उत्पत्ति स्थान हैं। यदि अन्य किसीमें भी निरुपाधिक कृपाका गुण देखा जाये तो समझना चाहिए कि यह श्रीकृष्ण रूपी निरुपाधिक कृपासागरका कणमात्र है।

अतएव, समस्त गुणोंसे हीन मुझ जैसे निकृष्ट व्यक्तिमें जो गुणोंका उत्कर्ष है, वह उन श्रीकृष्णकी ही महिमा है। अतः मेरे गुणादिका वर्णन उनकी ही महिमामें पर्यवसित होता है, इसलिए इस प्रकारके वर्णनमें कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है। विप्रवचन (शाप)को आदर अर्थात् उसे भक्ति सहित स्वीकार करनेके कारण मेरा देह-त्यागका समय बढ़ गया है, अर्थात् यह अन्तिम दिवस बहुत दीर्घ हो गया है। अतः देह-त्यागकालमें एकाग्र चित्तसे अर्थात् योगादि कर्त्तव्यको त्यागकर स्थिर चित्तसे आपके प्रश्नका उत्तर प्रदान करनेके प्रसङ्गमें समस्त वैष्णव-शास्त्रोंका सार जिस कथामें है वह कथा अथवा समस्त शास्त्रोंका सार-स्वरूप यह इतिहास वर्णन कर रहा हूँ॥३२॥

श्रुतिस्मृतीनां वाक्यानि साक्षात्तात्पर्यतोऽप्यहम्।
व्याख्याय बोधयित्वैतत्त्वां सन्तोषयितुं क्षमः॥३३॥
तथापि स्वगुरोः प्राप्तं प्रसादात् संशयच्छिदम्।
अत्रेतिहासमादौ ते व्यक्तार्थं कथयाम्यमुम्॥३४॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रुति और स्मृतिके वचनोंकी साक्षात् अर्थात् मुख्यवृत्ति तथा तात्पर्यवृत्तिसे व्याख्या करके मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर

देकर आपको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ हूँ, तथापि सर्वप्रथम अपने गुरु श्रीशुकदेवकी कृपासे प्राप्त संशय छेदनकारी और स्पष्ट अर्थवाले इस सुप्रसिद्ध इतिहासका वर्णनकर अन्तमें श्रुति-स्मृतिके उन वचनोंको उद्धृत करूँगा॥३३-३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वाक्यानि वचनानि; तत्र कानिचित् साक्षाद्वृत्त्या यथाश्रुतार्थत्वेन, कानिचिच्च तात्पर्यवृत्त्या परम्परापर्यवसानतया व्याख्यायार्थाभिव्यञ्जनेन विवृत्य एतत्वत्प्रश्नोत्तरं त्वां बोधयित्वा सन्तोषयितुं क्षमः, यद्यपि समर्थोऽस्मीत्यर्थः॥३३॥

अत्र प्रश्नोत्तरे स्वगुरोः श्रीशुकदेवस्य प्रसादात् प्राप्तममुं वक्ष्यमाणं प्रसिद्धं वेतिहासं कथयामि। कीदृशम्? संशयान् त्वदीयसन्देहान् छिनत्तीति तथा तम्; अतो व्यक्तः स्पष्टोऽर्थोऽभिधेयो यस्य यस्माद्वा तम्, तत्तद्वचनार्थाभिव्यञ्जकमित्यर्थः। यद्वा, क्रियाविशेषणमिदम्; आदावित्यनेन पश्चात्तानि वाक्यान्यपि कथयिष्यामीति सूचितम्॥३४॥

भावानुवाद—यद्यपि मैं श्रुति-स्मृतिके वचनोंकी कहीं पर मुख्यवृत्तिके आधार पर, अर्थात् यथाश्रुत (जिस रूपमें सुने गये) अर्थोंके द्वारा और कहीं पर तात्पर्यवृत्ति अर्थात् गुरु-परम्परा द्वारा निश्चित व्याख्या अर्थात् अनुभवके प्राप्त अर्थोंको प्रकाश कर आपके प्रश्नोंका उत्तर प्रदानकर आपको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ हूँ। तथापि इन प्रश्नोंके उत्तरमें सर्वप्रथम अपने गुरु श्रीशुकदेवकी कृपासे प्राप्त सर्वप्रसिद्ध इतिहासका वर्णन करूँगा। वह इतिहास कैसा है? इसके उत्तरमें कहते हैं—वह समस्त प्रकारके संशयोंका छेदनकारी और श्रुति-स्मृतियोंके वचनोंके स्पष्ट अर्थको स्थापित करनेवाला है। अथवा यहाँ 'आदौ' शब्द क्रिया-विशेषण है, इसलिए इसका अर्थ यह होगा कि पहले गुरुकृपासे प्राप्त इतिहासका वर्णन कर रहा हूँ, तत्पश्चात् अन्यान्य विषयोंको बतलाऊँगा॥३३-३४॥

विप्रो निष्किञ्चनः कश्चित् पुरा प्राग्ज्योतिषे पुरे।
वसन्नज्ञातशास्त्रार्थो बहुद्रविणकाम्यया॥३५॥
तत्रत्य-देवीं कामाख्यां श्रद्धयानुदिनं भजन्।
तस्याः सकाशात्तुष्टायाः स्वप्ने मन्त्रं दशाक्षरम्॥३६॥
लेभे मदनगोपालचरणाम्भोजदैवतम्।
तद्ध्यानादिविधानाढ्यं साक्षादिव महानिधिम्॥३७॥

श्लोकानुवाद—प्राचीन कालमें शास्त्रोंके अर्थज्ञानसे रहित कोई एक दरिद्र ब्राह्मण प्राग्ज्योतिषपुरमें (गौहाटीके आस–पासके क्षेत्रमें) निवास करता था। वह बहुत धन और द्रव्यकी कामनासे प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक वहाँ विराजमान कामाख्यादेवीकी पूजा करता था। देवीने उस ब्राह्मणकी पूजासे सन्तुष्ट होकर उसे स्वप्नमें एक मन्त्र प्रदान किया। वह मन्त्र दशाक्षर गोपाल–मन्त्र था जिसके देवता श्रीमदनगोपल हैं। यह मन्त्र साक्षात् महानिधि स्वरूप है। देवीने ब्राह्मणको मन्त्र प्रदान करते समय मन्त्र सहित मन्त्रका ध्यान, न्यास और पूजाकी विधिका भी उपदेश दिया और कहा कि इस मन्त्रके प्रभावसे ही उपास्य श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंकी सेवा प्राप्त होगी॥३५–३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्राग्ज्योतिषसंज्ञके कामरूपदेशीये पुरे कश्चिदेको विप्रो वसन्मन्त्रं लेभे इति त्रिभिरन्वयः। निष्किञ्चनो दरिद्रः; अज्ञातोऽध्ययनेन श्रवणेन वा न विदितः शास्त्रार्थः स्वधर्माचरणादिर्येन सः परममूर्ख इत्यर्थः। एतेन तन्मन्त्रस्य परम प्रभावो निर्दिष्टः, ईदृशस्यापि सर्वार्थसम्पादनात्। बहुद्रविणस्य काम्यया तत्रत्यां प्राग्ज्योतिषपुरवर्तिनीं देवीं भजन् सेवमानः। तुष्टायाः सत्यास्तस्या देव्याः सकाशादुपदेशादित्यर्थः। दशाक्षरं—शार्ङ्गी सोत्तरदन्तः शूरो वामाक्षियुग्–द्वितीयार्णः; शूली शौरिर्बाणो बलानुजद्वयमथाक्षरचतुष्कमित्यनेन क्रमदीपिकायामुक्तं। श्रीमदन–गोपालचरणाम्भोजं दैवतमुपास्यं यस्मिन् तम्। तस्य श्रीमदनगोपालदेवस्य यद्ध्यानम्, आदिशब्देन न्यासमुद्रादि पूजामुद्रादि, तस्य विधानं विधिस्तेनाढयं युक्तम्। ननु देवीभजने कथं कामस्य अन्यथात्वम्? तत्राह—साक्षादिति। तल्लाभेनैव स्वतोऽखिलार्थ–सिद्धेः॥३५–३७॥

भावानुवाद—कामरूप प्रदेशके (आसाम प्रदेशके) प्राग्ज्योतिषपुर नामक नगरमें कोई एक विप्र निवास करता था। तीन श्लोकोंमें उसका इतिहास बतला रहे हैं। वह ब्राह्मण दरिद्र था और शास्त्रोंके अर्थ–ज्ञानसे विहीन होनेके कारण अपने धर्म आचरणादिके विषयमें भी कुछ नहीं जानता था, अतएव महामूर्ख था। यहाँ उस मन्त्रके परम प्रभावको निर्द्दिष्ट किया जा रहा है। अर्थात् उसके समान महामूर्खके भी समस्त मनोरथपूर्ण होनेसे देवी द्वारा प्रदान किये गये मन्त्रका ही प्रभाव निर्द्दिष्ट हो रहा है। ब्राह्मण बहुत धनकी कामनासे प्राग्ज्योतिषपुरमें विराजमान कामाख्यादेवीकी सेवा करता था। उसकी सेवासे सन्तुष्ट होकर देवीने उसको स्वप्नमें क्रमदीपिका तन्त्रमें उक्त दशाक्षर मन्त्रका

उपदेश दिया।[१] इस मन्त्रके उपास्य देवता स्वयं श्रीमदनगोपाल हैं। देवीने ब्राह्मणको मन्त्र प्रदान करते समय इस मन्त्रका ध्यान, न्यास, मुद्रा और पूजादि सम्बन्धी विधियोंका भी उपदेश दिया।

यदि आशंका हो कि देवीका भजन करनेसे किस प्रकार उस ब्राह्मणकी धनकी कामना दूर हुई? इसके उत्तरमें कहते हैं—वह मन्त्र साक्षात् महानिधि स्वरूप है, इसलिए उसकी प्राप्तिसे स्वतः ही समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण हो गयी॥३५-३७॥

देव्यादेशेन तं मन्त्रं विविक्ते सततं जपन्।
धनेच्छाया निवृत्तोऽभूल्लेभे च हृदि निर्वृतिम्॥३८॥

श्लोकानुवाद—देवीके आदेशसे ब्राह्मणकी मन्त्रजपमें प्रवृत्ति हुई। निर्जनमें निरन्तर उस मन्त्रका जप करते-करते उसकी धनकी कामना दूर हो गयी तथा उसका हृदय भी शान्त हो गया॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—देव्यादेशेनेति। तं मन्त्रं तथा प्राप्यापि परमाज्ञतया स्वाप्निकभ्रमेण तस्य तन्मन्त्रजपे अप्रवृत्तिमालोक्य तदर्थं स्वप्न एव यो देव्या पुनरादेशः कृतः, तेनेत्यर्थः॥३८॥

---

[१] दशाक्षर मन्त्र 'क्रमः दीपिका' नामक तन्त्रमें इस प्रकारसे दिया गया है—

शार्ङ्गी सोत्तरदन्तः शूरो वामाक्षियुक् द्वितीयार्णः।
शूली शौरिर्बालो बलानुजद्वयमथाक्षरचतुष्टयम्॥२/५॥ इत्यनेन

व्याख्या—शार्ङ्गी 'ग'-कारः कीदृशोऽयम् सोऽत्तरदन्त उत्तर-दन्त-पंक्तौ न्यस्यमानः उत्तरदन्त 'ओ'-कारस्तेन सहित एतेन प्रथमाक्षरम् उद्धृतः। शूरः 'प'-कारः। कीदृशोऽयम् वामाक्षियुक् वामाक्षि चतुर्थस्वरः (ई) तेन सहित एतेन द्वितीयाक्षरम् उद्धृतम् अक्षर-चतुष्कम् क्रमेण पुनः कथ्यते शूली 'ज'-कारः बालो 'ब'-कारः बालानुजद्वयं सम्युक्त 'ल'-कार द्वयम् 'ल्ल'-इति स्वरूपम् इति अक्षर चतुष्कम् उद्धृतम् शूर-तुरीयः शूरस्य 'प'-कारस्य चतुर्थः (भ)। कीदृशोऽयम् साननवृत्तः आनन-वृत्तेनाकारेण सह वर्त्तते इति सानन-वृत्तः अयम् च सप्तमः स्याद् मन्त्रस्य सप्तमो भवतीति अर्थः। अष्टमोऽग्नि-सखो वायुः 'य'-कार इति यावत्। तथा च मन्त्रस्याष्टमो वर्णो 'य'-इति बोद्धव्यः। तद्-उपरिगम् पूर्वोक्त वर्णानन्तरि विशिष्टम् तद्-दयिताक्षर-युगलम् 'स्वाहेति' स्वरूपम् इति अक्षर-द्वयम् उद्धृतम्॥२/५-६॥

इस दशाक्षर मन्त्रके द्वारा 'गोपीजनवल्लभ'—श्रीकृष्णकी उपासनाका निर्देश दिया गया है।

भावानुवाद—ब्राह्मणने स्वप्नमें मन्त्र प्राप्त किया था, इसलिए परम अज्ञतावश उसे स्वप्नका भ्रम माननेसे वह मन्त्रजपमें प्रवृत्त नहीं हुआ। अतएव देवीने पुनः उसको मन्त्रजप करनेका आदेश दिया॥३८॥

वस्तुतत्त्वानभिज्ञोऽन्यत् स किंचित् पारलौकिकम्।
साधनं किल साध्यञ्च वर्त्तमानममन्यत॥३९॥

श्लोकानुवाद—वह ब्राह्मण वस्तुतत्त्वके विषयमें अनजान था, इसलिए सोचने लगा कि मन्त्रके अलावा कोई दूसरा पारलौकिक साध्य और साधन वर्त्तमान है॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—वस्तुतस्तन्मन्त्रजपादेर्हेयोपादेय-वस्तुमात्रस्य वा यत्तत्त्वं स्वरूपं तस्य, अनभिज्ञस्तज्ज्ञानशुन्यः, अतएव तन्मन्त्रादन्यत् साधनं, तद्ध्यानादन्यत् साध्यञ्च परलोकसम्बन्धि किञ्चिद् वर्त्तमानमस्तीत्यमन्यत। अयमर्थः—पूर्वं पारलौकिककृत्येऽपेक्षैव नासीदिदानीं तन्मन्त्रजपप्रभावेण जाता। तत्र च देव्या मुखेन तज्जपफलाद्यश्रवणात् तन्महिमाज्ञानेन तद्व्यतिरिक्ते साधन-साध्ये मन्वानस्तत्सापेक्षो बभूवेति। एतदपि तन्मन्त्रमहाप्रभाव सूचनमेव, श्रद्धादिराहित्येनापि तत्तदर्थसम्पादनात्। एवमग्रेऽप्यन्यदप्यूह्यम्॥३९॥

भावानुवाद—वस्तुतत्त्वसे अनजानका अर्थ है कि ब्राह्मण मन्त्रजपादिसे तुच्छ या श्रेष्ठ अन्य कोई वस्तु है या नहीं, इस तत्त्वमें अनजान था। अतएव वह सोचने लगा कि इस मन्त्रके अलावा अन्य साधन और उनके ध्यानादिसे प्राप्त अन्य कुछ साध्य वर्त्तमान है। इसका तात्पर्य यह है कि पहले वह पारलौकिक कार्योंके प्रति निरपेक्ष था, किन्तु अब उस मन्त्रके प्रभावसे उसमें उन क्रियाओंके प्रति भावना उत्पन्न हुई। इस विषयमें उसने देवीके मुखसे उस मन्त्रजपका माहात्म्य श्रवण नहीं किया था, अतः उसकी महिमा न जाननेके कारण उसके अलावा और भी कोई दूसरा साध्य-साधन है, ऐसा सोचकर वह मन्त्रजपसे विरक्त था। इसके द्वारा मन्त्रका प्रभाव ही सूचित होता है, अर्थात् श्रद्धादि रहित होने पर भी मन्त्रका जप समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करता है। मन्त्रजपकी अन्य जो कुछ भी महिमा है, उसे यहाँ नहीं कहा गया है अर्थात् वह अव्यक्त रही।

तदुपरान्त देवीका आदेश प्राप्त होनेसे ब्राह्मण मन्त्रजपमें प्रवृत्त हुआ और सदैव निर्जनमें उस प्राप्त किये गये मन्त्रका जप करने लगा। जपके प्रभावसे ब्राह्मणकी धन कामना दूर हो गयी तथा कामनाके दूर होनेके साथ-ही-साथ उसके हृदयमें शान्तिका उदय हुआ।

यद्यपि इससे पूर्व अज्ञानताके कारण ब्राह्मणकी पारलौकिक साध्य-साधनके विषयमें कोई आकांक्षा नहीं थी, तथापि मन्त्रजपके प्रभावसे उसमें इस विषयका ज्ञान हुआ॥३९॥

गृहादिकं परित्यज्य भ्रमंस्तीर्थेषु भिक्षया।
गतो निर्वाहयन् देहं गङ्गासागरसङ्गमम्॥४०॥

श्लोकानुवाद—कुछ दिनोंके पश्चात् उस ब्राह्मणने अपने घर आदिका त्याग कर दिया। भिक्षा द्वारा शरीर-यात्राका निर्वाह करता हुआ तथा तीर्थोंमें भ्रमण करता हुआ वह गङ्गासागरके सङ्गम पर पहुँचा॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—भिक्षया भिक्षावृत्त्या, देहं निर्वाहयन् शरीरनिर्वाह-मात्रं कुर्वन्निति। तीर्थेऽधिकाप्रतिग्रहेण पापान्निवृत्तिर्वैराग्योत्पत्तिश्च दर्शिता। गङ्गासागर सङ्गमं गतः—तत्र प्रयाणं कृतवानित्यर्थः॥४०॥

भावानुवाद—कुछ दिनोंके पश्चात् वह ब्राह्मण अपने घर आदिका परित्यागकर केवल भिक्षावृत्ति द्वारा शरीरयात्राका निर्वाह करता हुआ तीर्थ-भ्रमणके लिए निकला। 'भ्रमण' इस पदसे ही अप्रतिग्रह अर्थात् तीर्थ-भ्रमणके समय देह निर्वाहके अलावा कुछ भी ग्रहण न करनेका बोध होता है। इसके द्वारा उसकी पापनिवृत्ति और वैराग्य उत्पत्ति सूचित हुई है। इस प्रकार तीर्थ-भ्रमण करते-करते वह गङ्गासागरके सङ्गम पर उपस्थित हुआ॥४०॥

विप्रान् गङ्गातटेऽपश्यत् सर्वविद्याविशारदान्।
स्वधर्माचारनिरतान् प्रायशो गृहिणो बहून्॥४१॥

श्लोकानुवाद—वहाँ गङ्गा तट पर उसने अधिकांश गृहस्थी ब्राह्मणोंको देखा, जो समस्त विद्याओंमें निपुण थे और अपने-अपने धर्मके आचरणमें रत थे॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहून् विप्रान् गौड़ान् गङ्गातटे पथि अपश्यत्; सर्वासु विद्यासु विशारदान्; ताश्चोक्ता विष्णुपुराणे—*'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येतोश्चतुर्दश॥'* इति। स्वधर्मेषु सदाचारेषु स्वधर्माचरणे वा, नितरां रतानासक्तान्। प्रायशो बाहुल्येन गृहिणो गार्हस्थ्याश्रमयुक्तान्॥४१॥

भावानुवाद—उसने वहाँ गङ्गा तटके पथ पर बहुतसे गौड़ देशीय विप्रोंको देखा। वे सब विप्र समस्त विद्याओंमें निपुण अर्थात् विष्णुपुराणके मतानुसार षडंग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण इन चौदह विद्याओंमें परम निपुण थे। वे सब अपने-अपने धर्मके आचरणमें अत्यधिक आसक्त थे तथा उनमें से अधिकांश विप्र गृहस्थ थे॥४१॥

तैर्वर्ण्यमानमाचारं नित्यनैमित्तिकादिकम्।
आवश्यकं तथा काम्यं स्वर्गं शुश्राव तत्फलम्॥४२॥

श्लोकानुवाद—उसने उन सब ब्राह्मणोंके मुखसे नित्य-नैमित्तिकादि कर्मोंकी आवश्यकता तथा काम्य-कर्मों और उनके फलस्वरूप स्वर्ग-सुख भोग इत्यादिका वर्णन श्रवण किया॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—नित्यमग्निहोत्रादि, नैमित्तिकं पार्वणश्राद्धादि; आदिशब्देन श्रीविष्णुपुराणाद्युक्त-ब्राह्ममुहूर्त्तोत्थानादि; तत्तदरूपमाचारं कर्म, आवश्यकमवश्यकर्त्तव्यम्; तथा काम्यं च व्रतादि, तैर्विप्रैर्वर्ण्यमानम्—*'आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।'* इति। तथा *'सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि।'* इत्यादिना प्रशस्यमानम्। तस्य फलञ्च स्वर्गम्—स्वर्गभोगसुखम्। तमपि *'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतञ्च सुखं तत् स्वर्गवासिनाम्॥'* इत्यादिना वर्ण्यमानं शुश्रावेत्यर्थः॥४२॥

भावानुवाद—गङ्गा तट पर पहुँचे उस ब्राह्मणने वहाँ पर वर्त्तमान उन स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंके मुखसे नित्य-नैमित्तिक, काम्यकर्म तथा उनसे प्राप्त स्वर्ग-सुख भोगके विषयमें श्रवण किया। नित्यकर्म अर्थात् अग्निहोत्रादि, नैमित्तिक अर्थात् पार्वणश्राद्धादि (पार्वण-किसी पर्व या अमावस्याके दिन किया जानेवाला श्राद्ध) 'आदि' शब्दसे श्रीविष्णुपुराणोक्त

ब्राह्ममूहूर्त्तमें शय्या त्याग इत्यादि। इस प्रकारका धर्म-आचरण अवश्य कर्त्तव्य है। काम्य-कर्म अर्थात् व्रतादि। उन समस्त स्वधर्म परायण ब्राह्मणोंका कथन यही था कि आचार ही धर्मका जनक है, धर्मके प्रभु अच्युत हैं तथा जो सदाचार-सम्पन्न पुरुष हैं, वे ही दोनों लोकोंको जय करते हैं। ब्राह्मणने इस प्रकारके अनेक प्रशंसा-सूचक वचनोंको श्रवण किया और यह भी श्रवण किया कि इस प्रकार स्वधर्माचरणके फलसे स्वर्गका सुख-भोग प्राप्त होता है। अर्थात् वह सुख-भोग जो दुःखग्रस्त नहीं है, अभिलाषाके अनुसार प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वर्गवासियोंके सुखके विषयमें श्रवण कर ब्राह्मणकी उस विषयमें श्रद्धा देख उन विप्रोंने उसे शिक्षा दी॥४२॥

नानासंकल्पवाक्यैश्च　तदनुष्ठाननिष्ठताम्।
दृष्ट्वा तत्रोदितश्रद्धः प्रवृत्तः शिक्षितः स तैः॥४३॥

श्लोकानुवाद—अनेक प्रकारके संकल्प-वाक्यों द्वारा उन ब्राह्मणोंकी अपने-अपने अनुष्ठानोंमें निष्ठा देखकर उस ब्राह्मणकी भी उन अनुष्ठानोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी और वह भी उन ब्राह्मणोंसे शिक्षा ग्रहणकर उनकी तरह अनुष्ठान करने लगा॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च केवलं वचनमात्रं श्रुतम्, तदनुष्ठान परता च दृष्टा। अतस्तत्र विश्वस्य प्रावर्ततेत्याह—नानेति। नानासंकल्पस्य गङ्गास्नानादि-विषयस्य गङ्गावाक्याबल्याद्युक्तैर्वाक्यैस्तस्याचारस्यानुष्ठाने निष्ठतां दृष्ट्वा स विप्रस्तत्राचारे प्रवृत्तः। उदिता जाता श्रद्धा विश्वासः प्रीतिर्वा यस्य सः। ननु महामूर्खोऽयं कथं तत्तत्कर्म कर्त्तुं जानातु? तत्राह—तैर्गङ्गातटवासि-विप्रैः शिक्षितस्तत्तद्विधिमनुशिष्टः सन्निति॥४३॥

भावानुवाद—उसने केवल उन ब्राह्मणोंके वचनोंको ही नहीं सुना बल्कि अपनी आँखोंसे उनकी उन-उन अनुष्ठानोंमें तत्परता भी देखी, इसलिए विश्वासके साथ उन कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ। 'गङ्गा' इत्यादि पदोंके द्वारा उनके गङ्गा-स्नानादि विषयमें संकल्प और उन-उन अनुष्ठानोंमें निष्ठा देखकर वह ब्राह्मण भी वैसा ही आचरण करनेमें प्रवृत्त हुआ। यदि प्रश्न हो कि वह तो महामूर्ख था, फिर किस प्रकार इन समस्त कर्मोंके आचरणमें प्रवृत्त हुआ? उसके उत्तरमें कहते हैं—वह

गङ्गातटवासी विप्रों द्वारा शिक्षित होकर उन-उन कर्मोंके आचरणमें प्रवृत्त हुआ। अर्थात् उन समस्त कर्मोंकी प्रयोग विधि और निष्ठादिमें उसकी श्रद्धा उत्पन्न हुई॥४३॥

देव्याज्ञादरतो मन्त्रमपि नित्यं रहो जपन्।
तत्प्रभावान्न लेभेऽन्तःसन्तोषं तेषु कर्मसु॥४४॥

श्लोकानुवाद—वह देवीकी आज्ञाका आदर करते हुए प्रतिदिन निर्जनमें उस गोपाल मन्त्रका भी जप करता रहा। अतएव मन्त्रके प्रभावसे वह ब्राह्मण उन कर्मोंमें प्रवृत्त होने पर भी अपने अन्तःकरणमें सन्तोष प्राप्त नहीं कर सका॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि भगवदुपासनप्रभावेण तत्र तस्यासक्तिर्न जातेत्याह—देव्याज्ञेति। तस्य मन्त्रस्य जपस्य प्रभावात्॥४४॥

भावानुवाद—तथापि भगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे उस ब्राह्मणकी उन कर्मोंमें आसक्ति उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए वह उन कर्मोंमें सन्तोष प्राप्त नहीं कर सका। यह मन्त्रजपका ही प्रभाव है॥४४॥

स निर्विद्य गतः काशीं ददर्श बहुदेशजान्।
यतिप्रायान् जनांस्तत्राद्वैतव्याख्याविवादिनः॥४५॥

श्लोकानुवाद—तब वह विप्र उन कर्मोंसे विरक्त होकर काशीधाममें चला गया। काशीमें उसने बहुत देशोंसे (स्थानोंसे) आये हुए संन्यासियोंके दर्शन किये जो अद्वैतवादकी व्याख्याओंके विवादमें रत थे॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स विप्रः निर्विद्य तत्र विरक्तो भूत्वा काशीं गतः सन्, तत्र काश्यां यतिप्रायान् सन्नयासिबहुलान् जनान् ददर्श। बहुदेशजनान् नानादेशेभ्यस्तत्र समागतानित्यर्थः; अद्वैतव्याख्याभिर्ब्रह्मनिरूपणैर्विवादशीलान्॥४५॥

भावानुवाद—तब वह विप्र उन कर्मोंके अनुष्ठानोंसे विरक्त होकर काशी चला गया। वहाँ उसने नाना देशोंसे (स्थानोंसे) एकत्र ब्रह्मनिरूपणके विषयमें विवादशील अर्थात् अद्वैतवादकी व्याख्याओं पर विवाद करते हुए संन्यासी-प्रायः अनेक व्यक्तियोंके दर्शन किये॥४५॥

विश्वेश्वरं प्रणम्यादौ गत्वा प्रतिमठं यतीन्।
नत्वा सम्भाष्य विश्रामं तेषां पार्श्वे चकार सः॥४६॥

श्लोकानुवाद—सर्वप्रथम उसने श्रीविश्वेश्वर (श्रीविश्वनाथ महादेव)को प्रणाम किया। फिर वह प्रत्येक मठमें गया और वहाँ संन्यासियोंका अभिवादन किया और उनसे वार्त्तालाप करके वहीं उनके पास विश्राम करने लगा॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—विश्वेश्वरनामानं काशीपूर्यधिष्ठातारं श्रीशिवमादौ प्रणम्य॥४६॥

भावानुवाद—उसने सर्वप्रथम काशीके अधिष्ठाता विश्वेश्वर नामक श्रीशिवको प्रणाम किया॥४६॥

वादेषु शुद्धबुद्धीनां तेषां पाणितलस्थवत्।
मोक्षं बोधयतां वाक्यैः सारं मेने स तन्मतम्॥४७॥

श्लोकानुवाद—उन सब संन्यासियोंकी बुद्धि केवल विवादमें ही थी और वे अपने तर्कपूर्ण वचनोंसे मोक्षका इस प्रकार बोध कराते थे, मानो मोक्ष उनके हाथमें रखे हुए आँवलेके फलके समान हो। अतएव उनकी बातोंको सुनते-सुनते वह विप्र भी उनके मतको ही सार (श्रेष्ठ) समझने लगा॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां यतीनां वाक्यैः स विप्रस्तेषां यतीनां मतं मोक्षार्थ संन्यसनादिकं सारं परमोपादेयं मेने। कुतः? मोक्षं पाणितलस्थवत् करतलकलितमिव वाक्यैर्बोधयताम्, यतः वादेषु विवादेषु वाङ्मात्रेषु वा, न तु परमार्थेषु शुद्धा विशदा बुद्धिर्येषां तेषाम्॥४७॥

भावानुवाद—वह विप्र वहाँ रह रहे संन्यासियोंके वचन—'मोक्ष प्राप्त करनेके लिए संन्यास ग्रहण करना ही परमसार है'को ही श्रेष्ठ मानने लगा। इसका कारण था कि वे संन्यासी अपने वाक्योंसे मोक्षको करतलवत् अर्थात् अपने हाथमें रखे हुए आँवलेकी भाँति बोध कराते थे। वे संन्यासी वाद-विवादमें अर्थात् तर्कपूर्ण वचनोंको बोलनेमें ही निपुण थे, किन्तु परमार्थके विषयमें उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं थी॥४७॥

शृण्वन्नविरतं न्यासमोक्षोत्कर्षपराणि सः।
तेभ्यो वेदान्तवाक्यानि मणिकर्ण्यां समाचरन्॥४८॥

स्नानं विश्वेश्वरं पश्यंस्तेषां सङ्गेऽप्रयासतः।
मिष्टेष्टभोगान् भुञ्जानः संन्यासं कर्त्तुमिष्टवान्॥४९॥

श्लोकानुवाद—वह विप्र संन्यासियोंसे नित्य प्रति संन्यास और मोक्षकी श्रेष्ठताको स्थापन करनेवाले वेदान्त वाक्योंको श्रवण करता, मणिकर्णिका घाटमें स्नान कर श्रीविश्वनाथका दर्शन करता और संन्यासियोंके साथ बिना परिश्रमके मनोवाञ्छित मीठे-मीठे भोजन करता। इस प्रकार उसकी भी संन्यास ग्रहण करनेकी इच्छा हो गयी॥४८-४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—स विप्रस्तेभ्यो यतिभ्यः सकाशात् न्यासः संन्यासो मोक्षश्च तयोर्य उत्कर्षः परमश्रैष्ठ्यं, तत्पराणि वेदान्तवाक्यानि अविरतं शृन्वन् संन्यासं कर्त्तुमिष्टवानैच्छदिति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र हेतुत्वेन विशेषणत्रयम्। मणिकर्णिका नाम काशीमध्यवर्त्तिगंगाप्रदेशविशेषस्तस्यां स्नानमाचरन्नित्यादि। तेषां सङ्गे तिष्ठन्न-प्रयासतोऽश्रमेणैवेति सर्वत्र सम्बन्धनीयम्॥४८-४९॥

भावानुवाद—संन्यासियोंसे मोक्ष तथा संन्यासकी श्रेष्ठताको स्थापन करनेवाले समस्त वेदान्त वाक्योंको नित्यप्रति श्रवणकर उस विप्रकी भी संन्यास ग्रहण करनेकी इच्छा हो गयी। यही इन दो श्लोकोंमें कहा जा रहा है। उस ब्राह्मण द्वारा संन्यास ग्रहण करनेकी इच्छाके कारण स्वरूप तीन विशेषण प्रदान किये गये हैं (वेदान्तवाक्य श्रवण, गङ्गास्नान और श्रीविश्वनाथका दर्शन)। उसका काशीके बीच स्थित मणिकर्णिका घाट पर प्रतिदिन गङ्गा-स्नानादि आचरण अनायास ही संन्यासियोंके साथ सम्पन्न होता था। इस 'अप्रयासवः' (बिनाश्रम) शब्दका सम्बन्ध सर्वत्र अर्थात् तीनों विशेषणों या उस ब्राह्मणकी समस्त क्रियाओंके साथ है॥४८-४९॥

स्वजप्यं गौरवाद्देव्यास्तथान्तःसुखलाभतः।
अत्यजन्नेकदा स्वप्नेऽपश्यत्तन्मन्त्रदेवताम्॥५०॥

श्लोकानुवाद—उसने कामाख्यादेवीके प्रति गौरववशतः और अपने आन्तरिक सुखके कारण अपने मन्त्रका जप करना नहीं छोड़ा। इस प्रकार कुछ दिनोंके पश्चात् उसने एक रात स्वप्नमें अपने मन्त्रदेवताका दर्शन किया॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं भगवदुपासनमाहात्म्यं दर्शयन् तस्य संन्यासाप्रवृत्तिं सहेतुकामाह—स्वजप्यमिति चतुर्भिः। मन्त्रमत्यजन्निति श्रद्धादिहान्या तज्जपमात्रं कुर्वन्नपि इत्यर्थः। अत्यागे हेतुः—देव्याः कामाख्याया गौरवात् तन्महिमश्रद्धया, तद्वचनादरेण वा। ननु वेदान्तवाक्येषु कथं नामानादरः सम्भवेत्तत्राह—तथेति। *'वेदान्तवाक्यश्रवणादिना साक्षान्मनःसन्तोषो न भवेन्निजजपे च तल्लाभः स्यादतः'* इति भावः। तस्य मन्त्रस्य देवताः श्रीमन्मदनगोपालदेवं स्वप्नेऽपश्यत्, अन्यथा मुमुक्षापगमासम्भवात्। यद्वा, एतदपि तन्मन्त्रमाहात्म्यसूचनमेव, तेन प्रकारेण स्वप्ने इष्टदेवदर्शन-कारणत्वात्। मोक्षाद्यनिच्छा च तत् स्वभावजैवेति, न तत् स्वप्ने भगवद्दर्शन फलमिति॥५०॥

भावानुवाद—अब भगवान्‌की उपासनाका माहात्म्य प्रदर्शन कर उस विप्रके संन्यास न ग्रहण करनेका कारण—'स्वजप्यम्' इत्यादि चार श्लोकोंमें बतला रहे हैं। संन्यासियोंके सङ्गसे मन्त्रजपके विषयमें श्रद्धाकी हानि होने पर भी उस ब्राह्मणने मन्त्रजपका त्याग नहीं किया। इसका कारण उस ब्राह्मणका कामाख्यादेवीके प्रति गौरव था अर्थात् उनकी महिमामें श्रद्धा थी, अतएव वह उनके वाक्योंका आदर करता था। इसलिए संन्यास ग्रहण करनेकी इच्छा होने पर भी उसने संन्यास ग्रहण नहीं किया। यदि प्रश्न हो कि वेदान्तवाक्य श्रवण करने पर भी उन वाक्योंके प्रति उसका आदर क्यों नहीं हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—मोक्षकी श्रेष्ठताजनक वेदान्तवाक्य श्रवण करने पर भी उसको उनके द्वारा आन्तरिक सुखका अनुभव नहीं हुआ, परन्तु मन्त्रजपमें उसको वह सुख अनुभव होता था। विशेषतः मन्त्रदेवता श्रीमदनगोपालदेवके स्वप्नमें दर्शन न होनेसे उसकी मोक्षकी कामनाका दूर होना भी असम्भव होता। अथवा मन्त्रमाहात्म्यको सूचित करनेके लिए मन्त्रदेवता श्रीमदनगोपालने उसको इस प्रकार स्वप्नमें दर्शन दिया था। मोक्षके प्रति अनिच्छा ही मन्त्रजपका स्वाभाविक फल है, स्वप्नमें भगवान्‌का दर्शन आनुषङ्गिक (गौण) फल मात्र है॥५०॥

तन्महारम्यताकृष्टः　　परमानन्दगोचरः।
तज्जपान्यप्रवृत्तौ हि न लेभे स मनोबलम्॥५१॥

श्लोकानुवाद—अपने मन्त्रदेवताका स्वप्नमें दर्शनकर उस विप्रका चित्त उनके परमसौन्दर्यके द्वारा वशीभूत हो गया और वह परमानन्दित

हुआ। अब उसको मन्त्रजपके अलावा अन्य किसी कार्यको करना अच्छा ही नहीं लगता था॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्या देवताया या महती रम्यता परमसौन्दर्यं, तयाकृष्टः वशीकृतचित्तः। परमानन्दस्य गोचरो विषयः, परमानन्दयुक्तः सन्नित्यर्थः। तस्य मन्त्रस्य जपादन्यस्मिन् संन्यासादौ स्नानादौ वा या प्रवृत्तिस्तस्यां स विप्रो मनसो बलमुत्साहं न लेभे॥५१॥

भावानुवाद—उन मन्त्रदेवताका परम रमणीय सौन्दर्य दर्शन कर ब्राह्मणका चित्त मुग्ध और वशीभूत हो गया और उसको परमानन्द प्राप्त हुआ। अब उसका मन्त्रजपके अलावा संन्यास तथा स्नानादि अन्य विषयोंके प्रति मानसिक उत्साह और बल न रहा॥५१॥

इतिकर्त्तव्यतामूढ़ो दीनः सन् स्वप्नमागतः।
तया देव्या सहागत्य तत्रादिष्टः शिवेन सः॥५२॥

श्लोकानुवाद—तब वह ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यके विषयमें विमूढ़ होकर कातर भावसे निद्राग्रस्त हो गया। उस समय उसके स्वप्नमें देवी सहित श्रीमहादेव आविर्भूत हुए और उसको आदेश दिया—॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च इति इदं कर्त्तव्यं निश्चयेन कृत्यं यस्य तस्य भावः तत्ता तस्यां मूढ़ः; 'संन्यासादिकर्त्तव्यं, किंवा निजमन्त्रजप एव कर्त्तव्यः?' इत्यत्र निश्चयहीनः सन्नित्यर्थः। निरन्तरसंन्यासि-सङ्गत्या तद्वाक्यश्रवणादिना मनसश्चाञ्चल्यान्निजकृत्य-निश्चयासामर्थ्याद्दीनः सन्; स्वप्नमागतः निद्राणः सन्, या देवी तन्मन्त्रमुपदिदेश पश्चात्तज्जपञ्चादिदेश, तयैव सह तद्विश्वासाद्यर्थं तत्र स्वप्ने आगत्य आविर्भूय स विप्रः श्रीशिवेनादिष्टः॥५२॥

भावानुवाद—तब वह ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यके विषयमें विमूढ़ होकर अर्थात् संन्यासादि ग्रहण करना कर्त्तव्य है अथवा अपना मन्त्रजप कर्त्तव्य है—इसे विचार द्वारा निश्चित न कर सका। निरन्तर संन्यासियोंके सङ्गसे और उनके वचनोंके श्रवणसे उत्पन्न मनकी चञ्चलताके कारण अपने कृत्यको निश्चय करनेमें असमर्थ होकर कातर भावसे निद्राग्रस्त हो गया। तब वह देवी अर्थात् जिन्होंने उसको स्वप्नमें मन्त्रका उपदेश दिया था और बादमें जपके विषयमें पुनः

आदेश दिया था तथा जिनके प्रति उस ब्राह्मणका दृढ़विश्वास था, उस देवीके साथ श्रीमन् महादेव उसके स्वप्नमें आविर्भूत होकर बोले— ॥५२॥

मा मूर्ख! कुरु संन्यासं द्रुतं श्रीमथुरां व्रज।
तत्र वृन्दावनेऽवश्यं पूर्णार्थस्त्वं भविष्यसि॥५३॥

श्लोकानुवाद—अरे मूर्ख! तुम संन्यास ग्रहण मत करो। शीघ्र ही मथुरामण्डलमें चले जाओ, वहाँ श्रीवृन्दावनमें तुम्हारा मनोरथ अवश्य सफल होगा॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदेशमेवाह—मा मूर्खेति। तत्र श्रीमथुरायां यद्वृन्दावनं, तस्मिन् परमानिर्वचनीये इति वा। पूर्णाः परिसमाप्ता अर्थाः सर्वफलानि यस्य, तादृशोऽवश्यं भविष्यसि॥५३॥

भावानुवाद—'महामूर्ख' इत्यादि वाक्योंके द्वारा देवी और महादेव ब्राह्मणको आदेश करने लगे। शीघ्र ही मथुरामण्डलमें जाओ, वहाँ परम अनिर्वचनीय श्रीवृन्दावनधाममें तुम्हारी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी अर्थात् समस्त फलोंकी प्राप्ति रूप सर्वाभीष्टकी सिद्धि अवश्य होगी॥५३॥

सोत्कण्ठो मथुरां गन्तुं मुहुस्तां कीर्त्तयंस्ततः।
स तद्देशदिशं गच्छन् प्रयागं प्राप वर्त्मनि॥५४॥

श्लोकानुवाद—ऐसा सुनकर उस ब्राह्मणमें मथुरा जानेकी उत्कण्ठा उदित हुई। वह बार-बार 'मथुरा, मथुरा' कीर्त्तन करता हुआ मथुराकी ओर चल पड़ा तथा रास्तेमें प्रयाग आ पहुँचा॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तां मथुरां कीर्त्तयन्—'मथुरा मथुरा' इति प्रीत्यैव मुहुरुच्चारयन्; ततः काश्याः सकाशात्; स विप्रः; तस्या मथुराया ये देशाः शूरसेनादयः, तत्सम्बन्धिनीं पश्चिमां दिशं गच्छन्, वर्त्मनि मथुरागमनमार्गमध्ये वर्त्तमानं प्रयागं प्राप्तः॥५४॥

भावानुवाद—यह सुनते ही उस ब्राह्मणमें मथुरा जानेकी उत्कण्ठा उदित हुई और उसने प्रीतिपूर्वक बार-बार 'मथुरा, मथुरा' नामकीर्त्तन करते हुए काशीसे मथुराकी ओर प्रस्थान किया। यह मथुरा शूरसेनका

देश है तथा काशीसे पश्चिम दिशाकी ओर स्थित है। इस प्रकार मथुराकी ओर चलते-चलते मार्गमें वह प्रयाग आ पहुँचा॥५४॥

तस्मिँलसन्माधवपादपद्मे
गङ्गाश्रितश्रीयमुनामनोज्ञे　।
स्नानाय माघोषसि तीर्थराजे
प्राप्तान् स साधून् शतशो ददर्श॥५५॥

श्लोकानुवाद—तीर्थराज प्रयाग श्रीमाधवके चरणकमलों द्वारा शोभित है और गङ्गाका आश्रय ली हुई यमुना द्वारा मनोरम है। वहाँ माघ मासमें प्रातःस्नानके लिए हजारों साधु एकत्रित हुए थे। उस प्रयागराजमें पहुँचकर उस ब्राह्मणने उस साधु-समागमका दर्शन किया॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मिन् तीर्थराजे भगवद्भक्तिप्रकाशभूमित्वान्निखिल-तीर्थगण-श्रेष्ठे; अतएव तत्र माघमासस्य ऊषसि प्रातःसमये स्नानार्थमागतान् शतशः साधून् वैष्णवान् ददर्श। तीर्थराजत्वमेव दर्शयति—लसदिति पादद्वयेन। लसच्छोभमानं श्रीमाधवदेवस्य पादपद्मं यस्मिन्, तस्मिन्; गङ्गया आश्रिता भक्त्या सङ्गता या श्रीमती यमुना, तया मनोज्ञे॥५५॥

भावानुवाद—वह तीर्थराज प्रयाग भगवान्की भक्तिको प्रकाश करनेवाली भूमि होनेके कारण समस्त तीर्थोंमें श्रेष्ठ है। अतएव उस ब्राह्मणने वहाँ माघ मासमें प्रातः स्नानके लिए एकत्रित हजारों साधु वैष्णवोंका दर्शन किया। 'लसदिति' दो पदोंके द्वारा प्रयागका तीर्थ-राजत्व प्रदर्शन किया गया है। जैसे—जिस स्थान पर श्रीमाधवदेवके चरणकमल शोभायमान हैं और जो गङ्गाका आश्रय करनेवाली यमुना द्वारा मनोरम है अथवा भगवान्के श्रीचरणकमलोंके प्रति भक्ति होनेके कारण एक-दूसरेके सङ्ग हेतु गङ्गा और यमुना दोनों जिस स्थान पर एकत्र हुई है, वही तीर्थराज प्रयाग है॥५५॥

तेषां सदा गीत-नति-स्तवादिभिः
श्रीविष्णुपूजोत्सवमैक्षताभितः　।

तन्नामसंकीर्त्तन–वाद्य–नर्त्तनैः
प्रेम्णार्त्तनादै–रुदितैश्च शोभितम् ॥५६ ॥

श्लोकानुवाद—वहाँ बहुतसे साधु एकत्रित होकर निरन्तर गान, प्रणाम, स्तव, नामसंकीर्त्तन, वाद्यवादन, नृत्य और प्रेमपूर्वक आर्त्तनाद कर रहे थे और कोई–कोई रो रहे थे। ब्राह्मणने वहाँ उपस्थित होकर इस विष्णुपूजारूपी महोत्सवका दर्शन किया॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—गीतादिभिः कृत्वा, तेषां तैः क्रियमाणं श्रीविष्णुपूजा–रूपमुत्सवमभितः इतस्ततः सर्वत्र स ऐक्षत। आदिशब्देन भोगादि–विचित्रोपचाराः, गीतादिभिः शोभितमिति वा सम्बन्धः॥५६॥

भावानुवाद—उस ब्राह्मणने वहाँ इधर–उधर सर्वत्र गीतादि द्वारा किये जा रहे विष्णुपूजारूप उत्सवका दर्शन किया। 'आदि' शब्दका अर्थ है कि वह महोत्सव भोगादि–विचित्र उपचार और गीतादि द्वारा शोभायमान था॥५६॥

सोऽबुधो विस्मयं प्राप्तो वैष्णवान् पृच्छति स्म तान्।
हे गायका वन्दिनो रे दण्डवत्पातिनो भुवि ॥५७ ॥
भो वादका नर्त्तका रे रामकृष्णेति–वादिनः।
रोदका रम्यतिलकाश्चारुमालाधरा नराः ॥५८ ॥
भवतैकं क्षणं स्वस्था न कोलाहलमर्हथ।
वदतेदं विधद्ध्वे किं कं वार्चयथ सादरम् ॥५९ ॥

श्लोकानुवाद—वह अबोध ब्राह्मण यह सब देखकर विस्मित हुआ और वैष्णव–साधुओंको सम्बोधन कर कहने लगा—हे गायकों, हे वन्दिगणों (वन्दनाकारीगणों), हे भूमि पर दण्डवत् करनेवालों, हे वादकों, हे नर्त्तकों, हे रामकृष्णका उच्चारण करनेवालों, हे क्रन्दन करनेवालों, हे सुन्दर तिलक तथा मनोहर माला धारण करनेवालों, तुम लोग एक क्षणके लिए कोलाहल परित्याग कर स्वस्थ होओ और मुझे बतलाओ कि तुम लोग यह क्या कर रहे हो? किसका आदरसहित अर्चनकर रहे हो?॥५७–५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अबुधः तत्तद्वार्त्तानभिज्ञः अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्। अतएव विस्मयं प्राप्तः सन् स विप्रस्तान् गीतादिपरान् वैष्णवानपृच्छत्। तत्प्रकारमेवाह—हे गायका इति सार्धद्वयेन। अबुधतया तेषां महिमाज्ञानेन यथादृष्टकर्मसम्बन्धेनैव नव सम्बोधनानि। वन्दिनः स्तुतिपाठकाः, स्तुति कर्तॄणां वन्दिसादृश्येन वन्दिन इति सम्बोधनम्। भुवि दण्डवत्पतितुं शीलमेषामिति, ते तथा। वादका वाद्यकर्त्तारः। रामकृष्णशब्दयोर्भगवद्वाचकत्वाज्ञानेन शब्दमात्रानुकरणम्। रम्याणि हरिमन्दिररूपतया सुन्दराणि तिलकानि येषां ते॥५७–५८॥

स्वस्था अव्यग्रा अनाकुला वा भवत। कोलाहलं नार्हथेति भगवद्गीतस्तवादि-तत्त्वाज्ञानेन ततस्तुमूलशब्दमात्रश्रवणेन कोलाहलप्रतीत्या तेषामुत्तमवेशादिदर्शनेन तदयोग्यतेत्युक्तिः। अहो किमर्थं निजकृत्यं त्यक्तव्यम्? मम प्रश्नं श्रुत्वा तत्प्रत्युत्तरार्थमित्याशयेनाह—वदतेति। किं कतमदिदं कर्म विधद्ध्वे कुरुथ? ननु न कौतुकादिरूपमिदम्; किन्तु देवतार्चनमिति चेत्तत्राह—कं वेति; कतमं देवम्, सादरं यथा स्यात्॥५९॥

भावानुवाद—यहाँ 'अबुधः' अर्थात् अबोध कहनेका तात्पर्य यह है कि पहले कभी न देखे गये तथा पहले कभी न सुने गये उन साधुओंके व्यवहारसे वह ब्राह्मण सर्वथा अनजान था। अतएव विस्मित होकर वह गीत-वाद्यादिमें रत वैष्णवोंसे 'हे गायकों!' इत्यादि कहकर सम्बोधन करने लगा। वह अबोध ब्राह्मण उन वैष्णवोंकी महिमा नहीं जानता था, इसलिए उनका जिस प्रकारका कर्म देखा, उन्हें उसी प्रकार ही सम्बोधन किया। हे गायकों, हे वन्दनाकारियों (स्तुति करनेवालोंको वन्दना करनेवालोंके समान 'वन्दिन' कहकर सम्बोधन किया), हे भूमि पर गिरनेवालों, हे वादकों, हे रामकृष्ण शब्द उच्चारण करनेवालों ('रामकृष्ण' शब्द भगवत्वाचक हैं, यह न जानते हुए उस शब्दमात्रके अनुकरण द्वारा उन्हें सम्बोधन किया) 'रम्यतिलक' अर्थात् जिन्होंने अपने मस्तक पर हरिमन्दिर अङ्कनरूप मनोहर तिलक धारण किया था, उन्हें देखकर 'हे रम्यतिलक धारण करनेवालों!' इत्यादि सम्बोधन किया। तुम लोग अधिक कोलाहल न कर स्थिर होकर बैठ जाओ। वह भगवान्के गीत-स्तवादिके तत्त्वज्ञानसे हीन था, अतः तुमुल शब्दमात्रका श्रवण उसे कोलाहल प्रतीत हुआ, तथा उनके उत्तमवेषादिका दर्शनकर उनके प्रति वैसा ही सम्बोधन किया। तुम लोग क्या कर रहे हो और किसकी आदर पूर्वक पूजा कर रहे हो?

यदि तुम कहो कि यह केवल कौतुकादिकी भाँति नहीं है, अपितु देवताका अर्चन है। इसके लिए पूछ रहे हैं—तुम देवताका अर्चन क्यों कर रहे हो तथा जिसका आदर सहित अर्चन कर रहे हो, वे देवता कौन हैं? ॥५७-५९॥

तच्छ्रुत्वोपहसन्ति स्म केचित्तं केचिदब्रुवन्।
रे मूढ़ तूष्णीं तिष्ठेति केऽप्यूचुर्दीनवत्सलाः॥६०॥

श्लोकानुवाद—यह सब सुनकर उनमें से कोई-कोई उस ब्राह्मणका उपहास करने लगे, किसीने कहा—रे मूढ़! चुप रह। उनमें से कुछ साधु-वैष्णव जो दीनवत्सल थे, वे इस प्रकार कहने लगे— ॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तदुक्तं श्रुत्वा तेषामेव वैष्णवानां मध्ये केचिन्नवीन-भक्तास्तमुपहसन्ति स्म—'अये महामुने। विद्वद्वर। सत्यं वयमेवास्वस्थाः। अयमेव हि कोलाहलः।' इत्यादिरूपमुपहासं चक्रुः। केचिन्मध्यमा भगवत्पूजानुरक्तास्तद्विषयकं तादृशं वचनमसहमानाः क्रोधात् 'रे मूढ़! तूष्णीं तिष्ठ' इत्यब्रुवन्। केऽप्युत्तमा दीनेषु वत्सलाः। यद्वा, अन्ये तत्रत्या एव केचिदुपाहसन्, केचिच्च 'तूष्णीं तिष्ठ' इत्यब्रुवन्। वैष्णवास्तु परमकरुणामया 'अये' इत्यादिकं वक्ष्यमाणमूचुरिति ज्ञेयम्। अतएवाग्रे श्रीवैष्णवा ऊचुरिति निर्देशः॥६०॥

भावानुवाद—ब्राह्मणके ऐसे वचनोंको सुनकर उन वैष्णवोंमें जो कोई नवीन भक्त थे, वे उसका उपहास करते हुए कहने लगे—'हे महामुने! हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ! हम सचमुच अस्वस्थ हैं, यह सब वास्तवमें कोलाहाल मात्र ही है।' कोई-कोई मध्यम वैष्णव भगवान्की पूजामें अनुरक्त रहनेके कारण उसका वैसा व्यवहार सहन न कर पानेके कारण क्रोधित होकर कहने लगे, 'अरे मूढ़! चुप रह।' उत्तम वैष्णव परम कृपालु और दीनवत्सल होते हैं अर्थात् वहाँ उपस्थित व्यक्तियोंमें से किसी-किसीने उपहास किया, किसीने 'चुप रह' ऐसा कहा, किन्तु परमकरुणामय उत्तम वैष्णव 'अये' (अहो) सम्बोधन कर कहने लगे— ॥६०॥

श्रीवैष्णवा ऊचुः—

अये विप्रज! जानासि न किञ्चिद्वत मूढ़धीः।
विष्णुभक्तान् पुनर्मैवं सम्बोधय न जल्प च॥६१॥

श्लोकानुवाद—श्रीवैष्णवजन बोले—अहो ब्राह्मण-पुत्र! ऐसा लगता है तुम अत्यन्त मूढ़ बुद्धिवाले हो। क्या तुम कुछ भी नहीं जानते हो? ये सब श्रीविष्णुके भक्त हैं। फिर कभी इनको इस प्रकार सम्बोधन मत करना और न ही इस प्रकारकी बातें कहना॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—विप्रज! हे लब्धविप्रजन्मन्! वतेति खेदे; यतो मूढ़स्येव धीर्यस्य सः। तदेवाभिव्यञ्जयन्त्यः कृपया शिक्षयन्ति—विष्णिवति। एवं 'हे गायकाः, हे वन्दिनः!' इत्यादि प्रकारेण 'स्वस्था भवत कोलाहलं नार्हथ' इत्येवञ्च पुनर्न जल्पेत्यर्थः॥६१॥

भावानुवाद—अहो विप्रज! अर्थात् तुमने ब्राह्मणकुलमें जन्म मात्र ग्रहण किया है, किन्तु तुम मूढ़ बुद्धिवाले हो। इसीलिए कृपापूर्वक 'विष्णु' इत्यादि वचनोंसे उसे शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। 'हे गायक, हे वन्दि!' इत्यादि प्रकारसे सम्बोधन और 'स्वस्थ होओ, कोलाहाल न करो' इत्यादि प्रकारके वचन पुनः मत कहना॥६१॥

भगवन्तमिमे विष्णुं नित्यं वयमुपास्महे।
गुरोर्गृहीतदीक्षाका यथामन्त्रं यथाविधि॥६२॥

श्लोकानुवाद—हे विप्र! हम सभी गुरुसे दीक्षा ग्रहणकर अपने-अपने मन्त्रके अनुसार यथाविधि श्रीविष्णुकी उपासना कर रहे हैं॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं यूयं विष्णुभक्ताः? इत्यपेक्षायां तत् प्रश्नोत्तरमेवाहुः—भगवन्तमिति। इमे वयं सर्वे भगवन्तं परमेश्वरं विष्णुं यथामन्त्रं स्वस्वमन्त्रानुसारेण, तत्र च यथाविधि, यत्र यादृशो न्यासादिप्रकारस्तदनुरूपेण उपास्महे पूजयामः। गुरोः सकाशाद्गृहीता दीक्षा यैरित्यनेन; तव तथात्वाभावात्तन्मन्त्रजपेनापि द्रुतं न किञ्चिज्ज्ञानादिकं सम्पद्यत इति भावः॥६२॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आपलोग किस प्रकारसे विष्णुभक्त हैं? इसकी अकांक्षासे 'भगवन्तमिमे' श्लोकके द्वारा उत्तर दे रहे हैं। हे विप्र! हम सभी भगवान् श्रीविष्णुकी अपने-अपने मन्त्रके अनुसार और यथाविधि अर्थात् जहाँ पर जिस प्रकारका विधान है, उसी प्रकारसे पूजा करते हैं। हमने श्रीगुरुसे दीक्षा ग्रहण की है। इस वाक्यका तात्पर्य है कि तुममें इसका अभाव है अर्थात् तुमने श्रीगुरुसे

दीक्षा ग्रहण नहीं की है, इसलिए तुम्हें मन्त्रजपके द्वारा भी तत्त्वज्ञानादि कुछ भी शीघ्र प्राप्त नहीं हो रहा है॥६२॥

श्रीनृसिंहतनुं केचिद्रघुनाथं तथापरे।
एके गोपालमित्येवं नानारूपं द्विजोत्तम॥६३॥

श्लोकानुवाद—हे द्विजोत्तम! हममें से कोई श्रीनृसिंहदेवकी, कोई श्रीरघुनाथकी तथा कोई श्रीगोपालदेवकी पूजा कर रहे हैं। इस प्रकार हम भगवान् श्रीविष्णुके विविध रूपोंकी उपासना करते हैं॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—मन्त्रस्य नानाविधत्वेन उपास्यस्यापि नानारूपताम् आहुः—श्रीनृसिंहेति। एवमीदृशानि नानाविधानि चतुर्भुज-मत्स्य-कूर्म-वराह-वामनादिरूपाणि, यस्य तत् विष्णुमुपास्महे इति पूर्वेणैवान्वयः। द्विजोत्तम हे विप्र!॥६३॥

भावानुवाद—नाना-प्रकारके मन्त्र होनेके कारण उपास्यतत्त्व भी नाना रूपके होते हैं। इसीको बतलानेके लिए 'श्रीनृसिंह' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उनके नाना-प्रकारके चतुर्भुज रूप, अर्थात् मत्स्य, कूर्म वराह-वामनादि विष्णुके विविध रूप हमारे उपास्य हैं। अर्थात् श्रीनृसिंह, श्रीराम, श्रीगोपाल और मत्स्य, कूर्म, वराह, वामनादि श्रीविष्णुके समस्त रूपोंकी हमलोग उपासना कर रहे हैं॥६३॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ततोऽसौ लज्जितो विप्रोऽपृच्छत् सप्रश्रयं मुदा।
कुतो वसति कीदृक् स कं वार्थं दातुमीश्वरः॥६४॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित बोले—हे माता! यह सुनकर वह ब्राह्मण लज्जित हो गया तथा नम्र होकर प्रसन्नतापूर्वक उनसे पूछने लगा—आपके परमेश्वर कहाँ रहते हैं? उनका कैसा आकार है और वे क्या फल दे सकते हैं?॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रश्रयो विनयस्तेन सहितं यथा स्यात्। स विष्णुनामा भवतामुपास्यः कुतः कस्मिन् ग्रामनगरादौ वसति? कीदृक् केन सदृशाकारादिकः? कं कियन्तं कतमं वार्थं धनम्? धनविशेषदानसामर्थ्येनैश्वर्यज्ञानविशेषसिद्धेः। यद्वा, द्रव्यमात्रम्; ईश्वरः शक्तः॥६४॥

भावानुवाद—उन वैष्णवोंकी बात सुनकर उस ब्राह्मणने विनयपूर्वक पूछा कि आपके उपास्यदेव किस ग्राम या नगरमें रहते हैं? उनका आकार कैसा है अर्थात् वे किसके समान दीखते हैं तथा वे किस प्रकारका अर्थ या धन दान कर सकते हैं? यहाँ धन-दानके सामर्थ्य द्वारा ऐश्वर्यज्ञान सूचित होता है। अथवा द्रव्य मात्रकी प्राप्ति ईश्वरकी शक्ति द्वारा सिद्ध होती है—यह भी प्रतिपादित हो सकता है॥६४॥

श्रीवैष्णवा ऊचुः—

सदा सर्वत्र वसति बहिश्चान्तश्च स प्रभुः।
कश्चिन्न सदृशस्तेन कथञ्चिद्विद्यते क्वचित्॥६५॥

श्लोकानुवाद—श्रीवैष्णवजन कहने लगे—हमारे प्रभु देश, काल और वस्तुकी सीमाओंसे रहित हैं। वे सदैव सर्वत्र तथा सबके अन्दर और बाहर वास करते हैं। उनके समान और कोई भी, कहीं भी नहीं है॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुतो वसतीति प्रश्नस्योत्तरमाहुः—सदेति। कालदेशवस्तु-परिच्छेद-त्रयातीतः सर्वव्यापक इत्यर्थः। कीदृग् इत्यस्य उत्तरमाहुः—कश्चिदिति। कथञ्चित् केनापि किञ्चिदाकारसाम्यादिप्रकारेण; क्वचित् कुत्रापि प्रपञ्चमध्ये तदतीते वा॥६५॥

भावानुवाद—वे कहाँ वास करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें 'सदा-सर्वत्र' श्लोक कहा गया है। हमारे प्रभु विष्णु काल, देश और वस्तु—तीनों सीमाओंसे रहित सर्वव्यापक हैं। वे किस प्रकारके हैं? इसका उत्तर 'कश्चिदिति' पद द्वारा दिया गया है। किसी प्रकार और किसी भी आकार सहित उनकी समता नहीं है तथा सर्वव्यापक होनेके कारण प्रपञ्चके भीतर या बाहर सदा-सर्वदा सर्वत्र उनका वास है॥६५॥

सर्वान्तरात्मा जगदीश्वरेश्वरो
यः सच्चिदानन्दघनो मनोरमः।
वैकुण्ठलोके प्रकटः सदा वसेद्
यः सेवकेभ्यः स्वमपि प्रयच्छति॥६६॥

श्लोकानुवाद—वे समस्त जीवोंके अन्तरात्मा हैं और जगदीश्वर ब्रह्मादिके भी नियन्ता हैं। वे स्वरूपतः सच्चिदानन्दघन विग्रह हैं, अपने गुण और सौन्दर्यादिके द्वारा सबके मनको हरण करते हैं। वे सदा वैकुण्ठलोकमें विराजमान रहते हैं और अपने समस्त भक्तोंको अपनी आत्मा अर्थात् अपने आपको भी दान कर देते हैं॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि कथं भक्तिः सम्भवतु? विशेषाज्ञानादत्राहुः—सर्वेति। सर्वेषां जीवानामन्तरात्मा अन्तर्यामी जगतो हृदि हृदि वसतीत्यर्थः। एवमान्तरमैश्वर्य अतिशयमुक्त्वा बाह्यञ्चाहुः। जगदीश्वराणां ब्रह्मादीनामपीश्वरो नियन्ता, तेभ्योऽपि परममहावैभववानिति वा। स्वरूपमाहुः—सदिति; परब्रह्मघनमूर्त्तिरित्यर्थः। परमगुणसौन्दर्य-माधुर्यादिकमाहुः—मन इति। ननु सदा निगूढ़स्यान्तरात्मनः कथमीदृशमैश्वर्यादिकं घटेत? कुत्र वा सदा सम्यक् तद्दर्शनं भक्तैर्लभ्यतामित्यपेक्षायामाहुः—वैकुण्ठेति। एवं तस्य निवासस्थानविशेषमसाधारणञ्च लक्षणमुक्त्वा कमर्थं दातुमीश्वर इत्यस्योत्तरमाहुः—य इति। अपीत्यस्य किं वक्तव्यं चतुर्वर्गम्? भक्तिं वा वैकुण्ठवासादिकं वा प्रयच्छतीत्यर्थः। प्र-शब्देन सेवकानामात्मनश्चासंकोचेनान्योऽन्यमानन्दभराविच्छेदः सूचितः॥६६॥

भावानुवाद—ऐसा होने पर यदि उनके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान नहीं होगा तो किस प्रकार उनकी भक्ति करना सम्भव होगा? इस जिज्ञासाकी आशंकासे 'सर्वान्तरात्मा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—वे समस्त जीवोंके अन्तर्यामी हैं अर्थात् जगतके समस्त प्राणियोंके हृदयमें वास करते हैं। इस प्रकार आन्तरिक ऐश्वर्यके सम्बन्धमें बतलाकर अब बाह्य महावैभवके सम्बन्धमें बतला रहे हैं—वे जगदीश्वर हैं अर्थात् ब्रह्मादिके भी ईश्वर और सर्वनियन्ता हैं, इसलिए ब्रह्मादिसे परम वैभवशाली हैं। (पिछले) श्लोक संख्या ६५ द्वारा उनके स्वरूपके सम्बन्धमें बतलाया गया है अर्थात् वे परब्रह्मघनमूर्त्ति हैं। वे परम गुण, सौन्दर्य तथा माधुर्यादिके धाम हैं—'मनोरम' पद द्वारा यही कहा गया है। यदि कहो कि सर्वदा निगूढ़ वस्तु परमात्माका इस प्रकार ऐश्वर्यादि किस प्रकार संघटित हो सकता है तथा भक्तजन कहाँ पर सदा उनका दर्शन प्राप्त करते हैं? इस अभिप्रायसे 'वैकुण्ठ' इत्यादि पदके द्वारा उनके निवास स्थानका असाधारण लक्षण वर्णन कर रहे हैं। वे भक्तोंको क्या अर्थ प्रदान कर सकते हैं? 'यः इत्यादि' पदके द्वारा इसका उत्तर दिया गया है। वे भक्तोंको 'स्वयमपि प्रयच्छति'

अर्थात् अपने आपको भी दे देते हैं, इस वाक्यमें 'अपि' शब्दका तात्पर्य यह है कि वे भक्तोंको भक्ति और वैकुण्ठवासादि दान करते हैं, अतएव चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) प्रदान करनेके विषयमें फिर कहना ही क्या है? 'प्रयच्छति' पदमें 'प्र' शब्दके द्वारा अपने सेवकोंको आत्मस्वरूप (अपने-आप) तक प्रदान करते हैं। इसके द्वारा उनके सेवकों और उनके बीच असंकोच व्यवहार अर्थात् एक दूसरेके प्रति विच्छेदरहित (निरन्तर) अत्यधिक आनन्दपूर्ण व्यवहारका होना सूचित होता है॥६६॥

श्रुतिस्मृतिस्तूयमानः केनास्य महिमोच्यताम्।
तदत्र वाच्यमानानि पुराणानि मुहुः शृणु॥६७॥

श्लोकानुवाद—श्रुति-स्मृतिके द्वारा जिनकी स्तुति की जाती है, उनकी महिमा कौन कह सकता है? इसलिए तुम यहाँ वैष्णवोंसे निरन्तर पुराणादिकी व्याख्या श्रवण करो॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अन्योऽपि तस्य शीलचरितादिमहिमा विशेषेण कथ्यतामिति चेत्तत्राहुः—श्रुतीति; श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च स्तूयमानोऽस्य विष्णोर्महिमा केनोच्यताम्, वर्णयितुम् शक्यतामित्यर्थः। तर्हि मया कथं ज्ञायताम्? तत्राह—तदिति सार्धेन। अत्र तीर्थराजे॥६७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि उन प्रभुके अन्यान्य स्वभाव और चरित्रके सम्बन्धमें विशेषरूपसे बतलाएँ, तो इसके उत्तरमें 'श्रुति' आदि श्लोक कहा गया है। श्रुति और स्मृति सभी उनकी महिमाका कीर्त्तन करते हैं, किन्तु कोई भी सम्यक् (पूर्ण) रूपसे वर्णन नहीं कर पाते। परन्तु श्रुतियों और स्मृतियों द्वारा ही उनकी स्तुति की जाती हैं, अतएव मैं किस प्रकार उनकी महिमाका वर्णन कर सकता हूँ? इसीलिए 'तद्' इत्यादि आधे श्लोकमें कहा गया है—यहाँ तीर्थराज प्रयागमें श्रीविष्णुकी महिमा सूचक पुराणोंकी व्याख्याका निरन्तर श्रवण करो॥६७॥

माधवं नम चालोक्य प्रतिरूपं जगत्प्रभोः।
ततोऽचिरादिदं सर्वं परञ्च ज्ञास्यसि स्वयम्॥६८॥

श्लोकानुवाद—उसके साथ ही उन जगतप्रभुके प्रतिरूप इन माधवदेवका दर्शन करो और उन्हें प्रणाम करो। इस प्रकार करते-करते शीघ्र ही तुम स्वयं इन समस्त विषयोंको जान सकोगे॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—जगत्प्रभोः श्रीवैकुण्ठनाथस्य प्रतिरूपं मूर्त्तिसदृशं श्रीमाधवमालोक्य मुहुर्नम च। ततस्तदनन्तरं तेभ्यो वा श्रवण-मनन-दर्शनेभ्यो हेतुभ्यः। इदमस्माभिरुक्तम्; परञ्चानुक्तमपि तन्माहात्म्यादिकं स्वयमेव त्वं वेत्स्यसि॥६८॥

भावानुवाद—जगतप्रभु श्रीवैकुण्ठनाथकी प्रतिरूप मूर्त्ति श्रीमाधवका दर्शन करो और उन्हें बार-बार दण्डवत् प्रणाम करो। उनके विषयमें श्रवण और मनन ही उनके दर्शनका कारण स्वरूप है। इस प्रकार हम लोगोंके द्वारा कथित या अकथित उनके माहात्म्यादिके सम्बन्धमें अन्य सब कुछ तुम स्वयं ही जान जाओगे॥६८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ततः श्रीमाधवं वीक्ष्य नमंस्तस्मिन् व्यचष्ट सः।
सारूप्यं स्वजपे चिन्त्यमानदेवस्य किञ्चन॥६९॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा तदनन्तर उस विप्रने वैष्णवोंके उपदेशानुसार श्रीमाधवका दर्शन किया और उनको प्रणाम किया। अपने मन्त्रजपके समय ध्यान किये जानेवाले श्रीमदनगोपालदेवका कुछ-कुछ सादृश्य उसने भगवान् श्रीमाधवमें दर्शन किया॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मात्तेषां वचनात्; तस्मिन् श्रीमाधवे, स विप्रः स्वकीयजप-समये ध्यायमानस्य श्रीमदनगोपालदेवस्य किञ्चन कतिपयं श्रीमुखनेत्रादिगतं सारूप्यं समानरूपतां व्यचष्ट ददर्श॥६९॥

भावानुवाद—तदनन्तर उस ब्राह्मणने वैष्णवोंके उपदेशानुसार श्रीमाधवका दर्शन किया तथा उनको प्रणाम आदि किया और मन्त्रजपके समय अपने ध्यायके विषय श्रीमदनगोपालदेवकी कुछ-कुछ मुख-नेत्रादिकी समानता भगवान् श्रीमाधवमें देखकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ॥६९॥

तत्र किञ्चित् पुराणं स शृणोति सह वैष्णवैः।
तैरर्च्यमाना विविधा विष्णुमूर्त्तीश्च पश्यति॥७०॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार उस विप्रने उन समस्त वैष्णवोंके साथ पुराणका कुछ अंश श्रवण किया तथा वह उनके द्वारा अर्चित विविध विष्णुमूर्त्तियोंका दर्शन करने लगा॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र श्रीमाधवसमीपे प्रयागे वा किञ्चिन्माघमाहात्म्यादिकम्। वैष्णवैः सहेत्यनेन तत्तच्छ्रवणादौ विश्वासानन्दोदयः सूचितः॥७०॥

भावानुवाद—उस विप्रने तीर्थराज प्रयागमें विराजमान श्रीमाधवदेवके निकट उन समस्त वैष्णवोंके साथ माघ-माहात्म्यको स्थापित करनेवाले पुराणके कुछ अंशका श्रवण किया। 'वैष्णवोंके साथ' यह वाक्य उन पुराणोंके श्रवणसे विश्वासके कारण उत्पन्न आनन्दको सूचित करता है॥७०॥

तथापि प्रत्यभिज्ञेयं तस्य न स्यादचेतसः।
मद्देवो जगदीशोऽयं माधवोऽपि सतां प्रभुः॥७१॥

श्लोकानुवाद—फिर भी मूढ़तावशतः उस ब्राह्मणमें पूर्ण ज्ञान उदित नहीं हुआ। अर्थात् जो मेरे उपास्यदेव हैं, वही जगदीश्वर हैं, वही श्रीमाधव हैं तथा वही इन वैष्णवों द्वारा पूजित विग्रह हैं—इस प्रकारका पूर्ण ज्ञान उदित नहीं हुआ॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यपि श्रीमाधवे निजोपास्यस्य सादृश्यदर्शनादिना जगदीश्वरतादि-ज्ञानं सम्भवति, तथापि योऽयं मदुपास्यः, स एव जगदीशः, स एव माधवश्चायम्। सतामेषां भक्तानां पूज्यः प्रभुः, स एवैकः इतीयं प्रत्यभिज्ञा पूर्वापरानुसन्धानज्ञानं न स्यात्। ततः अचेतसो मूढ़स्य सम्यग्विचाररहितस्येति वा॥७१॥

भावानुवाद—यद्यपि श्रीमाधवमें अपने उपास्यके समान दर्शनादिके द्वारा उनके प्रति जगदीश्वरताका ज्ञान उदित तो हुआ, तथापि जो मेरे उपास्य हैं, वही जगदीश्वर हैं और वही ये माधव हैं या वही इन वैष्णवों द्वारा पूजित प्रभु हैं—वैसी एकत्व-प्रतीति अथवा पूर्वापर (आगे-पीछेका) अनुसंधानरूप ज्ञान उस ब्राह्मणमें उदित नहीं हुआ, क्योंकि वह मूढ़ अथवा सम्पूर्णरूपसे विचारहीन था॥७१॥

इदं स विमृशत्येषामुपास्यो जगदीश्वरः।
स एव माधवश्चायं मयान्यः कोऽप्युपास्यते॥७२॥

श्लोकानुवाद—बल्कि वह सर्वदा यही चिन्तन करने लगा कि इन साधुओंके जो उपास्यदेव हैं, वही जगदीश्वर हैं तथा वही श्रीमाधव भी हैं। किन्तु मैं जिनकी उपासना करता हूँ, वे कोई और ही हैं॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—विमर्शनमेवाह—एषामित्यादिना न चेत्यन्तेन। एषां सतामुपास्यो यः स एव जगदीश्वरः। अयं दृश्यमानो माधवश्च स एव, सतामेषां वचन-प्रामाण्यात्। मया च योऽयमुपास्यते, सोऽन्यः कोऽपीत्यर्थः॥७२॥

भावानुवाद—परन्तु वह इस प्रकार चिन्ता करने लगा—इन साधुओंके जो उपास्यदेव हैं, वे ही जगदीश्वर हैं तथा वे ही श्रीमाधव हैं जिनका मैं दर्शन करता हूँ—इस विषयमें साधुओंके वचन ही प्रमाण हैं। किन्तु मैं जिनकी उपासना करता हूँ, वे कोई और ही होंगे॥७२॥

शंख-चक्र-गदा-पद्म-विभूषितचतुर्भुजः ।
न मद्देवस्ततः कस्मात् प्रतीयेत स माधवः॥७३॥

श्लोकानुवाद—ये माधव भगवान् शंख, चक्र, गदा और पद्मसे विभूषित चतुर्भुज हैं, परन्तु मेरे उपास्यदेव इस प्रकारके नहीं हैं। अतएव वे किस प्रकार श्रीमाधव हो सकते हैं? अर्थात् मैं अपने उपास्यदेवको किस प्रकारसे भगवान् श्रीमाधव मानकर विश्वास करूँ॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतून् उद्भावयति—शंखेति सार्द्धद्वाभ्याम्। मद्देवो ममोपास्यः शंखादिविभूषितचतुर्भुजो न भवति; माधवस्तु शंखादिधारी चतुर्भुजः। तथा च श्रीमाधवमूर्तेर्लक्षणम्—*'गदाशंखचक्रपद्मान् विभ्रन्माधव उच्यते।'* इति। ततस्तस्मादसादृश्यात् कारणात् स मद्देवो माधव इति। कस्माद्धेतोः प्रतीयेत प्रतीयताम्? अपि तु न प्रतीतिर्भवतीत्यर्थः॥७३॥

भावानुवाद—'शंख' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें उस विप्रकी चिन्ताका कारण बतला रहे हैं। मेरे उपास्यदेव शंख-चक्र आदि द्वारा विभूषित चतुर्भुज नहीं हैं, किन्तु ये श्रीमाधव शंख-चक्रादिधारी चतुर्भुज हैं। शास्त्रोंमें भी श्रीमाधवमूर्त्तिके लक्षणोंके प्रसंगमें कहा गया है—"गदा-शंख-चक्र-पद्मधारी श्रीमाधव है।" अतएव मेरे उपास्यदेवके साथ

असमानता होनेके कारण श्रीमाधव ही मेरे उपास्यदेव हैं—मैं यह कैसे विश्वास करूँ? वास्तवमें मुझे ऐसा विश्वास नहीं हो रहा है॥७३॥

नायं नरार्द्धसिंहार्द्धरूपधारी च मत्प्रभुः।
न वामनोऽप्यसौ मीनकूर्मकोलादिरूपवान्॥७४॥

श्लोकानुवाद—(वह मन-ही-मन विचार करने लगा) मेरे प्रभु आधेनर या आधेसिंह नहीं हैं और न ही वे वामन, मीन, कूर्म या वराहादिरूपधारी हैं॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु न भवतु श्रीमाधवसदृशः वैष्णवैरेतैः पूज्यमान-प्रतिकृतिसादृश्येन त्वद्देवोऽपि जगदीश्वरोऽस्तु; तत्राह—नायमिति सार्द्धेन। नरस्येवार्धं पश्चाद्भागो यस्मिन्, तथा सिंहस्येवार्धमुपरिभागो यस्मिन्, तादृशरूपधारी चायं मत्प्रभुर्न भवति। अतोऽयं श्रीनृसिंहमूर्त्तिर्जगदीश्वरो न घटत इत्यर्थः। न वामनादितनुरपि तत्तदाकारसादृश्याभावात्॥७४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि तुम्हारे प्रभु श्रीमाधवके समान न भी हों, तथापि वैष्णवों द्वारा पूजित किसी मूर्त्तिके समान होनेके कारण तुम्हारे उपास्यदेव भी जगदीश्वर ही हैं। इसके उत्तरमें 'नायम्' इत्यादि आधा श्लोक कह रहे हैं—जिनका नीचेका आधा भाग नरके समान और ऊपरका आधा भाग सिंहके समान हैं ऐसे अर्द्धनर और अर्द्धसिंह अर्थात् नृसिंहरूपधारी जगदीश्वर मेरे उपास्यदेव नहीं हैं। तथा आकारगत समानताके अभावमें वामनादि मूर्त्तिधारी जगदीश्वर भी मेरे उपास्यदेव नहीं हैं॥७४॥

नापि कोदण्डपाणिः स्याद्राघवो राजलक्षणः।
केषाञ्चिदेषां पूज्येन गोपालेनास्तु वा सदृक्॥७५॥

श्लोकानुवाद—मेरे उपास्यदेव राजलक्षणोंसे युक्त धर्नुधारी श्रीराघव भी नहीं हैं, किन्तु इन वैष्णव-साधुओंमें से किसी-किसीके द्वारा पूजित गोपालदेवके साथ मेरे प्रभुकी कुछ समानता अवश्य दीखती है॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीरघुनाथस्याकारसादृश्येन स एवायमस्तु; तत्राह—नापीति। राज्ञ इव लक्षणानि श्वेतच्छत्र-चामर-सिंहासनादीनि यस्य सः। ननु श्रीगोपालसादृश्येन

त्वद्देवो जगदीश्वरोऽस्तु; तत्राह—केषाञ्चिदिति सार्द्धद्वयेन। एषां मध्ये केषाञ्चिन्-मुख्यानामित्यर्थः। मद्देवो गोपालेन सदृक् आकारवेशादिना तुल्योऽस्तु। वा-शब्दो वितर्केऽनिर्धारणे वा॥७५॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीरघुनाथके आकारके समान होनेके कारण वे ही तुम्हारे उपास्यदेव होंगे। इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, मेरे उपास्यदेव राजलक्षणयुक्त श्वेतछत्र तथा चामरादि द्वारा विभूषित और सिंहासनारूढ़ धनुर्धारी नहीं हैं। अतएव श्रीराघव भी मेरे उपास्यदेव नहीं हैं। यदि कहो कि श्रीगोपालके आकारके समान होनेके कारण वे जगदीश्वर ही तुम्हारे प्रभु होंगे—इसके लिए ही 'केषाञ्चिद्' इत्यादि आधे श्लोकमें कह रहे हैं कि इन समस्त साधुओंमें से किसी-किसी साधु द्वारा पूजित जो श्रीगोपाल विग्रह हैं, उनके साथ मेरे प्रभुका कुछ सादृश्य दीखता है। यहाँ 'वा' शब्द वितर्क या अनिर्द्धारण सूचक है॥७५॥

मन्येऽथापि मदीयोऽयं न भवेज्जगदीश्वरः।
नास्ति तल्लक्षणं माघ-माहात्म्यादौ श्रुतं हि यत्॥७६॥

श्लोकानुवाद—तथापि मेरे उपास्यदेव जगदीश्वर जैसे प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि मैंने माघ-माहात्म्यादिमें जगदीश्वरके जो लक्षण श्रवण किये हैं, मेरे प्रभुमें वे लक्षण नहीं हैं॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्ययं मदीयो मदुपास्यदेवो जगदीश्वरो न भवेत्, न सम्भवेत्। हि यस्मात्तस्य जगदीश्वरस्य लक्षणं यन्माघमाहात्म्यादौ श्रुतम्, तन्मद्देवे नास्तीत्यर्थः। तथा च पद्मपुराणोत्तरखण्डे माघमाहात्म्ये देवद्युत्युपाख्याने—*'तं दृष्ट्वा गरुड़ारूढं प्रत्यग्रजलदच्छविम्। चतुर्बाहुं विशालाक्षं सर्वालंकारभूषितम्॥'* इति। तथा *'ब्रह्मादयः सुराः सर्वे योगिनः सनकादयः। त्वां साक्षात्कर्तुमिच्छन्ति सिद्धाश्च कपिलादयः॥'* इत्यादि। आदिशब्देन स्कन्दपुराणाद्युक्तं तादृशमेव प्रयागादिमाहात्म्यं ग्राह्यम्॥७६॥

भावानुवाद—तथापि मेरे उपास्यदेव जगदीश्वर जैसे प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि मैंने माघ-माहात्म्यादिमें जगदीश्वरके जो लक्षण श्रवण किये हैं, वे लक्षण मेरे प्रभुमें नहीं हैं। पद्मपुराणमें माघ-माहात्म्यके प्रसंगमें लिखा है—"वे जगदीश्वर गरुड़की स्कन्ध पर आरूढ़,

वर्षणकारी मेघकी भाँति श्यामकान्तियुक्त, चतुर्भुज हैं तथा उनके नेत्र विशाल हैं और समस्त अङ्ग नाना-प्रकारके अलङ्कारोंसे विभूषित हैं।" मैंने और भी सुना है यथा—"ब्रह्मादि देवता, सनकादि योगी, कपिलादि सिद्धजन उन प्रभुके दर्शनोंकी इच्छा करते हैं।" मूल श्लोकमें 'आदि' शब्दके द्वारा स्कन्दपुराणमें उसी प्रकारसे उक्त प्रयागादिका माहात्म्य भी ग्रहणीय है॥७६॥

गोपार्भवर्गैः सखिभिर्वने स गा,
वंशीमुखो रक्षति वन्यभूषणः।
गोपाङ्गनावर्गविलास-लम्पटो,
धर्मं सतां लंघयतीतरो यथा॥७७॥

श्लोकानुवाद—मेरे उपास्यदेव वनके पुष्पादि द्वारा विभूषित होकर वंशीवादन करते-करते गोपबालकोंके साथ वन-वनमें गोचरण करते हैं। वे अत्यधिक विलास-लम्पट होनेके कारण गोपाङ्गनाओंके साथ सदा विहार करते रहते हैं तथा वे साधारण लोगोंकी भाँति धर्मादिका भी उल्लंघन किया करते हैं॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाभिव्यञ्जयन् तद्विपरीतं निजध्यानादावनुभूयमानमात्मोपास्य-लक्षणमाह—गोपेति। स मदुपास्यः सखिभिः सह वने गा रक्षति। वंशी मुखे यस्य सः, सतत वंशीवादनरतत्वात्। वन्यानि बर्हापीड़गुञ्जावतंस-कदम्बमाला-गैरिक-तिलकादीनि भूषणानि यस्य सः। सतां धर्मः परदारपरिहारादिकम्, यथेतरः प्राकृत एव; एवं गोपबालकगणसख्यादिनास्य जगदीशता न सङ्गच्छते नाम। भवतु वा सतामेषामुपास्यस्य गोपालस्य वंशीमुखत्वादिसाम्येन जगदीशतासम्भावना, तथापि वनमध्ये गोचारणादिना विशेषतो धर्मातिक्रमेण कदापि न जगदीशता घटेतेति भावः॥७७॥

भावानुवाद—जगदीश्वरके सम्बन्धमें अपने विचारोंको व्यक्तकर अब यहाँ उपरोक्त लक्षणोंसे विपरीत, अपने ध्यानादि द्वारा अनुभव किये गये, अपने उपास्यदेवके लक्षणोंको 'गोप' इत्यादि श्लोकके द्वारा वर्णन कर रहे हैं। मेरे वे उपास्यदेव अपने सखा गोपालबालकोंके साथ वन-वनमें गोचारण करते हुए भ्रमण करते रहते हैं। उनके मुख पर वंशी विराजमान रहती है तथा वे सदा वंशीवादनमें रत रहते हैं। वे

सिर पर मयूरपुच्छका चूड़ा धारण करते हैं, गुञ्जावतंस, कदम्बमाला तथा गैरिक धातुके तिलकादि द्वारा विभूषित रहते हैं। परस्त्रीका परित्यागादि साधुओंका धर्म है, किन्तु वे साधारण लोगोंकी भाँति धर्मका उल्लंघन किया करते हैं। गोपालबालकोंके साथ उनका सख्यादि जो लक्षण हैं, उसके द्वारा मेरे प्रभुकी जगदीश्वरता सङ्गत नहीं होती है। यद्यपि यहाँ साधुओंके उपास्य इन गोपालदेवके वंशीमुखादिके साथ समानता द्वारा मेरे प्रभुकी जगदीश्वरता सम्भव हो सकती है, किन्तु गोचारणादि विशेषतः धर्म-उल्लंघन द्वारा कभी भी उनकी जगदीश्वरता सम्भव नहीं होती है॥७७॥

देव्याः प्रभावादानन्दमस्याप्याराधने लभे।
तन्न जह्यां कदाप्येनमेतन्मन्त्रजपं न च॥७८॥

श्लोकानुवाद—मेरे प्रभुमें जगदीश्वरताका लक्षण प्रकाश न होने पर भी देवीके प्रभावसे ही मैं उनकी आराधनामें आनन्द प्राप्त करता हूँ। अतएव मैं अपने उपास्यदेवको और उनके मन्त्रजपको कभी भी परित्याग नहीं करूँगा॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु हृदये तादृशानन्दलाभोऽन्योपासनेन न किल घटते? तत्राह—देव्या इति। अस्यापि प्रकटजगदीश्वरता लक्षणहीनस्यापि स चानन्दलाभो देवीप्रभावज एवेति भावः। तर्ह्येतं हित्वान्य उपास्यताम्? तत्राह—तदिति। तस्माद्देव्यादेशादरादानन्दलाभाद्वा॥७८॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि हृदयमें उस प्रकारका आनन्द क्या अन्य उपासना द्वारा संघटित नहीं होगा? इसके उत्तरमें 'देव्या' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—मेरे प्रभुमें जगदीश्वरताका लक्षण न रहने पर भी देवीके प्रभावसे ही मैं उनकी आराधनामें आनन्द प्राप्त करता हूँ। यदि कोई तर्क करे कि जब तुम्हारे प्रभुमें जगदीश्वरताका लक्षण नहीं है, तब तुम उनकी उपासना त्याग कर अन्यकी उपासना करो। इसके लिए 'तत्' इत्यादि कह रहे हैं। यहाँ 'तत्' शब्दका अर्थ है—देवीके आदेशका आदर करनेके कारण अथवा आनन्द प्राप्त होनेके कारण मैं कभी भी अपने उपास्य देवका और उनके मन्त्रजपका त्याग नहीं कर सकता॥७८॥

एवं स पूर्ववन्मन्त्रं तं जपन्निर्जने निजम्।
देवं साक्षादिवेक्षेत सतां सङ्गप्रभावतः॥७९॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार निश्चय करके ब्राह्मण पहलेकी भाँति निर्जनमें बैठकर अपने मन्त्रका जप करने लगा। साधुसङ्गके प्रभावसे शुद्धचित्तसे मन्त्रजप करते-करते वह अपने मन्त्रदेवताका प्रत्यक्षकी भाँति दर्शन करने लगा॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं विमर्षेण स विप्रः, तं सुप्रसिद्धं मन्त्रगणातिश्रेष्ठं श्रीमदनगोपालदेवताकं दशाक्षरं मन्त्रम्। यद्वा, तमनिर्वचनीयमशेषोपास्य-शिरोमणिं देवं श्रीनन्दकिशोरं चित्तशुद्ध्या संध्यानाभिनिवेशात् साक्षादिवैक्षेत। सम्भावनायां सप्तमी। ननु श्रद्धादिराहित्येन कथमेतत् सिध्येत्तत्राह—सतामिति॥७९॥

भावानुवाद—इस प्रकार निश्चय करके उस विप्रने मन्त्रोंमें अतिश्रेष्ठ श्रीमदनगोपालदेवके सुप्रसिद्ध दशाक्षर मन्त्रका त्याग नहीं किया। अथवा उन अनिर्वचनीय असीम उपास्य-शिरोमणिदेव श्रीनन्दकिशोरके पूर्ण ध्यानमें निमग्न रहनेके कारण चित्तशुद्धि होने पर वह अपने उपास्यदेवका प्रत्यक्षकी भाँति दर्शन करने लगा। यदि प्रश्न हो कि श्रद्धा-रहित मन्त्रजपके द्वारा यह किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं 'सताम्' आदि—साधुसङ्गके प्रभावसे ही ऐसा सम्भव हुआ॥७९॥

वस्तुस्वभावादानन्द-मूर्च्छामाप्नोति कर्हिचित्।
व्युत्थाय जपकालापगममालक्ष्य शोचति॥८०॥

श्लोकानुवाद—वस्तुके स्वभावसे (मन्त्रजपके प्रभावसे) वह विप्र कभी-कभी आनन्द-मूर्च्छाको प्राप्त होने लगा और कुछ समय बीत जाने पर जब मूर्च्छा भङ्ग होती तो जपकाल व्यतीत हो जानेके कारण वह शोक प्रकाश करने लगता॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च कर्हिचित् कस्मिन्नप्यवसरे आनन्देन मूर्च्छां सर्वेन्द्रिय-बहिर्वृत्तिनिवृत्तिरूपां सत्समाधाविव कामपि दशां प्राप्नोति। वस्तुस्वभावादिति सर्वानन्दक-तद्दर्शनस्वभावादेव, न तु तत्तत्त्वालोचनादिनेत्यर्थः। व्यूत्थाय बहिःसंज्ञां लब्ध्वा; जपकालस्य नियमितजपसमयस्य दिवाभागस्य वा; अपगममत्ययम्, आलक्ष्य सन्ध्यान्धकारादिलक्षणेन ज्ञात्वा॥८०॥

भावानुवाद—तदनन्तर कभी-कभी वह ब्राह्मण आनन्दमूर्च्छा अर्थात् समस्त इन्द्रियोंकी बाह्यवृत्ति निवृत्तिरूप सत्समाधि जैसी दशाको प्राप्त होता। वस्तुके (मन्त्रके) स्वभावसे ही समस्त प्रकारके आनन्दको प्रदान करनेवाला अपने इष्टदेवका दर्शन सम्पन्न होता, किन्तु तत्त्वादि आलोचना द्वारा ऐसा होना सम्भव नहीं है। कुछ समय तक मूर्च्छित दशामें रहनेके पश्चात् सचेत होने पर जपका नियमित समय बीत जाता अर्थात् सन्ध्यामें अन्धकार देखकर जब वह अनुभव करता कि उसका जपकाल बीत चुका है, तब दुःख प्रकट करने लगता॥८०॥

उपद्रवोऽयं को मेऽनु जातो विघ्नो महान् किल।
न समाप्तो जपो मेऽद्यतनो रात्रीयमागता॥८१॥

श्लोकानुवाद—मेरे जपकालमें यह उपद्रव क्यों उदित हुआ? यह निश्चय ही महाविघ्न है, क्योंकि रात हो गयी और अभी तक मेरा जप समाप्त नहीं हुआ है॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—शोचनमेवाह—उपेति। उपद्रवो दुःखहेतुरुत्पातः; न चैतदुपद्रवमात्रं, किन्तु महान् विघ्न एव। तत्र हेतुर्नेति। अद्यतनः अद्यकर्त्तव्य इत्यर्थः॥८१॥

भावानुवाद—'उपद्रव' इत्यादि श्लोकके द्वारा उस विप्रके शोकका कारण वर्णन कर रहे हैं। 'उपद्रव' शब्दका अर्थ है—दुःखका कारण—उत्पात। यह केवल उपद्रव ही नहीं बल्कि महाविघ्न है। 'महाविघ्न' कहनेका कारण 'न समाप्तो' आदि वाक्यके द्वारा प्रकाश कर रहे हैं अर्थात् आजका मेरा कृत्य जप पूर्ण नहीं हुआ॥८१॥

किं निद्राभिभवोऽयं मे किं भूताभिभवोऽथवा।
अहो मद्दुःस्वभावो यच्छोकस्थानेऽपि हृत्सुखम्॥८२॥

श्लोकानुवाद—क्या यह विघ्न मेरी अधिक निद्राके कारण है अथवा किसी भूतके आवेशके कारण है? अहो! मेरा यह कैसा दुःस्वभाव है कि इस प्रकार शोक करनेकी अवस्थामें भी मेरे हृदयमें सुख उत्पन्न हो रहा है॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—'कुतोऽयं विघ्नः प्राप्तः?' इति स्वयमेव विचारयति—किमिति। निद्रया अभिभवः सुषुप्ताविव सर्वेन्द्रियादिवृत्तीनामतिक्रमणम्, तन्द्राद्यभावमालोच्य

पक्षान्तरमुद्भावयति—किम्भूतेन केनाप्यभिभव इति। अहो खेदे; यद्यस्माद्दुःस्वभावात् शोकस्य जपासमाप्त्या दुःखेन शोचनस्य स्थाने विषयेऽपि मम हृदि सुखं भवतीति॥८२॥

भावानुवाद—हाय, हाय! यह विघ्न क्यों उपस्थित हुआ? 'किम्' इत्यादि श्लोक द्वारा कहा जा रहा है कि वह स्वयं ही विचार करने लगा—क्या यह निद्राकी प्रबलता है? सुषुप्त अवस्थामें जिस प्रकार समस्त इन्द्रियोंकी वृत्ति स्थगित हो जाती है, शायद उसी प्रकारकी स्थिति है? अथवा किसीने जादू-टोना या तन्त्र-मन्त्रके द्वारा ऐसा विघ्न उत्पन्न किया है, अथवा क्या किसी भूतके आवेश द्वारा ऐसा हो रहा है? खेदका विषय है! दुःस्वभाववशतः जप समाप्त न होने पर भी शोकके स्थान पर मेरे हृदयमें सुख उत्पन्न हो रहा है॥८२॥

एकदा तु तथैवासौ शोचन्नकृतभोजनः।
निद्राणो माधवेनेदं समादिष्टः ससान्त्वनम्॥८३॥

श्लोकानुवाद—एकदिन इसी प्रकार शोक करते-करते वह विप्र भोजन किये बिना ही सो गया। तब भगवान् श्रीमाधवने स्वप्नमें आकर सान्त्वना देते हुए उसे इस प्रकार आदेश दिया॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथैवानन्दमूर्च्छातो जपासमाप्त्या पूर्ववदेव शोचन्, असौ विप्रः, शोकेनैव न कृतं भोजनं येन सः, अतएव निद्राणः सन्; इदं वक्ष्यमाणं सान्त्वनमाश्वासनं—'किमिति वृथा शोचसि? कथं वोपस्यात्मानं माञ्च क्लेशयसि? तवाशेषमनोरथोऽचिरात् सिद्धिं गतः।' इति प्रतीहीत्यादिरूपम्; यद्वा, वक्ष्यमाणमेव मधुरवाक्यं, तेन सहितं यथा स्यात्॥८३॥

भावानुवाद—आनन्दमूर्च्छावशतः मन्त्रजप समाप्त न होनेके कारण शोक द्वारा सन्तप्त वह विप्र उसी अवस्थामें भोजन किये बिना ही सो गया। तब उसके स्वप्नमें भगवान् श्रीमाधव आये और सान्त्वना देते हुए बोले—"किसलिए वृथा शोक कर रहे हो तथा क्यों अपने आपको और मुझे (उपास्यको) क्लेश दे रहे हो? तुम शोक मत करो, तुम्हारा असीम मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा, तुम दृढ़ विश्वास रखो।" इस प्रकारके हित वचनों अथवा मधुर वचनों द्वारा कहने लगे— ॥८३॥

विप्र विश्वेश्वरस्यानुस्मर वाक्यमुमापतेः।
यमुनातीरमार्गेण तच्छ्रीवृन्दावनं व्रज॥८४॥

श्लोकानुवाद—हे विप्र! तुम उमापति विश्वेश्वरके वचनोंका स्मरण करो और यमुनाके किनारे-किनारे होते हुए वृन्दावन चले जाओ॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उमायास्तदाराधिताया मन्त्रोपदेष्ट्र्यास्तस्या देव्याः पत्युरिति, तद्वचनलंघनमयुक्तमिति भावः। तद्वाक्यमेव स्मारयन् स्वयमादिशति—यमुनेति सार्द्धेन। तच्छ्रीविश्वेश्वरोद्दिष्टमनिर्वचनीयं वा॥८४॥

भावानुवाद—उमा तुम्हारी आराध्य तथा मन्त्र उपदेश करनेवाली देवी हैं, उन देवीके पति अर्थात् उमापति श्रीविश्वेश्वरके वाक्योंका उल्लंघन करना तुम्हारे लिए अनुचित है। उनके वचनोंका स्मरण करो। उन्होंने स्वयं ही तुम्हें आदेश दिया था—'वृन्दावन चले जाओ।' भगवान् श्रीमाधव श्रीविश्वेश्वरके इन वाक्योंका स्मरण कराते हुए स्वयं ही आदेश दे रहे हैं। यहाँ 'तत्' शब्दका अर्थ है—श्रीविश्वेश्वरके अनिर्वचनीय आदेशपूर्ण वचनसमूह॥८४॥

तत्रासाधारणं हर्ष लप्स्यसे मत्प्रसादतः।
विलम्बं पथि कुत्रापि मा कुरुष्व कथञ्चन॥८५॥

श्लोकानुवाद—वहाँ (वृन्दावनमें) तुम्हें मेरी कृपासे असाधारण आनन्दकी प्राप्ति होगी। तुम मार्गमें कहीं भी किसी प्रकारका विलम्ब मत करना॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—असाधारणं निरुपमं चतुर्वर्गफलसिद्धितोऽपि विशिष्टमित्यर्थः। पथि ज्ञानमार्गादौ; इतो वृन्दावनवर्त्ममध्ये वा, ममैव प्रसादत इति तत्राप्यहमेव प्रसादकर्त्ता, नान्यः कोऽपि; तथापि स्थानविशेषे कालविशेषे सङ्गविशेषादावेव मत्प्रसादविशेषो भवेदेवेति भावः॥८५॥

भावानुवाद—असाधारण अर्थात् अतुलनीय, चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी प्राप्तिसे भी श्रेष्ठ आनन्द उस वृन्दावनमें प्राप्त होगा। वृन्दावन जानेके मार्गमें कहीं भी किसी प्रकारका अर्थात् ज्ञानमार्गादिमें जाकर विलम्ब मत करना। मेरी कृपासे ही तुम वहाँ अपार आनन्दको प्राप्त करोगे। यद्यपि यहाँ अर्थात् काशी-प्रयागमें मैंने ही अपनी कृपासे

तुम्हें आनन्द प्रदान कराया और वहाँ अर्थात् वृन्दावनमें भी तुम मेरी ही कृपासे आनन्द प्राप्त करोगे, तथापि वृन्दावनके आनन्दको असाधारण कहनेका अभिप्राय है कि किसी विशेष स्थान, विशेष काल और विशेष सङ्ग आदिके प्रभावसे मेरी विशेष कृपा प्राप्त होती है॥८५॥

ततः स प्रातरुत्थाय हृष्टः सन् प्रस्थितः क्रमात्।
श्रीमन्मधुपुरीं प्राप्तः स्नातो विश्रान्तितीर्थके॥८६॥

श्लोकानुवाद—तब वह ब्राह्मण प्रातःकाल शय्या त्याग कर प्रसन्नचित्तसे वृन्दावनकी ओर चल पड़ा तथा चलते-चलते क्रमशः श्रीमधुपुरी आ पहुँचा। वहाँ उसने विश्राम-घाट पर स्नान किया॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माच्छ्रीमाधवादेशात्, स विप्रः, क्रमात् वर्त्मगमन-क्रमतः॥८६॥

भवानुवाद—श्रीमाधवके आदेशसे वह विप्र समस्त पथ अतिक्रमण करते-करते श्रीमथुराधाम आ पहुँचा॥८६॥

गतो वृन्दावनं तत्र ध्यायमानं निजे जपे।
तं तं परिकरं प्रायो वीक्ष्याभीक्ष्णं ननन्द सः॥८७॥

श्लोकानुवाद—फिर वह वृन्दावन गया और वहाँ गो-गोपादि समस्त व्रज-परिकरोंका जिनका वह मन्त्रजपके समय ध्यान करता था, प्रायः दर्शन करने लगा। उनके दर्शनसे उस विप्रको सर्वदा अपार आनन्द अनुभव होने लगा॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं तं परमानिर्वचनीयं सुप्रसिद्धं परिकरं परमसुन्दर-गो-गोपगण-कदम्बवृक्षादिकं निजदेव-परिवार-परिच्छदम्॥८७॥

भावानुवाद—उन-उन परम अनिर्वचनीय सुप्रसिद्ध परिकरों अर्थात् परम सुन्दर गो-गोप, कदम्ब वृक्षादि और अपने मन्त्रके इष्टदेवका परिकरों सहित प्रायः ही दर्शन करने लगा॥८७॥

तस्मिन् गोभूषितेऽपश्यन् कमपीतस्ततो भ्रमन्।
केशीतीर्थस्य पूर्वस्यां दिशि शुश्राव रोदनम्॥८८॥

श्लोकानुवाद—उस गो-भूषित निर्जन वृन्दावनमें जन-समुदाय न देखकर वह इधर-उधर भ्रमण करने लगा। उस समय केशीतीर्थकी पूर्व-दिशामें उसको किसीके रोनेकी आवाज सुनायी दी॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मिन् श्रीवृन्दावने कमपि मनुष्यमपश्यन्; गोभूषित इति प्रायो मनुष्यादर्शनकारणमुक्तम्। केशिदैत्यवधस्थानमेव केशीसंज्ञं तीर्थम्, तस्य। तथा च वाराहे श्रीमथुरामाहात्म्ये—*'गङ्गा शतगुणा प्रोक्ता यत्र केशी निपातितः। केश्याः शतगुणाः प्रोक्ता यत्र विश्रमितो हरिः॥'* इति॥८८॥

भावानुवाद—उस वृन्दावनमें किसी भी मनुष्यको न देखकर वह इधर-उधर भ्रमण करने लगा। 'गोभूषित' पदका अर्थ है कि किसी भी मनुष्यका दर्शन न कर प्रायः गायोंका ही दर्शन करना। केशीतीर्थ—यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने केशी नामक दैत्यका वध किया था, इसलिए इस स्थानका नाम केशीतीर्थ है। इसका प्रमाण वराहपुराणके मथुरा-माहात्म्य प्रसंगमें पाया जाता है—"जिस स्थान पर केशी नामक दैत्यका वध हुआ था, वह स्थान गङ्गासे भी सौ गुणा अधिक फलप्रद है और जहाँ श्रीहरिने विश्राम किया था, वह स्थान केशीतीर्थसे भी सौगुणा अधिक फलप्रद है"॥८८॥

तद्दिग्भागं गतः प्रेम्णा नामसंकीर्त्तनैर्युतम्।
तदाकर्ण्य मुहुस्तत्र तं मनुष्यममार्गयत्॥८९॥

श्लोकानुवाद—उस क्रन्दनकी ध्वनिको सुनकर वह उस दिशाकी ओर गया तथा उसने अनुभव किया कि कोई प्रेमसहित नामसंकीर्त्तन करते हुए रो रहा है। तब वह रोदनकारी मनुष्यको पुनः-पुनः इधर-उधर ढूँढ़ने लगा॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्वं रोदनध्वनिमात्रं दूरादश्रृणोत्; अधुना तस्य रोदनस्य दिग्भागं गतः सन् समीपगमनेन तद्रोदनं प्रेम्णा परमानुरागेण चित्तार्द्रतया यानि भगवन्नाम्नां संकीर्त्तनानि दीर्घकरुणस्वरेण गानरूपोच्चारणानि तैर्युतमाकर्ण्य, तं तादृशरोदनकर्त्तारं मुहुरमार्गयत् अन्विष्टवान्॥८९॥

भावानुवाद—पहले उसने केवल दूरसे ही रोनेकी ध्वनि सुनी थी, अब वह उस रोनेकी ध्वनिको लक्ष्यकर उस दिशाकी ओर आगे बढ़ा और निकट जाने पर उसने अनुभव किया कि कोई अत्यधिक

अनुरागके साथ द्रवित हृदयसे श्रीभगवान्‌का नामसंकीर्त्तन करता हुआ विलाप कर रहा है। अर्थात् दीर्घ करुणस्वरसे गानकी तरह उच्चारणयुक्त नामसंकीर्त्तन कर रो रहा है। तब वह उस संकीर्त्तनकारी मनुष्यको पुनः-पुनः इधर-उधर ढूँढ़ने लगा॥८९॥

घनान्धकारारण्यान्तः सोऽपश्यन् कञ्चिदुन्मुखः।
निर्द्धार्य तद्ध्वनिस्थानं यमुनातीरमव्रजत्॥९०॥

श्लोकानुवाद—जब उसने घोर अन्धकारयुक्त वनमें किसीको नहीं देखा, तब उसने रोनेकी ध्वनिका स्थान निर्धारण किया तथा उस स्थानकी ओर गमन करते-करते श्रीयमुनाके तट पर जा पहुँचा॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—घनं निविड़तममतएवान्धकारयुक्तं सदान्धकाराचितत्वादन्धकारसंज्ञं वा; यद्वा, निश्छिद्रतया रविरश्मिप्रवेशाभावाद् घनोऽन्धकारो यस्मिन्नरण्ये तस्यान्तर्मध्ये। कञ्चिज्जनमपश्यन्; कुतोऽयं शब्दः समायातीति तच्छ्रवणायोन्मुखः सन् तस्य संकीर्त्तनध्वनेः स्थानमास्पदं निर्धार्य इदंतया निश्चित्य तच्च यमुनातीरमिति निर्धार्य तत्र जगामेत्यर्थः॥९०॥

भावानुवाद—घन अर्थात् घोर अन्धकारयुक्त उस वनमें अथवा अन्धकार नामक वनमें अथवा वृक्षोंके अत्यन्त सघन होनेसे उस वनमें छिद्रोंके अभाववशतः सूर्यकी किरणें प्रवेश नहीं कर पाती थी। अतः घोर अन्धकार युक्त उस वनमें किसी मनुष्यको न देख पानेके कारण, कहाँसे रोनेकी ध्वनि आ रही है—यह जाननेके लिए वह विप्र उत्सुक हुआ, किन्तु इधर-उधर ढूढ़ने पर भी उस स्थानको स्थिर नहीं कर पाया। इसलिए सर्वप्रथम उसने उस संकीर्त्तन ध्वनिका स्थान निर्धारण किया, फिर उस स्थानको लक्ष्यकर यमुनाके तट पर आ पहुँचा॥९०॥

तत्र नीपनिकुञ्जान्तर्गोपवेशपरिच्छदम्।
किशोरं सुकुमाराङ्गं सुन्दरं तमुदैक्षत॥९१॥

श्लोकानुवाद—उस ब्राह्मणने यमुनाके तट पर कदम्बके कुञ्जमें अति सुकुमार अङ्गोंवाले, गोपवेश-भूषा धारण किये हुए एक सुन्दर किशोरमूर्त्ति गोपकुमारका दर्शन किया॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र यमुनातीरे तं तथा संकीर्त्तनपरमुदैक्षत विप्र ईषदपश्यत्। कीदृशम्? गोपस्यैव वेशः शिखण्डापीड़ादिभूषणं परिच्छदश्च वेणुशृङ्ग–वेत्रादिर्यस्य तम्, सुन्दरमित्यनेन सर्वावयवसौष्ठवादिकं गृहीतम्॥९१॥

भावानुवाद—उस विप्रने यमुनाके तट पर उपस्थित होकर वहाँ उस संकीर्त्तनकारीको देखा। वह संकीर्त्तनकारी किस प्रकारका था? उसका वेश गोपबालककी भाँति था, अर्थात् मयूरपुच्छ, वेणु, शृङ्ग और वेत्रादि युक्त वह एक सुन्दर अङ्गवाला किशोरमूर्त्ति गोपकुमार था॥९१॥

निजेष्टदेवता–भ्रान्त्या गोपालेति महामुदा।
समाह्वयन् प्रणामाय पपात भुवि दण्डवत्॥९२॥

श्लोकानुवाद—उस समय वह विप्र उस गोपकुमारको देखकर अपने इष्टदेवके भ्रममें परमानन्दसे 'हे गोपाल, हे गोपाल' कहकर उसे उच्च स्वरसे पुकारता हुआ प्रणाम करनेके लिए भूमि पर दण्डकी भाँति गिर पड़ा॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च विप्रः प्रणामाय तं गोपकुमारं सम्यगभिवन्दितुं भूवि दण्डवत् पपात। तत्र हेतुः—निजेष्टदेवतायाः श्रीमदनगोपालदेवस्य भ्रान्त्या तत्तद्भूषणादि–सादृश्येन स एवायमिति मत्वेत्यर्थः। किं कुर्वन्? हे गोपालेति समाह्वयन् मधुरमुच्चैः सम्बोधयन्; यद्वा, गोपालेत्यक्षरत्रयं सम्यगाह्वानवद्दीर्घमधुरस्वरेण कीर्त्तयन्॥९२॥

भावानुवाद—तब उस विप्रने गोपकुमारका भलीभाँति अभिनन्दन करनेके लिए भूमि पर दण्डवत् प्रणाम किया। इसका कारण था कि अपने इष्टदेवता श्रीमदनगोपालकी भाँति उसकी वेश–भूषादिको देखकर उसे अपने इष्टदेवकी भ्रान्ति हुई थी। विप्रने किस प्रकार प्रणाम किया? हे गोपाल! हे गोपाल! इस प्रकार मधुरभावसे उच्च स्वरसे सम्बोधन कर अथवा 'गोपाल'—इन तीन अक्षरों द्वारा सम्यक्रूपसे आहवान करनेकी भाँति दीर्घ मधुर–स्वरसे कीर्त्तन करते–करते प्रणाम करनेके लिए भूमि पर गिर पड़ा॥९२॥

ततो जातबहिर्दृष्टिः स सर्वज्ञशिरोमणिः।
ज्ञात्वा तं माथुरं विप्रं कामाख्यादेशवासिनम्॥९३॥

श्रीमन्मदनगोपालोपासकञ्च समागतम्।
निःसृत्य कुञ्जादुत्थाप्य नत्वालिङ्ग्य न्यवेशयत्॥९४॥

श्लोकानुवाद—तब सर्वज्ञ-शिरोमणि उस गोपकुमारने बाह्य-दृष्टिसे जान लिया कि इस ब्राह्मणका जन्म-स्थान मथुरा है, यह कामाख्या देशका निवासी है तथा श्रीमदनगोपालका उपासक है। वह कुञ्जसे बाहर आया और उस ब्राह्मणको उठाकर नमस्कार और आलिङ्गन कर उसको अपने पास बैठा लिया॥९३-९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मादाह्वानादेर्हेतुः—स गोपकुमारस्तं विप्रं ज्ञात्वा मनोविषयीकृत्य तत्र च माथुरं मथुरासम्बन्धि ब्राह्मणकुलविशेषजातं मथुरोद्भवं वा तत्रापि कामाख्यया देव्याधिष्ठितो यो देशः कामरूपाख्यस्तस्मिन् निवासिनं नितरां तद्देवीपूजनादिना कृतवासमतो दूरदेशात्तेन तेन प्रकारेणागतमिति भावः। तत्रापि श्रीमन्मदनगोपालपादपद्मोपासकं ज्ञात्वा, तत्रापि समागतं तेन तेन प्रकारेण सम्यगागतं ज्ञात्वा; यद्वा, श्रीराधादेव्याज्ञया स्वयं यदर्थं तन्निकुञ्जे प्रातरागतस्तं समागतं संप्राप्तं ज्ञात्वा कुञ्जान्निःसृत्य तं नत्वा भूमितलादुत्याप्य पश्चादालिङ्ग्योपवेशयामासेति द्वाभ्यामन्वयः॥९३-९४॥

भावानुवाद—विप्र द्वारा इस प्रकार उच्च स्वरसे पुकारने पर सर्वज्ञ-शिरोमणि उस गोपकुमारकी बाह्य-दृष्टि हो गयी और वह जान गया कि यह विप्र 'माथुरं' अर्थात् मथुरासम्बन्धी ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुआ है अथवा इसने मथुरामें जन्म प्राप्त किया है। कामाख्यादेवीकी प्रतिदिन पूजा करनेके लिए यह विप्र कामाख्यादेवी जहाँ विराजमान हैं, उस कामरूप देशमें वास करता था। अभी उस देवीके आदेशसे ही वहाँसे चलकर यहाँ आया है। विशेषतः उस विप्रको श्रीमदनगोपालदेवका उपासक जानकर अथवा स्वयं श्रीराधादेवीकी आज्ञासे जिस कारण उस निकुञ्जमें प्रातःकाल उपस्थित हुए थे, उसी हेतु गोपकुमार कुञ्जसे बाहर आये और उस विप्रको देखकर नमस्कार किया। फिर उन्होंने उसे भूमिसे उठाकर उसका आलिङ्गन किया तथा उसको अपने पास बैठाया॥९३-९४॥

अथातिथ्येन सन्तोष्य विश्वासोत्पादनाय सः।
किञ्चित्तेनानुभूतं यद्व्यञ्जयामास सस्मितम्॥९५॥

श्लोकानुवाद—सर्वप्रथम गोपकुमारने उस विप्रको यथायोग्य आतिथ्य द्वारा सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करानेके लिए उस ब्राह्मणने जो-जो अनुभव किया था, उनमें से कुछ वृत्तान्त मुस्कराते हुए उसे सुनाये॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—आतिथ्येन स्वागतादिना तद्देशकालाद्युचितेन तेन विप्रेण देव्याराधनमारभ्यात्रागमनपर्यन्तं यदनुभूतमस्ति, तत् किञ्चित् संक्षेपेण स गोपकुमारः व्यञ्जयामास। विप्रस्य हृदिस्थमपि वचनेङ्गितादिना प्रकाशं निन्ये, चातुर्या कथयामासेत्यर्थः। किमर्थम्? वक्ष्यमाणनिजवचनादौ विश्वासस्योत्पादनाय; अन्यथा परमाद्भुतेऽर्थे तत्-प्रतीतेरसम्भवात्॥९५॥

भावानुवाद—गोपकुमारने आतिथ्य द्वारा उस विप्रको सन्तुष्ट किया। 'आतिथ्य'का अर्थ है—देश और कालके अनुसार 'स्वागतादि' वचनों द्वारा सम्भाषण। देवीकी आराधनासे आरम्भकर श्रीवृन्दावन आगमन तक विप्रके साथ जो-जो घटित हुआ था, उसका संक्षिप्त विवरण भी गोपकुमारने उसे कह सुनाया। यद्यपि यह सब उस विप्रकी हृदयस्थित अनुभूति थी, तथापि गोपकुमारने चतुरतापूर्वक उन सब अनुभूतियोंको अपने वचनोंके द्वारा बाहर प्रकाश किया। गोपकुमारने किसलिए ऐसा किया? अपने प्रति विप्रका विश्वास उत्पन्न करानेके लिए गोपकुमारने इन सब बातोंको प्रकाशित किया अन्यथा परमाद्भुत रहस्यपूर्ण विषयमें उस विप्रकी धारणा सम्भव नहीं होती॥९५॥

बुद्ध्वा गोपकुमारं तं लब्ध्वेवात्मप्रियं मुदा।
विश्वस्तोऽकथयत्तस्मिन् स्ववृत्तं ब्राह्मणोऽखिलम्॥९६॥

श्लोकानुवाद—ब्राह्मणने उस गोपकुमारको अपना सुहृद जानकर अत्यधिक आनन्द अनुभव किया और विश्वासपूर्वक अपना समस्त वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपकुमारमिति, सर्वसद्गुणरूपसम्पन्नो गोपकुमारः कश्चिदयम्, न तु मदुपास्यदेव इति बुद्ध्वेत्यर्थः। आत्मप्रियं निजसुहृत्तममिव॥९६॥

भावानुवाद—उस विप्रने गोपकुमारको समस्त सद्गुणोंसे युक्त और रूपवान देखकर सोचा कि यह अन्य कोई गोपकुमार होंगे, किन्तु मेरे

उपास्यदेव नहीं—अतः ऐसा विवेचन कर उसने गोपकुमारको अपने सुहृदकी भाँति जाना॥९६॥

सकार्पण्यमिदञ्चासौ प्रश्रितः पुनरब्रवीत्।
तं सर्वज्ञवरं मत्वा सत्तमं गोपनन्दनम्॥९७॥

श्लोकानुवाद—फिर वह विप्र गोपकुमारको साधु-श्रेष्ठ सर्वज्ञवर जानकर विनय तथा दीनतापूर्वक इस प्रकार कहने लगा—॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कार्पण्यं दैन्यं तेन सहितं यथा स्यात्। इदं वक्ष्यमाणं श्रुत्वेत्यादि श्लोकपञ्चकम्। असौ ब्राह्मणः प्रश्रितो विनययुक्तः सन्; तत्र हेतुमाह—तमिति॥९७॥

भावानुवाद—उस विप्रने दैन्य और विनयपूर्वक 'श्रुत्वा' इत्यादि पाँच श्लोकोंके द्वारा गोपकुमारके समक्ष अपना विवरण कहा। क्यों? इसका कारण था कि उसने विचारकर गोपकुमारको सर्वज्ञवर और साधु-श्रेष्ठ जाना॥९७॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

श्रुत्वा बहुविधं साध्यं साधनञ्च ततस्ततः।
प्राप्यं कृत्यञ्च निर्णेतुं न किञ्चिच्छक्यते मया॥९८॥

श्लोकानुवाद—ब्राह्मणने कहा—मैं गङ्गातीर और काशी आदि स्थानों पर बहुत प्रकारके साध्य-साधनके सम्बन्धमें श्रवणकर भी अभी तक यह निश्चय नहीं कर पाया कि मेरा साध्य क्या है और उसका साधन क्या है॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—साध्यं फलं स्वर्गमोक्षादिरूपेण बहुविधं साधनञ्च तत्तत्प्राप्तिहेतुं कर्मज्ञानादिरूपेण बहुविधम्। ततस्ततो गङ्गातीरकाश्यादौ श्रुत्वा। तत्साधनसाध्यमध्ये किञ्चित् प्राप्यं सर्वसाधनेन लभ्यं फलं, कृत्यञ्च तदर्थमवश्यकर्त्तव्यं साधनं निर्णेतुमिदन्तया निश्चेतुं न शक्यते, तत्तद्बहुलवाद-श्रवणेनानैकान्त्यात्॥९८॥

भावानुवाद—उस विप्रने कहा कि स्वर्ग और मोक्षादिरूप अनेक प्रकारके साध्यफल तथा उनको प्राप्त करनेके हेतु—कर्म, ज्ञानादि बहुत प्रकारके साधनोंके सम्बन्धमें गङ्गातट, काशी तथा प्रयागादि स्थानोंमें श्रवण कर मैं शंकासे आकुल हो गया हूँ। इन सब साध्य और

साधनोंमें कौनसा साध्य और कौनसा साधन सर्वश्रेष्ठ है। अर्थात् समस्त प्रकारके साधनों द्वारा प्राप्त होनेवाला जो फल है, उस फलको प्राप्त करनेके लिए अवश्य करणीय साधन कौनसा है—इस सम्बन्धमें मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। इसका कारण है कि उन बहुत प्रकारके वादोंको श्रवणकर मेरा चित्त विभ्रान्त हो गया है॥९८॥

यच्च देव्याज्ञया किञ्चिदनुतिष्ठामि नित्यशः।
तस्यापि किं फलं तच्च कतमत् कर्म वेद्मि न॥९९॥

श्लोकानुवाद—मैं उस देवीके आदेशसे प्रतिदिन जो अनुष्ठान कर रहा हूँ, वह क्या है और उसके करनेसे क्या फल होगा—मैं यह भी नहीं जानता हूँ॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि कथं मन्त्रं जपसि? तत्राह—यच्चेति। किञ्चिदिति—गृहि-यतिकर्मणां विस्तारापेक्षया मन्त्रानुष्ठानस्य संक्षेपात्। देव्यादेशादरादेव जपामि, न तु तत्तत्त्वज्ञानादित्यर्थः। तच्च कर्मप्रयोजनं कतमत्? धर्मो ज्ञानं भक्तिर्वेति, न वेद्मि अतः श्रद्धाद्यभावात् क्रियमाणमपि तदक्रियमाणमेव मम भातीति भावः॥९९॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि तब तुम मन्त्रजप किसलिए करते हो? इसके उत्तरमें 'यच्च' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—गृहस्थ, यतियों और कर्मियोंके विस्तारपूर्वक अनुष्ठानोंकी तुलनामें मन्त्रजप अनुष्ठान संक्षेप और सहज साध्य है। विशेषतः देवीके आदेशके प्रति आदर होनेके कारण यह मन्त्रजप करता हूँ, किन्तु मैं उस मन्त्रजपके तत्त्वज्ञानसे रहित हूँ। उस जपरूप कर्मका क्या प्रयोजन है? अर्थात् धर्म, ज्ञान, भक्ति आदिमें से मेरे लिए क्या प्रयोजन है—मैं यह भी नहीं जानता। अतएव श्रद्धाके अभावमें मेरे द्वारा किये जानेवाला जपकर्म भी मुझे इसके न किये जानेकी भाँति ही प्रतीत हो रहा है॥९९॥

तेनेदं विफलं जन्म मन्वानः कामये मृतिम्।
परं जीवामि कृपया शिवयोर्माधवस्य च॥१००॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैं अपने इस जन्मको निष्फल मानते हुए मरनेकी इच्छा करता हूँ, परन्तु केवल श्रीविश्वनाथ और भगवान् श्रीमाधवकी कृपासे जीवन धारण कर रहा हूँ॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन साध्य-साधननिर्णयाभावात् तत्तद्राहित्येन; नन्वेवं निर्वेददुःखेन कथं प्राणान् धारयसि तत्राह—परमिति। शिवयोः शिवायाः कामाख्याया देव्याः, शिवस्य श्रीविश्वेश्वरस्य; तत्तत्कृत-तत्तदुपदेशाश्वासनबलेनैव न म्रिय इत्यर्थः॥१००॥

भावानुवाद—यदि कहो कि साध्य-साधनके निर्णयके अभावमें अर्थात् उससे रहित होकर निर्वेद और दुःख सहित किस प्रकार प्राण धारण कर रहे हो? इसके उत्तरमें 'परं' इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं कि श्रीविश्वेश्वर और कामाख्यादेवीकी कृपासे तथा उनके उपदेशके अनुसार अर्थात् उनकी आश्वासन-वाणीसे ही प्राण धारण कर रहा हूँ॥१००॥

तयैवात्राद्य सर्वज्ञं दयालुं त्वां स्वदेववत्।
प्राप्य हृष्टः प्रसन्नोऽस्मि कृपणं मां समुद्धर॥१०१॥

श्लोकानुवाद—उन्हींकी कृपासे आज मैं अपने इष्टदेवके समान आपको पाकर परम आनन्दित हुआ हूँ। आप सर्वज्ञ और दयालु हैं तथा मैं अति दीन-हीन हूँ, अतः कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां कृपालक्षणञ्चाद्यानुभूतमित्याह—तयेति। तेषां कृपयैव स्वदेववत् मदुपास्य-श्रीमदनगोपालदेवमिव कृपणमार्तं मां समुद्धरेति। तत्तत्-संशयसागरादुत्तार्य परमार्थोपदेशेन संसारार्णवात् सुखेनोद्धरेत्यर्थः॥१०१॥

भावानुवाद—परन्तु उनकी कृपाका लक्षण अब मुझे अनुभव हो रहा है—'तया' इत्यादि श्लोकके द्वारा यही प्रकाश कर रहे हैं। उनकी कृपासे ही मुझे अपने उपास्य श्रीमदनगोपालदेवके सदृश रूप, वेश-भूषावाले आप प्राप्त हुए हैं। आप सर्वज्ञ और दयालु हैं तथा मैं अति दीन-हीन हूँ। इस संशयरूपी सागरसे उद्धार पानेके लिए मुझे परमार्थका उपदेश करें॥१०१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

निशम्य सादरं तस्य वचनं स व्यचिन्तयत्।
एतस्य कृतकृत्यस्य जाता पूर्णार्थता किल॥१०२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे मातः! गोपकुमार उस ब्राह्मणके वाक्योंको आदर सहित सुनकर मन-ही-मन यह विचार करने लगा कि यह ब्राह्मण कृतार्थ हो चुका है तथा इसका मनोरथ भी पूर्ण हो गया है॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदरो बहुमानः प्रीतिर्वा, तेन सहितं यथा स्यात्तथा निशम्य; स गोपकुमारः। चिन्तनमेवाह—एतस्येत्यादिना हितं भवेदित्यन्तेन। एतस्य श्रीमदनगोपालदेवोपासकस्य माथुरविप्रस्य जातैवास्ते। किलेति निर्धारे सम्भावनायां वा॥१०२॥

भावानुवाद—गोपकुमार उस ब्राह्मणके वचनोंको आदरपूर्वक प्रीति सहित श्रवणकर चिन्ता करने लगा। चिन्तनीय विषय क्या था? इसके उत्तरमें इस श्लोकके 'एतस्य' पदसे आरम्भ कर 'हितं भवेत्' श्लोक १०८ तक कह रहे हैं। श्रीमदनगोपालदेवके उपासक उस माथुर ब्राह्मणका मनोरथ पूर्ण हो चुका है। यहाँ 'किल' शब्द निर्धारण अथवा सम्भावनाके लिए प्रयोग हुआ है॥१०२॥

केवलं तत्पदाम्भोज-साक्षादीक्षावशिष्यते।
तज्जपेऽर्हति नासक्तिं किन्तु तन्नामकीर्त्तने॥१०३॥

श्लोकानुवाद—अब तो इसको केवल श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंके साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही बाकी है। अतः अब इसको मन्त्रजपमें आसक्तिकी विशेष आवश्यकता नहीं है, बल्कि श्रीनामसंकीर्त्तनमें ही इसकी आसक्ति होना उचित है॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीमदनगोपालदेवस्य तयोर्वा पदाम्भोजयोः साक्षादीक्षैवावशिष्टास्ति। तत्तस्मात्तस्य श्रीमदनगोपालदेवस्य नाम्नां, कीर्त्तन एवासक्तिं चित्ताभिनिवेशमर्हति, तेनैव तत्सिद्धेः॥१०३॥

भावानुवाद—अब तो इसको श्रीमदनगोपालदेवका अर्थात् उनके युगल चरणकमलोंका साक्षात् दर्शन प्राप्त होना ही बाकी है। अतः अब इसका श्रीमदनगोपालदेवके नामसंकीर्त्तनमें आसक्त होना ही उचित है, क्योंकि इसीके द्वारा उनके श्रीचरणदर्शनरूप अभीष्टकी सिद्धि होगी॥१०३॥

श्रीमन्मदनगोपालपादाब्जोपासनात् परम्।
नामसंकीर्त्तनप्रायाद्वाञ्छातीतफलप्रदात् ॥१०४॥

श्लोकानुवाद—नामसंकीर्त्तनकी प्रधानतासे युक्त उपासना ही श्रीमदन-गोपालके चरणकमलोंकी सर्वश्रेष्ठ उपासना है। यह नामसंकीर्त्तन आदर सहित अनुष्ठित होने पर वाञ्छासे अतीत फल प्रदान करनेवाला है॥१०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथमस्य कृतकृत्यता जाता? परमसाधनसाध्ययोः सिद्धिप्रत्यासत्तेरित्यभिप्रेत्य ते एव दर्शयति—श्रीमदिति त्रिभिः। श्रीमतोरशेषविविधसेवा शोभातिशययुक्तयोर्मदनगोपालपादाब्जयोरुपासनात् भजनात् परमन्यत् किञ्चित् साधनं नास्त्येवेति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र हेतुः—वाञ्छायाः फलं तदतीतञ्च कामितमकामितमपि सर्वमित्यर्थः। यद्वा, वाञ्छाया मनोवृत्तेरतीतमगोचरमधिकमपि यत् फलमर्थस्तत् प्रकर्षेण ददातीति तथा तस्मादिति। कीदृशात्? नाम्नां श्रीकृष्ण-कृष्ण-गोविन्द-गोपालेत्यादीनां यत् सम्यङ्मधुरस्वरगाथया कीर्त्तनमुच्चैरुच्चारणं तत्प्रायो बहुलं यस्मिन् तस्मात्; इत्युपासनलक्षणमुक्तम्॥१०४॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि किस प्रकार यह ब्राह्मण कृतार्थ हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—इसकी परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ साध्य-साधनके प्रति आसक्ति हुई है। इसी अभिप्रायसे 'श्रीमत्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा उसका कृतार्थ होना दिखाया जा रहा है। अनन्त प्रकारकी अत्यधिक सेवा-शोभासे युक्त श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंके भजनसे श्रेष्ठ अन्य कोई दूसरा साधन नहीं है। इसका कारण है कि यह साधन वाञ्छासे अतीत फल प्रदान करनेवाला है। अर्थात् जो वाञ्छाकी जायेगी वह तथा उससे भी अतीत—कामना किये गये और न किये गये समस्त प्रकारके फलोंको प्रदान करनेवाला है। अथवा वाञ्छा अर्थात् मनोकामनाके अतीत या अगोचर भी जो अधिक फल है, वह भी सम्पूर्णरूपसे प्रदान करता है। किस प्रकारकी उपासनासे ऐसा फल प्राप्त होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—श्रीकृष्ण, गोविन्द, गोपाल इत्यादि नामोंका मधुर स्वरसे कीर्त्तन तथा गाथारूपसे गीतादि द्वारा अर्थात् उच्च स्वरसे उच्चारणपूर्वक नामकी प्रधानतासे युक्त जो उपासना है, उसके द्वारा श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंका दर्शनरूप फल प्राप्त होता है। इन वाक्योंके द्वारा उपासनाका लक्षण कहा गया है॥१०४॥

तल्लीलास्थलपालीनां श्रद्धासन्दर्शनादरैः।
सम्पाद्यमानान्नितरां किञ्चिन्नास्त्येव साधनम्॥१०५॥

श्लोकानुवाद—श्रीमदनगोपालकी लीला-स्थलियोंके प्रति श्रद्धा और उनका दर्शनादि जो कुछ भी साधन है, उसको आदर सहित नामसंकीर्त्तनसे युक्त करनेसे ही ऐसा साध्य (फल) प्राप्त किया जा सकता है। अतएव श्रीनामसंकीर्त्तनसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी साधन नहीं है॥१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तयोः पादाब्जयोर्या लीला, तस्याः स्थलानि तेषां पालीनां पंक्तीनां सम्बन्धिनी या श्रद्धा विश्वासः, सन्दर्शनं—सर्वतः परिभ्रमणेन साक्षादवलोकनम्, आदरश्च प्रीतिविशेषस्तैर्नितरामतिशयेन सम्पाद्यमानादिति तदुत्पत्तिहेतुरुक्तः॥१०५॥

भावानुवाद—श्रीमदनगोपालदेवकी लीलास्थलियोंके प्रति श्रद्धा, अर्थात् विश्वासके साथ उन लीला-स्थानोंका दर्शन और सर्वत्र परिभ्रमण द्वारा साक्षात् उन समस्त लीला-स्थलियोंका दर्शन करनेकी चेष्टा करना तथा आदर और विशेष प्रीति सहित सम्पादित प्रचुर श्रीनामसंकीर्त्तन ही व्रजजातीय प्रेमको उत्पन्न करानेका कारण है॥१०५॥

सञ्जातप्रेमकाच्चास्माच्चतुर्वर्गविड़म्बकात्।
तत्पादाब्जवशीकारादन्यत् साध्यं न किञ्चन॥१०६॥

श्लोकानुवाद—ऐसी उपासना जिसके समक्ष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चतुर्वर्ग तुच्छ प्रतीत होते हैं, प्रेम उदित करानेमें समर्थ हैं। ऐसी उपासना द्वारा ही श्रीमदनगोपालको भी वशीभूत किया जा सकता है, इसलिए यह उपासना वशीकरणके समान है। अतएव ऐसी उपासनासे श्रेष्ठ अन्य कोई साध्य नहीं है॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सम्यग्जातः प्रेमा यस्मिन् तस्मादस्मादुक्ताच्छ्रीमदनगोपाल-पादाब्जोपासनाच्चान्यत् किञ्चित् साध्यं नास्त्येव। तत्र हेतुः—चतुर्वर्गं धर्मार्थकाममोक्षान् विड़म्बयति तुच्छतापादनेनोपहसतीति तथा तस्मात्; किञ्च, तत्पादाब्जयोर्वशीकारो वशीकरणं येन, वशीकरणद्रव्यरूपादिति वा॥१०६॥

भावानुवाद—जिस उपासनासे सम्यक् प्रेम उदित होता है, श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंकी वैसी उपासनासे श्रेष्ठ अन्य कोई

भी साध्य नहीं है। इसका कारण है कि ऐसी उपासना धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप चतुर्वर्गको तुच्छ कर उनका उपहास करती है तथा ऐसी उपासना ही श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंको वशीभूत करती है, अतएव यह उपासना वशीकरण द्रव्यविशेष है॥१०६॥

इति बोधयितुं चास्य सर्वसंशयनोदनम्।
स्ववृत्तमेव निखिलं नूनं प्राक् प्रतिपादये॥१०७॥

श्लोकानुवाद—यह समझानेके लिए इस ब्राह्मणको मैं सर्वप्रथम अपने जीवनका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाऊँगा। मेरा वृत्तान्त सुननेसे ही इसके समस्त प्रकारके संशय दूर होंगे॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि साध्यसाधनविषयक-तदीयसन्देहनिरासाय ते एवादौ निरूप्येताम्। तत्राह—इतीति। एतत् साधनं साध्यञ्च बोधयितुम्। स्वस्य मम वृत्तं विवरणं मन्त्रग्रहणसमयमारभ्याद्यपर्यन्तं यन्मयानुभूतमस्ति तदेवेत्यर्थः। प्रागादौ कथयामि; तत्र हेतुः—सर्वान् संशयान् साध्य-साधनादिविषयकान् नोदयति अपसारयतीति तथा तत्। नूनं वितर्के; अयं भावः—प्रथममेतत् साध्यसाधनतत्त्वं प्रतिपादितं, तदसम्भावनादि-पराहतचित्तेऽस्मिन् सम्यक्प्रकाशं न यास्यति। श्रीभगवत्कथामृतपानेन तत्रापि परमविश्वसनीय-मदीयानुभूतार्थाकलनेन च किलास्य सम्यक्चित्तशुद्धौ सत्यां तद्विज्ञानं स्वयमेव सम्पत्स्यत इति॥१०७॥

भावानुवाद—इसलिए साध्य-साधनके सम्बन्धमें उस विप्रके सन्देहको दूर करनेके लिए उपरोक्त प्रकारके साध्य-साधन तत्त्वका सर्वप्रथम ही निरूपण करना होगा। इसलिए 'इति' इत्यादि श्लोक कहा गया है। ऐसा साध्य और साधन तत्त्व समझानेके लिए उस विप्रको मैं सबसे पहले अपने जीवनका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाऊँगा। अर्थात् मन्त्रग्रहण करनेके समयसे आरम्भकर अब तक जो कुछ भी मुझे अनुभव हुआ है, वह उसे बताऊँगा। इसका कारण है कि ऐसा वर्णन साध्य-साधनके विषयमें उसके समस्त प्रकारके संशयोंको दूर करेगा। तात्पर्य है कि यदि सर्वप्रथम ही उस विप्रके समक्ष साध्य-साधन तत्त्व प्रतिपादित किया जाय तो असम्भावनादि (दोषों) द्वारा आक्रान्त चित्तमें वह तत्त्व सम्पूर्णरूपसे प्रकाशित नहीं होगा। इसलिए सर्वप्रथम मुझे अपने जीवनका वृत्तान्त कहना होगा, तदनन्तर श्रीभगवत्-कथामृतके पानसे

और उसमें परम विश्वसनीय मेरे द्वारा अनुभव किये गये समस्त तत्त्वोंके श्रवण द्वारा निश्चय ही इसका चित्त पूर्णतः शुद्ध होगा तथा इसीसे तत्त्व-ज्ञान या अनुभूति स्वयं ही प्राप्त होगी॥१०७॥

स्वयमेव स्वमाहात्म्यं कथ्यते यन्न तत् सताम्।
सम्मतं स्यात्तथाप्यस्य नान्याख्यानाद्धितं भवेत्॥१०८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि अपनी प्रशंसा स्वयं अपने मुखसे करना साधुओंकी रीति नहीं है, तथापि मैं इस ब्राह्मणको अपना महिमापूर्ण वृत्तान्त सुनाऊँगा, क्योंकि अन्य किसी भी आख्यानसे इसका उपकार नहीं होगा॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु निजवृत्तकथने भगवदनुग्रहादिप्रकाशनेन स्वमाहात्म्य-वर्णनं सम्भवेत्, तच्चानुचितमित्यभिप्रेत्याह—स्वयमिति। तत् स्वमाहात्म्यकथनं सतां सम्मतं न स्यात् *'स्वप्रशंसा ध्रुवो मृत्युः'* इत्याद्युक्तेः। इत्थं यद्यपि स्ववृत्तं कथयितुं न युज्यते, तथापि कथयिष्यामीत्यर्थः। यतोऽन्यस्यार्थस्याख्यानात् कथनादस्य विप्रस्य हितं सर्वसंशयादिनिरासपूर्वकस्तत्त्वानुभवो न भवेदित्यर्थः। अयं भावः—मयि परमविश्वस्तत्त्वादनुभूतार्थश्रवणेनैव, तत्र च निजवृत्तसादृश्येन, तत्रापि विशेषतस्तेनैवाशेष-संशयानां निरसनसम्भवात् द्रुतमस्य हितं भवेत्; तदैव च श्रीराधाकृतादेशस्य शीघ्रसम्पादनं स्यात्, तेन च दोषोऽपि महागुण एव भवेदिति॥१०८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि अपने जीवन-वृत्तान्तके वर्णन द्वारा अपने प्रति भगवान्की कृपाकी प्राप्तिका वर्णन करना अपनी ही महिमाका बखान करना हो गया, अतएव साधुओंके लिए यह रीति किस प्रकार सम्भव (सम्मत) होगी? क्योंकि अपना माहात्म्य कीर्त्तन करना साधुओंके लिए अनुचित है। इसी अभिप्रायसे 'स्वयम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अपना माहात्म्य वर्णन करना साधुओं द्वारा सम्मत पथ नहीं है तथा इस सम्बन्धमें यह भी प्रसिद्ध है—'अपनी प्रशंसा निश्चय ही मृत्यु स्वरूप है'। यद्यपि इन सब कारणोंके होते हुए अपना वृत्तान्त कहना उचित नहीं है, तथापि मैं इस विप्रको अपना माहात्म्य ही सुनाऊँगा। इसका कारण है कि दूसरे उपाख्यानोंका श्रवण करानेसे इस विप्रके समस्त प्रकारके संशय दूर नहीं हो सकेंगे अथवा उसे तत्त्वकी अनुभूति नहीं होगी। विशेषतः मेरे प्रति इसका

अत्यधिक विश्वास है और इसके चरित्रके साथ मेरे चरित्रकी अनेक प्रकारसे समानता रहनेके कारण मेरे द्वारा अनुभूत तत्त्वको श्रवण करानेसे ही इसका विशेष उपकार होगा। अर्थात् इसके समस्त प्रकारके संशय दूर होंगे और तत्त्वकी अनुभूति द्वारा शीघ्र ही उपकार होगा। विशेषतः ऐसा करनेसे ही मेरे द्वारा श्रीराधाजीका आदेश भी शीघ्र प्रतिपालित होगा, अतएव दोष भी महागुणमें बदल जायेगा॥१०८॥

एवं विनिश्चित्य महानुभावो
गोपात्मजोऽसाववधाप्य विप्रम्।
आत्मानुभूतं गदितुं प्रवृत्तः
पौराणिको यद्वदृषिः पुराणम्॥१०९॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार निश्चय करके वे महानुभाव गोपकुमार उस ब्राह्मणके मनोयोगको आकर्षणकर अपने द्वारा अनुभव किया गया वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे जैसे पुराणके वक्ता ऋषि पुराणोंका वर्णन करते हैं॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अवधाप्य मनोऽभिनिवेशेन सश्रद्धमिदं शृण्वित्येवं वाक्यादिना अवहितं कृत्वा; पौराणिकः पुराणवक्ता, ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा; *'ऊर्ध्वरेतास्तपस्युग्रो निरताशी च संयमी। शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेद्-ऋषिः॥'* इति देवलोक्तलक्षणो वा; पुराणं ब्राह्म पाद्मादिकम्; यद्वद्यथा कथयितुं प्रवर्त्तते, तथेत्यनेन दृष्टान्तेन पुराणतुल्यतया सकलशास्त्रसम्मतत्वं तेन तस्य श्रद्धातिशयोत्पत्तिकारणञ्चोद्दिष्टम्॥१०९॥

भावानुवाद—गोपकुमारने विप्रसे कहा कि मन लगाकर तथा श्रद्धासहित श्रवण करो। इस वाक्यके द्वारा गोपकुमारने उस ब्राह्मणको एकाग्रचित्त किया तथा पुराणोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि जिस प्रकार ब्रह्मपुराण और पद्मपुराणादिके वर्णनमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने द्वारा अनुभव किये गये समस्त विषयोंको कहनेमें प्रवृत्त हुए। 'ऋषि' शब्दके शास्त्रमें उक्त लक्षण हैं—जो ऊर्द्धरेता (अर्थात् जिसका धातु ऊर्द्धगामी है), उग्रतपा, नियमित भोजनकारी, संयमी, शाप और वरदानमें समर्थ तथा सत्यसन्ध (सत्यसे घनिष्ठता पूर्वक युक्त) है, वही ऋषि हैं। इस दृष्टान्तके द्वारा यह प्रतिपादित हुआ है कि पुराण जिस प्रकार समस्त शास्त्रों द्वारा सम्मत सिद्धान्त-स्वरूप हैं, उसी प्रकार

गोपकुमार द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन भी समस्त शास्त्रों द्वारा सम्मत अर्थात् सिद्धान्त-स्वरूप है। इसके द्वारा भी उस विप्रकी अत्यधिक श्रद्धाकी उत्पत्तिका कारण प्रदर्शित हुआ है॥१०९॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

अत्रेतिहासा बहवो विद्यन्तेऽथापि कथ्यते।
स्ववृत्तमेवानुस्मृत्य मोहादावपि सङ्गतम्॥११०॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—यद्यपि इस विषयमें बहुतसे इतिहास हैं, तथापि मैं अपना वृत्तान्त ही वर्णन कर रहा हूँ। उसमें से जो कुछ स्वाभाविक रूपमें अनुभव हुआ, उसको तो कहूँगा ही, किन्तु जो समस्त विषय मूर्च्छाकी अवस्थामें घटित हुए थे, उन सब विषयोंको भी स्मरण कर कहूँगा॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र साध्य-साधनतत्त्वनिर्णये; इतिहासाः पुरावृत्तानि; *'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥'* इत्युक्तलक्षणो वा। तथापि स्वस्य मम वृत्तं वृत्तान्त एव कथ्यते। एवं स्ववृत्तत्वेन निजानुभूतत्वात् सर्वप्रमाणानाञ्च मध्येऽनुभवप्रमाणस्य श्रैष्ठयात् कथ्यमानमिदमशेषमेव श्रद्धेयमिति भावः। मोहः कदाचिद्भगवत्प्रेमभराविर्भावेन बहिर्दृष्ट्यभावाद्वैचित्त्यम्; तथापि सङ्गतं प्राप्तमुद्भूतं वा यद्वृत्तं तदपि। तदानीमात्मन्यगृहीतमपीदानीमात्मज्ञान-बलेनानुस्मृत्य अनुसन्धायेत्यर्थः। एतेन निजज्ञानशक्त्यतिशयश्च सूचितः। आदिशब्देन परम-गोप्यतयाऽन्यस्मै प्रकाशनेऽनौचित्यम्; ततो लज्जादिकञ्च ग्राह्यम्; तदपि तद्धितार्थं कथासङ्गत्या कथ्यत इति भावः। एतच्चाग्रे सप्तमाध्याये स्वयमेव वक्ष्यति—*'पश्य यच्चात्मनस्तस्य तदीयानाञ्च सर्वथा। वृत्तं परमगोप्यं तत् सर्वं ते कथितं मया॥'* इत्यादि॥११०॥

भावानुवाद—इस साध्य-साधन-तत्त्व निर्णयके सम्बन्धमें इतिहास और पुरावृत्त अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको प्राप्त करनेके उपदेशसे युक्त प्राचीनकालकी कथाओंसे पूर्ण इतिहास आदि बहुतसे प्रमाण देखे जाते हैं। तथापि साध्य-साधन विषयमें जो कुछ मेरे द्वारा अनुभव किया गया है—वही प्रमाण है। अर्थात् यद्यपि प्राचीन प्रमाण प्रचुर हैं, तथापि जो साक्षात् मेरे द्वारा अनुभव किया गया है मैं वही कहूँगा, क्योंकि समस्त प्रमाणोंमें अनुभव ही श्रेष्ठ प्रमाण है, अतएव वही

श्रद्धाका विषय है। यहाँ तक कि प्रेम–मूर्च्छाके समय भी मुझे जो कुछ अनुभव हुआ है, वह अतिगोपनीय होने पर भी तुम्हें बतलाऊँगा। मूर्च्छाकी अवस्थामें अर्थात् कभी–कभी भगवत्प्रेमके आविर्भाववशतः बाह्यदृष्टिसे बाह्यशरीरमें भावोंके वैचित्र्य प्रकाश होने पर भी उन भावोंका अद्भुत विक्रम उस समयकी आत्मवृत्ति द्वारा मुझे अनुभव होता था। अब उस आत्मज्ञानका अवलम्बनकर पूर्व–स्मृतिके विषयोंका वर्णन करूँगा। इसके द्वारा गोपकुमारकी ज्ञानशक्तिकी अधिकता सूचित हुई है। यहाँ 'आदि' शब्दका अर्थ है कि परम गोपनीय होनेके कारण इसे अन्यत्र प्रकाश करना अनुचित है और प्रकाश करनेमें लज्जा भी आती है। तथापि ब्राह्मणके हितके लिए इस कथाको कहना ही सङ्गत होगा। यह आगे सप्तम अध्यायमें गोपकुमार स्वयं ही वर्णन करेंगे, यथा—'मेरे, श्रीभगवान्‌के अथवा समस्त भक्तोंके सम्बन्धमें जो कुछ भी परम गोपनीय है, वह समस्त मैंने आपके समक्ष वर्णन किया है'॥११०॥

गोपालवृत्तेर्वैश्यस्य गोवर्द्धननिवासिनः।
पुत्रोऽहमीदृशो बालः पुरा गाश्चारयन्निजाः॥१११॥
तस्मिन् गोवर्द्धने कृष्णातीरे वृन्दावनेऽत्र च।
माथुरे मण्डले बालैः समं विप्रवर स्थितः॥११२॥

श्लोकानुवाद—हे विप्रवर! मैं गोवर्धनका रहनेवाला तथा गोपालनमें निरत किसी एक वैश्यगोपका पुत्र हूँ। मैं अब जैसे बालक हूँ, इसी प्रकार पहले भी बाल्यावस्थामें अपनी समान आयुके बालकोंके साथ मथुरामण्डलके अन्तर्गत श्रीगोवर्धनमें श्रीयमुनातट पर और यहाँ श्रीवृन्दावनमें गायोंको चराया करता था॥१११–११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—गोपालेत्यादिना यावत् षष्ठाध्यायसमाप्ति। *'कृषिवाणिज्य–गोरक्षा कुसीदञ्च'* (श्रीमद्भा॰ १०/२४/२१) इत्युक्तवैश्यवृत्तिचतुष्टयमध्ये गवां पालः पालनमेव वृत्तिर्जीविका यस्य, तस्य पुत्रोऽहं बालो बालैरन्यैः समं गोवर्द्धनादौ पुरा गाश्चारयन् स्थित इति द्वाभ्यामन्वयः। ईदृश एतादृशवयोऽवस्थादिमानिति स्वदेहनिर्विकारतादिकं सूचितम्। तथाच स्वयमग्रे निजगुर्वाशीर्वादं वक्ष्यति—*'त्वमेतस्य प्रभावेण चिरजीवी भवान्वहम्। ईदृग् गोपार्भरूपश्च तत्फलाप्त्यर्हमानसः॥'* इति। निजाः स्वीया इति स्वातन्त्र्यं धनवत्तादिकञ्च दर्शितम्। तस्मिन् जगद्विख्याते, यत्र

वासस्तस्मिन्नेवेति वा। अत्रेति वृन्दावनान्तरूपविश्य कथनात्। माथुरे मथुरासम्बन्धिनि मण्डलाकारे विंशतियोजनात्मकप्रदेशे; अन्यत्रापि महावनादावित्यर्थः। यद्वा, एवं माथुरे मण्डल इति वाक्योपसंहारः, तत्स्थानत्रयस्य तन्मण्डलव्यापकत्वात्। तदतिरिक्तपरमरमणीयगोकुलहितदेशान्तराभावाच्च। हे विप्रवर! माथुरत्वाद्ब्राह्मण-श्रेष्ठ॥१११-११२॥

भावानुवाद—इस अध्यायके 'गोपालवृत्ते' श्लोकसे आरम्भकर षष्ठ अध्यायके अन्त तक यह उपाख्यान वर्णित हुआ है। श्रीमद्भागवत (१०/२४/२१)में वैश्योंके लिए कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज—ये चार वृत्तियाँ निरूपित हुई हैं। इनमें से गोपालनवृत्ति द्वारा जीवन-यापन करनेवाले किसी एक वैश्यके पुत्ररूपमें मैं गोवर्धनादि क्षेत्रोंमें गायोंको चराता था। तुम अभी मुझे जैसा देख रहे हो, पहले भी इसी प्रकार बालक अवस्थामें ही मैं अपनी समान आयुके बालकोंके साथ गोचारण किया करता था। इसके द्वारा सूचित होता है कि उस गोप-बालककी देहमें कोई विकार नहीं हुआ। गोपबालकने स्वयं ही आगे अपने प्रति गुरुके आशीर्वादके सम्बन्धमें बतलाया है—मेरे गुरुदेवका आशीर्वाद इस प्रकार था—"मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम मन्त्रजपके प्रभावसे चिरञ्जीवी होओ और सदा इसी प्रकारके गोपबालकवेशमें श्रीमदनगोपालदेवका साक्षात् दर्शन रूप अनिर्वचनीय फल प्राप्त करनेके लिए उपर्युक्त मानस प्राप्त करो।"

मूल श्लोकमें 'निज' शब्दके विशेषण द्वारा गोपबालककी स्वतन्त्रता और (गोधन रूपी) धनवत्तादि प्रदर्शित हुई है। मैं जगतविख्यात उस गोवर्धनमें अथवा मेरे पूर्व निवासस्थान उस गोवर्धनमें, यमुनातट पर और इस वृन्दावनमें गोचारण करता था। यहाँ गोवर्धन उल्लेखके समय 'तस्मिन्' और वृन्दावन उल्लेखके समय 'अत्र' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि गोपबालक श्रीवृन्दावनमें बैठकर यह सब वृत्तान्त कह रहे हैं। इसीलिए गोवर्धन उल्लेखके समय 'उस' तथा वृन्दावन उल्लेखके समय 'इस' शब्दका प्रयोग किया है। मथुरामण्डल बीस योजनका है और महावन जैसे द्वादश वन मथुराके नामसे जाने जाते हैं, इसलिए उक्त तीनों स्थान भी मथुरामण्डलके अन्तर्भुक्त हैं। अथवा उक्त तीनों स्थानोंमें अर्थात्

व्यापक मथुरामण्डलमें गोचारण करता था, क्योंकि उक्त तीनों स्थानोंमें मथुरामण्डल व्याप्त है। पुनः मथुरामण्डलसे पृथक् परम रमणीय गोकुलकी भाँति हितकारी अन्य कोई स्थान नहीं है। मथुरामण्डलमें जन्मप्राप्त श्रेष्ठ ब्राह्मण होनेके कारण गोपकुमारने उसे 'विप्रवर' सम्बोधन किया है॥१११–११२॥

वनमध्ये च पश्यामो नित्यमेकं द्विजोत्तमम्।
दिव्यमूर्त्तिं विरक्त्याढ्यं पर्यटन्तमितस्ततः॥११३॥
कीर्त्तयन्तं मुहुः कृष्णं जपध्यानरतं क्वचित्।
नृत्यन्तं क्वापि गायन्तं क्वापि हासपरं क्वचित्॥११४॥
विक्रोशन्तं क्वचिद्भूमौ स्खलन्तं क्वापि मत्तवत्।
लुठन्तं भुवि कुत्रापि रुदन्तं क्वचिदुच्चकैः॥११५॥
विसंज्ञं पतितं क्वापि श्लेष्मलालाश्रुधारया।
पङ्कयन्तं गवां वर्त्म–रजांसि मृतवत् क्वचित्॥११६॥

श्लोकानुवाद—वनमें गोचरण करते समय हमलोग प्रतिदिन एक उत्तम ब्राह्मणको देखते थे। वे एक दिव्यमूर्त्ति थे, अत्यन्त वैराग्यवान थे तथा श्रीकृष्ण–नामकीर्त्तन करते हुए इधर–उधर भ्रमण किया करते थे। कभी–कभी वे जप या ध्यानमें रत रहते, कभी उन्मत्त होकर नृत्य करते, कभी गान करते, कभी हास्य करते और कभी चीत्कार करते। अथवा कभी भूमि पर गिरकर लोटने लगते और कभी उच्च स्वरसे रोने लगते। कभी अचेतन–प्राय होकर भूमि पर गिर पड़ते तथा उनकी नासिका और मुखसे निकले श्लेष्मा (लार) तथा नयनोंसे निकली अश्रुधारा गोचारणके पथकी धूलिको कीच बना देती। कभी वे मृतकी भाँति अचेतन पड़े रहते॥११३–११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—पश्याम इत्यतीते वर्त्तमानता, चिरं दर्शनक्रियानुवृत्तेः। एवमग्रेऽपि; द्विजेषूत्तमं ब्राह्मणश्रेष्ठमित्यर्थः; तमेव विशिनष्टि—सार्धत्रयेण। दिव्या परमसुन्दरगौरकान्त्यादिना लोकोत्तरा मूर्त्तिः कायो यस्य तम्; पर्यटन्तं परितो भ्रमन्तम्; कृष्णमिति विचित्रमधुरनामगाथादिभिः भगवन्तं तदक्षरद्वयमात्रमिति वा; क्वचित् कस्मिंश्चित्काले स्थाने वा; जपध्यानयो रतं प्रीत्या तदनुष्ठातारम्, सिद्धमन्त्रस्याप्यकृतज्ञत्वपरिहाराय तत्तन्नियोगात्। यथोक्तं तन्त्रे—'सिद्धमन्त्रोऽपि पूतात्मा

त्रिसन्ध्यं देवमर्चयेत्। नियमेनैकसन्ध्यं वा जपेदष्टोत्तरं शतम्॥' इति। यद्वा, अभ्यासबलात् किम्वा प्रेमोदयतो बहिर्वृत्तिविशेषाभावेन जपध्यानपरता-साम्यात् भूवि पतितम्। कथम्भूतम्? विसंज्ञमचेतनम्। कीदृशं सन्तम? गवां यानि वर्त्मानि तेषां रजांसि श्लेष्मादीनां मुखादेर्निःसरतां धारया पङ्कयन्तमार्द्रयन्तम्; क्वचिच्च मृतवत् स्थितम्, श्लेष्मादेरप्यदर्शनात्॥११३-११६॥

भावानुवाद—गोपकुमार अतीत कालका विषय वर्णन कर रहे हैं, किन्तु 'पश्याम' इत्यादि पदोंमें वर्त्तमान क्रियापदका प्रयोग किया है। 'हमलोग वनमें गोचारण करते समय उस श्रेष्ठ द्विजका सर्वदा दर्शन करते'—इस क्रियाकी आवृत्तिमें अतीत कालमें वर्त्तमान कालका प्रयोग हुआ है। यहाँ द्विजोत्तम कहनेका तात्पर्य है—द्विजोंमें उत्तम या ब्राह्मण-श्रेष्ठ। उस ब्राह्मण-श्रेष्ठका विवरण साढ़े तीन श्लोकोंमें किया गया है। वे ब्राह्मण-श्रेष्ठ परमसुन्दर गौरकान्ति युक्त अलौकिक दिव्यमूर्त्ति थे। वे सर्वदा श्रीकृष्णके मधुरनामोंकी विचित्र गाथाओंका गान करते थे, कभी-कभी 'कृष्ण' इन दो अक्षरवाले नामका कीर्त्तन करते हुए इधर-उधर भ्रमण करते। कभी किसी स्थानमें बैठकर जप या ध्यानादिमें रत रहते। उनका जप-ध्यानादि अत्यन्त प्रीतिके साथ अनुष्ठित होता था, क्योंकि मन्त्र सिद्ध होने पर भी उसके जपादिके समयमें अकृतज्ञता रूपी दोषको दूर रखनेके लिए प्रीति या एकाग्रताकी व्यवस्था देखी जाती है। तन्त्रमें भी कहा गया है—"मन्त्र सिद्ध होने पर भी पवित्र भावसे तीनों संध्याओंमें उस मन्त्रका जपकर मन्त्रदेवताका अर्चन करना होता है। साथ ही नियमपूर्वक प्रतिसंध्यामें निर्दिष्ट संख्या रखकर मन्त्रजप अथवा एक सौ आठ बार जप करना होता है।" कभी-कभी वे ब्राह्मण अभ्यासवशतः अथवा प्रेमके उदय होनेके कारण बाह्यवृत्तिके अभाववशतः तथा जप और ध्यानमें समानता हेतु भूमि पर गिर जाते। किस प्रकारसे? संज्ञाहीन अर्थात् वे अचेतनकी भाँति भूमि पर पड़े रहते। ऐसा किस प्रकार समझा जाता? उस ब्राह्मणकी अश्रुधारा और मुखसे निकलनेवाले लारसे गायोंके आने जानेका मार्ग कीचमय हो जाता। कभी-कभी वे मृतकी भाँति स्थिर पड़े रहते, उस समय अश्रु और लारादि दिखाई नहीं देता॥११३-११६॥

कौतुकेन वयं बाला यामोऽमुं वीक्षितुं सदा।
स तु गोपकुमारान्नो लब्ध्वा नमति भक्तितः॥११७॥

श्लोकानुवाद—हम बालक होनेके कारण कौतुहलवशतः सदा उनका दर्शन करनेके लिये जाते, किन्तु वे गोपबालक जानकर हमलोगोंको भक्तिसहित नमस्कार करते॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कौतुकेनैव, न तु भक्त्येति वक्ष्यमाणतत्कृपादि-माहात्म्यसूचनम्। नोऽस्मान् गोपकुमारानपि तानेव वा भक्तितः परमादरेण नमति॥११७॥

भावानुवाद—हमलोग बालक होनेके कारण कौतूहलवशतः सदा ही उनका दर्शन करनेके लिए जाते थे। यद्यपि हमलोग भक्तिपूर्वक (श्रद्धासहित) उनके दर्शन करने नहीं जाते थे, तथापि कहे जानेवाले प्रसङ्गमें उनका ही कृपा-माहात्म्य सूचित हुआ है। अर्थात् वे हमें गोपकुमार जानकर भक्तिपूर्वक हमें नमस्कार किया करते॥११७॥

गाढ़माश्लिष्यति प्रेम्णा सर्वाङ्गेषु सचुम्बनम्।
परित्यक्तुं न शक्नोति मादृशान् प्रियबन्धुवत्॥११८॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी वे हमें प्रगाढ़ आलिङ्गन करते और प्रेमसहित हमारे समस्त अङ्गोंका चुम्बन करते। वे हमलोगोंको प्रिय बन्धुओंकी भाँति जानकर सहसा परित्याग करनेमें असमर्थ हो जाते॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—मादृशानित्यस्मान् मत्सदृशान् वा; ततश्च स्वस्य भगवद्रूप-सादृश्याभिप्रायेणेदमुक्तमित्यूह्यम्। प्रियबन्धुः पित्रादिरिव; यद्वा, लोके चिरमदृष्टं कमपि प्रियबन्धुमनुजादिकं प्राप्याग्रजादिर्यथालिङ्गनादिकं कुरुते, तद्वत्। यद्वा, प्रियबन्धुः परमभागवतोत्तमः श्रीभगवानेव वा, तामिव॥११८॥

भावानुवाद—यहाँ 'मादृश' (हमलोगोंको) कहनेसे मेरे समान अथवा उस ब्राह्मणके इष्टदेव श्रीमदनगोपालदेवके रूप जैसा—यही उक्त वाक्योंका अभिप्राय है। 'प्रियबन्धु' कहनेसे पितादि बन्धुओंकी भाँति प्रियभावयुक्त अथवा लौकिक जीवनमें जिस प्रकार दीर्घकाल दूर रहनेके पश्चात् प्रियबन्धु छोटे भाईके प्रति बड़े भाईका प्रीति-व्यवहार आलिङ्गनादि देखा जाता है, उसी भावसे प्रियबन्धुकी भाँति वे

हमलोगोंका आलिङ्गनादि करते और सहसा हमें परित्याग करनेमें असमर्थ हो जाते। अथवा परम भागवतोत्तम जिस प्रकार अपने प्रियतम बन्धु श्रीभगवान्‌के दर्शन पानेसे उनसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते हैं, वे भी हमारे प्रति उसी प्रकारका प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते॥११८॥

मया गोरसदानादिसेवयासौ प्रसादितः।
एकदा यमुनातीरे प्राप्यालिङ्ग्य जगाद माम्॥११९॥

श्लोकानुवाद—मैं दुग्ध आदि देकर उनकी सेवा किया करता था। एक दिन यमुना तट पर मुझे अकेला पाकर मुझ पर प्रसन्न होकर उन्होंने मेरा आलिङ्गन किया और इस प्रकार बोले—॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोरसो दधिदुग्धादिस्तस्य दानम्; आदि-शब्देन जलपात्राहरण-समीपवर्त्तित्वादि; तद्रूपया सेवया कृत्वासौ परममहानुभावो द्विजोत्तमः प्रसादितः सन्तोषितः कृपाविशेषोन्मुखीकृत इति वा॥११९॥

भावानुवाद—मैं दही-दूधादि द्वारा उनकी सेवा करता था। 'आदि' शब्दके द्वारा समीपके जलाशयसे जलादि लाना और अन्य सेवा-परिचर्याको भी समझना होगा। परम महानुभव उन द्विजोत्तमने मेरी सेवासे प्रसन्न होकर अपनी कृपादानकर मुझे विशेषरूपसे भगवान्‌की ओर उन्मुख किया॥११९॥

वत्स त्वं सकलाभीष्टसिद्धिमिच्छसि चेदिमम्।
प्रसादं जगदीशस्य स्नात्वा केश्यां गृहाण मत्॥१२०॥

श्लोकानुवाद—हे वत्स! यदि तुम समस्त प्रकारकी अभीष्ट-सिद्धि चाहते हो, तो इस केशीघाटमें स्नानकर मुझसे श्रीजगदीशके इस प्रसादको ग्रहण करो॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं जगाद? तदाह—वत्स्येति। तदा इममपरोक्षं जगदीशस्य प्रसादरूपम्, मत् मत्तः सकाशात्, गृहाण करतलकलितमिव कुरु॥१२०॥

भावानुवाद—कैसा प्रसाद? इसके उत्तरमें कहते हैं—वत्स! तुम यदि समस्त प्रकारके अभीष्टोंकी सिद्धिकी इच्छा करते हो, तो मुझसे

जगदीश्वरके प्रत्यक्ष प्रसादरूप मन्त्रको ग्रहण करो। इसीको करतल स्थित जगदीश्वरका प्रसाद-स्वरूप जानना॥१२०॥

एवमेतं भवन्मन्त्रं स्नातायोपदिदेश मे।
पूर्णकामोऽनपेक्ष्योऽपि स दयालुशिरोमणिः॥१२१॥

श्लोकानुवाद—उन ब्राह्मणकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थी और उनको किसी भी विषयकी आकांक्षा नहीं थी, परन्तु दयालु-शिरोमणि होनेके कारण उन्होंने मेरे स्नान करनेके पश्चात् मुझे उसी मन्त्रका उपदेश किया, जो तुम्हारा मन्त्र है॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्त्वा एतं दशाक्षरम्; भवदुपास्यं मन्त्रमित्यनेन तन्मन्त्रे श्रद्धातिशयहेतुः, तथैकमन्त्रोपासकत्वेन सौहृदविशेषश्च व्यञ्जितः। न च मन्तव्यम्—*'मदीयगोरसदानादि सेवायाः फलमिदम्।'* तस्य पूर्णकामत्वेन सर्व-नैरपेक्ष्यादित्याह—पूर्णेति। तर्हि कथमुपादिशत्? तत्राह—दयालुषु मध्ये शिरोमणिः श्रेष्ठतम इति॥१२१॥

भावानुवाद—उनके आदेशानुसार मेरे द्वारा यमुनामें स्नान करने पर उन्होंने मुझे अपने इष्ट दशाक्षर मन्त्रका उपदेश किया। ब्राह्मण द्वारा अपने उपास्यमन्त्रको प्रदान करनेसे ही उस मन्त्रमें मेरी अत्यधिक श्रद्धा हो गयी। इसके द्वारा सूचित होता है कि यदि कोई सद्गुरु सत्शिष्यको अपने उपास्यदेवका मन्त्र देता है, इसके द्वारा सत्शिष्यके हृदयमें उस मन्त्रके प्रति अत्यधिक श्रद्धा तथा उपास्यदेवके प्रति अत्यन्त सौहार्द भी उत्पन्न हो जाता है। मैं गोरसादि प्रदानकर उनकी सेवा करता था, इसीलिए उन्होंने मुझे इस मन्त्रका उपदेश किया—इस प्रकारका मन्तव्य करना अनुचित है। इसका कारण है कि उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थी तथा उन्हें किसी वस्तुकी भी आकांक्षा नहीं थी। अतएव वे किसी भी विषयकी आशा नहीं करते थे तो फिर किसलिए मन्त्रका उपदेश दिया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि दयालु-शिरोमणि होनेके कारण ही उन्होंने मुझे इस मन्त्रका उपदेश किया॥१२१॥

पूजाविधिं शिक्षयितुं ध्येयमुच्चारयन् जपे।
प्रेमाकुलो गतो मोहं रुदन् विरहिणीव सः॥१२२॥

श्लोकानुवाद—किन्तु जैसे ही उन्होंने मुझे इस मन्त्रकी पूजा-विधिकी शिक्षा देनेके लिए जप कालमें ध्येय-ध्यानके सम्बन्धमें बतलाना आरम्भ किया, उसी क्षण वे आतुर-विरहिणीकी भाँति प्रेममें रोते-रोते मूर्च्छित हो गये॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूजायां विधिं न्यास-ध्यानादिपटलप्रकारम्। जपे ध्येयं श्रीमन्मदनगोपालरूपमुच्चारयन् जिह्वाग्रे कुर्वन्नेव। विरहिणी स्त्री प्रियविरहार्त्ता कथञ्चित् स्मरणविशेषे सति परमविह्वला सती यथा रोदिति, तथा रुदन् सन् मोहं गतः॥१२२॥

भावानुवाद—किन्तु जैसे ही उन्होंने मुझे पूजाविधि अर्थात् क्रमानुसार न्यास और ध्यानादिकी शिक्षा देनेके लिए अपने ध्येय श्रीमदनगोपालदेवके रूप आदिका वर्णन जिह्वाके अग्र भागसे उच्चारण किया, उसी क्षण ही वे प्रेममें आतुर होकर विरहिणीकी भाँति रोते-रोते मूर्च्छित हो गये। अर्थात् जिस प्रकार पति-विरहिणी स्त्री प्रियतमके सम्बन्धमें कुछ भी स्मरण होनेसे ही विह्वला होकर रोते-रोते मूर्च्छित हो जाती है, वे भी उसी प्रकारसे रोते-रोते मूर्च्छित हो गये॥१२२॥

संज्ञां प्राप्तोऽथ किञ्चिन्न प्रष्टुं शक्तो मया भिया।
उत्थाय विमनस्कोऽगात् क्वापि प्राप्तः पुनर्न सः॥१२३॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् जब उनको होश आया तो मैं भयके कारण उनसे और कुछ भी न पूछ सका तथा वे भी उठकर उदास चित्तसे कहीं चले गये। इसके बाद मुझे उनका दर्शन नहीं हुआ॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरं संज्ञां बहिश्चेतनां प्राप्तोऽपि, भिया तद्गौरवभयेन। तदार्त्तिरोदनदृष्ट्या निजापराधशङ्कया पुनस्तथाभावप्राप्तिशङ्कया वा। ननु स एव स्वयं कथं पूर्ववत् कृपया नावदत्? तत्राह—विमनस्कः प्रेमभराविर्भावेणार्त्त-चित्तो विगतानुसन्धानो वेति। क्वाप्यगात्, अनियतवासत्वात्; अतएव मया पुनः क्वापि न प्राप्तो न दृष्टः॥१२३॥

भावानुवाद—इसके बाद उनको होश आने पर भी मैं गौरव और भयके कारण उनसे और कुछ नहीं पूछ सका। इसका कारण था कि उनकी अत्यधिक आर्त्ति और क्रन्दन देखकर मेरी जिज्ञासासे मेरा

कोई अपराध न हो जाय, इस आशंकासे अथवा पुनः कहीं वे वैसे भावको प्राप्तकर मूर्च्छित न हो जायें, इस आशंकासे मैं उनसे और कुछ नहीं पूछ सका। यदि प्रश्न हो कि होश आनेके बाद उन्होंने स्वयं ही कृपापूर्वक पहलेकी भाँति उपदेश क्यों नहीं दिया? इसके उत्तरमें कहते हैं—'विमनस्कः'—प्रेमके आविर्भावसे आर्त्तचित्त होकर अर्थात् बीते हुए विषयको विस्मृत होकर वे उस स्थानको छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये। वे न जाने कहाँ चले गये, इसलिए मैं फिर उनको कहीं भी देख नहीं सका॥१२३॥

मया तु किमिदं लब्धं किमस्य फलमेव वा।
मन्त्रः कथं साधनीय इति ज्ञातं न किञ्चन॥१२४॥

श्लोकानुवाद—मैं मन-ही-मन सोचने लगा—मुझे यह क्या प्राप्त हुआ है? क्या यह गीत है या मन्त्र है? इसका फल क्या होगा? यदि यह मन्त्र है, तो किस प्रकारसे इसका साधन करना होगा? इन समस्त विषयोंके सम्बन्धमें मैं कुछ भी न जान सका॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदं दशाक्षरात्मकं द्रव्यं किं संज्ञम्? गीतं मन्त्रोऽन्यद्वा किमपि? यद्वा, इदं किं-किं-लक्षणं द्रव्यम्? एष मन्त्रश्चेत्, कथं केन जप-कीर्त्तनादिप्रकारेण वा साध्यः? अस्य मन्त्रस्य च सिद्धस्य स्वतः कतमत् फलमिति यद्यपि त्वत्सकलाभीष्टसिद्धिमिच्छसीति, सर्वनिजेष्टप्राप्तिरेव फलं, तेनैवोद्दिष्टमस्ति, तथापि तत्रैवानिर्धारात् तदननुसन्धानाद्वा किं फलमिति वितर्कः॥१२४॥

भावानुवाद—इस दशाक्षरात्मक द्रव्य (वस्तु)की क्या परिभाषा है? क्या यह गीत है, मन्त्र है अथवा कुछ और ही है? यह वस्तु किन-किन विशिष्ट लक्षणोंवाली है? यदि यह मन्त्र है, तब किस प्रकारसे इसके जप या कीर्त्तनादिका साधन करना होगा? यदि यह मन्त्र है और स्वतः सिद्ध है, तो इस मन्त्रसे किस प्रकारका फल प्राप्त होता है? यद्यपि गोपकुमारके श्रीगुरुदेवके द्वारा कथित है कि यह मन्त्र उसके समस्त प्रकारके मनोभीष्टको पूर्ण कर सकता है अर्थात् सब प्रकारकी निजइष्ट वस्तुओंको प्राप्त कराना ही इसका फल है, तथापि अपनी अज्ञानता और निश्चयात्मिक बुद्धिके अभावके कारण गोपकुमार इस मन्त्रजपके फलके विषयमें वितर्क करने लगे॥१२४॥

तद्वाक्यगौरवेणैव मन्त्रं तं केवलं मुखे।
केनाप्यलक्षितोऽजस्रं जपेयं कौतुकादिव॥१२५॥

श्लोकानुवाद—उन ब्राह्मणके वचनोंके प्रति गौरवके कारण मैं एकान्त स्थानमें उस मन्त्रका केवल अपने मुखसे निरन्तर उसी प्रकार जप करने लगा, जिस प्रकार कौतूहलवशतः कोई कर्म किया जाता है॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमपि तस्य महानुभावस्य गौरवेणैव मुखे केवलमजस्रं जपेयं, निःशब्दमुच्चारयामि। केनाप्यलक्षितः सन्निति तत्वाज्ञानेन लोक-लज्जापरिहारात्, कौतुकात् चित्तचमत्कारादौत्सुक्याद्वा॥१२५॥

भावानुवाद—यद्यपि मैं इन वितर्कोंके विषयमें कुछ भी जान नहीं पाया, तथापि उन महानुभवके (ब्राह्मणके) वचनोंके प्रति गौरववशतः केवल मुखसे निरन्तर इस मन्त्रका जप करता रहता। अर्थात् अन्यलोगोंसे अलक्षित रूप (एकान्त)में धीमे स्वरमें उच्चारण करता। 'अन्यलोगोंसे अलक्षित होकर' कहनेका उद्देश्य यह है कि तत्त्वज्ञानके अभाववशतः अथवा लोकलज्जासे बचनेके लिए एकान्तमें जप करता। 'कौतुकवशतः'का अर्थ है—चित्तकी चमत्कारिता होनेके कारण उत्सुकता॥१२५॥

तन्महापुरुषस्यैव प्रभावात्तादृशेन च।
जपने चित्तशुद्धिर्मे तत्र श्रद्धाप्यजायत॥१२६॥

श्लोकानुवाद—उन महापुरुषके प्रभावसे इस प्रकार जप करनेसे ही मेरा चित्त शुद्ध हो गया तथा इस मन्त्रमें मेरी श्रद्धा भी उत्पन्न हुई॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अप्यर्थे चकारः; तादृशेनापि तत्तत्वज्ञानाद्यभावात् श्रद्धारहितेनापि तेन जपेन मे मम चित्तस्य शुद्धिः कामक्रोधादिमलतो निवृत्तिः, तत्र मन्त्रे जपे वा; श्रद्धा आस्तिक्यं प्रीतिर्वा॥१२६॥

भावानुवाद—तत्त्वज्ञानके अभावके कारण श्रद्धारहित वैसे जपके द्वारा भी मेरा चित्त शुद्ध हो गया, अर्थात् काम-क्रोधादि मलकी निवृत्तिके कारण उस मन्त्रजपमें मेरी श्रद्धा उत्पन्न हुई तथा उसमें क्रमशः प्रीति भी बढ़ने लगी॥१२६॥

तद्वाक्यञ्चानुसन्धाय जगदीश्वरसाधकम्।
तं मन्त्रं मन्यमानोऽहं तुष्यन् जपपरोऽभवम्॥१२७॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर उनके वचनका स्मरण कर मैंने मन-ही-मन स्थिर किया कि यह मन्त्र श्रीजगदीश्वरकी प्राप्ति करानेवाला है। अतः मैं सन्तुष्ट होकर नित्य प्रति उस मन्त्रको जपने लगा॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तस्य गुरोर्वाक्यमिमं जगदीशस्य प्रसादं गृहाणेति-रूपमनुसन्धाय स्मृत्या पर्यालोच्य तं मन्त्रं जगदीश्वरस्य साधकं तत्प्रसादप्रापकं मन्यमानः, ततश्च तुष्यन् तोषणं लभमानः॥१२७॥

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीगुरुदेवके वचन—'यह जगदीश्वरका प्रसाद ग्रहण करो'—को स्मरण कर और उस पर भलीभाँति विचारकर मैंने ऐसा स्थिर किया कि यह मन्त्र जगदीश्वरकी अथवा उनकी कृपाकी प्राप्ति करानेवाला है। ऐसा निश्चय कर सन्तुष्ट होकर मैं सर्वदा उस मन्त्रका जप करने लगा॥१२७॥

कीदृशो जगदीशोऽसौ कदा वा दृश्यतां मया।
तदेकलालसो हित्वा गृहादीन् जाह्नवीमगाम्॥१२८॥

श्लोकानुवाद—वे जगदीश्वर कैसे हैं और कब मुझे उनके दर्शन होंगे? केवल इसी प्रकारकी लालसासे युक्त होकर एक दिन मैं गृहत्याग कर जाह्नवीके (गङ्गाके) तट पर पहुँचा॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च जगदीशः कीदृशः? केन सदृशरूपादियुक्तः? असौ जगदीशो मया कदा वा दृश्यताम्? तस्मिन् जगदीशे तद्दर्शने वा एकस्मिन्नेव लालसा महामनोरथो यस्य तादृशः सन्॥१२८॥

भावानुवाद—वे जगदीश्वर कैसे हैं? मैं कब उन जगदीश्वरका दर्शन प्राप्त करूँगा? इस प्रकारकी लालसा या महामनोरथसे युक्त उत्कण्ठित चित्तवाले उस गोपकुमारने हठात् एकदिन गृहादि सबकुछ त्याग दिया॥१२८॥

दूराच्छंखध्वनिं श्रुत्वा तत्पदं पुलिनं गतः।
विप्रं वीक्ष्यानमं तत्र शालग्रामशिलार्चकम्॥१२९॥

श्लोकानुवाद—दूरसे शंख-ध्वनि सुनकर मैं गङ्गाके उस तट पर पहुँचा जहाँसे ध्वनि आ रही थी। वहाँ मैंने एक ब्राह्मणको देखा जो श्रीशालग्राम-शिलाका अर्चन कर रहे थे। मैंने उनको प्रणाम किया॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य ध्वनेः पदमास्पदं पुलिनं गतः सन्; तत्र पुलिने शालग्रामशिलामर्चयन्तं विप्रमेकं वीक्ष्य अनमं प्रणाममकरवम्॥१२९॥

भावानुवाद—मैं शंख-ध्वनिसे गूञ्जायमान उस गङ्गातट पर गया और वहाँ शालग्राम-शिलाका अर्चन करनेवाले एक विप्रको देखकर उसे प्रणाम किया॥१२९॥

कमिमं यजसि स्वामिन्निति पृष्टो मया हसन्।
सोऽवदत् किं न जानासि बालाऽयं जगदीश्वरः॥१३०॥

श्लोकानुवाद—मैंने विनयपूर्वक उनसे पूछा—हे स्वामिन्! आप किसकी पूजा कर रहे हैं? मेरी बातको सुनकर हँसते हुए उन्होंने कहा—बालक! ये जगदीश्वर हैं, क्या तुम यह नहीं जानते हो?॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यजसि पूजयसीति मया पृष्टः सन् स विप्रो हसन्नवदत्। किम्? तदाह—किमिति वितर्के प्रश्ने वा। हे बाल! शिशो! इमं न जानासि। अज्ञानमत्र न घटते सुप्रसिद्धत्वादिति भावः। ननु सर्वलोक-प्रसिद्धस्याप्यज्ञानं बालत्वात् सम्भवेदेवेति स्वयमेव ज्ञापयति—अयमिति। जगतामीश्वरो यः सोऽयमित्यर्थः॥१३०॥

भावानुवाद—तदनन्तर मैंने उन विप्रसे पूछा, हे स्वामिन्! आप किसकी पूजा कर रहे हैं? मेरे इस प्रकार प्रश्न पूछने पर उस विप्रने हँसते-हँसते कहा—क्या! (इस प्रकारका कथन वितर्क या प्रश्न हो सकता है) बालक! ये कौन है! क्या तुम यह नहीं जानते हो? (यह जिज्ञासा अज्ञानबोधक नहीं है, बल्कि इसके द्वारा अत्यधिक प्रसिद्धिका भाव ही परिस्फुट हुआ है)। यदि कहो कि क्या समस्त लोकोंमें प्रसिद्ध विषयको न जाननेके कारण ही गोपकुमारका बालत्व सम्भव है? उत्तरमें कहते हैं—इसीलिए विप्रने कहा, ये जगदीश्वर हैं, क्या तुम नहीं जानते हो?॥१३०॥

तच्छ्रुत्वाहं सुसंप्राप्तो निधिं लब्ध्वेव निर्धनः।
नष्टं वा बान्धवो बन्धुं परमां मुदमाप्तवान्॥१३१॥

श्लोकानुवाद—यह सुनकर मुझे उसी प्रकारसे आनन्द हुआ जैसे निर्धनको अचानक अत्यधिक धन पाकर अथवा किसीको खोये हुए बन्धुके पुनः मिलन पर होता है॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—परममुदाप्तौ दृष्टान्तद्वयम्—निर्धनः दरिद्रः कश्चित्, नष्टं मृतमदृष्टं वा॥१३१॥

भावानुवाद—परम आनन्दको प्राप्त करनेके कारणको दो दृष्टान्तोंके द्वारा कह रहे हैं। मुझे वैसे ही आनन्द हुआ जैसे किसी निर्धन व्यक्तिको अचानक ही धन प्राप्त कर तथा किसी व्यक्तिको खोये हुए बन्धुके दर्शन होनेसे होता है॥१३१॥

जगदीशं मुहुः पश्यन् दण्डवच्छ्रद्धयानमम्।
पादोदकं सनिर्माल्यं विप्रस्य कृपयाप्नुवम्॥१३२॥

श्लोकानुवाद—मैंने उन जगदीश्वरका श्रद्धा सहित दर्शन किया और उन्हें बार-बार दण्डवत् प्रणाम करने लगा। उन ब्राह्मणने कृपाकर मुझे भगवान्‌का निर्माल्य और चरणामृत प्रदान किया॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—जगदीशं शालग्रामरूपिणं तम्; श्रद्धया विश्वासेन प्रीत्या वा; निर्माल्यं भगवदुत्तीर्णं तुलस्यादि, तेन सहितम्॥१३२॥

भावानुवाद—यहाँ जगदीश्वर कहनेसे शालग्रामशिलारूपी जगदीश्वरके विग्रहको समझना होगा। श्रद्धा सहितका अर्थ है—विश्वास और प्रीति सहित। 'निर्माल्य'का अर्थ है—भगवान्‌की प्रसादी माला और तुलसी तथा 'पादोदक'का अर्थ है—चरणामृत॥१३२॥

उद्यतेन गृहं गन्तुं करण्डे तेन शायितम्।
जगदीशं विलोक्यार्तो व्यलपं सास्त्रमीदृशम॥१३३॥

श्लोकानुवाद—पूजा समाप्त करने पर जब वे ब्राह्मण अपने घर जानेके लिए तैयार हुए, तब उन्होंने जगदीश्वरको एक पेटिकामें शयन करा दिया। ऐसा देखकर मैं बड़ा दुःखी हुआ और अश्रु बहाते हुए इस प्रकार विलाप करने लगा—॥१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन विप्रेन गृहं गन्तुमुद्यतेन सता; करण्डे देवतास्थापन-पात्रविशेषे॥१३३॥

भावानुवाद—पूजा समाप्त कर जब वे विप्र घर जानेके लिए तैयार हुए तब उन्होंने 'करण्ड' अर्थात् देवतास्थापनके पात्र अर्थात् लकड़ीकी पेटिकामें श्रीभगवान्‌को शयन करा दिया॥१३३॥

हा हा धृतः करण्डान्तरस्थाने परमेश्वरः।
किमप्यसौ न चाभुङ्क्त निद्रा तु क्षुधया कथम्॥१३४॥

श्लोकानुवाद—हाय! हाय! मेरे जगदीश्वरको इस लकड़ीकी पेटीमें रख दिया है! इन्होंने कुछ भी नहीं खाया है, भूखा रहने पर इनको नींद कैसे आयेगी?॥१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—धृतो निक्षिप्तः; अस्थाने अयोग्ये, यतः परमेश्वरः; ननु पूजानन्तरं यथास्थाने स्थापनमुचितमेवेत्यत आह—किमपीति, आत्मानुमानेन क्षुन्निवर्तकभोगादर्शनात्॥१३४॥

भावानुवाद—'धृत-निक्षिप्त' अर्थात् रखकर। 'अस्थाने'—परमेश्वरके लिए अयोग्य स्थान पर। यदि कहो कि पूजाके बाद श्रीभगवान्‌को यथास्थानमें स्थापन करना ही कर्त्तव्य होता है, इसीलिए ऐसा कर रहे हैं। 'किमप्यसौ' भूख निवारक—भोगादि न देखकर गोपकुमारने यह समझा कि मेरे जगदीश्वरने कुछ भी भोजन नहीं किया है। अतएव भूखे रहकर इनको नींद कैसे आयेगी?॥१३४॥

प्रकृत्यैव न जानामि माथुरब्राह्मणोत्तम।
अस्माद्विलक्षणः कश्चित् क्वाप्यस्ति जगदीश्वरः॥१३५॥

श्लोकानुवाद—हे माथुर ब्राह्मणश्रेष्ठ! मैं वास्तवमें यह नहीं जानता था कि इन शालग्रामरूपी जगदीश्वरके अलावा अन्य कोई जगदीश्वर भी किसी अन्य स्थान पर हैं॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु जगदीश्वरो नानारूपेण नानास्थाने वर्त्तमानो नानाविधं भोगं कुर्वन्नेवास्ते, कथमनुतप्तवानसि? तत्राह—प्रकृत्येति स्वभावेनैव। किं तदाह,—अस्मादिति; दृश्यमान-शालग्रामशिलारूपात्॥१३५॥

भावानुवाद—यदि कहो कि जगदीश्वर नाना रूपोंमें नाना स्थानों पर वर्त्तमान हैं और नाना-प्रकारके उपचारादिका भोग करते हैं, अतः तुम अनुतप्त क्यों हो रहे हो? इसके उत्तरमें गोपकुमार द्वारा 'प्रकृत्यैव' इत्यादि श्लोक कहा गया है, अर्थात् वास्तवमें मैं नहीं जानता था कि इन दृश्यमान शालग्रामरूपी जगदीश्वरके अलावा अन्य कोई जगदीश्वर भी कहीं पर हैं॥१३५॥

इत्यकृत्रिमसन्तापं　　विलापातुरमब्रवीत्।
ब्राह्मणः सान्त्वयित्वा मां ह्रीणवद्विनयान्वितः॥१३६॥

श्लोकानुवाद—मेरे सन्ताप और विलापकी विवशताको देखकर वे ब्राह्मणदेव मुझे सान्त्वना देकर लज्जित भावसे विनयपूर्वक कहने लगे—॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इति, अतएव एवमिति वा; अकृत्रिमः स्वाभाविकः न तु कापट्यादिनोत्पादितो यः सन्तापः शोक आधिर्वा, तेन ये विलापाः *'किञ्चिदपि जगदीशो नाभुङ्क्ते'* इत्यादिरूपपरिदेवनानि तैरातुरं विवशम्; ह्रीणो लज्जितो दारिद्र्येण पुरुषाहारस्याप्यसमर्पणात्। वस्तुतस्तु तत्स्थाने तादृश-भोग-सम्पादनस्य दुर्घटत्वात्, अतएव किंवा तत्प्रेमविशेषदर्शनाद्विनयेनान्वितः॥१३६॥

भावानुवाद—इस प्रकार मेरे सन्ताप या शोकपीड़ाको स्वाभाविक अर्थात् कपटता आदि दोषोंसे रहित जानकर, विशेषकर मेरे उस तात्कालिक विलाप अर्थात् 'जगदीश्वर बिना कुछ खाये-पीये भूखसे व्याकुल होंगे' इत्यादि वेदना पूर्ण विवशताको देखकर उस शालग्राम अर्चनकारी ब्राह्मणने लज्जित होकर कहा—"मैं दरिद्र हूँ, उस प्रकारका नैवेद्य (भोग) अर्पण करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है।" वास्तविक रूपमें इस स्थान पर वैसा भोग-सम्पादन (प्रदान करना) भी अत्यन्त दुर्घट है, अतएव गोपकुमारमें वैसे विशेष प्रेमका दर्शनकर वह ब्राह्मण विनयपूर्वक कहने लगे—॥१३६॥

नववैष्णव किं कर्तुं दरिद्रः शक्नुयां परम्।
अर्पयामि स्वभोग्यं हि जगदीशाय केवलम्॥१३७॥

श्लोकानुवाद—हे नवीन वैष्णव! मैं दरिद्र हूँ, इससे अधिक मैं क्या कर सकता हूँ। जगदीश्वरको केवल अपनी भोग्य-वस्तुको ही अर्पण करता हूँ॥१३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे नववैष्णवेति कुत्राप्यन्यत्र शालग्रामशिलादिपूजनं मत्सदृशैराचर्यमाणं न दृष्टवानसि इति भावः। परमन्यत् इतोऽधिकम् इत्यर्थः। स्वस्य मम भोग्यं भोजनीयद्रव्यमेव॥१३७॥

भावानुवाद—क्या तुमने अन्यत्र कहीं पर किसीको भी मेरे समान शालग्राम-पूजादि करते नहीं देखा है? इसलिए 'नवीन वैष्णव' कहकर सम्बोधन कर रहे हैं। 'परम' कहनेका तात्पर्य है—इससे अधिक मैं क्या कर सकता हूँ? मैं दरिद्र ब्राह्मण हूँ, जगदीश्वरको केवल अपने भोगकी वस्तुएँ ही अर्पण कर सकता हूँ॥१३७॥

यदि पूजोत्सवं तस्य वैभवञ्च दिदृक्षसे।
तदैतद्देशराजस्य विष्णुपूजानुरागिणः॥१३८॥
महासाधोः पुरीं याहि वर्त्तमानामदूरतः।
तत्र साक्षात् समीक्षस्व दुर्दर्शं जगदीश्वरम्॥१३९॥
हृत्पूरकं महानन्दं सर्वथानुभविष्यसि।
इदानीमेत्य मद्गेहे भुंक्ष्व विष्णुनिवेदितम्॥१४०॥

श्लोकानुवाद—यदि तुम श्रीजगदीश्वरके पूजा-महोत्सवों तथा वैभवको देखनेके इच्छुक हो, तो इसी देशके राजा जो श्रीविष्णुपूजाके बड़े अनुरागी हैं और बहुत बड़े साधु हैं, निकट स्थित उनकी पुरीमें चले जाओ। वहाँ साक्षात् उन श्रीजगदीश्वरका दर्शन करो जो बहुत दुर्लभतासे प्राप्त होते हैं। वहाँ तुम समस्त प्रकारके महानन्दका अनुभव करोगे और उस आनन्दसे तुम्हारा हृदय पूर्ण हो जायेगा। अभी तुम मेरे घर चलकर श्रीविष्णुनिवेदित किञ्चित् प्रसाद ग्रहण करो॥१३८-१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य जगदीशस्य पूजैव उत्सवः परमाभ्युदयिकं कर्म तम्; वैभवं शयनागारपर्यङ्कादि; एष गङ्गातीरसम्बन्धी यो देशो विषयस्तस्य राजा भूमिपः, तस्य तन्मण्डलेश्वरस्येत्यर्थः। विष्णोः पूजायामनुरागः प्रीतिरासक्तिर्वा तद्वतः। कुतः?

महासाधोः, कर्मज्ञानादिपराणां साधुनां मध्ये श्रेष्ठतमस्येत्यर्थः। दुर्दर्शमपि साक्षात् प्रत्यक्षं सम्यक् सुखेन ईक्षस्व; यद्वा, साक्षात् जगदीश्वरं शालग्रामशिलापेक्षया प्रकटितसर्वाङ्गशोभाविशेषेण स्वयमेव साक्षाद्भूतमिवेत्यर्थः। सर्वथा सर्वप्रकारेण हृन्मनः पूरयतीति तथा तं सम्पूर्णमित्यर्थः। यद्वा, स्वस्थानमनतिक्रम्यैव सम्बन्धनीयमेतत्। ततश्च श्रीमच्चरणाद्यवयव–शोभाविचित्र–भोगसामग्री–पर्यङ्कादि–दर्शन–गीत–स्तुत्यादिश्रवण नैवेद्यभोजनादिविचित्रप्रकारेण महान्तमानन्दं साक्षात् प्राप्स्यसीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि शालग्रामशिलारूप्ययमपि जगदीश्वर एव, तथाप्यस्मिन् सर्वाङ्गवैभव–प्राकट्याभावेन तथा मम दारिद्र्यात् पूजामहोत्सवाभावेन तत्प्रेमभक्तस्य सन्तोषः किल न स्यात्। तत्र च तत्तद्वृत्तेः स सेत्स्यत्येवेति। इदानीमिति पश्चात्तत्र गन्तासि; आदौ च मद्गेहे आगत्य विष्णवे निवेदितं समर्पितं सत् किञ्चिदन्नादिकं भुङ्क्ष्वेत्यर्थः॥१३८–१४०॥

भावानुवाद—यदि जगदीश्वरकी पूजा, उत्सव और उससे सम्बन्धित परम समृद्धिपूर्ण कर्म तथा उनके वैभव अर्थात् शयनकक्ष, पलङ्गादि देखनेकी इच्छा हो, तो इस गङ्गाके तटवर्त्ती देशमें जाओ। उस देशके राजा विष्णुपूजाके अनुरागी हैं अर्थात् बड़ी प्रीति और आसक्ति सहित श्रीविष्णुकी पूजा करते हैं। वे राजा किस प्रकारके हैं? वे महासाधु हैं, कर्म–ज्ञानादिपरायण साधुओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। तुम इसकी पुरीमें जाकर दुर्लभ होने पर भी साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष रूपमें जगदीश्वरका भलीभाँति सुखपूर्वक दर्शन करो। अथवा साक्षात् जगदीश्वर अर्थात् शालग्राम–शिलाकी तुलनामें समस्त अङ्गों सहित प्रकटित–शोभा विशेषसे युक्त उन साक्षात् जगदीश्वरका दर्शन करो। उनके दर्शनसे तुम समस्त प्रकारके महान आनन्दका अनुभव करोगे और उस आनन्दसे तुम्हारा हृदय–मन पूर्ण हो जायेगा। उस राजाकी पुरी इस स्थानसे बहुत दूर नहीं है, तुम उस स्थान पर जाकर श्रीजगदरीश्वरके चरणादि अङ्गोंकी विचित्र शोभा, विविध भोग–सामग्री और पलङ्गादि अनन्त प्रकारके वैभवोंका दर्शन करो, गीत–स्तुति आदि श्रवण करो तथा विचित्र प्रकारके नैवेद्यादि भोजन द्वारा तुम महान आनन्द प्राप्त करो। यद्यपि शालग्रामशिला भी जगदीश्वर हैं, तथापि इनके समस्त अङ्ग प्रकटित नहीं है। विशेषतः मेरी दरिद्रतावशतः मैं इनकी यथारीति पूजा–महोत्सवादि नहीं कर पाता तथा इसी कारण इनके प्रेमी भक्तोंको सन्तोष प्राप्त नहीं होता। फिर भी अपनी वृत्तिसे

उत्साहित होकर ही इनकी (शालग्रामकी) पूजाादि कर रहा हूँ। अभी तुम मेरे घर पर चलकर विष्णुनिवेदित किञ्चित् अन्नादि प्रसाद ग्रहण करो तथा उसके बाद उस पुरीके लिए गमन करना॥१३८-१४०॥

तद्वाचानन्दितोऽगत्वा क्षुधितोऽपि तदालयम्।
तं प्रणम्य तदुद्दिष्टवर्त्मना तां पुरीमगाम्॥१४१॥

श्लोकानुवाद—मैं उन ब्राह्मणके वचन सुनकर बहुत आनन्दित हुआ, किन्तु भूखा होने पर भी उनके घर नहीं गया। मैं उनको प्रणामकर उनके बताये हुए रास्तेसे उस राजपुरीमें जा पहुँचा॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य विप्रस्य आलयं गेहमगत्वा; तत्र हेतुः,—तस्य वाचा आनन्दित इति। तं ब्राह्मणं प्रणम्य; तद्वाक्यातिक्रमणापराधक्षमार्थं यात्रा-मङ्गलार्थं वा प्रकर्षेण भक्त्या पुनः पुनर्नत्वा दण्डपातादिना नत्वा तेन विप्रेण उद्दिष्टं सूचितं यद्वर्त्म पुरीमार्गस्तेन; तां विप्रोक्ताम्॥१४१॥

भावानुवाद—मैं उन ब्राह्मणके घर नहीं गया, इसका कारण था कि उनके वचनोंको सुनकर ही आनन्दित हो गया। तदनन्तर उन ब्राह्मणको बार-बार प्रणाम किया अर्थात् उनके घर जाकर प्रसाद ग्रहण न करने हेतु अपराध क्षमाके लिए और यात्राके मङ्गल या भक्तिके उत्कर्ष (वृद्धि)के लिए उनको बार-बार दण्डवत् प्रणामकर उनके बताये हुए मार्गसे राजपुरीके लिए गमन किया॥१४१॥

अन्तःपुरे देवकुले जगदीशार्चनध्वनिम्।
अपूर्वं तुमुलं दूराच्छ्रुत्वापृच्छममुं जनान्॥१४२॥

श्लोकानुवाद—उस पुरीके बीचमें एक देवमन्दिरमें श्रीजगदीश्वरके अर्चनकी तुमुल ध्वनि हो रही थी। मैंने दूरसे उस अपूर्व ध्वनिको सुना तथा स्थानीय लोगोंसे उस ध्वनिकी उत्पत्तिका कारण पूछा॥१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्तःपुरे पुरीमध्ये यद्देवकुलं देवप्रासादविशेषस्तस्मिन्। अपूर्वमद्भुतं पूर्वमननुभूतत्वात्; तुमुलं संकुलमुच्चावचमिति यावत्। नीराजनावसरे युगपद्विचित्र-गीत-वाद्याद्यावृत्तेः; अमुं जगदीशं ध्वनिं वा, जनान् तत्रत्यलोकान् अपृच्छम्—'कुत्र जगदीश्वरः?' इति। यद्वा 'को नामायं शब्दः? कुतः कुत्र वा' इति प्रश्नमकरवम्॥१४२॥

भावानुवाद—अन्तःपुरमें अर्थात् उस राजपुरीके बीच स्थित देवप्रसाद (बहुत विशाल मन्दिर)में अपूर्व और अद्भुत प्रचण्ड शब्द हो रहा था—जिसको मैंने पहले कभी भी नहीं सुना था। उसको सुनकर मैंने सोचा कि यह जगदीश्वरके अर्चनकी ध्वनि होगी। तब वहाँके स्थानीय लोगोंसे इस सम्बन्धमें पूछा—जगदीश्वर कहाँ हैं? यह किसके नामोंकी ध्वनि हो रही है? यह शब्द कहाँ हो रहा है? मैंने इस प्रकारके बहुत प्रश्न किये॥१४२॥

विज्ञाय तत्र जगदीश्वरमीक्षितुं तं
केनाप्यवारितगतिः सजवं प्रविश्य।
शंखारिपङ्कजगदा-विलसत्कराब्जं
श्रीमच्चतुर्भुजमपश्यमहं समक्षम्॥१४३॥

श्लोकानुवाद—लोगोंसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह सचमुच जगदीश्वरके अर्चनकी ही ध्वनि थी। तब मैं जगदीश्वर भगवान्‌का दर्शन करनेके लिए अतिशीघ्रतापूर्वक चल दिया। द्वार पर किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं होनेके कारण मैंने तुरन्त मन्दिरमें प्रवेश किया और शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज जगदीश्वरका दर्शन किया॥१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—विज्ञाय ध्वनिं तदुत्पत्तिकारणं वा, जगदीश्वरमेव वा। तत्र देवकुले प्रविश्य सजवं वेगेन धावन्नित्यर्थः। तं विप्रोक्तः निजदिदृक्षितं वापश्यम्। केनापि जनेन प्रतीहार्यादिना न वारिता न निषिद्धा गतिरन्तःपुर-प्रवेशरूपा यस्य सः, तं कीदृशम्? शंख-चक्र-पद्म-गदाभिर्विलसन्ति शोभमानानि कराब्जानि यस्य, श्रीमन्तः भोगिभोगाकारादिना शोभातिशययुक्ताश्चत्वारो भुजा यस्य॥१४३॥

भावानुवाद—उस ध्वनिकी उत्पत्तिका कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह जगदीश्वरके अर्चनकी ही ध्वनि है। तब जगदीश्वरका दर्शन करनेके लिए मैंने तीव्र गतिसे अर्थात् भागते हुए उस देवमन्दिरमें प्रवेश किया तथा उस विप्रके कथनानुसार साक्षात् जगदीश्वरको अपनी आँखोंसे देखा। उस देवमन्दिरमें प्रवेश करते समय किसी भी द्वारपालने मुझे नहीं रोका। वे जगदीश्वर किस प्रकारके थे? इसके उत्तरमें कहते हैं—शंख, चक्र, गदा, पद्म द्वारा उनके चार हाथ

शोभायमान थे, ऐसे श्रीमन्त अर्थात् भोग-पूर्णरूपमें सुशोभित चतुर्भुज जगदीश्वरका दर्शन किया॥१४३॥

सर्वाङ्गसुन्दरतरं नवमेघकान्तिं
कौशेयपीतवसनं वनमालयाढ्यम्।
सौवर्णभूषणमवर्ण्यकिशोरमूर्तिं
पूर्णेन्दुवक्त्रममृतस्मितमब्जनेत्रम् ॥१४४॥

श्लोकानुवाद—उनके समस्त अङ्ग अतिसुन्दर थे, उनकी कान्ति नवीन मेघके समान थी तथा वे रेशमी पीतवस्त्र धारण किये हुए थे। वे वनमाला और स्वर्णके भूषणोंसे विभूषित थे और उनका किशोर स्वरूप अपूर्व था। उनका मुखारविन्द पूर्ण चन्द्रमाके समान, मन्दहास्य अमृतके समान तथा दोनों नेत्र कमलके समान थे और भ्रू-भङ्गि विलाससे पूर्ण थी॥१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव पुनर्विशिनष्टि-सर्वाङ्गेति द्वाभ्याम्। सर्वैरङ्गैः श्रीमुखनेत्रादिभिः सुन्दरतरं परममनोहरम्। सौवर्णानि सुवर्णरचितानि सुवर्ण-विकारप्रायाणि वा भूषणानि किरीटकुण्डलादीनि यस्य; अवर्ण्या वर्णयितुमशक्या किशोरी कैशोर वयसि वर्त्तमाना मूर्त्तिर्यस्य; एवमखिलं सौन्दर्य-माधुर्यादिकमुक्तमेव। तथाप्यौत्सुक्यान्निजमनोहरं किञ्चित् पुनर्विशेषेण वर्णयति-पूर्णेति पदत्रयेण॥१४४॥

भावानुवाद—'सर्वाङ्ग' इत्यादि दो श्लोकोंमें गोपकुमार द्वारा किये गये जगदीश्वरके दर्शनका वर्णन कर रहे हैं। उनके समस्त अङ्ग—श्रीमुख, नेत्रादि अतिसुन्दर अर्थात् परम मनोहर थे। वे स्वर्ण निर्मित किरीट-कुण्डलादि भूषणों द्वारा परिशोभित थे। नवीन मेघकी कान्तिको पराभूत करनेवाली उनकी अङ्गकान्ति तथा किशोर आयुयुक्त उनकी श्रीमूर्त्ति वर्णनके अतीत थी। यद्यपि उनकी वह श्रीमूर्त्ति अखिल सौन्दर्य-माधुर्य द्वारा परिपूर्ण थी, तथापि उत्सुकतावशतः अपने द्वारा अनुभव किये गये मनोहर सौन्दर्यको कुछ विशेषरूपसे 'पूर्ण' इत्यादि तीन पदोंके द्वारा कह रहे हैं॥१४४॥

सम्पूजितविविधदुर्लभवस्तुवर्गैः
सेवानुषक्तपरिचारकवृन्दजुष्टम् ।

नृत्यादिकञ्च पुरतोऽनुभवन्तमारा-
त्तिष्ठन्तमासनवरे सुपरिच्छदौघम्॥१४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीजगदीश्वर नाना-प्रकारके दुर्लभ उपकरणोंके द्वारा पूजित हो रहे थे तथा सेवा-अनुरक्त परिचारकगण उनकी परिचर्यामें तत्पर थे। वे नाना-प्रकारके परम सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित होकर श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान थे, उनके समक्ष नृत्य-गानादि महोत्सव हो रहा था तथा वे प्रभु बिना पलक झपकाये इन सब उत्सवोंका दर्शन कर रहे थे॥१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—विविधैर्दुर्लभैः परमोत्तमैर्वस्तुवर्गैर्द्रव्यजातैः कृत्वा सम्यक् यथाविधि पूजितम्; सेवाश्चामरान्दोलन-ताम्बूल समर्पणाद्यास्तासु अनुषक्ता अनुरागेण व्यग्रा ये परिचारकाः सेवकास्तेषां वृन्देन जुष्टं सेवितम्, आराद्दूरे पुरतोऽग्रदेशे वर्त्तमानं नृत्यादिकं महोत्सवमनुभवन्तं साक्षादनिमेषदर्शनादिना स्वीकुर्वन्तम्; अतएव आसनवरे सिंहासनोपरि तिष्ठन्तं, न तु प्रविशन्तम्। सुशोभनः परिच्छदानां वितानातपत्रादीनामोघः समूहो यस्य; एतेनानुक्तमन्यदपि तद्योग्यं गृहपरिकरादि-कमूह्यम्॥१४५॥

भावानुवाद—उस देवमन्दिरमें विविध प्रकारके दुर्लभ और अत्यन्त उत्तम उपहारोंके द्वारा श्रीजगदीश्वरकी यथाविधि पूजा हो रही थी। कोई सेवक चामर ढुला रहे थे और कोई ताम्बूल अर्पण कर रहे थे। इस प्रकार सेवा-अनुरागी विविध परिचारकगण उनकी परिचर्यामें नियुक्त थे। उनके सामने थोड़ी दूरी पर नृत्य-गीतादि महोत्सव हो रहा था तथा प्रभु इस उत्सवको बिना पलक झपकाये दर्शन कर रहे थे। चन्द्रकी किरणोंसे सुशोभित दिव्य सिंहासनके ऊपर प्रभु परमसुन्दर विविध वस्त्र-आभूषणों द्वारा विभूषित होकर विराजमान थे। इसके अलावा जो कुछ नहीं कहा गया है, उनके योग्य वह सब अर्थात् गृह-परिकरादि और उन परिकरोंकी तदनुरूप सेवाादिको भी यहाँ समझना होगा॥१४५॥

परमानन्दपूर्णोऽहं प्रणमन् दण्डवन्मुहुः।
व्यचिन्तयमिदं स्वस्यापश्यमद्य दिदृक्षितम्॥१४६॥

श्लोकानुवाद—मैं उनका दर्शनकर परमानन्दसे पूर्ण हो गया और उनको बार-बार दण्डवत् प्रणाम करने लगा। मैं मन-ही-मन विचार करने लगा कि मेरी बहुत दिनोंसे जिनके दर्शन करनेकी अभिलाषा थी, आज पूरी हो गयी॥१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदन्तया परामृष्टमेव विवृणोति—स्वस्य मम दिदृक्षितं द्रष्टुमिष्टमद्यैवापश्यमिति॥१४६॥

भावानुवाद—यहाँ 'परामृष्टता' अर्थात् बहुत दिनोंकी अपनी अपूर्ण लालसाके विषयमें कह रहे हैं। मेरी जो कुछ देखनेकी अभिलाषा और उत्कण्ठा थी, आज वह पूर्ण हो गयी है अर्थात् आज मुझे उनका दर्शन हो गया है॥१४६॥

सम्प्राप्तो जन्मसाफल्यं न गमिष्याम्यतः क्वचित्।
वैष्णवानाञ्च कृपया तत्रैव न्यवसं सुखम्॥१४७॥

श्लोकानुवाद—उस समय मैंने अपने जन्मको सफल समझा और निश्चय किया कि इस स्थानको त्यागकर अन्य किसी भी स्थान पर नहीं जाऊँगा। तब मैं वैष्णवोंकी कृपासे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, अहं जन्मनः साफल्यं फलं सम्यक् प्राप्तः। अतः अस्मात् स्थानात् क्वचिदन्यत्र न गमिष्यामीति। गृहादिपरित्यागेन तीर्थाटन-स्यात्र निजाभीष्टफलसिद्धेः। ननु वैदेशिकस्याकिञ्चनस्य राजान्तःपुरे कथं भोजनादिसम्पत्त्या वासो घटेत? इत्यपेक्षायामाह—वैष्णवानामिति। तत्सेवकानां महाप्रसाददानाश्वासन-पालनादिरूपया कृपया तत्र देवालये न्यवसं, सुखेन वासमकरवम्॥१४७॥

भावानुवाद—गोपकुमार उपरोक्त विषयके सम्बन्धमें कुछ और भी कह रहे हैं—आज मेरा जन्म सफल हुआ अर्थात् मुझे अपने समस्त जीवनका सम्पूर्ण फल प्राप्त हो गया। अतएव इस स्थानको छोड़कर अन्य किसी भी स्थान पर कदापि नहीं जाऊँगा, क्योंकि इसी स्थान पर मेरे गृहादि परित्याग तथा तीर्थादि पर्यटनका अभीष्ट फल सिद्ध हुआ है। यदि प्रश्न हो कि किसी विदेशी (अन्य स्थानोंसे आये हुए) अकिञ्चन व्यक्तिका राजाके अन्तःपुरमें वास तथा भोजनादि किस

प्रकार सम्भव होगा? इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—वैष्णवोंकी कृपासे ही उस स्थान पर सुखपूर्वक वास करने लगा। अर्थात् श्रीजगदीश्वरके सेवकोंके महाप्रसाद और उनके आश्वासन प्रदान-परिपालनरूप कृपासे ही इस देवालयमें सुखपूर्वक वास करने लगा॥१४७॥

भुञ्जानो विष्णुनैवेद्यं पश्यन् पूजामहोत्सवम्।
शृण्वन् पूजादिमाहात्म्यं यत्नान्मन्त्रं रहो जपन्॥१४८॥

श्लोकानुवाद—वहाँ मैं प्रतिदिन भगवान् श्रीविष्णुका महाप्रसाद ग्रहण करता, उनके पूजा-महोत्सवका दर्शन करता, पूजा माहात्म्यको श्रवण करता और निर्जनमें बैठकर यत्नपूर्वक अपने इष्टमन्त्रका जप भी करता॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सुखवासमेव प्रपञ्चयन्नात्मानं विशिनष्टि—भुञ्जान इति। पूजाया माहात्म्यं, ततोऽधिकमन्यत् किञ्चित् कर्त्तव्यं नास्तीत्यादिरूपं महिमानं, तद्विधानप्रकारविशेषं वा। आदिशब्देन नैवद्यभक्षणादि, तस्य च माहात्म्यम्—*'षड़भिर्मासोपवासैस्तु यत् फलं परिकीर्त्तितम्। विष्णोर्नैवेद्यसिक्थान्नं भुञ्जतां तत् कलौ युगे॥'* इत्याद्युक्तलक्षणम्। एवं तत्तच्छ्रास्त्रश्रवणेनापि तस्य स्वर्गादिज्ञानमपि न वृत्तमित्यूह्यम्॥१४८॥

भावानुवाद—'भुञ्जान' इत्यादि श्लोक द्वारा सुखपूर्वक वास करनेका कारण बता रहे हैं। किसी व्यक्तिके लिए 'भगवान्‌की पूजाादिका माहात्म्य श्रवण करनेसे अधिक या उसके अलावा और कोई भी कर्त्तव्य नहीं है'—मैं इस प्रकारकी महिमा-प्रतिपादक या पूजाके विधानका श्रवण करता। 'आदि' शब्दके द्वारा महाप्रसाद भोजनादि समझना होगा। भगवान्‌के महाप्रसादका माहात्म्य शास्त्रोंमें लिखा है—"छह मास उपवासपूर्वक व्रतका आचरण करनेसे जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें एक बार श्रीविष्णुनिवेदित महाप्रसादान्न भोजन करनेसे वही फल प्राप्त होता है।"—मैं ऐसे लक्षणोंसे युक्त शास्त्र-वचनोंका श्रवण करता। ऐसे शास्त्रोंका श्रवण करने पर भी मुझे उनमें उल्लिखित स्वर्गादिसे सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ—यह अव्यक्त रहा॥१४८॥

अस्यास्तु व्रजभूमेः श्रीर्गोपक्रीड़ा-सुखञ्च तत्।
कदाचिदपि मे ब्रह्मन्! हृदयान्नापसर्पति॥१४९॥

श्लोकानुवाद—परन्तु हे ब्राह्मण! ऐसा होने पर भी व्रजभूमिकी शोभा और गोपबालकोंके साथ खेलनेका आनन्द मेरे हृदयसे दूर नहीं हुआ, अपितु सदैव जाग्रत रहता था॥१४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजजपसिद्धिलक्षणं दर्शयन्निव तत्तद्भगवत्पूजोत्सवानुभवादपि माथुरव्रजभूमिपरिभ्रमणस्य सुखाधिक्यमभिप्रेत्याह—अस्या इति। तु-शब्दः सर्वापेक्षया वैशिष्ट्ये; श्रीः शोभा, तत् स्वयं मया तत्र कृतं यत् अनिर्वचनीयमिति वा; कदाचिदपि जाग्रति स्वप्नादौ वा, तत्तत्पूजामहोत्सवाद्यनुभवसमयेऽपीति वा॥१४९॥

भावानुवाद—यहाँ अपने मन्त्रजपकी सिद्धिके लक्षणोंको दिखा रहे हैं, अर्थात् भगवान्‌की वैसी पूजा और उत्सवादिमें आनन्दका अनुभव होने पर भी माथुर-व्रजभूमिमें परिभ्रमणका सुख अधिक है—इसी अभिप्रायसे 'अस्या' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँ 'तु' शब्दका अर्थ है—सबकी तुलनामें वैशिष्ट्यपूर्ण। 'श्री' अर्थात् शोभा—जिसका मैंने स्वयं अनुभव किया है अर्थात् वैसी गोपक्रीड़ा और व्रजभूमिकी विशेष शोभा अनिर्वचनीय है, उसको जाग्रत अथवा स्वप्न किसी भी अवस्थामें भूल नहीं पाता। यहाँ तक कि वैष्णवसङ्गमें पूजा-महोत्सवादिका आनन्द अनुभव करते समय भी वह शोभा हृदयमें जाग्रत रहती॥१४९॥

एवं दिनानि कतिचित् सानन्दं तत्र तिष्ठतः।
तादृक्पूजाविधाने मे परमा लालसाजनि॥१५०॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार कुछ दिन परमानन्दपूर्वक वहाँ वास करने तथा वहाँ होनेवाली श्रीजगदीश्वरकी पूजाको देखते-देखते मुझमें भी उस प्रकारके पूजा-अनुष्ठान करनेकी अत्यधिक लालसा जाग्रत हुई॥१५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं निजमन्त्रजपमहिमानं दर्शयितुं स्वमनोरथसिद्धिमाह-एवमिति त्रिभिः। तादृश्यास्तत्पूजासदृश्या भगवत्पूजाया विधाने विषये॥१५०॥

भावानुवाद—अब अपने मन्त्रजपकी महिमाका प्रदर्शन कर अपने मनोरथकी सिद्धिके विषयमें 'एवम्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं।

'उस प्रकारके पूजा–अनुष्ठानमें' अर्थात् उस राजाके द्वारा संचालित भगवान्‌की पूजा विधानके विषयमें लालसा उत्पन्न हुई॥१५०॥

अथापुत्रः स राजा मां वैदेशिकमपि प्रियात्।
सुशीलं वीक्ष्य पुत्रत्वे परिकल्प्याचिरान्मृतः॥१५१॥

श्लोकानुवाद—वहाँके राजा अपना कोई पुत्र नहीं था, विदेशी (अन्य स्थानसे आये हुए) होने पर भी मेरे सुशीलता इत्यादि गुणोंको देखकर मुझसे प्रीति करता था। मुझे पुत्र रूपमें गोद लेकर शीघ्र ही उसने परलोक गमन किया॥१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ दिनकतिपयानन्तरं प्रियात् प्रीत्या पुत्रत्वे परिकल्प्य, पुत्रं कल्पयित्वा॥१५१॥

भावानुवाद—कुछ दिनों बाद ही उस पुत्ररहित राजाने प्रीतिवशतः पुत्रके रूपमें मेरी परिकल्पना की अर्थात् मुझे पुत्र रूपमें ग्रहण किया॥१५१॥

मया च लब्ध्वा तद्राज्यं विष्णुपूजामुदाधिका।
प्रवर्तिता तदन्नैश्च भोज्यन्ते साधवोऽन्वहम्॥१५२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार अनायास ही मुझे राज्य प्राप्त हुआ। मैंने भी उस राज्यको प्राप्तकर आनन्दपूर्वक पहलेकी तुलनामें अधिक समारोहपूर्वक विष्णुपूजादिका आरम्भ किया और श्रीविष्णुको अर्पित महाप्रसाद अन्न द्वारा प्रतिदिन बहुतसे साधुओंको भोजन कराने लगा॥१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधिका पूर्वतो बहुगुणा; तदन्नैर्विष्णुपूजान्नैः॥१५२॥

भावानुवाद—'अधिक'—पहलेसे अनेक गुणा अधिक। 'तदन्नै'—विष्णुपूजाके अन्न अर्थात् महाप्रसादके द्वारा॥१५२॥

स्वयञ्च क्वचिदासक्तिमकृत्वा पूर्ववद्वसन्।
जपं निर्वाहयन् भुञ्जे प्रसादान्नं प्रभोः परम्॥१५३॥

श्लोकानुवाद—यह सब करता हुआ भी मैं स्वयं किसी भी विषयमें आसक्त न होकर पहलेकी भाँति अकिञ्चन रूपमें रहता था और

निर्जनमें अपने मन्त्रजपको समाप्तकर केवल प्रभुका प्रसाद-अन्न ही ग्रहण करता था॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—राज्यसम्बन्धादपि तन्मन्त्रप्रभावेण कोऽपि विकारो मे नाभूदित्यभिप्रेत्याह—स्वयमिति। क्वचित् कस्मिन्नपि द्रव्यादौ; पूर्ववत् राज्यप्राप्तेः पूर्वमकिञ्चनत्वेन यथाऽवसं तथैव। अतएव निजमन्त्रजपं निर्वाहयन् नित्यमाचरन् परं केवलं प्रभोः प्रसादरूपमन्नं जगदीशस्योच्छिष्टमन्नमात्रं प्रसादबुद्धया निजशरीर-निर्वाहायैव गृह्णामीत्यर्थः॥१५३॥

भावानुवाद—राज्यसे सम्बन्ध होने पर भी मन्त्रजपके प्रभावसे मैं किसी भी प्रकारसे विकारग्रस्त नहीं हुआ। इसीको बतलानेके लिए 'स्वयम्' इत्यादि श्लोक कहा गया है। राज्य प्राप्त होने पर भी किसी द्रव्यादिके प्रति कदापि आसक्त न होकर मैं पहलेकी भाँति अकिञ्चनके समान वास करता था। अतएव नियमितरूपसे अपने मन्त्रजपको समाप्तकर केवल प्रभुके प्रसादरूप अन्न अर्थात् जगदीश्वरके उच्छिष्ट अन्नमात्रको प्रसादबुद्धिसे अपने शरीर निर्वाहके लिए ग्रहण करता था॥१५३॥

राज्ञोऽस्य परिवारेभ्यः प्रादां राज्यं विभज्य तत्।
तथापि राज्यसम्बन्धाद्दुःखं मे बहुधोद्भवेत्॥१५४॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैंने उस राज्यको यथोचितरूपसे विभागकर राजाके परिवार और उनके बन्धु-बान्धवोंमें बाँट दिया था, तथापि मुझे राज्यसे सम्बन्धित अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त होते थे॥१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं चेत्तर्हि राजाज्ञया विना राज्यकार्यं कथं सिध्येत्? तत्राह—राज्ञ इति। अस्य मृतस्य राज्ञो ये परिवारा ज्ञातिबन्धुमित्रामात्यादयस्तेभ्यस्तद्राज्यं विभज्य यथान्यायं भागं कृत्वा प्रकर्षेण तत्तदाज्ञाधिकृतत्वादिना सम्यक्प्रकारेणादाम्। इदानीं ततोऽप्युत्तमफलप्राप्तिं वक्तुं तादृगपि राज्यसम्पर्को विवेकिनां वैष्णवानां न सुखकर इति दर्शयन् तत्परित्यागाय निर्वेदहेतूनाह—तथापीति सार्द्धद्वाभ्याम्॥ १५४॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि राजाकी आज्ञाके बिना राजकार्य किस प्रकार सम्पन्न होता था? इसके उत्तरमें 'राज्ञ' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मैंने उस राज्यको न्यायपूर्वक विभागकर परलोकगत राजाके परिवार, रक्त-सम्बन्धी, बन्धु, मित्र और मन्त्रियोंमें बाँट दिया था,

इसीलिए सब प्रकारका राजकार्य भलीभाँति सम्पन्न होता अर्थात् उन लोगोंकी आज्ञानुसार राजकार्य परिचालित होता था। अब उससे भी उत्तम फलकी प्राप्तिके लिए कह रहे हैं—'तथापि राज्यके सम्बन्धसे मुझमें दुःख ही उत्पन्न होता था', अर्थात् इस प्रकारका राज्यसम्पर्क विवेकी वैष्णवोंके लिए कभी भी सुखकर नहीं होता। वैसे दुःखको दूर करनेके लिए उस राज्यका परित्याग ही विहित व्यवस्था है। इस प्रकार अपने निर्वेदका कारण 'तथापि' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें कह रहे हैं॥१५४॥

कदापि परराष्ट्राद्भीः कदाचिच्चक्रवर्तिनः।
विविधादेशसन्दोह–पालनेनास्वतन्त्रता ॥१५५॥

श्लोकानुवाद—कभी तो दूसरे राष्ट्रों (राजाओं)का डर और कभी चक्रवर्ती राजाके अधीन होकर उनके नाना–प्रकारके आदेशोंके पालनमें पराधीनताका दुःख उठाना पड़ता था॥१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहुप्रकारेण दुःखोद्भवमेवाह—कदापीति। परराष्ट्रादिति विपक्षराजतस्तदीयलोकतश्च भयं स्यादित्यर्थः। चक्रवर्ती सर्वमण्डलेश्वराधिपः सम्राट्, तस्य ये विविधा आदेशाः 'इदं क्रियतामिदं न' इत्यादिरूपास्तेषां सन्दोहस्य पालनेन सम्पादनेनास्वातन्त्र्यं स्यात्॥१५५॥

भावानुवाद—राजा होनेके कारण बहुत प्रकारके दुःख उत्पन्न होते थे, इसीको बतलानेके लिए 'कदापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। परराष्ट्रादि अर्थात् विपक्षके राजा या उनके लोगोंसे भय रहता था। राज्यचक्रवर्ती—सर्वमण्डलेश्वराधिपति सम्राटके नाना–प्रकारके आदेश 'ऐसा करना होगा, ऐसा नहीं' इत्यादि विविध आदेशोंको पालन करनेमें मुझे पराधीनताका दुःख अनुभव होता। इस पराधीनताके कारण प्रभुकी सेवामें बाधा उत्पन्न होनेके कारण दुःख होता था॥१५५॥

जगदीश्वरनैवेद्यं स्पृष्टमन्येन केनचित्।
नीतं बहिर्वासन्दिग्धो न भुंक्ते कोऽपि सज्जनः॥१५६॥

श्लोकानुवाद—मुझे उस देवमन्दिरकी सेवामें यह देखकर दुःख अनुभव होने लगा कि श्रीजगदीश्वर भगवान्के नैवेद्य अन्नको यदि

कोई छू देता अथवा मन्दिरके बाहर ले जाता तो कोई-कोई सज्जन व्यक्ति अपवित्र होनेके सन्देहसे उसको ग्रहण नहीं करते थे॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु जगदीशस्य सेवासिद्धये सद्भिर्दुःखं सोढ़व्यमेव; तत्राह—जगदीश्वरेति। अन्येन तदधिकृतब्राह्मणेभ्यो भिन्नेन केनापि पृष्टं सत्; बहिः कस्मिन्नपि बाह्यप्रदेशे; यद्वा, कुत्राप्यन्यत्रस्थाने बहिर्वा शोधितस्थानान्नीतं सत्। सज्जनोऽसन्दिग्ध इति साधुलोको न भुंक्त एव; यदि वा कदाचित् कोऽपि भुंक्ते, तथापि तच्छुद्धौ तच्छुद्धिवचनेषु वा श्रीजगन्नाथदेवमहाप्रसादान्नव्यतिरिक्त-तादृशान्न-भोजनविषयकसदाचारप्रवत्त्यदर्शनान्निरस्तसन्देहः सन् न भुंक्ते, किन्तु केनाप्यनुरोधेनैवेत्यर्थः। साधूनां तादृशव्यवहारेण निजमनोदुःखोदयात् तद्देशवासे निर्वेदो युक्त एवेति भावः। तथा च तद्वचनानि श्रीबृहद्विष्णुपुराणादौ—'*नैवेद्यं जगदीशस्य अन्नपानादिकञ्च यत्। भक्ष्याभक्ष्यविचारस्तु नास्ति तद्भक्षणे द्विज॥ ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्। विचारं ये प्रकुर्वन्ति भक्षणे तद्द्विजातयः॥ कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः पुत्रदारविवर्जिताः। निरयं यान्ति ते विप्रा यस्मान्नावर्तते पुनः॥*' इत्यादीनि॥१५६॥

भावानुवाद—तथापि यदि कहो कि प्रभुकी सेवाके लिए समस्त प्रकारके दुःखोंको सहन करना कर्त्तव्य है, इसीके लिए 'जगदीश्वर' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अधिकृत ब्राह्मणोंके अलावा अन्य किसीके द्वारा जगदीश्वरके नैवेद्यको स्पर्श करने पर अथवा किसी समय उस महाप्रसादको मन्दिरसे बाहर लाने पर कोई-कोई सज्जन व्यक्ति सन्देह करते तथा साधु भी वैसे महाप्रसादको भोजन नहीं करना चाहते थे। यदि कभी कोई उसे ग्रहण कर भी लेता तो भी उसका सन्देह नहीं जाता। वे महाप्रसादकी विशुद्धताके सम्बन्धमें कहते—"श्रीजगन्नाथदेवके महाप्रसादके अलावा महाप्रसाद-भोजनके विषयमें सदाचार प्रवृत्ति अन्य किसी भी स्थान पर नहीं देखी जाती है।" इसलिए वे लोग निःसन्देह होकर उस महाप्रसादका भोजन नहीं करते, किन्तु किसी प्रकारसे अनुरोधवशतः भोजन करने पर भी महाप्रसादके विषयमें सन्देहरहित नहीं हो पाते। साधुओंका ऐसा व्यवहार देखकर मेरा मन दुःखित होता, अतएव उस देशमें निवाससे मुझे निर्वेद होने लगा। विशेषतः महाप्रसादके विषयमें बृहद् विष्णुपुराणमें देखा जाता है—"जगदीश्वरके नैवेद्य अन्नादि जो कुछ भी महाप्रसाद है, उसमें क्या ग्रहण करने योग्य है और क्या नहीं है—इस प्रकारका विचार करना उचित नहीं है। यह महाप्रसाद ब्रह्मकी भाँति निर्विकार है, इसलिए यह

श्रीविष्णुके समान ही आदरणीय है। अतएव महाप्रसाद भोजनमें जो ब्राह्मण विचार करते हैं, उनको कुष्ठरोग होता है, और उनके पुत्र-स्त्री आदि नष्ट हो जाते हैं। भविष्यमें उन्हें नरक भी गमन करना पड़ता है और ऐसे ब्राह्मण नरकसे पुनः कभी भी विप्र कुलमें नहीं लौट पाते।"—इत्यादि बहुत प्रकारके शास्त्र-प्रमाण हैं॥१५६॥

मर्मशल्येन चैतेन निर्वेदो मे महानभूत्।
नेशे दिदृक्षितं साक्षात्प्राप्तं त्यक्तुञ्च तत्प्रभुम्॥१५७॥

श्लोकानुवाद—प्रसाद ग्रहणके विषयमें लोगोंका इस प्रकारका व्यवहार देखकर मेरे हृदयमें ऐसा दुःख होता, जैसे हृदयमें बरछी विद्ध होनेसे होता है। यद्यपि मुझे ऐसे अनेक कारणोंसे राज्यके प्रति तीव्र वैराग्य हो गया था, तथापि मैं उन प्रभुको जिनके दर्शनकी मेरी चिरकालीन अभिलाषा थी, साक्षात् पाकर छोड़नेमें असमर्थ हो जाता॥१५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतेन तत्प्रसादान्नाभोजनेन; कीदृशेन? मर्मसु प्राणसन्धिषु वर्त्तमानशल्यरूपेण मम परमपीड़ाकरेणेत्यर्थः। निर्वेदो राज्ये तस्मिन् वैराग्यम्; तर्हि सद्य एव कथं न त्यक्तवानसि? चिराभीष्टदर्शनस्य जगदीश्वरस्य तत्र साक्षात्-प्राप्तेरित्याह—नेति। पूर्वं द्रष्टुमिष्टो यः स एवात्र साक्षात् प्राप्तस्तं सहसा कथं त्यक्तुं शक्नोमि? राज्यत्यागेन तद्दर्शनस्यापि त्यागापत्तेरित्यर्थः॥१५७॥

भावानुवाद—लोगोंका महाप्रसादान्न भोजनके प्रति व्यवहार किस प्रकारका था? लोगोंका महाप्रसाद-अन्नके प्रति व्यवहार मेरे हृदयमें इतना कष्ट देता जितना कष्ट हृदयमें बरछी लगनेसे होता है—यही मेरी असहनीय पीड़ाका कारण था। निर्वेदका अर्थ है—राज्यादि विषयोंमें वैराग्य। यदि कहो कि तो फिर इसी क्षण ही राज्यका त्याग क्यों नहीं कर देते? इसके उत्तरमें कहते हैं—यह किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि बहुत कष्टोंके बाद चिराभीष्ट जगदीश्वर प्राप्त हुए हैं। बहुत समयसे जिनके दर्शनकी अभिलाषा थी, उनकी साक्षात् सेवा प्राप्त हुई है, अतः सहसा उसे किस प्रकार परित्याग करूँ? इसीलिए मैं राज्य त्याग करनेमें असमर्थ था, क्योंकि राज्यत्याग करनेसे उनके दर्शन और सेवा दोनोंसे ही वञ्चित होना पड़ेगा॥१५७॥

एतस्मिन्नेव समये तत्र दक्षिणदेशतः।
समागतैः साधुवरैः कथितं तैर्थिकैरिदम् ॥१५८॥

श्लोकानुवाद—उसी समय वहाँ दक्षिण देशसे तीर्थोंमें भ्रमण करनेवाले कुछ साधु वैष्णव उपस्थित हुए तथा उन्होंने मुझे इस प्रकार कहा— ॥१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तस्यां मत्पुर्याम्; समागतैः साधुवरैर्विष्णुपरायणैः; तर्हि श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रं कथं तैस्त्यक्तमित्याशंक्याह—तैर्थिकैस्तीर्थाटनपरैरित्यर्थः। श्रीविष्णुमूर्त्ति-वैष्णव-जन-सन्दर्शनार्थमितस्ततो भ्रमद्भिः; प्रायस्तीर्थेष्वेव तत्प्राप्तेः तत्र तत्राटन्तीति भावः। इदं निरन्तरं वक्ष्यमाणं दारुब्रह्मत्वादिकं फलं स्यादित्यन्तकम् ॥१५८॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैं दुःखपूर्वक उसी राजपुरीमें वास करने लगा। कुछ दिनोंके बाद अनेक तीर्थ-पर्यटनकारी साधु-वैष्णव वहाँ आये। उस समय वे श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रसे आये थे। यदि आपत्ति हो कि समागत साधु यदि विष्णुपरायण थे, तो उन्होंने श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रका त्याग क्यों किया? इसीके समाधानके लिए कह रहे हैं—वे तैर्थिक थे अर्थात् वे तीर्थ-पर्यटनके लिए और श्रीविष्णुमूर्त्ति तथा वैष्णवोंके दर्शनके लिए इधर-उधर भ्रमण करते थे। इसके द्वारा यह सूचित हो रहा है कि उन्होंने प्रायः समस्त तीर्थोंमें भ्रमण किया था। मैंने उन साधुओंके मुखसे आगे कहे जानेवाले दारुब्रह्म—श्रीजगन्नानथदेवकी महिमाका प्रसङ्ग सुना ॥१५८॥

दारुब्रह्म जगन्नाथो भगवान् पुरुषोत्तमे।
क्षेत्रे नीलाचले क्षारार्णवतीरे विराजते ॥१५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीपुरुषोतम क्षेत्रमें नीलाचलके लवण-समुद्रके तट पर दारुब्रह्म भगवान् श्रीजगन्नाथ विराजमान हैं ॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अशेषसंसारदुःख-दारणाद् दारुरूपं यन्मूर्त्तिमद्ब्रह्म तत्-स्वरूपः जगन्नाथनाम्ना प्रसिद्धो भगवान् परमेश्वरः परुषोत्तमाख्ये क्षेत्रे तत्र नीलाचले तत्रापि क्षारार्णवतीरे विराजते। तथा च पद्मपुराणे—*'समुद्रस्योत्तरे तीरे आस्ते श्रीपुरुषोत्तमे। पूर्णानन्दमयं ब्रह्म दारुव्याजशरीरभृत ॥'* बृहद्विष्णुपुराणे च—*'नीलाद्रौ चोत्कले देशे क्षेत्रे श्रीपुरुषोत्तमे। दारुन्यास्ते चिदानन्दो जगन्नाथाख्यमूर्त्तिना ॥'* इति ॥१५९॥

भावानुवाद—संसारके अनन्त दुःखोंको दूर करनेके लिए जो ब्रह्मस्वरूप होकर भी दारुमूर्त्ति (लकड़ीकी मूर्त्ति)के रूपमें विराजमान हैं, वे ही परमेश्वर भगवान् श्रीजगन्नाथके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा पुरुषोत्तम क्षेत्रमें नीलाचलके लवण-समुद्रके तट पर विराजमान हैं। पद्मपुराणमें भी लिखा है—"समुद्रके उत्तरी तट पर श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें पूर्णानन्दमय ब्रह्म छलपूर्वक दारुमूर्त्तिके रूपमें विराजमान हैं।" बृहद्विष्णु-पुराणमें भी लिखा है—"नीलाचलमें उत्कल देशके श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें चिदानन्दमय जगन्नाथ नामक श्रीमूर्त्ति दारुरूपमें विराजमान हैं"॥१५९॥

महाविभूतिमान् राज्यमौत्कलं पालयन् स्वयम्।
व्यञ्जयन् निजमाहात्म्यं सदा सेवकवत्सलः॥१६०॥

श्लोकानुवाद—वे बड़े विभूतिशाली हैं और स्वयं ही उत्कल राज्यका पालन करते हैं। वे सेवक-वत्सल होनेके कारण अपनी महिमाका स्वयं प्रकाशकर सदा अपने सेवकों पर कृपा करते हैं॥१६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—महेति; महाविभूतिः परमवैभवम्, भूम्नि मतुः। उत्कलः उद्रदेशस्तस्य राज्यं राजत्वं तद्देशं वा स्वयमेव पालयन्, तत्तदाज्ञाविधानात्। उक्तञ्च तत्त्व-यामले—*'भारते चोत्कले देशे भूस्वर्गे पुरुषोत्तमे। दारुरूपी जगन्नाथो भक्तानामभयप्रदः॥ नरचेष्टामुपादाय आस्ते मोक्षैककारक॥'* इति। निजमाहात्म्यं दीनवात्सल्यादि, व्यञ्जयन् प्रकटयन्। सेवकेषु वत्सलः परमस्निग्धः, कदाप्यपराधाग्रहणात्॥१६०॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीजगन्नाथ महाविभूतिशाली और परम वैभव-शाली हैं तथा स्वयं ही उत्कल राज्य (उड़ीसा प्रदेश)का पालन करते हैं। अर्थात् उनकी आज्ञारूप विधिके द्वारा ही उत्कल राज्यका पालन होता है। उक्त विषय तत्त्वयामलमें लिखित है—"भूस्वर्ग भारतके उत्कल प्रदेशमें पुरुषोत्तम नामक राज्य है। वहाँ दारुरूपी भगवान् श्रीजगन्नाथ भक्तोंको अभय प्रदान करते हुए अर्थात् नरवत्‌चेष्टा द्वारा सबको संसार-भयसे मुक्त किया करते हैं।" इसके द्वारा उनका अपना माहात्म्य और दीन-वत्सलता आदि गुण सूचित होते हैं। सेवकोंके प्रति भी परमवत्सल या परमस्निग्ध व्यवहारयुक्त होनेके कारण वे कदापि उनका कोई भी अपराध ग्रहण नहीं करते॥१६०॥

तस्यान्नं पाचितं लक्ष्म्या स्वयं भुक्त्वा दयालुना।
दत्तं तेन स्वभक्तेभ्यो लभ्यते देवदुर्लभम्॥१६१॥

श्लोकानुवाद—वहाँ स्वयं लक्ष्मीदेवी उनके लिए भोग-सामग्री बनाती हैं। परम दयालु प्रभु स्वयं उस अन्नको भोजनकर अवशिष्ट प्रसाद अपने भक्तोंको प्रदान कर देते हैं। वह प्रसाद देवताओंके लिए भी परम दुर्लभ है॥१६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्यान्नं देवदुर्लभमपि लभ्यते लोकैः। कीदृशम्? लक्ष्म्या परमेश्वर्या स्वयं पाचितं सत्तेन स्वयं भुक्त्वा भक्तेभ्यो दत्तं सत्। ननु भुक्तं चेत्, कथमवशिष्येत? तत्राह—दयालुनेति, परमदयामयस्वभावकतया निजसेवकगणसुखाय स्वयमादौ किञ्चित् किञ्चिद्भुक्त्वोच्छिष्टं विधाय; किंवा निःशेषमेव भुक्त्वा पुनः पूर्ववत् सम्पूर्णीकृत्य सेवकेभ्यो दीयत इत्यर्थः॥१६१॥

भावानुवाद—जिनकी कृपासे देवदुर्लभ महाप्रसाद लोगोंको प्राप्त होता है—वह प्रसाद किस प्रकारका है? परमेश्वरी श्रीलक्ष्मीदेवी स्वयं उसे बनाती हैं और करुणामय प्रभु उस अन्नको भोजनकर अपने भक्तोंको उसका अवशिष्ट प्रदान करते हैं। यदि प्रश्न हो कि जब प्रभुने उस भोग-सामग्रीका भोजन ही कर लिया, तो अवशेष क्या रहा? इसके लिए कहते हैं—परमदयालु स्वभाव होनेके कारण अर्थात् अपने सेवकोंको सुख प्रदान करनेके लिए प्रभु अपने खाये हुए भोजनका कुछ-कुछ अवशिष्ट रख देते हैं। अथवा वे सम्पूर्ण भोजनकर भक्तोंके सुखके लिए पुनः पहलेकी तरह उसे परिपूर्ण कर देते हैं॥१६१॥

महाप्रसादसंज्ञञ्च तत्पृष्ठं येन केनचित्।
यत्र कुत्रापि वा नीतमविचारेण भुज्यते॥१६२॥

श्लोकानुवाद—प्रभुके इस प्रसादका नाम 'महाप्रसाद' है। इसमें स्पर्श-अस्पर्शका विचार नहीं है, क्योंकि किसीके द्वारा भी स्पर्श करने पर या किसी भी स्थान पर ले जाने पर, बिना किसी विचारके सभी लोग उसको ग्रहण कर सकते हैं॥१६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—देवदुर्लभतामेवाह—महेति, महाप्रसाद इति संज्ञा यस्य तत्, अधरामृतस्पर्शात्। अतएव तदन्नं येन केनचित् अस्पृश्यादृश्यादिना जनेन स्पृष्टमपि

सत्, यत्र कुत्रापि अशुचौ दुरदेशेऽपि नीतं सत् भूज्यते सर्वैः। अविचारेण वचनार्थयोः शुद्ध्यशुद्ध्योः कालाकालयोरन्यस्य कस्यापि वाविमर्शेन किञ्चिदप्यनपेक्ष्य इत्यर्थः। तथा चोक्तम्—*'यदन्नं पाचयेल्लक्ष्मीर्भोक्ता च पुरुषोत्तमः। स्पृष्टास्पृष्टं न मन्तव्यं यथा विष्णुस्तथैव तत्॥'* इति। तथा स्कन्दपुराणे—*'चिरस्थमपि संशुष्कं नीतं वा दूरदेशतः। यथायथोपभुक्तं सत् सर्वपापापनोदनम्॥'* इति। तथा भविष्ये—*'अन्त्यवर्णैर्हीनवर्णैः सङ्करप्रभवैरपि। स्पृष्टं जगत्पतेरन्नं भुक्तं सर्वाघनाशनम्॥'* इति। तत्त्व-यामले च—*'नास्ति तत्रैव राजेन्द्र! स्पृष्टास्पृष्टविवेचनम्। यस्य संस्पृष्टमात्रेण यान्त्यमेध्याः पवित्रताम्॥'* इति। तथा गारुड़े च—*'न कालनियमो विप्रा व्रते चान्द्रायणे यथा। प्राप्तमात्रेण भुञ्जीत यदीच्छेन्मोक्षमात्मनः॥'* इति॥१६२॥

भावानुवाद—प्रभुके इस प्रसादका नाम 'महाप्रसाद' है। इसमें प्रभुके अधरामृतका स्पर्श होनेके कारण यह देवताओंके लिए भी परम दुर्लभ रूपमें प्रसिद्ध है। अतएव इस महाप्रसादको कोई भी सन्देहरहित होकर ग्रहण कर सकता है। अर्थात् अछूत या अनजाने व्यक्तिके द्वारा स्पर्श किये जाने पर भी इसकी चिन्मयता नष्ट नहीं होती है। जिस किसी स्थान पर भी अर्थात् दूर देशमें, यहाँ तक कि अयोग्य या अपवित्र प्रदेशमें ले जाने पर भी बिना किसी विचारके सभी इसका भोजन कर सकते हैं। 'बिना किसी विचारसे' कहनेका तात्पर्य यह है कि इसमें शुद्ध-अशुद्ध, काल-अकाल अथवा स्पर्श-अस्पर्शके विचारादिकी कोई आशंका नहीं रहती, क्योंकि यह महाप्रसाद किसी भी कारणसे अपना प्रभाव संकुचित नहीं करता है अर्थात् इसका प्रभाव नष्ट नहीं होता है। अतएव सभी लोग बिना विचार किये इसे ग्रहण कर सकते हैं। शास्त्रोंमें लिखा है—"यह अन्न स्वयं लक्ष्मीदेवी बनाती हैं और श्रीभगवान् पुरुषोत्तम उसका भोजन करते हैं, अतः उनके महाप्रसादके विषयमें स्पर्श-अस्पर्शका विचार करना उचित नहीं है। भगवान् श्रीविष्णु जिस प्रकार समस्त अवस्थाओंमें पूजनीय और वन्दनीय हैं, उनका महाप्रसाद भी उसी प्रकार समस्त अवस्थाओंमें ग्रहणीय और वन्दनीय है।" स्कन्दपुराणमें लिखा है—"चिरस्थ (बासे), पूर्णता सूखे हुए तथा दूरदेशसे लाये हुए महाप्रसादको ग्रहण करनेसे भक्ति प्राप्त होती है और अनायास ही समस्त पाप दूर हो जाते हैं।" भविष्य-पुराणमें लिखा है—"अन्त्यज, हीनवर्ण, यहाँ तक कि सबके द्वारा अस्पृश्य वर्णसंकर द्वारा स्पर्श होने पर भी वह महाप्रसाद अपना

प्रभाव त्याग नहीं करता है, बल्कि उस महाप्रसादको पानेसे समस्त प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं।" तत्त्वयामलमें लिखा है—"हे राजेन्द्र! जिसके स्पर्शसे महा अपवित्र भी पवित्र हो जाते हैं, उसमें फिर स्पर्शदोष कहाँसे आ सकता है?" तथा गरुड़पुराणमें भी लिखा है—"जो लोग मोक्षकी इच्छा रखते हैं, वे समस्त प्रकारके काल-नियम अर्थात् चान्द्रायणादि व्रतोंकी व्यवस्था रूप उपवासादि नियमोंका परित्यागकर महाप्रसाद प्राप्त होते ही उसका भोजन करें"॥१६२॥

अहो! तत्क्षेत्रमाहात्म्यं गर्दभोऽपि चतुर्भुजः।
यत्र प्रवेशमात्रेण न कस्यापि पुनर्भवः॥१६३॥

श्लोकानुवाद—उन साधुओंने आगे कहा—अहो! पुरुषोत्तम क्षेत्रकी महिमा हम क्या वर्णन करें? जिस क्षेत्रमें प्रवेश करनेसे गधेका भी चतुर्भुज स्वरूप हो जाता है, अतः जो कोई भी उस क्षेत्रमें प्रवेश करता है, उसे पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता॥१६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—आस्तां तावच्छ्रीजगन्नाथदेवस्य तदन्नमहाप्रसादस्य वा महिमा, तत्क्षेत्रस्यापि महिमा ना परमाद्भुत इत्याशयेनाह—अहो इति आश्चर्ये। यत्र यस्मिन् क्षेत्रे स्थितो गर्दभोऽपि निकृष्ट जीवोऽपि चतुर्भुजः श्रीभगवत्-सारूप्यादिप्राप्तेः। तदुक्तं श्रीब्रह्मणा ब्रह्मपुराणे—'*अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दश योजनम्। दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान्॥*' इति। वेदव्यासेनापि गारुड़पुराणे—'*यत्र स्थिता जनाः सर्वे शंख-चक्राब्जपाणयः। दृश्यन्ते दिवि देवांश्च मोहयन्ति मुहुर्मुहुः॥*' इति। श्रीनारदेनापि बह्वृचपरिशिष्टे—'*चतुर्भुजा जनाः सर्वे दृश्यन्ते यन्निवासिनः।*' इति। यत्र च प्रवेशमात्रेण यतः कुतोऽप्यागतस्य कस्यापि जीवमात्रस्य पुनर्भवः संसारो न भवति। तदुक्तं श्रीवेदव्यासेन तत्रैव 'स्पर्शनादेव तत्क्षेत्रं नृणां मुक्तिप्रदायकम्। यत्र साक्षात् परं ब्रह्म भाति दारवलीलया॥ अपि जन्मशतैः साग्रैर्दुरिताचारतत्परः। क्षेत्रेऽस्मिन् सङ्गमात्रेण जायते विष्णुना समम्॥' इति॥१६३॥

भावानुवाद—श्रीजगन्नाथदेवके महाप्रसादकी महिमाकी बात तो दूर रहे, उस पुरुषोत्तम क्षेत्रकी महिमा भी अत्यन्त अद्भुत है। इस अभिप्रायसे 'अहो' अर्थात् आश्चर्यसहित कहते हैं—उस क्षेत्रमें प्रवेश करनेसे गधे जैसे निकृष्टपशु भी चतुर्भुज होकर श्रीभगवान्के समान रूपवाले हो जाते हैं। ब्रह्मपुराणमें ब्रह्मा द्वारा कहा गया है—"अहो! पुरुषोत्तम क्षेत्रकी महिमा क्या अद्भुत है! जहाँ दस योजन तक व्याप्त

क्षेत्रमें स्थित जीवोंको देवतालोग चतुर्भुजरूपमें दर्शन करते हैं।" गरुड़पुराणमें श्रीवेदव्यासने भी लिखा है—"उस क्षेत्रमें स्थित सभी लोग ही शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी हैं, उन्हें दर्शनकर देवता भी पुनः-पुनः मोहग्रस्त हो जाते हैं।" बह्‌वृच-परिशिष्टमें श्रीनारदने भी कहा है—"उस स्थानमें समस्त जीवोंको चतुर्भुजरूपमें देखा जाता है।" किसी भी स्थानसे आया हुआ कोई भी जीव उस स्थानमें प्रवेश करने मात्रसे ही पुनर्जन्मसे मुक्त हो जाता है। इस सन्दर्भमें श्रीवेदव्यासने कहा है—"जहाँ साक्षात् परब्रह्म दारुलीला करते हुए विराजमान हैं, उस क्षेत्रके स्पर्शमात्रसे सभी जीव उसी क्षण मोक्ष प्राप्त करते हैं और उनका पुनर्जन्म नहीं होता। सैंकड़ों जन्मोंके दुराचारी व्यक्ति भी उस क्षेत्रके स्पर्शमात्रसे विष्णुके समान पूजनीय हो जाते हैं"॥१६३॥

प्रफुल्लपुण्डरीकाक्षे तस्मिन्नेवेक्षिते जनेः।
फलं स्यादेवमश्रौषमाश्चर्यं पूर्वमश्रुतम्॥१६४॥

श्लोकानुवाद—एक और भी पहले न सुनी हुई आश्चर्यपूर्ण बात यह है कि उन प्रफुल्ल कमलनेत्र श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करने मात्रसे सबका जीवन सफल हो जाता है॥१६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वत्रापि जगदीशोऽयं साक्षादिव वर्त्तते, तत्राह—प्रफुल्लेति, प्रकर्षेण फुल्ले विकसिते पुण्डरीके इव अक्षिणी यस्य तस्मिन्निति दर्शन-मात्रेणाशेषतापहारित्वसौन्दर्यमाधुर्याद्यतिशय उक्तः। ईक्षिते लोचनाभ्यां दृष्टे सत्येव जनेर्जन्मनः फलं स्यात्। तथा चोक्तं श्रीनारदेन श्रीप्रह्लादं प्रति पद्मपुराणे—'*श्रवणाद्यैरुपायैर्यः कथञ्चिद्दृश्यते महः। नीलाद्रिशिखरे भाति सर्वचाक्षुषगोचरः॥ तमेव परमात्मानं ये प्रपश्यन्ति मानवाः। ते यान्ति भवनं विष्णोः किं पुनर्ये भवादृशः॥*' इति। एवमित्येवमादिकमित्यर्थः। आश्चर्यं चित्तचमत्कारजनकम्; तत्र हेतुः—पूर्वमश्रुतमिति। अयं भावः—यद्यप्ययमपि स एव भगवान्, तथापीदृशविविधावतार-बीज-श्रीजगन्नाथदेव एव; अतोऽवतार-दर्शनादवतारिदर्शने तत्रापि स्थानविशेषेऽधिकं फलं स्यात्। किञ्च, तादृश-राज्याधिकारे तावता दिनेनापि तत्तद्श्रवणं भगवत्पूजाद्यासक्त्या गुरुवरदेववर-प्रभावेण वेति ज्ञेयम्। तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। एवमन्यत्राग्रेऽप्यूह्यमिति॥१६४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि यहाँ भी तो साक्षात् जगदीश्वर विराजमान हैं? इसी अभिप्रायसे 'प्रफुल्ल' इत्यादि श्लोक कह रहे

हैं—उस पुरुषोत्तम क्षेत्रमें विराजित प्रफुल्ल अर्थात् पूर्ण विकसित कमललोचनयुक्त जगदीश्वरके दर्शनमात्रसे जीवोंके अनन्त प्रकारके ताप दूर हो जाते हैं। उनके अत्यधिक सौन्दर्य-माधुर्यके सम्बन्धमें भी सुना जाता है, इसलिए उनके दर्शन करनेसे सचमुचमें लोगोंका जन्म सफल हो जाता है। पद्मपुराणमें श्रीनारदने श्रीप्रह्लादको इस प्रकार कहा है—"नीलाचलके शिखर पर सबके दृष्टिगोचर होकर श्रीभगवान् विराजमान हैं। जो मनुष्य एकबार भी उन परमात्मारूपी श्रीभगवान्का दर्शन करता है, अथवा दर्शनकी तो बात दूर रहे, उनका नाम श्रवण कर किसी भी उपायसे उनको हृदयंगम करता है, वह मानव वैकुण्ठको जाता है।" इस प्रकारकी महिमा श्रवण करनेसे मुझे आश्चर्य हुआ। यहाँ 'आश्चर्य'का अर्थ है—चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाला विशेष भाव, क्योंकि इस प्रकारकी महिमाके सम्बन्धमें पहले कभी भी सुना नहीं था। तात्पर्य यह है कि यद्यपि ये श्रीविष्णुमूर्त्ति और वे श्रीजगन्नाथमूर्त्ति दोनों ही भगवान् हैं, तथापि श्रीजगन्नाथदेव ही समस्त अवतारोंके मूल स्वरूप हैं। अर्थात् अवतारोंके दर्शनकी तुलनामें अवतारीके दर्शन तथा उनके स्थानकी अधिक महिमा होनेके कारण उससे अधिक फल प्राप्त होता है। विशेषतः वैसे राज्याधिकारसे मेरा रात-दिनका अधिकांश समय श्रीभगवान्की गुण-महिमा श्रवण और उनकी पूजादिकी आसक्तिमें व्यतीत होगा, इसे मैंने श्रीगुरुदेवके वरके प्रभावसे पहले ही समझ लिया था। इसके सम्बन्धमें आगे कहा जायेगा॥१६४॥

तद्दिदृक्षाभिभूतोऽहं सर्वं सन्त्यज्य तत्क्षणे।
संकीर्त्तयन् जगन्नाथमौड्रदेशदिशं श्रितः॥१६५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीजगन्नाथदेवकी महिमा सुनकर मैं श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनोंकी इच्छासे व्याकुल हो गया और उसी क्षण सबकुछ त्यागकर उनका नामसंकीर्त्तन करते हुए उत्कलदेशकी ओर चल दिया॥१६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य जगन्नाथदेवस्य दिदृक्षयाभिभूतः आक्रान्तः सन्; सर्वं तद्राज्यादिकं तत्क्षणे सन्त्यज्य सम्यग्बहिरन्तश्च त्यक्त्वा; जगन्नाथेत्यक्षर-चतुष्कं

सम्यक् चित्ताभिनिवेशेन कीर्त्तयन् उच्चैरुच्चारयन् तत्क्षेत्रगमनाय उद्धदेशस्य दिशमाग्नेयकोणमहमाश्रितः॥१६५॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीजगन्नाथदेवकी महिमा सुनकर मैं श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनोंकी उत्कण्ठासे व्याकुल हो गया। उसी क्षण मैंने राज्यादि समस्त विषय सम्पूर्णरूपसे त्याग दिये तथा चित्तको निमग्नकर 'जगन्नाथ जगन्नाथ'—इस चार अक्षरवाले नामका पुनः-पुनः उच्च स्वरमें कीर्त्तन करते हुए उनके क्षेत्रमें जानेकी इच्छासे उत्कलक्षेत्रको लक्ष्यकर अग्निकोणकी दिशामें प्रस्थान किया॥१६५॥

तत्क्षेत्रमचिरात्प्राप्तस्तत्रत्यान् दण्डवन्नमन्।
अन्तःपुरं प्रविष्टोऽहं तेषां करुणया सताम्॥१६६॥

श्लोकानुवाद—थोड़े समयमें ही श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें पहुँच कर मैंने वहाँके समस्त धामवासियोंको दण्डवत् प्रणाम किया। फिर साधुओंकी कृपासे मन्दिरके भीतर प्रवेश किया॥१६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रत्यान् तत्क्षेत्रवर्त्तमानान् पथि दृश्यमानान् जनान्। ननु वैदेशिकस्याज्ञाततत्रत्यतत्तद्वृत्तस्य गतमात्रस्यैव सद्योऽन्तःपुरे प्रवेशः कथमघटतेत्य-आशंकायामाह—तेषामिति। सतां परमवैष्णवानाम्; पादस्यास्य परेण वा सम्बन्धः॥१६६॥

भावानुवाद—मैं थोड़े समयमें ही श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें पहुँच गया। तदनन्तर उस क्षेत्रमें वर्त्तमान वैष्णवोंकी कृपासे मन्दिरके अन्तःपुरमें प्रवेश किया। यदि प्रश्न हो कि उस स्थानके विषयमें पहलेसे कुछ भी नहीं जाननेवाले एक विदेशी (अन्य स्थानसे आये हुए) व्यक्तिके लिए पुरुषोत्तम क्षेत्रमें उपस्थित होते ही शीघ्र ही मन्दिरके अन्तःपुरमें प्रवेश किस प्रकार सम्भव हुआ? इस प्रकारकी आशंकाके अभिप्रायसे 'तेषां' इत्यादि पद कहे गये हैं। अर्थात् वैष्णवोंकी परम कृपासे मैं मन्दिरके अन्तःपुरमें प्रवेश कर पाया॥१६६॥

दूराददर्शि पुरुषोत्तमवक्त्रचन्द्रो,
भ्राजद्विशालनयनो मणिपुण्ड्रभालः।
स्निग्धाभ्रकान्तिररुणाधरदीप्तिरम्यो-
ऽशेषप्रसादविकसत्स्मितचन्द्रिकाढ्यः॥१६७॥

श्लोकानुवाद—तब मैंने दूरसे ही सबको आनन्द प्रदान करनेवाले श्रीपुरुषोत्तमदेवके विशाल नेत्रकमलोंसे सुशोभित मुखचन्द्रका दर्शन किया। उनके मस्तक पर मणियोंका तिलक चमक रहा था, उनकी कान्ति सुस्निग्ध नवमेघके समान थी, उनके लाल अधर देदीप्यमान थे तथा उनकी मन्द मुस्कानरूप चन्द्रिका उनके मुखमण्डलको और भी अधिक रमणीय करती हुई सबके प्रति प्रभुकी असीम कृपाको प्रकाशित कर रही थी॥१६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च दूरादेव पुरुषोत्तमस्य श्रीजगन्नाथदेवस्य वक्त्रं श्रीमुखमेव मुखचन्द्रः सर्वाह्लादकत्वात् दूरतोऽखण्डमण्डलतया सम्यक् प्रकाशमानत्वाच्च। अदर्शि मया दृष्टः; भ्राजन्ती प्रकाशमाने विशाले विस्तीर्णे नयने यस्मिन् सः; मणिरेव पुण्ड्रं तिलकं यस्मिन् तादृशं भालं ललाटं यस्मिन् सः; अशेषः सम्पूर्णः किंवा अशेषेषु सर्वेषु जनेषु यः प्रसादः सदा चित्तप्रसन्नता, तेन विकसत् विकाशमानं यत् स्मितं सैव चन्द्रिका चन्द्रकान्तिस्तया आढ्यो युक्तः। दूरतो विराजमान–श्रीमुख एव प्राग्दृष्टेरुत्पतनात्तत्समवेतस्यैव विस्पष्टस्य नयनादेरादौ वर्णनम्॥१६७॥

भावानुवाद—तब मैंने दूरसे ही सबको आनन्द प्रदान करनेवाले श्रीपुरुषोत्तमदेवके मुखचन्द्रका दर्शन किया। उनके श्रीमुखमण्डल पर प्रकाशमान विशाल नयन–युगल शोभा पा रहे थे। उनके मस्तक पर मणिमय सुन्दर तिलक देदीप्यमान था, उनकी कान्ति सुस्निग्ध नवमेघके समान थी। उनके अरुण अधरों पर खिले हुए बाँधुलि–पुष्पके समान सबके प्रति कृपारूपी मकरन्द वर्षणकारी स्मित–चन्द्रिका प्रकाशित हो रही थी। अर्थात् मृदुमधुर हास्य उनके रमणीय मुखमण्डलको और अधिकरूपसे शोभायुक्तकर सबके प्रति प्रभुका प्रसाद वर्षण कर रहा था। वास्तवमें दूरमें विराजमान श्रीजगन्नाथदेवके मुखचन्द्रके प्रथम बार दर्शन करनेके कारण इस प्रकारसे उनके नयनादिकी शोभाका वर्णन कर रहे हैं॥१६७॥

तत्राग्रतो गन्तुमनाश्च नेशे
प्रेम्णा हतो वेपथुभिर्निरुद्धः।
रोमाञ्चभिन्नोऽश्रुविलुप्तदृष्टिः
स्तम्भं सुपर्णस्य कथञ्चिदाप्तः॥१६८॥

श्लोकानुवाद—मेरे मनमें उनके निकट जानेकी उत्कण्ठा उदित हुई, किन्तु चित्तकी विवशता और अत्यधिक प्रेमसे समस्त अङ्गोंमें कम्पन होनेके कारण मैं अग्रसर होनेमें असमर्थ हो गया। रोमाञ्चने मेरे पूरे शरीरको मेरे वशसे बाहर कर लिया और अश्रुओंने दृष्टिको ढक दिया। मैं बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार गरुड़ स्तम्भको पकड़कर खड़ा रहा॥१६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र देवकुलाभ्यन्तरे; अप्यर्थे चकारः; गन्तुमना अपि गन्तुं नेशे। तत्र हेतुः—प्रेम्णा चित्तवैवश्यविशेषेण हत इत्यादिविशेषणचतुष्कम्; रोमाञ्चैर्भिन्नो युक्तः; एतेन जाड्यापत्तिरुक्ता। अश्रुभिर्विलुप्ते मुद्रिते दृष्टी लोचने; यद्वा, विलुप्ता अपहता दृष्टिर्दर्शनक्रिया यस्य सः। सुवर्णस्य श्रीजगन्नाथदेवाग्रे स्तम्भोपरि वर्त्तमानस्य गरुड़स्य स्तम्भं तदधिष्ठितं; प्राप्तः कथञ्चिदिति स्वस्य ज्ञानविशेषराहित्यात् केवलं भगवत्कृपयैव तत्प्राप्तिरिति भावः॥१६८॥

भावानुवाद—प्राण-मनोहरी श्रीमूर्त्तिके दर्शन करनेसे मन्दिरके भीतर प्रवेश करनेकी इच्छा होने पर भी मैं अग्रसर होनेमें असमर्थ हो गया। इसका कारण यह था कि प्रेमवशतः चित्तकी अत्यधिक विवशताने मेरी गतिको रोध कर दिया—इसीको दो विशेषणों द्वारा प्रकाश कर रहे हैं। रोमाञ्चके कारण सारा शरीर मेरे वशसे बाहर हो गया—यह जाड्य उत्पत्तिका लक्षण है और अश्रु द्वारा दृष्टिशक्तिका लोप हो गया अर्थात् अश्रुधारासे दृष्टिशक्ति ढक गई। अथवा विलुप्तदर्शनक्रियाके कारण मैं श्रीजगन्नाथदेवके सम्मुख विद्यमान गरुड़ स्तम्भको पकड़कर किसी प्रकार खड़ा रहा। यद्यपि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था, तथापि भगवान्‌की कृपासे ही मैं उस गरुड़ स्तम्भ तक पहुँच सका—यही भावार्थ है॥१६८॥

दिव्याम्बरालङ्करणस्रगावली
व्याप्तं मनोलोचनहर्षवर्द्धनम्।
सिंहासनस्योपरि लीलया स्थितं
भुक्त्वा महाभोगगणान् मनोहरान्॥१६९॥

श्लोकानुवाद—मैंने वहींसे प्रभुका दर्शन किया। प्रभुने अपने चन्दनचर्चित नील कलेवर पर दिव्यवस्त्र, अलङ्कार और माला आदि

धारण कर रखे थे तथा वे सिंहासन पर लीलापूर्वक विराजित होकर समस्त प्रकारके मनोहर महाभोगोंको ग्रहण करते हुए दर्शन करनेवालोंके मन और नेत्रोंके आनन्दका वर्द्धन कर रहे थे॥१६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—पश्चान्निकटगमनेन विशेषदर्शने सति चानन्दमूर्च्छामगममित्याह—दिव्येति द्वाभ्याम्। स्रगावली मालापंक्तिः; यद्वा, दिव्यानामद्भुतानामम्बरादीनां यावली तया व्याप्तं यथायथमाचितम्। मनोलोचनानां हर्षं वर्धयतीति। तथा तमिति सर्वाङ्गसौन्दर्यादिकमुक्तम्; भोगा भोग्यद्रव्याणि; मनोहरानित्यनेन सर्वसद्गुणादि-कमुक्तम्॥१६९॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् प्रभुके निकट जाकर विशेषरूपसे दर्शन करनेके कारण प्राप्त हुई आनन्दमूर्च्छाके विषयमें 'दिव्य' आदि श्लोक कह रहे हैं। प्रभुका कलेवर दिव्य-अद्भुत वस्त्र, भूषण और माल्यादि द्वारा अलंकृत अर्थात् यथायथोचित भावसे विभूषित था। उनके समस्त अङ्गोंका सौन्दर्य मन और नयनोंके आनन्दका वर्द्धन कर रहा था तथा वे लीलापूर्वक सिंहासन पर विराजमान होकर समस्त गुणोंसे युक्त अतिदिव्य विविध प्रकारके स्वादिष्ट द्रव्योंका भोग कर रहे थे॥१६९॥

प्रणामनृत्यस्तुतिवाद्यगीत-
परांस्तु सप्रेम विलोकयन्तम्।
महामहिम्नां पदमीक्षमाणो-
ऽपतं जगन्नाथमहं विमुह्य॥१७०॥

श्लोकानुवाद—वे अपने सामने गीत-वाद्य-नृत्य-स्तुति-प्रणामादि करनेवालोंको प्रेमपूर्वक देख रहे थे। महान-महिमाके आश्रयस्वरूप उन श्रीजगन्नाथदेवके विचित्र वैभवका दर्शनकर मैं मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा॥१७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रणामादिपरान् जनान् प्रेम्णा सहितं यथा स्यात्तथा विशेषेण एकदृष्ट्यालोकयन्तम्; महतां महिम्नां पदं विषयमिति विचित्रपरम-वैभवादिकमुक्तम्। विमुह्य मोहं प्राप्याहमपतम् भूमौ पतितवान्॥१७०॥

भावानुवाद—प्रभुके सम्मुख सैकड़ों लोग दण्डवत् प्रणामादि कर रहे थे। कोई गीत गा रहे थे, कोई स्तव कर रहे थे, कोई मृदङ्ग-करताल आदि बजा रहे थे, कोई-कोई नृत्यादि कर रहे थे

और कोई–कोई श्रीविग्रहका दर्शन कर रहे थे। प्रभु भी उन सबके प्रति कृपादृष्टि कर रहे थे। इस प्रकार महान महिमाके मूल अर्थात् विचित्र–परम–वैभवादिसे युक्त उन श्रीजगन्नाथदेवका दर्शनकर मैं मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा॥१७०॥

संज्ञां लब्ध्वा समुन्मील्य लोचने लोकयन् पुनः।
उन्मत्त इव तं धर्तुं सवेगोऽधावमग्रतः॥१७१॥

श्लोकानुवाद—कुछ समयके पश्चात् जब मुझे होश आया तब मैंने नेत्र खोलकर पुनः उनका दर्शन किया और उन्मत्त जैसे होकर वेगसे दौड़ता हुआ उनको आलिङ्गन करनेके लिए अग्रसर हुआ॥१७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं श्रीजगन्नाथदेवं पुनर्लोकयन् सन् अग्रतः श्रीजगन्नाथदेवस्य गरुड़स्तम्भस्य वा सम्मुखे॥१७१॥

भावानुवाद—कुछ क्षणोंके पश्चात् जब मुझे होश आया तो मैंने फिर श्रीजगन्नाथदेवके दर्शन किये तथा श्रीजगन्नाथदेवकी ओर या गरुड़स्तम्भके आगे अग्रसर हुआ॥१७१॥

चिराद्दिदृक्षितो दृष्टो जीवितं जीवितं मया।
प्राप्तोऽद्य जगदीशोऽयं निजप्रभुरिति ब्रुवन्॥१७२॥

श्लोकानुवाद—बहुत समयसे जिनको देखनेकी अभिलाषा कर रहा था, आज उनको देखकर मेरा जीवन सफल हो गया। आज मैंने अपने प्रभु श्रीजगदीश्वरको पा लिया—मैं ऐसा कहता हुआ दौड़ रहा था॥१७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं कुर्वन्? तदाह—चिरादिति। अद्येत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः; दिदृक्षितो द्रष्टुमिष्टः; चिराद्बहुकालेनाद्य दृष्टः; अतोऽद्यैव जीवितं जीवनफलं प्राप्तमित्यर्थः। यद्वा, तदभावेन सदा मरणपर्यवसानात्। यथाश्रुतमेव व्याख्येयम्—अतिहर्षेण वीप्सा; न च केवलं दृष्ट एव, किन्तु आत्मसादिव कृतोऽपीत्याह—प्राप्त इति। अद्यैव, न तु पूर्वं सकलजगदीशतालक्षणानामत्रैव वृत्तेरिति भावः॥१७२॥

भावानुवाद—उसके पश्चात् क्या किया? इसके उत्तरमें 'चिराद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। बहुत समयसे अदृष्ट मेरे इष्ट अर्थात्

बहुत समयसे जिनको देखनेकी अभिलाषा कर रहा था, आज उन प्रभुका दर्शन प्राप्त हो गया। उनके दर्शनसे आज ही मेरा जीवन सफल हो गया है। अथवा उनके दर्शनका अभाव मेरे मरणके समान था। भावार्थ यह है कि आज केवल उनके दर्शन हुए हैं—ऐसा नहीं, अपितु आज मुझे नवजीवन मिला है। मूल श्लोकमें 'जीवितं जीवितं' दो बार प्रयोग हुआ है, किन्तु दोनों शब्द ही एकार्थवाचक हैं। यहाँ अत्यधिक आनन्दके कारण दुरुक्ति हुई है। अतएव गोपकुमारने श्रीजगन्नाथदेवका केवल दर्शन ही किया—ऐसा नहीं, बल्कि उनको आत्मसात् करनेके समान अनुभव भी किया। इसीलिए कह रहे हैं—आज ही मैंने पूर्णलक्षणोंसे युक्त श्रीजगदीश्वरको पाया है, क्योंकि आज तक जिन-जिन भगवत्मूर्त्तियोंका दर्शन किया है, उनमें जगदीश्वरके पूर्णलक्षण अभिव्यक्त नहीं थे॥१७२॥

सवेत्रघातं प्रतिहारिभिस्तदा
निवारितो जातविचारलज्जितः।
प्रभोः कृपां तामनुमान्य निर्गतो
महाप्रसादान्नमथाप्नवं बहिः ॥१७३॥

श्लोकानुवाद—जैसे ही मैं प्रभुका आलिङ्गन करनेके लिए आगे बढ़ा, उसी समय वहाँके द्वारपालोंने मुझे बेतोंसे मारकर भीतर जानेसे रोक दिया। तब मुझमें विचार-बुद्धि उदित हुई और मैं लज्जित हो गया। इस प्रकार रोके जानेको भी मैंने प्रभुकी कृपा ही समझा। जब मैं बाहर आया तो मुझे अयाचित रूपमें महाप्रसाद प्राप्त हुआ॥१७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदा तस्मिन्नेवाग्रतो धावनसमये प्रतिहारिभिः द्वारपाल-सेवकैर्वेत्रघातेन सहितं यथा स्यात्तथा निवारितः; स्वहस्तस्थेन वेत्रेण हत्वा निरुद्ध इति। ततश्च जातेन प्रादुर्भूतेन विचारेण अहो वत! वैदेशिको वराकोऽहं किमिदमकरवमहो महासाहसमित्यादिरूपेण विवेकेन लज्जितः सन् देवालयाद् बहिर्निर्गतः। वेत्रघातेन निवारणाच्च मम किमपि दुःखं नाभूत् उतानन्द एवेत्याह—प्रभोरिति। तथा निवारणं प्रभोः कृपयैव वृत्तम्; अन्यथोन्मत्तचेष्टितस्य मे श्रीजगन्नाथधारणेन परमापराधापत्तेः। अनुमन्य पश्चान्मत्वा पुनः पुनर्वा मत्वा; अथ निर्गमानन्तरमेव; महाप्रसादरूपमन्न केनचित् तत्रत्येन दयालुना दत्तमाप्नवं प्राप्तोऽहम्॥१७३॥

भावानुवाद—जब मैं प्रभुको आलिङ्गन करनेके लिए उनकी ओर दौड़ा, तब द्वारपालोंने (पाण्डा सेवकोंने) मुझे बेंतोंसे मारकर भीतर जानेसे रोक दिया। तब मुझमें विचार-बुद्धि उदित हुई और मैं लज्जित हुआ। हाय! हाय! मेरे जैसे एक तुच्छ और विदेशी (अन्य स्थानसे आये हुए)ने आगन्तुकमात्र होने पर भी अति साहसके साथ यह क्या किया? इस प्रकार विचारकर लज्जावशतः मैं वहाँसे बाहर आ गया। बेंतके द्वारा मारकर रोके जाने पर भी मुझे किसी प्रकारका दुःख नहीं हुआ, बल्कि हर्ष ही हुआ। इसलिए कह रहे हैं—इस प्रकार रोका जाना प्रभुकी कृपा ही है। अन्यथा उन्मत्तकी भाँति चेष्टा कर श्रीजगन्नाथदेवको पकड़नेसे मेरा महान अपराध ही होता। इसलिए रोके जानेको प्रभुकी विशेष कृपा अनुमान कर मैं बाहर आ गया। उसी क्षण किसी एक दयालु वैष्णव द्वारा मुझे अयाचित भावसे महाप्रसादरूप अन्न प्राप्त हुआ॥१७३॥

तद्भुक्त्वा सत्वरं ब्रह्मन् भगवन्मन्दिरं पुनः।
प्रविश्याश्चर्यजातं यन्मया दृष्टं मुदां पदम्॥१७४॥
हृदि कर्तुं न शक्यते तत् कथं क्रियतां मुखे।
एवं तत्र दिवा पूर्णं स्थित्वानन्दोऽनुभूयते॥१७५॥

श्लोकानुवाद—उस महाप्रसादको शीघ्र भोजनकर मैंने पुनः श्रीभगवान्के मन्दिरमें प्रवेश किया। हे ब्राह्मण! इस बार मैंने जिन आनन्दजनक आश्चर्यपूर्ण विषयोंका दर्शन किया, उसे मैं हृदयमें भी धारण करनेमें असमर्थ था, फिर वचनोंके द्वारा किस प्रकार वर्णन करूँ? इस प्रकारसे मन्दिरमें समस्त दिन रहकर मैं पूर्णानन्दका अनुभव करता था॥१७४-१७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—आश्चर्याणां चित्तचमत्कारहेतूनां बहुविधानामर्थानां जातं परम्पराम्। कीदृशम्? मुदां सर्वानन्दसन्दोहस्यैव पदं निधानम्॥१७४॥

तत् आश्चर्यजातं हृदि कर्तुं मनसा ग्रहीतुमपि न शक्येत, अनन्तत्वात् अवितर्क्यत्वाच्च। मुखे क्रियतामुच्यतामित्यर्थः। मनोवृत्त्यपेक्षया वागिन्द्रिय-वृत्तेरल्पव्यापकत्वात् कैमुतिकन्यायप्रवृत्तिः। एवं परमाश्चर्यपरम्परादर्शनेन तत्र देवालयाभ्यन्तरे पूर्णं समग्रं दिवा दिवसभागं स्थित्वा॥१७५॥

भावानुवाद—पुनः श्रीमन्दिरमें प्रविष्ट होने पर मैंने आश्चर्यपूर्ण अर्थात् चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके परम्परागत विषयोंके दर्शन किये। वे कैसे थे? 'मुदां' अर्थात् समस्त प्रकारकी आनन्दराशिके आधार थे।

मैंने जिन सब आश्चर्यजनक विषयोंका दर्शन किया, मन उनको स्मरण रखनेमें असमर्थ था। वे विषय अनन्त प्रकारके तथा तर्कके अतीत थे, अतः उन्हें मुख द्वारा किस प्रकार वर्णन करूँ? मनोवृत्तिकी तुलनामें वाग् इन्द्रिय-वृत्ति (वाणी)की व्यापकता अल्प होती है, इस कैमुतिक-न्यायके द्वारा यही सिद्ध होता है कि मनके द्वारा जिस आनन्दकी धारणा नहीं की जा सकती, वाक्‌वृत्ति (वाणी) द्वारा उसका वर्णन करना असम्भव है। विशेषतः क्रमशः परम आश्चर्यपूर्ण परम्परागत दृश्योंको दर्शन करनेके कारण उस देवालयके भीतर ही मेरा सारा दिन व्यतीत होता था॥१७४-१७५॥

रात्रौ महोत्सवे वृत्ते बृहच्छृङ्गारसम्भवे।
निर्गम्य ते तु निर्वृत्ते पुष्पाञ्जलिमहोत्सवे॥१७६॥

श्लोकानुवाद—रातमें विराट श‍ृङ्गार और पुष्पाञ्जलि महोत्सवोंके सम्पन्न होनेके बाद ही मैं मन्दिरसे बाहर आता था॥१७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—रात्रौ तु निर्गम्यते, तस्यामपि कदेत्यपेक्षायामाह—बृहच्छृङ्गारो रात्र्येकप्रहरोपरि जायमानो विचित्रसुन्दरवेशभोगाद्यवसरविशेषस्तस्मात् सम्भवो यस्य तस्मिन् महोत्सवे वृत्ते सति। तथापि पुष्पाञ्जलीनां परितः प्रक्षेपरूपे महोत्सवे निवृत्ते सम्पन्ने सतीति॥१७६॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि रातमें तो बाहर आते ही होंगे? इसी आशंकासे कह रहे हैं—रात्रिके प्रथम प्रहरमें 'बृहत् श‍ृङ्गार' नामक महोत्सव होता जिसमें प्रभुका विचित्र सुन्दरवेश और भोगादिका विशेष उत्सव सम्पन्न होता तथा उसके बाद पुष्पाञ्जलि महोत्सव होता, अर्थात् पुष्प-प्रक्षेपरूप महोत्सवके समाप्त होने पर ही मैं मन्दिरसे बाहर आता था॥१७६॥

नेत्थं ज्ञातः सतां सङ्गे कालो नवनवोत्सवैः।
तदैवास्या व्रजभुवः शोको मे निरगादिव ॥१७७॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार साधुसङ्गमें तथा नये-नये उत्सवोंका दर्शन करते-करते न जाने कितना समय बीत गया—मुझे इसका पता ही नहीं चला। उस समय मैं व्रजभूमिके विच्छेद-दुःखको प्रायः भूल सा गया॥१७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं सतां सङ्गे स्थितेन मया कालो न ज्ञातः। तत्रापि नवाः पूर्वमननुभूताः; आवृत्तौ वीप्सा। यद्वा, प्रतिक्षणं नूतनतया ज्ञायमाना ये उत्सवाः चित्तसुखहेतवस्तैः; यद्वा, सतां सङ्गे निवृत्ते विषये वा वर्त्तमाना ये नवनवोत्सवास्तैः। अस्याः श्रीवृन्दावनादिरूपायाः; शोकः अदर्शनाच्छोचनं विच्छेदाधिर्वा, मे मत्तः; इवेति समूलानिर्गमं द्योतयति॥१७७॥

भावानुवाद—इस प्रकार साधुसङ्गमें नित्य नवीन महोत्सवोंके दर्शनसे प्राप्त होनेवाले आनन्दमें न जाने मेरा कितना समय व्यतीत हो गया—मुझे इसका पता ही नहीं चला। इसका कारण था कि वहाँके उत्सव मुझे नव-नवायमानरूपमें अर्थात् अपूर्वरूपमें अनुभव होते, अथवा प्रतिक्षण नव-नवायमान रूपमें जानने योग्य वे समस्त महोत्सव चित्तको सुख प्रदान करते। अथवा इस प्रकार साधुसङ्गमें नये-नये उत्सवोंका दर्शन करते-करते कब समय व्यतीत हो गया, मैं जान ही नहीं पाया अर्थात् पुराने समस्त विषयोंको मैं भूलसा गया। उस समय श्रीवृन्दावनके लिए जो शोक था वह एक प्रकारसे मेरे हृदयसे तिरोहितसा हो गया था। इसका कारण यह था कि मैं आनन्दमें मत्त था अर्थात् इसीसे मेरा व्रजभूमि सम्बन्धीय शोक दूरसा हो गया। किन्तु इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीवृन्दावन-सम्बन्धीय सुख पूर्णरूपसे तिरोहित नहीं हुआ, अपितु सूक्ष्मरूपसे हृदयके भीतर वर्त्तमान था॥१७७॥

श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवकेषु कृपोत्तमा।
विविधाज्ञा च सर्वत्र श्रूयतेऽप्यनुभूयते॥१७८॥

श्लोकानुवाद—श्रीजगन्नाथदेवकी अपने सेवकोंके प्रति विशेष प्रकारकी कृपाके सम्बन्धमें मैं प्रायः ही सुनता और स्वयं भी अनुभव करता था॥१७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—विविधा उत्तमा च कृपा सेवकेच्छापरिपालनादिरूपा; तादृश्येवाज्ञा च कर्त्तव्यशिक्षणादिरूपा जायमाना सर्वत्रेतस्ततः श्रूयते, न च किंवदन्तीमात्रं, साक्षाद्दृश्यमानत्वादित्याह—अन्विति। अपि समुच्चये; साक्षात्तत्फलादिकञ्च दृश्यत इत्यर्थः॥१७८॥

भावानुवाद—श्रीजगन्नाथदेवकी अपने सेवकोंके प्रति विविध प्रकारकी उत्तम कृपा अर्थात् सेवकोंकी अभिलाषा पूर्ण रूपी कृपा तथा उन्हें नाना प्रकारकी आज्ञा देना और कर्त्तव्य-शिक्षादि प्रदानरूपी कृपाके सम्बन्धमें मैं सर्वत्र ही सुनता था, न केवल सुनता ही था, अपितु साक्षात् दर्शन भी करता था। अर्थात् साक्षात्‌रूपसे उसका फलादि भी अनुभव करता॥१७८॥

नान्यत् किमपि रोचेत जगन्नाथस्य दर्शनात्।
पुराणतोऽस्य माहात्म्य-शुश्रूषापि निवर्तते॥१७९॥

श्लोकानुवाद—श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनके अलावा किसी भी अन्य कार्यमें मेरी रुचि नहीं होती। यहाँ तक कि जब पौराणिकजन पुराणादिसे प्रभुका माहात्म्य कीर्त्तन करते तो उसे सुननेकी भी मेरी इच्छा नहीं होती॥१७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि त्वया स्वयं किमिष्टं प्राप्तं तत् कथ्यतामित्याशंक्याह—नेति। दर्शनादन्यत्; आस्तामन्येच्छा श्रीजगन्नाथदेवस्य माहात्म्यश्रवणमपि नारोचतेत्याह—पुराणत इति। ब्राह्म्यादिपुराणेभ्यो निवर्तत इत्यस्यायमर्थः—तद्देवालयाभ्यन्तरे पौराणिकैर्वाच्यमानेषु पुराणादिष्विश्रुतपूर्वं श्रीजगन्नाथदेवस्य माहात्म्यं समग्रं श्रोतुमिच्छा कदाचिज्जायते; सा च तच्छ्रीमुखदर्शनासक्त्या निरस्यत इति। एवं पुराणश्रवणाद्यभावेनाग्रे वक्ष्यमाणं स्वर्गाद्यज्ञानं सम्भवेदेवेति ध्वनितम्॥१७९॥

भावानुवाद—तब क्या तुमने स्वयं ही इष्टको प्राप्त कर लिया? इसी आशंकासे कह रहे हैं कि श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनके अलावा अन्य किसी भी कार्यमें मेरी रुचि ही नहीं होती। यहाँ तक कि श्रीजगन्नाथदेवके माहात्म्यादि श्रवण करनेमें भी मेरी रुचि नहीं होती। यद्यपि मेरी ब्रह्मादि पुराणोंकी व्याख्याको सुननेमें भी निवृत्ति हो गयी थी, तथापि श्रीमन्दिरके भीतर पौराणिकों द्वारा वर्णित पुराणके वाक्योंमें श्रीजगन्नाथदेवकी पहले कभी न सुनी हुई महिमाको सम्पूर्णरूपसे श्रवण

करनेकी कभी-कभी इच्छा होती। किन्तु उनके श्रीमुखमाधुर्यके दर्शनकी आसक्ति इतनी प्रबल होती कि उसके समक्ष श्रवण इच्छा दूर हो जाती। मन्दिरके भीतर पुराणादि श्रवण द्वारा स्वर्गादि गमनके सम्बन्धमें कथित ज्ञानको प्राप्त करनेकी सम्भावना है—यह भी ध्वनित हो रहा है॥१७९॥

शारीरं मानसं वा स्यात् किंञ्चिद्दुःखं कदाचन।
तच्च श्रीपुण्डरीकाक्षे दृष्टे सद्यो विनश्यति॥१८०॥

श्लोकानुवाद—यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित होता तो श्रीपुण्डरीकाक्षके दर्शनोंसे वह तत्क्षणात् ही दूर हो जाता॥१८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु देहिनां स्वाभाविकैर्देहादिधर्मैस्तत्र श्रीजगन्नाथदेव-मुखदर्शनसुखबाधा किं न स्यान्नाम? तत्राह—शारीरमिति, शारीरं रोगादिना, मानसं कामादिना कृतम्; स्यादिति सम्भावनायां सप्तमी; ततश्च न स्यादेव—यदि वा कदाचित् किञ्चित् स्यादित्यर्थः। तच्च विविधदुःखं सद्यस्तत्क्षण एव नश्यति;—तद्दर्शनानन्देन सर्वविस्मृतेः, स्वरूपतो वा निवृत्तेः॥१८०॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि देहधारी प्राणीके स्वाभाविक देहधर्मवशतः श्रीजगन्नाथदेवके मुखदर्शनरूपी सुखमें क्या कभी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—शरीर सम्बन्धी रोगादि या मन सम्बन्धी कामादि दुःखका उद्गम नहीं होता, अथवा 'स्यात्' शब्दमें सम्भावनासे सप्तमी होने पर यह अर्थ होगा कि कामादि दुःखोंको प्रायः उदित होनेका अवसर ही नहीं मिलता। अथवा यदि कभी किञ्चित् दुःख उपस्थित होता भी तो श्रीपुण्डरीकाक्षके दर्शनोंसे वह उसी समय ही दूर हो जाता। इसका कारण यह था कि उनके दर्शनसे प्राप्त आनन्दमें मैं सब कुछ भूल जाता, इसलिए वह दुःख भी स्वाभाविकरूपसे ही दूर हो जाता॥१८०॥

फलं लब्धं जपस्येति मत्वोदासे स्म तत्र च।
एवं चिरदिनं तत्र न्यवसं परमैः सुखैः॥१८१॥

श्लोकानुवाद—यह समझकर कि मुझे अपने जपका फल मिल गया है, मैं क्रमशः अपने मन्त्रजपमें भी उदासीनसा रहने लगा। इस प्रकार बहुत समय तक मैंने वहाँ परम सुखपूर्वक वास किया॥१८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं निजमन्त्रजपस्य यत् फलं श्रीजगन्नाथदर्शनादि, तल्लब्धमेवेति मत्वा तत्र जपे उदासे स्म, आसक्तिमत्यजमित्यर्थः। सुखस्य बहुत्वं गौरवेण वैचित्र्यपेक्षया वा॥१८१॥

भावानुवाद—उस समय यह समझकर कि श्रीजगन्नाथ-दर्शनादिके रूपमें मुझे अपने मन्त्रजपका फल मिल गया है, मैं मन्त्रजपके प्रति उदासीन रहने लगा। अर्थात् मैंने मन्त्रजपके प्रति आसक्तिको त्याग दिया अथवा सुखकी प्रचुरतामें गौरव या वैचित्र्यकी आशासे मन्त्रजपके प्रति उदासीन हो गया॥१८१॥

अथ तस्यान्तरीणायां सेवायां कर्हिचित् प्रभोः।
जाता रुचिर्मे ततोऽपि तस्या अघटनान्महान्॥१८२॥

श्लोकानुवाद—अनन्तर मुझमें प्रभुकी कोई अन्तरङ्ग सेवा करनेकी अभिलाषा होने लगी और इस अभिलाषाके पूर्ण न होनेके कारण मेरे मनमें विशेष कष्ट भी होने लगा॥१८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्यतो वाससुखमुक्त्वेदानीं सेवाविशेषेण सुखविशेषं वक्तुं तत्प्राप्तिप्रकारं दर्शयन् तदर्थमनोरथविशेषायादौ निजाधिं सहेतुकमाह—अथेति त्रिभिः। प्रकरणान्तरे कालान्तरे वा; तस्य श्रीजगन्नाथदेवस्य अन्तरीणायां देवकुलान्तःप्रवेशेन समीपवर्तितया स्वच्छन्देनान्तरैर्जनैराचर्यमाणायामित्यर्थः। ननु गगनस्थ-चन्द्रस्य करेण धारण इव परमदुर्घटेऽर्थे कथं मनोरथोऽपि घटेत? तत्राह—प्रभोः सर्वं कर्तुं समर्थस्येति। रुचिर्मनोवृत्तिविशेषः; तस्याः सेवायाः अघटनादसिद्धेर्महान् तापोऽपि जातः॥१८२॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्यरूपसे वहाँ रहनेके सुखके विषयमें कहकर अब विशेष सेवा द्वारा विशेष सुखकी प्राप्तिके सम्बन्धमें कहनेके अभिप्रायसे, उस सुखकी प्राप्तिके प्रकार और उस अभिलषित मनोरथके पूर्ण न होनेसे मनमें जो दुःख होता, उसे 'अथ' इत्यादि तीन श्लोकोंमें कह रहे हैं। कुछ समय पश्चात् मेरे हृदयमें श्रीजगन्नाथदेवके

मन्दिरके अन्दर प्रवेशकर स्वच्छन्दरूपसे अन्तरङ्गजनोंके द्वाराकी जानेवाली सेवा करनेकी अभिलाषा होने लगी। यदि कहो कि जिस प्रकार आकाशमें स्थित चन्द्रको हाथसे स्पर्श करना परम दुर्घट है, उसी प्रकार मेरा यह मनोरथ किस प्रकार पूर्ण होगा? अर्थात् यह दुर्घट है। इसके उत्तरमें कहते हैं—'प्रभोः सर्वं कर्तुं समर्थस्येति'—प्रभु सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। अर्थात् मेरे द्वारा ऐसी सेवाकी प्राप्ति असम्भव होने पर भी प्रभु ऐसा सम्भव कर सकते हैं—यही भावार्थ है। परन्तु इस प्रकारकी तीव्र अभिलाषा रहने पर भी वैसी सेवा प्राप्त न होनेके कारण मेरे मनमें सन्ताप या अत्यधिक कष्ट होने लगा॥१८२॥

यश्चक्रवर्ती तत्रत्यः स प्रभोर्मुख्यसेवकः।
श्रीमुखं वीक्षितुं क्षेत्रे यदा याति महोत्सवे॥१८३॥
सज्जनोपद्रवोद्यानभङ्गादौ वारितेऽप्यथ।
मादृशोऽकिञ्चनाः स्वैरं प्रभुं द्रष्टुं न शक्नुयुः॥१८४॥

श्लोकानुवाद—उस देशके जो राजा थे, वे ही श्रीजगन्नाथके प्रधान सेवक थे। जब किसी महोत्सवके अवसर पर वे श्रीभगवान्‌के दर्शनोंके लिए उपस्थित होते तो सज्जनों (साधु-सन्तों)को किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे और वहाँके बगीचोंको कोई नष्ट न करे, इस कारण हुई व्यवस्थासे उस समय मेरे जैसे साधारण दीनजनोंको स्वच्छन्दरूपसे प्रभुके दर्शन नहीं मिल पाते थे॥१८३-१८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, यस्तत्रत्यस्तद्देशाधिपः स एव श्रीजगन्नाथदेव-प्रसादेन चक्रवर्ती, साम्राज्यं प्राप्त इत्यर्थः। यद्वा, यश्चक्रवर्ती सम्राट्, स च तत्रत्यस्तद्देशोद्भव एव। अतः स एव प्रभोर्जगन्नाथदेवस्य मुख्यः सेवकः सेवकगणाध्यक्ष इत्यर्थः। अतो रथयात्रादि-महोत्सवसमये क्षेत्रे पुरुषोत्तमे प्राधान्येन श्रीजगन्नाथपूर्यामिति, बोद्धव्यम्। श्रीजगन्नाथदेवस्य श्रीमन्मुखं वीक्षितुं यदा याति, तदा मादृशः मत्सदृशा अकिञ्चना निष्परिग्रहतया दीनवद्दृश्यमानाः, अतएव स्वैरं स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा प्रभुं श्रीजगन्नाथदेवं द्रष्टुं न शक्नुयुरिति द्वाभ्यामन्वयः। ननु तादृशस्य महासाधोर्नृपवरस्य इदमनुचितमित्याशंक्याह—सदिति, सज्जनानामुपद्रवः श्रीजगन्नाथदेवदर्शनविघातादिः। तथा उद्यानानां तत्रत्य-पुष्पवाटिकादीनां भङ्गः, हस्त्यश्वादिभिर्निपातनम्; आदिशब्देन

जलमालिन्यादि; एतेन निजावासविविक्ततादिलोपेन मनोदुःखान्तरञ्च सूचितम्। तस्मिंस्तस्मिन् वारितेऽपि निषिद्धेऽपि चतुरङ्गमहासेना–सम्मर्देनाकिञ्चनानां दुःखं दुष्परिहरमिति भावः॥१८३–१८४॥

भावानुवाद—उस देशके जो राजा थे, वे ही श्रीजगन्नाथदेवके प्रधान सेवक थे तथा प्रभुकी कृपासे उनको वह राज्यसम्पद प्राप्त हुई थी। अथवा जो राजचक्रवर्ती या सम्राट थे, उनका भी उसी देशमें जन्म होनेके कारण वे श्रीजगन्नाथदेवके प्रमुख सेवक या सेवकोंके अध्यक्ष थे। जब वे रथयात्रादि महोत्सवोंके उपलक्ष्यमें (श्रीजगन्नाथ पुरीमें) श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनोंके लिए उपस्थित होते थे, उस समय मेरे जैसे अकिञ्चन दीनहीन अनासक्त दीखनेवाले व्यक्ति स्वच्छन्दरूपसे श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन नहीं कर पाते थे। यदि कहो कि ऐसे महासाधु राजाके प्रति इस प्रकारकी आशंका करना तो अनुचित है, इसीलिए कह रहे हैं, 'सद्' इत्यादि—उस समय साधु–सन्तोंको किसी प्रकारका कष्ट न हो अर्थात् श्रीजगन्नाथदेवके दर्शन आदिमें उन्हें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे और पुष्पवाटिका हाथी, घोड़ों आदि द्वारा नष्ट न हो, इसके लिए जो व्यवस्था होती उसके कारण मेरे जैसे दीनहीन व्यक्ति स्वच्छन्दरूपसे प्रभुका दर्शन नहीं कर पाते थे। मूल श्लोकमें 'आदि' शब्दके द्वारा वहाँके जलको गन्दा करना इत्यादि भी समझना होगा। इन सबके द्वारा एकान्तवास भङ्ग होनेसे मनमें होनेवाला दुःख सूचित हुआ है। और भी, हमलोगों जैसे अकिञ्चन व्यक्तियोंकी घास–फूस और पत्तोंसे बनी कुटी तक भी उजड़ जाती थी, अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल चतुरङ्गिणी सेना द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंसे मुझ जैसे दीनहीनको जो दुःख होता, उससे बचना बहुत कठिन होता था॥१८३–१८४॥

एवमुद्भूतहृद्रोगोऽद्राक्षं स्वगुरुमेकदा।
श्रीजगन्नाथदेवाग्रे परमप्रेमविह्वलम्॥१८५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैं अत्यन्त दुःखी रहने लगा। अचानक एक दिन श्रीजगन्नाथदेवके सामने मैंने अपने गुरुदेवका दर्शन किया। वे परमप्रेममें विह्वल हो रहे थे॥१८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमनेन प्रकारेण उद्भूतं जातं हृदि दुःखं यस्य सोऽहम्। स्वस्य मम गुरुं श्रीवृन्दावनान्तर्मन्त्रोपदेशकं तं महानुभावं श्रीजगन्नाथदेवस्याग्रेऽद्राक्षम्, परमप्रेमविह्वलत्वाच्च॥१८५॥

भावानुवाद—इस प्रकार मेरे हृदयमें अत्यन्त दुःख रहने लगा। अचानक एक दिन मैंने अपने महानुभाव गुरुदेवको, जिन्होंने श्रीवृन्दावनमें मुझे मन्त्रका उपदेश किया था, श्रीजगन्नाथदेवके सम्मुख परमप्रेममें विह्वल होते देखा॥१८५॥

न स सम्भाषितुं शक्तो मया तर्हि गतः क्वचित्।
अलक्षितो जगन्नाथ-श्रीमुखाकृष्टचेतसा॥१८६॥

श्लोकानुवाद—अतः उस समय मैं उनसे वार्त्तालाप नहीं कर सका। मेरा मन भी श्रीजगन्नाथदेवके श्रीमुखदर्शनमें आकृष्ट था। इतनेमें वे न जाने कहीं चले गये॥१८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि तस्मिन् काले स गुरुः सम्भाषितुं न शक्तः; तर्ह्येव क्वचित् कुत्रापि गतश्च सः। ननु निजगुरुरसौ कथं नानुसृतस्तत्राह—अलक्षित इति, लक्षयितुमशक्त इत्यर्थः। तत्र हेतुः—जगन्नाथस्य श्रीमता मुखेनाकृष्टं कृतं चेतो यस्य तथाभूतेन सतेति। अतो नापराधः पर्यवस्यतीति भावः॥१८६॥

भावानुवाद—किन्तु उस समय मैं उनसे वार्त्तालाप नहीं कर सका और फिर वे न जाने कहीं चले गये। यदि आपत्ति हो कि मैंने अपने गुरुदेवका किसलिए अनुसरण नहीं किया? इसके लिए कहते हैं—मैं उनको लक्ष्य करनेमें असमर्थ था, क्योंकि उस समय मेरा चित्त श्रीजगन्नाथदेवके श्रीमुखारविन्दके प्रति आकृष्ट था। इसलिए मैं उनका अनुसरण नहीं कर सका, अतः इससे अपराध नहीं हुआ॥१८६॥

इतस्ततोऽमृग्यतासौ दिनेऽन्यस्मिंस्तटेऽम्बुधेः।
नामसंकीर्त्तनानन्दैर्नृत्यल्लब्धो मयैकलः॥१८७॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् मैं उनको इधर-उधर सर्वत्र खोजता रहा। हठात् एक दिन मैंने समुद्रतट पर उनको नामसंकीर्त्तनके आनन्दमें अकेले नृत्य करते हुए देखा॥१८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु असौ स्वगुरुर्मया दिनान्तरे लवणोदधितीरे लब्धः। कीदृशेन? इतस्ततः सर्वत्रैवेत्यर्थः। मृग्यतान्विष्यता कीदृशो लब्धः सः? नाम-संकीर्त्तनात् स्वयमेव क्रियमाणात् श्रीभगवन्नाम-मधुरगानादुद्भूतैस्तद्रूपैर्वा आनन्दैर्नृत्यन् सन्; एकल एकाकी॥१८७॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि गोपकुमारने अपने गुरुदेवको कुछ दिनों बाद समुद्रतट पर कैसे देखा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे उनको सर्वत्र ढूढ़ रहे थे, अतः एक दिन अचानक समुद्रतट पर उनका दर्शन पाया। किस अवस्थामें दर्शन पाया? उस समय वे नामसंकीर्त्तनके आनन्दमें अकेले नृत्य कर रहे थे॥१८७॥

दण्डवत् प्रणमन्तं मां दृष्ट्वाशीर्वादपूर्वकम्।
आश्लिष्याज्ञापयामास सर्वज्ञोऽनुग्रहादिदम्॥१८८॥

श्लोकानुवाद—मैंने निकट जाकर उनको दण्डवत् प्रणाम किया। मुझे देखकर उन सर्वज्ञ गुरुदेवने आशीर्वादपूर्वक मुझे आलिङ्गन किया और मेरे हृदयकी बात जानकर अनुग्रहपूर्वक इस प्रकार आदेश दिया— ॥१८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वं मदीयमनोरथादिकं जानातीति तथा सः। इदं यद्यदित्यादि-सार्द्धश्लोकत्रयम्॥१८८॥

भावानुवाद—उन सर्वज्ञ गुरुदेवने मेरा मनोरथ जानकर आशीर्वादपूर्वक आलिङ्गनकर मुझे अनुग्रहवशतः जो आदेश दिया उसे अगले साढ़े तीन श्लोकोंमें कहा गया है॥१८८॥

यद्यत् सङ्कल्प्य भो वत्स निजं मन्त्रं जपिष्यसि।
तत्प्रभावेण तत् सर्वं वाञ्छातीतं च सेत्स्यति॥१८९॥

श्लोकानुवाद—हे वत्स! जिस-जिस संकल्पसे तुम इस मन्त्रका जप करोगे, इस मन्त्रके प्रभावसे तुम्हारी वे सब कामनाएँ ही नहीं, बल्कि उनके अतीत वाञ्छाएँ भी पूर्ण होंगी॥१८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—सङ्कल्प्य मनोवचनादिना यथाविधि सङ्कल्पं कृत्वा, तस्य मन्त्रस्य तज्जपस्य वा प्रभावेण शक्त्या; तत् सङ्कल्पितं सर्वमशेषमेव॥१८९॥

भावानुवाद—हे वत्स! मन–वचनादि द्वारा यथाविधि जैसा संकल्प कर अपने मन्त्रका जप करोगे, उक्त जपके प्रभावसे उन संकल्प किये गये विषयोंको प्राप्त करोगे। यही नहीं, बल्कि संकल्पके अतीत भी जो कामनाएँ हैं, वह भी पूर्ण होंगी॥१८९॥

श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवारूपञ्च विद्धि तम्।
एवं मत्वा च विश्वस्य न कदाचिज्जपं त्यजेः॥१९०॥

श्लोकानुवाद—इस मन्त्रजपको भी तुम श्रीजगन्नाथदेवकी सेवा ही समझो। इस प्रकार मेरी बात पर विश्वास करके इस मन्त्रजपको तुम कभी भी त्याग मत करना॥१९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु विना श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवाविशेषं नान्यत् किमपीच्छामीति चेत्तत्राह—श्रीजगन्नाथेति। तं निजमन्त्रजपम्; नन्वत्र मम हृदनुभवो न स्यादिति चेत्तत्राह—मद्वाचि विश्वस्येति, आदौ मद्वाक्यविश्वासेन कुरु, पश्चात् स्वयमेव तथानुभविष्यसीति भावः। एवं सर्वज्ञेन तेन मम मनोवाच्छितं जपौदासीन्यञ्च ज्ञात्वा तत्सिद्धये तन्निराकृतमिति ज्ञेयम्। यद्वा, सङ्कल्पविशेषादेवाचिरात् तत्फलविशेषः सिध्यतीति यथामनोरथं सङ्कल्पविधानाय तथाज्ञा कृतेति मन्तव्यम्। यद्यपि पूर्वं सङ्कल्पविध्यभावेनापि गङ्गातीरराज्यं प्रप्तम्, तथापि श्रीजगन्नाथदेव–सेवाविशेषादिरूपं, ततोऽपि महत्तरं फलमिदं सङ्कल्पपूर्वकजपविशेषेणैव सिध्येदिति तथानुशासनमिति दिक्॥१९०॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीजगन्नाथदेवकी सेवाके अलावा अन्य और किस साध्यफलकी इच्छा हो सकती है? इसीलिए गुरुदेव कह रहे हैं—तुम उस मन्त्रजपको श्रीजगन्नाथदेवकी सेवा ही समझो, अतएव तुम अपने मन्त्रका जप अवश्य करना। यदि प्रश्न हो कि मेरे हृदयमें तो मन्त्रजप सेवाके रूपमें अनुभव नहीं होता है? इसके उत्तरमें कहा है—मेरी बात पर विश्वास कर इस मन्त्रजपको किसी भी अवस्थामें कभी मत छोड़ना। पहले मेरे वचनों पर विश्वास करो, तदनन्तर इसको स्वयं ही अनुभव करोगे। इस प्रकार सर्वज्ञशिरोमणि गुरुदेवने मेरा मनोरथ पूर्ण किया अर्थात् मन्त्रजपमें मेरी उदासीनता जानकर उसकी सिद्धिके सम्बन्धमें जो विघ्न था उसको दूर किया। अथवा संकल्पकी विधिके द्वारा शीघ्र ही सिद्धि प्राप्तिके उद्देश्यसे कृपापूर्वक बोले—जिस समय जैसा संकल्प करके इस मन्त्रका जप करोगे, उसी समय वह

संकल्प सिद्ध हो जायेगा। यद्यपि पहले संकल्प-विधिके बिना ही गङ्गातटके राज्यपदादिकी प्राप्ति हुई थी, तथापि श्रीजगन्नाथदेवकी विशेष सेवादि रूप जो सम्पद है, वह पूर्वोक्त राज्यपदादिसे भी महान फल होनेके कारण संकल्पपूर्वक मन्त्रजप द्वारा ही सिद्ध अर्थात् प्राप्त होगी। यह आदेश-वाक्य शिष्यके प्रति गुरुदेवका अनुशासन भी है॥१९०॥

त्वमेतस्य प्रभावेण चिरजीवी भवान्वहम्।
ईदृग्गोपार्भरूपश्च तत्फलाप्त्यर्हमानसः ॥१९१॥

श्लोकानुवाद—तुम इस मन्त्रजपके प्रभावसे चिरजीवी होओ। तुम्हारा ऐसा गोपबालक रूप भी इसी प्रकार सदैव बना रहे और तुम्हारा मन मन्त्रफल—श्रीमदनगोपालदेवके साक्षात् दर्शन और उनकी समस्त क्रीड़ा-कौतुकादिको अनुभव करनेके योग्य हो जाए॥१९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु यद्यदित्यनेन सपरिकरा विविधाः सर्वेऽप्यर्था गृहीताः। एवं तत्तद्भोगस्तत्तदर्थकजपश्च बहुकालेनैव सिध्यति। अस्मिन्नेव जन्मनि तत्तत्सिद्धेरेव तज्जपप्रभावे चमत्कारः स्यात्, तावन्ममायुश्च कुतः सम्भवेदित्याशंक्य स्वयमेवाशिषं विधत्ते—त्वमिति। एवस्य जपस्यैव। ननु तथापि जरादिदेहविकारैस्तत्र तत्र सम्यक्सिद्धिः सुखञ्च न घटेत, तत्राह—अन्वहं सर्वकालम्। ईदृगेव गोपार्भकस्य रूपमाकारावस्थादिकं यस्य तादृशश्च भवेति। सम्प्रति यादृग्वयोरूपादिमान् गोपबालको वर्तसे, तादृश एव सदा तिष्ठेत्यर्थः। यद्वा, ईदृक् एतद्वर्त्तमानत्वद्वयोरूपादिसदृशवयोरूपादिमान् यो गोपार्भकस्तत्स्वरूपो भवेत्यर्थः। द्वितीयाशीरियम्। अनयैव ब्रह्मलोकादौ चिरस्थितस्यापि तथा वैकुण्ठप्राप्त्यापि अग्रे वक्ष्यमाणा निर्विकारगोपवालकानुवृत्तिरूपपन्ना। ननु नानासङ्कल्पेन विचित्र-भोगेन च चित्तविक्षेपोत्पत्तेः कथं सुखविशेषप्राप्तिः सम्भवेदित्या-शंक्यान्यामप्याशिषमाह—तस्य जपस्य। यद्वा, तदनिर्वचनीयं यत् फलं प्राप्यं तत्तच्छ्रीमदनगोपालदेवसाक्षात्सन्दर्शन-सहक्रीड़ाकौतुकादिरूपं, तस्य प्राप्तेः संसिद्धेरर्हं योग्यं मानसं यस्य तादृशश्च भवेति। तत्तल्लाभप्रतिकूलं तव चित्ते नोदेष्यतीत्यर्थः। अनयाशिषैव साम्राज्यैन्द्रपदादिप्राप्तावपि सत्यां स्वर्महर्लोकादिज्ञानमपि न वृत्तम्; तच्च पूर्वानुभूतत्वादिना परमसुखविशेष-लाभाद्यर्थकमिति दिक्। तच्चाग्रे पञ्चमाध्यायान्ते नारदोक्त्या व्यक्तं भावि॥१९१॥

भावानुवाद—यदि कहो कि 'यद्यद्' आदि (श्लोक १८९) पदोंके न्यायानुसार समस्त प्रकारकी मनोकामनाओंकी पूर्ति रूप अर्थ ही बोध होता है और उन मनोकामनाओंकी पूर्तिके लिए जपादि भी बहुत

लम्बे समयके बाद ही सिद्ध होता है, अतः इस जन्ममें उन-उन इच्छाओंकी सिद्धि या उन इच्छाओंके उद्देश्यसे किये गये जपके प्रभावकी चमत्कारिता ही क्या रही? तथा देही जीवकी वैसी अपरिमित आयुकी सम्भावना ही कहाँ है? इन सब आशंकाओंके समाधानके लिए गोपकुमारके गुरुदेव स्वयं आशीर्वाद करते हुए ही 'त्वम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि इस मन्त्रजपके प्रभावसे ही तुम चिरजीवी होओगे, तथापि यदि तुम्हें शंका हो कि वृद्धावस्था आदि दैहिक विकारोंके कारण वह सिद्धिरूप सुख सम्पूर्णता सम्भव नहीं हो सकता है, इसके लिए कहते हैं—सदा-सर्वदा ऐसा ही गोपबालकरूप धारण करो अर्थात् अभी जैसी आयु और रूपादियुक्त तुम्हारा गोपबालक रूप है, वही किशोर स्वरूप सदा-सर्वदा विद्यमान रहे। द्वितीयतः मेरा आशीर्वाद यह है कि तुम्हारा यह जो गोपबालक रूप है, वह केवल ब्रह्मलोकादि वासियोंकी भाँति कल्प सीमित काल तक ही स्थायी नहीं होगा, बल्कि सदैव विद्यमान रहेगा। अर्थात् उसी स्वरूपसे तुम वैकुण्ठादि लोक भी प्राप्त कर सकोगे। (यह बादमें वर्णन किया जायेगा।) वस्तुतः यह गोपबालक स्वरूप निर्विकार है, अर्थात् व्रजमें उत्पन्न होनेके कारण चिन्मय है।

यदि कहो कि नाना-प्रकारके संकल्पोंके द्वारा विचित्र-विचित्र भोगप्राप्तिके कारण चित्त-विक्षेप होनेसे सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना कहाँ है? इस आशंकाको दूर करनेके लिए कह रहे हैं—जपके प्रभावसे ही यह सब सम्भव होगा अथवा मन उस अनिर्वचनीय फल अर्थात् श्रीमदनगोपालदेवके साक्षात् सन्दर्शन और उनके साथ क्रीड़ा-कौतुकादिरूप जो विशेषफल है, उसको प्राप्त करनेके योग्य हो जायेगा। उस योग्य फल प्राप्तिके प्रतिकूल जो-जो अनर्थ हैं, वे अनर्थ कभी भी तुम्हारे चित्तमें उदित नहीं होंगे। यदि तुम्हारी इच्छा होगी, तो मेरे आशीर्वादसे साम्राज्यपद या इन्द्रपदादि प्राप्त होने पर अथवा स्वर्ग और महर्लोकमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानादि द्वारा भी तुम्हारी वैसी मानसिकता आवृत नहीं होगी, बल्कि पूर्वमें अनुभव किये गये तत्त्व द्वारा प्राप्त परम सुखको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा वर्द्धित होगी। यह आगे पाँचवे अध्यायमें श्रीनारदकी उक्तिमें व्यक्त होगा॥१९१॥

मां द्रक्ष्यसि कदाप्यत्र वृन्दारण्ये कदाचन।
एवं स मामनुज्ञाप्य कुत्रापि सहसागमत्॥१९२॥

श्लोकानुवाद—तुम मुझे कभी यहाँ और कभी श्रीवृन्दावनमें देखोगे। गुरुदेव मुझे इस प्रकार आदेश देकर अकस्मात् कहीं चले गये॥१९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु पूर्वमनुक्तं तन्मन्त्रसाधनप्रकारमिदानीं शिक्षयेत्याशंक्याह—मामिति। तदुपदेशोचितोऽयं कालो देशश्च न स्यात्। मद्दर्शनञ्च पुनर्भविष्यत्येव। अतो यथास्थानं यथावसरञ्च तच्छिक्षयितव्यम्। तदेवाचिरात् सम्यक् फलसिद्धेरिति भावः। सहसा अतर्कितेन; कथं कुत्र वा गत इति किमपि मया तर्कयितुम-शक्तमित्यर्थः॥१९२॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि जिसे पहले कहा न गया हो, क्या उस मन्त्रसाधन प्रणालीकी शिक्षाको अब ग्रहण करना कर्त्तव्य है? इस आशंकासे कह रहे हैं—यदि मन्त्र उपदेशके उपयोगी देश-काल न हों तो उसका उपदेश नहीं किया जाता। किन्तु अब पुनः तुम मुझे कभी यहाँ और कभी वृन्दावनमें देखोगे, अर्थात् यथास्थान यथाकालमें उस विषयमें शिक्षा लाभ करोगे। गुरुदेवके इस वचन द्वारा सूचित होता है कि स्थान और कालके अनुपयोगी होनेसे सम्यक् फलसिद्धिमें विलम्ब होता हैं। ऐसा कहकर गुरुदेव अकस्मात् कहीं चले गये। कहाँ गये? मैं निश्चयपूर्वक कहनेमें असमर्थ हूँ॥१९२॥

तद्वियोगेन दीनः सन् श्रीजगन्नाथमीक्षितुम्।
गतः शान्तिमहं प्राप्तो यत्नञ्चाकरवं जपे॥१९३॥

श्लोकानुवाद—तब मैं गुरुदेवके विरहदुःखमें अत्यन्त व्याकुल होकर मन्दिरमें श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनके लिए गया। श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करके मुझे शान्ति प्राप्त हुई। फिर मैं यत्नपूर्वक मन्त्रजपमें मन लगाने लगा॥१९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य गुरोर्वियोगेन विरहेण गतः देवकुलान्तःप्रविष्टः सन्नित्यर्थः। एवं दीनजनस्य श्रीजगन्नाथदेवाश्रयणं विना दुःखशान्तये नान्यत् कर्तव्यम्, न च तद्दर्शनं विना दुःखोपशमनं सुखञ्चान्यत् किञ्चिदस्तीति ध्वनितम्॥१९३॥

भावानुवाद—तब गुरुदेवके विरहमें कातर होकर मैंने श्रीजगन्नाथदेवके मन्दिरमें प्रवेश किया। उनके आश्रयके अलावा इस दीनजनके दुःखकी शान्तिका कोई अन्य उपाय नहीं था। इस वाक्यके द्वारा यही ध्वनित होता है कि भगवान्‌के दर्शनके बिना दुःखके दूर होनेका और सुख प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है॥१९३॥

यदास्या दर्शनोत्कण्ठा व्रजभूमेरभूत्तराम्।
तदा तु श्रीजगन्नाथ–महिम्ना स्फुरति स्म मे॥१९४॥
तत्क्षेत्रोपवनश्रेणीवृन्दारण्यतयार्णवः ।
यमुनात्वेन नीलाद्रिभागो गोवर्द्धनात्मना॥१९५॥

श्लोकानुवाद—जब मुझमें व्रजभूमिके दर्शन करनेकी अत्यधिक उत्कण्ठा होती, तब श्रीजगन्नाथदेवकी महिमासे मुझे पुरीके उपवन देखनेसे श्रीवृन्दावनकी, समुद्रके दर्शनसे श्रीयमुनाकी तथा नीलाद्रिके उन्नतक्षेत्र (चटकपर्वत आदि स्थानों)को देखनेसे श्रीगोवर्धनकी स्फूर्ति होने लगती॥१९४–१९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं जपफलं निरूपयन्नादौ श्रीजगन्नाथदेवस्य कारुण्य-विशेषमाह—यदेति द्वाभ्याम्। मे मयि स्फुरति स्म प्रत्यभात्॥१९४॥

किं कथमस्फुरदित्यपेक्षायामाह—तदिति। यद्वा, तस्य श्रीजगन्नाथदेवस्य क्षेत्रे पुरुषोत्तमे वर्त्तमाना उपवनश्रेणी वृन्दावनतया मे स्फुरति स्म, वृन्दावनतया भाति स्मेत्यन्वयेनैकवाक्यतयैव। अर्णवो लवणोदधिश्च यमुनात्वेन स्फुरति स्म। नीलाद्रेर्भागोऽंशः श्रीजगन्नाथदेवदेवकुल–पश्चिमदिशि वर्त्तमानो य एकदेशः स च गोवर्द्धनाद्रिरूपेण स्फुरति स्मेत्यर्थः। एवमेतद्व्रजभूम्यदर्शनजः शोको मां बाधितुं न शशाकेति भावः॥१९५॥

भावानुवाद—अब जपफलके निरूपणके प्रसङ्गमें सर्वप्रथम श्रीजगन्नाथ-देवकी विशेष करुणाको 'यदास्या' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। जब मुझमें व्रजभूमि दर्शनकी प्रबल उत्कण्ठा होती, तब श्रीजगन्नाथदेवकी महिमासे पुरीक्षेत्रके उपवन देखनेसे ही श्रीवृन्दावनकी स्फूर्ति होती अर्थात् वहाँ श्रीवृन्दावन प्रतिभात होता॥१९४॥

कौनसी वस्तु किस रूपमें स्फुरित होती? इस अभिप्रायसे 'तत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अर्थात् श्रीजगन्नाथदेवकी कृपासे उनके

क्षेत्रकी उपवनश्रेणी श्रीवृन्दावनके समान प्रतीत होती। उसी प्रकार लवणसमुद्र यमुनाके रूपमें और नीलाद्रिका भाग अर्थात् श्रीजगन्नाथदेव मन्दिरके पश्चिमकी ओर स्थित बृहदाकार बालूका स्तूप या चटकपर्वत, गोवर्धन जैसा प्रतिभात होता। इस प्रकार मेरा व्रजभूमिके अदर्शनसे उत्पन्न शोक दूर हो जाता अर्थात् वह शोक मेरे सुखमें बाधक नहीं हो पाता॥१९५॥

एवं वसन् सुखं तत्र भगवद्दर्शनादनु।
गुरुपादाज्ञया नित्यं जपामि स्वेष्टसिद्धये॥१९६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैं परम सुखपूर्वक पुरुषोत्तम क्षेत्रमें वास करने लगा और श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनके पश्चात् अपनी इष्टसिद्धिके लिए नित्य गुरुदेवके आदेशानुसार मन्त्रजप करता॥१९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारेण तत्र सुखं वसन्, भगवतः श्रीजगन्नाथदेवस्य दर्शनादनु पश्चाज्जपामि; आदौ देवालयान्तर्गत्वा तं वीक्ष्य तदनन्तरं निजावासे समागत्य निजमन्त्रजपं करोमीत्यर्थः। स्वस्य मम यदिष्टं वाञ्छितं वस्तु श्रीजगन्नाथदेव-सेवाविशेषरूपं, तस्य सिद्धये तत्सङ्कल्पपूर्वकमित्यर्थः। गुरुपादानामाज्ञयेति श्रीजगन्नाथदेव-दर्शनैकनिष्ठतापगमेऽपि दोषाभावं तथा गुरुभक्तिविशेषं जपसाध्यं विश्वासादिकञ्च सूचयति॥१९६॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैं पुरुषोत्तम क्षेत्रमें परम सुखपूर्वक वास करने लगा। पहले मन्दिरके भीतर श्रीभगवान्का दर्शन करता और फिर अपने वासस्थान पर आकर अपने मन्त्रका जप करता। मेरी इष्टवस्तु थी—श्रीजगन्नाथदेवकी सेवा। अतः उसकी सिद्धिके लिए उसी प्रकार संकल्पपूर्वक मन्त्रजप करता। विशेषतः इष्टसिद्धिके लिए गुरुदेवकी आज्ञाको ही विशेषरूपसे बलवान जानकर उनकी आज्ञानुसार प्रतिदिन मन्त्रजप करने लगा। इस वाक्यके द्वारा श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनमें निष्ठा न रहने पर भी दोषका अभाव और गुरु-भक्तिकी विशेषतासे जप-साध्यमें विश्वास सूचित होता है॥१९६॥

अथ तस्मिन् महाराजे कालं प्राप्तेऽस्य सूनुना।
ज्येष्ठेनातिविरक्तेन राज्यमङ्गीकृतं न तत्॥१९७॥

श्लोकानुवाद—कुछ दिनोंके पश्चात् पुरीके महाराज परलोक सिधार गये और उनके ज्येष्ठ पुत्रने संसारसे अत्यधिक विरक्त होनेके कारण उस राज्यको अङ्गीकार नहीं किया॥१९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्चाचिरेणैवाभीष्टसिद्धिर्जातेति पञ्चभिरथेत्यादिश्लोकैर्वदन्नादौ साम्राज्यप्राप्तिमाह—द्वाभ्याम्। अथ पश्चात् महाराजे चक्रवर्तिनि कालं प्राप्ते मृते सति; अस्य महाराजस्य ज्येष्ठेन सूनुना; तद्राज्यं साम्राज्याधिकारः; अनङ्गीकारे हेतुः—अतिविरक्तेनेति, अतिशब्देन श्रीजगन्नाथदेवस्य श्रीमुखदर्शनं विनान्यस्यां सेवायामपि वैराग्यं सूचितम्॥१९७॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् अपनी अभीष्ट सिद्धिके शीघ्र ही उपस्थित होनेके कारणको पाँच श्लोकों द्वारा वर्णन कर रहे हैं तथा उनमें प्रथम दो श्लोकोंमें साम्राज्य प्राप्तिके विषयमें वर्णन हुआ है। तदनन्तर वहाँके महाराज परलोक सिधार गये। उनका ज्येष्ठ पुत्र संसारसे अति विरक्त था, इसलिए उसने साम्राज्यका उत्तराधिकारी होना अङ्गीकार नहीं किया। यहाँ 'अति' शब्दके द्वारा श्रीजगन्नाथदेवके श्रीमुखदर्शनके अलावा अन्य सेवाओंमें भी वैराग्य सूचित हुआ है॥१९७॥

तत्राभिषिक्तः पृष्टस्यानुज्ञया जगदीशितुः।
सम्परीक्ष्य महाराजचिह्नानि सचिवैरहम्॥१९८॥

श्लोकानुवाद—तब साम्राज्यके मन्त्रियोंने श्रीजगन्नाथदेवसे प्रार्थना की कि राज्यपद पर किसका अभिषेक किया जाय? उनकी प्रार्थना सुनकर श्रीजगन्नाथदेवने उन्हें स्वप्नमें आदेश दिया कि जिसके अङ्गोंमें महाराज होनेके उचित चिह्न हों, उसीको राज्यपद पर अभिषिक्त किया जाय। तत्पश्चात् मन्त्रियोंने मेरे अङ्गोंमें महाराज होनेके उचित चिह्नोंको देखकर मुझे ही राज्यपद पर अभिषिक्त कर दिया॥१९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र साम्राज्ये सचिवैरहमभिषिक्तः। किं कृत्वा? महाराजस्य चक्रवर्तिनश्चिह्नानि लक्षणानि सम्यक् परीक्ष्य। ननु तथापि वैदेशिकस्याकिञ्चनस्य कथमेतद्घटितमित्याशङ्कायामाह—जगदीशितुर्जगन्नाथदेवस्य पृष्टस्य स्वतः ज्यायान् श्रीमुखदर्शनासक्तो विरक्त्या साम्राज्यं न गृह्णाति; कनिष्ठाश्च तस्मिन्नत्र वर्त्तमाने अनधिकारान्न तदर्हन्ति। अन्येषाञ्च तद्बन्धूनां महाराजलक्षणानि न विद्यन्ते; विना च सम्राजं क्षणमपि पृथिवी न वर्तेत। तदधुना कमत्राभिषिञ्चामीति श्रीजगन्नाथदेवाग्रे

सनियमममात्यवर्गेण प्रश्ने कृते सतीत्यर्थः। ततश्च तस्यानुज्ञया *'अत्रागतं मद्भक्तं श्रीगोवर्द्धनप्रभवं गोपकुमारमभिषिञ्चत'* इत्यादिरूपया आज्ञया। यद्वा, *'अत्र महाराज लक्षणानि यस्य दृश्यन्ते, तमेवाभिषिञ्चत'* इति। तत् पुत्रादिपैशुन्यपरिहाराय दीनवत्सलेन परमचतुरशिरोमणिना कृतयानुज्ञया मयि महाराजचिह्नानि सम्यक् परितश्च दृष्ट्वाहमेवाभिषिक्त इति। महाराजलक्षणानि चोक्तानि तत्र श्रीनवमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ९/२०/२४) चक्रवर्ति-शाकुन्तलेय-भरतवर्णने—*'चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोषोऽस्य पादयोः'* इति तथा॥१९८॥

भावानुवाद—उस साम्राज्यके मन्त्रियोंने किस कारणसे मुझे राजपद पर अभिषिक्त किया? मन्त्रियोंने महाराज-चक्रवर्तीके समस्त लक्षणोंकी पूर्ण परीक्षा द्वारा अर्थात् मुझमें राजा होनेके उचित चिह्नोंको देखकर उन्होंने मुझे ही राजपद पर अभिषिक्त किया अर्थात् राजा बना दिया। तथापि यदि आपत्ति हो कि एक विदेशी (अन्य स्थानसे आया हुआ) और विशेषकर एक निष्किञ्चनके लिए ऐसा घटित होना असम्भव है। इसके समाधानके लिए कहते हैं कि राज-मन्त्रियोंने परस्पर विचार किया कि परलोकगत महाराजाके ज्येष्ठपुत्र सर्वदा श्रीजगन्नाथदेवके श्रीमुखके दर्शनमें आसक्त रहते हैं और संसारसे सर्वथा विरक्त रहनेके कारण साम्राज्यका भार ग्रहण नहीं करेंगे और उनके वर्त्तमान रहते कनिष्ठ पुत्रका भी राज्यमें अधिकार नहीं है। महाराजाके अन्य बन्धुओंके अङ्गोंमें भी महाराज होनेके उचित लक्षण नहीं पाये जा रहे हैं, तथा इस पृथ्वी पर राजाके बिना साम्राज्यका कार्य क्षणभर भी नहीं चल सकता। इस प्रकार परस्पर विचार कर राजाके मन्त्रियोंने श्रीजगन्नाथदेवसे प्रार्थना की—'अब किसको राजा बनाया जाय?' तब श्रीजगन्नाथदेवने स्वप्नमें आदेश किया—'अभी गोवर्धनसे जो मेरा भक्त गोपकुमार यहाँ आकर निष्किञ्चनरूपसे रह रहा है, वही महाराज बननेके योग्य है और उसीको राजपद पर अभिषिक्त करो। अथवा जिसके अङ्गोंमें राजचिह्न हो उसीको राजा बनाओ।' श्रीजगन्नाथदेवके इस आदेशके अनुसार मन्त्रियोंने मेरे अङ्गोंमें समस्त राजचिह्नोंको देखकर मुझे ही राजपद पर अभिषिक्त कर दिया। अथवा राजाके पुत्रादि परिजनोंकी चुगली-दुष्टतादिको छिपानेके लिए परमचतुर-शिरोमणि दीनवत्सल भगवान् श्रीजगन्नाथदेवकी आज्ञाके अनुसार मन्त्रियोंने मेरे

अङ्गोंमें समस्त राजचिह्नोंको देखकर मुझे ही राजपद पर अभिषिक्त किया। महाराजके लक्षणोंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत (९/२०/२४)में चक्रवर्ती शकुन्तलाके पुत्र भरतके सम्बन्धमें वर्णन है कि उनके दक्षिण हाथमें चक्र और दोनों चरणोंमें पद्मकोषका चिह्न था॥१९८॥

विविधा वर्धितास्तस्य मया पूजामहोत्सवाः।
विशेषतो महायात्रा द्वादशात्रापि गुण्डिचा॥१९९॥

श्लोकानुवाद—राजा होकर मैंने श्रीजगन्नाथदेवके विविध पूजा-महोत्सवोंको पहलेकी तुलनामें और अधिक बढ़ा दिया। विशेषतः बारह महीनोंमें जो दोलादि बारह महायात्राएँ होती हैं, उनमें से गुण्डिचा नामक महायात्राको अधिकतररूपमें बढ़ा दिया॥१९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—साम्राज्यप्राप्तेः फलमाह—विविधा इति द्वाभ्याम्। वर्धिताः पूर्ववृत्तेभ्योऽधिकतया सम्पादिताः। तत्रापि विशेषतः सर्ववैशिष्ट्येन फाल्गुनादि-द्वादशमासेषु द्वादश-दोलदमनक-चन्दनजलस्नान-रथादिसम्बन्धिन्यो महत्यो यात्राः तत्क्षेत्रे जगल्लोकाभिगमनरूपा वर्धिताः। अत्र आस्वपि महायात्रासु गुण्डिचेति प्रसिद्धा गुण्डिचागारगमनार्थरथारोहण-यात्रेत्यर्थः। विशेषतो वर्धिता सर्वाभ्यो यात्राभ्यस्तस्याः परमश्रैष्ठ्यात्॥१९९॥

भावानुवाद—दो श्लोकों (१९८-१९९)में साम्राज्य प्राप्तिके फलका वर्णन कर रहे हैं। मैंने साम्राज्यपद प्राप्तकर श्रीजगन्नाथदेवके विविध महासेवा-पूजारूप समस्त महोत्सवोंको पहलेकी तुलनामें अधिकसे अधिक बढ़ा दिया। विशेषतः फाल्गुनादि बारह मासोंमें बारह महोत्सव अर्थात् दोल, दमनक पुष्पादि, सुगन्धित चन्दनजलमें स्नानयात्रा, रामनवमीकी अभिषेकयात्रा, रथयात्रा, हेरा पञ्चमी, शयन एकादशी, पार्श्व एकादशी, जन्माष्टमी, वामन द्वादशी, लंकायात्रा, उत्थान एकादशी, ओड़नषष्ठी, पुष्या (पौष) और मकर-संक्रान्ति, वसन्त पञ्चमी आदि जो-जो महामहोत्सव होते थे, उन सबको पुरुषोत्तम क्षेत्रमें संसार भरसे लोगोंके आगमनके उद्देश्यसे और भी अधिक आकर्षक बना दिया। इनमें भी गुण्डिचा महायात्राको विशेषरूपसे समृद्ध कर दिया। 'गुण्डिचा यात्रा'का अर्थ है—श्रीगुण्डिचा बाड़ी (घर)में जानेके लिए श्रीजगन्नाथदेवका श्रीबलराम और श्रीसुभद्राके

साथ रथ पर चढ़कर यात्रा करनेका महोत्सव। यहाँ 'वर्धिता'का अर्थ है—समस्त यात्राओंमें भी 'परमश्रेष्ठ' रूपसे बढ़ाना अर्थात् पहलेकी तुलनामें उन महोत्सवोंको अधिकसे अधिक ऐश्वर्यपूर्ण तथा आकर्षक बनाना॥१९९॥

पृथिव्याः साधवः सर्वे मिलिता यत्र वर्गशः।
प्रेम्णोन्मत्ता इवेक्ष्यन्ते नृत्यगीतादितत्पराः॥२००॥

श्लोकानुवाद—उस (गुण्डिचा-यात्राके) अवसर पर पृथ्वी भरसे प्राय समस्त साधु-वैष्णवजन पुरुषोत्तम क्षेत्रमें एकत्रित होकर अपने-अपने सम्प्रदायके नियमानुसार पृथक्-पृथक् या एकसाथ मिलकर प्रभुके सम्मुख नृत्य, गीतादि करते तथा उस समय उन्हें प्रेममें उन्मत्त होते देखा जाता॥२००॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्लक्षणमेवाह—पृथिव्या इति। पृथिव्यां यावन्तः साधवो वर्तन्ते, त एवेत्यर्थः। यत्र महायात्रासु गुण्डिचायात्रायामेव वा वर्गशो मिलिता निजनिजसम्प्रदाय-व्यवस्थया पृथक् पृथक् बहुतरसमूहक्रमेणागत्य सङ्गताः सन्त इत्यर्थः। प्रेम्णा भावविशेषेण नृत्यादिपराः परमाभिनिवेशेन तत्तत् कुर्वाणा उन्मत्ता उन्मादकलिता इव ईक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते लोकैः॥२००॥

भावानुवाद—वह यात्रा किस प्रकार की होती? इसकी आशंकासे 'पृथिव्याः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस गुण्डिचा महायात्राके उपलक्ष्यमें पृथ्वीके समस्त सम्प्रदायोंके साधु-वैष्णवजन पुरुषोत्तम क्षेत्रमें आते और सभी अपने-अपने सम्प्रदायोंके नियमानुसार पृथक्-पृथक् या एकसाथ मिलकर रहते हैं। यात्राके समय वे सब प्रेमके साथ प्रभुके सम्मुख नृत्य, गीतादि करते और विशेष भावमें अत्यधिक निमग्न होनेके कारण वैसा करते हुए उन्माद दशाको प्राप्त होते। वहाँ एकत्रित समस्त लोगोंको भी ऐसा दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त होता॥२००॥

राज्यं राजोपभोग्यञ्च जगन्नाथपदाब्जयोः।
समर्प्याकिञ्चनत्वेन सेवां कुर्वे निजेच्छया॥२०१॥

श्लोकानुवाद—मैंने उस राज्यको और राज्यसम्बन्धी सब भोग्य पदार्थोंको श्रीजगन्नाथदेवके चरणकमलोंमें समर्पित कर दिया तथा अकिञ्चन होकर अपनी इच्छासे उनकी सेवा करने लगा॥२०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं महाराज्यविषयवर्गसङ्गेन कथं निजेष्टश्रीजगन्नाथदेवस्य सेवाविशेषः समपद्यत? तत्राह—राज्यमिति। अकिञ्चनत्वेन यथापूर्वं दीनवद्वृत्त्या, निरस्ताखिलाभिमानतया वा। निजेच्छयेति यदा यथा यां सेवां कर्तुमिच्छा स्यात्तदा तथैव तां करोमि। तद्राज्याधिकारेण सर्वसेवकगणाध्यक्षतासिद्धेरित्यर्थः॥२०१॥

भावानुवाद—यदि कहो कि इस प्रकार महान राज्यके विषयोंके संसर्गमें रहते हुए भी गोपकुमार किस प्रकार अपने इष्टदेव श्रीजगन्नाथदेवकी सेवा करते? इसके उत्तरमें 'राज्यम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—राज्य और राज्यके उपयोगी सब भोग्य पदार्थोंको श्रीजगन्नाथदेवके चरणकमलोंमें समर्पण कर मैं पहलेकी भाँति अकिञ्चनरूपसे सेवा करने लगा। अर्थात् अकिञ्चनरूपसे पहलेकी भाँति दीनवृत्ति द्वारा या साम्राज्य-सम्बन्धी समस्त अभिमानोंको त्यागकर अपनी इच्छानुसार जब भी कोई सेवा करनेकी इच्छा होती, तब उनकी वैसी ही सेवा किया करता। इस वाक्यके द्वारा गोपकुमारकी राज्याधिकार और समस्त सेवकोंकी अध्यक्षता भी प्रमाणित होती है॥२०१॥

निजैः प्रियतमैर्नित्यसेवकैः सह स प्रभुः।
नर्मगोष्ठीं वितनुते प्रेमक्रीड़ाञ्च कर्हिचित्॥२०२॥

श्लोकानुवाद—श्रीजगन्नाथदेव अपने प्रियतम नित्यसेवकोंके साथ कभी-कभी नर्मगोष्ठी (हास-परिहास) और नाना-प्रकारकी प्रेम-क्रीड़ाएँ करते॥२०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं श्रीभगवतः श्रीजगन्नाथदेवस्य प्रसादविशेषलाभाय तदिच्छया साम्राज्यपरित्यागेन श्रीवृन्दावनगमनार्थं पुरुषोत्तमक्षेत्रवासे निर्वेदहेतुं दर्शयन् प्रथमं तदीयप्रियसेवकोत्कललोकविषयक-कारुण्यविशेषाप्राप्त्या निजमनोदुःखमाह—निजैरिति चतुर्भिः। नित्यं कुलक्रमेण जन्मनैव ये सेवकाः सेवमानास्तैः; अतएव प्रियतमैः; स प्रभुः श्रीजगन्नाथदेवः॥२०२॥

भावानुवाद—अब भगवान् श्रीजगन्नाथदेवकी विशेष कृपा प्राप्त करनेके लिए उनकी इच्छासे साम्राज्य त्यागकर श्रीवृन्दावन जानेके

लिए पुरुषोत्तम क्षेत्रमें वासके प्रति निर्वेदका कारण बता रहे हैं। सर्वप्रथम उनका अपने प्रिय सेवकोंके प्रति करुणा प्रकाश करना अर्थात् प्रभु अपने प्रियतम उत्कलवासी नित्यसेवकोंके साथ जिस प्रकार हास-परिहास और प्रेम-क्रीड़ा करते हैं, मैं उस प्रकारसे प्रभुकी विशेष करुणा प्राप्त नहीं कर पाता—यही मेरे दुःखका अथवा मेरे निर्वेदका कारण था। अब 'निजैः' इत्यादिसे आरम्भकर चार श्लोकोंमें उस मनोदुःखका कारण प्रकाश कर रहे हैं। यहाँ नित्य प्रियतम सेवकका अर्थ कुलपरम्परामें जन्म लेनेवाले प्रभुके सेवक अथवा सदैव प्रभुकी प्रिय सेवामें नियुक्त रहनेके कारण उनके नित्य प्रियतम सेवक॥२०२॥

यदा वा लीलया स्थाणुभावं भजति कौतुकी।
प्रीणन्त्यथापि साश्चर्यास्ते तल्लीलानुसारिणः॥२०३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार प्रेमक्रीड़ा करते-करते कौतुकी प्रभु कभी-कभी निश्चलभावका अवलम्बन करते, तब प्रभुके सेवक आश्चर्यचकित होकर प्रभुकी उन समस्त लीलाओंका अनुसरण कर परमानन्द प्राप्त करते॥२०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—कर्हिचिदित्यनेन सदा तां तां न करोतीत्यायातम्; तर्हि तदभावे कथं नाम ते सुखं वर्ततामित्याशंक्याह—यदेति। स्थाणुभावं मौना-नीहत्वादिकं भजत्याश्रयति अनुकरोतीत्यर्थः। कुतः? कौतुकी प्रियजनैः सह नानाविनोदकौतुकाचरणपर इत्यर्थः। तथापि एवमपि प्रीणन्ति हृष्यन्ति। तत्र हेतुः—साश्चर्याः, अहो! तादृशं बाल्यचापल्यादिकमधुनैव विस्तारितमहो इदानी-मेवैतादृशत्वं दर्शितमित्यादि-चित्तचमत्कारविशेषयुक्ताः सन्त इति। ननु, तथापि तादृशसुखाभावेन हृदि दुःखं दुष्परिहरमेव, तत्राह तस्य यदा या लीला स्यात्तामेवानुसर्तुं शीलमेषामित्यर्थः। एवं निजेश्वरप्रियाचरणेन परमसुखं स्यादेवेति भावः। यद्वा, ननु ते तदानीं कथं व्यवहरन्तीत्यपेक्षायामाह—तल्लीलेति; स्थाणु लीलायामनुकृतायां तेऽपि तदनुरूपमेव तस्मिन् व्यवहारमातन्वन्तीति भावः॥२०३॥

भावानुवाद—प्रभु कभी-कभी ही प्रेमक्रीड़ा करते, सदैव नहीं—यही 'कर्हिचित्' शब्दका तात्पर्य है। यदि प्रभु सदा उस प्रकारकी प्रेमक्रीड़ा नहीं करते तो किस प्रकार उनके नित्य सेवकोंको परमसुखी कहा

जायेगा? इस आशंकासे कह रहे हैं—श्रीजगन्नाथदेवके अचल मौनभावका भजन करने पर भी कौतुकी प्रभु अपने प्रिय सेवकोंके साथ नाना-प्रकारके विनोदपूर्ण कौतुकाचरण करते हैं। अर्थात् इस प्रकार लीला करते-करते यदि प्रभु कभी कौतुकवशतः मौनभाव या निश्चलभाव अवलम्बन करते, तो भी उनके प्रिय सेवक आश्चर्यपूर्वक प्रभुकी उन समस्त लीलाओंका अनुसरणकर परमानन्दमें निमग्न हो जाते। इसका कारण है कि वे आश्चर्यचकित होकर ऐसा विचार करते—अहो! अभी-अभी प्रभुने ऐसी बाल्यचापल्यादि चित्तचमत्कारकारी लीलाका विस्तार किया है और अब उन्होंने मौनमुद्रा धारण कर ली है। यदि कहो कि ऐसा होने पर क्या उनके सेवकोंमें पहले जैसे सुखके अभावमें हृदयका दुःख दूर होता? इसीलिए कह रहे हैं—भक्तगण प्रभुकी लीलाका ही अनुसरण करते हैं। अर्थात् प्रभु जो-जो लीला विस्तार करते हैं, उनके भक्त भी उसी-उसी लीलाका अनुसरण करते हैं। अतएव अपने प्रभुके प्रिय आचरण द्वारा वे अपने हृदयमें परमसुख ही अनुभव करते हैं। अथवा यदि कहो कि भक्त ऐसी अवस्थामें किस प्रकारका व्यवहार करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—उनकी लीलाके अनुरूप अर्थात् जब प्रभु निश्चललीला करते हैं, तब भक्त भी उस लीलाके अनुसार उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं॥२०३॥

ममापि तत्र तत्राशा स्यादथागन्तुकोऽस्म्यहम्।
तदेकनिष्ठो नापि स्यां कथं तत्तत्प्रसादभाक्॥२०४॥

श्लोकानुवाद—मेरी भी कभी-कभी प्रभुके साथ इसी प्रकार हास-परिहासमें योगदान करनेकी इच्छा होती, किन्तु मैं सोचता—अहो! एक तो मैं आगन्तुक हूँ और दूसरा मेरी उनमें एकनिष्ठा नहीं है। अतएव मैं किस प्रकार उनकी वैसी कृपाका पात्र हो सकता हूँ॥२०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तत्र श्रीजगन्नाथदेवेन सह नर्मगोष्ठ्यादौ। यद्यपि विचारेणाशाप्ययोग्ये भवितुं नार्हति, तथापि ईर्षया जन्यत एव। ततश्च ध्रुवं हृदि दुःखं स्यादित्याशंक्याह—अथेत्यादिश्लोकपदैः सप्तभिः। अनन्तरमागन्तुको नवीनागतोऽहं,

न च तस्य नित्यसेवकोऽस्मीत्यर्थः। तत्र च तस्मिन्नीलाचलपतावेकस्मिन्नेव निष्ठा निश्चलभावो यस्य तादृशोऽपिन स्यात्; श्रीवृन्दावनादि-व्रजभूम्यनुरक्तचित्तत्वात्। अतस्तं तं पूर्वोक्तमनिर्वचनीयम्; यद्वा, तस्य नीलाचलपतेः तं नर्मगोष्ठ्यादिप्रसादं भजतीति तथा तादृशः कथं स्याम्? यद्येवं किंवा यद्यप्येवं भवेयमिति परवाक्यबलादध्याहार्यम्॥२०४॥

भावानुवाद—मेरी भी कभी-कभी श्रीजगन्नाथदेवके साथ इसी प्रकार नर्म-गोष्ठादि (हास-परिहासादि)में सम्मिलित होनेकी इच्छा होती। यद्यपि विचार करनेसे मुझ जैसे अयोग्य व्यक्तिके लिए इस प्रकार आशा करना उचित नहीं था, तथापि ईर्ष्यावशतः मैं इस प्रकारकी आशाका दमन नहीं कर पाता था। अर्थात् उत्कलके नित्य प्रिय सेवकोंके वैसे सौभाग्यकी चिन्ता करनेसे मुझमें भी यह इच्छा उत्पन्न होती। यदि कहो कि तब तो वैसी आशाके साथ तुम्हारे हृदयमें अवश्य ही दुःख होता होगा? इसी आशंकासे 'अथ' इत्यादि सात श्लोक कह रहे हैं। मैं अभी नया-नया वहाँ आया था, इसलिए उनका नित्य सेवक नहीं था। उस पर भी नीलाचलपतिके प्रति मेरी निष्ठा निश्चलभावसे नहीं थी अर्थात् मेरा चित्त श्रीवृन्दावनादि व्रजभूमिके प्रति अनुरक्त था, इसलिए पूर्वोक्त अनिर्वचनीय लीलाका अर्थात् श्रीनीलाचलपतिकी नर्मगोष्ठी रूप लीलाका कृपापात्र कैसे होऊँ? अथवा इस प्रकार श्रीजगन्नाथदेवके निज प्रियतम भक्तोंके सौभाग्यका दर्शनकर वैसा सौभाग्य प्राप्त न होनेके कारण मेरे हृदयमें दुःख होता॥२०४॥

तथाप्युत्कलभक्तानां तत्तत्सौभाग्यभावनैः।
संजन्यमानया तत्तदाशयाधिः किलोद्भवेत्॥२०५॥

श्लोकानुवाद—तथापि उत्कलवासी भक्तोंके ऐसे सौभाग्यके विषयमें चिन्ता करते ही मेरे हृदयमें भी वैसी आशा जाग्रत हो उठती, किन्तु उस आशाके साथ मन भी दुःखित हो जाता॥२०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—उत्कलाश्च ते भक्ताश्च; तेषां तत्तन्नर्मगोष्ठ्यादिरूपं यत् सौभाग्यं, तस्य भावनैश्चिन्तनैः तस्य तस्य नर्मगोष्ठ्यादिप्रसादविशेषस्याशया। किल सम्भावनायाम्॥२०५॥

भावानुवाद—किन्तु उन उत्कलवासी भक्तोंका श्रीजगन्नाथदेवके साथ नर्मगोष्ठी आदिरूप जो सौभाग्य था, उसकी चिन्ता करते ही पुनः मेरे हृदयमें उसी प्रकारकी विशेष कृपा प्राप्त करनेकी आशा उत्पन्न हो जाती॥२०५॥

नामसंकीर्त्तनस्तोत्रगीतानि भगवत्पुरः।
श्रूयमाणानि दुन्वन्ति मथुरास्मारकाणि माम्॥२०६॥

श्लोकानुवाद—जब भगवान् श्रीजगन्नाथदेवके सम्मुख नामसंकीर्त्तन, स्तोत्र-पाठ और संगीत होता, तो उसे श्रवण करनेसे ही मुझे मथुराका स्मरण हो उठता और उस स्मरणके होते ही मेरा मन व्याकुल हो जाता॥२०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, नाम्नां श्रीमथुरानाथ—वृन्दावनचन्द्र-गोवर्द्धनोद्-धारणादिरूपाणां संकीर्त्तनानि, तथा स्तोत्राणि पौराणिकान्याधुनिककविरचितानि च, तथा गीतानि च स्वर-तालादिबन्धेन गीयमानगाथाविशेषाः मां दुन्वन्ति उपतापयन्ति। तत्र हेतुः—मथुरायाः स्मारकाणीति, तत्तच्छ्रवणेन मथुरागमनोत्कण्ठाविवर्धनात्, तद्विरहशोकोत्पादनाद्वा॥२०६॥

भावानुवाद—आगे कहते हैं—प्रभुके सामने नामसंकीर्त्तन अर्थात् श्रीमथुरानाथ, श्रीवृन्दावनचन्द्र, गोवर्धनधारी जैसे नामोंका संकीर्त्तन तथा स्तोत्रादि जो पौराणिक और आधुनिक कवियों द्वारा विरचित होते और गीत अर्थात् स्वर, तालादिमें निबद्ध होकर गाये जानेवाली विशेष गाथाका श्रवण करते ही मेरा मन अधीर हो जाता। इसका कारण यह था कि इन सबके श्रवणसे मुझे मथुराका स्मरण होता और मथुरा जानेकी उत्कण्ठा वर्द्धित होती। अतएव मथुराके विरहमें शोक उत्पन्न होनेके कारण मनमें पीड़ा होती॥२०६॥

साधुसङ्गबलाद्गत्वा दृष्टे राजीवलोचने।
सर्वः शोको विलीयेत न स्याज्जिगमिषा क्वचित्॥२०७॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि साधुसङ्गके प्रभावसे और कमलनयन श्रीजगन्नाथका दर्शन करनेसे मेरे समस्त दुःख दूर हो जाते तथा अन्य किसी स्थान पर जानेकी इच्छा भी दूर हो जाती॥२०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यपि महतां कृपया सर्वानन्दकदम्बमूर्त्ति-श्रीजगन्नाथदेव-दर्शने सति दुःखमशेषं विनश्येत्, तथापि साम्राज्यसम्बन्धेन पूर्ववत् सम्यक् सुखं न स्यादित्याह—साध्वित्यादिना न लभेयमित्यन्तेन। साधूनां सङ्गस्य बलादिति शोकेन स्वतो गमनशक्त्यभावेऽपि सतां सङ्गप्रभावेणैव गत्वेत्यर्थः। ततश्च क्वचित् कुत्रापि गन्तुमिच्छापि न स्यात्॥२०७॥

भावानुवाद—यद्यपि साधुओंकी कृपासे समस्त प्रकारके आनन्दकी कदम्बमूर्त्ति श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनसे ही मेरा समस्त दुःख शोक दूर हो जाता, तथापि साम्राज्यके सम्बन्धमें रहनेके कारण मुझे पहले जैसा पूर्णसुख अर्थात् दर्शनके कारण होनेवाला पूर्ण सुख अनुभव नहीं होता। किन्तु साधुसङ्गके प्रभावसे मेरा समस्त शोक दूर हो जाता और साथ-साथ कहीं अन्यत्र जानेकी इच्छा भी क्षीण हो जाती॥२०७॥

तथापि मम साम्राज्यसम्पर्केण हृदि स्वतः।
भगवद्दर्शनानन्दः सम्यङ्नोदेति पूर्ववत्॥२०८॥

श्लोकानुवाद—तथापि साम्राज्यसे सम्पर्कके कारण भगवान्‌के दर्शनसे मेरे हृदयमें पहले जैसा सम्पूर्ण आनन्द स्वाभाविक रूपसे उदित नहीं होता॥२०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यप्येवं, तथापि मम हृदि भगवतः श्रीजगन्नाथदेवस्य दर्शनानन्दः पूर्ववत् सम्यक् सम्पूर्णः, क्रियाविशेषणं वा, साधुतया नोदेति; स्वत इति, सत्सङ्गबलात् कदाचिदुदेतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—साम्राज्यस्य चक्रवर्तित्वाधिकारस्य सम्पर्केण सम्बन्धेनेति, राज्यादेर्जगन्नाथपादाब्जयोरर्पणात्; केवलं सम्बन्धमात्रमवशिष्ट-मस्तीति सम्पर्कशब्दप्रयोगः॥२०८॥

भावानुवाद—यद्यपि इस प्रकार साधुसङ्गके प्रभावसे और श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करनेसे मेरे समस्त शोक दूर हो जाते और अन्यत्र कहीं जानेकी इच्छा भी उदित नहीं होती, तथापि श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनसे मेरे हृदयमें पहले जैसी दर्शनानन्दकी स्फूर्ति स्वाभाविक रूपसे उदित नहीं होती। इसका कारण था—साम्राज्यके चक्रवर्तीत्व अधिकारके साथ मेरा सम्पर्क। किन्तु साधुसङ्गके प्रभावसे कभी-कभी पहले जैसे दर्शनानन्दकी स्फूर्ति होती। राज्यादिको श्रीजगन्नाथदेवके चरणकमलोंमें अर्पणकर राज्यसे केवल सम्बन्ध मात्र रहनेके कारण यहाँ 'सम्पर्क' शब्दका प्रयोग हुआ है॥२०८॥

यात्रामहोत्सवांश्चाहमावृतो राजमण्डलैः।
सुखं कलयितुं नेशे स्वेच्छया बहुधा भजन्॥२०९॥

श्लोकानुवाद—राजमण्डलसे घिरे रहनेके कारण मैं स्वेच्छानुसार यात्रा-महोत्सवादि करने और बहुत प्रकारसे भजन करने पर भी सम्पूर्णरूपसे सुखका अनुभव नहीं कर पाता॥२०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, स्वस्य मम इच्छया यथेच्छमित्यर्थः; बहुधा श्रीजगन्नाथदेवस्य वर्त्मसंमार्जनादि-श्रीमुखमार्जन-ताम्बूलार्पणादिपर्यन्त—बहुसेवा-प्रकारेण भजन्नपि; सुखं यथा स्यात्तथा, कलयितुमनुभवितुं, नेशे न शक्नोमि॥२०९॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं कि मैं अपनी इच्छानुसार श्रीजगन्नाथदेवकी नाना-प्रकारसे सेवा करने लगा अर्थात् उनका पथ मार्जन करनेसे लेकर श्रीमुख मार्जन और ताम्बूलार्पणादि तक नाना-प्रकारसे उनकी सेवा और भजन करता, तथापि पहलेकी भाँति सुखका अनुभव नहीं कर पाता॥२०९॥

राज्ञोऽपत्येष्वमात्येषु बन्धुष्वपि समर्प्य तम्।
राज्यभारं स्वयं प्राग्वदुदासीनतया स्थितः॥२१०॥

श्लोकानुवाद—तब मैंने उस समस्त राज्य-भारको राजाके पुत्रों, बन्धुओं तथा मन्त्रियोंको सौंप दिया और स्वयं पहलेकी भाँति उदासीन भावसे रहने लगा॥२१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च साम्राज्याधिकारः सर्वथा परित्यक्त इत्याह—राज्ञ इति। स्वयमयं प्राग्वद्यथापूर्वमुदासीनतया सर्वसम्बन्धराहित्येन स्थितः॥२१०॥

भावानुवाद—अतएव साम्राज्याधिकार सम्पूर्णरूपसे त्याग करना ही उचित है—इस प्रकार सोच-विचारकर राजाके पुत्रों, बन्धुओं और मन्त्रियोंको समस्त राज्यभार अर्पणकर मैं स्वयं पहलेकी भाँति उदासीन होकर अर्थात् समस्त प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित होकर दीनभावसे रहने लगा॥२१०॥

सुखं रहो जपं कुर्वन् जगन्नाथ-पदाब्जयोः।
समीपे स्वेच्छया सेवामाचरन्नवसं ततः॥२११॥

श्लोकानुवाद—निर्जनमें मन्त्रजप करनेसे मेरा मन सुखी रहता। साथ ही मैं श्रीजगन्नाथदेवके चरणकमलोंकी स्वेच्छापूर्वक सेवा करते हुए वास करने लगा॥२११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदैव निजसमीहितं सम्पन्नमित्याह—सुखमिति। ततो राज्यभारार्पणेनासङ्गतयावस्थानात्। सुखं यथा स्यात्, सुखरूपं वा जपं रह एकान्ते कुर्वन्। पूर्वं साम्राज्य-सम्बन्धेन विविक्तवासासम्पत्त्या सुखजपाचरणानुपपत्तेः॥२११॥

भावानुवाद—उस समयसे मैंने जिस प्रकार विचार किया था, उसी प्रकार निर्जनमें जप-अनुष्ठान करने लगा। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—राज्यभार अर्पण कर मैं पहलेकी भाँति उदासीन भावसे रहने लगा और निर्जनमें जप अनुष्ठान करनेके फलस्वरूप अब मेरा मन भी सुखी रहने लगा। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि साम्राज्यसे सम्बन्धके कारण पहले निर्जनमें सुखपूर्वक जपादि सम्पत्तिका अनुष्ठान सिद्ध नहीं हो पाता था॥२११॥

तथापि लोकसम्मानादरतस्तादृशं सुखम्।
न लभेय विनिर्विण्णमनास्तत्राभवं स्थितौ॥२१२॥

श्लोकानुवाद—तथापि लोगों द्वारा प्रदत्त सम्मान और आदरके कारण मुझे पहलेकी भाँति सुख नहीं होता था। इसलिए अब मुझे वहाँ रहनेमें भी वैराग्य होने लगा॥२१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यप्येवं, तथापि तादृशमनिर्वचनीयं परमोत्तममित्यर्थः, यद्वा, पुरानुभूतसदृशं सुखं न लभेय। तत्र हेतुः—लोकानां लोकैः क्रियमाणो यः सम्मानः सम्यक्पूजा तत्परिहारे कृतेऽपि सति यश्चादरः गौरवं, ताभ्याम्। इत्यतो हेतोस्तत्र क्षेत्रे तद्देशेऽपि वा स्थितौ निवासे निर्विण्णमना विरक्तचित्तो दुःखितो वाभवम्॥२१२॥

भावानुवाद—यद्यपि इस प्रकार मैं स्वेच्छापूर्वक सेवाकर वास करने लगा, तथापि मुझे पहले अनुभव किये गये परम अनिर्वचनीय सुखके समान सुख प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह था कि यद्यपि मैं लोगों द्वारा प्रदत्त सम्मान या पूजाादिको ग्रहण नहीं करता था, तथापि उन लोगोंका मेरे प्रति आदर या गौरव होनेके कारण मुझे पहलेकी भाँति सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिए मुझे पुरुषोत्तमक्षेत्रमें वास करनेमें

ही विरक्ति होने लगी और इससे मनमें श्रीवृन्दावन जानेकी दृढ़ता उत्पन्न हुई॥२१२॥

गन्तुं वृन्दावनं प्रातराज्ञार्थं पुरतः प्रभोः।
गतः श्रीमन्मुखं पश्यन् सर्वं तद्विस्मराम्यहो॥२१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीवृन्दावन जानेकी आज्ञा लेनेके लिए एक दिन प्रातःकाल मैं श्रीजगन्नाथदेवके सामने उपस्थित हुआ। अहो! उनके श्रीमुखका दर्शन करते ही मैं सब कुछ भूल गया॥२१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत्तर्हि निजमनोरमां श्रीमाथुरव्रजभूमिमेव कथं नायासि? तत्राह—गन्तुमिति। अहो आश्चर्ये। अयमर्थः—यस्य जगदीशस्य दर्शनार्थं मया सा व्रजभूमिस्त्यक्ता, सोऽत्र साक्षात् संलब्धः। तत् कथमसौ परित्यक्तुं योग्यः शक्यश्च? यश्च तेनैव निजप्रियतमाक्रीड़े श्रीवृन्दावने नीत्वा कमप्यनुग्रहविशेषं विधातुं तत्क्षेत्रनिवासे चित्तोद्वेगः समुत्थाप्यते, तेनापि तस्य साक्षाद्गत्यानुज्ञाग्रहणं विना न कुत्रापि यात्रोचिता। एवं पर्यालोचनया तदग्रे गमनेन श्रीमन्मुखदर्शने सति सद्य एव तन्मनोदुःखं तत्कारणञ्चान्यत्र गमनानुज्ञाग्रहणादिकमपि सर्वं विस्मृतं स्यात्, कुतश्चागमनमिति॥२१३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि जब तुम्हारे चित्तकी ऐसी अवस्था है, तब अपने अभिलषित मनोरम श्रीमाथुर-व्रजभूमिमें क्यों नहीं चले जाते? इसी आशंकासे 'गन्तुम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अहो! अर्थात् आश्चर्य सहित कहते हैं कि जिस जगदीश्वरके दर्शनोंके लिए मैंने उस व्रजभूमिका त्याग किया और जिनको साक्षात्‌रूपसे प्राप्त किया, उनको किस प्रकार त्याग कर सकता हूँ? यदि वे अपने प्रियतम क्रीड़ास्थान श्रीवृन्दावन ले जाकर किसी विशेष कृपाका विधान करेंगे, तब उस श्रीक्षेत्रमें रहनेसे चित्तमें जो उद्वेग उपस्थित हुआ है, वह दूर हो जायेगा। तथापि उनके साक्षात् आदेशके बिना कहीं भी जाना उचित नहीं है। इस प्रकार सोच विचारकर मैं श्रीजगन्नाथदेवके सामने जाता, परन्तु उनका श्रीमुखदर्शन करते ही मैं समस्त प्रकारका मनोदुःख और उसके कारण अन्यत्र जानेके लिए आदेश ग्रहण करना—सब कुछ भूल जाता। अतः व्रजभूमि जाना भी किस प्रकार सम्भव हो?॥२१३॥

एवं सम्वत्सरे जाते मया तत्रैकदा श्रुतम्।
मथुरायाः प्रायातेभ्योऽत्रत्यवृत्तं विशेषतः ॥२१४॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। एक दिन मथुरासे आये हुए कुछ लोगोंसे मैंने श्रीमथुरा सम्बन्धी वृत्तान्तको श्रवण किया॥२१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एकदा मथुरायाः सकाशात् तत्र श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रे प्रयातेभ्यो वैदेशिकलोकेभ्यः, अत्रत्यं मथुराभवं, वृत्तं वार्त्ता। विशेषतः श्रीवृन्दावन-गोवर्द्धनादिवर्ति-प्रदेशावली-गोगोपमृग-पक्षिवृक्षादीनां प्रत्येक-शोभातिशय-विवरणरूप-विशेषेण॥२१४॥

भावानुवाद—इस प्रकार एक वर्षका समय बीत जाने पर एक दिन मथुरासे आये हुए अन्य प्रदेशसे सम्बन्धित कुछ लोग श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें उपस्थित हुए। उनके मुखसे मैंने श्रीमथुराका सब वृत्तान्त श्रवण किया। विशेषतः श्रीवृन्दावन, गोवर्धनादि लीला-स्थलियों और वहाँके गो, गोप, मृग, पक्षी और वृक्षादि प्रत्येकको अत्यधिक शोभाका विवरण विशेषरूपसे श्रवण किया॥२१४॥

शोक-दुःखातुरं रात्रो शयानं मां महाप्रभुः।
इदमाज्ञापयामास परदुःखेन कातरः ॥२१५॥

श्लोकानुवाद—उस समस्त वृत्तान्तके श्रवणसे मैं दुःख-शोकसे अत्यधिक कातर होकर रातमें सो गया, उसी अवस्थामें परदुःख-दुःखी श्रीजगन्नाथदेवने मुझे आदेश दिया॥२१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तस्माच्छ्रवणात् शोकेन हृत्तापेन यद्दुःखं, तस्माद्धेतोः शयानं सन्तं माम्; महाप्रभुः श्रीजगन्नाथदेवः; इदं निरन्तर-श्लोकत्रयोक्तम्; यतः परस्यान्यस्य शत्रोरपि वा दुःखेन कातरो विवशः, तदसहिष्णुत्वात्॥२१५॥

भावानुवाद—उस समस्त वृत्तान्तको सुनकर शोकसे हृदयमें जो ताप या दुःख उपस्थित हुआ, उसीके कारण मैं सो गया। परदुःख-दुःखी श्रीजगन्नाथदेवने (इस श्लोकमें 'इदं' पदसे आरम्भकर अगले तीन श्लोकों तक) स्वप्नमें आदेश दिया। यहाँ 'परदुःख कातर'का अर्थ है—जो दूसरोंके, यहाँ तक कि शत्रुके दुःखमें भी दुःखी या विवश

हो जाते हैं अर्थात् वे किसीका भी दुःख सहन नहीं कर सकते॥२१५॥

भो गोपनन्दन क्षेत्रमिदं मम यथा प्रियम्।
तथा श्रीमथुराऽथासौ जन्मभूमिर्विशेषतः॥२१६॥

श्लोकानुवाद—हे गोपनन्दन! यह क्षेत्र मुझे जिस प्रकार प्रिय है, मथुरा भी उसी प्रकार प्रिय है। विशेषकर श्रीमथुरा मेरी जन्मभूमि होनेके कारण मुझे अधिक प्रिय है॥२१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ श्रीवृन्दावने प्रहितुं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रत्यागदोष परिहारार्थमेतत्क्षेत्रवासतोऽपि तद्व्रजभूमिवासो ममातिप्रिय इत्याशयेनादिशति—भो इति द्वाभ्याम्। गोपनन्दनेति, सम्बोधनेन तद्व्रजभूमिवास एव तवोचित इत्यभिप्रैति। इदं श्रीपुरुषोत्तमाख्यम्; अथ प्रत्युत; असौ मथुरा; विशेषत आधिक्येन असाधारण्येन वा मम प्रिया, यतो मम जन्मभूमिः सा॥२१६॥

भावानुवाद—सर्वप्रथम श्रीवृन्दावनमें जानेके लिए श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रके त्यागमें जो दोष है उसको दूर करनेके लिए तथा इस क्षेत्रवाससे भी उस व्रजभूमिमें वास करना श्रीजगन्नाथदेवको अत्यधिक प्रिय है, इन अभिप्रायोंसे श्रीजगन्नाथदेव 'भो गोपनन्दन' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। 'हे गोपनन्दन!' इस प्रकार सम्बोधन करनेका तात्पर्य यह है कि गोप पुत्र होनेके कारण उस व्रजभूमिमें वास करना ही तुम्हारे लिए उचित है। 'इदं' अर्थात् यह श्रीपुरुषोत्तम धाम; 'अथ'—बल्कि; 'असौ' अर्थात् मथुरा। 'विशेषतः' शब्दका अर्थ है—आधिक्य या असाधारण होनेके कारण अथवा मेरा प्रिय होनेके कारण, क्योंकि वह मथुरा मेरी जन्मभूमि है॥२१६॥

बाल्यलीलास्थलीभिश्च ताभिस्ताभिरलंकृता।
निवसामि यथात्राहं तथा तत्रापि विभ्रमन्॥२१७॥

श्लोकानुवाद—मथुरा मेरी बाल्यलीला स्थली है और उन समस्त लीलाओं द्वारा अलंकृत है। जिस प्रकार मैं यहाँ निवास करता हूँ, उसी प्रकार वहाँ भी निवास करता हूँ॥२१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, ताभिस्ताभिः परमानिर्वचनीयाभिः मम बाल्यलीलायाः स्थलीभिरलंकृता; एवं तत्तत्सद्भावेनेतः स्थानात् तत् स्थानं मे परमप्रियतममिति सिद्धम्। यौवनादर्वाक् कौमार-पौगण्ड-कैशोराणि बाल्य एवान्तर्भूतानि। *'जन्म बाल्यं ततः सर्वो जन्तुः प्राप्नोति यौवनम्। अव्याहतैव भवति ततोऽनुदिवसं जरा॥'*—इत्यादिवचनैः सर्वत्र बाल्य-यौवन-वार्धक्य रूपावस्थात्रयस्यैव प्रसिद्धेः। नन्वत्र भवान् प्रकटतया विराजते, तत्र च नैवमित्यत आह—निवसामीति। विभ्रमन् विहरन् विशेषेण पर्यटन् इति वा, अनेन वासेऽपि पूर्ववद्वैशिष्ट्यं सूचितम्॥२१७॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं—वह मथुरामण्डल परम अनिर्वचनीय है, क्योंकि मेरी बाल्यलीलाओंके द्वारा वह स्थान अलंकृत है। मेरी उन लीलाओंका स्थान होनेके कारण वह मेरे परम प्रियतमरूपमें भी प्रसिद्ध है। यहाँ बाल्यलीला कहनेका तात्पर्य है कि यौवनकी पूर्वावस्था कौमार, पौगण्ड और कैशोरादि लीलाएँ भी बाल्यलीलाके अन्तर्भुक्त हैं। यथा—"समस्त प्राणियोंको जन्मके बाद बाल्यकाल और फिर यौवन प्राप्त होता है, यौवनके बीत जाने पर क्रमशः बुढ़ापा उपस्थित होता है"—इस प्रमाणके अनुसार सर्वत्र ही बाल्य, यौवन और बुढ़ापा इन तीन अवस्थाओंको ही प्रसिद्ध रूपसे बताया गया है। यदि कहो कि आप तो यहाँ प्रकटरूपमें विराजमान हैं, इसलिए वहाँ (मथुरामण्डलमें) प्रकटरूपमें नहीं देखे जाते। इसके उत्तरमें कहते हैं—मैं यहाँ जिस प्रकार लीला-परायण होकर वास करता हूँ, वैसे ही वहाँ भी लीला-परायण होकर वास करता हूँ। 'विभ्रमण' शब्दका अर्थ है—विहार या विशेषरूपसे पर्यटन। इसके द्वारा व्रजमें प्रभुके वासका पूर्ववत् वैशिष्ट्य ही सूचित होता है॥२१७॥

सदा दोलायमानात्मा कथं तदनुतप्यसे।
तत्रैव गच्छ काले मां तद्रूपं द्रक्ष्यसि ध्रुवम्॥२१८॥

श्लोकानुवाद—तुम क्यों अपने चित्तको सदा चञ्चल करके दुःख पाते हो? तुम मथुरा चले जाओ तथा उपयुक्त समय आने पर निश्चय ही तुम मेरे गोपस्वरूपका दर्शन करोगे॥२१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्माद्दोलायमानः 'अत्र तिष्ठामि, तत्र वा गच्छामि' इति सन्देहमारूढो द्वैधीभूतो वा आत्मा चित्तं यस्य तादृशः सन्; कथमनुतप्यसे? वारं वारं दूयसे किम्? तर्हि तत्र मथुरायामेव गच्छ। नन्वत्र त्वां साक्षात् पश्यन्नस्मि, तत्र तु नैवमित्याशंक्याह—काले यथाकालं मां तत्र द्रक्ष्यसि। ध्रुवं निश्चितं यथा स्यात्; यद्वा, स्थिरं मां, तत्रैव नित्यसन्निहितत्वात्। कीदृशम् तद्रूपम्? श्रीमदनगोपालदेव-स्वरूपम्, एतेन रूपेऽपि वैशिष्ट्यं पूर्ववदेव ध्वनितम्। एवञ्च मदीयस्वरूपविशेषस्य कालविशेष एव सन्दर्शनात् पुनः कस्यापि शेकस्यावकाशोऽपरिपूर्णता च काचिदपि न खलु वत्स्यतीति भावः॥२१८॥

भावानुवाद—अतएव तुम क्यों अपने चित्तको सदा चञ्चल करके दुःख पाते हो? 'यहाँ रहूँ अथवा वृन्दावन चला जाऊँ'—इस प्रकार चित्तको सन्देह द्वारा दुविधाग्रस्त और चञ्चल करके अनुताप क्यों करते हो? तथा बार-बार अपने भाग्यको भी दोष क्यों देते हो? इसलिए तुम मथुरा चले जाओ। यदि आपत्ति हो कि यहाँ तो आपका साक्षात् दर्शन करता हूँ, लेकिन वहाँ तो साक्षात्‌रूपमें आपका दर्शन नहीं कर पाऊँगा? इसके समाधानके लिए कहते हैं—समय आने पर निश्चय ही तुम वहाँ भी मुझे देख पाओगे। अथवा मैं वहाँ चिरकालसे ही वास करता हूँ, अर्थात् वहाँ नित्य वर्त्तमान हूँ। वहाँ किस रूपमें वास करते हैं? श्रीमदनगोपालदेव स्वरूपसे। इसके द्वारा पूर्व प्रदर्शित श्रीजगन्नाथदेव रूपसे भी इस रूपका वैशिष्ट्य ध्वनित हुआ है। उपयुक्त समय आने पर तुम मुझे वहाँ पर श्रीमदनगोपालरूपमें निश्चय ही दर्शन करोगे, अतएव शोकाकुल होकर अपनेको अपूर्ण क्यों मानते हो? हे वत्स! तुम्हें कदापि शोक प्रकाश नहीं करना चाहिए—यही भावार्थ है॥२१८॥

आज्ञामालां प्रातरादाय पूजा-
विप्रैर्वासे मे समागत्य दत्ताम्।
कण्ठे बद्धा प्रस्थितो वीक्ष्य चक्रं
नत्वाथाप्तो माथुरं देशमेतम्॥२१९॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते श्रीगोलोकमाहात्म्यखण्डे
वैराग्यम् नाम प्रथमोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् प्रातःकाल श्रीजगन्नाथदेवके पुजारीने मेरे वासस्थान पर आकर मुझे आज्ञामाला दी, जिसको गलेमें धारणकर मैंने श्रीमन्दिरके चूड़ास्थित सुदर्शन चक्रका दर्शन किया और उसे प्रणामकर वहाँसे प्रस्थानकर मथुरा आ पहुँचा॥२१९॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके प्रथम अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—ननु स्वाप्निकं मिथ्यापि सम्भवेदिति कथं तादृशाज्ञामात्रेणैव तत् क्षेत्रं त्यक्त्वात्रागतम्? तत्राह—आज्ञेति; मथुरागमनार्थमाज्ञया आज्ञाया वा तद्बोधनीमित्यर्थः; यद्वा, आज्ञारूपां मालां कण्ठे बद्ध्वा प्रस्थितः सन्। कथं प्राप्ताम्? पूजासम्बन्धिभिर्विप्रैः, अन्तर्भूताशेषप्रकारकस्य श्रीभगवन्मूर्त्तिपूजारूपभक्ति प्रकारकस्य प्रायः प्रवर्तनाय तादृशरूपेणावतीर्णस्य श्रीजगन्नाथदेवस्य तदनुरूप लीलापेक्षया पूजाकर्मन्यधिकृतैर्ब्राह्मणैरित्यर्थः। आदाय तस्यैवाज्ञया तत्कण्ठात् गृहीत्वा, प्रातर्मम वासे समागत्य मह्यं दत्तामतः स्वाप्निकत्वान्मिथ्याभ्रमोऽपि निरस्त इति भावः। चक्रं सुदर्शनं तद्देवकुलचूड़ास्थितं वीक्ष्य दूराद्दृष्ट्वा, तदेव नत्वा निजवासान्तरे वाज्ञामालायाः प्राप्त्या तद्देवालयाभ्यन्तरे श्रीमुख-दर्शनार्थं न गतमिति भावः। अथ वर्त्मक्रमेण गमनानन्तरम्। एतं श्रीवृन्दावनादिरूपं प्राप्तम्॥२१९॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां द्वितीयखण्डे प्रथमोऽध्यायः।

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि स्वप्न मिथ्या भी तो हो सकता है, अतएव इस प्रकार स्वप्नमें प्राप्त केवल मिथ्या आज्ञा पर ही निर्भर होकर उस क्षेत्रको त्यागकर किस प्रकार मथुरा आये? इसके समाधानके लिए कहते हैं—मथुरा जानेके लिए आज्ञा हुई तथा उस आज्ञाकी बोधकस्वरूप आज्ञारूप माला कण्ठमें धारणकर मैंने मथुराके लिए प्रस्थान किया। यह आज्ञामाला किस प्रकार प्राप्त हुई? इसके लिए कहते हैं—श्रीजगन्नाथदेवकी नित्य पूजा करनेवाले पुजारी विप्र द्वारा प्राप्त हुई। उस नित्यसेवक विप्रको आदेश देकर उन्होंने स्वयं ही उस आज्ञामालाको मेरे पास भिजवाया था। अर्थात् बहुतसे विप्र अनन्त प्रकारसे श्रीभगवान्‌की मूर्त्तिकी सेवा-पूजादिरूप भक्तिके प्रकारोंका प्रवर्त्तन करते हैं, जिस कारण श्रीजगन्नाथदेव भी उन रूपोंमें अवतीर्ण होकर तदनुरूप लीलाकी आशासे पूजादि भक्तिकर्मों या उन

पूजाकार्योंके अधिकृत ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजाको ग्रहण करते हैं। उन्हींमें से एक विप्रने श्रीजगन्नाथदेवकी आज्ञासे उनके कण्ठसे माला उतारकर प्रातःकाल मेरे निवास स्थान पर आकर जब वह आज्ञामाला मुझे दी, तब मुझे स्वप्न-भ्रम होनेके कारण जो मिथ्या संशय हुआ था वह दूर हो गया। तत्पश्चात् मैंने देवमन्दिरके चूड़ास्थित सुदर्शनचक्रको दूरसे दर्शन कर दण्डवत् प्रणाम किया और अपने निवास स्थानमें नहीं गया। अथवा आज्ञामाला कण्ठमें धारणकर पुनः देवमन्दिरके भीतर श्रीजगन्नाथदेवका श्रीमुखदर्शन करनेके लिए भी नहीं गया। मैंने उस स्थानसे प्रस्थान किया और क्रमशः वृन्दावनके पथ पर चलते-चलते पुनः श्रीवृन्दावन आ पहुँचा॥२१९॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके प्रथम अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः (ज्ञानम्)

श्रीगोपकुमार उवाच—

माथुरोत्तम विश्रान्तौ स्नात्वा वृन्दावनं गतः।
अत्र गोवर्द्धनादौ च यथाकामं परिभ्रमन्॥१॥
पिबंश्च गोरसं पूर्वबान्धवैस्तैरलक्षितः।
भजन् स्वजप्यमनयं दिनानि कतिचित् सुखम्॥२॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—हे श्रेष्ठ माथुर ब्राह्मण! मैंने मथुरा पहुँचकर विश्रामघाट पर स्नान किया और फिर मैं वृन्दावनमें उपस्थित हुआ। वहाँ गोवर्द्धनादि समस्त स्थानोंमें इच्छानुसार भ्रमण और गोरस पान करते हुए जीवन धारण करने लगा। मैं अपने पूर्व बान्धवोंसे छिपकर रहता था, इस प्रकार भक्तिपूर्वक अपने मन्त्रका जप करते-करते मैंने यहाँ पर कुछ दिन सुखपूर्वक बिताये॥१-२॥

दिग्दर्शिनी टीका

द्वितीयेऽवादि माहात्म्यं स्वर्गादीनां यथोत्तरम्।
समाधेश्च बहिर्दृष्टैस्तथा भक्तेश्च मुक्तितः॥

हे माथुरेषु उत्तम श्रेष्ठ! विश्रान्तौ तत् संज्ञके श्रीमथुरापुरीमुख्यतीर्थे स्नात्वा गतः प्राप्तः सन्; अत्र श्रीवृन्दावने; आदिशब्देन यमुनापुलिन-भाण्डीर-तालवन-महावनादि। तैर्गोवर्द्धननिवासिभिः पूर्वैर्वान्धवैः सुहृद्भिः अलक्षितोऽपरिचितः सन्, वैदेशिकवेशाच्छन्नत्वात्; अनेनासङ्गत्वादिकं दर्शितम्। स्वजप्यं निजमन्त्रं भजन् भक्त्या जपन्॥१-२॥

भावानुवाद—इस दूसरे अध्यायमें स्वर्ग और महर्लोकादिकी उत्तरोतर महिमा वर्णन की गयी है और समाधि अवस्थामें जो आन्तरिक साक्षात्कार होता है, उसकी तुलनामें भगवद्भक्तिसे विभावित नेत्रोंके द्वारा बाह्यः साक्षात्कारका अधिक उत्कर्ष स्थापित करते हुए मुक्तिसे भक्तिकी समस्त प्रकारसे श्रेष्ठता प्रदर्शित की गयी है।

श्रीगोपकुमार बोले—हे माथुरोत्तम द्विज! मैंने मथुरापुरीमें पहुँचकर मथुरापुरीके मुख्य तीर्थ विश्रामघाट पर स्नान किया और फिर यहाँ वृन्दावनमें उपस्थित हुआ। मैं इस श्रीवृन्दावनमें तथा गोवर्धन, यमुना पुलिन, भाण्डीरवन, तालवन, महावनादि समस्त स्थानोंमें इच्छानुसार भ्रमण करने लगा। दूसरे किसी स्थानसे आये हुए व्यक्ति जैसा वेश धारण करनेके कारण मेरे पूर्व-बान्धव मुझे पहचान नहीं पाते थे। इसके द्वारा गोपकुमारकी अनासक्ति प्रदर्शित हुई। इस प्रकार मैंने अलक्षितरूपसे (छिपकर) अपने मन्त्रका जप करते-करते कुछ दिन सुखपूर्वक व्यतीत किये॥१-२॥

अथ सन्दर्शनोत्कण्ठा जगदीशस्य साजनि।
ययेदं शून्यवद्वीक्ष्य पुरुषोत्तममस्मरम्॥३॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त मुझमें श्रीजगदीशके दर्शनोंके लिए फिरसे तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हुई, इसलिए यह वृन्दावन मुझे शून्यसा प्रतीत होने लगा और मुझे पुरुषोत्तमक्षेत्रका स्मरण होता॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा तादृशी; अजनि प्रादुरभूत्; यया उत्कण्ठया इदमखिलं वनं मथुरामण्डलं वा, वतिप्रत्ययेन वस्तुतो नित्यं तत्र सान्निध्यं सूच्यते। तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/८/४२)—*'पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः।'* इति; दशमस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ १०/१/२८)—*'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः।'* इति, तथा *'पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः। गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुः, विक्रीड़याञ्चति गिरित्र-रमार्चिताङ्घ्रिः॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१३) इत्यत्राञ्चतीति वर्त्तमान निर्द्देशेन नित्यं हि तत्तद्विहारश्च बोध्यते। पुरुषोत्तमं क्षेत्रमस्मरम्; तत्रत्यवासमेव साध्वमंसीत्यर्थः, सदा तत्र श्रीभगवतः प्रकटतया निवेशात्। तदानीञ्च श्रीकृष्णकृपाविशेषानुदयात् एतच्छ्रीमाथुरव्रजभूरस-विशेषानुभवाभावेनास्यान्यत्र जिगमिषा वृत्तेति ज्ञेयम्। इतस्ततः सर्वतः परिभ्रमणेन तत्तत्स्थाने तत्त्वानुभवतस्तत्तत्परित्यागेनास्यां व्रजभूमावेव। निजाभीष्टसिद्धिरत्रैव पश्चान्निश्चलतया प्रीत्यावस्थानादिति दिक्॥३॥

भावानुवाद—मेरे हृदयमें श्रीजगदीशके दर्शनोंके लिए पहलेकी भाँति उत्कण्ठा उदित हुई। उस उत्कण्ठाके कारण यह वन अथवा मथुरामण्डल मेरी दृष्टिमें शून्यवत् प्रतीत होने लगा। यहाँ 'शून्यवत'में

'वति' प्रत्ययके प्रयोगके कारण वस्तुतः उस वनमें अर्थात् मथुरामण्डलमें श्रीहरिका नित्य सान्निध्य सूचित होता है। यथा श्रीमद्भागवत (४/८/४२)में कथित है—"पुण्यमय मधुवनमें श्रीहरि नित्य अवस्थान करते हैं।" दशम-स्कन्ध (१०/१/२८)में भी कथित है—"मथुरामें भगवान् श्रीहरि नित्य विराजमान हैं।" तथा दशम-स्कन्ध (१०/४४/१३)में कहा है—"व्रजभूमि अत्यन्त पुण्यवती है, क्योंकि शिव और रमा (लक्ष्मी) जिनके चरणोंका अर्चन-पूजन करते हैं, वे गूढ़ पुराणपुरुष वहाँ मनुष्यके रूपमें लक्षित होते हैं तथा वनके फूलोंकी मनोहर माला धारणकर वेणुवादन करते-करते बलरामके साथ गोचारण करते हुए वहाँ भ्रमण करते हैं।" इस उद्धृत श्लोकमें 'अञ्चति' इस वर्त्तमान क्रियापदका प्रयोग श्रीकृष्णलीलाकी नित्यताको व्यक्त करता है; अर्थात् व्रजभूमिमें सर्वदा ही श्रीकृष्णका विहार होता है—ऐसा जानना होगा। किन्तु जब श्रीजगदीशके दर्शनकी प्रबल उत्कण्ठाके कारण वृन्दावन शून्यमय प्रतीत होता अर्थात् जब पुरुषोत्तमक्षेत्रका स्मरण होता तब उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें वास करना ही उत्तम लगता, क्योंकि वहाँ पर श्रीभगवान् सर्वदा ही प्रकटरूपमें विराजित रहते हैं।

वस्तुतः गोपकुमार पर श्रीकृष्णकी विशेष कृपाके आविर्भाव न होनेके कारण अर्थात् इस श्रीमाथुर-व्रजभूमिके विशेष रसका अनुभव न होनेके कारण उसे अन्यत्र जानेकी इच्छा हुई। परन्तु बादमें जब इधर-उधर भ्रमणकर उन-उन स्थानोंके तत्त्वोंका अनुभव हुआ, तब गोपकुमार उन समस्त स्थानोंका परित्यागकर इस व्रजभूमिमें ही आये तथा यहीं पर उनकी अभीष्ट-सिद्धि हुई। तत्पश्चात् उनका व्रजभूमिमें प्रीतिपूर्वक निश्चलभावसे निवास सम्पन्न हुआ॥३॥

आर्त्तस्तत्र जगन्नाथं द्रष्टुमोढ्रान् पुनर्व्रजन्।
पथि गङ्गातटेऽपश्यं धर्माचारपरान् द्विजान्॥४॥

श्लोकानुवाद—मैंने श्रीजगन्नाथके अदर्शनसे व्याकुल होकर दुःखपूर्वक उनके दर्शनोंके लिए फिरसे उत्कल देशकी ओर प्रस्थान किया। रास्तेमें गङ्गाके तट पर मैंने स्वधर्म आचरणमें रत कुछ ब्राह्मणोंको देखा॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च आर्त्तः तत्परित्यागशोकेन दीनः सन्; तत्र पुरुषोत्तमक्षेत्रे। औढ्रान् तत्संज्ञकान् देशान्; धर्मो नित्यनैमित्तिकादिः, आचारस्तद्व्यतिरिक्तः सतां व्यवहारः, तावेव परौ श्रेष्ठौ येषां तान्; यद्वा, स्वधर्माचरणपरायणान् द्विजान् विप्रान्॥४॥

भावानुवाद—तदनन्तर मैंने श्रीजगन्नाथदेवके अदर्शनसे व्याकुल होकर पुनः उत्कल देशकी ओर प्रस्थान किया। यद्यपि आर्त्त अर्थात् इस व्रजभूमिके परित्यागसे उत्पन्न शोक द्वारा मैं अभिभूत हो गया था, तथापि मैंने उत्कलदेशकी ओर गमन किया। रास्तेमें गङ्गातट पर स्वधर्म आचरणमें रत कुछ ब्राह्मणोंका दर्शन किया। यहाँ 'धर्म'का अर्थ है—नित्य-नैमित्तिकादि वर्णाश्रम धर्म और 'आचार'का अर्थ है—साधुओंका व्यवहार। ये दोनों अर्थात् धर्म और आचार श्रेष्ठ हैं—ऐसी जिनकी धारणा है, वैसे स्वधर्म आचरणमें रत ब्राह्मणोंका दर्शन किया॥४॥

विचित्रशास्त्रविज्ञेभ्यस्तेभ्यश्चाश्रौषमद्भुतम् ।
स्वर्गो नामोर्ध्वदेशेऽस्ति देवलोकोऽन्तरीक्षतः ॥५॥

श्लोकानुवाद—वे सब ब्राह्मण बहुतसे शास्त्रोंको जाननेवाले थे। उनके मुखसे एक अश्रुतपूर्व अर्थात् पहले कभी न सुनी हुई बात श्रवण की कि भूतलसे ऊपर अन्तरीक्षमें स्वर्ग नामक एक स्थान है, जहाँ देवता लोग निवास करते हैं॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—विचित्रेषु श्रुति-स्मृति-दर्शन-पुराणेतिहासादि-भेदेन बहुविधेषु शास्त्रेषु; विज्ञेभ्यो निचक्षणेभ्यः; अद्भुतमश्रुतपूर्वम्, तदेवाह—स्वर्ग इति सार्द्धषट्केन। देवानां लोको निवास स्थानम्; अन्तरीक्षतः आकाशे, न तु भूम्याद्याश्रये॥५॥

भावानुवाद—वे सब ब्राह्मण विचित्र अर्थात् श्रुति, स्मृति, दर्शन, पुराण और इतिहासादि भेदसे बहुत प्रकारके शास्त्रोंको जाननेवाले थे। मैंने उनके मुखसे पहले कभी नहीं सुनी हुई एक आश्चर्यजनक बात श्रवण की—जिसे 'स्वर्ग' आदि ढाई श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। उन्होंने बताया कि इस मर्त्त्यलोकके ऊपर स्वर्ग नामक एक स्थान है, जहाँ देवता निवास करते हैं। वह स्थान अन्तरीक्षमें अवस्थित है, अर्थात् भूमि आदिके आश्रयसे रहित है॥५॥

विमानावलिभिः श्रीमान्निर्भयो दुःखवर्जितः।
जरामरणरोगादि-दोषवर्गबहिष्कृतः ॥६॥

श्लोकानुवाद—वह स्वर्ग विमानोंके द्वारा सुशोभित है, भय और दुःखरहित है तथा जरा-मरण-रोगादि जैसे दोषोंसे शून्य है॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि कथं तत्र सुखवासादि सम्भवति? तत्राह—विमानानां वातोह्यमान-देवयानानामावलिभिर्या श्रीः शोभा सम्पद्वा, तदतिशययुक्तः। भूम्नि मतुः; भय दुःखयोरभावे हेतुः—जरादीनां दोषाणां वर्गेण बहिष्कृतो रहितः; यद्वा, दोषवर्गाद्नहिष्कृतो दूरे निर्मितस्तदतीत इत्यर्थः॥६॥

भावानुवाद—यदि वह स्वर्ग भूमि आदिके आश्रयसे रहित है, तब उस स्थान पर किस प्रकार सुखपूर्वक वास सम्भव हो सकता है? इसके लिए कहते हैं—वह स्थान विमानों द्वारा परिशोभित है और वे विमान वायुवेगसे परिचालित होते हैं। उस स्वर्गके वासी देवता भी अत्यधिक शोभासे युक्त हैं। वह स्वर्ग भयरहित और दुःखवर्जित होनेके कारण वृद्धावस्था आदि दोषोंसे शून्य है अथवा ऐसे दोषोंसे दूर स्थित होनेके कारण दोषादिसे अतीत है॥६॥

महासुखमयो लभ्यः पुण्यैरत्रोत्तमैः कृतैः।
यस्य शक्रोऽधिपो ज्यायान् भ्राता श्रीजगदीशितुः ॥७॥

श्लोकानुवाद—वह स्वर्ग महासुखमय है और श्रेष्ठ पुण्यों द्वारा ही प्राप्त होता है। श्रीजगदीशके ज्येष्ठ भ्राता इन्द्रदेव उस स्थानके अधिपति हैं॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च केवलमेतावदेव, परमं सुखञ्च तत्र वर्त्तत इत्याह—महेति। दौर्लभ्येनोत्कर्षमाह—अत्र च भारते वर्षे कृतैरुत्तमैः विशुद्धैः पुण्यैरेव लभ्य इति। एवं स्वतः साधनतश्च माहात्म्यमुक्त्वा महेन्द्रपाल्यत्वेन-उत्कर्षातिशयमाह—यस्येति। अधिपः पालको राजा वा; श्रीजगदीशितुर्वामनरूपिणः श्रीविष्णोर्भ्राता; तत्र च ज्यायान् ज्येष्ठः॥७॥

भावानुवाद—वह स्थान केवल जरा-मरणादि दोषशून्य है—ऐसा ही नहीं, बल्कि वहाँ परमसुख भी वर्त्तमान है। इसीको 'महा' इत्यादि इस श्लोकमें कह रहे हैं। स्वर्ग परमसुखका स्थान है, विशेषतः दुर्लभ होनेके कारण उसका उत्कर्ष अत्यधिक रूपमें वर्द्धित हुआ है।

भारतवर्षमें आकर उत्कृष्ट अर्थात् विशुद्ध पुण्यजनक कर्मोंके अनुष्ठानसे वह स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकारसे स्वतः प्रमाणित साधन-माहात्म्यका वर्णनकर अब महेन्द्रके द्वारा पालित होनेके कारण उस स्थानकी अत्यधिक श्रेष्ठताके सम्बन्धमें कह रहे हैं—श्रीवामनरूपी श्रीजगदीशके ज्येष्ठ भ्राता उस स्थानके पालक या अधिपति हैं॥७॥

यद्यप्यस्ति बिलस्वर्गो विष्णु-शेषाद्यलंकृतः।
भौमस्वर्गश्च तद्द्वीपवर्षादिषु पदे पदे॥८॥
विचित्ररूप-श्रीकृष्णपूजोत्सवविराजितः ।
तथाप्यूर्ध्वतरो लोको दिव्यस्ताभ्यां विशिष्यते॥९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि बिलस्वर्गको अर्थात् पाताल आदि लोक भगवान् श्रीकृष्णकी विष्णु और शेष जैसी मूर्त्तियोंसे अलंकृत है तथा भौम-स्वर्गवासी सभी लोग भिन्न-भिन्न वर्षों (खण्डों) और द्वीपोंमें भिन्न-भिन्न मूर्त्तियोंमें विराजमान श्रीकृष्ण-स्वरूपके ही विविध पूजा-महोत्सवादिका अनुष्ठान करते हैं, तथापि दिव्यस्वर्ग इन दोनों स्वर्गोंके ऊपर विराजित होनेके कारण विशेष गुणोंसे युक्त है॥८-९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भौमस्वर्गो बिलस्वर्गश्च विचित्रभगवन्मूर्त्तिपूजोत्सवादि-युक्तस्तत्र तत्रास्ति, तत् कथमयमेव स्तूयत इत्याशंक्याह—यद्यपीति द्वाभ्याम्। विष्णुर्बलिद्वारपालकः सुतलाधिष्ठाता; शेषश्च सप्तमपातालाधिष्ठाता; आदिशब्दाद्रामायणोक्तो रावण-मदध्वंसिकोऽतले विराजमानः श्रीकपिलस्तथा वितल-वर्त्तमान-श्रीरुद्रादयश्च; तैरलंकृतः शोभितः। तस्माद्भूमेर्द्वीपेषु जम्वादिषु वर्षेषु भारतादिषु, आदिशब्देन क्षीरोदादि। पदे पदे स्थाने स्थाने स्थितं, विचित्रं प्लक्षद्वीपादिवर्तिश्रीसूर्यादिभेदेन, तथा इलावृतवर्षवर्ति-श्रीसङ्कर्षण-भद्राश्ववर्ति श्रीहयशीर्षादिभेदेन बहुविधं रूपं मूर्त्तिर्यस्य तस्य श्रीकृष्णस्य भगवतः पूजैवोत्सवस्तेन विराजितो भौमस्वर्गोऽपि यद्यस्ति, तत्रापेक्षिततत्तद्द्वीपवर्षादिवर्ति-श्रीभगवन्मूर्त्ति-वार्त्ताविशेषश्च पञ्चमस्कन्धे ज्ञेयः। तथापि दिव्यः आन्तरीक्षलोकः ताभ्यां बिल-भूमिस्वर्गाभ्यां सकाशाद्विशिष्टो भवति; यत ऊर्ध्वतरः मुकुटवत्तयोरुपरि वर्त्तमान इत्यर्थः। यद्वा, दिव्य इति पदं हेतुः; ततश्च यतोऽसौ देवानां लोक इत्यर्थः। एतेन च तत्तद्द्वीपवर्षादि-जिगमिषा निरस्तेति मन्तव्यम्॥८-९॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि भौमस्वर्ग और बिलस्वर्गमें जगदीश श्रीविष्णु किस प्रकारकी विचित्र श्रीमूर्त्तियाँ धारण कर और किस

प्रकारसे वहाँके पूजा-महोत्सवादिसे युक्त होकर विराजमान हैं? अर्थात् वह सब भगवन्मूर्त्तियाँ किस रूपमें पूजित होती हैं? इसकी आशंकासे कह रहे हैं—जगदीश श्रीविष्णु मूर्त्ति धारणकर महाराज बलिके द्वारपालके रूपमें सुतलमें अधिष्ठित हैं और शेषदेव धरणीधरके रूपमें सप्तम पाताललोकमें अधिष्ठित हैं। 'आदि' शब्द द्वारा रामायणमें उक्त रावणका गर्वचूर्णकारी श्रीकपिलदेव सूचित हुए हैं जो अतललोकमें विराजमान हैं। उसी प्रकारसे भगवान्‌की रुद्रादि मूर्त्तियाँ भी वितलमें विराजमान हैं। इस प्रकार भगवान्‌की असंख्य मूर्त्तियाँ बिलस्वर्गको अलंकृत करते हुए विराजमान हैं। इसी प्रकार भूमण्डलमें जम्बुद्वीप स्थित भारतवर्षादिमें अनेक भगवन्मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। 'आदि' शब्द द्वारा क्षीरोदादि समुद्र स्थित और 'पदे पदे' शब्द द्वारा स्थान-स्थान पर स्थित समस्त भगवन्मूर्त्तियाँ तथा प्लक्षादि समस्त द्वीपोंमें सूर्यादिकी मूर्त्ति भेदसे भगवान्‌की बहुत प्रकारकी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। जैसे—इलावृत वर्षमें श्रीसङ्कर्षण, भद्राश्ववर्षमें श्रीहयशीर्ष इत्यादि बहुत प्रकारकी मूर्त्तियाँ धारणकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विविध प्रकारकी पूजा और उत्सवादिके साथ विराजते हैं। भौमस्वर्गवासी लोग भी भिन्न-भिन्न द्वीपों और भिन्न-भिन्न वर्षोंमें (खण्डोंमें) भिन्न-भिन्न मूर्त्तियोंमें विराजमान भगवान्‌की विविध प्रकारसे पूजा-महोत्सवादिका अनुष्ठान करते हैं। इन समस्त द्वीपों और वर्षोंके अन्तर्गत श्रीभगवान्‌की मूर्त्तियोंका विशेष परिचय श्रीमद्भागवतके पञ्चम-स्कन्धमें द्रष्टव्य है।

यद्यपि भौमस्वर्ग और बिलस्वर्ग आदिमें इस प्रकारके पूजा-महोत्सवादि विद्यमान हैं, तथापि अन्तरीक्ष (दिव्यस्वर्ग)—भौम और बिलस्वर्गसे भी विलक्षण अर्थात् विशेष गुणोंसे युक्त है, क्योंकि दिव्यस्वर्ग इन दोनों स्वर्गोंके ऊपर मुकुटरूपसे वर्त्तमान है। अथवा 'दिव्य' कहने मात्रसे ही उसका 'पद' (अवस्थिति) भी दिव्य अर्थात् उत्कर्षका कारण स्वरूप हुआ है। अथवा दिव्यका अर्थ है—देवताओंका लोक। इसके द्वारा मेरी (गोपकुमारकी) उन-उन द्वीपों और वर्षों (खण्डों) आदिके अन्तर्गत समस्त स्थानों और उनसे निम्न बिलस्वर्ग आदिमें जानेकी इच्छा दूर हो गयी॥८-९॥

यस्मिन् श्रीजगदीशोऽस्ति साक्षाददितिनन्दनः।
तस्योपेन्द्रस्य वार्त्ता च श्रीविष्णोरद्भुता श्रुता॥१०॥

श्लोकानुवाद—उस दिव्यस्वर्गमें साक्षात् श्रीजगदीश अदिति-पुत्रके रूपमें रहते हैं। उनका नाम उपेन्द्र (वामनदेव) है तथा उनकी अद्भुत महिमा सुनी जाती है॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, यस्मिन् दिव्यस्वर्गे सोऽदितिनन्दन एव श्रीविष्णुसंज्ञ उपेन्द्र इन्द्रावरजः। यद्वा, इन्द्रस्याप्युपरि परम-माहात्म्येन विराजमानत्वादुपेन्द्रः; तदुक्तं हरिवंशे शक्रेणैव *'ममोपरि यथेन्द्रस्त्वं स्थापितो गोभिरीश्वरः। उपेन्द्र इति कृष्ण त्वां गास्यन्ति दिवि देवताः॥'* इति। तस्य वार्त्ता प्रवृत्तिः, अद्भुता सर्वविलक्षणा॥१०॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं—इस दिव्यस्वर्गमें साक्षात् श्रीविष्णु अदिति-पुत्रके स्वरूपमें विराजमान हैं तथा वे श्रीविष्णु इन्द्रके छोटे भाई होनेके कारण उपेन्द्र नामसे जाने जाते हैं। अथवा इन्द्रके ऊपर परम माहात्म्य प्रकाशकर विराजमान रहनेके कारण उपेन्द्र कहलाते हैं। पक्षान्तरमें 'उप' उपसर्गकी अधिकताके अर्थमें—इन्द्रकी तुलनामें परम माहात्म्यसे मण्डित होकर विराजनेके कारण उपेन्द्र नामसे जाने जाते हैं। अथवा उप अर्थात् हीन, इन्द्र अर्थात् देवराज; अर्थात् देवराजके छोटे भाई उपेन्द्र हैं। इसीलिए हरिवंशमें इन्द्रने स्वयं ही कहा है—"हे कृष्ण! गायोंके द्वारा आप मुझसे भी श्रेष्ठ इन्द्रके रूपमें स्थापित हुए हैं, इसलिए स्वर्गके देवता 'उपेन्द्र' नामसे आपका स्तव करते हैं।" वस्तुतः उन उपेन्द्रकी समस्त कथाएँ परम अद्भुत और विलक्षण हैं॥१०॥

आरुह्य पक्षीन्द्रमितस्ततोऽसौ
क्रीड़न् विनिघ्नन्नसुरान् मनोज्ञैः।
लीलावचोभी रमयन्नजस्त्रं
देवान्निजभ्रातृतयार्च्यते तैः॥११॥

श्लोकानुवाद—वहाँ श्रीउपेन्द्र गरुड़ पर चढ़कर इधर-उधर विहार करते रहते हैं। विघ्न करनेवाले असुरोंका वध करते हैं तथा अपनी मनोहर लीलाओं और वाणीसे देवताओंको सदा आनन्द प्रदान

करते हैं। देवगण भी भक्तिसहित भ्रातृभावसे उनकी अर्चना करते हैं॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तामेवाह—आरुह्येति। पक्षीन्द्रं श्रीगरुड़म्; देवान् इन्द्र-वरुणादीन्। निजभ्रातृतया लीलाभिः क्रीड़ाभिर्वचोभिश्च रमयन् तैर्देवैरर्च्येत इति। इत्यादिकं पूर्वानुभूताद्वैलक्षण्यं ज्ञेयम्; एवमग्रेऽपि॥११॥

भावानुवाद—अब उन श्रीउपेन्द्र भगवान्‌की सर्वविलक्षण अद्भुत कथा कह रहे हैं। श्रीउपेन्द्र गरुड़ पर चढ़कर इधर-उधर विहार करते-करते असुरोंका विनाश करते हैं। विविध मनोहर वाक्योंके द्वारा स्नेहास्पद अपने भाई इन्द्र और वरुणादि देवताओंको तृप्त करते हैं और मनोहर क्रीड़ाओंके द्वारा उन्हें आनन्दित करते हैं। वे सब देवता भी भक्तिपूर्वक उनकी अर्चना करते हैं। इस प्रकार गोपकुमारने श्रीउपेन्द्रकी अद्भुत कथा (पूर्वमें श्रीजगन्नाथ क्षेत्रमें जो साक्षात् अनुभव किया था, अब उसकी तुलनामें भी वैशिष्ट्यपूर्ण कथा) श्रवण की। इस प्रकार उत्तरोतर वैशिष्ट्य वर्णित होगा॥११॥

तद्दर्शने जातमनोरथाकुलः,
सङ्कल्पपूर्वं स्वजपं समाचरन्।
स्वल्पेन कालेन विमानमागतं,
मुदाऽहमारुह्य गतस्त्रिपिष्टपम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—उन ब्राह्मणोंसे इन सब अद्भुत बातोंको सुनकर मेरा मन श्रीउपेन्द्र भगवान्‌के दर्शनके लिए व्याकुल हो गया। इसलिए मैं उनके दर्शनकी प्राप्तिके संकल्पसे अपना इष्टमन्त्र जप करने लगा। कैसा आश्चर्य! बहुत थोड़े समयमें ही स्वर्गसे विमान आया और मैं आनन्दपूर्वक उस विमान पर चढ़कर स्वर्गलोकमें चला गया॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीविष्णोर्दर्शने जातो यो मनोरथः कामस्तेनाकुलो विवशः सन्। सङ्कल्पः स्वर्गे शीघ्रमुपेन्द्रदर्शनार्थं वा मानसवृत्तिविशेषस्तत्पूर्वकम्। स्वीयमेव जपं सम्यङ्नियमादिदाढ्र्येनाचरन्॥१२॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीविष्णुकी अद्भुत कथा श्रवणकर मैं उनके दर्शनकी लालसासे व्याकुल हो गया। उन श्रीउपेन्द्रका शीघ्र दर्शन प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मैं संकल्पपूर्वक (जप सम्बन्धी समस्त

नियमोंको दृढ़ कर) अपने इष्टमन्त्रका जप करने लगा। ऐसे जपके प्रभावसे अल्प समयमें ही मेरा उद्देश्य पूर्ण हो गया। मुझे लेनेके लिए स्वर्गसे विमान आया और मैं आनन्दपूर्वक उस विमान पर चढ़कर स्वर्गलोकमें उपस्थित हुआ॥१२॥

पूर्वं गङ्गातटनृपगृहे यस्य दृष्टा प्रतिष्ठा,
तं श्रीविष्णुं सुरगणवृतं सच्चिदानन्दसान्द्रम्।
तत्रापश्यं रुचिरगरुड़स्कन्धसिंहासनस्थं,
वीणागीतं मधुरमधुरं नारदस्यार्चयन्तम्॥१३॥

श्लोकानुवाद—मैंने गङ्गातट स्थित राजाके मन्दिरमें जिनकी प्रतिमाके दर्शन किये थे, स्वर्गमें उन्हीं श्रीविष्णुको देखा। देवगण चारों तरफसे उनको घेरे हुए थे। वे सच्चिदानन्द-घनरूपमें प्रकाशित थे और मनोहर गरुड़स्कन्धरूप सिंहासन पर विराजमान थे। उनके सम्मुख श्रीनारद वीणायन्त्र पर मधुर-गान द्वारा उनकी अर्चना कर रहे थे॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्य प्रतिष्ठा प्रतिकृतिः पूर्वं दृष्टास्तीत्यनेन ततोऽपि सौन्दर्य-माधुर्याद्यतिशयस्तथा तस्मिन् वर्णितशंखचक्रादिधारिश्रीमच्चतुःकराब्जभूज-सुश्यामकान्ति-वयोभूषणादयोऽप्यस्य द्रष्टव्याः। एवमाकारादिना कथञ्चित् तत्सदृशतामुक्त्वा ततोऽपि विशेषमाह—सुरगणवृतमित्यादिना। सत्—सर्वत्र सत्तया वर्त्तमानं नित्यं वस्तु, तदेव चिज्ज्ञानं, तदेव आनन्दसुखविशेषस्तद्घनम्; तेजो घनरविमण्डलवद्-घनीभूतपरब्रह्मरूपमित्यर्थः। एवं तदीय-श्रीविग्रहतत्त्वमुक्तम्। तत्र त्रिपिष्टपे। रुचिरः सुन्दरो यो गरुड़स्य स्कन्धस्तदेव सिंहासनं महाराजवरासनं तत्स्थं तत्रासीनमित्यर्थः। नारदस्य वीणागीतं, नारदेन वीणया गीयमानं गीतमर्चयन्तं श्लाघनादिना सम्मानयन्तम्॥१३॥

भावानुवाद—मैंने पहले गङ्गातट स्थित राजाके मन्दिरमें जिस प्रतिमाका दर्शन किया था, स्वर्गमें उन्हीं श्रीविष्णुका दर्शन किया। अर्थात् पहले राजमन्दिरमें श्रीमूर्त्तिका जिस प्रकारका सौन्दर्य-माधुर्य आदि दर्शन किया था, स्वर्गमें उससे भी अधिक सौन्दर्य-माधुर्य आदि देखा। अर्थात् शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, चतुर्भुज, मनोहर श्यामकान्तियुक्त तथा भूषणादि द्वारा सुशोभित अवस्थामें उनको उपासित होते हुए देखा। राजमन्दिर स्थित श्रीमूर्त्तिके साथ उनकी कुछ-कुछ समानता रहने पर भी उनमें कुछ और भी विशेषता देखी। अर्थात् वे स्वर्गके

देवताओं द्वारा चारों ओरसे घिरे रहते थे और वे सुचारु गरुड़स्कन्धरूप सिंहासन पर विराजमान थे। वे सच्चिदानन्दघन विग्रह थे। सत्—सर्वत्र उनकी सत्ता विद्यमान रहनेके कारण वे नित्य स्वरूप हैं तथा उनका स्वरूप चिद्ज्ञान और आनन्दघनमय था। उनका तेज सूर्यमण्डलके समान घन था अर्थात् वे घनीभूत परब्रह्मस्वरूप थे। देवर्षि श्रीनारद उनके सम्मुख वीणायन्त्र पर मधुर-मधुर गीतगान द्वारा उनका अर्चन कर रहे थे तथा भगवान् उस गानकी प्रशंसा कर रहे थे॥१३॥

प्राप्य प्राप्यं द्रष्टुमिष्टञ्च दृष्ट्वा
तत्रात्मानं मन्यमानः कृतार्थम्।
दूराद्भूयो दण्डवद्वन्दमान-
स्तेनाहूतोऽनुग्रहस्निग्धवाचा ॥१४॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैंने अपनी अभिलषित वस्तुको प्राप्त कर लिया और अपने इष्टका दर्शनकर अपनेको कृतार्थ मानने लगा। तत्पश्चात् मैंने दूरसे ही उनको पुनः-पुनः दण्डवत् प्रणाम किया और उनकी वन्दना की। श्रीउपेन्द्र भगवान्ने कृपापूर्ण स्निग्ध-वाक्योंसे मुझे अपने निकट बुला लिया॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्राप्यं प्राप्तुं योग्यं यत्तत्तत्र प्राप्य; द्रष्टुमिष्टं वाञ्छितं यत् तच्च तत्र दृष्ट्वा, अतएवात्मानं कृतार्थं परिपूर्णाखिलार्थं मन्यमानः; भूयः पुनः पुनः; तेन श्रीविष्णुना आहूतः अहमाकारितः। अनुग्रहेण स्निग्धा आर्द्रा सरसा वाक् यस्य तेन, तयैव कृत्वा वा॥१४॥

भावानुवाद—मैंने अपनी अभिलषित वस्तुको प्राप्तकर तथा जिनको दर्शन करनेकी मेरी लालसा थी, उन इष्टदेवका साक्षात् दर्शनकर अपनेको कृतार्थ मानकर अर्थात् अपनी समस्त कामनाओंको परिपूर्ण मानकर दूरसे ही उनको पुनः-पुनः दण्डवत् प्रणाम किया। उन परम करुण श्रीविष्णुने कृपापूर्ण स्निग्ध वचनोंके द्वारा मुझे अपने निकट बुलाया॥१४॥

दिष्ट्या दिष्ट्या गतोऽसि त्वमत्र श्रीगोपनन्दन।
अलं दण्डप्रणामैर्मे निकटेऽनुसराभयम्॥१५॥

श्लोकानुवाद—तब भगवान् श्रीउपेन्द्रने मुझसे इस प्रकार कहा—हे श्रीगोपनन्दन! यहाँ आकर तुमने अच्छा ही किया। अब और दण्डवत् प्रणाम करनेकी आवश्यकता नहीं, मेरा वैभव देखकर भयभीत मत होओ, मेरे निकट आओ॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—आह्वानप्रकारमाह—दिष्ट्येति। अत्र स्वर्गे मत्पार्श्वे त्वमागतोऽसीति यदेतद्दिष्ट्या भद्रं जातम्। अति हर्षे वीप्सा; अभयं यथा स्यात् तथा मद्गौरवादिना भयं मा कुरु। अग्रतोऽभिसृत्य मत्पार्श्वमागच्छेत्यर्थः॥१५॥

भावानुवाद—श्रीउपेन्द्र भगवान्ने किस प्रकार गोपकुमारको बुलाया उसे बतानेके लिए 'दिष्ट्या' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—हे गोपनन्दन! तुम सौभाग्यवशतः ही मेरे पास इस स्वर्गमें आये हो, यह अच्छा हुआ। अब और दण्डवत् प्रणाम करनेकी आवश्यकता नहीं है। मेरा वैभवादि देखकर भयभीत मत होओ, भय और सम्भ्रम त्यागकर मेरे निकट आओ॥१५॥

तस्याज्ञया महेन्द्रेण प्रेरितैस्त्रिदशैरहम्।
अग्रतः सादरं नीत्वा प्रयत्नादुपवेशितः॥१६॥

श्लोकानुवाद—श्रीउपेन्द्रकी आज्ञासे देवराज इन्द्र द्वारा प्रेरित देवता आदरपूर्वक मुझे उनके निकट ले गये और यत्नपूर्वक मुझे वहाँ बैठा दिया॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीविष्णोराज्ञया गोपकुमारमिममादरेण मन्निकटमानाय मद्गौरवेण अनुपविशन्तमपि परमयत्नेनोपवेश्य देवभोग्यादिद्रव्यैः सम्मान्य नन्दनवने निवास्यतामित्येतद्रूपेणादेशेन॥१६॥

भावानुवाद—परन्तु मैं भगवान्का वैभव देखकर भय और गौरववशतः उनके निकट नहीं जा सका। इसलिए भगवान् श्रीविष्णुने देवराज महेन्द्रको आदेश किया—"यह गोपबालक मेरे प्रति गौरव बुद्धि रखनेके कारण मेरे समीप आकर नहीं बैठ रहा है। आप इसे परम यत्नपूर्वक मेरे पास ले आओ। तत्पश्चात् देवभोग्य अमृत आदि द्वारा इसका सत्कारकर नन्दनवनमें इसे निवास स्थान दो।" इन्द्रने प्रभुका आदेश पाकर देवताओंको इङ्गित किया। देवगण आदर सहित मुझे भगवान्के समीप ले गये और यत्नपूर्वक मुझे वहाँ बैठा दिया॥१६॥

दिव्यैर्द्रव्यैस्तर्पितो नन्दनाख्येऽ-
रण्ये वासं प्रापितोऽगां प्रहर्षम्।
वीक्षे काचित्तत्र भीर्नास्ति शोको,
रोगो मृत्युर्ग्लानिरार्त्तिर्जरा च॥१७॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् देवताओंने मुझे नन्दनकाननमें वास करवाया। वहाँके देवभोग्य अमृतादि दिव्य द्रव्योंका उपभोगकर मैं परितृप्त हो गया। वहाँ निवास करते हुए मैंने देखा कि वहाँ किसी प्रकारका भय, शोक, रोग, मृत्यु, ग्लानि और वृद्धावस्थादि नहीं है॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—द्रव्यैरमृतादिभिः; ततश्च प्रहर्षं परमानन्दमगां प्राप्तोऽहम्, वाक्यैकं वा। इत्थं तत्र कतिचिद्दिनानि निवसन् यदपश्यत्तदाह—वीक्ष्य इति सार्द्धद्वाभ्याम्। वीक्षे आलोचयामि; अतीते वर्त्तमाना, बहुकालं वीक्षणानुवृत्तेर्वाक्यार्थ एवास्य कर्म। तत्र स्वर्गे; भयाभावे हेतुः—शोकादयो न सन्तीति॥१७॥

भावानुवाद—तदनन्तर देवताओंने मुझे नन्दनवनमें वास करवाया। वहाँ देवताओं द्वारा भोग्य अमृतादि द्रव्योंका उपभोगकर मैं परितृप्त हो गया। इस प्रकार वहाँ पर परमानन्दपूर्वक कुछ दिन वास करने पर गोपकुमारने जो देखा उसे 'वीक्ष्य' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। बहुत समय तक देखा, अर्थात् देखनेकी क्रियाकी अनुवृत्तिके लिए भूतकालमें वर्त्तमानका प्रयोग हुआ है। मैंने यह भी देखा कि उस स्वर्गमें किसी प्रकारका भय नहीं है, क्योंकि वहाँ रोग, शोक, मृत्यु, ग्लानि, आर्त्ति आदिका अस्तित्व नहीं है॥१७॥

सन्तु वा कतिचिद्दोषास्तानहं गणयामि न।
तादृशं जगदीशस्य सन्दर्शनसुखं भजन्॥१८॥

श्लोकानुवाद—उस स्वर्गमें कुछ-कुछ दोष भी थे, किन्तु मैंने उन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, क्योंकि मैं श्रीभगवान्‌के दर्शन सुखमें विभोर रहता था॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—दोषाः स्पर्धादयः; अगणने हेतुः—तादृशमिति। अनिर्वचनीयं भजन् साक्षादनुभवन्॥१८॥

भावानुवाद—यद्यपि स्वर्गमें स्पर्धादि कुछ दोष भी थे, तथापि मैंने उन पर ध्यान नहीं दिया। उसका कारण था कि मैं उस प्रकार

उपलब्ध भगवान्‌के दर्शनसे उत्पन्न अनिर्वचनीय भजन-सुखका साक्षात् अनुभवकर उन दोषों पर ध्यान ही न दे सका॥१८॥

महेन्द्रेणार्च्यते स्वर्गविभूतिभिरसौ प्रभुः।
भ्रातृत्वेनेश्वरत्वेन शरणत्वेन चान्वहम्॥१९॥

श्लोकानुवाद—वहाँ भगवान् श्रीउपेन्द्र प्रतिदिन इन्द्र द्वारा स्वर्गकी विभूति स्वरूप पारिजातादि वस्तुओं द्वारा भ्रातृ और ईश्वरभावसे स्नेह, गौरव और आदरसहित पूजित होते हैं॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तस्य वैभवमाह—महेन्द्रेणेति। अन्वहं नित्यं स्वर्गस्य विभूतिभिरमृत-पारिजातादिभिरर्च्यते। कथम्? भ्रातृत्वादिना; तत्र भातृत्वेनैव स्नेहातिशयः, ईश्वरत्वेन गौरवविशेषः, शरणत्वेन चादरविशेष उक्तः॥१९॥

भावानुवाद—अब भगवान् श्रीउपेन्द्रके वैभवके सम्बन्धमें कह रहे हैं—प्रभु श्रीउपेन्द्र प्रतिदिन महेन्द्र द्वारा स्वर्गके विभूतिस्वरूप अमृत और पारिजातादि द्रव्योंके द्वारा अर्चित होते हैं। किस भावसे अर्चित होते हैं? कनिष्ठभ्राता, ईश्वर और शरण्य भावोंसे अर्चित होते हैं। अर्थात् कनिष्ठभ्राता होनेके कारण अत्यधिक स्नेह द्वारा, ईश्वर होनेके कारण गौरवभावसे तथा शरण्य होनेके कारण आदरमय भावविशेष द्वारा अर्चित होते हैं॥१९॥

मनस्यकरवं चैतदहो धन्यः शतक्रतुः।
यो हि श्रीविष्णुना दत्तं साधयित्वा निराकुलम्॥२०॥
त्रैलोक्यैश्वर्यमासाद्य भगवन्तमिमं मुदा।
उपहार-चयैर्दिव्यैर्गृह्यमाणैः स्वयं यजेत्॥२१॥

श्लोकानुवाद—मैं मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—अहो! इन्द्र बड़े भाग्यवान हैं, क्योंकि श्रीविष्णुने अपने हाथोंसे असुर संहारकर निष्कंटकरूपमें उन्हें त्रिलोकका ऐश्वर्य प्रदान किया है। तथा इन्द्र भी दिव्य उपहारोंके द्वारा श्रीभगवान्‌की जो अर्चना करते हैं, भगवान् उसे स्वयं स्वीकार करते हैं॥२०-२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीमैन्द्रयपदलाभाय मनोरथोत्पत्तये महेन्द्रसौभाग्यमभिनन्दति-मनसीति द्वाभ्याम्। धन्यः परमभाग्यवान्; असुरनिग्रहादिना साधयित्वा दत्तमतएव

निराकुलं निरुपद्रवम्, इममीदृशमनिर्वचनीयमाहात्म्यमित्यर्थः। स्वयमेव भगवता गृह्यमाणैः श्रीकराब्जप्रसारणादिनोपादीय मानैर्यो यजेत्॥२०-२१॥

भावानुवाद—अब इन्द्रका सौभाग्य दर्शनकर इन्द्रपद प्राप्त करनेके लिए प्रबल वासना उत्पन्न होनेके कारण गोपकुमार महेन्द्रके सौभाग्यका अभिनन्दन कर रहे हैं। इसीका 'मनसि' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। मैं मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—अहो! ये शतक्रतु-इन्द्र परम धन्य हैं, (एक सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करनेके कारण इन्द्रका शतक्रतु नाम सफल हुआ है।) क्योंकि श्रीभगवान्ने अपने हाथोंसे असुर संहारादिके द्वारा त्रिभुवनको निष्कंटक कर त्रिलोकका ऐश्वर्य इन शतक्रतुको प्रदान किया है। एक और भी अनिर्वचनीय माहात्म्य यह है कि ये इन्द्र दिव्य-दिव्य उपहारोंके द्वारा श्रीभगवान्की अर्चना करते हैं तथा श्रीभगवान् भी उनके द्वारा प्रदत्त उन समस्त उपहारोंको स्वयं अपने श्रीकरकमलोंको प्रसार कर ग्रहण करते हैं॥२०-२१॥

एवं ममापि भगवानयं किं कृपयिष्यति।
इति तत्रावसं कुर्वन् स्वसङ्कल्पं निजं जपम्॥२२॥

श्लोकानुवाद—तब मेरे मनमें यह इच्छा जाग्रत हुई कि क्या मैं भी इन्द्रकी भाँति श्रीभगवान्का अर्चन कर सकता हूँ और क्या श्रीभगवान् कृपापूर्वक मेरी वासना पूर्ण करेंगे? जैसा भी हो, इस प्रकारका संकल्पकर अपने मन्त्रका जप करते-करते मैं वहाँ वास करने लगा॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं त्रैलोक्यैश्वर्य—वैभवभरानुष्ठीयमान-भगवत्-पूजासम्पादनेन; अयं श्रीविष्णुः; कथमेवं सम्भवति? तत्राह—भगवानचिन्त्यैश्वर्यः परमदयालुरिति वा। इत्येवं कामेन जपं कुर्वन्॥२२॥

भावानुवाद—क्या ये भगवान् श्रीविष्णु मुझ पर कृपा करेंगे? क्या मेरा मनोरथ पूर्ण होगा? क्या मैं इस प्रकारसे त्रिलोकके प्रचुर ऐश्वर्य-वैभवके द्वारा अनुष्ठित होनेवाली ऐसी भगवत् पूजाको कर सकूँगा? क्या मेरा ऐसा सौभाग्य होगा जिसके द्वारा मेरी ऐसी

असम्भव वासना भी सफल होगी? (फिर विचार करते हैं) श्रीभगवान् अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली होने पर भी परम दयालु हैं, उनकी कृपा होनेसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। ऐसा सोचकर संकल्पपूर्वक अपना इष्टमन्त्र जप करते-करते मैं वहाँ वास करने लगा॥२२॥

अथैकस्य मुनीन्द्रस्य दूषयित्वा प्रियां बलात्।
लज्जया शापभीत्या च शक्रः कुत्राप्यलीयत॥२३॥

श्लोकानुवाद—इसी बीचमें इन्द्र बलपूर्वक किसी एक श्रेष्ठ मुनिकी पत्नीको दूषितकर शापके भयसे और लज्जावशतः किसी गोपनीय स्थानमें छिप गये॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्चाचिरादिष्टसिद्धिर्जातेत्याह—अथेति त्रिभिः। एकस्य देवशर्मगौतमादिसदृशस्य कस्यचित्; बलाद्दूषयित्वा चौर्येनोपसंगम्य; कुत्रापि मानस-सरोऽब्जमृणालतन्त्वन्तरादौ कस्मिंश्चिन्निगूढ़स्थाने॥२३॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् शीघ्र ही मेरी इष्टसिद्धि हुई। इसीको बतानेके लिए 'अथैकस्य' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। इस बीचमें इन्द्रने देवब्राह्मण गौतमादिके समान किसी एक श्रेष्ठ मुनिकी पत्नीका बलपूर्वक अपहरण कर उसका सतीत्वनाश कर दिया जिसके कारण लज्जा और शापके भयसे वह किसी निगूढ़ स्थानमें छिप गये। निगूढ़ स्थान अर्थात् मानसरोवरके कमलकी नाल जैसा कोई एक निगूढ़ स्थान॥२३॥

दैवैरन्विष्य बहुधा स न प्राप्तो यदा ततः।
अराजकत्वात्त्रैलोक्यमभिभूतमुपद्रवैः ॥२४॥

श्लोकानुवाद—देवताओंने उन्हें बहुत ढूँढ़ा, परन्तु वे नहीं मिले। त्रिलोकपतिके अन्तर्द्धान होनेसे त्रैलोक्यमें दैत्यादिके द्वारा नाना-प्रकारके उपद्रव होने लगे॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उपद्रवैर्दैत्यादिकृतैरुत्पातैः॥२४॥

भावानुवाद—त्रैलोक्यपति इन्द्रके अन्तर्द्धान होनेसे त्रिलोकमें दैत्यादिके द्वारा नाना-प्रकारके उपद्रव और उत्पात होने लगे॥२४॥

श्रीविष्णोराज्ञया देवैर्गुरुणा प्रेरितैरथ।
ऐन्द्रे पदेऽभिषिक्तोऽहमदित्याद्यनुमोदितः ॥२५ ॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् श्रीविष्णुकी आज्ञासे देवगुरु बृहस्पति द्वारा प्रेरित होकर देवताओंने मुझे इन्द्रपद पर अभिषिक्त किया। इन्द्रमाता अदिति जैसे देवराजके सुहृदोंने भी प्रसन्नतापूर्वक इसका अनुमोदन किया॥२५ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अतो हेतोः, अनन्तरमिति वा; श्रीविष्णोरूपेन्द्रस्याज्ञया; गुरुणा बृहस्पतिना प्रेरितैर्देवैः; ननु शक्रस्य मातादितिर्भार्या च शची, परे च सुहृदः कथं सहन्ताम्? तत्राह—अदित्यादिभिरनुमोदित इति। अत्रापि श्रीविष्णोराज्ञयेति हेतुर्द्रष्टव्यः॥२५ ॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् इस त्रिलोककी रक्षाके लिए श्रीविष्णुकी आज्ञासे देवगुरु बृहस्पति द्वारा प्रेरित होकर देवताओंने मुझे इन्द्रपद पर अभिषिक्त कर दिया। यदि कहो कि इन्द्रकी माता, पत्नी और अन्य सुहृदजनोंने इसको कैसे सहन किया? इसके उत्तरमें कहते हैं—भगवान्‌की आज्ञाके प्रभावसे इन्द्रमाता अदिति, इन्द्रपत्नी शची और देवराजके अन्य सुहृदजनोंमें से किसीने भी कोई आपत्ति नहीं की, बल्कि सभीने प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन ही किया। वस्तुतः यहाँ श्रीविष्णुकी इच्छा ही मूल कारणके रूपमें द्रष्टव्य है॥२५ ॥

ततोऽदितिं शचीं जीवं ब्राह्मणानपि मानयन्।
त्रैलोक्ये वैष्णवीं भक्तिं पूर्णां प्रावर्त्तयं सदा॥२६ ॥

श्लोकानुवाद—मैंने अदिति, शची तथा बृहस्पति जैसे ब्राह्मणोंको विशेष सम्मान देते हुए त्रिलोकमें विष्णुभक्तिका पूर्णरूपसे प्रचार किया॥२६ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं त्रैलोक्यैश्वर्यलाभेन नहुषादेरिव न मम मदोऽजनि, येन कस्यापि अवमानो वृत्तः। किं तर्हि सर्वत्र श्रीभगवद्भक्तिरेव संप्रवृत्तेत्याह—तत इति। जीवं गुरुं, ब्राह्मणान् अगस्त्य-गौतमादीन् मानयन् पूजयन्; पूर्णां नवप्रकारामविहतां वा; एवमदितिसुत-पुरन्दरादपि वैशिष्ट्यं ध्वनितम्। यद्यप्येतद्वृत्तमग्रे वक्ष्यमाणब्रह्मलोक-दृष्टप्रलयार्णवभगवच्छयनाद्यपेक्षया वराहकल्पीयवैवस्वतमन्वन्तरान्तर्गतं न स्यात्,

किन्तु ततः पूर्वकल्पान्तस्यैव, तथापि प्रायः कल्पान्तरवदेव सृष्टौ सत्यां यथावसरमित्यादयोऽन्ये चाधिकारिणः सपरिवारपरिच्छदाः पूर्ववज्-जायन्त इति सर्वमनवद्यम्। तथा च श्रीविष्णुपुराणे—*'युगे युगे भवन्त्येते दक्षाद्या मुनिसत्तम। पुनश्चैव निरुध्यन्ते विद्वांस्तत्र न मुह्यति॥'* इति; तथा श्रीहरिभक्तिसुधोदयेऽपि—*'सर्वकल्पेषु चाप्येवं सृष्टिपुष्टिविनष्टयः।'* इति॥२६॥

भावानुवाद—किस प्रकार सर्वत्र श्रीभगवान्‌की भक्तिका प्रवर्त्तन किया, इसे बतलानेके लिए 'तत' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। त्रिलोकका ऐश्वर्य प्राप्त करने पर भी मैं नहुषादि राजाओंकी भाँति विषयमदमें अभिभूत नहीं हुआ, अर्थात् मुझमें ऐसी मदमत्तता उत्पन्न नहीं हुई जिसके कारण मैं किसीका भी असम्मान कर सकूँ। मैंने देवमाता अदिति, शची तथा बृहस्पति, अगस्त्य और गौतमादि ब्राह्मणोंका विशेष सम्मान ही किया और त्रिलोकमें सर्वत्र ही पूर्ण (नवविधा) भगवद्भक्तिका प्रवर्त्तन किया। इसके द्वारा अदिति-पुत्र पुरन्दरकी तुलनामें गोपकुमारका वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है।

यदि प्रश्न हो कि इन गोपकुमारने कौनसे कल्पके कौनसे मन्वन्तरमें इन्द्रपद लाभ किया था? इसके उत्तरमें यदि यह कहें कि वर्त्तमान वराहकल्पके वैवस्वत मन्वन्तरमें गोपकुमारने इन्द्रपद लाभ किया था, तो यह सङ्गत नहीं होगा। इसका कारण है कि आगे कहे जानेवाले (२/१४३) श्लोकमें कहा गया है कि गोपकुमारने ब्रह्मलोकसे देखा कि स्वर्ग, मर्त्य, पाताल ये तीनों लोक सङ्कर्षणकी मुखाग्निसे दग्ध हो गये। इस प्रकार उपरोक्त दोनों वाक्योंकी सङ्गति नहीं होती, क्योंकि ब्रह्माकी आयुके पूर्व-परार्द्ध (प्रथम आधा भाग) बीतने पर अभी भी द्वितीय परार्द्धके प्रथम अंशमें श्वेतवराह कल्प चल रहा है और इस कल्पका अन्त अभी भी नहीं हुआ है, अर्थात् ब्रह्माकी रात्रि नहीं हुई है। इसलिए गोपकुमारके लिए इस कल्पके अन्तमें होनेवाले प्रलयको देखना सम्भव नहीं है। अतएव गोपकुमार द्वारा कथित इन्द्रपदकी प्राप्ति पूर्वकल्पमें ही संघटित हुई थी। इस श्लोककी टीकामें वर्णन किया गया है—'एवमदितिसुत-पुरन्दरादपि वैशिष्ट्यं ध्वनितम्'—इसके द्वारा यह प्रतीत होता है कि वैवस्वत मन्वन्तरमें स्वर्गके अधिपति पुरन्दरसे गोपकुमारने इन्द्रपद लाभ किया था (क्योंकि वैवस्वत

मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम पुरन्दर होता है, किन्तु भगवान्‌की इच्छासे कभी-कभी भिन्न नाम भी होता है।) अतएव निष्कर्ष सिद्धान्त यही है कि वराहकल्पके पूर्व किसी एक कल्पके वैवस्वत मन्वन्तरमें यह घटना घटित हुई थी।

एक और भी विचारणीय विषय यह है कि कश्यप-पत्नी अदिति प्रति कल्पमें ही इन्द्रकी माता होती हैं, उसी प्रकार शचीदेवी और अन्य आधिकारिक देवगण भी प्रति मन्वन्तरमें प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिए प्रति मन्वन्तरमें इन्द्र नाम भी अभिव्यक्त होता है। फिर भी भगवान्‌की इच्छासे कभी-कभी किसी मन्वन्तरमें दूसरे नाम भी हो सकते हैं। जिस प्रकार वैवस्वत मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम पुरन्दर होता है और चाक्षुष मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम मन्त्रद्रुम होता है उसी प्रकार किसी-किसी मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न नामवाले महा-उत्तम जीव भी इन्द्र हुआ करते हैं।

अतएव प्रत्येक कल्पमें ही सपरिवार प्रजापतिगण अभिव्यक्त होते हैं। जैसा कि श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"दक्षादि श्रेष्ठ मुनियोंका युग-युगमें आविर्भाव और तिरोभाव होता है। इसलिए विद्वान् व्यक्ति मोहको प्राप्त नहीं होते।" इसी प्रकार ब्रह्माके दिनका अन्त होने पर प्रलय होता है और पुनः सृष्टि होने पर युग-धर्मादिका प्रवर्त्तन करना होता है। जैसा कि श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें कहा है—"सभी कल्पोंमें ही इसी प्रकारसे सृष्टि, पुष्टि और विनाश हुआ करता है"॥२६॥

स्वयं तस्याः प्रभावेण स्वाराज्येऽपि यथा पुरा।
सदाऽकिञ्चनरूपोऽहं न्यवसं नन्दने वने॥२७॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैं राज्य सिंहासन पर अधिष्ठित था, तथापि जिस प्रकार पहले चक्रवर्ती राज्य पाकर भी भक्तिके प्रभावसे अकिञ्चन रहता था, उसी प्रकार स्वर्गमें भी इन्द्रकी राजपुरीमें वास न कर अकिञ्चनकी भाँति नन्दनकाननमें ही वास करने लगा॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवञ्चेत्तर्हि महाभिमानेन कुतः सुखमस्तु? तत्राह—स्वयमिति। तस्या भक्तेः, स्वाराज्ये स्वर्गराज्यत्वेऽपि; यथा पुरा पूर्ववदकिञ्चनरूपः निरस्ताभिमानतुल्यः, अतएव नन्दनाख्ये वने सदा नितरामवसम्, न तु पुरीप्रासाद-सुधर्मादौ॥२७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि इस प्रकार राज्याधिकार प्राप्त करनेका अभिमान रहनेसे किस प्रकार सुखी रहा जा सकता है? इसी आशंकाका खण्डन करनेके लिए 'स्वयम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि मैं इन्द्रपद पर अधिष्ठित था, तथापि भक्तिके प्रभावसे पहलेकी भाँति अकिञ्चन ही था। अर्थात् समस्त प्रकारके अभिमानसे दूर होनेके कारण विलासपुरी अमरावतीके राजभवनमें वास और सुधर्मादि सभागृहोंका अधिवेशन परित्याग कर नन्दन नामक वनमें सर्वदा वास करने लगा॥२७॥

अत्यजंश्च जपं स्वीयमकृतज्ञत्वशङ्कया।
विस्मर्त्तुं नैव शक्नोमि व्रजभूमिमिमां क्वचित्॥२८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैंने मन्त्रजपके फलस्वरूप श्रीविष्णुका साक्षात् दर्शन और स्वर्ग-राज्यादि प्राप्त किया था, तथापि मैं मन्त्रजपका परित्याग न कर सका। इसका कारण था कि (मैंने मनमें विचार किया) जिसके प्रभावसे ऐसा फल प्राप्त हुआ है, उसको परित्याग करनेसे अकृतज्ञताका दोष होगा। साथ ही मैं नन्दनकाननमें वास करने पर भी व्रजभूमिमें वासके माधुर्यको भूल न सका॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथा नन्दनवननिवासादपि गोरक्षणेन श्रीवुन्दावनवास एव मनोहर इत्याशयेनाह—अत्यजमिति। जपमत्यजन् सन्, क्वचित् कदाचिदपि इमां व्रजभूमिं विस्मर्त्तुं नैव शक्नोमीति। श्रीमदनगोपाल-मन्त्रजपस्य तदीयक्रीड़ादि-विषयकरत्युत्पादकस्वभावात्। जपात्यागे हेतुः—अकृतज्ञत्वस्य शङ्कया; फले सिद्धे साधनस्य परित्यागोपपत्त्या जपे त्यक्ते सति तत्कृतोपकाराज्ञानादकृतज्ञतादोषः पर्यवस्यतीति तत्परिहारार्थमित्यर्थः॥२८॥

भावानुवाद—किन्तु आश्चर्यका विषय यह था कि मैं पारिजातादिसे सुशोभित नन्दनकाननमें वास करने पर भी वृन्दावन वासको न भूल सका। अर्थात् नन्दनवनमें वास करनेकी तुलनामें मुझे गोचारणमें रत रहकर श्रीवृन्दावन वास ही मनोहर लगता—इसीको बतानेके लिए 'अत्यजम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मैंने न तो मन्त्रजपका परित्याग किया और न ही मैं व्रजभूमिको कभी भूल सका। विशेषतः श्रीमदनगोपालदेवके मन्त्रको जितना ही जप करने लगा उतने ही

परिमाणमें श्रीमदनगोपालदेवकी क्रीड़ादिकी स्फूर्ति होनेके कारण मुझमें वृन्दावनके प्रति उत्तरोत्तर प्रीति वर्द्धित होने लगी, क्योंकि श्रीमदनगोपालकी क्रीड़ादि-विषयक रतिको उत्पन्न करना ही इस मन्त्रजपका स्वभाव है। यद्यपि साधनके द्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर और अधिक साधन करनेकी आवश्यकता नहीं होती अर्थात् मैंने श्रीमदनगोपाल-मन्त्रजपके प्रभावसे भगवान्का दर्शनरूप फल प्राप्त किया था, तथापि मन्त्रजपका परित्याग न कर सका। इसका कारण था कि जिनके अनुग्रहसे मेरा जीवन सफल हुआ है, उनका परित्याग करनेसे अकृतज्ञतारूप दोष लगता—इसी आशंकासे मैं अभीष्टसिद्धि प्रदान करनेवाले मन्त्रजपसे विरत नहीं हुआ॥२८॥

तच्छोकदुःखैरनुतप्यमानः
शुष्काननोऽहं जगदीश्वरेण।
संलक्ष्य तोष्येय मुहुः कराब्ज-
स्पर्शेन चित्रैर्वचनामृतैश्च॥२९॥

श्लोकानुवाद—व्रजके विरहमें शोकदुःखसे संतप्त रहनेके कारण मेरा मुखमण्डल क्रमशः सूखने लगा। तब श्रीजगदीश्वर मेरी इस अवस्थाको देखकर स्वयं ही अपने श्रीकरकमलोंसे बार-बार मेरा स्पर्श करके विचित्र वचनामृतोंसे मुझे अभिसिञ्चित करने लगे॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तया विस्मरणाशक्त्या व्रजभूमिविच्छेदेन यानि शोक-दुःखानि तैः; शुष्कं म्लानतां गतमाननं यस्य सः। तोष्येय तोषं कार्येय, सम्भावनायां सप्तमी; विचित्रैर्बहुविधैर्वचनान्येवामृतानि तैः॥२९॥

भावानुवाद—व्रजभूमिको भूल न पानेके कारण मैं व्रजभूमिके विच्छेदसे अत्यन्त शोकातुर हो गया। मेरा मुखमण्डल क्रमशः शुष्क और मलिन रहने लगा। तब जगदीश्वर श्रीउपेन्द्र मेरे मनकी अवस्थाको जानकर स्वयं ही अपने श्रीकरकमलों द्वारा मेरा स्पर्शकर विचित्र-विचित्र वचनामृत वर्षणकर मुझे तुष्ट करने लगे॥२९॥

ज्येष्ठसोदरसम्बन्धमिव पालयता स्वयम्।
मत्तोषणाय मद्दत्तं भोग्यमादाय भुज्यते॥३०॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीउपेन्द्र मेरे प्रति बड़े भाईकी भाँति गौरव प्रकाश करने लगे तथा मेरी प्रसन्नताके लिए मेरे द्वारा दिये गये भोज्यपदार्थोंको आदर पूर्वक ग्रहणकर उसका भोजन करने लगे॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, ज्येष्ठसोदरस्य सहोदरज्येष्ठभातुर्यः सम्बन्धः गौरवव्यवहारादिहेतुरन्वयस्तं पालयता; इवेति वस्तुतस्तत् सम्बन्धाभावात् स्वयमेवादाय भूज्यते॥३०॥

भावानुवाद—विशेषतः श्रीउपेन्द्र मुझे बड़ा भाई समझकर मेरे प्रति बड़े भाईकी भाँति गौरवमय प्रीति प्रकाश करने लगे। ज्येष्ठ भाईके प्रति जिस प्रकारका गौरव व्यवहार विहित होता है अर्थात् उनके द्वारा स्नेहपूर्वक पालित होना—उस प्रकारका गौरवभाव प्रकाश कर मेरा सन्तोष विधान करते। मूल श्लोकमें 'इव'कारका तात्पर्य है कि वस्तुतः वैसा सम्बन्ध न रहने पर भी वे स्वयं ही वैसा सम्बन्ध प्रकाशकर मेरे द्वारा प्रदत्त भोज्यपदार्थोंको आदरपूर्वक ग्रहणकर उसका भोजन करते॥३०॥

तेन विस्मृत्य तद्दुःखं पूजयाऽपूर्ववृत्तया।
प्रीणयन् स्नेहभावात्तं लालयेयं कनिष्ठवत्॥३१॥

श्लोकानुवाद—उनके हस्तस्पर्शरूप करुणाके प्राप्त होने पर मैं व्रजके वियोगसे उत्पन्न समस्त दुःखोंको भूल गया। मैं भी अपूर्वरूपसे पूजा अर्थात् उनके प्रति कनिष्ठवत् भ्रातृस्नेह द्वारा लालनकर उनको सन्तुष्ट करने लगा॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन करस्पर्शादिना; तद्व्रजभूमिविरहजं दुःखं विस्मृत्य, न पूर्वं वृत्ता स्थिता या तया; कनिष्ठभ्रातरमिव तं श्रीजगदीश्वरम्; लालयेयं करस्पर्शालिङ्गनादिना लालनं कुर्याम्। न चैतदनुचितमित्याह—स्नेहभावादिति। गुरुतरस्नेहाक्रान्तचित्तानां न किमप्यशोभनं भवतीति भावः॥३१॥

भावानुवाद—उन श्रीउपेन्द्रके करस्पर्श और सुस्निग्ध वचनामृतके द्वारा तथा उनके अनुजभाव प्रदर्शनके प्रभावसे मैं व्रजभूमिके विरहजनित समस्त दुःखोंको भूल गया, अर्थात् मेरी पहलेकी भाँति शोकातुर स्थिति न रही। मैं भी नये-नये उपचारों (सामग्रियों) द्वारा

अपूर्वरूपसे पूजाकर उनको सन्तुष्ट करने लगा तथा उनका अपने कनिष्ठ भाईकी भाँति करस्पर्श और आलिङ्गनादि द्वारा स्नेहभावसे लालन करने लगा। यदि आपत्ति हो कि भगवान्‌के प्रति इस प्रकारका अनुचित व्यवहार शोभनीय नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गुरुतर स्नेह द्वारा आक्रान्त चित्तमें क्या नहीं शोभा पाता? तथा चित्तकी वैसी अवस्थामें भय-गौरवादि स्वतः ही दूर हो जाते हैं। विशेषतः यह स्नेहभाव स्वाभाविक होनेके कारण जगदीश्वरका लालनादि अशोभनीय नहीं है॥३१॥

एवं मां स्वास्थ्यमापाद्य स्वस्थाने कुत्रचिद्गतः।
उपेन्द्रो वसति श्रीमान्न लभ्येत सदेक्षितुम्॥३२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार भगवान् श्रीउपेन्द्र मुझे स्वस्थ्य करके अपने स्थान पर चले गये। वे कहाँ वास करते थे, मैं नहीं जानता था। इसलिए स्वर्गलोकमें सब समय उनका दर्शन नहीं कर पाता था॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं इतोऽप्यधिकभगवत्प्रसादलब्धये पदान्तरगमनाय स्वर्गवासे निर्वेदकारणमुपन्यस्यति—एवमिति द्वाभ्याम्। त्रैलोक्यैश्वर्यवैभवद्वारा निजनिज-महापूजा-सम्पादनेन, तथा त्रिलोक्यां स्वभक्तिविस्तारेण, तथा मदभिमानप्राप्तिनिवारणेन, तथा श्रीकराब्जस्पर्शादिना मदीयाशेषदुःखनाशन-सुखविवर्धनादिना मां स्वास्थ्यं निरुपाधि-चित्ततामापाद्य प्रापय; स्वस्थाने श्वेतद्वीप-ध्रुवलोकादि-वैकुण्ठे गतः सन्; कुत्रचिदित्यज्ञानेन निर्धाराभावात्। श्रीमान् लक्ष्म्या सहित इति तस्या अपि दर्शनं न लभ्येतेत्यर्थः। ननु सच्चिदानन्दघनमूर्त्तेस्तस्य सर्वव्यापकत्वात् कथमलब्धिः सम्भवेत्तत्राह-ईक्षितुमिति; साक्षान्न दृश्यत इत्यर्थः। सदेत्यनेन कदाचिदेव दृश्यत इति गम्यते॥३२॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे भगवान् श्रीउपेन्द्रकी कृपालाभ करने पर भी अब इसकी तुलनामें और अधिक कृपा प्राप्तिकी आकांक्षासे अन्य स्थानमें जानेके लिए स्वर्गवासके प्रति निर्वेद होनेका कारण 'एवम्' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा निर्देश कर रहे हैं। इस प्रकार त्रिलोकके ऐश्वर्य-वैभवके द्वारा हमलोग उनकी महापूजा कर सकें—ऐसा विधानकर, त्रिलोकमें मेरे द्वारा अपनी भक्ति-प्रवर्त्तनरूप स्वकार्य साधन

कराकर, इन्द्रपदकी प्राप्तिसे होनेवाले मेरे अभिमानको दूर करके, विशेषतः व्रजभूमिके विच्छेदसे उत्पन्न मेरे शोकादि असीम दुःखोंका निवारण कर, अर्थात् उन भगवान्ने अपने करकमलोंके स्पर्श द्वारा मेरे असीम दुःखोंका नाशकर मेरा अत्यधिक सुख वर्द्धन किया तथा इस प्रकार मेरे चित्तको सम्पूर्णरूपसे स्वस्थकर अपने निवास स्थानको चले गये। मैं कह नहीं सकता कि उनका प्रिय स्थान कौनसा था—श्वेतद्वीप या ध्रुवलोक या वैकुण्ठलोक? उनके अपने स्थान पर चले जाने पर कोई भी उनका साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता और उस समय मैं भी उनके दर्शनोंसे वञ्चित हो जाता। जिस प्रकार श्रीभगवान् अदृश्य हो जाते, उसी प्रकार श्रीलक्ष्मीदेवी भी अदृश्य हो जाती।

यदि कहो कि वे सच्चिदानन्दघनमूर्त्ति सर्वव्यापक हैं, इसलिए सर्वत्र ही उनका दर्शन पाया जा सकता है, तब वे किस प्रकार अदृश्य हो गये? इसके उत्तरमें 'इक्षितुम्' इत्यादि कह रहे हैं। हे माथुरोत्तम विप्र! इस प्रकारका सन्देह मत करो, क्योंकि यद्यपि वे सदा सर्वत्र विद्यमान हैं, तथापि चर्म चक्षुओंसे दिखाई नहीं देते। इसलिए उनका साक्षात् दर्शन अति दुर्घट है। कोई भाग्यवान जीव ही कभी-कभी उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करते हैं॥३२॥

ततो यो जायते शोकस्तेन नीलाचलप्रभुम्।
अचलाश्रितवात्सल्यं द्रष्टुमिच्छेयमेत्य तम्॥३३॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् श्रीउपेन्द्रके दर्शनका अभाव होनेके कारण पुनः शोकसे व्याकुल होकर मैं धैर्य-धारण नहीं कर सका। तब मेरे मनमें विचार आया कि नीलाचल क्षेत्रमें जाकर नीलाचलपतिका दर्शन करूँ, क्योंकि उनका अपने आश्रितजनोंके प्रति वात्सल्य स्थिर है, इसलिए वे वहाँ पर स्थिररूपसे विराजमान हैं॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माद्दर्शनालाभात्; तेन शोकेन हेतुना तच्छान्तय इत्यर्थः। तम् पूर्वदृष्टमनिर्वचनीयमाहात्म्यमिति वा; नीलाचलप्रभुं श्रीजगन्नाथं द्रष्टुमिच्छेयम्; सम्भावनायां सप्तमी। एवं यथास्थानमन्यत्राप्यूह्यम्। किं कृत्वा? एत्य स्वर्गादत्र पृथिव्यामागत्य; यद्वा, तं नीलाचलं एत्य। तत्र हेतुः—अचलं सदा तत्र प्राकट्येन

निवासात् ध्रुवसुमेरुवत् स्थिरम्, आश्रितेषु सेवकेषु वात्सल्यं स्नेहातिशयो यस्य तम्॥३३॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् श्रीभगवान्का विच्छेद शोक घनीभूत हो गया, इसलिए मैं और स्थिर नहीं रह सका। तब उस शोककी शान्तिके लिए मेरे हृदयमें एक वासना जाग्रत हुई कि मैं पूर्वदृष्ट अनिर्वचनीय उन नीलाचलपति श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करूँ। अब मैं और स्वर्गमें नहीं रहूँगा, पृथ्वी पर जाऊँगा। यदि कहो कि किस लिए पृथ्वी पर जाओगे? इसके लिए कहते हैं—नीलाचल क्षेत्रमें श्रीनीलाचलपतिका उनके आश्रितोंके प्रति वात्सल्य अर्थात् अत्यधिक स्नेह अचल है और वह स्वयं भी वहाँ ध्रुव-सुमेरुकी भाँति निरन्तर विद्यमान रहते हैं, अर्थात् सब समय स्थिर भावसे प्रकट रहते हैं॥३३॥

प्रादुर्भूतस्य विष्णोस्तु तस्य तादृक्कृपाभरैः।
आधिः सर्वो विलीयेत पाश्चात्योऽपि तदाशया॥३४॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्की कैसी अपूर्व करुणा है! वे मेरी ऐसी अवस्थाको देखते ही बीच-बीचमें फिर मेरे समक्ष आकर अपने हाथोंसे मेरे द्वारा प्रदत्त पूजा-उपचारादि ग्रहण करते और उसी प्रकार मधुर वाक्योंसे आश्वासन प्रदान करते। इससे मेरा शोक-ताप प्रशमित हो जाता तथा साथ ही उनके अदर्शनसे उत्पन्न विरह-दुःख भी दूर हो जाता॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत्तर्हि सद्य एव किमिति नायातोऽसि? तत्राह—प्रादुरिति। तस्यानिर्वचनीयमाहात्म्यस्येत्यनेन तत्तत्पूजाद्रव्यादान-माधुरीप्रकटन-विविधक्रीड़ा-विस्तारण-वचनामृताश्वासनादिना नीलाचलपतितः कश्चिद्विशेषः सूचितः। अतएव तादृशीनां कृपानां भरैरुद्रेकैः; सर्वस्तद्दर्शनजातो व्रजभूमिविच्छेदजश्च तथान्योऽप्यशेषाधिर्मानसी पीड़ा विलीयेत नश्यति। ननु पुनरपि तस्मिन्नन्तर्हिते तथैवं दुःखं भविता, तत्राह—पाश्चात्त्यः तद्गमनानन्तरं तद्विरहेण भावी य आधिः सोऽपि, तेषु कृपाभरेषु या आशा मनोऽभिनिवेशविशेषस्तया; यद्वा, तेषां तत्कृपाभराणामाशया पुनः प्राप्तीच्छया विलीयेतेति॥३४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीउपेन्द्रके दर्शन न हानेके कारण नीलाचलपति श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करनेके लिए जब

गोपकुमारमें ऐसी तीव्र उत्कण्ठा उपस्थित हुई, तब उसी समय वे नीलाचलक्षेत्रमें क्यों नहीं चले गये? इसके उत्तरमें 'प्रादुर्भूरत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—उन भगवान् श्रीउपेन्द्रका अनिर्वचनीय माहात्म्य था। वे मेरे हृदयकी अवस्थाको जानकर कृपावशतः अपूर्व माधुर्य प्रकटकर बीच-बीचमें मेरे सम्मुख आ जाते और उसी प्रकार मेरे द्वारा प्रदत्त पूजा-उपहार अपने हाथोंसे ग्रहणकर भोजन करते। विशेषतः विविध क्रीड़ा-कौतुक प्रदर्शन, वचनामृत वर्षण और आश्वासन वाक्योंके द्वारा नीलाचलपतिसे भी अधिक रूपमें मैं उनमें अनुरक्त हो जाता। अर्थात् उनका ऐसा वैशिष्ट्य दर्शनकर नीलाचलपतिसे भी कुछ अधिक वैशिष्ट्य सूचित होनेके कारण मेरा चित्त विमुग्ध हो जाता। अहो! उन श्रीउपेन्द्रकी अनिर्वचनीय करुणाके प्रभावसे मेरे समस्त सन्ताप अर्थात् असीम मानसिक पीड़ा और व्रजभूमिके विरहसे उत्पन्न शोक तत्काल ही शान्त हो जाता। यदि कहो कि उनके पुनः अन्तर्हित होने पर क्या वैसा दुःख फिर उपस्थित नहीं होगा? इसके लिए कहते हैं—यह सत्य है, किन्तु उनके दर्शन न होने पर भी पुनः उनकी कृपाराशिकी प्राप्ति और दर्शनकी आशा रूप तन्मयतामें वह शोक विलीन हो जाता॥३४॥

एवं निवसता तत्र शक्रत्वमधिकुर्वता।
ब्रह्मन् सम्वत्सरो दिव्यो मयैको गमितः सुखम्॥३५॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! इस प्रकारसे मैंने इन्द्रपद प्राप्तकर देवताओंकी गणनाके अनुसार एक वर्षका काल सुखपूर्वक बिताया॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारेण शक्रत्वमधिकुर्वता इन्द्रस्याधिकारवृष्ट्यादिना यज्ञादि-प्रवर्त्तनेन त्रैलोक्यपालनादिरूपमाचरता, एकः सम्वत्सरोऽब्दः दिव्यो देवमानेन गणनीयः, तत्र स्वर्गे गमितः॥३५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे इन्द्रपद पाकर और इन्द्रके अधिकारानुसार मैंने यथा समय पर जल-वर्षण, नाना-प्रकारके यज्ञादिके प्रवर्त्तन द्वारा भलीभाँति त्रिलोकका राज्य पालनकर स्वर्गमें रहते हुए देवताओंकी गणनानुसार एक वर्षका समय सुखपूर्वक बिताया॥३५॥

अकस्मादागतास्तत्र भृगुमुख्या महर्षयः।
पद्भ्यां पावयितुं यान्तस्तीर्थाणि कृपया भुवि॥३६॥

श्लोकानुवाद—इसी बीचमें अचानक एक दिन महर्लोकवासी भृगु आदि महर्षि कृपावशतः स्वर्गलोकमें पधारे। वे महापातकियोंके स्पर्शसे मलिन हुए तीर्थोंको पवित्र करनेके लिए अपने श्रीचरणों द्वारा ही भूमण्डल पर विचरण करने जा रहे थे॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना स्वर्गेऽपि महर्लोकगमनकारणत्वेन तल्लोकनिवासिनां माहात्म्यमुपक्षिपति—अकस्मादित्यादिना पदे पदे इत्यन्तेन। अकस्मादिति तेषां स्वर्गागमने हेतुविशेषादर्शनात्। ततः पूर्वं तेषां तत्त्वाज्ञानाद्वा; भृगुर्मुख्यः श्रेष्ठो येषां मरीच्यत्र्यङ्गिरःपुलस्त्यपुलहादीनां ते; यद्यपि मरीचिरेव तेषां ज्येष्ठत्वान्मुख्यः स्यात्तथापि लक्ष्मीपितुः श्रीभृगोः परमवैष्णवत्वेन भगवद्विभूत्यन्तर्गणनया मुख्यत्वम्। तथा च श्रीभगवद्गीतासु (श्रीगी॰ १०/२५)—*'महर्षीणां भृगुरहम्'* इति। अतएव श्रीभागवतेऽपि (श्रीमद्भा॰ ३/११/३०)—*'यान्त्युष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्द्दिताः।'* इति। अतएव सर्वथा सर्वतोऽपि विशिष्टे श्रीभगवन्माहात्म्ये सन्देहमप्यसहमानेन; ततः स्मरणमेव साधु मत्वा तन्माहात्म्यभराभिव्यक्तये स्वबन्धादप्यनुचितं तत्तत्कर्माचरितमिति दिक्। ननु स्वर्गोपरि निवासिनामधोदेशे स्वर्गे गमनं कुतो वृत्तमित्यपेक्षायामाह—पद्भ्यामिति। भूवि पृथिव्यां यान्तः सन्तः। किमर्थम्? पद्भ्यां तीर्थानि पावयितुं महापातकिजनस्पर्शेन जातं गङ्गादितीर्थानां मालिन्यं निजचरणद्वयस्पर्शेन शोधयितुमित्यर्थः। ननु तेषां वचनमात्रादेवैतत् सम्पद्येत, किं प्रयाणेन? तत्राह—कृपयेति। दर्शनस्पर्शनादिना लोकहितार्थमिति भावः॥३६॥

भावानुवाद—अब स्वर्गसे महर्लोक जानेके कारण स्वरूप उस लोकके अर्थात् महर्लोकवासियोंके माहात्म्यको वर्णन करनेके लिए 'अकस्मात्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अचानक किसी समय महापातकियोंके संस्पर्शसे गङ्गा आदि तीर्थोंकी मलिनताको दूर करनेके लिए अपने श्रीचरणोंके द्वारा ही भ्रमणशील भृगु आदि महर्षि कृपावशतः स्वर्गलोकमें उपस्थित हुए। 'अकस्मात्' कहनेका तात्पर्य है कि उनका स्वर्गमें आनेका कोई कारण नहीं दीखता। अथवा इससे पहले उनके सम्बन्धमें कुछ भी तथा उनके स्वर्ग आगमनके विषयमें भी उन्हें (गोपकुमारको) ज्ञात नहीं था।

यहाँ 'भृगुमुख्या'का अर्थ है—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त, पुलह आदि महर्षियोंमें भृगु श्रेष्ठ हैं। यद्यपि मरीचि इनमें ज्येष्ठ होनेके

कारण मुख्य हैं, तथापि लक्ष्मीके पिता, परमवैष्णव और भगवान्‌की विभूतिके अन्तर्गत होनेके कारण यहाँ भृगुको ही मुख्य कहा गया है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्‌गीता (१०/१५)में कथित है—"महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ।" इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (३/११/३०)में भी कहा गया है—"भगवान्‌की शक्तिरूप श्रीसङ्कर्षणके मुखकी अग्नि द्वारा त्रिलोकके दग्ध होने पर उस तापसे भृगु आदि महर्षिगण तापित होकर महर्लोकसे जनलोक आ गये।" अतएव सर्वदा समस्त प्रकारके वैशिष्ट्यके कारण सभी शास्त्रोंने भृगुको ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। विशेषतः भृगु भगवान्‌की महिमाके प्रचार कार्यमें अग्रणी हैं। वे भगवान्‌के माहात्म्यकी किञ्चिन्मात्र भी न्यूनता सहन नहीं कर सकते। इसलिए लोक कल्याणके लिए त्रिदेव (ब्रह्मा–विष्णु–महेश)–परीक्षा द्वारा भगवान् श्रीविष्णुकी महिमा सबकी तुलनामें अधिक है, इसको स्थापित करनेके लिए उन्होंने अपने हितके भी प्रतिकूल ऐसा अनुचित कार्य किया अर्थात् श्रीविष्णुके वक्षःस्थल पर पदाघात किया था।

यदि कहो कि वे स्वर्गके ऊपर स्थित महर्लोकके निवासी होकर भी नीचे स्वर्गमें क्यों आये? इसके लिए कहते है—'पद्‌भ्याम्' आदि अर्थात् पृथ्वी पर जानेके लिए। किस लिए? अपने–अपने चरणकमलोंके स्पर्श द्वारा महापातकियोंके स्पर्शसे उत्पन्न गङ्गादि तीर्थोंकी मलिनताको दूर कर उनको पवित्र करनेके लिए वे पृथ्वी पर जाते हैं। यदि कहो कि सत्यवाक् (जिनके समस्त वचन ही सत्य होते हैं) साधुजन अपने–अपने वचनोंके द्वारा ही तीर्थोंको पवित्रता प्रदान कर सकते हैं, इसके लिए उन्हें पृथ्वी पर जानेकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं, 'कृपय' इत्यादि—वे स्वच्छन्दकारी महर्षि केवल लोक हितके लिए ही परिभ्रमण करते हैं। अर्थात् कृपावशतः साक्षात् दर्शन–स्पर्शनादि द्वारा समस्त लोगोंको कृतार्थ करते हैं॥३६॥

ससम्भ्रमं सुरैः सर्वैर्ऋषिभिर्गुरुणा स्वयम्।
विष्णुना चार्च्यमानास्ते मया दृष्टाः सविस्मयम्॥३७॥

श्लोकानुवाद—उस समय देवतागण, ऋषिगण और गुरु बृहस्पति, यहाँ तक कि स्वयं श्रीविष्णु भी सम्भ्रमपूर्वक उन महर्षियोंका

अर्चन-पूजन करने लगे—यह देखकर मैं अत्यन्त विस्मित हो गया॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ऋषिभिर्नारदादिभिः; अप्यर्थे चकारः। स्वयं विष्णुनापि ब्रह्मण्यदेवत्वात् ते भृग्वादयः; ससम्भ्रममर्च्यमानाः पूज्यमानाः; अतएव विस्मयश्चित्त-चमत्कारस्तेन सहितं यथा स्यात्तथा मया दृष्टाः॥३७॥

भावानुवाद—भृगुप्रमुख महर्षियोंके स्वर्गमें उपस्थित होने पर मैंने अत्यन्त विस्मय सहित देखा कि देवतागण, ऋषिगण, श्रीनारद और देवगुरु बृहस्पति यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्मण्यदेव श्रीविष्णु भी सम्भ्रमपूर्वक उन महर्षियोंका अर्चन करने लगे। अतएव यह देखकर मैं चमत्कृत होकर सोचने लगा कि इन महर्षियोंका माहात्म्य क्या है?॥३७॥

अहञ्चाभिनवो विष्णुसेवानन्दहृतान्तरः।
न जाने तानथ स्वीयैः प्रेरितस्तैरपूजयम्॥३८॥

श्लोकानुवाद—मैं वहाँ नया था, किसकी कैसी मर्यादा है—यह नहीं जानता था। इसका कारण था कि मैं सर्वदा ही श्रीविष्णुसेवानन्दमें निमग्न रहता था। तत्पश्चात् बृहस्पति जैसे गुरुजनों द्वारा उनकी अर्चन करनेकी अनुमति प्रदान करने पर मैंने उनकी यथायोग्य पूजा की॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु लब्धेन्द्राधिकारस्य तवैव प्रथमं पूज्यास्तेऽतिथयः, तत्राह—अहमिति। त्वर्थे चकारो वाक्यभेदे; तान् महर्षीन् न जाने। किमेते स्वर्गवासिनो देवविशेषा देवर्षयो वा? किं वान्यत्रत्याः केचिदिति विशेषतो न वेद्मि, न परिचिनोमीति वा। तत्र हेतुः—अभिनव आगन्तुक इत्यर्थः। ननु तयैवोक्तं संवत्सरो गमित इति सत्यम्; विष्णोः सेवानन्देन हृतमन्तःकरणं यस्य सः; तदासक्ता तदन्यजिज्ञासानुपपत्तेर्न किमपि ज्ञातुमशक्नवमित्यर्थः। यद्यपि जिज्ञासां विनापि श्रीभगवत्सेवाप्रभावेण स्वयमेव सर्वज्ञता परिस्फुरेत्, तथाप्यस्य तदभावे कारणं पञ्चमाध्यायशेषे श्रीनारदोक्तौ व्यक्तं भावि; तच्च तद्-गुरुवराशीर्वाद-प्रभावादेवेति ज्ञेयम्। अथ ततश्च तैस्तदर्चकैः स्वीयैर्गुर्वादिभिः प्रेरित उक्तः सन् तानहमपूजयम्॥३८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इन्द्रका अधिकार प्राप्त करने पर क्या सर्वप्रथम आपका ही उन अतिथियोंकी पूजा करनेका कर्त्तव्य नहीं

था? इसके उत्तरमें कहते हैं—'अहम्' इत्यादि। मैं उन महर्षियोंको जानता नहीं था, अर्थात् उन महर्षियोंके दर्शनकर विस्मित होकर सोचने लगा कि क्या ये स्वर्गवासी कोई विशेष देवता हैं या कोई देवर्षि हैं अथवा ये अन्य किसी स्थान पर रहते हैं? अतः उनके परिचयके सम्बन्धमें मैं कुछ भी स्थिर नहीं कर पाया, क्योंकि वे लोग वहाँ पर नवीन आगन्तुक थे। यद्यपि मैंने स्वर्गमें एक वर्ष तक वास किया था, तथापि मेरे द्वारा सर्वदा ही श्रीविष्णुकी परिचर्यामें नियुक्त रहनेके कारण मुझे अन्य किसी विषयमें मनोयोगका अवकाश ही नहीं रहता था।

यदि कहो कि श्रीविष्णुकी सेवाके प्रभावसे जीव सर्वज्ञ हो जाता है, इसलिए उस सर्वज्ञताके बलसे आप महर्षियोंके आगमनको क्यों नहीं जान सके? इसके उत्तरमें कहते हैं—हे विप्र! यद्यपि भगवान्‌की सेवाके प्रभावसे सर्वज्ञतादि समस्त विभूतियाँ स्वयं ही परिस्फुरित होती हैं, तथापि श्रीगुरुदेवके आशीर्वादके प्रभावसे श्रीभगवान्‌की सेवाके प्रतिकूल सर्वज्ञतादि सिद्धियाँ मुझे प्रभावित नहीं कर सकीं। विशेषतः यदि सर्वज्ञताके प्रभावसे महर्लोकादिका तत्त्वज्ञान हृदयमें प्रकाशित होगा, तब उस महर्लोक जाने पर वहाँकी महिमाके दर्शनसे चित्तमें चमत्कार उत्पन्न नहीं होगा तथा पूर्ण आनन्द भी उपलब्ध नहीं होगा। इसलिए श्रीगुरुकी कृपाके बलसे सर्वज्ञतादि शक्तियाँ आवृत रहीं। पञ्चमाध्यायके अन्तमें श्रीनारदकी उक्ति द्वारा यह व्यक्त होगा। तत्पश्चात् देवगुरु बृहस्पति द्वारा उनकी अर्चना करनेकी अनुमति प्रदान किये जाने पर मैंने उनकी यथायोग्य अर्चना की॥३८॥

अभिनन्द्य शुभाशीर्भिर्मां तेऽगच्छन् यथासुखम्।
तिरोऽभवदुपेन्द्रोऽपि मया पृष्टास्तदामराः॥३९॥

श्लोकानुवाद—भृगु आदि महर्षि आशीर्वाद द्वारा मेरा अभिनन्दनकर यथास्थान चले गये। इसी बीचमें भगवान् श्रीउपेन्द्र भी अन्तर्हित हो गये, तब मैंने देवताओंसे पूछा—॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च तेषु मेऽपराधोऽजनीत्याह—अभिनन्द्येति। श्रीभगवतः साक्षादन्यवार्त्ता न युज्यते, न च तद्दर्शनानन्देनोदेति। किञ्च, तस्मिन् साक्षाद्वर्त्तमानेऽन्यत्र जिगमिषापि न सम्भवेदित्युपेन्द्रस्य तिरोभाव इत्यूह्यम्॥३९॥

भावानुवाद—हे विप्र! ऐसी आशंका मत करना कि महर्षियोंके प्रति असावधान होनेके कारण मेरा अपराध हुआ, क्योंकि वे मुझे आशीर्वाद प्रदानकर अभिनन्दित करते हुए पृथ्वीलोकमें चले गये। इसके लिए 'अभिनन्द्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इसी बीचमें श्रीभगवान् भी अन्तर्हित हो गये। तब मैंने देवताओंसे उन महर्षियोंका परिचय पूछा। यदि कहो कि श्रीभगवान्के सामने ही क्यों नहीं पूछा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि श्रीभगवान्की साक्षात् उपस्थितिमें बातचीत करना सङ्गत नहीं समझा। विशेषतः श्रीभगवान्के दर्शनानन्दके अनुभवके समय अन्य किसी प्रसंगका मनमें स्थान ही नहीं रहता। विशेषकर श्रीभगवान्के साक्षात् विद्यमान रहने पर अन्य किसी स्थान पर जानेकी तो बात दूर रहे, कहीं जानेकी इच्छा भी नहीं होती॥३९॥

पूज्या देवा नृणां पूज्या देवानामप्यमी तु के।
किंमाहात्म्या महातेजोमयाः कुत्र वसन्ति वा॥४०॥

श्लोकानुवाद—आप मनुष्योंके पूज्य देवतागण हैं और आप जैसे देवताओंके भी पूज्य ये महर्षिगण कौन हैं? इनका क्या माहात्म्य है तथा ये महा-तेजस्वी महर्षिगण कहाँ रहते हैं?॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं पृष्टाः? तदाह—पूज्या इति। अमी तु देवानां पूज्याः। के कतमे? पूज्यानां पूजकत्वायोगाद्विस्मयेन प्रश्नः। ननु पुत्रादिभिः पूज्यानां पित्रादीनां पितामहादिपूजा दृश्यत इत्याशंक्य पूज्यपूज्यत्वकारणं महिमविशेषं पृच्छति। किं कीदृशं माहात्म्यं येषां ते किंमाहात्म्या इति। अत्र तेभ्यश्चैते माहात्म्य-विशेषमर्हन्त्येवेत्याह—महातेजोमया इति। अतोऽत्रत्या न स्युः, किन्त्वन्यमहापदस्थिता एवेति मत्वा पृच्छति—कुत्रेति। एषां वासस्थाने परिज्ञाते सति तत्पूज्येश्वर-वरदर्शनार्थं तत्रैवागन्तुं यतिष्य इति भावः॥४०॥

भावानुवाद—देवताओंसे क्या पूछा? इसके लिए 'पूज्या' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मैंने उनसे पूछा, हे पूज्य देवगण! आप लोग तो मनुष्योंके पूज्य हैं, फिर आपके भी पूज्य ये महर्षिगण कौन हैं? यहाँ पूज्यगणोंके (देवताओंके) भी पूज्य होनेके कारण विस्मय सहित ऐसा प्रश्न कर रहे हैं। यद्यपि लोक रीतिके अनुसार पुत्रोंके पूज्य पिता हैं और उन पूज्य पिताके भी पूज्य पितामह हैं, तथापि आशंकावशतः

पूज्य (महर्षियों)के पूज्यत्वका कारण और महिमा पूछ रहे हैं—अर्थात् उनका क्या माहात्म्य है? इन महर्षियोंके शरीरमें महातेज देखकर मनमें विचार उठता है कि ये देवताओंके पूजनीय होंगे तथा ये स्वर्गवासी नहीं हैं, अन्य किसी महत्पद (स्थान)के अधिवासी होंगे। इस प्रकार विवेचना कर पूछा, हे देववृन्द! ये महर्षि कहाँ वास करते हैं? उनका वास स्थान जाननेसे वहाँ गमनकर उनके पूज्य परमेश्वरका दर्शन करनेका प्रयत्न करूँगा—इसी अभिप्रायसे प्रश्न किया॥४०॥

महाभिमानिभिर्देवैर्मत्सराक्रान्तमानसैः ।
लज्जयेव न तद्वृत्तमुक्तं गुरुरथाब्रवीत॥४१॥

श्लोकानुवाद—देवतागण महाभिमानी थे तथा उनका चित्त मत्सरतासे ग्रस्त था, अतः महर्षियोंका स्वाभाविक उत्कर्ष वर्णन करनेमें लज्जाके कारण वे कुछ भी नहीं बोले। किन्तु देवगुरु बृहस्पतिने मेरे प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—मत्सरः परोत्कर्षासहिष्णुता, तेनाक्रान्तानि मानसानि येषां तैः। ननु तथापि स्वरूपमात्रनिरूपणे का हानिः? तत्राह—महाभिमानिभिरिति। महाभिमानित्वादेव सहजपरमोत्कर्षवतां महर्षीणां वार्त्तामात्रकथनेनापि निजापकर्षापत्तेर्लज्जया तेषां भृग्वादीनां वृत्तं नोक्तमित्यर्थः। इवेत्युत्प्रेक्षायां लौकिकरीत्यानधिकार्थमेव वा। गुरुश्चावश्यं शिष्यप्रश्नमुत्तरयितुमर्हतीति गुरु-शब्दप्रयोगः॥४१॥

भावानुवाद—दूसरेका उत्कर्ष सहन करनेमें असहिष्णु देवताओंने मेरा प्रश्न सुनकर कुछ भी नहीं बतलाया, क्योंकि उनका चित्त मत्सरतासे भरा हुआ था। यदि कहो कि वैसा होने पर भी स्वरूपमात्रका निरूपण करनेमें क्या हानि थी? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि वे सभी महाभिमानी थे, इसलिए उन्होंने भृगु प्रमुख महर्षियोंके स्वभावसिद्ध परमोत्कर्षका वर्णन नहीं किया। विशेषतः उनका उत्कर्ष वर्णन करनेसे उन देवताओंका अपकर्ष सूचित होता, इसलिए वे चुप रहे। इस श्लोकमें 'इव' लौकिक रीतिसे अनधिकार अर्थमें है।

किन्तु देवगुरु बृहस्पतिने मेरे प्रश्नोंका उत्तर देना आरम्भ किया। इसका कारण है कि गुरु अपने शिष्यके समस्त प्रश्नोंका उत्तर प्रदान करते हैं, इसीलिए यहाँ पर 'गुरु' शब्द प्रयोग हुआ है॥४१॥

श्रीबृहस्पतिरुवाच—

अत ऊर्ध्वं महर्लोको राजते कर्मभिः शुभैः।
प्राप्यो महद्भिर्यो नश्येत्रैलोक्यप्रलयेऽपि न॥४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीबृहस्पतिने कहा—हे देवराज! इस स्वर्गसे ऊपर महर्लोक विराजमान है। मनुष्य शुभ कर्मोंके द्वारा उस महर्लोकको प्राप्त करते हैं। प्रलयके समय यह त्रिलोक ध्वंस हो जाने पर भी वह महर्लोक विद्यमान रहता है। मुक्तिके प्रायः समीप पहुँचे अर्थात् मुक्तिके अधिकारी पुरुष ही उस स्थान पर वास करते हैं॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः स्वर्गादूर्ध्वमुपरि कीदृशः? महद्भिः स्वर्गप्रापक-पुण्यकर्मतोऽतिश्रेष्ठैः शुभैः शुद्धैरुत्कृष्टैर्वा कर्मभिर्यागयोगादिभिः प्राप्यः प्राप्तुं शक्यः; यश्च त्रैलोक्यस्य भूर्भुवःस्वःप्रलये नाशे सत्यपि न नश्येत्, प्रायो विमुक्त्यधिकारिपदत्वेन परमेष्ठि-समकालावस्थानात्॥४२॥

भावानुवाद—इस स्वर्गके ऊपर किस प्रकारके लोक हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—स्वर्गके ऊपर महर्लोक विराजमान है। स्वर्गको प्राप्त करानेवाले पुण्यकर्मोंके फलसे जैसे स्वर्ग प्राप्त होता है, उसी प्रकार इन समस्त पुण्यकर्मोंसे भी श्रेष्ठ याग-योगादिरूप कर्मोंके द्वारा वह महर्लोक प्राप्त होता है। वह महर्लोक त्रिलोकनाशके समयमें भी अर्थात् भू, भुव और स्वर्ग इन तीनों लोकोंके विनाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। प्रायः मुक्त अधिकारी पुरुष ही उस स्थानको प्राप्त होते हैं और वह लोक ब्रह्माकी परमायु अर्थात् उनके जीवनकाल तक अवस्थित रहता है॥४२॥

यथा हि कोटिगुणितं साम्राज्यात् सुखमैन्द्रिकम्।
तत्कोटिगुणितं तत्र प्राजापत्यं सुखं मतम्॥४३॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार साम्राज्य सुखसे इन्द्रपदमें करोड़ों गुणा अधिक सुख है, उसी प्रकार इन्द्रपदसे भी प्रजापतिपदमें करोड़ों गुणा अधिक सुख है—विवेकवान पुरुषोंने ऐसा स्थिर किया है॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मर्त्य-लोकात् स्वर्गसुखमधिकमनुभूतमेव, तत्र च कीदृशं सुखम्? येनैतादृङ्महिमा घटेतेत्यपेक्षायामाह—यथेति साम्राज्याद्भौमचक्रवर्तिसुखात्—

यथा ऐन्द्रिकम् इन्द्रस्य सुखं कोटिगुणितं कोटिगुणैरधिकं मतम्, तथा तस्मादैन्द्रसुखात् कोटिगुणितं प्राजापत्यं, प्रजापतीनां तेषां भृग्वादीनां सुखं, तत्र महर्लोके मतं विवेकिभिरित्यर्थः ॥४३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि मर्त्यलोकमें प्राप्त सुखसे भी स्वर्गमें सुख अधिकरूपमें अनुभूत होता है, अतएव उस महर्लोकका सुख कैसा होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—जिस प्रकार भौम साम्राज्यके राजचक्रवर्ती-सुखसे इन्द्रपदमें करोड़ों गुणा अधिक सुख है, उसी प्रकार इन्द्रपदसे भी प्रजापति पदमें करोड़ों गुणा अधिक सुख है। भृगुप्रमुख प्रजापतिगण महर्लोकमें वैसे प्रजापतिपद पर अधिष्ठित हैं—विवेकी पुरुषोंने ऐसा ही स्थिर किया है॥४३॥

तेनामी सेवितास्तत्र निवसन्ति महासुखैः।
यज्ञेश्वरं प्रभुं साक्षात् पूजयन्तः पदे पदे॥४४॥

श्लोकानुवाद—उस सुखसे सेवित होकर भृगु आदि महर्षिगण महर्लोकमें महासुखपूर्वक निवास करते हैं। वहाँ साक्षात् यज्ञेश्वर प्रभुकी पद-पद पर यज्ञानुष्ठान द्वारा पूजाकर वे लोग कृतार्थ होते हैं॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन सुखेन सेविता आश्रिताः सन्तः अमी महर्षयस्तत्र महर्लोके निवसन्ति। कदाचिदेव केनापि हेतुना कुत्रचिद्गच्छन्तीत्यर्थः। तत्सुखमेवाह—महद्भिस्त्रैलोक्ये वर्त्तमानमखेभ्यो बहुधा बृहत्तरैर्मखैः यज्ञेश्वरं यज्ञाधिष्ठातारं यज्ञफलप्रदं प्रभुं परमेश्वरं निजस्वामिनं वा पदे पदे इतस्ततः स्थाने स्थाने साक्षात् प्रकटतया स्थितं पूजयन्तः सन्त इति॥४४॥

भावानुवाद—उस सुखसे सेवित होकर महर्षिगण महर्लोकमें महासुख पूर्वक निवास करते हैं। कभी किसी विशेष आवश्यकताके लिए वे अन्य स्थानोंमें भी जाते हैं। उनके सुखके विषयमें मैं और अधिक क्या कहूँ? उस महर्लोकमें प्रकट यज्ञेश्वर त्रिलोकमें वर्त्तमान यज्ञोंकी तुलनामें भी विराट यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा पूजित होते हैं। अर्थात् वहाँ स्थान-स्थान पर प्रकटित यज्ञाधिष्ठाता यज्ञफलप्रद प्रभु परमेश्वरकी उस लोकके वासी विराट यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा साक्षात् पूजा करते हैं॥४४॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तच्छ्रुत्वैन्द्रपदे सद्यो निर्विद्यैच्छं तमीक्षितुम्।
पूज्यपूज्यैर्महद्भिस्तैः पूज्यमानं महाप्रभुम्॥४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! देवगुरु बृहस्पतिसे ऐसी अद्भुत कथाके श्रवणमात्रसे ही मेरी इन्द्रपदसे विरक्ति हो गयी। मैं मनमें सोचने लगा कि मैं श्रीयज्ञेश्वर भगवान्‌का दर्शन करूँगा, क्योंकि वे पूज्यके भी पूज्य अर्थात् देवताओंके पूज्य भृगु आदि महर्षियों द्वारा पूज्यमान महाप्रभु हैं॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् गुरुक्तं श्रुत्वा सद्यस्तत्क्षण एव ऐन्द्रे पदे स्वर्गराज्ये निर्विद्य विरज्य तं यज्ञेश्वरमीक्षितुमैच्छमभ्यलषम्। ननु पूर्वं द्रष्टुमिष्टो जगदीशोऽत्र साक्षात् श्रीविष्णुर्दृश्यमानोऽस्त्येव, तत्राह—पूज्येति, पूज्यानां देवानां पूज्यैस्तैर्महर्षिभिः पूज्यमानमतएव महाप्रभुं माहत्म्यविशेषयुक्तं भगवन्तमिति। अयं भावः—यथा मर्त्यलोके पूज्यमानाद्भगवतः स्वर्गलोके पूज्यमानस्य तस्यैव मधुरवैभवविशेषो दृष्टः, एवमत्र स्वर्गे पूज्यमानादपि महर्लोके पूज्यमानस्यावश्यं कोऽपि माहात्म्यविशेषो भावीति स एव तत्र गत्वा द्रष्टुं योग्य इति॥४५॥

भावानुवाद—देवगुरु बृहस्पतिके उन अपूर्व वचनोंको श्रवणकर मेरी इन्द्रपद (स्वर्गराज्य)के प्रति विरक्ति हो गयी। मेरी इच्छा होने लगी कि मैं उन यज्ञेश्वरका दर्शन करूँ। यदि कहो कि स्वर्गलोकमें भी तो जगदीश्वर श्रीविष्णु साक्षात् दृश्यमान होकर विराजते हैं, तब उस महर्लोकमें जानेके लिए अभिलाषा क्यों कर रहे हो? इसके उत्तरमें कहते हैं—जिस प्रकार मनुष्योंके पूज्य देवगण हैं, उसी प्रकार देवताओंके पूज्य महर्षिगण हैं। अतएव उन परमपूज्य महर्षियोंके भी पूजनीय होनेके कारण वे महाप्रभु यज्ञेश्वर अवश्य ही किसी विशेष माहात्म्यसे युक्त होंगे। मर्त्यलोकमें पूज्यमान भगवान्‌की तुलनामें स्वर्गलोकमें पूज्यमान भगवान्‌का अधिक माधुर्य और वैभव मैंने स्वयं ही अनुभव किया है। अतएव स्वर्गलोककी तुलनामें महर्लोकमें पूज्यमान श्रीभगवान्‌में अवश्य ही कोई विशेष माधुर्य होगा। इसीलिए उस महर्लोकमें जाकर उन महाप्रभुका दर्शन करना ही उचित है॥४५॥

तत् सङ्कल्प्य जपं कुर्वन्नचिरादूर्ध्वमुत्थितः।
व्योमयानेन तं प्राप्तो लोकं तत्र व्यलोकयम्॥४६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारका संकल्पकर मैं मन्त्रजप करने लगा। जपके प्रभावसे अतिशीघ्र व्योमयान उपस्थित हुआ और उस व्योमयान पर चढ़कर मैं महर्लोक पहुँचा तथा वहाँके वैचित्र्यका दर्शन किया॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् महर्लोके यज्ञेश्वरदर्शनं; तं महःसंज्ञम्; तत्र च वक्ष्यमाणानुसारेणादौ तत्रत्यमुख्यस्य श्रीभृगोरेव वासं गत इति। तथा भृग्वादयश्च ते तीर्थेभ्यो निजलोकमागताः सन्तीति चोह्यम्। तत्र महर्लोके॥४६॥

भावानुवाद—देवगुरु बृहस्पतिके वचनानुसार उस महर्लोकमें उन महाप्रभु यज्ञेश्वरके दर्शनके उद्देश्यसे मैं सर्वप्रथम महर्षियोंमें प्रमुख श्रीभृगुके वासस्थान पर ही गया। वहाँ उपस्थित होकर मैंने विस्मयपूर्वक वहाँका विचित्र वैभव दर्शन किया। उस समय तक भृगु आदि महर्षिगण भूमण्डलके तीर्थोंका परिभ्रमण कर महर्लोकमें लौट आये थे॥४६॥

त्रैलोक्ये यत् सुखं नास्ति वैभवं भजनं तथा।
निर्दोषं तत्र तत् सर्वमस्त्यनिर्वाच्यमाशु तत्॥४७॥

श्लोकानुवाद—वहाँ मैंने जिस निर्दोष तथा अनिर्वचनीय सुख, वैभव तथा भजनका दर्शन किया, वह त्रिलोकीमें कहीं भी नहीं है॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं दृष्टम्? तदाह—त्रैलोक्य इति त्रिभिः। तच्च सर्वं निर्दोषम्; तत्र सुखस्य निर्दोषता ब्रह्मरात्र्यागमेऽपि नाशभयाभावादिना तथा स्पर्द्धादिराहित्येन दुःखकारणाभावात्। वैभवस्य च न्यूनातिरेकाद्यभावात् भजनस्य च हेतुकाद्यभावादूह्या। ननु तत्तदेव विवृण्विति चेत्तत्राह—तत्सुखादिकमनिर्वाच्यं निर्वक्तुमशक्यम्॥४७॥

भावानुवाद—वहाँ जाकर क्या दर्शन किया? इसके उत्तरमें 'त्रैलोक्य' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। महर्लोकमें मैंने जैसे निर्दोष सुख, वैभव और भजनको देखा वैसा भू, भुव और स्वर्ग आदि कहीं पर भी नहीं है। वहाँके सुखकी निर्दोषताका कारण यह है कि

ब्रह्मरात्रिमें अर्थात् कल्पके अन्तमें त्रिलोकके नाश होने पर भी महर्लोकका विनाश नहीं होता, इसलिए वहाँ सुखका नाश नहीं होता। विशेषतः उस स्थानके सुख-स्पर्धादि दोषोंसे रहित होनेके कारण वहाँ दुःखका अभाव है। अर्थात् स्वर्ग आदिकी भाँति स्पर्धादि दोष न रहनेसे वहाँ दुखके कारणका अभाव है। वहाँके वैभव पर भी सबका समानाधिकार है और भजनमें भी फल-कामनादि दोष या कोई हेतु नहीं रहता। अर्थात् वैभवमें न्यूनाधिकरूप विषमता नहीं रहनेके कारण भजन भी निर्दोष अर्थात् हेतुशून्य होता है, मर्त्यलोक आदिकी भाँति फल-कामनादि युक्त भजन नहीं होता। यदि कहो कि वहाँके सुखका विस्तारसे वर्णन करें—इसके लिए कहते हैं कि वहाँका सुख अनिर्वचनीय है अर्थात् मैं उसे वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ॥४७॥

वितायमानेषु महामखेषु तैर्मर्हर्षिभिर्भक्तिपरैः सहस्रशः।
मखाग्निमध्ये प्रभुरुत्थितः स्फुरन्मखेश्वरः क्रीड़ति यज्ञभागभुक्॥४८॥

श्लोकानुवाद—वहाँ पर भृगु प्रमुख हजारों भक्ति-परायण महर्षि महा-महा यज्ञोंका अनुष्ठान कर रहे थे। उस यज्ञाग्निसे दीप्तिमान स्वयं यज्ञेश्वर प्रकट होकर उस समस्त यज्ञभागका भोजन करते-करते विहार कर रहे थे॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्योत्सक्येन संक्षेपतो हृद्यं किमपि वर्णयति—वितायमानेष्विति द्वाभ्याम्। तैर्भृग्वादिभिः भक्तिपरैरिति तेषां निष्कामत्वमनन्यपरत्वञ्चाह—मखाग्नि-कुण्डादेवोत्थितः प्रादुर्भूतः, तस्मिन्नेव स्फुरन् विरोचमानः; यज्ञाग्नितोऽपि महातेजस्वीत्यर्थः। यज्ञस्य भागं भुञ्जानः सन् क्रीड़तीत्यर्थः॥४८॥

भावानुवाद—तथापि उत्सुकतावशतः संक्षेपमें उस मनोहर वैभवादिका वर्णन 'वितायमानेषु' इत्यादि दो श्लोकोंमें कर रहे हैं। वहाँ पर भृगु प्रमुख हजारों भक्ति-परायण महर्षिगण कामनाशून्य होकर महा-महा यज्ञोंका विस्तार कर रहे थे। उन यज्ञोंके प्रदीप्त अग्निकुण्डोंसे स्वयं यज्ञेश्वर प्रकट होनेके कारण वे महा-तेजस्वी थे—ऐसा समझना चाहिए। वे यज्ञेश्वर यज्ञभाग भोजन करते-करते विहार कर रहे थे॥४८॥

स यज्ञमूर्त्ती रविकोटितेजा,
जगन्मनोहारिमहाप्रतीकः ।
प्रसार्य हस्तांश्चरुमाददानो,
वरान् प्रियान् यच्छति याजकेभ्यः ॥४९॥

श्लोकानुवाद—उन यज्ञमूर्त्तिका तेज करोड़ों सूर्योंकी भाँति उज्ज्वल था वे अपनी अङ्गकान्ति द्वारा जगतका मन हरण कर रहे थे और दोनों भुजाओंको फैलाकर हव्यान्न ग्रहणकर याजकोंको उनका अभीष्टवर प्रदान कर रहे थे॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्यतो निगद्य तद्रूपचरितादिकं विशेषतः किञ्चित् वर्णयति—स इति। यज्ञो मूर्त्तिस्तनूर्यस्य सः, यज्ञावयवत्वात्। यद्वा, स्रुक्स्रुवादि-यज्ञोपकरणधारणेन मूर्त्तिमद् यज्ञ इवेत्यर्थः। यद्वा, तदुपलक्षितविग्रह इत्यर्थः। तदुक्तं तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/१३/३५-३६) यज्ञवराहवर्णने—*'रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां, दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम्। छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम्॥ स्रुक् तुण्ड आसीत् स्रुव ईश नासयोरिलोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे। प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते, यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम्॥'* इत्यादि। अत्रापीदमेवानुसर्तव्यम्—जगतां मनोहारिणो महान्तो विशालाः प्रतीकाः श्रीशिरोमुखकण्ठ-वक्षोबाहूरुपादाद्यङ्गानि यस्य सः; चरुं यज्ञीयभक्ष्यद्रव्यविशेषम्; प्रियानभीष्टान्; एवं श्लोकद्वयेनोपेन्द्राद्विशेष ऊह्यः॥४९॥

भावानुवाद—इस प्रकार संक्षेपमें महर्लोकके वैभवादिका वर्णनकर अब उन यज्ञेश्वरके रूप और चरित्रादिके विषयमें कुछ विस्तारसे वर्णन कर रहे हैं। वे यज्ञमूर्त्ति अर्थात् यज्ञ ही जिनका शरीर है, वे यज्ञेश्वर स्रुक्-स्रुवादि (यज्ञमें घृताहुति देनेकी करछी) रूप यज्ञके उपकरण धारण करनेके कारण साक्षात् यज्ञस्वरूप प्रतीत हो रहे थे अथवा उसके उपलक्षित विग्रहरूपमें प्रकाशमान थे। जैसा कि श्रीमद्भागवत (३/१३/३५-३६)में यज्ञ-वराहके वर्णनमें कहा है—"हे देव! आपकी इस यज्ञमय मूर्त्तिको दुष्कृतात्मा व्यक्ति दर्शन नहीं कर सकते, क्योंकि आप यज्ञात्मक हैं अर्थात् यज्ञ किये बिना यह रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। हे प्रभो! आपके विग्रहकी त्वचामें वेदशास्त्रसमूह और गायत्री आदि विभिन्न छन्द हैं, आपके रोममें यज्ञीय कुशादि हैं, आपके दोनों नेत्रोंमें हवि (हवनीय घृत) है और श्रीचरणकमलोंमें

चातुर्होत्र (होत्रादि चार प्रकारके कर्म) विराजमान हैं। हे ईश! आपके मुखमें स्रुक्, नासिकाओंमें स्रुव, दोनों कर्णोंमें चमस (चम्मच), पेटमें इड़ा (यज्ञीय भक्ष्य द्रव्योंका आधार), और श्रीमुखमें सोमपात्र (यज्ञीय पान–पात्र) विद्यमान है। हे प्रभो! आप जो चर्वण करते हैं, वह अग्निहोत्र है, अधिक क्या कहें, आप ही निखिल मन्त्र, अखिल देवता, समस्त द्रव्य, क्रतु और क्रियास्वरूप हैं।" हे प्रभो! आपका तेज करोड़ों सूर्योंके समान होने पर भी आप अपनी अङ्गकान्तिसे जगतका मन हरण करते हैं तथा आपकी श्रीमूर्त्तिके प्रतीक सिर, मुख, कण्ठ, वक्ष, बाहु, उदर, उरू और पादादि अङ्गसमूह परिदृश्य होते हैं। आप अनुग्रहपूर्वक हजारों हाथोंको फैलाकर यज्ञीय हव्यान्न ग्रहणकर भोजन करते हैं तथा प्रिय याजकोंको अभीष्ट वर प्रदान करते हैं। इन दो श्लोकों द्वारा श्रीउपेन्द्रसे भी भगवान् यज्ञेश्वरका वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है॥४९॥

तद्दर्शनोज्जृम्भितसम्भ्रमाय
हर्षान्नमस्कारपराय मह्यम्।
दत्तो निजोच्छिष्टमहाप्रसाद–
स्तेन स्वहस्तेन दयार्द्रवाचा॥५०॥

श्लोकानुवाद—उन यज्ञेश्वरका अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभाव देखकर मैं अत्यधिक सम्भ्रमग्रस्त हो गया और हर्षपूर्वक उनको प्रणाम करने लगा। यह देखकर यज्ञेश्वरने दयार्द्र वचनोंसे बुलाकर स्वयं ही अपने हाथोंसे अपना उच्छिष्ट महाप्रसाद मुझे प्रदान किया॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तस्य स्वविषयकानुग्रहविशेषमाह—तदिति। तेन यज्ञेश्वरेण निजमुच्छिष्टमेव महाप्रसादः स्वहस्तेन कृत्वा मह्यं दत्तः। कीदृशाय? तस्य यज्ञेश्वरस्य दर्शनेनोजृम्भितो विस्तारितः सम्भ्रमः कर्त्तव्यानुसन्धानं यस्य तस्मै; अतएव केवलं हर्षाद्धेतोर्नमस्कारपराय प्रणमनप्रवणाय। दयया आर्द्रा स्निग्धा या वाक् 'भो गोपकुमाराग्रेऽभिगच्छातिथ्यं गृहाण'—इत्यादिरूपा यस्य तेन तयैव वा, तादृशमुक्त्वेत्यर्थः॥५०॥

भावानुवाद—अब 'तद्' आदि श्लोक द्वारा उन यज्ञेश्वर द्वारा अपने प्रति किये गये विशेष अनुग्रहका वर्णन कर रहे हैं। उन

यज्ञेश्वरने स्वयं ही अपने हाथोंसे अपना उच्छिष्ट महाप्रसाद मुझे प्रदान किया। यदि कहो कि किस प्रकार उनका अनुग्रह प्राप्त हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—उन प्रभुका अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभाव दर्शनकर मैं सम्भ्रमवशतः किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। अर्थात् क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है, कुछ भी स्थिर न कर सका। अतएव केवल हर्षपूर्वक उनको प्रणाम करने लगा। मेरी ऐसी अवस्था देखकर प्रभुने स्निग्ध वचनोंके द्वारा मुझे अपने पास बुलाया और कहा—'हे गोपकुमार! मेरे समीप आकर आतिथ्य ग्रहण करो।' इत्यादिरूपसे विशेष अनुग्रह किया और मुझे अपना उच्छिष्ट महाप्रसाद प्रदान किया॥५०॥

अपूर्वलब्धमानन्दं परमं प्राप्नुवंस्ततः।
कारुण्यातिशयात्तस्य संसिद्धाशेषवाञ्छितः॥५१॥

श्लोकानुवाद—उनकी अत्यधिक करुणा द्वारा मुझे अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ, जिससे मेरा जगदीश-दर्शनादि असीम वाञ्छितफल सिद्ध हो गया॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मात्तस्य यज्ञेश्वरस्य कारुण्यातिशयात् परमानन्दं प्राप्तोऽहम्। कीदृशम्? न पूर्वं लब्धो यस्तम्। एवं मर्त्य-स्वर्गलोकाभ्याम् वैशिष्ट्यमुक्तम्। यतः सम्यक् सिद्धम् अशेषं वाञ्छितं जगदीश-दर्शनादि यस्य सः॥५१॥

भावानुवाद—अतएव उन यज्ञेश्वरकी अत्यधिक करुणाके प्रभावसे मुझे परमानन्द प्राप्त हुआ। वह कैसा आनन्द था? वह आनन्द अपूर्व था, जिसका मैंने पहले कभी भी अनुभव नहीं किया था। इसके द्वारा मर्त्त्य और स्वर्गलोकसे भी अधिक परमानन्दका वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है, क्योंकि इससे मुझे जगदीश दर्शनादि असीम वाञ्छित फल प्राप्त हो गया॥५१॥

दयालूनां महर्षीणां सङ्गत्येतस्ततो भ्रमन्।
प्रत्यावासं तथैवाहमद्राक्षं जगदीश्वरम्॥५२॥

श्लोकानुवाद—वहाँ दयालु महर्षियोंके साथ इधर-उधर भ्रमण करते हुए मैंने देखा कि प्रत्येक गृहमें जगदीश्वर उसी प्रकारसे पूजित हो रहे हैं॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं स्वर्गतो विशेषान्तरमाह—दयालूनामिति। इतस्ततः तल्लोकमध्य एव स्थाने स्थाने; तथैव तादृशमेव; यज्ञाग्नि-मध्ये परिस्फुरन्तं यज्ञभागं भुञ्जानमित्यादि-पूर्वोक्तरूपम्॥५२॥

भावानुवाद—अब 'दयालुनाम्' आदि श्लोकमें स्वर्गसे भी वैशिष्ट्ययुक्त विभूतिकी बात कह रहे हैं। उन दयालु महर्षियोंके साथ मैं इधर-उधर अर्थात् उस लोकमें स्थान-स्थान पर भ्रमण करने लगा। मैंने देखा कि प्रत्येक गृहमें ही भगवान् यज्ञेश्वर यज्ञाग्निकुण्डसे प्रकट होकर अपने हाथोंसे यज्ञभाग ग्रहणकर भोजन कर रहे हैं, किन्तु स्वर्गमें इस प्रकारसे भगवान्की विभूतिके दर्शन नहीं होते थे॥५२॥

ततः कृतार्थतानिष्ठां मन्वानः स्वस्य सर्वथा।
सानन्दं निवसंस्तत्र प्रोक्तोऽहं तैर्महर्षिभिः॥५३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार उनकी अत्यधिक करुणा प्राप्तकर मैं अपने आपको समस्त प्रकारसे कृत-कृतार्थ मानने लगा। वहाँ परमानन्दपूर्वक रहते समय एक दिन महर्षियोंने मुझसे कहा— ॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मात्तादृशानेकमूर्त्ति-जगदीशदर्शानाद्धेतोः। सर्वथा जगदीशसाक्षाद्दर्शनविशेष-तदीयकारुण्यातिशयलाभाद्यशेषप्रकारेण स्वस्य मम कृतार्थताया जन्म-जपादिसाफल्यस्य निष्ठां परिपाकं मन्वानो मन्यमानः; अतएव सानन्दं तत्र महर्लोके निवसन् सन् तैर्भृग्वादिभिरहमुक्तः॥५३॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे उस महर्लोकमें स्थान-स्थान पर उन यज्ञेश्वररूप जगदीश्वरकी अनेक मूर्त्तियोंके दर्शनका फल बतला रहे हैं—सर्वथा जगदीश्वरके साक्षात् दर्शनसे और असीम प्रकारसे उनकी अत्यधिक करुणा प्राप्तकर मैं अपने आपको कृतार्थ अर्थात् अपने जन्म और जपादिको पूर्णता सफल मानने लगा। इस प्रकारसे मैं वहाँ पर परमानन्दपूर्वक वास करने लगा। एक दिन भृगु आदि महर्षियोंने मुझसे कहा— ॥५३॥

श्रीमहर्षय ऊचुः—

भो गोपवैश्यपुत्र त्वमेतल्लोकस्वभावजम्।
प्रदीयमानमस्माभिर्विप्रत्वं स्वीकुरु द्रुतम्॥५४॥

श्लोकानुवाद—महर्षियोंने कहा—हे गोप वैश्यपुत्र! हम तुम्हें ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, शीघ्र स्वीकार करो। इस लोकके प्रभावसे ब्राह्मणत्व स्वयं ही उपस्थित हो जाता है॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपः गोरक्षावृत्तिको यो वैश्यस्तस्य पुत्रेति सम्बोधनेन तव सहजद्विजत्वमस्त्येवेति ध्वनितम्। त्वं विप्रत्वं स्वीकुरु, ब्राह्मणो भवेत्यर्थः। ननु वैश्यपुत्रस्य मम कथमेतावत् सिध्येत्तत्राहुः—अस्माभिमहर्षिभिः प्रकर्षेण दीयमानम्। किमेतावता प्रयासेन? तत्राहूः—एतस्य ऋषिलोकस्य स्वभावादेव जायते यत्तत्, केवलं बाह्यव्यवहारादिकमेव सम्पादनीयमित्यर्थः। अन्यथा एतल्लोकवासोऽसङ्गत इव स्यादिति भावः॥५४॥

भावानुवाद—गोरक्षाकी वृत्तिसे युक्त वैश्यका पुत्र होनेके कारण यहाँ गोपकुमारको गोप वैश्यपुत्र कहकर सम्बोधन किया गया है। इस प्रकारके सम्बोधनसे यह ध्वनित होता है कि गोपकुमारमें सहज रूपमें द्विजत्व विद्यमान था। महर्षियोंने कहा—हे गोपवैश्यपुत्र! तुम विप्रत्व स्वीकार करो अर्थात् ब्राह्मण होओ। यदि आपत्ति हो कि मैं वैश्यपुत्र होकर किस प्रकारसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता हूँ? इसके लिए कहते हैं—ऐसी आशंका मत करो। हम महर्षिगण तुम्हें ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं। यदि कहो कि क्या इसके लिए किसी प्रकारका प्रयास स्वीकार करना होगा? नहीं! तपस्या-आचरणादि किसी प्रकारका प्रयास स्वीकार नहीं करना होगा। इस ऋषिलोकके स्वाभाविक धर्मवशतः ब्राह्मणत्व स्वयं ही उपस्थित होता है। केवल तुम्हें कुछ बाह्य व्यवहारादिका अनुष्ठान करना होगा अन्यथा इस लोकमें तुम्हारा वास ही असङ्गत होगा॥५४॥

महर्षीणामेकतमो भूत्वा त्वमपि पूजय।
जगदीशमिमं यज्ञैश्चिरमात्मदिदृक्षितम्॥५५॥

श्लोकानुवाद—तुम भी हमारे समान एक महर्षि होकर उन यज्ञेश्वर श्रीजगदीशका सर्वदा दर्शन और पूजन करो, जिनका दर्शन करनेके

लिए तुम्हारी बहुत दिनोंसे अभिलाषा थी॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः किमत आहुः—महर्षीणामिति। चिरमात्मनस्तव दिदृक्षितं द्रष्टुमिष्टम्॥५५॥

भावानुवाद—इस ब्राह्मणत्वको प्राप्त करनेसे क्या लाभ होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इन महर्षियोंके बीच तुम भी एक महर्षिके रूपमें जाने जाओगे। विशेषतः तुम चिरकालसे जिनके दर्शनकी अभिलाषा करते थे, उन प्रभु यज्ञेश्वरका यज्ञानुष्ठान द्वारा सदैव दर्शन कर सकोगे॥५५॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तच्छ्रुत्वाचिन्तयं ब्रह्मन् वैश्यत्वे स्यात् सुखं महत्।
प्रभोरेषाञ्च विप्राणां तद्भक्तानामुपासनात्॥५६॥

श्लोकानुवाद—इस बातको सुनकर गोपकुमार मन-ही-मन विचार कर बोले—हे ब्रह्मन्! वैश्यदेह प्राप्तकर मैं परम सुखी हूँ, क्योंकि इस देहके द्वारा ही प्रभुकी और उनके भक्त विप्रोंकी सेवाकर अधिक सुख पाया जा सकता है॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—चिन्तितमेवाह—वैश्यत्व इत्यादि-पादोनद्वयेन। प्रभोर्यज्ञेश्वर-रूपिणो जगदीशस्य; तस्य प्रभोर्भक्तानामेषां विप्राणाम्। अयं भावः—ब्राह्मणत्वे दास्यानुपपत्तेः ब्राह्मणानामेषां सम्यक् सेवा न स्यात्; वैश्यत्वे च वैष्णवानामेषां यज्ञेश्वरस्य च सेवयामीभ्योऽपि मम सुखमधिकं स्यादिति॥५६॥

भावानुवाद—हे माथुरोत्तम द्विज! महर्षियोंकी ऐसी बातोंको सुनकर मैंने मन-ही-मन विचार किया कि मैं इस वैश्यदेहको प्राप्तकर परम सुखी हूँ। अन्यथा विप्र होने पर सेवाके अधिकारसे वञ्चित हो जाऊँगा, क्योंकि ब्राह्मणत्वमें दास्य (भाव)की अनुपयोगिताके कारण ब्राह्मण देहसे इस प्रकारकी सेवा भलीभाँति नहीं होगी। पक्षान्तरमें—वैश्यदेह द्वारा ही दास्यभावसे यज्ञेश्वर और वैष्णव अर्थात् उनके भक्त और ब्राह्मणोंकी सेवा की जा सकती है। अतएव इस वैश्यत्व या वैश्यदेहके रहनेसे प्रभु जगदीश्वर तथा उनके भक्तों और ब्राह्मणोंकी सेवा कर इन महर्षियोंकी तुलनामें भी अधिकतर सुख प्राप्त होगा॥५६॥

एषां यज्ञैकनिष्ठानामैक्येनावश्यके निजे।
जपे च सद्गुरूद्दिष्टे मान्द्यं स्याद्दृष्टसत्फले॥५७॥

श्लोकानुवाद—यदि महर्षियोंके मतानुसार ब्राह्मणत्व अङ्गीकार करता हूँ, तब सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट मन्त्रजपमें अवश्य ही शिथिलता उपस्थित होगी और इस प्रकारसे शीघ्र फलप्रद मन्त्रजपमें शैथिल्य प्रकाश करना भी उचित नहीं है। विशेषतः इन महर्षियोंकी निष्ठा केवल यज्ञमें है, अन्य किसी भी कर्त्तव्यमें रुचि नहीं है॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च एषामिति। ऐक्येन अभेदेन मान्द्यं शैथिल्यं स्यात्। कुतः? यज्ञ एवैकस्मिन् निष्ठा स्थितिर्येषां तेषाम्; अतो ममापि तादृक्त्वापत्तेः। न च तत्र शैथिल्यमुचितमित्याह—आवश्यकेऽवश्यकर्त्तव्ये। कुतः? सता उत्कृष्टेन गुरुणा उद्दिष्टे आदिष्टे, किञ्च, दृष्टं साक्षादनुभूतं सत् उत्तमं फलं साम्राज्य-स्वाराज्य-महर्लोक-प्राप्त्यादिरूपं यस्य तस्मिन्॥५७॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं—यदि मैं यज्ञोंमें एकनिष्ठ इन महर्षियोंकी भाँति विप्रत्व प्राप्तकर उनके समान बन जाऊँ, तब मेरी भी यज्ञमें ही सम्पूर्ण निष्ठा उत्पन्न हो जायेगी और अवश्यकर्त्तव्य अर्थात् सद्गुरुसे प्राप्त मन्त्रजपमें निश्चय ही मेरी शिथिलता उत्पन्न होगी। इस मन्त्रजपके प्रभावसे मैंने साम्राज्य, इन्द्रपद तथा महर्लोकादिका ऐश्वर्य प्राप्त किया है, इस प्रकारके साक्षात् अनुभव किये गये और शीघ्र फलप्रद मन्त्रजपमें शैथिल्य प्रकाश करना कदापि उचित नहीं है। विशेषतः ये महर्षिगण केवलमात्र यज्ञमें ही तत्पर रहते हैं, अन्य कर्त्तव्योंमें इनकी रुचि नहीं है॥५७॥

ततस्ताननुमान्याहमनङ्गीकृत्य विप्रताम्।
तत्रावसं स्वतो जातप्राजापत्यमहासुखैः॥५८॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैंने ब्राह्मण होना स्वीकार नहीं किया और महर्षियोंको अनुनय-विनयकर उनके आग्रहसे मुक्त हुआ। वे भी मुझे पहलेकी भाँति आदर यत्न करने लगे तथा मैं भी उनकी भाँति महासुखपूर्वक वहाँ पर वास करने लगा॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माद्विचारात् विप्रतामनङ्गीकृत्य ब्राह्मणो न भूत्वा। ननु महतां तेषां वचनानादरेणापराधः स्यात्तत्राह-तान् महर्षीननुमान्य सम्मतान्

कृत्वेत्यर्थः। न च विप्रतानङ्गीकारेण तल्लोकस्वाभाविकसुखहानिः कदाचिदभूदित्याह-स्वत इति। आत्मन एव जातानि प्रादुर्भूतानि प्राजापत्यानि पूर्वोक्तलक्षणानि सुखानि तैर्विशिष्टः; सुखस्य बहुत्वं गौरवेण वैचित्र्यपेक्षया वा॥५८॥

भावानुवाद—इस प्रकार मन-ही-मन विचारकर मैंने विप्र होना स्वीकार नहीं किया अर्थात् ब्राह्मण नहीं बना। यदि कहो कि ऐसे महत् जनोंके वचनोंका अनादर करनेसे क्या अपराध नहीं होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—ऐसी आशंका मत करो, क्योंकि मैंने उन महर्षियोंसे अनुनय-विनयकर उनकी सम्मति द्वारा ही इस प्रकारके आग्रहसे मुक्ति प्राप्त की थी। इसलिए उन्होंने मेरे प्रति पहलेकी भाँति ही आदर यत्न किया। विप्रत्व स्वीकार न करने पर भी उस महर्लोकमें किसी रूपमें भी मेरे स्वाभाविक सुखकी हानि नहीं हुई, अपितु मैं उस लोकके प्रभावसे स्वतः ही प्रजापतिपदके महान सुखका अधिकारी हुआ। अतएव मैं भी प्रजापतियोंकी भाँति महासुखपूर्वक वहाँ पर वास करने लगा॥५८॥

न दोषास्तत्र शोको वा शङ्का वा कापि विद्यते।
नान्यच्च किञ्चिद्यज्ञेशप्रीत्यै यज्ञोत्सवानृते॥५९॥

श्लोकानुवाद—उस महर्लोकमें स्वर्गकी भाँति शोक या शङ्का आदि दोषोंका लेष भी नहीं है। वहाँ श्रीयज्ञेश्वरकी प्रीतिके लिए केवल यज्ञोत्सव होता है तथा वहाँ अन्य किसी प्रकारका विषय भोग नहीं है॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तादृशसुखोत्पत्तिकारणत्वेन पुनः स्वर्गाद्विशेषान्तरमाह—नेति। दोषाः स्पर्द्धा-मात्सर्य-काम-क्रोध-मदादयः; शोको विपक्षाभिभवादिकृतः, शङ्का लोकनाश-पातादिभयम्; अतएव भगवद्भजनं विना न कुत्रापि तत्रत्यानामासक्तिरित्याह-नेति। यज्ञेशस्य भगवतः प्रीत्यै ये यज्ञरूपा उत्सवास्तान् ऋते विना तत्रान्यत् विषयभोगादिकं किञ्चित् कर्म नास्ति, यदस्ति, तच्च तत्सम्वलितमेवेत्यर्थः॥५९॥

भावानुवाद—इस प्रकारकी सुख उत्पत्तिके कारण स्वर्गसे भी महर्लोककी विशेषता वर्णित हुई है। उस महर्लोकमें स्वर्गकी भाँति स्पर्धा, मात्सर्य, काम, क्रोध और मदादिरूप कोई दोष नहीं है और विपक्ष द्वारा किसी प्रकारका तिरस्कार अपमान और शोक भी नहीं

है। प्रलयके समय लोक नाश आदिकी शङ्का तथा पतनादिका भय भी नहीं है। इसलिए भगवान्‌के भजनके अलावा अन्यत्र कहीं भी उन महर्षियोंकी आसक्ति नहीं है। वहाँ भगवान् यज्ञेश्वरकी प्रीतिके लिए केवल यज्ञरूप उत्सव ही होते हैं, अन्य किसी प्रकारका उत्सव या विषयभोगादि कर्म नहीं होते। यदि कभी किसी प्रकारका भोग करना भी होता है, तो उसमें भी भगवान्‌की प्रीति सम्मिलित रहती है, किन्तु स्वर्गमें भगवत् सेवाका ऐसा सौन्दर्य नहीं है॥५९॥

किन्तु यज्ञसमाप्तौ स्याद्दुःखमन्तर्हिते प्रभौ।
वृत्ते यज्ञान्तरे चास्य प्रादुर्भावात् पुनः सुखम्॥६०॥

श्लोकानुवाद—किन्तु यज्ञ समाप्त होते ही वे श्रीयज्ञेश्वर अन्तर्हित हो जाते थे और तभी मेरे हृदयमें दुःखका सञ्चार होता था। पुनः यज्ञानुष्ठान करने पर वे प्रकट हो आते तथा उस समय मेरा दुःख भी दूरीभूत हो जाता॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीमितोऽप्युत्तमपद-प्राप्तये तल्लोक-वासे वैराग्य-कारणान्युपक्षिपति-किन्त्विति त्रिभिः। यज्ञस्य समाप्तौ सत्यां प्रभौ यज्ञेश्वरेऽन्तर्हिते सति दुःखं स्यात्, न च सेवकाधीनस्य तस्य चिरमदर्शनं तत्र स्यादित्यत आह-वृत्त इति। पुनर्यज्ञान्तरे जाते सति अस्य प्रभोः प्रादुर्भावः स्यात्तस्माच्च पुनः सुखं स्यादित्यर्थः। एवमन्तरा तत्रापि मनोदुःखं स्यादित्युद्दिष्टम्॥६०॥

भावानुवाद—अब महर्लोकसे भी उत्तम पदकी प्राप्तिके लिए महर्लोकवाससे वैराग्य उत्पन्न होनेके कारणको 'किन्तु' इत्यादि तीन श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। यज्ञ समाप्त होने पर वे श्रीयज्ञेश्वर अन्तर्हित हो जाते, तब मेरे हृदयमें दुःखका सञ्चार होता। यद्यपि वे सेवकाधीन प्रभु चिरदिनोंके लिए अन्तर्ध्यान नहीं होते अर्थात् उनके दर्शन न होनेका दुःख चिरकाल तक नहीं रहता, क्योंकि पुनः यज्ञानुष्ठान करते ही वे प्रकट हो जाते और तब पुनः मेरे हृदयमें सुखका सञ्चार हो जाता, तथापि उस महर्लोकमें भी बीच-बीचमें अर्थात् यज्ञ समाप्तिके समय भगवान्‌के दर्शन न होनेसे उत्पन्न मनका दुःख भोग करना ही पड़ता था॥६०॥

चतुर्युग–सहस्रस्य तत्रत्यैकदिनस्य हि।
अन्ते त्रैलोक्यदाहेन जनलोकोऽधिगम्यते॥६१॥

श्लोकानुवाद—एक हजार चतुर्युगके या ब्रह्माके एक दिनके अन्तमें प्रलयके समय त्रिलोक दग्ध हो जाता तथा उसके तापसे महर्लोक भी तप्त हो जाता। उस समय महर्षिगण जनलोकमें चले जाते थे॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, चतुर्युगसहस्र-प्रमाणस्य तत्रत्यस्य महर्लोकीयस्य एकस्य दिनस्य अन्तेऽवसाने सति। ब्रह्मलोकतुल्य-कालस्थायित्वान्महरादीनां त्रैलोक्यस्य दाहेन तत्तापपीड़या हेतुनेत्यर्थः। जनसंज्ञो महर्लोकोपरितनो लोकः॥६१॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं—जैसे एक हजार चतुर्युगोंका ब्रह्माका एक दिन होता है, उसी प्रकारसे महर्लोकमें भी एक हजार चतुर्युगोंका एक दिन होता है। अतएव महर्लोक भी ब्रह्मलोकके समान समय तक ही स्थायी रहता है। किन्तु ब्रह्माके दिनके अन्तमें प्रलयकाल उपस्थित होने पर श्रीसङ्कर्षणकी मुखाग्निसे जब त्रिलोक दग्ध हो जाता है, तब उसके तीव्रतापसे त्रिलोकके ऊपर स्थित महर्लोक भी तप्त हो जाता है। उस समय भृगु आदि महर्षिगण रात्रि जानकर तापके भयसे महर्लोकके ऊपर स्थित जनलोकमें चले जाते हैं॥६१॥

रजन्यामिव जातायां यज्ञाभावेन तत्र तु।
यज्ञेशादर्शनेन स्याद्दाहस्तद्दाहतोऽधिकः॥६२॥

श्लोकानुवाद—उस जनलोकमें रात्रिकाल जैसा हो जाने पर यज्ञानुष्ठान नहीं होते। यज्ञके अभावमें श्रीयज्ञेश्वरका दर्शन प्राप्त नहीं होता, उनके अदर्शनसे जो ताप होता, वह ताप प्रलयकालीन तापसे भी अधिक होता॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र जनलोके, रजन्यां भगवता सहैकार्णवे ब्रह्मणः शयनाद्रात्रौ जातायां रात्रिव्यवहारे सतीत्यर्थः। इवेति वस्तुतस्तत्र तमआद्यभावेन रात्रिसाम्यासम्भवात्। यज्ञस्य यागस्याभावेन रात्र्यावप्रवृत्त्या हेतुना यज्ञेशस्य भगवतो दर्शनं न स्यात्। तेन तस्मात्रैलोक्य-दाहक-सङ्कर्षणमुखाग्निकृताद्दाहात् तापादधिक उत्कटो दाहः स्यादित्यर्थः॥६२॥

भावानुवाद—भगवान्‌के साथ ब्रह्माके कार्णवजलमें शयनके लिए जाने पर यज्ञादिके अनुष्ठान नहीं होते, इसलिए उस समय जनलोकमें रात्रिकाल जैसा हो जाता। वस्तुतः वहाँ तमके अभावके कारण रात्रिकी भाँति अन्धकार नहीं होता। 'इव' शब्दका अर्थ यही है कि वस्तुतः वहाँ अन्धकार नहीं होता, तथापि रात्रि (शब्द)के व्यवहारके कारण यज्ञादिके अभावमें भगवान् यज्ञेश्वरका दर्शन प्राप्त नहीं होता। इसीलिए हृदयमें जो ताप उदित होता, वह ताप प्रलय कालमें श्रीसङ्कर्षणके मुखसे निकलनेवाली त्रिलोक दाहक अग्नि-तापसे भी अधिक तीव्र होता॥६२॥

ततोऽक्षयवटच्छाये क्षेत्रे श्रीपुरुषोत्तमे।
आगत्य श्रीजगन्नाथं पश्येयमिति रोचते॥६३॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के उस विरहतापको दूर करनेके लिए मेरी इच्छा होती कि मैं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रमें जाकर अक्षयवटकी छायामें सदा श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करूँ॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माद्दाहाद्धेतोः; न विद्यते प्रलयकालेऽपि क्षयो यस्य तस्य वटस्य छाया यस्मिन् तस्मिन्। एतेन तत्क्षेत्रस्य प्रलयेऽपि स्थित्वा सदा तत्र श्रीजगन्नाथदर्शनं सिध्यतीत्युक्तम्॥६३॥

भावानुवाद—अतएव उस दाह अर्थात् भगवान्‌के विरह तापकी शान्तिके लिए मेरी इच्छा होती कि मैं उस अक्षयवटकी छायामें जाऊँ जिसका प्रलयमें भी क्षय नहीं होता। अर्थात् सुस्निग्ध श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रमें जाकर श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करूँ, क्योंकि वह पुरुषोत्तमक्षेत्र प्रलयके समय भी यथावत् अवस्थित रहता है और श्रीजगन्नाथदेव भी चिर-कालके लिए वहाँ अचल-स्थिररूपमें विराजते हैं। इसलिए वहाँ सर्वदा उनका दर्शन प्राप्त होनेके कारण कभी भी विरहताप उपस्थित नहीं होता॥६३॥

महर्लोके गतेऽप्यात्मजपाद्रहसि पूर्ववत्।
सम्पाद्यमानाच्छोकः स्यादस्या भूमेर्दिदृक्षया॥६४॥

श्लोकानुवाद—महर्लोकमें रहने पर भी जब मैं पहलेकी भाँति निर्जनमें अपना मन्त्रजप करता, तब श्रीव्रजभूमिके दर्शनकी इच्छासे शोकातुर हो जाता॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वचिरादेव रजन्यां निवृत्तायां महर्लोके तादृश-यज्ञेश्वर-दर्शनाद्यानन्दो भावीति तदा तदाशयान्मेऽधुनापि पूर्ववत् सुखी स्यात्तत्राह—महरिति। अस्याः श्रीवृन्दावनरूपायाः भूमेः; एवं श्रीनीलाचलपतेस्तत्प्रियाक्रीड़माथुर-श्रीव्रजभूमेश्च सर्वतोऽधिकमनोहरमाहात्म्यं दर्श्यते॥६४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि कुछ कालके उपरान्त रात्रि बीत जाने पर उस महर्लोकमें पुनः वहाँ श्रीयज्ञेश्वरके दर्शनसे आनन्द प्राप्त होगा, अतः रात्रिमें भी पहलेकी तरह सुखी क्यों नहीं होते? इसके उत्तरमें कहते हैं—महर्लोकमें रहने पर भी जब निर्जनमें मन्त्रजप करता, उसी समय उस श्रीवृन्दावन भूमिके दर्शनकी इच्छासे शोकातुर हो जाता और विचार करता कि श्रीवृन्दावनभूमि अथवा माथुर श्रीव्रजमण्डल जो श्रीनीलाचलपतिकी प्रिय क्रीड़ाभूमि है, वह सर्वाधिक मनोहर और माहात्म्ययुक्त है। इसके द्वारा श्रीनीलाचलपति और उनके प्रिय क्रीड़ास्थल श्रीव्रजमण्डलका सर्वोत्तम मनोहर माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है॥६४॥

प्रादुर्भूतोऽथ भगवानिज्यमानो दयानिधिः।
यदा मामाह्वयेत् प्रीत्या मन्नीतं लीलयात्ति च॥६५॥
तदानीयेत सर्वार्तिस्तमः सूर्योदये यथा।
रात्रावपि तदेकाशाबद्धो नेशे क्वचिद्गतौ॥६६॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् दयानिधि भगवान् यज्ञेश्वर प्रकट होकर जब मुझे सादर आह्वान करते और मेरे द्वारा प्रदत्त उपहार प्रीतिसहित ग्रहण करते, उस समय सूर्योदय द्वारा अन्धकार नाशकी भाँति मेरा समस्त ताप दूर हो जाता। इस प्रकार रात्रिमें भी पुनः दर्शनकी आशासे समस्त दुःख प्रशमित हो जाता॥६५-६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवञ्चेत्तर्हि कथं तत्र तादृशं सुखं वर्णितम्? तत्राह—प्रादुरिति द्वाभ्याम्। अथ महर्लोकगमनानन्तरं मयानीतं तत् समर्पणायोपनीतं

भोग्यद्रव्यम्। ननु रात्रौ दुःखस्यावश्यम्भावितोक्ता; सत्यं, तदपि तदाशया न गण्यत इत्याह—रात्राविति। अपि-शब्दस्यायमर्थः—तादृश-यज्ञेश्वर-सन्दर्शन-तदीयपूजोत्सव-तत्कारुण्यभरानन्देन दिवा कुत्रापि गमनशक्तिरिच्छा च न स्यादेव; रात्रौ सत्यामपि तस्मिन् तादृश यज्ञेश्वर-सन्दर्शन-पूजोत्सव-कारुण्यविशेष एकस्मिन्नेव एका अव्यवहिता वा या आशा तया बद्धः रज्वेव शृङ्खलितः सन्; अतएव क्वचित् कुत्रापि स्थानान्तरे पुरुषोत्तमादौ गतौ गन्तुमित्यर्थः। किंवा गतेर्ज्ञानार्थत्वात् तदन्यत् किञ्चिदनुसन्धातुमित्यर्थः। नेशे न शक्नोमि। परमसुखलाभाशया तद्दुःखं हृदि न समुन्मीलतीति भावः॥६५-६६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीव्रजभूमिके प्रति शोकातुर होने पर आपने महर्लोकका माहात्म्य और वहाँके सुखका अनुभव कैसे वर्णन किया? इसके समाधानके लिए 'प्रादुर्भू' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। तत्पश्चात् रात बीत जाने पर दयानिधि भगवान् श्रीयज्ञेश्वर प्रकट होकर पहलेकी भाँति पूजित होकर जब मुझे सादर आह्वान करते और मेरे द्वारा प्रदत्त भोज्यद्रव्य सादर भोजन करते, तब सूर्योदयसे अन्धकार विनाशकी भाँति मेरे शोकादि समस्त दुःख दूर हो जाते। यदि कहो कि यह सत्य है कि रात्रिमें वहाँ पर यज्ञादिके अभावमें उनके अदर्शनसे उत्पन्न दुःख अवश्यम्भावी है, किन्तु वह दुःख गणनाके योग्य नहीं है; क्योंकि रात्रिके अन्तमें पुनः श्रीयज्ञेश्वरके वैसे दर्शनकी आशासे समस्त दुःख प्रशमित रहता।

यहाँ 'अपि' शब्दका अर्थ है—रात्रिके समय हृदयमें इस प्रकारकी उत्सुकता होती कि शीघ्र ही प्रातःकाल होगा, शीघ्र ही भगवान्का दर्शन होगा और पुनः वैसे पूजा-उत्सव होंगे तथा उनकी विशेष करुणाको प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलेगा। इस प्रकारकी आशा-रज्जु द्वारा बन्धनेसे वह दुःख चित्तमें पूर्णता परिस्फुटित नहीं होता। अर्थात् यह उत्सुकता ही मेरे सुखका कारण होती, इसलिए मैं श्रीवृन्दावन या श्रीपुरुषोत्तम कहीं भी जानेमें समर्थ नहीं होता। दिनके समय मैं यज्ञेश्वरका साक्षात् दर्शन करता और उनका पूजा-उत्सव दर्शन करने पर और विशेषतः जब वे मेरे प्रति अत्यधिक करुणा प्रकाश करते, तो मैं अपने-आपको ही भूल जाता। इसलिए मैं कहीं भी जानेमें समर्थ नहीं हुआ, यहाँ तक कि कहीं जानेकी इच्छा भी न कर सका।

इस प्रकार परमसुख प्राप्त करनेकी आशासे वह दुःख हृदयमें सम्पूर्णता स्फुरित नहीं होता—यही भावार्थ है॥६५–६६॥

तत्रैकदा महातेजःपुञ्जरूपो दिगम्बरः।
पाञ्चशाब्दिकबालाभः कोऽप्यागादूर्ध्वलोकतः॥६७॥

श्लोकानुवाद—एक समय महा–तेजपुञ्ज कलेवरके दिगम्बर, पाँच वर्षके बालकके समान प्रतीत होनेवाले कोई पुरुष ऊर्ध्वलोकसे वहाँ आये॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं महर्लोकवासिनां प्रलये जनलोके गमनेन प्रायो द्वयोरनयोर्लोकयोरभेदोऽभिप्रेतः। यश्च दाहपीड़ा–पलायनाद्यभावेन जनलोके कश्चिद्–विशेषोऽस्ति, सोऽपि तत्र गमनेनानुभूत एव। अत इदानीं तदुपरि तपोलोकगमनहेतुत्वेन तत्रत्यानां माहात्म्यमुपक्षिपति—तत्र्येत्यादिनागतोऽपि चेत्यन्तेन। अत्र महर्लोके; एकदा कदाचित्। ऊर्ध्वलोकतः तपोलोकादिति नामानिर्द्देशस्तदानीमज्ञानात्; कोऽप्येक आगादायातः। कीदृशः? पञ्च षट् वा पञ्चषाः, ते च तेऽब्दाश्चेति तत्सम्बन्धी तादृशवयसि वर्त्तमान इत्यर्थः। एवम्भूतो यो बालस्तदाभस्तत्सदृशः, अतएव दिगम्बरो नग्नः॥६७॥

भावानुवाद—यद्यपि इस प्रकारसे महर्लोक और जनलोकमें प्रायः कोई भेद नहीं है, तथापि महर्लोकवासी प्रलयके समय जनलोकमें चले जाते हैं, इसलिए जनलोककी कुछ विशेषता है। वह विशेषता यह है कि महर्लोकके वासियोंकी भाँति जनलोकके वासियोंमें प्रलयकालीन दाह–पीड़ादि भयसे आक्रान्त होकर स्थान परिवर्त्तनादि चेष्टाका अभाव है। मैंने वहाँ जाकर यह अनुभव किया। अब उस जनलोकके ऊपर स्थित तपोलोकमें जानेका कारण और उस तपोलोकका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। किसी समय महा–तेजपुञ्ज कलेवरसे युक्त दिगम्बर अर्थात् नग्न शरीरवाले पाँच वर्षके बालकके समान प्रतीत होनेवाले कोई महापुरुष ऊर्ध्वलोकसे महर्लोकमें आये। ऊर्ध्वलोक कहनेका तात्पर्य यह है कि तब मैं तपोलोकके सम्बन्धमें कुछ भी जानता नहीं था, इसलिए नाम निर्देश न कर ऊर्ध्वलोक कहा। वस्तुतः इन महापुरुषका आगमन ही श्रीगोपकुमारके तपोलोक गमनके कारणको सूचित करता है॥६७॥

विहाय यज्ञकर्माणि भक्त्योत्थाय महर्षिभिः।
प्रणम्य ध्याननिष्ठोऽसौ यज्ञेश्वरवदर्चितः ॥६८॥

श्लोकानुवाद—उन्हें देखते ही महर्षियोंने यज्ञादि अनुष्ठानका त्यागकर दण्डवत् प्रणाम किया और भक्तिपूर्वक उन ध्याननिष्ठ पुरुषकी यज्ञेश्वरके अनुरूप ही सम्मान प्रदर्शनकर पूजा की॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च महर्षिभिर्भृग्वादिभिरसौ कुमारोऽर्चितः। ध्यान-निष्ठोऽन्तर्मना इत्यनेन किञ्चित् सम्भाषणमपि न वृत्तमित्यूह्यम्॥६८॥

भावानुवाद—तब उन कुमारका दर्शनकर भृगु आदि महर्षियोंने यज्ञानुष्ठान परित्यागकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और भक्तिपूर्वक यज्ञेश्वरकी भाँति उनकी पूजा की। वे ध्याननिष्ठ अर्थात् अन्तर्मन थे, इस कारण उन्होंने महर्षियोंके साथ किसी प्रकारकी वार्त्ता नहीं की॥६८॥

यथाकामं गते तस्मिन् मया पृष्टा महर्षयः।
कुत्रत्यः कतमो वायं भवद्भिर्वार्चितः कथम्॥६९॥

श्लोकानुवाद—उन स्वच्छन्दचारी कुमारके प्रस्थान करने पर मैंने महर्षियोंसे पूछा—वे बालक कौन थे? वे कहाँ वास करते हैं और आपने उस बालककी पूजा क्यों की?॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यथाकामं सर्वत्राविहतगतित्वेन स्वच्छन्दवर्तित्वात् स्वेच्छानुसारेण तस्मिन् कुमारे गते प्रस्थिते सति; किं पृष्टास्तदाह—कुत्रत्य इति। कथमिति देवपूज्यानां सर्वोपरिवर्त्तमानानां साक्षाच्छ्रीयज्ञेश्वर पूजामहोत्सववतां पूज्यः कोऽपि न सम्भवति, तत् कथं भगवत्पूजाकर्माण्यपि परिहृत्यायमर्चित इत्यर्थः॥६९॥

भावानुवाद—सर्वत्र बिना किसी बाधाके स्वच्छन्द विचरण करनेवाले वे कुमार स्वेच्छापूर्वक महर्लोकसे प्रस्थान कर गये। तत्पश्चात् मैंने महर्षियोंसे पूछा—हे महर्षिगण! आपलोग तो देवताओंके भी पूजनीय हैं और सबसे श्रेष्ठ पद पर आसीन हैं तथा साक्षात् श्रीयज्ञेश्वरके पूजा-महोत्सवमें रत हैं, अतः आपका कोई और भी पूज्य है—यह असम्भव है। आश्चर्यकी बात यह है कि आपने इस दिगम्बर बालकको श्रीयज्ञेश्वरकी भाँति सम्मान प्रदर्शित किया, यहाँ तक कि

भगवत्-पूजादि परित्याग कर उनकी अर्चना की। इसलिए मैं कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ अतएव कृपापूर्वक बतलाइये ये बालक कौन हैं और कहाँ वास करते हैं?॥६९॥

सनत्कुमारनामायं ज्येष्ठोऽस्माकं महत्तमः।
आत्मारामाप्तकामानामाद्याचार्यो बृहद्व्रतः॥७०॥

श्लोकानुवाद—श्रीमहर्षियोंने कहा—इनका नाम श्रीसनत्कुमार है। ये हममें ज्येष्ठ और महान हैं, आत्माराम और आप्तकामजनोंके आदि आचार्य हैं तथा बृहद्-व्रती अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्माकं ब्रह्मपुत्राणां मध्ये ज्येष्ठोऽग्रजो भ्राता, न च केवलमेतावत्, सर्वैर्गुणैरपि महत्तमः। तदेवाह—आत्मारामाणामाप्तकामानाञ्च आद्यः प्रथम आचार्यस्तन्मार्गप्रदर्शकः, बृहद्व्रतो नैष्ठिकब्रह्मचर्यनिष्ठः। एवं कतम इत्युत्तरितम्॥७०॥

भावानुवाद—श्रीमहर्षियोंने कहा—हम सभी ब्रह्माके पुत्र हैं और ये हम सबमें ज्येष्ठ हैं। अतएव ये हमारे बड़े भाई हैं, केवल बड़े ही नहीं सभी गुणोंमें भी ये हमसे महान हैं। ये आत्माराम और आप्तकामजनोंके भी मूल आचार्य और उनके पथ-प्रदर्शक तथा बृहद्-व्रती अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। इनका नाम श्रीसनत्कुमार है॥७०॥

इत ऊर्ध्वतरे लोके तपःसंज्ञे वसत्यसौ।
भ्रातृभिस्त्रिभिरन्यैश्च योगीन्द्रैः स्वसमैः सह॥७१॥

श्लोकानुवाद—इस महर्लोकसे ऊपर स्थित जनलोकके भी ऊपर जो तपोलोक है, ये वहाँ पर वास करते हैं। वहाँ इनके और भी तीन भाई हैं, वे भी इनकी भाँति योगीन्द्र हैं॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुत्रत्य इत्युत्तरयन्ति—महर्लोकादूर्ध्वतरे परमोर्ध्वजनलोकादप्युपरीत्यर्थः। असौ सनत्कुमारः; ननु किमेकलमेव? नेत्याहुः—भ्रातृभिरिति। स्वसमैः सनत्कुमारतुल्यैस्त्रिभिर्भ्रातृभिः सनक-सनन्दन सनातनैः सह। तथान्यैश्च स्वसमैरेव योगीन्द्रैः योगीश्वरैः कविहव्यन्तरीक्ष-प्रबुद्धपिप्पलायनादिभिः सह॥७१॥

भावानुवाद—ये कहाँ वास करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—इस महर्लोकसे ऊपर स्थित जनलोकके भी ऊपर जो लोक है, ये वहाँ वास करते हैं। उस स्थानका नाम तपोलोक है। यदि कहो कि श्रीसनत्कुमार क्या उस लोकमें अकेले ही रहते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, वहाँ इनके और भी तीन भाई हैं। वे तीन भाई भी इन श्रीसनत्कुमारकी भाँति योगीन्द्र हैं। उन तीन भाईयोंके नाम हैं—सनक, सनन्दन और सनातन। वहाँ पर इनकी भाँति और भी अनेक योगीन्द्र वास करते हैं—जैसे कवि, हवि, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन आदि॥७१॥

बृहद्व्रतैकलभ्यो यः क्षेमं यस्मिन् सदा सुखम्।
प्राजापत्यात् सुखात् कोटिगुणितं चोर्ध्वरेतसम्॥७२॥

श्लोकानुवाद—वह तपोलोक केवल नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रतके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वहाँ सर्वदा क्षेम (मङ्गल) और सुख विद्यमान है तथा वहाँ ऊर्ध्वरेतजनों द्वारा प्राप्त होनेवाला जो सुख है, वह प्रजापति सुखसे भी कोटिगुणा अधिक है॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषामेव माहात्म्य-निरूपणाय तल्लोकमाहात्म्यमतिदिशति-बृहदिति, बृहता व्रतेन नैष्ठिकब्रह्मचर्येणैवैकेन लभ्यः लब्धुं शक्यः। अतएव महर्जनलोकाभ्यां वैशिष्ट्यं दर्शयति—यस्मिन् तपोलोके सदा क्षेमम्, महर्लोके उष्मपीड़ा-पलायनादि, जनलोके च त्रिलोकीदाहाद्यक्षेमदर्शनेनाक्षेममेव, तत्र तु तत्तदभावेन निरन्तरं कल्याणमेवेत्यर्थः। अतएव यस्मिन् ऊर्ध्वरेतसं ऊर्ध्वरेतसां योग्यम्, तैरनुभवनीयं वा। प्राजापत्यान्महर्लोके प्रजापतिभिरनुभवनीयात् सुखात् कोटिगुणैरधिकं सुखं स्यादित्यर्थः॥७२॥

भावानुवाद—श्रीसनत्कुमारके माहात्म्य-वर्णन द्वारा उस लोकमें वास करनेवालोंका माहात्म्य निरूपण हुआ है। वह तपोलोक केवल बृहद्व्रत अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा ही प्राप्त होता है। अतएव महर्लोक और जनलोकसे भी तपोलोकका वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है। उस तपोलोकमें सर्वदा ही क्षेम (मङ्गल) विद्यमान है। महर्लोकमें ऊष्मा अर्थात् प्रलयकालीन ताप-पीड़ादिके भयसे स्थानका त्याग करने जैसा अमङ्गल है। जनलोकमें यद्यपि वैसा प्रलय-ताप नहीं है, तथापि

त्रिलोक दाहादि रूप अमङ्गलसे उत्पन्न मन-पीड़ा है। किन्तु तपोलोकमें वैसी समस्त पीड़ाओंके अभावके कारण निरन्तर ही कल्याण विराजमान है। अतएव वह तपोलोक केवल ऊर्ध्वरेता योगीन्द्रजनोंके योग्य स्थान है। उस तपोलोकमें महर्लोक स्थित प्रजापतिसुखसे भी कोटिगुणा अधिक सुखका अनुभव होता है॥७२॥

यथा यज्ञेश्वरः पूज्यस्तथायञ्च विशेषतः।
गृहस्थानामिवास्माकं स्वकृत्यत्यागतोऽपि च॥७३॥

श्लोकानुवाद—हमारे जैसे गृहस्थोंके लिए श्रीयज्ञेश्वर जिस प्रकार पूज्य हैं, ये श्रीसनत्कुमार भी उसी प्रकार पूजनीय हैं। विशेषतः वे श्रीभगवान्के अवतार और परमभागवत हैं, इसलिए हमने यज्ञादि अनुष्ठानोंको त्यागकर भी इनकी पूजा की है॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथमर्चित इत्युत्तरयन्ति—यथेति। तथायं सनत्कुमारोऽपि सर्वेषामपि पूज्यः, अतिथित्वेन भगवद्रूपत्वात्तस्य स्वतो भगवदवतारत्वात् परम-भागवतत्वाच्च। तत्र च विशेषत आधिक्येन अस्माकं स्वकृत्यस्य निजावश्यकर्त्तव्यस्य त्यागेनापि पूज्यः। तत्र हेतुः—'गृहस्थानाम्' इति। गृहिणामतिथिसेवाया आवश्यकत्वात्, गार्हस्थ्यान्नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यस्य श्रैष्ठ्याच्चेति दिक्। इवेति वस्तुतो भगवद्यज्ञनिष्ठानां तेषां गृहाद्यासक्त्यभावात्॥७३॥

भावानुवाद—भगवान्की पूजा त्यागकर इस दिगम्बर बालककी अर्चना क्यों की? इसके उत्तरमें कहते हैं—भगवान् श्रीयज्ञेश्वर जिस प्रकार सबके पूज्य हैं, उसी प्रकार श्रीसनत्कुमार भी सबके पूज्य हैं। इसका कारण है कि अतिथि भगवान्का स्वरूप होते हैं, विशेषतः ये श्रीसनत्कुमार स्वतः श्रीभगवान्के शक्त्यावेश अवतार और भगवद्भक्त—परम भागवत भी हैं हमसे समस्त विषयोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण हमने अपना अवश्य कर्त्तव्य कर्म—भगवान्की पूजाका परित्याग कर उनकी अर्चना की। हमारे जैसे समस्त गृहस्थोंका अतिथि-सेवा करना अवश्य कर्त्तव्य है, क्योंकि सर्वत्र ऐसा कहा गया है कि गृहस्थकी तुलनामें नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्रेष्ठ है। वस्तुतः महर्लोकवासी भृगु जैसे महर्षियोंकी कभी भी गृहादिमें आसक्ति नहीं थी, वे भगवान्में प्रीतियुक्त यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण थे। इसलिए मूल श्लोकमें 'इव' शब्दका प्रयोग हुआ है॥७३॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

ततोऽकार्षमहं चित्ते तत्राहो कीदृशं सुखम्।
ईदृशाः कति वान्ये स्युरेषां पूज्यश्च कीदृशः॥७४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—यह सुनकर मैंने मन-ही-मन विचार किया कि उस तपोलोकमें कैसा सुख है? वहाँ पर इन सनत्कुमारकी भाँति कितने योगीन्द्र वास करते हैं तथा उनके पूजनीय श्रीभगवान् कैसे हैं?॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तैरुक्तं श्रुत्वा तत्र गमनमध्यवस्यति—तत इति। तस्मात् तेषां वचनात् ईदृशाः सनत्कुमारसदृशाः। नन्वेवमपि जगदीशदिदृक्षापरस्य ते तत्र गमनं नोपपद्यते। तत्र चिन्तयति—एषामिति। अयमर्थः—एते तावदीशमाहात्म्यवन्त एषाञ्च पूज्योऽवश्यमेतेभ्योऽप्युत्कृष्ट-परम-माहात्म्यवान् भविता; अतः स एव तत्र गत्वा द्रष्टुं योग्य इति॥७४॥

भावानुवाद—इन सब बातोंको सुनकर वहाँ जानेके उद्देश्यसे मैंने मन-ही-मन विचार किया कि उस तपोलोकमें किस प्रकारका सुख है? इन सनत्कुमारके समान और कितने योगीन्द्र वहाँ पर वास करते हैं तथा उनके पूजनीय श्रीभगवान् किस प्रकारके हैं? विशेषतः जब ये योगीन्द्र स्वयं ही भगवान् जैसी महिमासे युक्त हैं, तब इनके पूज्य ईश्वर भी अवश्य ही इनकी तुलनामें भी किसी विशेष श्रेष्ठ माहात्म्यसे युक्त होंगे। अतएव उस लोकमें जाकर वैसे भगवान्का दर्शन करना कर्त्तव्य है॥७४॥

एवं ताञ्चदिदृक्षुः सन् समाहितमना जपन्।
भूत्वा परमतेजस्वी तं लोकं वेगतोऽगमम्॥७५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार उनके दर्शनकी इच्छासे मैं एकाग्र चित्तसे अपने मन्त्रका जप करने लगा। जपके प्रभावसे मैं भी सनत्कुमारके समान परम तेजस्वी हो गया और अतिवेगपूर्वक उस तपोलोकमें पहुँच गया॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमीदृगविमर्षेण तान् सनकादीन् तञ्च तेषां पूज्यं द्रष्टुमिच्छुस्तत्सङ्कल्पेनेत्यर्थः। समाहितमनास्तदेकार्पितचित्तः सन्; यद्वा, सनत्कुमारस्य ध्याननिष्ठतादृष्ट्या समाधिमेव तल्लोकप्राप्तिसाधनं मन्यमानः अन्तर्दृष्टिः सन्नित्यर्थः।

जपन् निजमन्त्रजपं कुर्वन् परमतेजस्वी तल्लोकगमनयोग्यतायै सनत्कुमारादि-वन्महातेजोयक्तो भूत्वा तं तपःसंज्ञं लोकं वेगतो जवेनागमं प्राप्तोऽहम्॥७५॥

भावानुवाद—इस प्रकार विचारकर मैं उन सनकादि कुमारोंका और उनके पूज्य ईश्वरका दर्शन करनेके लिए संकल्पपूर्वक एकाग्र चित्तसे अर्थात् भगवदर्पित-मनसे अपने इष्टमन्त्रका जप करने लगा। अथवा श्रीसनत्कुमारकी ध्याननिष्ठाका दर्शनकर मैंने अनुमान लगाया कि समाधि ही उस लोककी प्राप्तिका एकमात्र साधन है, इसलिए अन्तर्दृष्टिसम्पन्न होकर अपने मन्त्रका जप करते-करते मैं उस लोकको जानेके उपयोगी अर्थात् सनत्कुमारादिके समान परम तेजस्वी हो गया, तत्पश्चात् अत्यन्त वेगपूर्वक अतिशीघ्र ही उस तपोलोकमें पहुँच गया॥७५॥

तत्र दृष्टो मया श्रीमान् सनकोऽथ सनन्दनः।
असौ सनत्कुमारोऽपि चतुर्थश्च सनातनः॥७६॥

श्लोकानुवाद—उस तपोलोकमें मैंने श्रीमान् सनक, सनन्दन और जिनको पहले देखा था उन सनत्कुमार तथा चतुर्थ सनातनके दर्शन किये॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तपोलोके; असौ महर्लोके दृष्टो यः सोऽपि, स्वेच्छाचारित्वेन पुनर्निजस्थाने समागमनात्॥७६॥

भावानुवाद—उस तपोलोकमें मैंने श्रीमान् सनक, सनातन, सनन्दन और जिनका पहले महर्लोकमें दर्शन किया था, उन श्रीसनत्कुमारके भी दर्शन किये। स्वच्छन्द विचरणकारी होनेसे वे सनत्कुमार पुनः वहाँ पहुँच चुके थे॥७६॥

सम्मन्यमानास्तत्रत्यैस्तादृशैरेव ते मिथः।
सुखगोष्ठीं वितन्वानाः सन्त्यगम्यां हि मादृशैः॥७७॥

श्लोकानुवाद—मैंने और भी देखा कि तपोलोकवासी भगवान्के अवतार उन सनकादिका सम्मान कर रहे थे तथा वे (कुमार) भी परस्पर सुखपूर्वक कथावार्त्ता कह रहे थे। उनकी उस सुखगोष्ठीको अल्पज्ञ (मूर्ख) होनेके कारण मैं समझ नहीं सका॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानेव चतुरो वर्णयति—सम्मन्यमाना इति। तादृशैः सनकादिसदृशैरेव तत्रत्यैस्तल्लोकवासिभिः। सम्यग्भगवदवतारत्वेन तद्दृष्ट्या पूज्यमानाः सन्तः। तेषां चरितमाह—मिथोऽन्योन्यं सुखेन सुखरूपां वा गोष्ठीं संलापं वितन्वाना विस्तारेण कुर्वाणा इति। एषां परस्परं गोष्ठी च दशमस्कन्धे श्रुतिस्तुतौ प्रसिद्धा। सा कीदृशीत्यपेक्षायामाह—मादृशैर्मत्सदृशैरल्पज्ञैर्जनैर्नूतनवैष्णवैर्वा अगम्यां बोद्धु-मशक्यामित्यर्थः। अतएव मुक्तिभक्त्यादिज्ञानं तत्र न किमपि वृत्तमिति ज्ञेयम्॥७७॥

भावानुवाद—तदनन्तर उन चारों भाईयोंका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। मैंने देखा कि तपोलोकवासी सनकादि चार भ्राताओंके समान माहात्म्ययुक्त होने पर भी उन सनकादि कुमारोंको भगवान्‌का अवतार मानकर पूजा कर रहे थे तथा वे चार कुमार भी परस्पर आनन्दसहित इष्टगोष्ठी कर रहे थे। इस प्रकारकी परस्पर इष्टगोष्ठीका विषय दशम-स्कन्धके वेदस्तुति नामक अध्यायमें प्रसिद्ध है। यदि कहो की वह इष्टगोष्ठी किस प्रकारकी थी? इसके लिए कहते हैं—वह मेरे जैसे अल्पज्ञ या नवीन वैष्णवके लिए धारणा शक्तिसे अतीत थी। अतएव वह गोष्ठी मुक्ति, भुक्ति विषयक थी या नहीं—इस सम्बन्धमें मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था॥७७॥

भगवल्लक्षणं तेषु तादृङ्नास्ति तथाप्यभूत्।
तेषां सन्दर्शनात्तत्र महान्मोदो मम स्वतः॥७८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि वे (सनकादि कुमार) भगवान्‌के जैसे लक्षणोंसे युक्त नहीं थे, तथापि उनके दर्शनोंसे स्वतः ही हृदयमें अपार आनन्द होता था॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु जगदीशसन्दर्शनरतस्य ते किमन्यदर्शनेन? तत्र सुखाभावात्। सत्यम्, भगवत्तासम्बन्धेनैव तत्रापि तदभूदित्याह—भगवदिति। यद्यपि तेषु सनकादिषु नैष्ठिकब्रह्मचारिवेशधारिषु तादृगसाधारणं प्रकटं वा भगवतो लक्षणं चतुर्भुजत्वादिकं परमैश्वर्यवैभवादिकञ्च नास्ति, तथापि तेषां सनकादीनां चतुर्णां दर्शनान्मम महान् मोदो हर्षोऽभूत्। स्वत इत्यनेन भगवदवताराणां परमानन्दक-स्वभावतो वोक्ता। स च तत्र तपोलोक एव, न तु पूर्वं महर्लोके सनत्कुमारस्य दर्शनादिति तल्लोकस्वाभाविकमाहात्म्यं दर्शितम्। एवं सर्वत्रैव स्थानविशेषस्य कालविशेषस्याधिकारि-विशेषस्य च माहात्म्यविशेषो द्रष्टव्यः॥७८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सदा जगदीशके सन्दर्शनमें रत रहने पर भी किसलिए अन्य दर्शनकी इच्छा हुई? तब क्या उन जगदीशके दर्शनमें सुखका अभाव था? यह बात सत्य है, जगदीशकी भगवत्ताके सम्बन्धमें मेरी कोई शङ्का नहीं थी, तथापि सनकादिके दर्शन भी अभूतपूर्व थे।

यद्यपि वे सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारीके वेशमें थे और भगवत्ताके असाधारण चिह्न उनमें प्रकट नहीं थे, अर्थात् चतुर्भुजादि असाधारण लक्षण और शंख, चक्रादि परम ऐश्वर्यमय वैभवादि भी उनमें प्रकट नहीं थे, तथापि उन सनकादि चारों भाईयोंका दर्शन करनेसे मेरे हृदयमें स्वतः ही महान आनन्द उदित होता। यहाँ 'स्वतः' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌के अवतार होनेके कारण स्वभावतः ही वे परमानन्द स्वरूप थे तथा तपोलोकका भी ऐसा ही स्वभाव था। अन्यथा पहले महर्लोकमें जब मैंने इन श्रीसनत्कुमारका दर्शन किया था, तब वहाँ पर ऐसा आनन्द उदित नहीं हुआ था, केवल इस तपोलोकमें ही उनके दर्शनोंसे विलक्षण आनन्द पाया जाता है। इसके द्वारा तपोलोकका स्वाभाविक माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है। इस प्रकार सर्वत्र ही स्थानविशेष, कालविशेष और अधिकारीविशेषका माहात्म्य देखा जाता है॥७८॥

यथास्थानं प्रयातेषु ध्याननिष्ठेषु तेष्वथ।
द्रष्टुं भ्रमामि सम्भाव्य पूर्ववज्जगदीश्वरम्॥७९॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् ध्याननिष्ठ सनकादि योगीन्द्रगण अपने-अपने स्थानों पर चले गये। मैंने मन-ही-मन विचार किया कि स्वर्ग आदिकी भाँति यहाँ भी श्रीभगवान् प्रकटरूपसे विराजते होंगे, इसी अभिप्रायसे मैं इधर-उधर भ्रमण करने लगा॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथानन्तरं तेषु पूज्यपूजकेषु सर्वेषु यथास्थानं निजनिजावासं प्रकर्षेणान्तर्धानगत्या यातेषु सत्सु जगदीश्वरं पूर्ववत्तत्र सम्भाव्य यथा स्वर्लोके महर्लोके च वर्तते, तथात्र कुत्रापि निगूढ़ास्पदेऽवश्यं विद्यत इति सम्भावनां कृत्वा द्रष्टुमितस्ततस्तल्लोके भ्रमामीत्यर्थः। ननु ते किं न पृष्टाः? तत्राह—ध्याननिष्ठेष्विति।

पूजासमये तत्रत्ययोगीन्द्रगणसमागमेन विविक्तत्वाभावात्तदानीं मिथो गोष्ठीमकुर्वन्, पश्चाच्च प्रायो ध्याननिष्ठत्वात्तदर्थं स्वस्वस्थानं गता इत्यवसराभावान्न प्रश्नः कृत इत्यर्थः ॥७९ ॥

भावानुवाद—इसके उपरान्त पूज्य सनकादि योगीन्द्रगण और पूजक अर्थात् उस लोकके वासी अन्य योगीन्द्रगण अन्तर्धान शक्तिके बलसे अपने-अपने आवास स्थानोंको चले गये। तब मैंने मन-ही-मन विचार किया कि जिस प्रकार स्वर्गलोक और महर्लोकमें प्रकटरूपसे श्रीजगदीश विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार इस तपोलोकमें भी भगवान् अवश्य ही किसी निगूढ़ स्थान पर विराजमान होंगे तथा अनुसन्धान करनेसे अवश्य ही उनके दर्शन प्राप्त होंगे। इस प्रकारकी आशासे मैं उस तपोलोकमें इधर-उधर भ्रमण करने लगा। यदि कहो कि योगीन्द्रगणोंसे ही क्यों नहीं पूछ लिया? इसके लिए कहते हैं—वे ध्याननिष्ठ थे, इसलिए उनसे कुछ पूछनेका अवसर ही नहीं मिला। केवल पूजाके समय वहाँ रहनेवाले योगीन्द्रगण एकत्र होते और निर्जनता भङ्गकर परस्पर सुखगोष्ठीमें प्रवृत्त हो जाते। उसके पश्चात् प्रायः ध्याननिष्ठाके प्रभावसे वे सब अपने-अपने स्थानोंको चले जाते, इसलिए मुझे किसीसे भी पूछनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ॥७९॥

इतस्ततो न दृष्ट्वा तमपृच्छं तान् महामुनीन्।
न ते स्तुवन्तं मामग्रे नमन्तं लोकयन्त्यपि॥८०॥

श्लोकानुवाद—इधर-उधर भ्रमण करने पर भी जब मुझे श्रीजगदीश्वरके दर्शन प्राप्त नहीं हुए, तब अन्य कोई उपाय न देख मैंने उनके सम्बन्धमें महामुनियोंसे पूछा, किन्तु मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। यहाँ तक कि उनके सामने दण्डवत् होकर स्तवादि करने पर भी उन्होंने मेरी ओर देखा तक नहीं॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं जगदीश्वरं तानपृच्छम्; अत्र जगदीश्वरः कुत्रास्तीति प्रश्नमकार्षम्। अस्तु तावत्ते प्रत्युत्तरं ददुः, प्रत्युत मामग्रे स्थितं स्तुवन्तं नमन्तञ्च न लोकयन्ति न पश्यन्त्यपि॥८०॥

भावानुवाद—जब इधर-उधर भ्रमण करने पर भी मुझे श्रीजगदीश्वरका दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, तब मैंने उन महामुनियोंसे पूछा—इस

तपोलोकमें श्रीजगदीश्वर कहाँ विराजते हैं? मेरे द्वारा प्रश्न करने पर उत्तर देना तो दूर रहा, उन्होंने मेरी ओर देखा तक नहीं, यहाँ तक कि मेरे द्वारा उनके सामने दण्डवत् होकर स्तव प्रणाम आदि करते रहने पर भी उन्होंने मेरी ओर नहीं देखा॥८०॥

प्रायः सर्वे समाधिस्था नैष्ठिका ऊर्ध्वरेतसः।
स्वात्मारामाः पूर्णकामाः सेव्यमानाश्च सिद्धिभिः॥८१॥

श्लोकानुवाद—वे प्रायः समाधिस्थ रहते थे तथा कभी-कभी परस्पर प्रियगोष्ठी या बाह्य पूजादि करते थे। वे नैष्ठिक, ऊर्ध्वरेता, आत्माराम, पूर्णकाम तथा अणिमादि सिद्धियोंके द्वारा सेव्यमान थे॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—प्राय इति। कदाचिदेव मिथो गोष्ठीं बहिः पूजाञ्च कुर्वन्तीत्यर्थः। स्वेनात्मनैव आ सम्यग्रमन्ते इत्यात्मारामा अनन्यरतय इत्यर्थः। यतः पूर्णः सिद्धः समाप्तो वा कामो वाञ्छा येषां ते। ऊर्ध्वरेतषामात्मारामाणाञ्च लक्षणमुक्तम्। अतएव सिद्धिभिरणिमादिभिर्मूर्त्तिमतीभिः सेव्यमानाः परिचर्यमाणाः॥८१॥

भावानुवाद—मुनियोंका मेरे प्रति दृष्टिपात न करनेका कारण 'प्रायः' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। वे मुनिगण प्रायः समाधिमें ही रहते थे और कभी-कभी परस्पर इष्टगोष्ठी और बाह्य पूजादि करते थे। इसका कारण था कि वे सभी ऊर्ध्वरेतागण आत्मामें रमण करते थे, इसलिए वे अनन्यरतिसे युक्त थे अर्थात् आत्माके अलावा अन्य किसी भी विषयमें उनका मनोयोग नहीं था। विशेषतः उनकी सारी कामनाएँ-वासनाएँ समाप्त होनेके कारण वे पूर्णकाम थे। यहाँ तक कि अणिमा आदि समस्त सिद्धियाँ मूर्त्तिमान होकर उनकी सेवा करती थीं॥८१॥

भगवद्दर्शनाशा च महती फलिता न मे।
उताभूद्विरमन्तीव तेषां सङ्ग-स्वभावतः॥८२॥

श्लोकानुवाद—वहाँ मेरी भगवान्के दर्शनकी अभिलाषा फलीभूत नहीं हुई, अपितु आत्मारामगणोंके संसर्गवशतः मेरी वह आशा क्षीण होने लगी॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवञ्च भगवतो दर्शने या आशा, सा मे न फलिता सिद्धा, तत्र तद्दर्शनासम्पत्तेः। महती चिरकालानुवृत्त्या दीर्घेत्यर्थः। उत प्रत्युत तेषां तैरात्मारामैर्यः सङ्गस्तस्य स्वभावतः सहजधर्माद्विरमन्ती क्षीयमाणेव साशाभूत्॥८२॥

भावानुवाद—बहुत समयसे मैं जो भगवान्‌के दर्शनकी महान आशाका पोषण करता आ रहा था, वहाँ वह आशा फलीभूत या सिद्ध नहीं हुई, अपितु आत्मारामगणोंके संगवशतः मेरी चिरकालसे पोषित वह आशा क्रमशः क्षीण होने लगी। जो आत्माराम हैं, उनके सङ्गसे स्वभावतः सहजधर्म अर्थात् भगवान्‌के दर्शन-रमणादिकी इच्छा सब कुछ शान्त हो जाती है, इसलिए मेरी वैसी आशा भी क्षीण होने लगी॥८२॥

तत्राथाप्यवसं तेषां प्रभावभर-दर्शनात्।
गुरुवाग्गौरवाद्दृष्टफलत्वाच्चात्यजन् जपम्॥८३॥

श्लोकानुवाद—तथापि मैं उस तपोलोकमें ही वास करने लगा। उन मुनियोंके प्रभावको देखकर मैं अन्यत्र कहीं भी जा नहीं पाया तथा श्रीगुरुवाक्यके प्रति आदर हेतु मैंने दृष्टफल (जिसका फल स्पष्ट अनुभव हुआ) उस मन्त्रजपका भी त्याग नहीं किया॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि महर्लोके निर्वृत्त्य कथं नायातोऽसि? तत्राह—तत्रेति। अथापि एवं सत्यपि प्रभावभरस्य महासिद्धिजाताभिव्यञ्जनादिरूपस्य शक्त्यतिशयस्य दर्शनात्, साक्षादनुभवाद्धेतोः। नन्वात्मारामसङ्गे जगदीश्वर-दिदृक्षेव तद्धेतुर्मन्त्रजपोऽपि निवृत्तं किम्? नेत्याह—गुर्विति, गुरोर्यावाक्—'न कदाचिज्जपं त्यजेत्'—इत्यादि-रूपा, तस्यां यद्गौरवमादरस्तस्माद्धेतोः; अत्यजन्नित्यनेन तत्त्यागमात्रं निराकृतम्। प्रीत्या शक्तिश्च पूर्ववन्नास्तीति बोध्यते॥८३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसा होने पर महर्लोकमें लौट क्यों नहीं आये? इसके लिए कहते हैं—यह सत्य है कि तपोलोकमें मेरी भगवान्‌के दर्शनकी आशा क्षीण प्रायः हो गयी थी, तथापि मैं उस स्थान पर वास करनेके लिए बाध्य था। इसका कारण यह था कि श्रीसनकादिकी परिचारिकास्वरूप अणिमादि सिद्धियोंकी अभिव्यक्ति अर्थात् उनका बाधा रहित असीम शक्ति-प्रभाव साक्षात् अनुभव करनेके कारण मैं कहीं अन्यत्र जानेमें समर्थ नहीं हुआ। यदि कहो

कि आत्मारामगणोंके सङ्ग-प्रभावसे भगवान्‌के दर्शनकी लालसा लुप्तप्रायः होने पर क्या भगवान्‌के दर्शनके हेतुस्वरूप मन्त्रजपको भी छोड़ दिया? इसके उत्तरमें कहते हैं—मन्त्रप्रदाता श्रीगुरुदेवका आदेश था—कभी भी मन्त्रजपका त्याग नहीं करना। इस आदेशके बलसे या श्रीगुरुदेवके प्रति गौरववशतः मेरा मन्त्रजपका त्याग मात्र ही रह गया था, किन्तु मुझमें मन्त्रजपके प्रति पूर्ववत् प्रीति और आसक्ति नहीं रही॥८३॥

स्थान-स्वभावजाच्चित्त-प्रसादानन्दतोऽधिकम् ।
तेन सम्पद्यमानेन सा दिदृक्षा विवर्धिता॥८४॥

श्लोकानुवाद—स्थानके स्वभाव अर्थात् माहात्म्यके कारण अब मन्त्रजप करते-करते मुझमें भगवान्‌के दर्शनका अनुराग उत्तरोत्तर वर्धित होने लगा। इससे मुझे चित्त प्रसन्नतारूप जो आनन्द प्राप्त होता था उसकी तुलनामें सनकादि मुनियोंके संसर्गसे उत्पन्न आनन्द फीका लगने लगा॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत्तर्हि तल्लोकस्योक्तो माहात्म्य-विशेषः कथं घटतामित्याशङ्क्या तन्माहात्म्यं दर्शयन् जपरूपयापि भक्त्या अत्मारामतानिरसनमाह—स्थानेति, स्थानस्य तल्लोकस्य स्वभावाज्जायत इति तथा तस्माच्चित्तप्रसाद-रूपादानन्दाद्धेतोरधिकं पूर्वतोऽपि विशेषेण सम्पद्यमानेन स्वतःसिद्धता तेन जपेन सा दीर्घा जगदीशविषयका दर्शनेच्छा विशेषेण वर्धिता॥८४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकारसे भगवान्‌के दर्शनकी आशा क्रमशः क्षीण होने पर भी उस तपोलोकके विशेष माहात्म्यका अनुभव किस प्रकार संघटित हुआ? इसके उत्तरके माध्यमसे प्रथमतः उस तपोलोकके माहात्म्यका प्रदर्शन कर फिर मन्त्रजपरूप भक्ति द्वारा आत्मारामताको दूर करनेका हेतु बता रहे हैं—मन्त्रजप करते-करते मुझे उस तपोलोकके स्वभावसे उत्पन्न चित्तप्रसन्नतारूप आनन्द प्राप्त होने लगा, फलस्वरूप मेरा मन्त्रजप भी पहलेकी तुलनामें अधिक परिमाणमें होने लगा। इसीसे मेरी दीर्घकालकी जगदीश-दर्शनकी इच्छा अधिकाधिक रूपसे वर्धित हुई। इसलिए आत्मारामगणोंके संसर्गवशतः जो आनन्द प्राप्त किया था वह आनन्द भी अब फीका लगाने॥८४॥

सदा नीलाचले राजज्जगन्नाथदिदृक्षया।
यियासुं तत्र संलक्ष्याब्रवीन्मां पिप्पलायनः॥८५॥

श्लोकानुवाद—तब इस अनुरागके प्रबल होनेके कारण मैंने सोचा कि सदा विराजमान श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनोंके लिए नीलाचल जाऊँगा। उस समय पिप्पलायन महर्षि सर्वज्ञता-शक्तिके बलसे मेरे मनोभावको जानकर मेरे समीप आये॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तल्लोके तद्दर्शनाभावात् नीलाचले राजतः प्रकाशमानस्य जगन्नाथस्य दिदृक्षया; सदेति सर्गे महर्लोके च कदाचिदन्तर्धानात्तत्र तत्र जिगमिषां निवारयति। तत्र नीलाचले यियासूं यातुमिच्छुं संलक्ष्य तत इतो भ्रमणमुखम्लानिशोकादि-बाह्यान्तर-लक्षणेन ज्ञात्वा सार्वज्ञेन वाऽभिज्ञाय। पिप्पलायनः कविमुख्यानां नवानामृषभदेवपुत्राणां मध्यमः॥८५॥

भावानुवाद—तब उस तपोलोकमें सर्वदा भगवान्‌का दर्शन करनेके अभावके कारण स्थिरभावसे विराजमान श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करनेके लिए मैंने नीलाचल जानेकी इच्छा की। ऐसे समयमें भगवान् श्रीऋषभदेवके कविमुख्य आदि नवयोगेन्द्रोंमें मध्यम पुत्र पिप्पलायन सर्वज्ञता-शक्तिके बलसे मेरा मनोभाव जानकर मेरे समीप उपस्थित हुए अथवा मेरा इधर-उधर भ्रमण, मलिन मुख और शोकादि बाह्य लक्षणोंको देखकर बोले—नीलाचलमें श्रीजगन्नाथ सर्वदा विराजमान हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वर्ग और महर्लोकमें श्रीभगवान् बीच-बीचमें अन्तर्धान हो जाते हैं या वहाँ पर उनकी विराजमानताकी निर्भरता नहीं है॥८५॥

श्रीपिप्पलायन उवाच—

इदं महत् पदं हित्वा कथमन्यद्यियाससि।
कथं वा भ्रमसि द्रष्टुं दृग्भ्यां तं परमेश्वरम्॥८६॥

श्लोकानुवाद—श्रीपिप्पलायन बोले—इस महान पद (स्थान)को परित्यागकर किसलिए अन्य स्थान पर जानेकी इच्छा कर रहे हो? तथा किसलिए चक्षुके अगोचर उन परमेश्वरको चर्म-चक्षु द्वारा देखनेके लिए इधर-उधर भटक रहे हो?॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—महतामूर्ध्वरेतसां योगीन्द्राणां पदं लोकम्; यद्वा, प्राजापत्य-सुखकोटिगुणित-सुखास्पदत्वान्महत् परमोत्कृष्टमन्यत् पदं यातुमिच्छसि। तं चक्षुराद्यगोचरं दृग्भ्यां द्रष्टुम्॥८६॥

भावानुवाद—श्रीपिप्पलायन बोले—इस तपोलोकमें उर्ध्वरेता योगीन्द्र-गणके पद अथवा प्रजापति सुखसे भी कोटिगुणा सुख प्रदान करनेवाले परम श्रेष्ठ पदका त्यागकर किसलिए अन्यत्र जानेकी इच्छा करते हो? तथा किसलिए चर्म चक्षुके द्वारा अगोचर उन परमेश्वरको नेत्र द्वारा दर्शन करनेके लिए इधर-उधर भटक रहे हो?॥८६॥

समाधत्स्व मनः स्वीयं ततो द्रक्ष्यसि तं स्वतः।
सर्वत्र बहिरन्तश्च सदा साक्षादिव स्थितम्॥८७॥

श्लोकानुवाद—तुम समाधि द्वारा अपने मनको स्थिर करो, मानस समाधिमें ही परमेश्वरका दर्शन होता है। यद्यपि वे अन्तर और बाहर सर्वत्र अवस्थान करते हैं, तथापि तुम समाधिके बलसे प्रत्यक्षकी भाँति उनका दर्शन करोगे॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु दर्शनं चक्षुर्भ्यामेव स्यात्तदर्थं परिभ्रमणमुचितमेव, तत्राह—समाधत्स्वेति, अन्तर्वृत्तिकं कुरु, ततः समाधानात्। स्वत इति यथा दर्पणमार्जनात् स्वयमेव प्रतिबिम्बितं मुखं दृश्यते, तथा अनायासेनेत्यर्थः। नन्वत्रान्यत्र वाऽसौ द्रष्टव्यस्तत्राह—सर्वत्रेति। इवेति वस्तुतोऽक्षिभ्यामदर्शनात्। एवमीदृशस्य दृग्भ्यां दर्शनार्थं परिभ्रमणमयुक्तमिति भावः॥८७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि चक्षु द्वारा ही दर्शन होता है और उसके लिए परिभ्रमण करना आवश्यक है, इसके उत्तरमें कहते हैं—उन परमेश्वरको कभी भी बाह्य चक्षुओं द्वारा नहीं देखा जा सकता। अतएव तुम मनको अन्तर्मुखकर समाधिका अवलम्बन करो। जिस प्रकार दर्पणको साफ करनेसे स्वतः ही उसमें मुख प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार समाधि बलसे चित्तका मार्जन होते ही परमेश्वरके अनायास ही दर्शन होते हैं। यदि कहो कि वे परमेश्वर तो यहाँ-वहाँ तथा अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं? इसके लिए कहते हैं—परमेश्वर सदा-सर्वदा समस्त स्थानोंमें विद्यमान रहते हैं, अर्थात्

बाहर और भीतर प्रत्यक्षकी भाँति अवस्थान करते हैं। किन्तु यहाँ 'इव' (भाँति)का तात्पर्य है—वस्तुतः चक्षु द्वारा उनका दर्शन नहीं होता। अतएव ऐसे परमेश्वरको बाह्य चक्षुओं द्वारा दर्शन करनेके लिए इधर-उधर भटकना अनुचित है॥८७॥

परमात्मा वासुदेवः सच्चिदानन्दविग्रहः।
नितान्तं शोधिते चित्ते स्फुरत्येष न चान्यतः॥८८॥

श्लोकानुवाद—इसका कारण है कि चित्तके अधिष्ठाता परमात्मा वासुदेव सच्चिदानन्दविग्रह हैं। अन्य पदार्थोंके स्फुरणरूप मलके दूर होने पर जब चित्त अत्यधिक शोधित हो जाता है, उस विशुद्धसत्त्व विभावित चित्तमें वे स्फुरित होते हैं, अन्य किसी प्रकारसे उनका दर्शन प्राप्त नहीं होता॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—परमात्मेति। वासुदेवश्चित्ताधिष्ठाता चित्त एव स्फुरति प्रकाशते। तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/३/२३)—*'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्'* इत्यादि। ईदृशे नितान्तमतिशयेन शोधिते तदितरस्फुरणरूपमलरहितीकृते, न च अन्यतः अन्यथा अन्यस्मिन् चक्षुरादाविति वा; यतः सच्चिदानन्दविग्रहः। परब्रह्मघनरूपस्य तस्य स्वप्रकाशकत्वादपरिच्छिन्नत्वाच्च बाह्येन्द्रियेण न ग्रहणं सम्भवतीत्यर्थः॥८८॥

भावानुवाद—'चक्षु द्वारा उनका दर्शन नहीं होता', इस उक्तिका कारण बतला रहे हैं—चित्ताधिष्ठाता परमात्मा वासुदेव विशुद्धसत्त्व द्वारा विभावित चित्तमें ही स्फुरित होते हैं। श्रीमद्भागवत चतुर्थ-स्कन्ध (४/३/२३)में कहा गया है—'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्' अर्थात् विशुद्धसत्त्वको ही 'वसुदेव' शब्दसे जाना जाता है, क्योंकि निर्मल विशुद्ध चित्तमें ही परमपुरुष वासुदेव प्रकाश पाते हैं। अन्य पदार्थोंके स्फुरणरूप मलके दूर होने पर जब चित्त अत्यन्त शोधित हो जाता है, तब उसी चित्तमें वासुदेवकी स्फूर्ति प्राप्त होती है। सच्चिदानन्द विग्रह होनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा या अन्य किसी प्रकारसे भी उनका दर्शन प्राप्त नहीं होता। परब्रह्मघनरूप वे स्वप्रकाश और असीम हैं, अतएव उन वासुदेवका बाह्य इन्द्रियों द्वारा दर्शन नहीं किया जा सकता॥८८॥

तदानीञ्च मनोवृत्त्यन्तराभावात् सुसिध्यति।
चेतसा खलु यत् साक्षाच्चक्षुषा दर्शनं हरेः॥८९॥

श्लोकानुवाद—मनके द्वारा केवल ध्यान ही होता है—ऐसा नहीं, बल्कि चक्षु द्वारा श्रीहरिका जो साक्षात् दर्शन होता है, वह भी केवल मनके द्वारा ही सम्पूर्ण होता है। इसका कारण है कि भगवान्की स्फूर्तिके समय श्रीभगवत्-स्फुरणरूप मनोवृत्तिके अलावा अन्य कोई वृत्ति नहीं रहती। अतएव नेत्रोंका कर्म मनके द्वारा ही होता है॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्विदं ध्यानमेव, न तु दर्शनम्; तत्तु चक्षुरिन्द्रियेणैव स्यात्ततः कथं द्रक्ष्यसीत्युक्तम्? तत्राह—तदानीमिति। चक्षुषा यद्धरेः साक्षाद्दर्शनं तच्चेतसैव खलु निश्चितं सिध्यति। तत्र हेतुः—तदानीं चित्ते भगवत्स्फूर्तिसमये मनसो वृत्त्यन्तरस्य भगवत्स्फुरणवृत्तेरन्यद्वृत्तेरभावात्। अयमर्थः—श्रीभगवन्मूर्तौ मनोऽभिनिवेशकाले 'मनसैवाहमयं भगवन्तं पश्यन्नस्मि, न तु चक्षुर्भ्याम्' इति ज्ञान-विशेषाभावादथ च ताभ्यामिव तेनैव दर्शनसम्पत्तिश्चक्षुषः कर्म मनसैव सिध्येदिति। सुशब्देन ततोऽपि शोभनतया दर्शनसिद्धिरुक्ता; परिच्छिन्नेन चक्षुरिन्द्रियेण युगपत् सर्वाङ्गग्रहणासम्भवात्, तथा तत्तल्लावण्यादिविशेषस्य सम्यग्ग्रहणाशक्तेः॥८९॥

भावानुवाद—यदि कहो कि मनके द्वारा केवल ध्यान ही होता है, दर्शन नहीं, क्योंकि दर्शन चक्षु इन्द्रियकी क्रिया है, किन्तु आपने (श्लोक ८७में) 'तब चित्तमें दर्शन करोगे'—ऐसा किसलिए कहा? इसके लिए कहते हैं कि श्रीहरिका जो साक्षात् दर्शन है, वह भी केवल मनके द्वारा ही होता है अर्थात् मनके द्वारा केवल ध्यान ही होता है—ऐसा नहीं है। नेत्रोंके द्वारा श्रीहरिके साक्षात् दर्शनकी बात जो सुनी जाती है, वह केवल मनके द्वारा ही होती है—यही निश्चित सिद्धान्त है। इसका कारण यह है कि चित्तमें भगवान्की स्फूर्तिके समय भगवत् स्फुरणरूप मनोवृत्तिके अलावा अन्य कोई भी वृत्ति नहीं रहती। अर्थात् श्रीभगवान्की मूर्त्तिमें मनके निवेशके समय जब मनमें भगवान्की स्फूर्ति प्राप्त होती है, उस समय 'मैं केवल मनके द्वारा ही भगवान्का दर्शन कर रहा हूँ, नेत्रोंके द्वारा नहीं', ऐसे ज्ञानके अभावमें अन्य प्रकारकी मनोवृत्ति उदित हो सकती है, अर्थात् 'मैंने नेत्रोंके द्वारा ही दर्शन किया'—ऐसी धारणा ही होती है। ऐसा होने पर भी नेत्रोंका कार्य मनके द्वारा ही सम्पादित होता है, अर्थात् मनके

द्वारा ही नेत्रोंका कार्य—दर्शन सम्पन्न होता है तथा मनके द्वारा किया दर्शन नेत्रोंके द्वारा किये गये दर्शनके समान होता है।

'सुसिध्यति' पदमें 'सु' शब्दका तात्पर्य है कि मनके द्वारा नेत्रोंसे भी अधिक सुन्दर रूपमें दर्शन क्रिया सिद्ध होती है। अर्थात् मनके द्वारा श्रीभगवान्की मूर्त्तिकी साक्षात् दर्शन क्रिया जिस प्रकार सुन्दररूपसे सम्पादित होती है, नेत्रोंके द्वारा उस प्रकार नहीं होती। इसका कारण है कि सीमित चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा युगपत् समस्त अङ्गोंका दर्शन सम्भव नहीं है, अर्थात् बाह्य इन्द्रियाँ भगवान्के लावण्यादिको विशेषरूपसे या भलीभाँति ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। इसलिए मनके द्वारा ही भगवान्के दर्शनकी सुसिद्धि होती है॥८९॥

मनःसुखेऽन्तर्भवति सर्वेन्द्रियसुखं स्वतः।
तद्वृत्तिष्वपि वाक्चक्षुःश्रुत्यादीन्द्रियवृत्तयः॥९०॥

श्लोकानुवाद—मनमें सुख होनेसे समस्त इन्द्रियोंमें स्वतः ही सुख होता है, समस्त इन्द्रियोंका सुख ही मनके सुखके अन्तर्भूत है। मनकी वृत्ति द्वारा ही चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति निष्पन्न होती है॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भवत्वेवं, तथाप्यक्षिभ्यां दर्शनेनैव सुखमधिकं स्यात्, तत्राह—मन इति, मनसः सुखे सति, अस्तु तावदेकस्य चक्षुरिन्द्रियस्य, सर्वेषामपीन्द्रियाणां सुखं स्यादित्यर्थः। मनोदुःखेन अस्तु तावदिन्द्रियाणां विषयग्रहणसुखं, प्रवृत्तेरप्यघटनात्। स्वत इति सर्वेन्द्रियाणां मनोमूलकत्वात् तरुमूलसेकेन शखापल्लवादीनामिवेत्ययत्नतां दर्शयति। नन्वेवमपि स्मरणरूपं मनस एव कर्म सिध्येन्न तु वाक्-चक्षुरादीनां कीर्त्तनदर्शनादि, इन्द्रियवृत्ति-वैचित्र्यैव सुखमधिकतरं स्यात्तत्राह—तस्य मनसो वृत्तिषु श्रुतिः श्रवणम्, वागादीन्द्रियाणां वृत्तयोऽप्यन्तर्भवन्ति। मनसैव कीर्त्तन-दर्शनादिकं सिध्यतीत्यर्थः॥९०॥

भावानुवाद—ऐसी आपत्ति हो सकती है कि यद्यपि मनके द्वारा ही भगवान्का दर्शन सम्पन्न होता है, तथापि नेत्रोंके द्वारा दर्शन करनेमें अधिक सुख प्राप्त होता है। इसके समाधानके लिए कहते हैं—मनमें सुख होनेसे ही चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंमें सुख होता है। अतएव चक्षु द्वारा दर्शन करनेसे ही अधिक सुख होता है—ऐसा नहीं है, क्योंकि न केवल चक्षु अपितु समस्त इन्द्रियोंका सुख ही मनके सुखके अन्तर्गत

है। जिस प्रकार पेड़के मूलको सींचनेसे उसकी शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्पादि समस्त अङ्ग ही प्रफुल्लित हो जाते हैं, उसी प्रकार मनोमूलक (मन पर निर्भर) समस्त इन्द्रियाँ मनके सुख द्वारा स्वतः ही सुखी होती हैं। मनमें दुःख रहनेसे इन्द्रियों द्वारा विषयसुख ग्रहण करनेकी तो बात दूर रहे, विषयोंको ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति भी नहीं होती।

यदि कहो कि इस प्रकारसे मनका स्मरणरूप मानस सुख ही सिद्ध होता है, किन्तु जिह्वा, चक्षु आदिकी वृत्ति कीर्त्तन-दर्शनादि क्रियाके न होनेके कारण सीमाबद्ध सुख ही उपलब्ध होता है; क्योंकि इन्द्रिय-वृत्तिके वैचित्र्य द्वारा ही अधिकतर सुख होता है। इसके लिए कहते हैं—यह सत्य है कि इन्द्रियवृत्तिके वैचित्र्य द्वारा ही अधिकतर सुख होता है, किन्तु मनकी वृत्तिमें ही श्रवण, जिह्वा आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति अन्तर्भूत होनेके कारण मन द्वारा ही समस्त इन्द्रियवृत्तियोंका कार्य घटित होता है, इसलिए मन द्वारा ही कीर्त्तन और दर्शनादि सिद्ध होते हैं॥९०॥

मनोवृत्तिं विना सर्वेन्द्रियाणां वृत्तयोऽफलाः।
कृतापीहाऽकृतैव स्यादात्मन्यनुपलब्धितः॥९१॥

श्लोकानुवाद—मनोवृत्तिके बिना समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ निष्फल हैं, क्योंकि जब तक मन अनुभव न करे तब तक इन इन्द्रिय-वृत्तियोंके द्वारा कर्मोंको करना, न किये जानेके समान ही है। अतएव विशुद्ध चित्तवृत्तिमें श्रीभगवान्‌की स्फूर्तिको उनका दर्शन जानना॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमन्वयेनोक्त्वा व्यतिरेकेणाह—मनोवृत्तिमिति। फलं स्वस्वविषयग्रहणं, तद्रहिता भवन्ति। यतः कृतापि तैरिन्द्रियैरीहा निजनिजविषयग्रहणरूपो व्यापारः, अकृता अनाचरितैव स्यात्। कुतः? आत्मनि जीवे अनुपलब्धितः मनोवृत्त्यभावेन तत्तद्विषयानुभवाभावात्। अत्र च सुखपाठ्यमानस्तोत्रादेरनुसन्धानम्। सर्वैरनुभूयमानमेव व्यक्तं निदर्शनम्। एवं श्रीभगवतो विशुद्धचित्तवृत्तिविशेषे स्फूर्तिरेव दर्शनं, न तु साक्षादक्षिभ्याम्, इन्द्रियवृत्त्यगोचरत्वादिति सिद्धम्॥९१॥

भावानुवाद—इस प्रकार अन्वयरूपसे कहकर अब व्यतिरेकरूपसे कह रहे हैं। मनोवृत्तिके बिना समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ निष्फल हैं अर्थात् वे विषय ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। यद्यपि इन्द्रियाँ अपने-अपने

निर्दिष्ट विषयोंको ग्रहण करनेकी चेष्टा करती हैं, तथापि वे वृत्तियाँ अकृतकी भाँति अर्थात् विषय ग्रहण कर ही नहीं पाती हैं। क्यों? क्योंकि मनोवृत्तिके अभावमें देही जीव उन समस्त विषयोंका अनुभव नहीं कर पाता। इस विषयको 'सुखपाठ्यमान भगवत् स्तोत्र-वाक्यके अनुसन्धान द्वारा समझ जा सकता है। अर्थात् 'मैंने सुखपूर्वक भगवान्का स्तव-स्तोत्र पाठ किया'—यहाँ मनोनिवेशके कारण ही उस पाठमें सुखका अनुभव हुआ, नेत्रोंकी क्रिया द्वारा नहीं। अतएव विशुद्ध चित्तवृत्तिमें श्रीभगवान्की स्फूर्तिको ही उनका दर्शन जानना। नेत्र द्वारा उनका दर्शन सम्भव नहीं है, क्योंकि वे इन्द्रिय वृत्तिके अगोचर हैं॥९१॥

कदाचिद्भक्तवात्सल्याद्याति चेद्दृश्यतां दृशोः।
ज्ञानदृष्ट्यैव तज्जातमभिमानः परं दृशोः॥९२॥

श्लोकानुवाद—यह सत्य है कि भगवान् भक्तवात्सल्य आदि गुणोंके द्वारा कभी-कभी किसीके बाह्य नेत्रों द्वारा भी गोचर होते हैं, किन्तु वह दर्शन भी ज्ञानरूप दृष्टि द्वारा ही संघटित होता है। केवल श्रीभगवान्की करुणासे ही जीवमें ऐसा अभिमान होता है कि उसने नेत्रों द्वारा ही भगवान्का दर्शन किया है॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि श्रीध्रुव-प्रह्लादादीनां साक्षादक्षिभ्यां भगवद्दर्शनस्य प्रसिद्धिरित्याशंक्याह—कदाचिदिति। भक्तेषु यद्वात्सल्यं चक्षुःसाफल्यसम्पादनादिरूपः स्नेहविशेषस्तस्माद्धेतोश्चेद्यदि दृशोर्दृश्यतां यातु, दृश्यो भवतु, तदापि तद्दर्शनं ज्ञानरूपया दृष्ट्यैव जातं, न तु दृग्भ्यां, परिच्छिन्नत्वादिधर्मवता परमापरिच्छिन्नत्वादिधर्मिणो ग्रहणासम्भवात्। ननु तर्हि कथं तथा प्रसिद्धिः, तद्वात्सल्यं वोक्तम्? तत्राह—परं केवलं दृशोर्मया भगवान् साक्षादक्षिभ्यामयं दृश्यते दृष्टो वेत्यक्ष्णोर्विषये जीवस्याभिमानः स्यात्, स च भक्तवात्सल्यबोधनार्थ एवेत्यवगन्तव्यम्। चक्षुरिन्द्रियस्य च स्ववृत्त्यतीते वस्तुनि प्रवृत्त्यभावाद्वैफल्यमपि न शङ्कनीयम्॥९२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मनोवृत्तिकी श्रेष्ठता होने पर भी श्रीध्रुव, प्रह्लाद आदि भगवान्के भक्तोंने नेत्रोंके द्वारा ही साक्षात् श्रीभगवान्का दर्शन प्राप्त किया था—इस प्रकारकी बात क्यों प्रसिद्ध है? इस आशंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—यह सत्य है कि

श्रीभगवान् अपने भक्तवात्सल्य गुणके द्वारा कभी श्रीध्रुव, प्रह्लाद आदिकी भाँति किसी-किसी भाग्यवान भक्तके नेत्रोंको सफल बनानेके लिए स्नेहपूर्वक साक्षात् उसके चक्षु द्वारा दर्शनके योग्य होते हैं, किन्तु वह दर्शन भी ज्ञानरूप दृष्टि द्वारा ही संघटित होता है, चक्षु द्वारा नहीं। इसका कारण है कि सीमित धर्मयुक्त इन्द्रियों द्वारा कभी भी असीमित तत्त्वको ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

यदि आपत्ति हो कि तब क्यों ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्तों द्वारा नेत्रोंसे साक्षात् दर्शन करनेकी बात प्रसिद्ध है और क्यों श्रीभगवान्के भक्तवात्सल्यके सम्बन्धमें ऐसा कहा गया है। इसके लिए कहते हैं, 'मैंने नेत्रोंसे साक्षात् श्रीभगवान्का दर्शन किया है'—यह केवल चक्षुके विषयमें जीवोंका अभिमान मात्र है और जीवके ऐसे अभिमानका कारण भी श्रीभगवान्का भक्तवात्सल्य गुण है। अर्थात् श्रीभगवान्के भक्तवत्सल गुणके कारण जीवमें ऐसा अभिमान होता है कि मैंने नेत्रों द्वारा ही भगवान्का दर्शन किया है। यद्यपि नेत्र अपनी वृत्तिसे अतीत वस्तु पर अधिकार नहीं कर पाते हैं, तथापि भगवान्के दर्शनमें नेत्र विफल हैं—ऐसा समझना अनुचित है॥९२॥

तस्य कारुण्यशक्त्या वा दृश्योऽस्त्वपि बहिर्दृशोः।
तथापि दर्शनानन्दः स्वयोनौ जायते हृदि॥९३॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान् करुणापूर्वक कभी-कभी जीवोंके बाह्य चक्षुके गोचर होते हैं, क्योंकि उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। उनके ऐसे दर्शनमें जो आनन्द होता है, वह आनन्दके आधार मनमें ही सञ्चारित होता है॥९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु परमेश्वरस्य तस्य शक्त्या किं न घटेत? सत्यम्, तथापि चित्तमेव तत्फलभागि स्यादिति तथोच्यत इत्याह—तस्येति। कारुण्यस्य शक्त्या *'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लंघयते गिरिम्।'*—इत्याद्युक्तप्रकारकेण प्रभावेण किंवा तस्य कारुण्येन दृशोरेव या शक्तिस्तद्ग्रहणरूपंसामर्थ्यं तया बहिर्दृशोर्मांस-चक्षुषोरपि यदि दृश्यो वास्तु सः, तथापि तस्य दर्शनेन य आनन्दः, स तु हृदि चेतस्येव जायते। कुतः? आनन्दस्य योनौ अभिव्यक्तिस्थाने शोकानन्ददुःखादीनां मनोधर्मत्वात्॥९३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि परमेश्वरकी करुणाशक्ति द्वारा क्या सम्भव नहीं हो सकता? इसके लिए कहते हैं—यह सत्य है, तथापि ऐसे दर्शनमें चित्त ही उस फलका भागी होता है—यही विवेकीजनोंका सिद्धान्त है। श्रीभगवान् अपनी करुणाके द्वारा चक्षु-गोचर होते हैं अथवा अपनी शक्ति द्वारा अपनेको ग्रहण करनेका सामर्थ्य प्रदानकर कभी-कभी किसी-किसीके बाह्य चक्षुओं द्वारा गोचर होते हैं। इसका कारण है कि उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है, उनकी करुणा-शक्तिके प्रभावसे मूक भी वाचाल होता है और पङ्गु भी पर्वत लाँघ सकता है। तथापि उनके दर्शनमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्दके आधार मनमें ही सञ्चारित होता है। इसका कारण है कि आनन्दकी अभिव्यक्तिका स्थान मन ही है, क्योंकि शोक, आनन्द और दुःखादि मनके ही धर्म हैं, अन्य इन्द्रियोंके नहीं॥९३॥

अनन्तरञ्च तत्रैव विलसन् पर्यवस्यति।
मन एव महापात्रं तत्सुखग्रहणोचितम्॥९४॥

श्लोकानुवाद—दर्शनके उपरान्त श्रीभगवान्‌के अन्तर्हित होने पर भी उनके दर्शनका आनन्द मनमें ही नाना रूपमें विलास प्राप्त करता है, अर्थात् चक्षु द्वारा भगवान्‌का दर्शन होने पर भी उस दर्शनका आनन्द मनमें ही पर्यवसित होता है। अतएव मन द्वारा ही भगवान्‌का दर्शन होता है और मन ही उस दर्शनानन्द रूप सुखको ग्रहण करनेका महापात्र है॥९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, दर्शनानन्तरं भगवत्यन्तर्हिते सति चेत्यर्थः। तत्र हृद्येव विलसन् अहो! मया दृग्भ्यामेवमेवमीदृगीदृक् श्रीभगवान् दृश्योऽपि दृष्ट इत्यनुसन्धानेन बहुधा परिस्फुरन् पर्यवस्यति, स दर्शनानन्दो हृद्येव पर्यवसानं निष्ठां स्थितिं प्राप्नोति। अतश्चक्षुर्दर्शनफलस्यापि पश्चान्मनस्येव पर्यवसानात् दर्शनकालेऽपि तस्मिन्नेवोत्पत्तेः। किमक्षिभ्यां दर्शन-कल्पनयेति भावः। ननु चक्षुषोऽपि ज्ञानेन्द्रियत्वात्तस्मिन्नेव तत् सुखं जायतामवतिष्ठतामपि, तत्राह—मन एवेति। तेन भगवद्दर्शनेन यत् सुखं, तस्य उचितमनुरूपं महापात्रं भाजनं मतमध्यात्मविद्भिः। महापात्रमिति श्लेषेण महाराजस्य कश्चिदमात्यवरो यथा परमोपादेयस्य द्रव्यविशेषस्योपयुक्तो भवेन्न त्वन्यस्तथेति बोधयति॥९४॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं—साक्षात् श्रीभगवान्के दर्शनके उपरान्त उनके अन्तर्हित होने पर भी उनका दर्शनानन्द हृदयमें ही नाना-प्रकारसे विलास करता है। अर्थात् साक्षात् दर्शनके बाद श्रीभगवान्के अन्तर्हित होने पर भी उनके साक्षात्कारके समान आनन्द मनमें ही अनुभव होता है। तब ऐसा विचार आता है—अहो! क्या मैंने इन नेत्रोंके द्वारा भगवान्का दर्शन किया? इस प्रकार भगवान्के दर्शनका आनन्द बहुत प्रकारसे परिस्फुरण होता है। इसलिए विवेकीजनोंने सिद्धान्त किया है कि नेत्रों द्वारा जो भगवान्का दर्शन होता है वह मनमें ही पर्यवसित होता है, क्योंकि दर्शन कालमें भी मनमें ही दर्शनके आनन्दका आविर्भाव होता है; 'चक्षु द्वारा दर्शन हुए'—ऐसी कल्पना मात्र है।

यदि आपत्ति हो कि चक्षु ज्ञानेन्द्रिय है, इसलिए दर्शनका आनन्द चक्षुमें ही उत्पन्न होता है और वहीं स्थित रहता है। इसके लिए कहते हैं कि अध्यात्म विद्जनोंने स्थिर किया है—भगवान्के दर्शनका आनन्द मनमें ही प्राप्त होता है, क्योंकि मन ही उस आनन्दको ग्रहण करनेका अनुरूप महापात्र है। 'महापात्र' इस श्लेष वाक्यका तात्पर्य है कि जिस प्रकार किसी महाराजकी परम उपयोगी वस्तुको ग्रहण करनेका योग्य पात्र प्रधानमन्त्री ही होता है, अन्य कोई नहीं, उसी प्रकार जीव द्वारा सर्वोत्कृष्ट वस्तु अर्थात् भगवान्के दर्शनका आनन्द उपभोग करनेका एकमात्र पात्र मन ही हो सकता है॥९४॥

तत्प्रसादोदयाद्यावत् सुखं वर्द्धेत मानसम्।
तावद्वर्द्धितुमीशीत न चान्यद्बाह्यमिन्द्रियम्॥९५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्की कृपासे उनके दर्शनका आनन्द जैसे-जैसे उत्तरोत्तर बढ़ता है, उसीके साथ-साथ मन भी उसी परिमाणमें वर्धित होता है। मनके अलावा अन्य कोई बाह्य इन्द्रिय इस प्रकार वर्धित नहीं हो सकती॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मनोऽपि परिच्छिन्नमेव, तत्राह—तदिति, तस्य मनसः प्रसादो नैर्मल्यं, तस्योदयात् तदाविर्भावानुसारेण यद्वा, तस्य भगवतो यः प्रसादः

अनुग्रहाभिमुखता तस्योदयात्। यावत् यत्-परिमाणं सुखं वर्द्धेत, तावदेव मानसमपि वर्द्धितुमीशीत शक्नुयात्, शुद्धस्य चेतसः सूक्ष्मरूपत्वेनात्माकारतायोग्यत्वात्। न चान्यदिन्द्रियं यतो बाह्यम्॥९५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भगवान्के दर्शनका आनन्द उपभोग करनेका सर्वश्रेष्ठ पात्र होने पर भी मन तो सीमाबद्ध ही है? इसके लिए कहते हैं—यह सत्य है कि मन भी सीमाबद्ध है, परन्तु ऐसा होने पर भी मनकी निर्मलताके अनुसार उसमें भगवान्का आविर्भाव या श्रीभगवान्के विशेष अनुग्रह द्वारा उनके प्रत्यक्षरूपसे उदय होनेके कारण भगवान्के दर्शनका आनन्द जैसे-जैसे उत्तरोत्तर वर्धित होता है, उसके साथ-साथ मन भी उसी परिमाणमें वर्धित होता जाता है। मनके अलावा चक्षु आदि अन्य कोई भी बाह्य इन्द्रिय उस प्रकारसे वर्धित नहीं हो सकती, क्योंकि वे बाह्य (जड़) हैं। केवल शुद्ध मन ही सूक्ष्मरूप होनेके कारण आत्माके आकारके योग्य होकर आत्माके अनुरूप प्रसारित होता है॥९५॥

अन्तर्ध्यानेन दृष्टोऽपि साक्षाद्दृष्ट इव प्रभुः।
कृपाविशेषं तनुते प्रमाणं तत्र पद्मजः॥९६॥

श्लोकानुवाद—ध्यान या समाधिमें जो भगवान्का दर्शन होता है, वह भी प्रत्यक्ष दर्शनकी भाँति ही होता है और इसी रूपमें प्रभु वर-प्रदानादिके द्वारा विशेष कृपाका विस्तार करते हैं, ब्रह्मा ही इस विषयमें प्रमाण हैं॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं भवतु नाम, साक्षाद्दर्शनसुखतो विशिष्टं ध्यानदर्शनसुखं, तथापि वरप्राप्ति-सम्भाषणादि-महासुखं साक्षाद्दर्शनत एवेति सर्वत्र प्रसिद्धम्? तत्राह—अन्तरिति, अन्तर्दृष्टोऽपि कृपाविशेषमभीष्टवरप्रदान-सम्भाषण-स्पर्शनादिकं विस्तारयति; यतः प्रभुः शक्तिविशेषवान्। नन्वीदृशं कदा कस्मिन् वृत्तमस्ति? तत्राह—प्रमाणमिति। पद्मजो ब्रह्मा, पद्मज इत्यनेन यदादौ पद्मकर्णिकोपरि प्रादुर्भूतस्तदानीमिति सूचितम्, तच्च द्वितीयस्कन्धे प्रख्यातमेव; तथाहि तपश्चरणेन ब्रह्मणः समाध्यनन्तरं—*'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः, सन्दर्शयामास परं न यत् परम्।'* (श्रीमद्भा॰ २/९/९) इत्यादि। *'ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिम्'* (श्रीमद्भा॰ २/९/१४) इत्यादि। *'तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो, हृष्यत्तनूप्रेमभराश्रुलोचनः। ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्, यत् पारमहंस्येन पथातिगम्यते॥ तं प्रीयमाणं समुपस्थितं*

कविं, प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम्। बभाष ईषत्स्मितरोचिषा गिरा, प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्॥' (श्रीमद्भा॰ २/९/१७-१८) इति। तथा वरग्रहणार्थं भगवतोक्तस्य ब्रह्मणो वरप्रार्थनानन्तरं चतुःश्लोक्युपदेशादिकञ्च। पश्चाच्च—*'सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम्। पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः॥'* (श्रीमद्भा॰ २/९/३७) इति। एवं ध्यानदर्शनानन्तरमेव वरलाभ-सम्भाषण-स्पर्शनादि-परमकारुण्यं व्यक्तमेव। तथा तृतीयस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ ३/८/२२-२३)—*'कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि, प्रवृत्तयोगेन विरूढ़बोधः। स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातमपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम्॥ मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।'* इत्यादि। किञ्च *'अस्तौद् विसर्गाभिमुखस्तमीड्यमव्यक्तवर्त्मन्यभिनिवेशितात्मा।'* (श्रीमद्भा॰ ३/८/३३) इति। तत्स्तुत्यनन्तरञ्च—*'मा वेदगर्भ! गास्तन्द्रीम्'* (श्रीमद्भा॰ ३/९/२९) इत्यादिभगवद्वचनम्। तथा *'प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते'* (श्रीमद्भा॰ ३/९/३९) इत्यादि च॥९६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि साक्षात् दर्शनसुखसे ध्यानमें प्राप्त दर्शनसुख अधिक होता है, तथापि वरप्राप्ति और सम्भाषणादिका महासुख केवल साक्षात् दर्शनमें ही घटित होता है और ऐसा सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इसके समाधानके लिए कहते हैं कि ध्यानमें प्राप्त दर्शन द्वारा भी विशेष कृपाका विस्तारकर श्रीभगवान् अभीष्ट वरप्रदान और सम्भाषण-स्पर्शनादि महासुख प्रदान करते हैं, क्योंकि वे विशेष शक्तियोंसे युक्त हैं। यदि कहो कि इस प्रकारकी कृपा क्या कभी किसीके प्रति हुई है? इसके लिए कहते हैं—'पद्मज' वह ब्रह्मा ही इस विषयमें प्रमाण हैं।

द्वितीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ २/९/९)में प्रसिद्ध है—"तपस्यामें रत ब्रह्माकी समाधिदशामें श्रीभगवान्ने प्रसन्न होकर उनको अपना सर्वोत्कृष्ट लोक दिखाया था, जिसके ऊपर और कोई श्रेष्ठ पद नहीं है।" तब ब्रह्माजीने देखा (श्रीमद्भा॰ २/९/१४)—"निखिल भक्तोंके पति श्रीभगवान् वहाँ पर विराजमान हैं और पार्षदगण उनकी सेवा कर रहे हैं।" तथा श्रीमद्भागवत (२/९/१७-१८)में कथित है—"श्रीभगवान्का वह रूप दर्शनकर ब्रह्मा आनन्दमें विभोर हो गये। उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च होने लगा तथा नयनोंसे प्रेमाश्रुधारा बहने लगी। फिर उन्होंने उन श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें दण्डवत् प्रणाम किया, तब श्रीभगवान्ने उनका हाथ पकड़ लिया और प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए कहा—हे

ब्रह्मण! परमहंस-पथ अवलम्बन न करनेसे कोई भी इस लोकका दर्शन नहीं कर सकता। तुम मेरे एकान्त कृपा भाजन और आदेश देनेके योग्य पात्र हो। यद्यपि तुमने प्रजा-सृष्टि करनेके लिए तपस्याकर मुझे सन्तुष्ट किया है, तथापि तुम अपना अभिलषित वर मागो।" तदनन्तर श्रीभगवान्‌से वरग्रहण करनेके लिए आदेश प्राप्तकर ब्रह्माजीने वर-प्रार्थना की और चतुःश्लोकी-भागवत्‌का उपदेश आदि प्राप्त किया।

श्रीमद्भागवत (२/९/३१)में उक्त है—"इसके बाद श्रीभगवान् ब्रह्माको इस प्रकार उपदेश देकर देखते-देखते उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये।"—इस वर्णनके द्वारा समाधि-दशामें भगवान्‌के दर्शनके पश्चात् वरलाभ और सम्भाषण-स्पर्शनादि भगवान्‌की परम करुणा ही व्यक्त हुई है। तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ३/८/२२-२३)में भी कहा गया है—"पुरुषके अणुपरिमित काल अर्थात् सौ वर्ष बीतने पर ब्रह्माकी समाधि समाप्त हुई और उनके चित्तमें भगवान्‌का तत्त्वज्ञान उदित हुआ। पहले बहुत ढूढ़ने पर भी जिनके दर्शन प्राप्त नहीं हुए, अब उन परमपुरुषको ब्रह्माजीने समाधिमें अपने हृदयमें स्वयं विराजमान देखा। और भी देखा कि प्रलय कालीनजलमें अनन्तनागके कमलकी नालकी भाँति गौरवर्ण और विशाल विग्रहकी शय्या पर वे श्याम कान्ति युक्त परमपुरुष शयन कर रहे हैं।" श्रीमद्भागवत (३/८/३३) कहते हैं—"अचिन्त्यगति भगवान्‌में चित्त निमग्न कर ब्रह्मा सृष्टिके विषयमें शक्तिलाभ करनेके लिए परम गूढ़ उन प्रभुका स्तव करने लगे।" स्तुतिके बादमें श्रीभगवान्‌ने कहा (श्रीमद्भा॰ ३/९/२९)—"हे वेदगर्भ! शोक मत करो, तुम सृष्टिके लिए प्रार्थना कर रहे हो, वह तो मैंने पहले ही पूर्णकर रखी है।" इत्यादि भगवान्‌के वचन और (श्रीमद्भा॰ ३/९/३९) "तुम्हारी इस स्तुतिसे मैं सन्तुष्ट हुआ, तुम्हारा मङ्गल हो।"—इसके उदाहरण हैं॥९६॥

साक्षाद्दर्शनमप्यस्य भक्तानामेव हर्षदम्।
कंस-दुर्योधनादीनां भयदोषादिनोच्यते॥९७॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन ही समस्त भक्तोंके लिए हर्षप्रद होता है, किन्तु अभक्तोंके लिए नहीं। श्रीभगवान्‌के साक्षात् दर्शन करने पर भी कंसके हृदयमें भय और दुर्योधनादिके हृदयमें दोषादि उत्पन्न हुए थे॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीभगवतः साक्षात्कार एव परमसुखप्रसादो ध्यानादि-भक्तेरपि फलम्; तत्राह—साक्षादिति। अस्य भगवतो हरेः; भक्तनामेव हर्षदं न त्वभक्तानाम्। नन्विदं कथं ज्ञायेत? तत्राह—कंसेति। भयं दोषश्च क्रोध-मात्सर्यादिः आदिर्यस्य शोक-दुःखादेः तेनोच्यते प्रतिपाद्यते॥९७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन ही परमसुख प्रदान करनेवाला है और वह सुख भी तो ध्यानादि भक्तिका ही फल है। इसके लिए कहते हैं—श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन भक्तोंके लिए हर्षजनक है, किन्तु अभक्तोंके लिए नहीं। यदि कहो कि आपको ऐसा किस प्रकार ज्ञात हुआ? इसके लिए कहते हैं—श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शनकर कंसके हृदयमें भय और दुर्योधन आदिके हृदयमें दोष उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार कंस और दुर्योधनादिकी भाँति मधु, कैटभ और कालनेमि जैसे असुरोंके हृदयमें भी भय, द्वेष, क्रोध, मात्सर्य आदि प्रतिफलित हुआ था। यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा शोक, दुःखादिको भी ग्रहण करना होगा॥९७॥

परानन्दघनं श्रीमत् सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम्।
नारायणस्य रूपं तत् साक्षात् संपश्यतामपि॥९८॥
मधु-कैटभमुख्यानामसुराणां दुरात्मनाम्।
न लीनो दुष्टभावोऽपि सर्वपीड़ाकरो हि यः॥९९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारायणकी 'श्री' अर्थात् असीम शोभासे युक्त परमानन्दघन रूप और उस शोभासे युक्त रूपके लावण्य-माधुर्यादि गुण दर्शनकारियोंकी इन्द्रियोंको सुखसागरमें निमग्न कर देते हैं। किन्तु दुरात्मा मधु और कैटभ जैसे असुर भगवान्‌के ऐसे रूपका साक्षात् दर्शन करने पर भी समस्त दुःखोंकी जड़ अपने दुष्टभावका परित्याग नहीं कर सके॥९८-९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदिशब्देन गृहीतानां मधुकैटभादिदैत्यानां साक्षाद्-भगवद्दर्शनेनाप्यानन्दो न जात इति विवृणोति—परेति। तदनिर्वचनीयं नारायणस्य रूपं श्रीमूर्त्तिं साक्षादव्यवधानेन सम्यग्सङ्कोचेन पश्यतां निरीक्ष्यमाणानामपि मधुकैटभौ मुख्यावाद्यौ येषां मय-तारक-कालनेमि-प्रभृतीनां तेषामस्तु तावत् परमानन्दो जनिष्यते, दुष्टभावो दुष्टतापि न लीनो नान्तरधादिति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशः? जगतः पीड़ां करोतीति तथा सः, इत्यलीनतालक्षणं ज्ञेयम्। यद्वा, सर्वस्याः सम्पूर्णायाः पीड़ाया आकर इति किञ्चिद्दुःखमपि नापगतमिति भावः। तत्र हेतुः—दुरात्मनां भक्त्यभावेन शुद्धिराहित्याद्दुष्टचेतसामित्यर्थः। यद्वा, दुष्टस्वभावानां भगवद्द्वेषिणामभक्तानामित्यर्थः। कीदृशं रूपम्? परमानन्दघनं घनीभूतपरमानन्दमयम्, श्रीमत् अशेषशोभातिशययुक्तम्, अतएव सर्वाणीन्द्रियाणि स्वगुणैर्लावण्य-माधुर्यादिभिः अनक्ति सुखयतीति तथा तत्। यद्वा, सर्वान् इन्द्रियाणां गुणान् विषयान् अञ्जयति तत्तद्विषयभोगसुखं संयोजयतीति तथा तत्। कंस-दुर्योधनादीनान्तु वार्त्ता न विवृता। परम-माहात्म्य-चरमकाष्ठा-प्रतिपाद्यमान-श्रीकृष्णवार्त्ताश्रवणे तदानीं तत्र तस्यायोग्यत्वादिति गम्यते। सा चेदृश्यूह्या। मधुपुर्यां रङ्गभूमौ तादृश-श्रीनन्दनन्दन-वदनचन्द्रे साक्षात् संदृश्यमानेऽपि तदेकप्रियाणां श्रीनन्दादीनां परमप्रेमरससागरे वर्धमानेऽपि तत्रैव यदु-वंशजातस्य कंसस्य तदनुगानामपि सुखं न जातमेव, अथच परमहृदुत्तापनं भय-क्रोधादिकमेवाविरभूत्। तथा कौरव-सभामध्ये तदीयसन्दर्शन-वचनामृत-पानेनापि श्रीविदुर-भीष्मादीनां तद्भक्तानां परमसुखे जायमानेऽपि तत्रैव तज्ज्ञातीनां पुरुवंशप्रसूतानां तेनैव भगवता सहालापासन-विवाहादिसम्बन्धवतामपि दुर्योधनादीनां सुखं तावद्दूरेऽस्तु, तदीयप्रियतमजनविषयक-महापराध-हृद्रोगस्याप्युपशमो नेह जातः, येन क्षणं निरन्तर-क्रोधमत्सराभिमानादिदोष-शतेन्धनोद्दीप्यमानाधिमहानल-दाहस्यापि विरामः स्यादिति दिक्॥९८-९९॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें 'कंस-दुर्योधनादि' पदमें 'आदि' शब्द द्वारा ग्रहणीय मधु-कैटभादि दैत्योंके द्वारा साक्षात् भगवान्का दर्शन किये जाने पर भी उनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु क्रोध-मात्सर्य आदि कु-भाव ही उत्पन्न हुए—इस श्लोकमें इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। उन अनिर्वचनीय, असीम, शोभायुक्त श्रीनारायणकी श्रीमूर्त्तिको बाधारहित और पूर्ण असंकोचके साथ देखने पर भी मधु, कैटभ, मय, तारक, कालनेमि जैसे असुरोंके हृदयमें आनन्द उत्पन्न होनेकी तो बात दूर रहे, उनका दुष्टभाव तक कम नहीं हुआ।

यदि कहो कि वह दुष्टभाव किस प्रकारका था? इसके उत्तरमें कहते हैं—वह दुष्टभाव जगतके लिए पीड़ाकारक था तथा भगवान्के

दर्शन द्वारा भी उस जगत पीड़ाकारक दुष्टताका कम न होना ही उसका लक्षण समझना चाहिए। अथवा वह दुष्टभाव सम्पूर्ण दुःखोंका मूल था, अतः उनके सामान्य दुःख भी दूर नहीं हुए। इसका कारण था कि भक्तिके अभावमें चित्तशुद्धि न होनेके कारण वे सब दुरात्मा अर्थात् दुष्टभावयुक्त भगवान्के विद्वेषी अभक्त थे। यदि कहो कि उन भगवान्का रूप कैसा था? इसके लिए कहते हैं—वह रूप परमानन्दघन अर्थात् घनीभूत परमानन्दमय तथा श्री अर्थात् असीम शोभासे युक्त था। अतएव वह रूप अपने लावण्य-माधुर्य आदि गुणोंसे दर्शकोंकी समस्त इन्द्रियोंको सुखसागरमें निमग्न कर देता है अथवा समस्त इन्द्रियोंको उनका यथार्थ विषय-भोग सुख प्रदान करता है। पूर्व श्लोककी भाँति इस श्लोकमें कंस और दुर्योधनादिके सम्बन्धमें न कहकर मधु-कैटभका नाम लिया गया है। इसका कारण है कि उस समय गोपकुमारके शिष्य उस ब्राह्मण्डमें चरम सीमा प्राप्त परम माहात्म्ययुक्त श्रीकृष्णकथाको श्रवण करनेकी योग्यता नहीं हुई थी। अतएव इस बातको वहीं रहने दिया।

मथुरापुरीमें रङ्गभूमिमें वैसे रूप-लावण्य-विशिष्ट श्रीनन्दनन्दनके मुखचन्द्रको साक्षात् दर्शनकर उनके एकान्तिक प्रिय श्रीनन्दादिका परम प्रेमरस-सागर वर्धित हो उठा, किन्तु उसी यदुवंशमें जन्मे कंस और उसके अनुचरोंके हृदयमें सुख उत्पन्न होना तो दूर रहे, अपितु उनके हृदयमें भीषण सन्ताप, भय और क्रोध उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार कौरवसभामें श्रीकृष्णका मुखचन्द्र दर्शनकर और उनके वचनामृत पानकर श्रीविदुर और श्रीभीष्मदेव जैसे भक्तोंके हृदयमें परमसुख उत्पन्न हुआ था, किन्तु उनके ज्ञाति अर्थात् उस पुरुवंशमें उत्पन्न दुर्योधनादिको श्रीभगवान्के साथ वार्त्तालाप करने, एक साथ बैठने तथा वैवाहिक सम्बन्धसे युक्त होने पर भी सुखका अनुभव होना तो दूर रहे, बल्कि भगवान्के प्रियतम पाडण्वोंके प्रति उनका महा-अपराधरूप हृदयरोग भी शान्त नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप निरन्तर क्रोध, मात्सर्य, अभिमानादि दोषरूपी सैकड़ों प्रकारके ईंधनोंने उनकी अपराधरूप महा-अग्निको प्रज्वलित कर अन्तमें सबको उस अग्निमें दग्ध कर दिया॥९८-९९॥

आनन्दकस्वभावोऽपि भक्तिमाहात्म्यदर्शनात्।
भक्तान् हर्षयितुं कुर्याद्दुर्घटञ्च स ईश्वरः॥१००॥

श्लोकानुवाद—भक्तिका माहात्म्य प्रकट करने और भक्तोंको सुखी करनेके लिए कभी-कभी श्रीनारायण जगतको आनन्द देनेवाले अपने स्वभावको (अभक्तोंके लिए) ढक लेते हैं। वे परमेश्वर हैं, इसलिए उनके लिए अघटनको भी घटन करना विचित्र नहीं है॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु आत्मसाक्षात्कारे सति कोऽपि दोषदुःखावकाशो नावशिष्येत, कथं परब्रह्मघनमूर्तेः श्रीभगवतस्तस्य दर्शनादिनापि दोष-दुःखापगमोऽपि नाभूदित्याशंक्याह—आनन्दकेति। स श्रीनारायण एव। अप्यर्थे चकारः। दुर्घटं वह्नेरुष्णस्वभावान्तर्धानमिवात्मनो जगदानन्दकस्वभावाच्छादनमघटमानमपि कूर्यात् घटयति। किमर्थम्? भक्तेर्यन्माहात्म्यमानन्दकस्वभावस्याप्यभक्तेष्वनुभवो न स्यात्, प्रत्युत वैपरीत्यमेवेत्यादिरूपः स्वाभाविको महिमा, तस्य दर्शनात् तद्द्वारेत्यर्थः। भक्तान् निजभक्तिमार्गरतान् हर्षयितुम्, तादृशभक्तिमाहात्म्येन सर्वेषां भक्तिप्रवृत्त्युपपत्तेः। अतएव केचिद्भक्तवरा दुष्टानामभक्तानां भयदुःखादिकमप्यनुमन्यन्ते। यथोक्तं श्रीयुधिष्ठिरेण शिशुपाल-दन्तवक्त्रावधिकृत्य सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१/१८)—*'श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः।'* इति; यतो भगवद्द्वेष-निन्दादिपराणां तेषां महाभययातनादिकमेव तत्तन्महापातकप्रायश्चित्तरूपं सत् परिणामे महाफलरूपभक्तिप्रवृत्तये कल्प्यत इति दिक्। ननु स्वभावतिरोधापनं कथं सम्भवति? न हि कदाचिदग्निरूष्णतां त्यक्तुं शक्नोति, तत्राह—ईश्वरः दुर्वितर्क्य-विचित्रशक्तिमानिति। एवं साक्षाद्भगवद्दर्शने सत्यपि भक्त्यैवानन्दः स्यान्नान्यथेति सिद्धम्॥१००॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब आत्मसाक्षात्कार होने पर किसी भी प्रकारके दोष-दुःखका लेशमात्र भी नहीं रहता, तब परब्रह्म-घनमूर्त्ति साक्षात् श्रीभगवान्के दर्शन द्वारा दोष-दुःख क्यों नहीं दूर हो सकता? इस आशंकाके उत्तरमें 'आनन्दक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस प्रकार अग्नि द्वारा अपना उष्णता-रूपी स्वभाव त्यागना कठिन है, उसी प्रकार भगवान् द्वारा जगतको आनन्द देनेका अपना स्वभाव त्यागना दुःसाध्य है। तथापि वे अघटनको भी घटन कर देते हैं, अर्थात् अपने जगत-आनन्दकर स्वभावको ढक देते हैं। किसलिए? इसके लिए कहते हैं कि भक्तिका जो स्वाभाविक माहात्म्य अर्थात् आनन्दमय स्वभाव है, वह अभक्तोंको अनुभव न हो, अपितु उनको इसके विपरीत धारणा ही हो। इसलिए श्रीभगवान् भक्तिमार्गमें स्थित अपने भक्तोंको

भक्तिके स्वाभाविक माहात्म्यका प्रदर्शन कर आनन्द प्रदान करते हैं। विशेषतः अपने प्रति भक्तिमान और विद्वेषी दोनोंका एक समान फल प्रदान करने पर भक्ति करनेकी प्रवृत्ति नहीं रहेगी तथा इस प्रकारसे भक्तिका माहात्म्य प्रदर्शित होनेसे सबकी भक्तिमार्गमें प्रवृति होगी।

अतएव दुष्टस्वभावयुक्त अभक्तोंको भगवान्‌के दर्शनसे जो महाभय, शोकादि होता है, किसी-किसी उत्तम कोटिके भक्तों द्वारा उसका अनुमोदन किया जाता है। अर्थात् भगवान् और भक्तोंके प्रति द्वेषादिसे जो अपराध होता है, उसके भय और शोकादि द्वारा प्रशमित होनेके कारण अपराधीका परम मङ्गल होता है। इसलिए कोई-कोई श्रेष्ठ भक्त अपराधीके लिए दुःखकी इच्छा करते हैं, जैसे कि महाराज युधिष्ठिरने शिशुपाल और दन्तवक्रको लक्ष्यकर कहा था—"इनकी जिह्वामें कुष्ठ क्यों नहीं हुआ? ये अभी तक घोर नरकमें पतित क्यों नहीं हुए?" इसका कारण है कि भगवान्‌से द्वेष और उनकी निन्दादिमें रत शिशुपालादिमें महाभय और शोकादि पीड़ा उनके लिए उन-उन अपराधोंका प्रायश्चित्तस्वरूप हुआ था। इसलिए ऐसा प्रायश्चित्त परिणाममें महाफलरूप भक्ति-प्रवृतिको उदित करानेके सहायक रूपमें देखा जाता है। यदि कहो कि जिस प्रकार अग्नि अपनी ऊष्णता कभी भी त्याग नहीं करती है, उसी प्रकार स्वतःसिद्ध स्वभावका तिरोधान किस प्रकार सम्भव है? इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं—श्रीभगवान् दुर्वितर्क्य विचित्र शक्तिसे युक्त हैं, अतः तर्क द्वारा कोई उनकी शक्तिकी मीमांसा नहीं कर सकता। अतएव साक्षात् दर्शन होने पर भी एकमात्र भक्तिके द्वारा ही अर्थात् प्रेमाञ्जन युक्त नेत्रों द्वारा ही भगवान्‌के दर्शनका आनन्द प्राप्त होता है, अन्य किसी भी उपायसे नहीं—यही तात्पर्य है॥१००॥

भक्तौ नवविधायाञ्च मुख्यं स्मरणमेव हि।
तत् समग्रेन्द्रियश्रेष्ठ-मनोवृत्तिसमर्पणम्॥१०१॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार नवधा-भक्तिमें स्मरण भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि स्मरणके द्वारा समस्त इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ मनकी वृत्तिको श्रीभगवान्‌के प्रति समर्पण किया जा सकता है॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु प्रस्तुते किमायातम? तदाह—भक्ताविति। हि यतः; तत् स्मरणम्; समग्रेषु सर्वेषु; समग्रं सम्पूर्णं वा यदिन्द्रियेषु श्रेष्ठस्य मनसो वृत्तीनां समर्पणं भगवत्यभिनिवेशनं तद्रूपम्। एवं मनोऽधीनवागादीन्द्रियाणां वृत्त्यर्पणरूप-कीर्त्तनादितोऽपि स्मरणस्य श्रैष्ठ्यं साधितम्॥१०१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि यहाँ भक्तिका विषय क्यों आया है? इसके समाधानके लिए 'भक्तौ' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—नवधा-भक्तिमें स्मरण ही मुख्य भक्ति है, क्योंकि स्मरण द्वारा समस्त इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ मनकी वृत्तिको श्रीभगवान्‌के प्रति समर्पण किये जानेके कारण स्मरण द्वारा भगवान्‌में अभिनिवेश होता है। इस प्रकारसे मनके अधीन वागादि इन्द्रियोंकी वृत्ति समर्पणरूप कीर्त्तनादि भक्ति-अङ्गोंसे भी स्मरणाङ्ग भक्तिकी श्रेष्ठता प्रमाणित हुई है॥१०१॥

अन्तरङ्गान्तरङ्गान्तु प्रेमभक्तिं यथारुचि।
दातुमर्हत्यविश्रामं मन एव समाहितम्॥१०२॥

श्लोकानुवाद—मनके स्थिर (एकाग्र) होने पर ज्ञान-वैराग्यादिसे भी अन्तरङ्ग—प्रेमभक्ति रुचिके अनुसार साधकके चित्तमें निरन्तर स्फुरित होती है॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, श्रीभगवत्प्राप्तौ अन्तरङ्गेभ्यो निकटगामिभ्योऽपि साधनेभ्यो ज्ञान वैराग्यादिभ्योऽन्तरङ्गां प्रेम्णा हेत्वननुसन्धानेन तेन वा सहितां भक्तिं मन एव समाहितं स्थिरीकृतं सत् यथारुचि रुच्यनुसारेण दातुमर्हति। मनसः सर्वेन्द्रियाधिकारित्वेन निजनिजार्थे सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तनसामर्थ्यात्, मनोभजने प्रायो विघ्नासम्भवात्। मनोऽभिनिवेशेनैव प्रेम्णः स्फुरणादिति दिक्॥१०२॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं—श्रीभगवान्‌की प्राप्ति अथवा भगवान्‌के निकट जानेके विषयमें ज्ञान-वैराग्यादि जितने प्रकारके अन्तरङ्ग साधन हैं, उन समस्त अन्तरङ्ग साधनोंसे भी अन्तरङ्ग अर्थात् प्रेम सहित हेतुशून्य भक्तिको उल्लसित करनेमें एकमात्र एकाग्र मन ही समर्थ है। अर्थात् एकाग्र मन ही रुचिके अनुसार प्रेमभक्ति प्रदान कर सकता है। इसका कारण है कि मन समस्त इन्द्रियोंका परिचालक है, अतएव समस्त इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें प्रेरित करनेमें सामर्थ्यवान है। यहाँ तक कि मन द्वारा भजन करनेसे प्रायः

विघ्न उपस्थित नहीं होते तथा मनके अभिनिवेश द्वारा ही प्रेमकी स्फूर्ति होती है॥१०२॥

अशेषसाधनैः साध्यः समस्तार्थाधिकाधिकः।
यो वशीकरणे गाढ़ोपायो भगवतोऽद्वयः॥१०३॥
तत्प्रसादैकलभ्यो यस्तद्भक्तैकमहानिधिः।
विचित्रपरमानन्दमाधुर्यभर–पूरितः ॥१०४॥
महानिर्वाच्यमाहात्म्यः पदार्थः प्रेमसंज्ञकः।
परिणामविशेषे हि चेतोवृत्तेरुदेति सः॥१०५॥

श्लोकानुवाद—अनन्त साधनोंका साध्य अर्थात् समस्त प्रयोजनोंसे भी अधिक श्रेष्ठ जो भगवान्‌की उपासना है, उससे भी श्रेष्ठतम अर्थात् परम स्वतन्त्र भगवान्‌को वशीभूत करनेके लिए अद्वितीय प्रगाढ़ उपायस्वरूप जो प्रेम है, वह केवल भगवान्‌की कृपाके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, अपनी चेष्टाओंके द्वारा नहीं। इसलिए भक्तगण इस प्रेमको अद्वितीय महानिधिकी भाँति यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं, क्योंकि यह प्रेम परमानन्दके विचित्र माधुर्य द्वारा परिपूर्ण है। इसका माहात्म्य अनिर्वचनीय है। ऐसा प्रेम नामक पदार्थ चित्तवृत्तिका परिणाम विशेष है, अर्थात् विशुद्ध चित्तवृत्तिमें ही उदित होता है॥१०३–१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, यः प्रेमसंज्ञकः पदार्थो द्रव्यविशेषः, स हि चेतोवृत्तेः परिणामविशेषे कस्याञ्चिदुत्कृष्टायां परिणतौ उदेति प्रकाशते इति त्रिभिरन्वयः। पूर्वश्लोकार्थोऽयं हेतुर्वा द्रष्टव्यः। तमेव सप्तभिर्विशेषणैर्विशिनष्टि—अशेषैः साधनैः कर्म–ज्ञान–वैराग्यादिभिः साध्यः। तस्यैव परममुख्यफलत्वात् समस्तेभ्योऽर्थेभ्यो धर्म–कामार्थ–मोक्षेभ्योऽधिकाद्भगवदुपासनादप्यधिकः, तस्यापि फलरूपत्वात्। तस्य भगवतः परमस्वतन्त्रस्य वशीकरणेऽद्वय एको गाढ़ो दृढ़ उपायः साधनम्। मत्तगजेन्द्रस्येव तस्य प्रियजनवशवर्तितापादक–पादाब्जशृंखलारूपत्वात्। तस्य भगवतः प्रसादेनैवैकेन लभ्यः लब्धुं शक्यः, स्वपौरुषेण साधयितुमशक्यत्वात्। तद्भक्तानामेको मुख्य अद्वयो वा महानिधिः स्वत एव सुखं सर्वाभीष्टदायित्वात्। विचित्रं यत् परमानन्दस्य माधुर्यं, तस्य भरोऽतिशयस्तेन पूरितः धिक्कृत–ब्रह्मानन्दानुभवत्वात्। अतएव महदपरिच्छिन्नमनिर्वाच्यमीदृक्तया निर्वक्तुमशक्यं माहात्म्यं यस्य सः। अनेन परमरहस्यतयाऽनभिव्यञ्जितमपि श्रीभगवता सह क्रीड़ाविशेष–निष्पादनादिमाहात्म्यमूह्यम्। तस्य च पिप्पलायनोक्तस्य च सिद्धान्तस्य निष्ठाग्रे

श्रीभगवत्पार्षदवचनतोऽभिव्यक्तिं यास्यति। सा च समाधिप्रधानेऽस्मिन् तपोलोके वक्तुमयोग्येति ज्ञेयम्॥१०३–१०५॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं—प्रेम नामक जो द्रव्यविशेष है, वह चित्तवृत्तिका ही परिणाम विशेष है, अर्थात् चित्तवृत्तिके विशुद्ध या श्रेष्ठ अवस्थामें परिणत होनेसे वह प्रेम स्वतः प्रकाशित होता है। इसी विषयको तीन श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्धपूर्वक दिखलाया गया है और प्रत्येक श्लोकको पूर्व श्लोकके अर्थ या हेतु रूपमें देखा जा सकता है। तदनन्तर उस प्रेमको सात विशेषणों द्वारा विशेष रूपमें व्यक्त कर रहे हैं। वह प्रेम—कर्म, ज्ञान, वैराग्यादि अनन्त साधनोंका साध्य है। यहाँ तक कि वह प्रेम धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप अर्थसे भी अधिक जो भगवान्की उपासना है, उससे भी श्रेष्ठ है। इसका कारण है कि प्रेम ही समस्त साधनोंका परम फल और भगवान्की उपासनाका मुख्यफल स्वरूप है।

अधिक क्या, परम स्वतन्त्र श्रीभगवान्को भी वशीभूत करनेके लिए वह प्रेम वशीकरण-स्वरूप है, अर्थात् प्रेम ही श्रीभगवान्को उनके प्रियजनोंके वशीभूत करनेमें समर्थ है। जिस प्रकार मत्त हाथीको बेड़ीके द्वारा बाँधा जाता है, उसी प्रकार प्रेम रूप बेड़ी ही श्रीभगवान्को उनके प्रियजनोंके वशीभूत करनेमें समर्थ है। श्रीभगवान्के अनुग्रह द्वारा ही वह प्रेम प्राप्त होता है, पुरुषकी अपनी चेष्टा द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए भक्तजन उस प्रेमको अद्वितीय महानिधि मानते हैं, क्योंकि वह प्रेम स्वतः ही सुखरूप होनेके कारण उनको समस्त प्रकारके अभीष्ट प्रदान करता है। वह प्रेम परमानन्दके विचित्र माधुर्य द्वारा परिपूर्ण है और आस्वादनकी प्रचुरताके कारण ब्रह्मानन्दको भी तुच्छ करता है। प्रेमका माहात्म्य असीम और अनिर्वचनीय होनेके कारण साक्षात् वाणी भी उसे व्यक्त करनेमें असमर्थ है। अर्थात् उक्त विशेषण द्वारा यही सूचित होता है कि प्रेम परम रहस्यपूर्ण वस्तु होनेके कारण अप्रकाशनीय है, अतएव भगवान्के साथ भक्तोंकी प्रेमक्रीड़ाका माहात्म्य भी यहाँ अव्यक्त रहा। गोपकुमारके प्रति पिप्पलायनके उपदेश या सिद्धान्तका विवेचन अर्थात् उसकी यथार्थ स्थिति क्या है, यह श्रीभगवान्के पार्षदोंके वचनोंसे ही प्रकाशित

होगा। इसका कारण है कि समाधि-प्रधान तपोलोकमें भक्तिरहस्यको व्यक्त करना उचित नहीं है॥१०३-१०५॥

मनसो हि समाधानं मन्यसे दुष्करं यदि।
चक्षुःसाफल्यकामो वा भगवन्तं दिदृक्षसे॥१०६॥

श्लोकानुवाद—यदि तुम मनको एकाग्र करना दुष्कर समझते हो अथवा अपने नेत्रोंको सफल करनेके लिए श्रीभगवान्‌के साक्षात् दर्शन ही करना चाहते हो—॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं मनसः समाधानात् सुखं भगवद्दर्शनं सर्वत्रैव सम्पद्यत इत्युक्तम्। तत्र यदि मनसः समाधानं दुष्करं मन्यसे, अथवा एतल्लोकस्वभावतो निजमन्त्रजपप्रभावतो वा तदपि सम्पद्यत एव, किन्तु मनस एव साफल्यमित्थं सिध्यति, न तु चक्षुषः भगवद्दर्शनाभावादिति चक्षुषः साफल्ये कामो यस्य तथाभूतः सन्, भगवन्तं दृग्भ्यां द्रष्टुमिच्छसि॥१०६॥

भावानुवाद—इस प्रकार मनकी स्थिरतासे सुखपूर्वक सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन होता है। यदि तुम मनको स्थिर करना दुष्कर समझते हो अथवा ऐसा समझते हो कि इस तपोलोकके स्वभाववशतः या अपने मन्त्रजपके प्रभावसे मन स्थिर होता है, किन्तु तथापि मन ही सफल होता है नेत्र नहीं, क्योंकि नेत्रों द्वारा भगवान्‌के दर्शनका अभाव रहता है। अतः यदि केवल नेत्रोंको ही सफल करनेकी दृढ़ वासना करते हो अर्थात् नेत्रों द्वारा भगवान्‌के दर्शनकी इच्छा करते हो तो—॥१०६॥

तद्गच्छ भारतं वर्षं तत्र नोऽत्रत्यमीश्वरम्।
नारायणं नरसखं पश्याद्रौ गन्धमादने॥१०७॥

श्लोकानुवाद—तब तुम भारतवर्षमें जाओ और वहाँ गन्धमादन पर्वत पर इस लोकके अधीश्वर श्रीनर-नारायणका दर्शन करो॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तदा तत्र वर्षे स्थितं नोऽस्माकमीश्वरं स्वामिनम् अत्रत्यमेतल्लोकाधिष्ठातारं पश्य। तत्रापि कुत्र? गन्धमादनाख्येऽद्रौ पर्वते॥१०७॥

भावानुवाद—इसके लिए भारतवर्षमें जाओ और वहाँ पर इस तपोलोकके अधिष्ठाता हमारे स्वामी उन श्रीनर-नारायणका दर्शन

करो। यदि कहो कि वे भारतवर्षमें कौनसे स्थान पर अवस्थान करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—वे गन्धमादन पर्वत पर रहते हैं॥१०७॥

अन्तर्बहिश्च पश्यामस्तं समाधिपरायणाः।
नातो विच्छेददुःखं स्यादित्यगात्तत्र स प्रभुः॥१०८॥

श्लोकानुवाद—हम समाधि परायण हैं तथा समाधिमें स्थित होकर अन्तर–बाहर सर्वत्र ही उनका दर्शन करते हैं, इसलिए हम उनका विच्छेद–दुःख अनुभव नहीं करते। वे प्रभु भी हमारी ऐसी योग्यता जानकर वहाँ चले गये हैं॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भवन्तस्तं विना कथमत्र स्थातुं शक्नुवन्ति? स च भक्तवत्सलः कथं युष्मान् परित्याज्यन्यत्र गत इत्याशंक्याह—अन्तरिति। अतः अस्माकमन्तर्बहिश्च तद्दर्शनाद्धेतोः। विच्छेदेन तस्य विरहेण यद्दुःखं तन्न स्यादित्यतो हेतोः स श्रीनारायणस्तत्र गन्धमादने गतः॥१०८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि आपलोग उन भगवान्के बिना उनके विरहमें किसलिए यहाँ पर रह रहे हैं? तथा वे भक्तवत्सल भगवान् भी आप लोगोंको परित्याग कर किसलिए वहाँ पर चले गये हैं? इस आशंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—हम समाधिबल द्वारा सर्वदा ही उन भगवान्को अन्तर और बाहर दर्शन करते हैं, इसलिए हमलोग उनके विरह–दुःखका अनुभव नहीं करते तथा भगवान् श्रीनारायण भी हमारी इस प्रकारकी योग्यता जानकर गन्धमादन पर्वत पर चले गये हैं॥१०८॥

लोकशिक्षा–हितार्थन्तु कुर्वन्नास्ते महत्तपः।
धनुर्विद्यागुरुर्ब्रह्मचारिवेशो जटाधरः॥१०९॥

श्लोकानुवाद—वहाँ पर वे प्रभु लोकशिक्षाके उद्देश्यसे धनुर्विद्याके गुरुरूपमें तथा ब्रह्मचारीवेशमें जटाधारण करके महान तपस्या कर रहे हैं॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र गमनकारणं निर्दिशन् तल्लक्षणमाह—लोकेति। लोकानां जनानां शिक्षा तपश्चर्यादिशिक्षणम्, सैव हितं मङ्गलं तदर्थम्। धनुर्विद्याया गुरुरिति कोदण्डमण्डितपाणित्वादिकमुन्नेयम्॥१०९॥

भावानुवाद—अब उस गन्धमादन पर्वत पर जानेका कारण निर्देश कर उनका लक्षण भी बता रहे हैं। समस्त लोगोंको तपस्याके आचरणकी शिक्षा प्रदान कर उनका मङ्गल विधान करनेके लिए वे प्रभु वहाँ पर अवस्थान करते हैं। 'धनुर्विद्याके गुरु' अर्थात् उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष-बाण धारण कर रखा है॥१०९॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तत्रैव गन्तुकामं मां चत्वारः सनकादयः।
पश्यात्रैव तमित्युक्त्वा बहुरूपाण्यदर्शयन्॥११०॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! मेरे द्वारा उस गन्धमादन पर्वत पर जानेके लिए उद्यत होने पर सनकादि चार ऋषियोंने मेरी चित्त-चञ्चलताको जानकर कहा—गोपकुमार! तुम इसी स्थान पर श्रीभगवान्‌का दर्शन करो। यह कहकर उन्होंने भगवान्‌की अनेक मूर्त्तियोंका मुझे दर्शन कराया॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र गन्धमादन एव; चत्वारः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमाराः। बहूनि रूपाणि श्रीभगवन्मूर्त्तीर्मामदर्शयन् व्यञ्जयामासुरिति वा। किं कृत्वा? अस्मिन् लोके स्थान एव वा तं भगवन्तं पश्येत्युक्त्वा॥११०॥

भावानुवाद—मेरे उस गन्धमादन पर्वत पर जानेके लिए उत्सुक होने पर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारने श्रीभगवान्‌की अनेक मूर्त्तियाँ प्रदर्शित करायीं। किसलिए? इसके उत्तरमें कहते हैं—चारों ऋषिकुमारोंने कहा कि अब तुम्हें गन्धमादन पर्वत पर जानेकी आवश्यकता नहीं है, इस तपोलोकमें ही श्रीभगवान्‌का दर्शन करो॥११०॥

एको नारायणो वृत्तो विष्णुरूपोऽपरोऽभवत्।
अन्यो यज्ञेशरूपोऽभूत परे विविधरूपवान्॥१११॥

श्लोकानुवाद—चारों ऋषिकुमारोंमें से मुख्य सनकने नारायणरूप, किसीने विष्णुरूप, किसीने यज्ञेश्वररूप और किसी-किसीने नृसिंह आदि नाना-प्रकारके भगवान्‌के स्वरूपोंको प्रकट किया॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—रूपदर्शनप्रकारमाह—एक इति, एको मुख्यः सनकः कश्चिदिति वा; नारायणो नरश्रेष्ठः; विष्णुः स्वर्गे दृष्ट उपेन्द्रस्तत्स्वरूपस्तत्तुल्यो वा; यज्ञेशो महर्लोके इष्टो यज्ञेश्वरस्तद्रूपः। विविधानि नृसिंह-वामनादीनि रूपाणि, तद्वान्, क्रमश-स्तत्तद्रूपोऽभूदित्यर्थः॥१११॥

भावानुवाद—उन भगवान्‌के रूपोंके दर्शनका प्रकार 'एको' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। चारों ऋषिकुमारोंमें मुख्य सनकने श्रीनारायण रूप धारण किया। कोई नरश्रेष्ठ हो गये, बाकी दोनोंमें से एक स्वर्गमें दृष्ट उपेन्द्रस्वरूप और दूसरे महर्लोकमें पूज्य यज्ञेश्वर हो गये अर्थात् उनके तुल्यरूप धारण किया। इस प्रकार धीरे-धीरे उन्होंने भगवान्‌के विविध रूप अर्थात् नृसिंह और वामनादि रूप भी प्रकटित किये॥१११॥

भयेन वेपमानस्तानवोचं साञ्जलिर्नमन्।
अपराधं मया बाढ़ं क्षमध्वं दीनवत्सलाः॥११२॥

श्लोकानुवाद—मैं इस अद्भुत दृश्यको देखकर भयसे काँपने लगा और हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहने लगा—हे दीनवत्सल! मैंने बहुत अपराध किया है, आप क्षमा कीजिये॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च भयेन वेपमानः कम्पमानः तान् सनकादीन् किम्? तदाह—अपराधमिति। बाढ़ं दृढ़मेव मया अपराधः कृतः। हे दीनवत्सलाः; क्षमध्वमपराधक्षमां कुरुत॥११२॥

भावानुवाद—तदन्तर मैं ऐसे अद्भुत दृश्यको देखकर भयसे काँपने लगा। फिर उन सनकादिको लक्ष्यकर हाथ जोड़कर कहने लगा—'मैंने बहुत अपराध किया है। हे दीनवत्सल! आप मुझे क्षमा कीजिये'॥११२॥

स्पृष्टोऽहं तैर्मूर्ध्नि लब्ध्वा समाधिं,
दृष्टानि प्राक् तानि रूपाण्यपश्यम्।
व्युत्थानेपि ध्यानवेगात् कदाचित्,
प्रत्यक्षाणीवानुपश्येयमारात् ॥११३॥

श्लोकानुवाद—तब सनकादिने मेरे मस्तकको स्पर्श किया, उस स्पर्शके प्रभावसे मैं समाधिस्थ हो गया और समाधिमें पहले देखी हुई

श्रीविष्णुकी समस्त मूर्त्तियोंका साक्षात् दर्शन करने लगा। इसके पश्चात् समाधि भङ्ग होने पर भी ध्यानके आवेशके कारण मैं उन समस्त मूर्त्तियोंको प्रत्यक्षकी भाँति दर्शन करने लगा॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तैः सनकादिभिरहं मूर्ध्नि स्पृष्टः सन् समाधिं चित्तैकाग्रतां लब्ध्वा प्राक् महर्लोकादौ दृष्टानि तानि रूपाणि श्रीविष्ण्वादिमूर्त्तीरपश्यं समाधावेव साक्षादिवान्वभवम्; पश्चाद्व्युत्थाने समाधिभङ्गेन बहिर्दृष्टौ सत्यामपि कदाचिदारात् समीपे प्रत्यक्षाणि साक्षाद्गृहीतानीव अनुपश्येयम्। कुतः? ध्यानस्य वेगादुद्रेकतः॥११३॥

भावानुवाद—तब उन सनकादिने मेरे मस्तकको स्पर्श किया, उस स्पर्शके प्रभावसे मैं उसी क्षण समाधिस्थ हो गया और उस समाधियोगमें महर्लोकादिमें पहले देखी हुई भगवान् श्रीविष्णुकी समस्त मूर्त्तियोंका साक्षात् दर्शन करने लगा। तत्पश्चात् समाधिके भङ्ग होने पर जब मैंने बाह्यदृष्टि प्राप्त की, तब भी कभी-कभी मैं उन समस्त मूर्त्तियोंको अपने समीपमें ही प्रत्यक्ष दर्शन करने लगा। क्यों? ध्यानके आवेशवशतः॥११३॥

ततो जपेऽपि मे निष्ठामविन्दत सुखं स्वतः।
किन्त्वस्या माधुरीभूमेर्व्याकुलीकुरुते मनः॥११४॥

श्लोकानुवाद—इसके द्वारा मेरा मन शान्त हो जानेके कारण भगवान्‌के रूप दर्शनमें अथवा जपकी परिपक्वतासे मुझे स्वतः ही आनन्द होने लगा। किन्तु जब मैं मन्त्रजप करता तभी वृन्दावनकी माधुरीका विच्छेद-शोक हृदयमें उदित होकर मुझे व्याकुल कर देता॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं पूर्ववदुत्तरपदान्तर्गमनाय प्रथमं तल्लोकत्यागे कथञ्चित् कारणमुपन्यस्यति—तत इति चतुर्भिः। तस्मान्मनःसमाधानात् भगवद्रूपदर्शनाद्वा; स्वतोऽयत्नेन सुखं यथा स्यात्तथा निष्ठां परिपाकं प्राप। तल्लक्षणमिव निर्दिशन्नाह—किन्त्विति। एवं तत्र सर्वथा सुखमेव समपद्यत, किन्तु अस्याः श्रीवृन्दावनादिरूपाया भूमेर्माधुरी मम मनो व्याकुलीकुरुते, जपकृतस्मरणेन विच्छेदशोकोत्पादनात्॥११४॥

भावानुवाद—अब पहलेकी भाँति उच्च स्थानमें जानेके लिए प्रथमतः उस तपोलोक परित्यागके कुछ कारणोंका 'तत' इत्यादि चार

श्लोकोंमें निर्देश कर रहे हैं। इस प्रकारसे मनके शान्त होनेके कारण अथवा भगवान्‌के दर्शन द्वारा अथवा अपने मन्त्रजपमें स्वाभाविक निष्ठा बढ़ जानेके कारण अर्थात् मन्त्रजपकी परिपक्व दशाको प्राप्त होनेके कारण मुझे अनायास ही आनन्द होने लगा। उस परिपक्व दशाका लक्षण निर्देश करनेके लिए कह रहे हैं—इस प्रकार मुझे उन तपोलोकवासियोंकी भाँति समस्त प्रकारका सुखभोग ही प्राप्त हुआ। किन्तु तब भी श्रीवृन्दावनकी माधुरीने मेरे मनको अत्यन्त व्याकुल कर दिया, क्योंकि मन्त्रजपके समय उस व्रजभूमिका स्मरण होनेसे मुझमें विच्छेद-शोक उत्पन्न होता॥११४॥

सुषुप्तिरिव काचिन्मे कदाचिज्जायते दशा।
तया जपेऽन्तरायः स्यात्तत्तद्रूपेक्षणे तथा॥११५॥

श्लोकानुवाद—समाधिदशामें चित्तवृत्तिके लय होनेके कारण मेरे जपमें बाधा और भगवान्‌के अनिर्वचनीय रूप दर्शनमें विघ्न उपस्थित होने लगा॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, कदाचित् समाधिरूपा दशावस्था, तस्यां सर्वेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिलोपेन शून्यतापत्तेः सुषुप्तिसादृश्यम्; अन्तरायो विघ्नः स्याज्जपा-सिद्धेः। तथेति समुच्चये। तेषां तेषामनिर्वचनीयानां रूपाणां श्रभगवन्मूर्त्तीनामीक्षणे दर्शने चान्तरायः स्यात्॥११५॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं—कभी-कभी समाधि दशामें समस्त इन्द्रियोंके साथ-साथ अन्तःकरणकी वृत्तिके लोप होनेके कारण मुझे सुषुप्ति दशाकी भाँति शून्यताका बोध होता और इसके फलस्वरूप जपमें बाधा उपस्थित होती, अर्थात् जपके समय होनेवाले भगवान्‌की अनिर्वचनीय मूर्त्तिके रूपलावण्यके दर्शनमें विघ्न उत्पन्न होता॥११५॥

विलपामि ततो नीलाचलं जिगमिषामि च।
तत्रत्यैस्तैस्तु तद्वृत्तं पृच्छेयाहं ससान्त्वनम्॥११६॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैं विलाप करता। तब श्रीजगन्नाथके दर्शनके लिए नीलाचल जानेकी इच्छा करने पर वहाँ उपस्थित

महर्षियोंने मधुर वचनोंसे सान्त्वना देकर मेरी अशान्तिका कारण पूछा॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततोऽन्तरायाद्विलपामि—'अहो मम दौर्भाग्यम्, अकस्मात् कोऽयमुपद्रवो जातः' इत्यादिविलापं करोमि। नीलाचलं श्रीजगन्नाथ-दर्शनार्थं गन्तुमिच्छामि, तत्र तद्विघ्नाभावात्। तत्रत्यैस्तल्लोकवासिभिस्तैः पिप्पलायनादिभिः। तस्य विलापस्य वृत्तं हेत्वादिकम्। यद्वा, तस्या दशाया वृत्तं विवरणम्। सान्त्वनं मधुर-वाक्येनाश्वासनं, तेन सहितं यथा स्यात्तथाहं पृच्छेय॥११६॥

भावानुवाद—जपके समय भगवान्के उस अनिर्वचनीय रूप लावण्यके दर्शनमें विघ्न उपस्थित होने पर—'अहो! मेरा कैसा दुर्भाग्य है? अचानक कैसा उपद्रव आरम्भ हो गया?' इस प्रकारसे मैं विलाप करता। तदनन्तर मैंने निश्चित किया कि मैं श्रीजगन्नाथके दर्शनके लिए नीलाचल जाऊँगा, क्योंकि वहाँ पर भगवान्के दर्शनमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं है। तब तपोलोकवासी उन पिप्पलायन आदि ऋषियोंने मेरे इस प्रकार विलाप अथवा मेरी वैसी दशासे अवगत होकर मधुर वचनों द्वारा सान्त्वना देते हुए मेरी अशान्तिका कारण पूछा॥११६॥

सशोकं कथ्यमाना सा श्रुत्वामीभिः प्रशस्यते।
मया तथानुबुद्ध्येत दुःखमेवानुमन्यते॥११७॥

श्लोकानुवाद—मैंने शोकपूर्वक उनसे अपनी दशाका वर्णन किया, जिसे सुनकर उन्होंने मेरी बड़ी प्रशंसा की। किन्तु उनके प्रशंसामूलक वचनोंको मैं समझ नहीं सका अपितु वही मेरे दुःखका कारण हुए॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा च दशा मया सशोकं कथ्यमानापि अमीभिः सनकादिभिः पिप्पलायनादिभिर्वा प्रशस्यते। अहोऽचिरादेवेदृशी परमदुर्लभा विशुद्धा दशा जातेति श्लाघ्यते। मया च सा तथा तादृशी प्रशंसार्हेति न बुध्येत। तत्प्रशंसाप्रकार इति वा, तत्तत्त्वाज्ञानाद् भक्तिस्वभावाद्वा; अतो दुःखमेवानुमन्यते मया॥११७॥

भावानुवाद—मैंने उनसे शोकसहित अपनी अवस्थाका वर्णन किया। उसे सुनकर उन सनकादि चार ऋषिकुमारों और पिप्पलायन

जैसे श्रेष्ठ योगियोंने मेरी अवस्थासे अवगत होकर मेरी बहुत प्रशंसा की। उन्होंने कहा—अहो! बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि शीघ्र ही इसकी ऐसी परमदुर्लभ विशुद्ध दशा उत्पन्न हो गयी। किन्तु, मैं उस प्रशंसाके वचनोंका तात्पर्य समझ नहीं सका। वस्तुतः मुझे मेरी उस दशाके तत्त्वकी अज्ञानताके कारण अथवा भक्तिके स्वभावके बलसे वे प्रशंसावाक्य बुद्धिगोचर नहीं हुए। अतएव भगवान्के दर्शनके अभावसे उत्पन्न विरहमें मेरा हृदय सर्वदा ही दुःखित रहता॥११७॥

अथाभ्यासबलेनान्तर्बहिश्च जगदीश्वरम्।
तत्तद्रूपेण पश्यामि प्रत्यक्षमिव सर्वतः॥११८॥

श्लोकानुवाद—मैं अभ्यासके बल पर भीतर और बाहर प्रत्यक्षकी भाँति उन श्रीजगदीश्वरका पहले दर्शन किये गये रूपोंमें दर्शन करता॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननूक्तं तल्लोकमाहात्म्यं, तर्हि कथं सिध्येदित्य-पेक्षयामाह—अथेति। अभ्यासः पुनः पूनर्ध्याने भगवद्दर्शनावृत्तिस्तस्य बलेन जगदीश्वरं बहिरन्तश्च तेन तेन पूर्वोक्तेन रूपेण विशिष्टं प्रत्यक्षं साक्षादिव सर्वत्र पश्यामि॥११८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भगवान्के दर्शनके अभावमें सर्वदा दुःखभोग होनेसे उस तपोलोकका माहात्म्य किस प्रकार सिद्ध होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मैं अभ्यासवशतः अर्थात् पुनः-पुनः ध्यानके वेगवशतः भीतर और बाहर पूर्वोक्त रूपोंवाले जगदीश्वरको सर्वत्र साक्षात्की भाँति दर्शन करता॥११८॥

कदाचित् सनकादींश्च ध्याननिष्ठावशं गतान्।
विन्दतस्तानि रूपाणि दृष्ट्वाप्नोमि परां मुदम्॥११९॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी मैं देखता कि सनकादिने श्रीभगवान्की मूर्त्तिका ध्यान करते-करते श्रीभगवान्के समान ही रूप प्राप्त किया है, उनकी ऐसी ध्याननिष्ठा और उसके प्रभावसे उदित तन्मयता देखकर मैं अत्यन्त आनन्दित होता॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानि पूर्वोक्तानि रूपाणि विन्दतो लभमानान् दृष्ट्वा। तत्र हेतुः—ध्यानं तेषु रूपेषु चित्ताभिनिवेशस्तस्य निष्ठा स्थैर्यं, तस्या वशं गतान्

तदेकपरतां प्राप्तान् सतः। पेशस्कृतो भ्रमरविशेषस्य ध्यानेन कीटानां तद्रूपतापत्तिवत् ध्यानवेगेनैव तादृक्त्वं प्राप्नुवत इत्यर्थः॥११९॥

भावानुवाद—मैं और भी देखता कि किसी-किसी समय श्रीसनकादि ऋषि भगवान्‌की मूर्त्तियोंका ध्यान करते-करते भगवन्मूर्त्तिमय हो जाते। इसका कारण था—भगवान्‌के अनेक रूपोंके ध्यान अर्थात् चित्ताभिनिवेशमें निष्ठा या स्थिरता। उस चित्ताभिनिवेश रूप निष्ठाके फलसे तदेकरूपता अर्थात् ध्येय-स्वरूपके आकारकी प्राप्ति। जिस प्रकार पेशकृत नामक भ्रमरका ध्यान करनेसे अन्य कीटको उसीके समान आकार प्राप्त होता है, उसी प्रकार ध्यानके वेगवशतः वे लोग ध्येयका स्वरूप प्राप्त कर लेते थे। जैसा भी हो, उनकी ऐसी ध्यान-निष्ठा और उसके प्रभावसे उदित तन्मयताको देखकर मैं अत्यन्त आनन्दित होता॥११९॥

तत्तद्रहितकालेऽपि न सीदामि तदाशया।
इत्थं चिरदिनं तत्र सुखेनेवावसं सदा॥१२०॥

श्लोकानुवाद—जिस समय श्रीसनकादि मुझे भगवान्‌के रूपमें नहीं दीखते, उस समय भी उनके दर्शनकी आशासे मेरे चित्तमें दुःख नहीं होता था। इस प्रकार मैंने बहुत दिनों तक वहाँ पर सुखपूर्वक ही वास किया॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन तेन सतोऽमीभ्यश्च जायमानेन रूपदर्शनेन रहितो हीनो यः कालस्तस्मिन्नपि। तस्य रूपदर्शनस्याशया; तत्र तपोलोके; इव-शब्देन कदाचित् किञ्चिद्दुःखमपि सूचितं, तच्च प्रायेणोद्दिष्टमेव॥१२०॥

भावानुवाद—जब भगवान्‌की उन सब मूर्त्तियोंके दर्शन नहीं होते अर्थात् जिस समय श्रीसनकादि मुझे भगवान्‌की मूर्त्तिका दर्शन नहीं कराते, उस समय भी पुनः उस रूपके दर्शनकी आशासे मेरे चित्तमें दुःख उदित नहीं होता था। मूल श्लोकमें 'इव' शब्द द्वारा उस तपोलोकमें कभी-कभी दुःखका होना सूचित होनेके कारण उनका सुखपूर्वक वास 'प्राय' शब्दके द्वारा उद्दिष्ट हुआ है॥१२०॥

कदाचित् पुष्करद्वीपे स्वभक्तान् कृपयेक्षितुम्।
प्रस्थितोऽहं समारूढस्तत्रायातश्चतुर्मुखः॥१२१॥

श्लोकानुवाद—किसी समय हंस पर बैठकर पुष्करद्वीपमें अपने भक्तोंको कृपावशतः दर्शन देनेके लिए जाते समय चतुर्मुख ब्रह्मा तपोलोकमें उपस्थित हुए॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं सत्यलोकगमने कारणविशेषमुपक्षिपति—एकदेत्यादिना नो मतमित्यन्तेन। तत्र सत्यलोकस्य माहात्म्यविशेष-प्रतिपादनाय तल्लोकस्वामिनः श्रीब्रह्मणो महिमविशेषं वदन्नादौ स्वयं दृष्टं तमेव त्रिभिर्वर्णयति—पुष्करद्वीपे वर्त्तमानान् स्वभक्तानीक्षितुं तद्द्वीप एव प्रस्थितः कृतप्रयाणः सन्; तत्र तपोलोके आयातः। तत्तत्त्वाज्ञानेन यथादृष्टरूपस्यैव निर्देशः, हंसमारूढ़ इत्यादिविशेषण-चतुष्केण॥१२१॥

भावानुवाद—अब सत्यलोक जानेका कारण बतला रहे हैं। उस सत्यलोकका माहात्म्य विशेषरूपसे स्थापन करनेके लिए प्रथमतः स्वयं देखी गयी सत्यलोकके अधिष्ठता श्रीब्रह्माकी महिमाका वर्णन तीन श्लोकोंमें कर रहे हैं। किसी समय पुष्करद्वीपमें वर्त्तमान अपने भक्तोंको देखनेके लिए अथवा दर्शन देनेके लिए जाते हुए हंस पर विराजित होकर चतुर्मुख ब्रह्मा मार्गमें तपोलोकमें उपस्थित हुए। गोपकुमार श्रीब्रह्माके तत्त्वको जानते नहीं थे, इसलिए उन्होंने जैसा उनको देखा वैसा ही अर्थात् 'हंसारूढ़', 'चतुर्मुख' इत्यादि रूपमें उनका स्वरूप निर्देश किया है॥१२१॥

परमैश्वर्यसम्पन्नः स वृद्धः सनकादिभिः।
ससम्भ्रमं प्रणम्याभिपूजितो भक्तिनम्रितैः॥१२२॥

श्लोकानुवाद—परम ऐश्वर्यसम्पन्न उन वृद्ध श्रीब्रह्माको वहाँ उपस्थित देखकर सनकादि मुनियोंने सम्भ्रमके साथ प्रणाम कर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—परमं सर्वतः श्रेष्ठं यदैश्वर्यं परिच्छदपरिजनादिवैभवं तेन सम्पन्नः; स चतुर्मुखः। वृद्धः परमप्रामाणिकलक्षण-लम्बश्वेतकूर्चवत्त्वेन, न तु जराद्यभिभवेन, भगवदवतारत्वेन सच्चिदानन्दघनमूर्त्तित्वात्॥१२२॥

भावानुवाद—सर्वश्रेष्ठ वस्त्र, अनुचर और परिजनादिके द्वारा जो परम ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, उन प्रामाणिक अर्थात् परम प्रमाण रूप चतुर्मुख ब्रह्माजीके सम्बन्धमें कह रहे हैं। यहाँ पर परम प्रामाणिक होनेका लक्षण है—उनकी लम्बी सफेद दाढ़ी। यद्यपि देखनेमें वे वृद्धके समान

हैं, तथापि उनके शरीरमें बुढ़ापेका आगमन नहीं हुआ है। इसका कारण है कि भगवान्‌के अवतार होनेके कारण वे सच्चिदानन्द मूर्त्ति हैं॥१२२॥

आशीर्भिर्वर्द्धयित्वा तान् स्नेहेनाघ्राय मूर्धसु।
किञ्चित् समनुशिष्यासौ तं द्वीपं वेगतोऽगमत्॥१२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने भी बार-बार आशीर्वाद प्रदान करते हुए स्नेहपूर्वक सनाकादि कुमारोंका मस्तक आघ्राण किया और भगवद्भक्तिके रहस्यका कुछ उपदेश देकर वे शीघ्र ही पुष्करद्वीपकी ओर चले गये॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तान् सनकादीन्; किञ्चिदिति तद्विशेषेणानवधारणात् सामान्येन निर्देशः; तच्च भगवद्भक्तिरहस्यमित्यूह्यम्। अनुशिष्य बारं बारं शिक्षयित्वा; असौ चतुर्मूखः; तं पुष्कराख्यं द्वीपम्॥१२३॥

भावानुवाद—उन्होंने सनकादिको पुनः-पुनः स्नेहपूर्ण आशीर्वाद दिया और भगवद्भक्तिके रहस्यका कुछ उपदेश दिया। यहाँ 'किंचित्' कहनेका उद्देश्य है कि विशेषरूपसे भक्तिरहस्यको धारण करनेमें अर्थात् श्रद्धासहित निश्चयपूर्वक श्रवण और हृदयमें रक्षण करनेमें अयोग्य होनेके कारण सामान्यरूपमें ही निर्देश दिया अर्थात् भक्तिरहस्यको उनकी योग्यतानुसार ही बतलाया। तथापि उन्होंने बार-बार उपदेश दिया और फिर वे शीघ्रतासे पुष्करद्वीपकी ओर चले गये॥१२३॥

तत्तत्त्ववृत्तं संपृष्टा मयाऽवोचन् विहस्य ते।
अत्रागत्याधुनापीमं गोपबालक वेत्सि न॥१२४॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर जब मैंने सनकादिसे उनके सम्बन्धमें जाननेके लिए कुछ पूछा तो उन्होंने हँसते-हँसते कहा, हे गोपबालक! तुम यहाँ पर इतने दिनोंसे वास कर रहे हो और परम प्रसिद्ध इन ब्रह्माजीका तत्त्व भी नहीं जानते हो?॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य चतुर्मुखस्य तत्त्वं स्वरूपं, तस्य वृत्तं विवरणं मया ते सनकादयः पृष्टाः सन्तः विहस्यावोचन्नूचुः। किम्? तदाह—अत्रेति सार्द्धचतुर्भिः।

हे गोपबालकेति हासप्रकारः। अत्र तपोलोके आगत्यापि; तत्र चाधुना एतावत्यपि काले; इमं परमं प्रसिद्धं न वेत्सि; अयञ्च हासप्रकार एव॥१२४॥

भावानुवाद—तदन्तर मैंने सनकादिसे श्रीब्रह्माका तत्त्व और उनका विवरण पूछा, तो वे हँसते-हँसते बोले। किस प्रकार बोले? इसे 'अत्र' इत्यादि साढ़े चार श्लोकोंमें बतला रहे हैं। हे गोपबालक! सचमुच तुम गोपबालक ही हो; इस तपोलाकमें तुम इतने समयसे वास कर रहे हो और परम प्रसिद्ध इन चतुर्मुख ब्रह्माजीके तत्त्वसे अवगत नहीं हो? यही हास्यका कारण है॥१२४॥

प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा स्रष्टा विश्वस्य नः पिता।
स्वयम्भूः परमेष्ठ्येष जगत् पात्यनुशास्त्यपि॥१२५॥

श्लोकानुवाद—इनका नाम श्रीब्रह्मा है, ये प्रजापतियोंके भी पति हैं और हमारे पिता हैं। ये स्वयम्भू हैं अर्थात् इनके पिता नहीं हैं। ये परमेष्ठी, विश्वस्रष्टा और विश्वपालक हैं तथा वेद-वाणीके प्रचार द्वारा धर्मादिकी शिक्षा देते हैं॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—कोऽयमित्यपेक्षायां स्वयमेव विज्ञापयन्ति—प्रजेति, प्रजापतीनां भृग्वादीनामपि पतिः स्वामी पालको वा। नोऽस्माकं पिता, एवं तेषामपि पितेति ज्ञापितं, सनकादि-भ्रातृत्वात्। तस्य च पिता नास्तीत्याहुः—स्वयम्भूः स्वयमेव, भगवन्नाभिकमलादाविर्भूतत्वात्। परमेष्ठी सर्वश्रेष्ठतमपदाधिकारी। पाति वृत्तिदानादिना; अनुशास्ति वेदप्रवर्त्तनद्वारा धर्मादिशिक्षणेन। यद्वा, विश्वस्य स्रष्टेति स्रष्टृत्वमुक्त्वा पात्यनुशास्तीति पदद्वयेनानेन पालकत्वं संहारकत्वञ्चोक्तम्॥१२५॥

भावानुवाद—ये कौन हैं? इसके उत्तरमें 'प्रज' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। ये भृगु जैसे प्रजापतियोंके भी पति अर्थात् पालनकर्त्ता हैं और हमारे पिता हैं। इस प्रकार वे भृगु आदिके भी पिता हैं—ऐसा सूचित हुआ है, क्योंकि भृगु आदि सनकादिके भाई हैं। परन्तु ये स्वयम्भू हैं अर्थात् इनके पिता नहीं हैं, क्योंकि ये स्वयं ही श्रीभगवान्के नाभिकमलसे आविर्भूत हुए हैं। ये परमेष्ठी अर्थात् सर्वश्रेष्ठतम पदाधिकारी हैं, 'पाति' अर्थात् जीविकाकी वृत्तिदानकर विश्वका पालन करते हैं तथा 'अनुशास्ति' अर्थात् वेद प्रवर्त्तन द्वारा धर्मादिकी शिक्षा भी देते हैं। अथवा विश्वकी सृष्टि करते हैं, इसलिए इनमें सृष्टत्व

है तथा 'पाति' और 'अनुशास्ति' पदोंसे उनके द्वारा क्रमशः पालन करना और संहार करना भी कथित हुआ है॥१२५॥

अस्य लोकस्तु सत्याख्यः सर्वोपरि विराजते।
शतजन्मकृतैः शुद्धैः स्वधर्मैर्लभ्यते हि यः॥१२६॥

श्लोकानुवाद—इनका वासस्थान सत्यलोकमें है तथा वह लोक इस ब्रह्माण्डमें सबसे ऊपर विराजमान है। सौ जन्मोंमें शुद्धरूपसे स्वधर्मके आचरण द्वारा वह सत्यलोक प्राप्त होता है॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुत्र वसतीत्यपेक्षायामाहुः—अस्येति। सर्वेषां लोकानामुपरि ब्रह्माण्डोर्ध्वभागस्यान्त्यसीमवर्तित्वात्। यो हि लोकः शतजन्मभिः कृतैः सञ्चितैः स्वधर्मैर्लभ्यते;—*'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति'* इति चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा० ४/२४/२९) श्रीरुद्रोक्तेः॥१२६॥

भावानुवाद—ये कहाँ वास करते हैं? इसके उत्तरमें 'अस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इनका वासस्थान सत्यलोकमें है। वह सत्यलोक समस्त लोकोंके ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्डके उच्चतम भागकी अन्तिम सीमा पर स्थित है। वह लोक सौ जन्मों तक त्रुटिरहित स्वधर्म पालनके फलस्वरूप प्राप्त होता है। चतुर्थ-स्कन्ध (४/२४/२९)में श्रीरुद्रने कहा है—सौ जन्मों तक निष्ठापूर्वक स्वधर्मका आचरण करनेसे विरिञ्चित्व अर्थात् ब्रह्मापद प्राप्त होता है॥१२६॥

तत्र वैकुण्ठलोकोऽस्ति यस्मिन् श्रीजगदीश्वरः।
सहस्रशीर्षा वर्तेत स महापुरुषः सदा॥१२७॥

श्लोकानुवाद—उस सत्यलोकमें जो वैकुण्ठलोक है, वहाँ सहस्रशीर्षा नामक महापुरुष श्रीजगदीश्वर सर्वदा विराजमान रहते हैं॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव तव मनःपूर्त्तिः स्यादित्यभिप्रायेण तल्लोक माहात्म्यविशेषमाहुः—तत्रेति। तस्मिन् सत्यलोक एव वैकुण्ठाख्यो लोकः स्थानविशेषोऽस्ति। यस्मिन् वैकुण्ठलोके, सः अनिर्वचनीयः महापुरुषरूपः॥१२७॥

भावानुवाद—वहाँ पर तुम्हारे मनकी वाञ्छा भी पूर्ण होगी—इसी अभिप्रायसे उस सत्यलोकका माहात्म्य बतला रहे हैं। उस सत्यलोकमें

किसी स्थान पर वैकुण्ठलोक नामक धाम भी विराजमान है। उस वैकुण्ठलोकमें अनिर्वचनीय महापुरुष सहस्रशीर्षा नामक श्रीजगदीश्वर रहते हैं॥१२७॥

तस्य पुत्र इव ब्रह्मा श्रूयते न च भिद्यते।
ब्रह्मैव लीलया तत्र मूर्त्तिभ्यां भाति नो मतम्॥१२८॥

श्लोकानुवाद—श्रुतिमें सुना जाता है कि ये ब्रह्माजी उन महापुरुषके पुत्रके समान हैं, इसलिए इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। श्रीब्रह्मा ही लीलावशतः इन दो मूर्त्तियोंमें प्रकाशित हो रहे हैं—यही हमारा निश्चित सिद्धान्त है॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि श्रीब्रह्मणस्तल्लोकस्वामित्वं पारमेष्ठ्यादि-माहात्म्यं तत्र तादृग्वर्णितम्? तत्र जगदीश्वरस्य साक्षाद्वृत्तेरित्याशंक्याह—तस्येति। इवेति लौकिकरीत्यदर्शनात्। श्रूयते श्रुतिभ्यः, न तु तत्त्वतो ज्ञायते; तदुत्पन्नत्वेनास्माकं सर्वेषां ततोऽर्वाचीनत्वात्। ननु पुत्रस्य पितुः सकाशात् पूज्य-पूजकत्वादिना भेदो दृश्यत एव, तत्राह—ब्रह्मैव मूर्त्तिभ्यां चतुर्मुख-सहस्रशीर्षरूपाभ्यां तत्र तत्र लोके लीलया भाति विराजते; नोऽस्माकं मतमेतत्। ब्रह्मण्यपि जगदीश्वरतालक्षणदर्शनेन तयोरभेदप्रतीतिरिति॥१२८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि उस सत्यलोकमें श्रीजगदीश्वर यदि साक्षात् विराजमान हैं, तो किस प्रकारसे श्रीब्रह्माका उस लोकके स्वामी और परमेष्ठीके रूपमें माहात्म्य वर्णन किया गया है? इस आशंकाके उत्तरमें 'तस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'इव' शब्दके द्वारा यह सूचित होता है कि हम लौकिक रीतिसे देखते हैं या श्रुति आदि शास्त्रोंके द्वारा सुनते हैं कि श्रीब्रह्मा उन सहस्रशीर्षा महापुरुषके पुत्रके समान हैं, किन्तु तत्त्व-विचारसे ऐसा नहीं जाना जाता। इसका कारण है कि हम सभी उन ब्रह्माके पुत्र रूपमें उत्पन्न होनेके कारण नवीन हैं, अतः हमने उनको जन्म लेते देखा नहीं है केवल सुना है आपत्ति हो सकती है कि यदि ब्रह्मा महापुरुषके पुत्र हैं, तो पुत्रका पिताके प्रति पूज्य-पूजक भाव होनेके कारण भेद प्रतीत होता है। किन्तु यह हमारा मत नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा ही लीलावश दो रूपों 'चतुर्मुख' और 'सहस्रशीर्षा महापुरुष'में प्रकाशित हुए हैं। श्रीब्रह्मामें भी

जगदीश्वरताके लक्षण देखनेके कारण दोनोंमें अभेद प्रतीत होता है—यही हमारा निश्चित सिद्धान्त है॥१२८॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तच्छ्रुत्वा तत्र गत्वा तं महापुरुषमीक्षितुम्।
जपं कुर्वंस्तपोलोके निविष्टोऽन्तःसमाधिना॥१२९॥
मुहूर्त्तानन्तरं दृष्टी समुन्मील्य व्यलोकयम्।
ब्रह्मलोकाप्तमात्मानं तञ्च श्रीजगदीश्वरम्॥१३०॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा, हे विप्र! सनकादि कुमारोंसे ऐसा सुनकर मैंने सत्यलोकमें उन महापुरुषके दर्शन करनेका निश्चय किया और अन्तःसमाधिमें निविष्ट होकर मन्त्रजप करने लगा। एक मुहूर्तके बाद जैसे ही नेत्रोंको खोला, मैंने देखा कि मैं सत्यलोकमें पहुँच गया हूँ और वहाँ श्रीजगदीश्वरके भी दर्शन हो रहे हैं॥१२९-१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र सत्यलोके; तं तल्लोकवर्तिनम्; अन्तर्मनसः समाधिना तपोलोके निविष्ट उपविष्टः सन्। मुहूर्त्तादनन्तरं दृष्टी चक्षुषी समुन्मील्य आत्मानं मां ब्रह्मलोक प्राप्तं व्यलोकयमिति द्वाभ्यामन्वयः। तं महापुरुषरूपं श्रीजगदीश्वरञ्च व्यलोकयम्॥१२९-१३०॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् सनकादि कुमारोंकी बातोंको सुनकर सत्य-लोकमें उन महापुरुष श्रीजगदीश्वरका दर्शन करनेके लिए मैं उस तपोलोकमें ही बैठकर निविष्टमनसे मन्त्रजप करते-करते समाधिदशाको प्राप्त हुआ। एक मुहूर्तके बाद आँखें खोलने पर मैंने देखा कि मैं ब्रह्मलोकमें पहुँच गया हूँ और वे श्रीजगदीश्वर भी नयनगोचर हो रहे हैं॥१२९-१३०॥

श्रीमत्सहस्रभुजशीर्षपदं महान्तं
नीलाम्बुदाभमनुरूपविभूषणाढ्यम्।
तेजोनिधिं कमलनाभमनन्तभोग-
तल्पे शयानमखिलाक्षिमनोऽभिरामम्॥१३१॥

श्लोकानुवाद—मैंने देखा कि उन श्रीजगदीश्वरका अत्यन्त विराट विग्रह है, जो हजारों भुजाओं, मस्तकों तथा चरणोंसे सुशोभित है।

उनकी कान्ति नीले मेघके समान है। वे विविध प्रकारके अलङ्कारोंसे विभूषित हैं, तेजके निधि स्वरूप हैं और उनकी नाभिमें प्रफुल्ल कमल विराजमान है। वे शेषनाग पर शयन करते हुए सबके नेत्रों और मनको आनन्द प्रदान कर रहे हैं॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—श्रीमदिति त्रिभिः, श्रीमन्ति सहस्राण्यपरिमितानि भुजशीर्षपदानि यस्य तम्; महान्तं बृहत्प्रमाणाकारमनुरूपैस्तत्तदवयवोचितैर्विभूषणैराढ्यं युक्तम्; तेजसां निधिं निधानम्; कमलं नाभौ यस्य तम्; अनन्तस्य शेषस्य भोग एव तल्पं शय्या तत्र शयानम्; अखिलस्य जगतोऽक्षिमनसामभिरामम्; अनेन सहस्रभुजशीर्षादियुक्त-महाकारत्वेऽपि परमसौन्दर्यमुक्तम्॥१३१॥

भावानुवाद—वे जगदीश्वर कैसे हैं? इसे बतलानेके लिए 'श्रीमत्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। मैंने देखा कि वह जगदीश्वर 'श्रीमन्त' अर्थात् हजारों भुजाओं, सिरों और चरणोंसे युक्त अत्यन्त विराट मूर्त्ति धारण किये हुए हैं और श्रीमूर्त्तिके अनुरूप दिव्य वेश-भूषा और आभूषणोंसे विभूषित हैं। वे समस्त तेजके निधान होने पर भी स्निग्ध नील-मेघके समान कान्तियुक्त हैं और उनकी नाभिमें कमल खिला हुआ है। वे अनन्तनागके फणरूप शय्या पर शयन कर रहे हैं। वे जगतके समस्त प्राणियोंके नेत्र और मनको परम आनन्द प्रदान कर रहे हैं, अतएव हजारों भुजाओं, मस्तकादि युक्त विशाल श्रीविग्रहवाले होने पर भी वे परम सौन्दर्ययुक्त हैं॥१३१॥

संवाह्यमानचरणं रमया सुपर्णे
बद्धाञ्जलौ कृतदृशं विधिनार्च्यमानम्।
भूयो विभूतिभिरमुं बहु लालयन्तं
श्रीनारद-प्रणयभक्तिषु दत्तचित्तम्॥१३२॥

श्लोकानुवाद—मैंने और भी देखा कि श्रीरमादेवी उनके श्रीचरणोंकी सेवा कर रही हैं, गरुड़ हाथ जोड़कर खड़े हैं और श्रीजगदीश्वर उनके (गरुड़के) प्रति कृपादृष्टिपात कर रहे हैं। अत्यधिक वैभवसे युक्त ब्रह्माजी उनका पूजन कर रहे हैं तथा श्रीजगदीश्वर नाना-प्रकारसे उनका लालन कर रहे हैं, श्रीनारद नृत्य-गीतके द्वारा प्रेमभक्ति प्रकाश कर रहे हैं और श्रीजगदीश्वर भी उनके द्वारा की गयी सेवामें चित्तको निमग्न किये हुए हैं॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, रमया लक्ष्म्या संवाह्यमानाश्चरणा यस्य तम्; बद्धोऽञ्जलिर्येन तस्मिन् सुपर्णे श्रीगरुड़े कृता दृक् दृष्टिर्येन तम्; विधिना ब्रह्मणा भूयसीभिर्विभूतिभिर्निजवैभवैः कृत्वार्च्यमानं पूज्यमानम् अमुं विधिं बहु यथा स्यात्तथा लालयन्तं श्रीहस्ताब्जस्पर्शनादिना लालनं कुर्वन्तम्। श्रीनारदस्य याः प्रणययुक्ता भक्तयः गीत-नृत्यादिरूपाः सेवास्तासु दत्तं न्यस्तं चित्तं येन॥१३२॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं, मैंने देखा कि श्रीरमादेवी उनके चरणोंकी सेवा कर रही हैं। गरुड़ हाथ जोड़कर सेवाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और श्रीजगदीश्वर उनके प्रति स्नेहपूर्वक दृष्टिपात कर रहे हैं। ब्रह्मा विचित्र वैभवोंके द्वारा बहुत प्रकारसे उनका अर्चन-पूजन कर रहे हैं और श्रीभगवान् भी कभी-कभी अपने करकमलोंका कोमल स्पर्श प्रदानकर उनका लालन कर रहे हैं। श्रीनारद नृत्य-गीतादिरूप सेवा द्वारा प्रेम-भक्तिका प्रकाश कर रहे हैं और श्रीभगवान् श्रीनारद द्वारा की जानेवाली सेवामें चित्तको निमग्न किये हुए हैं॥१३२॥

महारहस्यं　निगमार्थतत्त्वं
स्वभक्तिमार्गं　कमलासनाय।
शनैर्विवृत्योपदिशन्तमन्त-
र्निजालयेन्द्रस्य　विराजमानम्॥१३३॥

श्लोकानुवाद—श्रीजगदीश्वर कमलासन ब्रह्माके लिए अत्यन्त रहस्यपूर्ण गूढ़ अर्थको प्रकटकर वेदोंके परम गोपनीय सार अर्थात् अपनी भक्तिमार्गका उपदेश धीरे-धीरे कर रहे हैं और अपनी अङ्गकान्ति द्वारा अपने निवास स्थानको प्रकाशित कर उसमें विराज रहे हैं॥१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, कमलं भगवन्नाभिसरोजमेवासनं यस्य तस्मै; पूजानन्तरं निजासने गत्वासीनाय ब्रह्मणे इत्यर्थः। स्वस्य भगवतो भक्तिरेव मार्गस्तत्प्रापकत्वात्। यद्वा, भक्तेर्मार्गं प्रकारमित्यर्थः। विवृत्य विस्तार्य; शनैः परमरहस्यत्वाल्लघु लघु उपदिशन्तं शिक्षयन्तं कर्णे कथयन्तमिति वा; कीदृशं मार्गम्? निगमानां वेदानामर्थस्याभिधेयस्य तत्त्वं सारभूतम्; अतएव महारहस्यं परमगोप्यम्। पुनर्जगदीश्वरमेव विशिनष्टि—निजो य आलयेन्द्रः प्रासादश्रेष्ठः तस्यान्तर्मध्ये विराजमानमित्यर्थः॥१३३॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं—श्रीभगवान्‌की नाभिकमलमें जिनका आसन है, उन कमलासन ब्रह्मा द्वारा अर्चन-पूजन समाप्त कर श्रीभगवान्‌के समीप बैठने पर श्रीभगवान् उनको परमगोपनीय अर्थात् अपनेको प्राप्त करानेवाले भक्तिमार्गका अथवा उसका प्रकार विस्तारपूर्वक धीरे-धीरे उपदेश कर रहे थे। परम रहस्यमय होनेके कारण धीरे-धीरे अर्थात् ब्रह्माके कानोंमें उपदेश कर रहे थे। वह भक्तिमार्ग कैसा है? इसके उत्तरमें श्रीजगदीश्वर जो अपनी अङ्गकान्तिसे अपने आलय अर्थात् वासस्थानको प्रकाशितकर उसमें विराज रहे थे, पुनः बोले—वह भक्तिमार्ग निगमसमूह अर्थात् वेद अर्थोंका सार अभिधेयतत्त्व है। अतएव अत्यन्त रहस्यमय होनेके कारण परमगोपनीय है॥१३३॥

अथो तदाकर्ण्य चतुर्मुखञ्च
प्रमोदसम्पद्विवशीभवन्तम् ।
अनूद्य नीचैरनुमोदमानं
मुहुस्तदङ्घ्रीनभिवन्दमानम् ॥१३४॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् चतुर्मुख श्रीब्रह्मा उस भक्तितत्त्वको श्रवणकर परम आनन्दरूप सम्पत्ति प्राप्तकर विह्वल हो गये और धीमे स्वरसे श्रीजगदीश्वरके वचनामृतका अनुमोदन कर पुनः-पुनः उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने लगे॥१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथो अनन्तरं चतुर्मुखं व्यलोकयम्। कीदृशम्? तत्तत्त्वमाकर्ण्य प्रमोदसम्पद्भिः परमानन्द सम्पत्तिभिर्विवशीभवन्तम्; ततश्च नीचैर्लघु लघु तदेवानूद्य अनुमोदमानम्; ततश्च भक्त्या तस्य श्रीजगदीश्वरस्य अङ्घ्रीन् चरणकमलानि मुहुरभिवन्दमानम्; नाभिकमलोपरि निविश्यैव वागञ्जल्यादिना किंवा ततोऽवरुह्य मूर्धादिभिः प्रणमन्तम्॥१३४॥

भावानुवाद—तदनन्तर मैंने श्रीब्रह्माकी ओर देखा। वे क्या कर रहे थे? इसके उत्तरमें कहते हैं—उस भक्तितत्त्वको श्रवणकर वे परमानन्दरूप सम्पत्ति प्राप्तकर विभोर हो रहे थे और धीमे स्वरसे श्रीभगवान्‌के वचनामृतका अनुमोदन कर रहे थे। फिर वे भक्तिपूर्वक जगदीश्वरके श्रीचरणकमलोंका बार-बार अभिनन्दन करने लगे। श्रीभगवान्‌के नाभिकमलके ऊपर श्रीब्रह्माका निवास होनेके कारण वे वाक्यरूप

अञ्जलि द्वारा अभिनन्दन करने लगे। अथवा उस नाभिकमलसे नीचे उतरकर बार-बार दण्डवत् प्रणाम करने लगे॥१३४॥

प्रमोदवेगात् पतितं विसंज्ञं,
विलोक्य सा मामभिगम्य लक्ष्मीः।
निनाय संज्ञां बहु लालयित्वा,
स्वबालवत् पार्श्वमुत स्वभर्त्तुः॥१३५॥

श्लोकानुवाद—यह सब देखकर मैं आनन्दवशतः मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। ऐसा देखकर श्रीलक्ष्मीने मेरे निकट आकर बहुत प्रकारसे लालन-पालनकर मुझे चेतन किया। फिर वे मुझे अपने बालकके समान स्नेहपूर्वक अपने पति श्रीभगवान्के समीप ले गयीं॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजवृत्तमाह—प्रमोदेत्यादिना, प्रमोदस्य वेगादुद्रेकात् पतितमथ विसंज्ञं च प्राप्तमोहं मां विलोक्य सा भगवत्परा लक्ष्मीरभिगम्य अग्रत एत्य बहु यथा स्यात्तथा स्वबालवत् स्वकीयशिशुमिव लालयित्वा शीतलहस्तस्पर्श-जलसेकादिना लालनं कृत्वा संज्ञां बोधं निनाय प्रापितवती। उतेति समुच्चये। स्वभर्त्तुः श्रीजगदीश्वरस्य पार्श्वञ्च निनाय॥१३५॥

भावानुवाद—अब अपने सम्बन्धमें बतला रहे हैं। मैं यह सब अनिर्वचनीय क्रिया-कलाप दर्शनकर परम आनन्दवशतः अचेतन होकर भूमि पर गिर पड़ा। उस समय भगवान्की प्रेयसी श्रीलक्ष्मीदेवी मेरी वैसी अवस्थाको देखकर उसी क्षण मेरे पास आकर मुझे अपने पुत्रकी भाँति लालन करने लगी। उन्होंने अपने हाथोंसे जल छिड़ककर तथा अपने शीतल हस्तस्पर्श द्वारा मुझे सचेतन किया और अन्तमें अपने पति श्रीजगदीश्वरके समीप ले गयीं॥१३५॥

भगवन्तं मुहुः पश्यन् प्रणमन्नवदं मनः।
निजेप्सितान्तमद्यागा निश्चलं त्वं मुदं भज॥१३६॥

श्लोकानुवाद—मैंने बार-बार श्रीभगवान्का दर्शन और उनको प्रणाम करते हुए मन-ही-मन कहा—हे मन! अब तुमने अपने अभीष्टकी अन्तिम सीमाको प्राप्त कर लिया है, इसलिए अब स्थिर होकर आनन्दका उपभोग करो॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च भगवन्तं पश्यन् सन् मुहुः प्रणमन् स्वमनः प्रत्यवदम्। किन्तदाह-निजेति सार्द्धैश्चतुर्भिः। निजानामीप्सितानां प्राप्तुमिष्टानामन्तं सीमां त्वमद्य अगा लब्धमसि। अतोऽद्य निश्चलं यथा स्यात्; यद्वा, निश्चलं स्थिरं सत् मुदं भज॥१३६॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् मैंने बार-बार श्रीभगवान्‌का दर्शन और उनको प्रणाम करते हुए मन-ही-मन कहा। क्या कहा? इसके उत्तरमें 'निज' इत्यादि साढ़े चार श्लोक कह रहे हैं। हे मन! तुमने अब अपनी वाञ्छित चरम इष्टवस्तुको प्राप्त कर लिया है, अतएव चञ्चलताका परित्याग कर स्थिर भावसे इन श्रीजगदीश्वरका भजन करो और आनन्दका उपभोग करो॥१३६॥

अशेषशोकसन्त्रासदुःखहीनमिदं पदम्।
परमर्धिपरानन्दनिचितं जगदर्चितम्॥१३७॥

श्लोकानुवाद—इस सत्यलोकमें किसी प्रकारका शोक, भय और दुःखादिका लेशमात्र भी नहीं है। परमपद और आनन्दसे परिपूर्ण श्रेष्ठतम स्थान होनेके कारण जगतमें सभी इस सत्यलोककी पूजा करते हैं॥१३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुत इदं सत्यलोकाख्यं पदं स्थानम् अशेषैः शोकैः सन्त्रासैर्दुःखैश्च हीनम्? किञ्च, परमाभिर्ऋद्धिभिर्विभूतिभिः परमानन्देन च निचितं व्याप्तम्; अतएव जगति पूजितं, सर्वश्रेष्ठतमत्वात्॥१३७॥

भावानुवाद—सत्यलोक नामक पद कैसा है? इसके उत्तरमें कहते हैं—यह सत्यलोक नामक पद अनन्त प्रकारके भय और दुःखोंसे रहित है तथा परम ऋद्धि (विभूति) और परमानन्दसे परिपूर्ण है, अतएव श्रेष्ठतम स्थान होनेके कारण जगतमें पूजित है॥१३७॥

यादृशः सम्भवेद्भ्रातर्जगदीशश्च तादृशः।
भात्यशेषमहत्ताया: परां काष्ठां गतः स्फुटम्॥१३८॥

श्लोकानुवाद—हे भ्रातः मन! श्रीजगदीश्वरका जैसा सर्वोत्तम प्रकाश होना उचित है, उसीके अनुरूप महिमाकी चरमसीमाको प्राप्त होकर वे इस सत्यलोकमें विराजमान हैं॥१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—न केवलमेतावदेव, तव चिरन्तनाभीष्टसिद्धमित्याशयेनाह—यादृश इति। हे भ्रातर्मनः! जगदीशो यादृशो यत्-प्रकारकः सम्भवेदुचितो भवति, तादृश एव स्फुटं व्यक्तं भाति, अत्र प्रकाशते; यतः अशेषाया आकृतिसौन्दर्यगुणवैभवादि-महत्तायाः परां चरमां काष्ठां सीमां गतः प्राप्तः; अतोऽन्यः कश्चित् कथमपि महान्नास्तीत्यर्थः॥१३८॥

भावानुवाद—केवल इतना ही नहीं, तुम्हारा बहुत दिनोंका अभिलषित अभीष्ट सिद्ध हो गया, इसी आशासे 'यादृश' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अतएव हे भ्रातः मन! श्रीजगदीश्वरका जिस रूपमें और जिस प्रकारसे प्रकट होना सम्भव और उचित है, उसी प्रकारकी भगवत्ता इस सत्यलोकमें स्पष्टरूपसे व्यक्त हुई है। इसका कारण है कि अनन्त आकृति, सौन्दर्य और गुण-वैभवादिके महत्व द्वारा चरम सीमाको प्राप्त होकर श्रीभगवान् यहाँ पर विराजमान हैं, अतएव इसकी तुलनामें उनका उत्तम अन्य कोई महान प्रकाश नहीं है॥१३८॥

स्नेहमन्वभवो लक्ष्म्या दृग्भ्यां पश्याधुना प्रभुम्।
माथुरव्रजभूशोकं यियासां चान्यतो जहि॥१३९॥

श्लोकानुवाद—हे मन! तुमने स्वयं श्रीलक्ष्मीदेवीका स्नेह साक्षात्‌रूपसे अनुभव किया है, अब प्रभुको भी साक्षात् अनुभव करो। व्रजभूमिके लिए अब शोक मत करो तथा यहाँ स्थिर होकर वास करो और अन्यत्र जानेकी इच्छाका भी त्याग करो॥१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं पूर्वानुभूताद् विशेषमुक्त्वा इदानीं सर्वतो विलक्षण-विशेषान्तरमाह-स्नेहमिति। लक्ष्म्याः स्नेहं संज्ञाप्रापण-लालनादिरूपमन्वभवः साक्षाल्लब्धमसि। अधुना दृग्भ्यां प्रभुं जगदीश्वरं पश्येति तपोलोकाद्विशेषो दर्शितः। अतएवाधुना माथुरव्रजभुवः शोकं विच्छेदसन्तापं जहि त्यज; अन्यतो नीलाचले यियासां गमनेच्छाञ्च जहि॥१३९॥

भावानुवाद—इस प्रकार पहले अनुभव किये गये विषयके सम्बन्धमें बतलाकर अब सर्वविलक्षण विशेषताके सम्बन्धमें बतलानेके लिए 'स्नेहम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे मन! तुमने श्रीलक्ष्मीदेवीका स्नेह अर्थात् तुम्हें चेतन करनेके लिए उनके लालनादि रूप स्नेहका अनुभव किया है, अब नेत्रों द्वारा प्रभु श्रीजगदीश्वरका दर्शन करो।

इसके द्वारा श्रीजगदीश्वरका तपोलोकसे भी विशेष उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है। अतएव अब माथुर-व्रजभूमिका विच्छेद-शोक परित्याग करो और नीलाचल जानेकी इच्छा भी त्याग दो॥१३९॥

जगदीशाद्विधातेव लालनं चेदभीप्ससि।
तन्महापुरुषादिष्टमन्त्रशक्त्या फलिष्यति॥१४०॥

श्लोकानुवाद—हे मन! श्रीजगदीश्वर विधाता श्रीब्रह्माका जिस प्रकार लालन करते हैं, तुम भी यदि उस प्रकारके लालनको पानेकी इच्छा करते हो, तो उन महापुरुष (तुम्हारे गुरुदेव) द्वारा आदेश किये गये मन्त्रकी शक्तिके प्रभावसे वह भी तुम्हें प्राप्त होगा॥१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, जगदीशादस्मात् सकाशात् लालनं चेद्यदि ब्रह्मेव ब्रह्माधिकारप्राप्त्या तद्वत् प्राप्तुमिच्छसि, तदा तेन अनिर्वचनीयेन महापुरुषेण आदिष्टस्य उपदिष्टस्य शक्त्या जप-प्रभावेण फलिष्यति, तदपि स्येत्स्यति॥१४०॥

भावानुवाद—कुछ और भी कहते हैं, हे मन! यदि श्रीजगदीश्वरसे ब्रह्माकी भाँति लालनादि पानेकी इच्छा करते हो, तो उन अनिर्वचनीय महापुरुष (श्रीगुरुदेव) द्वारा उपदिष्ट मन्त्रका जप करो। जपके प्रभावसे तुम्हें वह भी प्राप्त होगा॥१४०॥

निद्रालीलां प्रभुर्भेजे लोकपद्मेऽस्य नाभिजे।
सृष्टिरीतिं विधिर्वीक्ष्य स्वकृत्यायाभवद्बहिः॥१४१॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! तदनन्तर प्रभुने निद्रालीलाका अवलम्बन किया। श्रीबह्माने भी उन प्रभुके नाभिकमलका निरीक्षणकर सृष्टिकी रीतिकी शिक्षा ग्रहण की और फिर ब्रह्माण्ड रचनारूप अपने कार्यको करनेके लिए वहाँसे बाहर चले गये॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह—निद्रेति, निद्रारूपां लीलामेव भेजे अवलम्बितवान्। वस्तुतः चिद्घनस्य तस्य स्वापासम्भवात्। अस्य प्रभोर्नाभिजे लोकपद्मे चतुर्दशभुवनात्मक-कमले सृष्टेर्जगद्विधानस्य रीतिं प्रकारं वीक्ष्य द्रुतपरिपूर्तये तद्द्वारा शिक्षित्वेत्यर्थः। विधिर्ब्रह्मा स्वस्य कृत्याय ब्रह्माण्डचर्चारूप-निजावश्यक-प्रयोजनाय बहिरभवत् भगवदालयाद्बहिर्भूय निजावासमगादित्यर्थः॥१४१॥

भावानुवाद—तदनन्तर क्या हुआ? अर्थात् भगवान्ने कौनसी लीला प्रकट की? इसीके उत्तरमें 'निद्रा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रभुने निद्रालीलाका अवलम्बन किया, क्योंकि चिद्घन श्रीभगवान्के लिए निद्रा वस्तुतः असम्भव है। तत्पश्चात् श्रीब्रह्माने प्रभुकी चौदह भुवनात्मक नाभिकमलका निरीक्षणकर जगतसृष्टिकी रीतिकी शिक्षा ग्रहण की। अर्थात् शीघ्रतापूर्वक सृष्टिकार्यको परिपूर्ण करनेके लिए उस नाभिकमलके प्रति दृष्टिपात कर ब्रह्माण्ड रचनारूप अपने कर्त्तव्यकी शिक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् वे अपने कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए भगवान्के गृहसे बाहर आकर अपने निवास स्थान पर चले गये॥१४१॥

पश्यन् प्रभो रूपमदो महाद्भुतं
तन्नाभिपद्मे युगपत्तथा जगत्।
गूढोपदेशश्रवणाच्चतुर्मुख–
प्रेमप्रवाहञ्च सुखं ततोऽवसम्॥१४२॥

श्लोकानुवाद—मैंने प्रभुके उस परम अद्भुतरूप और उनकी नाभिकमलमें सूक्ष्मरूपसे विद्यमान चौदह भुवनवाले जगतको एक साथ देखा। निगूढ़ भक्तिरहस्यके श्रवण द्वारा चतुर्मुख ब्रह्माकी प्रेम विह्वलताका दर्शनकर मैं वहाँ पर सुखपूर्वक रहने लगा॥१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परमसुखेन तस्मिँल्लोके वासः कृत इत्याह—पश्यन्निति। अदः परममहत्तया प्रसिद्धम्। तथा तस्य नाभिपद्मे च चतुर्द्दशभुवनात्मकं जगत् युगपत् सूक्ष्मत्वेनैकदैव पश्यन्; तथा गूढ़स्य भक्तिरहस्यस्य य उपदेशो भगवत्कर्तृकस्तस्य श्रवणाद्धेतोर्यश्चतुर्मुखस्य प्रेमप्रवाहः प्रेमाश्रुधारा प्रेमसम्पत्सन्ततिर्वा तञ्च पश्यन्; ततस्तस्मिन् ब्रह्मलोके सुखं यथा स्यात्तथा वासमकरवम्। एवं स्वर्गादिकृतसुखवासात् विशेषो दर्शितः॥१४२॥

भावानुवाद—इस प्रकार उस लोकमें परम सुखपूर्वक वासका कारण बतानेके लिए 'पश्यन्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वह लोक अपनी परम महिमाके लिए प्रसिद्ध है। मैंने वहाँ पर प्रभुका अत्यन्त अद्भुत रूप और उनकी नाभिकमलमें विद्यमान चौदह भुवनवाले

जगतका (एक साथ सूक्ष्म और कारणरूपसे) निरीक्षण किया। भगवान् द्वारा प्रदत्त गूढ़ भक्तिरहस्यके उपदेशोंको श्रवणकर चतुर्मुख ब्रह्माकी प्रेम विह्वलता रूप अश्रुधाराका दर्शन कर मैं उस ब्रह्मलोकमें सुखपूर्वक वास करने लगा। इन उक्तियोंके द्वारा स्वर्गादिमें प्राप्त सुखवाससे भी ब्रह्मलोकका विशेष उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है॥१४२॥

कृत्स्ने लोकत्रये नष्टे रात्रावेकार्णवे सति।
शेषोपरि सुखं शेते भगवान् ब्रह्मणा समम्॥१४३॥

श्लोकानुवाद—ब्रह्माके दिनके अन्तमें अर्थात् रात्रि होने पर तीनों लोक प्रलयमें नष्ट हो गये। उस समय श्रीभगवान् ब्रह्माजीको साथ लेकर शेषनाग पर सुखपूर्वक शयन करने लगे॥१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—विशेषान्तरमाह—कृत्स्न इति द्वाभ्याम्। रात्रौ चतुर्युगसहस्रपरिमित-ब्रह्मदिनान्ते वृत्ते निशायां सत्यां भगवान् सहस्रशीर्षा॥१४३॥

भावानुवाद—ब्रह्मलोकका स्वर्ग आदिसे विशेष अन्तर बतलानेके लिए 'कृत्स्न' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। हजार युगोंकी अवधिवाले ब्रह्माके दिनके अन्तमें अर्थात् रात्रि होने पर भगवान् सहस्रशीर्षा पुरुष ब्रह्माके साथ शेषनाग पर शयन करने लगे॥१४३॥

स्तूयते चित्रवाक्यैः स जनलोकादिवासिभिः।
तन्महाकौतुकं वीक्ष्ये ब्रह्मलोकप्रभावतः॥१४४॥

श्लोकानुवाद—उस समय जनलोकादिके निवासी विचित्र वचनोंके द्वारा श्रीभगवान्‌की स्तुति करने लगे। ब्रह्मलोकके प्रभावसे मैंने भी इस महाकौतुकका दर्शन किया॥१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—स भगवान्; आदि-शब्दात् तपःसत्यलोकौ। ब्रह्मलोकस्य प्रभावतः इत्यस्यायमर्थः—पूर्वं जनलोकादौ स्थिते मयि तथा सत्यपि तत्र तत्र नूतनागन्तुकतया निजकर्त्तव्यासक्त्या च तद्विशेषज्ञानानुत्पत्तेस्तदपश्यन्निव तत् सुखं नान्वभवम्, ब्रह्मलोकमहिम्ना च तत् सम्पन्नमिति॥१४४॥

भावानुवाद—उस समय जनलोक, तपोलोक और सत्यलोकके निवासी विचित्र वाक्योंसे श्रीभगवान्‌का स्तव करने लगे। मैं भी ब्रह्मलोकके प्रभावसे उस महाकौतुकको देखने लगा। यद्यपि इससे

पहले भी मैंने जनलोकादिमें ऐसे कौतुकका दर्शन किया था, किन्तु वहाँ मुझे ऐसा सुख प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि मैं वहाँ पर नया आगन्तुक था और अपने कर्त्तव्यमें आसक्त था, विशेषतः उस विषयमें विशेष ज्ञान नहीं रहनेसे ऐसा सुख प्राप्त नहीं कर सका। अब ब्रह्मलोककी महिमाके प्रभावसे मैंने उस सुखको प्राप्त किया॥१४४॥

अन्तर्धाय कदाचिच्चेत् कुत्रापि भगवान् व्रजेत्।
शोकः स्यादागते चास्मिन् समूलः क्षीयते स नः॥१४५॥

श्लोकानुवाद—जब कभी श्रीभगवान् अन्तर्धान होकर कहीं चले जाते, तब मुझे अत्यधिक शोक होता था। परन्तु फिर उनके लौट आते ही वह शोक सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता॥१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तत्र दुःखहेतावुत्पन्नेऽपि दुःखं न स्यादित्याह—अन्तरिति। कदाचित् कस्मिन्नपि कालविशेषे, कुत्रापि कस्मिंश्चिद्देशविशेषे तन्नामानिर्द्देशश्चाज्ञानात्। तच्चाग्रे श्रीनारदवचनतो व्यक्तं भावि। अस्मिन् भगवति; मूलमन्यत्र भगवद्गमनरूपं कारणं तेन सहितः; भगवानन्यत्र गत आसीदित्यनुसन्धानमपि तदानीं न तिष्ठेदित्यर्थः॥१४५॥

भावानुवाद—इस प्रकार वहाँ पर दुःखका कारण उत्पन्न होने पर भी दुःख अनुभव नहीं होता था। इसे बतलानेके लिए 'अन्तर्धाय' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जब कभी किसी विशेष समयमें श्रीभगवान् अन्तर्हित होकर कहीं चले जाते, तब मुझे अत्यधिक शोक होता था। वे कहाँ चले जाते, उस विशेष स्थानका नाम निर्देश न करनेका कारण है कि उस समय उस स्थानके विषयमें मुझे ज्ञान नहीं था। यह आगे श्रीनारदके वचनोंके द्वारा कहा जायेगा। किन्तु, श्रीभगवान्के पुनः लौट आते ही मेरा शोक सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता तथा श्रीभगवान् किस विशेष कारणसे अन्यत्र चले गये थे—इसे जाननेकी मनमें उत्सुकता भी नहीं होती थी॥१४५॥

इत्थमह्नां कतिपये प्रयाते प्रातरेकदा।
कौतुकाद्ब्रह्मणा स्पृष्टः फेणपुञ्जोऽसुरोऽभवत्॥१४६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे ब्रह्माके कुछ दिन व्यतीत होने पर एक दिन प्रातःकाल श्रीब्रह्मा द्वारा कौतुकवशतः फेनपुञ्जको स्पर्श करने पर उसमें से एक विशाल शरीरवाला असुर प्रकट हुआ॥१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं ससङ्कल्पजप-प्रभावेण निजेप्सितपारमेष्ठ्यपद प्राप्तिमाह—इत्थमिति द्वाभ्याम्। अह्नां ब्रह्मदिनानाम्, एकदा एकस्मिन् दिने; ब्रह्मणा कौतुकात् स्पृष्टः सन् फेनपुञ्जोऽसुरोऽभवत् दैत्यरूपेण पर्यणमत्। महाप्रलयार्णवजातस्य फेनपुञ्जस्यानुरूपेण तदसुरस्य महाकायबलादिकमुन्नेयम्॥१४६॥

भावानुवाद—अब संकल्पपूर्वक मन्त्रजपके प्रभावसे अपने अभिलषित परमेष्ठीपद अर्थात् ब्रह्माके पदको प्राप्त करनेके विषयमें 'इत्थम्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। इस प्रकार ब्रह्माके कुछ दिन बीत जाने पर एक दिन प्रातःकाल श्रीब्रह्माने कौतुकवशतः फेनपुञ्जको स्पर्श किया। कैसे आश्चर्यकी बात! उस फेनके पुञ्जसे एक विशाल शरीरवाला दैत्य प्रकट हुआ। महाप्रलयकालीन समुद्र-जलसे उत्पन्न फेनपुञ्जके अनुरूप ही उस असुरकी भीषण आकृति तथा अति भयंकर बल आदि था॥१४६॥

तद्भीत्यालीयत ब्रह्मा दैत्यो भगवता हतः।
भयाक्रान्तो विधिर्नैति तत्पदेऽयुङ्क्त मां प्रभुः॥१४७॥

श्लोकानुवाद—उस दैत्यके भयसे ब्रह्माजी कहीं छिप गये। यद्यपि श्रीभगवान्‌ने उस दैत्यका वध कर दिया, तथापि भयसे आक्रान्त ब्रह्माजी अपने स्थान पर लौटे नहीं। अन्तमें प्रभुने मुझे ही उस ब्रह्मापद पर नियुक्त कर दिया॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तस्मादसुराद्भीत्या ब्रह्मालीयत, कुत्रापि निगूढ़स्थाने अदृश्यो भूत्वाऽतिष्ठत्। दैत्यश्च स भगवता श्रीनारायणेन तेन हतः, तथापि भयेनाक्रान्तः सन् विधिर्जगत्स्रष्टा ब्रह्मा यदा नैति नायाति, तदा प्रभुर्जगदीश्वरोऽसौ तस्य विधेः पदे पारमेष्ठ्ये मामयुङ्क्त ब्रह्माधिकारं मे दत्तवानित्यर्थः॥१४७॥

भावानुवाद—अतएव उस असुरके भयसे भीत होकर ब्रह्माजी कहीं छिप गये, अर्थात् किसी एक एकान्त स्थान पर अदृश्य होकर रहने लगे। यद्यपि भगवान् श्रीनारायणने उस दैत्यका विनाश कर दिया, तथापि भयसे पीड़ित जगतस्रष्टा ब्रह्मा लौटकर नहीं आये। तब

अन्तमें प्रभु श्रीजगदीश्वरने मुझे ही उस विधाताके पद पर अर्थात् परमेष्ठीपद पर नियुक्त कर ब्रह्माका अधिकार प्रदान किया॥१४७॥

अहन्तु वैष्णवानेव सृजंस्तद्भक्तिवृद्धये।
न्ययुञ्जमधिकारेषु वैष्णवानेव सर्वतः॥१४८॥

श्लोकानुवाद—परमेष्ठीपदको प्राप्तकर मैंने भगवद्भक्तिकी वृद्धि करनेके लिए वैष्णवोंकी ही सृष्टि की तथा समस्त अधिकारों अर्थात् प्रजापति, इन्द्रादि पदों पर वैष्णवोंको ही नियुक्त कर दिया॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवतो भक्तेर्वृद्धये; प्रजापतीन्द्र-चन्द्र-सूर्याद्यधि-कारेषु॥१४८॥

भावानुवाद—मैंने ब्रह्माका अधिकार प्राप्तकर भगवद्भक्तिकी वृद्धिके लिए वैष्णवोंकी ही सृष्टि की तथा उन वैष्णवोंको ही प्रजापति, इन्द्र, चन्द्र, सूर्यादि पदों पर नियुक्त किया॥१४८॥

इतस्ततो महायज्ञैरश्वमेधादिभिर्विभुम्।
सम्पूजयन्मुदां पूरैर्ब्रह्माण्डं समपूरयम्॥१४९॥

श्लोकानुवाद—जहाँ-तहाँ बड़े-बड़े अश्वमेधादि महायज्ञोंके अनुष्ठान द्वारा मैंने श्रीभगवान्का ही पूजन करवाया, जिससे यह समस्त ब्रह्माण्ड आनन्दसे परिपूर्ण हो गया॥१४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं ब्रह्माधिकारस्य जगत्पालनरूपं कर्मोक्त्वा अन्यदपि निजमाह—इत इति। विभुं जगदीश्वरम्; मुदां पूरैः समूहैः॥१४९॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे ब्रह्माके अधिकारमें जगत पालन रूप कार्योंके विषयमें बतलाकर अन्य कृत्योंके सम्बन्धमें बतलानेके लिए 'इत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जहाँ-तहाँ विभु जगदीश्वरका अर्चन-पूजन होने लगा जिससे समस्त ब्रह्माण्ड ही परमानन्दसे परिपूर्ण हो गया॥१४९॥

पारमेष्ठ्येन संरुद्धो वेदैर्मूर्त्तिधरैर्मखैः।
पुराणैरितिहासैश्चागमैस्तीर्थैर्महर्षिभिः ॥१५०॥

ब्रह्मर्षिभिश्च बहुधा स्तूयमानो महामदैः।
ग्रस्यमानोऽपि मुञ्चामि न स्माकिञ्चनतां निजाम्॥१५१॥
तथापि ब्राह्म्यकृत्याब्धिभङ्गमग्नो न पूर्ववत्।
लेभे भगवतो भक्तिसुखं चिन्तातुरान्तरः॥१५२॥

श्लोकानुवाद—परमेष्ठीपद अर्थात् ब्रह्मापद पर आरूढ़ रहनेके कारण समस्त वेद, यज्ञ, पुराण, इतिहास, तन्त्र तथा तीर्थ मूर्त्तिमान रूप धारणकर मेरी सेवामें उपस्थित रहते थे। बड़े-बड़े महर्षि और ब्रह्मर्षि बहुत प्रकारसे मेरी स्तुति करते थे। यद्यपि मैं इस प्रकारके परम ऐश्वर्यके कारण महामदको उत्पन्न करनेवाली सुविधाओंसे परिपूर्ण था, तथापि मैंने अपनी स्वाभाविक अकिञ्चनताको नहीं छोड़ा। किन्तु ब्रह्मापदके कार्य समुद्रके समान विपुल थे, उन कार्यरूप समुद्रकी तरङ्गोंमें फँसकर मैं पहलेकी भाँति भगवद्भक्तिके सुखको अनुभव नहीं कर पाता था, इसलिए मेरा चित्त चिन्तासे आतुर रहने लगा॥१५०-१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदनीं पूर्ववत् परमोत्तमपदान्तरप्राप्तये तल्लोकवासे वैराग्य-कारणमुपन्यस्यति—पारमेष्ठ्येनेति चतुर्भिः। यद्यपि महद्भिर्मदैर्ग्रस्यमानो व्याप्यमानोऽपि निजामकिञ्चनतां न मुञ्चामि स्म नामुञ्चम्, स्मेति पृथगेव वा प्रसिद्धौ, तथापि भक्तिसुखं न लभे इति त्रयाणामन्वयः। तत्र महामदे हेतुः—पारमेष्ठ्येन सर्वतो महत्तम-ब्रह्मपदाधिकारेण परमैश्वर्येण वा संरुद्धः सम्यग्व्याप्तः। अतएव मूर्त्ति-धरैर्वेदादिभिर्महर्षिभिर्ब्रह्मर्षिभिश्च बहुधा स्तूयमान इति सुखालाभे हेतुः। ब्राह्म्यं ब्रह्मणा करणीयं यत् कृत्यमावश्यकप्रयोजनं तदेवाब्धिरनन्तत्व-गम्भीरत्वादिना तस्य भङ्गास्तरङ्गतुल्याः परम्परास्तेषु मग्नः सन्, अतएव चिन्ताभिस्तत्तदनुसन्धानैरातुरं व्याकुलमन्तरं मनो यस्य स इति॥१५०-१५२॥

भावानुवाद—अब पहलेकी भाँति इससे भी श्रेष्ठ पद प्राप्तिके लिए ब्रह्मलोकमें वाससे वैराग्यका कारण 'पारमेष्ठ्येन' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। मैंने सर्वश्रेष्ठ परमेष्ठी पद प्राप्त करने पर भी अर्थात् उस पदके परम ऐश्वर्यके कारण महामदको उत्पन्न करनेवाली सुविधाओंसे व्याप्त रहने पर भी अपनी स्वाभाविक अकिञ्चनताका त्याग नहीं किया, किन्तु तथापि वहाँ पर भक्तिसुख प्राप्त नहीं कर सका—उसीको तीन श्लोकोंमें कहा गया है। मूर्त्तिमान रूप धारणकर

वेदादि और महर्षि–ब्रह्मर्षि आदि द्वारा की जानीवाली बहुत प्रकारकी स्तुतियाँ भी मुझे सुख प्रदान नहीं कर सकी। ब्रह्माके कर्त्तव्य भी अपार समुद्रकी भाँति अनन्त और गम्भीर थे, उस कार्यरूपी समुद्रकी तरङ्गोंमें निमग्न रहनेके कारण उसी चिन्तामें मन सदा व्याकुल रहता। अर्थात् ब्रह्मपदके आवश्यक कर्त्तव्यके पालनमें ही मन सर्वदा व्याप्त रहता, इसलिए भक्तिसुखमें विघ्न होता था॥१५०–१५२॥

द्विपरार्धायुषि स्वस्य श्रूयमाणोऽपि कालतः।
भयं स्यात् क्रियमाणे च जपे भूरियमार्तिदा॥१५३॥

श्लोकानुवाद—मेरी आयु दो परार्द्ध काल तक है—ऐसा सुनकर भी मैं कालके प्रभावसे भयभीत हो जाता और कालभयको दूर करनेके लिए अपना मन्त्र जप करता, किन्तु मन्त्र जपके समय इस श्रीवृन्दावन भूमिके स्मरण हेतु हृदय विरह–दुःखसे पीड़ित हो जाता॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, द्विपरार्धेति। तद्भयनाशाद्यर्थं निजमन्त्रजपे च क्रियमाणे सति इयं श्रीवृन्दावनादिरूपा व्रजभूमिः आर्त्तिदा भवति॥१५३॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं कि द्विपरार्द्ध कालकी आयु होने पर भी मैं सदा कालभयसे भीत रहता और उस कालभयके निवारणके लिए अपने मन्त्रजपमें प्रवृत्त होता। किन्तु, मन्त्रजप करते ही इस श्रीवृन्दावनादि रूप व्रजभूमिके विरह–दुःखमें पीड़ित हो जाता॥१५३॥

जगदीश्वरतः पुत्रलालनन्तु महासुखम्।
ममानुभवतश्चित्तवैकल्यं तद्विनश्यति॥१५४॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीजगदीश मुझे पुत्रके समान लालन करते थे, इसलिए मैं महासुख अनुभव करता था। इसके फलस्वरूप मेरे चित्तकी क्षुब्धता नष्ट हो जाती थी॥१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सत्यपि तल्लोकस्वभावेन दुःखं न प्रभवतीत्याह—जगदिति। पुत्रवल्लालनरूपं तत् पूर्वोक्तमखिलं विनश्यति परमसुख–प्राप्त्या चित्तवैकल्य–विनाशात्तद्धेतुकदुःखास्फूर्तेः॥१५४॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे विरह-दुःख उत्पन्न होने पर भी उस ब्रह्मलोकके प्रभावसे कुछ भी दुःख अनुभव नहीं होता था। इसे बतलानेके लिए 'जगत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। विशेषतः श्रीजगदीश्वर द्वारा पुत्रकी भाँति लालन किये जानेके कारण मुझे परम सुख प्राप्त होता था। उसीसे मेरा पूर्वोक्त असीम दुःख नष्ट हो जाता अर्थात् चित्तकी व्याकुलताका विनाश होनेके कारण मुझे अन्य किसी भी प्रकारके दुःखकी स्फूर्ति नहीं होती थी॥१५४॥

अत्यन्तसन्निकर्षेण पितृबुद्ध्या च सेवया।
कदाप्यागांसि जातानि मृष्यन्ते प्रभुणा मम॥१५५॥

श्लोकानुवाद—मैं श्रीजगदीशके अत्यन्त निकट रहता था और पिता-बुद्धिसे उनकी सेवा करता था। कभी-कभी मेरे द्वारा सेवा अपराध घटित होने पर दयालु प्रभु मेरे सब अपराधोंको क्षमाकर देते थे॥१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, जगदीश्वरे कृतापराधतो जायमानोऽप्याधिस्तस्यकृपया महालक्ष्म्याः स्नेहेन च निवर्तत इत्याह—अत्यन्तेति द्वाभ्याम्। परमनिकटवर्तितया या सेवा तया, सन्निकर्षस्यानादरहेतुत्वात्। तथा भगवानयं ब्रह्मणो मम पितेति बुद्ध्या या सेवा तया च सम्बन्धानुसन्धानेन भयानुत्पत्तेः। कदाचिज्जातानि सन्ति प्रभुणा जगदीश्वरेण तेन यद्यपि मृष्यन्ते क्षम्यन्ते॥१५५॥

भावानुवाद—श्रीजगदीश्वरके प्रति मेरा कोई अपराध घटित हो जाने पर भी उन प्रभुकी कृपासे तथा श्रीमहालक्ष्मीके स्नेह द्वारा वह अपराध दूर हो जाता था—इसे बतलानेके लिए 'अत्यन्त्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। मैं श्रीजगदीश्वरके अत्यन्त निकट रहकर उनकी सेवा करता था। यद्यपि अत्यन्त निकटतावशतः अनादरसे अर्थात् गौरव बुद्धिकी हानिके कारण अपराध घटनेकी आशंका रहती, तथापि पिता बुद्धिसे उनकी सेवा करनेके कारण उस सम्बन्ध विचार हेतु भय उत्पन्न नहीं होता था। कभी कोई अपराध हो जाने पर भी वे दयालु प्रभु मेरे समस्त अपराधोंको क्षमा कर देते थे॥१५५॥

तथाप्यन्तर्महोद्वेगः स्यात्ततो व्यज्जिते श्रिया।
स्नेहे मात्रेव हृष्टः स्यामेवं तत्रावसं चिरम्॥१५६॥

श्लोकानुवाद—श्रीजगदीश्वर द्वारा अपराध क्षमा करने पर भी मैं अपनेको अपराधी मानकर सर्वदा उद्विग्न रहता था, मेरी वैसी उद्विग्नताको जानकर श्रीलक्ष्मीदेवी माताकी भाँति स्नेहवाक्योंसे मुझे सान्त्वना और आश्वासन प्रदान करती थीं। इसलिए मैंने वहाँ प्रसन्नचित्तसे बहुत समय तक सुखपूर्वक वास किया॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथापि तथापि मम अन्तर्मनसि महानुद्वेगः क्षोभः स्यात्, प्रभुविषयक-निजसेवासौष्ठवाभाव-विवेचनात्, तत उद्वेगात्; मदुद्वेगं पर्यालोच्येत्यर्थः। श्रिया महालक्ष्म्या मात्रा जनन्येव स्नेहे सान्त्वनादिरूपे व्यञ्जिते प्रकटिते हृष्टः स्याम्। एवं दुःखकारणेषु विद्यमानेष्वपि सुखेनैव तत्र सत्यलोके चिरमवसम्॥१५६॥

भावानुवाद—यद्यपि श्रीजगदीश मेरे समस्त अपराधोंको क्षमाकर देते, तथापि मैं अपनेको अपराधी मानकर सर्वदा मन-ही-मन उद्विग्न रहता अर्थात् प्रभुके प्रति अपने द्वारा की गयी सेवामें अभावकी विवेचना करते ही उद्विग्न हो जाता। उस उद्वेगको जानकर श्रीलक्ष्मीदेवी माताके समान स्नेहपूर्वक मुझे सान्त्वना और आश्वासन प्रदान करती थीं, जिससे मैं पुनः प्रसन्न हो जाता था। इस प्रकारसे दुःखका कारण विद्यमान रहने पर भी मैंने बहुत समय तक सत्यलोकमें परम सुखपूर्वक वास किया॥१५६॥

एकदा मुक्तिमत्राप्तमेकं तल्लोकवासिभिः।
संश्लाघ्यमानमाकर्ण्य तानपृच्छं तदद्भुतम्॥१५७॥

श्लोकानुवाद—एक बार उस सत्यलोकके निवासी किसी एक मुक्तिप्राप्त जीवकी प्रशंसा कर रहे थे। मैंने उनके मुखसे उस जीवकी यथार्थ प्रशंसा सुनकर अद्भुत कौतुकवशतः उनसे पूछा कि मुक्ति क्या होती है?॥१५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तल्लोकत्यागकारणमुपक्षिपति—एकदेत्यादिना निजां व्रजेत्यन्तेन। अत्र भारतवर्षे मुक्तिं प्राप्तमेकं कञ्चिज्जीवं तस्मिन् सत्याख्ये लोके वासिभिर्ब्रह्मर्षिप्रभृतिभिः सम्यक् भक्तिस्तुत्यादिपूर्वकं श्लाघ्यमानमाकर्ण्य तान् श्लाघ्यमानान् ब्रह्मर्ष्यादीन् तत्प्राप्तयुक्तिक-जीवश्लाघनरूपमद्भुतमश्रुतपुर्वत्वादाश्चर्यं कौतुकमिति यावत्। यद्वा, वृत्तमित्यध्याहार्यम्। अपृच्छम्, 'का नाम मुक्तिः, तत्प्राप्तौ वा कथमीदृशी श्लाघा क्रियते?'—इत्यादिरूपं प्रश्नमकरवम्॥१५७॥

भावानुवाद—अब उस ब्रह्मलोकको त्याग करनेका कारण बतलानेके लिए 'एकदा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। एक समय उस सत्यलोकके निवासी ब्रह्मर्षिगण इस भारतवर्षके किसी मुक्ति प्राप्त जीवकी भक्तिपूर्वक प्रशंसा कर रहे थे। मैं ब्रह्मर्षियोंके मुखसे उस मुक्तिप्राप्त जीवकी पहले कभी न सुनी हुई अद्भुत प्रशंसाको सुनकर आश्चर्यचकित हो गया और कौतुकवशतः मैंने उनसे पूछा—हे ब्रह्मलोकवासिगण! मुक्ति क्या है? आप लोग उस मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए अथवा किसलिए उसकी इतनी प्रशंसा कर रहे हैं?॥१५७॥

मुक्तेः परममुत्कर्षं दौर्लभ्यञ्च निशम्यताम्।
सर्वज्ञान् पुनरप्राक्षं तदुपायं तदीप्सया॥१५८॥

श्लोकानुवाद—उन ब्रह्मर्षियोंने मुझे मुक्तिके परम उत्कर्ष और दुर्लभताके विषयमें बताया। यह सुनकर मैंने मुक्ति प्राप्तिकी इच्छासे उस ब्रह्मलोकवासी सर्वज्ञ मूर्त्तिधारी वेदादिसे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय पूछा॥१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च श्लाघाकरणं मुक्तेरुत्कर्षं महत्त्वं दौर्लभ्यञ्च। परममित्यस्य द्वाभ्यामेवान्वयः। तेभ्यो निशम्य श्रुत्वा तस्या मुक्तेरूपायं साधनं तान् तल्लोकवासिनः सर्वज्ञान् वेदादीन् पुनरप्राक्षं प्रश्नमकार्यम्। किमर्थम्? तस्या मुक्तेरीप्सया प्राप्तीच्छया॥१५८॥

भावानुवाद—तदनन्तर उन ब्रह्मलोकवासी ब्रह्मर्षियोंने मेरे समक्ष उस प्रशंसनीय मुक्तिका उत्कर्ष, महत्व और दुर्लभताका वर्णन किया। उनके मुखसे मुक्तिका उत्कर्ष सुननेके बाद मैंने पुनः ब्रह्मलोकवासी सर्वज्ञ वेदादिसे मुक्ति प्राप्त करनेके उपायके विषयमें पूछा? यदि कहो कि पुनः किसलिए पूछा? इसके उत्तरमें कहते हैं—मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे॥१५८॥

बहुलोपनिषद्देव्यः श्रुति-स्मृतिभिरन्विताः।
ऊचुरेकेन साध्योऽसौ मोक्षो ज्ञानेन नान्यथा॥१५९॥

श्लोकानुवाद—देवीरूपमें विराजमान बहुतसे उपनिषदोंने श्रुति और स्मृतियों सहित मिलकर एक स्वरमें कहा कि एकमात्र ज्ञानके द्वारा

ही मुक्ति प्राप्त होती है, मोक्षरूप इस साध्यवस्तुको प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च बहुला बहव्यः उपनिषदः वेदानां सारभागभूतास्ता एव देव्यः परमप्रकाशमानत्वात् मूर्त्तिमत्यः सभायां देदीत्यमाना उपनिषद इत्यर्थः। एवं पुराणागमादयश्च मूर्त्तिमन्त एवेति ज्ञेयम्। एवमग्रेऽपि। श्रुतयोऽन्येऽपि वेदाः; स्मृतयो धर्मशास्त्र-पुराणागमाद्यास्ताभिरन्विताः सहिताः। किमूचुः? तदाह—असौ परमोत्कृष्टः परमदुर्लभो मोक्षो ज्ञानेनैकेनाद्वयेन साध्यः, न त्वन्यथा केनाप्यन्येन प्रकारेण। तथा च श्रुतिः—*'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'* (श्वे॰ ३/८, ६/१५) इत्यादिका। तच्च ज्ञानमत्र भक्त्येकजन्यं भक्तिरूपं ग्राह्यमन्यस्य मोक्षजनकत्वादेतच्चाग्रे व्यक्तं भावि॥१५९॥

भावानुवाद—तब उस सभामें समस्त वेदोंके सारभाग बहुतसे उपनिषदोंने अथवा देव्यः अर्थात् परम प्रकाशमान मूर्त्ति धारणकर सभाको देदीप्यमान करनेवाले उपनिषदोंने मूर्त्तिमानरूप पुराण और आगमादिके साथ मिलकर एक स्वरमें कहा। क्या कहा? परमश्रेष्ठ और परमदुर्लभ मोक्षकी प्राप्ति एकमात्र अद्वयज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी भी उपायसे मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। श्रुतिने कहा—"उन ब्रह्मको जाननेसे ही मृत्युको लाँघा जा सकता है, इसके अलावा मोक्ष प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है।" परन्तु वह अद्वयज्ञान भक्तिसे उत्पन्न होता है, इसलिए उसे भक्तिरूपमें ही जानना होगा। इसका कारण है कि अन्य ज्ञान (अर्थात् केवल निर्विशेष-ज्ञान) द्वारा मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है। आगे इस विषयका भलीभाँति विवेचन किया जायेगा॥१५९॥

कैश्चिदुक्तं सगाम्भीर्यं पुराणैरागमैरपि।
जन्यते भगवद्भक्त्या सुखं ज्ञानं सुदुर्घटम्॥१६०॥

श्लोकानुवाद—उनमें से किसी-किसी पुराण और आगमने भी गम्भीरतापूर्वक कहा—यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, तथापि भगवद्भक्तिके बलसे ही वह दुर्घटज्ञान सरलतासे प्राप्त होता है, अन्य किसी उपायसे वह ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता॥१६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कैश्चिद्भगवद्भक्ति-प्रवर्त्तन-चतुरैः पुराणैरागमैः पञ्चरात्रादिभिरपि। गाम्भीर्यमक्षोभ्यत्वं, तेन सहितं यथा स्यात्तथोक्तं किन्तदाह—जन्यत इति श्लोकार्द्धद्वयेन। अयमर्थः—ज्ञानेनैव मोक्षः साध्य इति स्यादेव, किन्तु तज्ज्ञानमन्येन सुदुर्घटं परमदुःखसाध्यमपि भगवतो भक्त्या सुखं जन्यते॥१६०॥

भावानुवाद—भगवद्भक्तिको प्रतिष्ठित करनेमें चतुर किसी-किसी पुराण, आगम और पाञ्चरात्रादि शास्त्रोंने गम्भीरतापूर्वक कहा—यह सत्य है कि ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, किन्तु वह ज्ञान दुःसाध्य है। यद्यपि उस ज्ञानको प्राप्त करना अति कष्टकर है, तथापि भगवद्भक्तिके प्रभावसे वह ज्ञान सुगमतापूर्वक प्राप्त होता है, अन्य किसी भी उपायसे नहीं॥१६०॥

किंवानुष्ठितया सम्यक् तयैव सुलभोऽस्ति सः।
श्रुति-स्मृतीनां कासाञ्चित् सम्मतिस्तत्र लक्षिता॥१६१॥

श्लोकानुवाद—अथवा केवल भलीभाँति रूपमें भक्ति करनेसे ही मोक्ष सुलभ हो सकता है (ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है)। इस बातकी पुष्टिके लिए किसी-किसी श्रुति तथा स्मृतिने भी अपनी सहमतिको प्रकट किया॥१६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्चेति पक्षान्तरे। तथा भगवद्भक्त्यैव सम्यक् निष्कामत्व-साङ्गत्वादि-साधुप्रकारेण अनुष्ठितया विहितया सत्या स मोक्षः सुलभोऽस्ति स्यादिति। एवकारेनान्यनिरपेक्षतया तत्र भक्तेः स्वातन्त्र्यं द्योत्यते। तथा च बृहन्नारदीये—*'भक्तिर्दृढ़ा भवेद्यस्य देवदेवे जनार्द्दने। श्रेयांसि तस्य सिध्यन्ति भक्तिमन्तोऽधिकास्ततः॥'* इति। *'जीवन्ति जन्तवः सर्वे यथा मातरमाश्रिताः। तथा भक्तिं समाश्रित्य सर्वा जीवन्ति सिद्धयः॥'* इति। सिद्धयो मोक्षाद्याः। मोक्षस्य साक्षादनुक्त्या सम्मतिमात्रम्। श्रीभगवद्गीतासु च (श्रीगी॰ ११/५४)—*'भक्त्या त्वनन्यया शक्योऽहमेवम्विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥'* इति। भगवति प्रवेशश्च प्रायो मोक्ष एव पर्यवस्यतीति। कासाञ्चित् भगवत्पराणां श्रुतीनां स्मृतीनाञ्च धर्मशस्त्रादीनां तत्र केवलया भगवद् भक्त्यैव मोक्षः सुलभ इत्यर्थे सम्मतिरनुमोदनं लक्षिता मस्तकधूननादिना लक्षणेनावकलिता। अयमर्थः—तासां श्रुति-स्मृतीनां वचनैः साक्षाद् वृत्त्या तथा न प्रतिपाद्यते, किन्तु तात्पर्यवृत्त्यैवेति। तथा च पाद्मे—*'अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः। सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तितः॥'* इति। न दुरे भवन्ति, अपि तु निकट एवेति तात्पर्योक्तिः॥१६१॥

भावानुवाद—पक्षान्तरमें कुछ और भी कह रहे हैं कि सम्पूर्णरूपसे निष्काम और अनासक्त होकर साधुमार्गसे भगवद्भक्ति करनेसे वह मोक्ष सुलभ हो जाता है। मूल श्लोकमें 'एव' कारके द्वारा अन्य साधनोंसे निरपेक्षताके कारण भक्तिकी स्वतन्त्रता सूचित हुई है। बृहन्नारदीयमें लिखा है—"देवोंके भी देव श्रीजनार्द्दनके चरणकमलोंमें जिनकी निश्चला भक्ति होती है, उनके सब प्रकारके श्रेय अर्थात् कल्याण अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं; अतएव भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।" "जिस प्रकार माताको आश्रयकर ही समस्त प्राणी वर्द्धित होते हैं, उसी प्रकार भक्तिको आश्रयकर ही समस्त सिद्धियाँ जीवनधारण करती हैं।"

यहाँ 'सिद्धि' कहनेसे मोक्षको जानना होगा अर्थात् मोक्षको साक्षात् न कहकर अनुमोदन मात्र द्वारा लक्षित किया गया है। श्रीभगवद्गीतामें (११/५४) भी कहा गया है—"मेरे प्रति एकनिष्ठ भक्तिका अनुष्ठान करने पर ही मेरे तत्त्वको जाना जा सकता है, अर्थात् चक्षु द्वारा मेरा दर्शन किया जा सकता है तथा मुझमें प्रवेश करनेमें समर्थ हुआ जा सकता है, अर्थात् मेरे साथ मिलकर एक साथ वास किया जा सकता है।" 'भगवान्में प्रवेश'—इसके द्वारा प्रायः मोक्ष ही लक्षित होता है, अर्थात् भक्ति द्वारा अनायास ही मोक्ष प्राप्त होता है। किसी-किसी भगवद्परायण श्रुति-स्मृतिने मस्तक हिलाकर तथा अन्य लक्षणों द्वारा 'केवल भगवद्भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है'—इस विषयमें अपनी-अपनी सम्मति प्रकाश की। अर्थात् उन समस्त श्रुतियों और स्मृतियोंके वचन अर्थात् साक्षात् भक्तिवृत्तिको मोक्षके कारण रूपमें प्रतिपादित नहीं करते, किन्तु उन वचनोंकी तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही भक्ति साक्षात् मोक्षके कारण रूपमें प्रतिपादित होती है। इसका कारण है कि तात्पर्य-वृत्ति द्वारा वस्तुतत्त्व निर्धारित होनेसे उस वस्तुकी मर्यादा अधिक होती है। पद्मपुराणमें उक्त है—"पुत्र, पौत्र, धनसम्पत्ति, स्त्री, भोग्यवस्तुएँ, भवन, हाथी-घोड़े आदिके द्वारा प्राप्त होनेवाले जितने प्रकारके सुख इस जगतमें वर्त्तमान हैं अथवा स्वर्गमें जितने प्रकारके सुख हैं, यहाँ तक कि मोक्ष-सुख तक जितने सुख हैं, वे सब हरिभक्तिसे दूर नहीं हैं।" इस उद्धृत श्लोकमें 'न दूरे' पदका तात्पर्य है—अतिनिकट अर्थात् हरिभक्ति इन सबको अनायास ही प्रदान करती है॥१६१॥

व्यक्तं तासां वचोऽश्रुत्वा क्रुद्धाः स्वैरागमादिभिः।
महोपनिषदः काश्चिदन्वमोदन्त तत् स्फुटम्॥१६२॥

श्लोकानुवाद—जिन समस्त श्रुतियों और स्मृतियोंने भक्तिको साक्षात् मोक्षके कारण रूपमें स्पष्टरूपसे अनुमोदन नहीं किया, उनके प्रति क्रुध होकर महा–उपनिषदों और उनके अनुगत आगम–पुराणादि सबने एक स्वरमें भक्तिको ही मोक्षके कारण रूपमें अनुमोदन किया॥१६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तासां हृत्कृतसम्मतीनां श्रुति–स्मृतीनां व्यक्तं साक्षाद्वृत्त्योक्तं वचः अश्रुत्वा क्रुद्धाः सत्यः काश्चित् भगवन्माहात्म्यपरायणा महोपनिषदः। स्वैर्निजैस्तन्महोपनिषदनुवृत्तिभिरित्यर्थः। आदि–शब्देन तादृशान्येव पुराणादीनि कानिचित् ग्राह्याणि। तद्भगवद्भक्त्यैव केवलया मोक्षस्य सुलभत्वं स्फुटं प्रकटवाक्यैरेवान्वमोदन्त। तथाच बृहन्नारदीये—*'धर्मार्थकाममोक्षाख्या पुरुषार्था द्विजोत्तमाः। हरिभक्तिपराणां वै सम्पद्यन्ते न संशयः॥'* इति। श्रीविष्णुपुराणे च भगवत्स्तुतौ—*'धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता। समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि॥'* इति॥१६२॥

भावानुवाद—जिन श्रुतियों और स्मृतियोंने आन्तरिक सम्मति तो प्रकाश की, किन्तु बाहरसे स्पष्टरूपमें भक्तिको साक्षात् मोक्षके कारण रूपमें अनुमोदन नहीं किया, उनके प्रति कुपित होकर भगवान्की महिमागानमें रत महा–महा उपनिषदों तथा उनके अनुगत पुराण और आगमादि धर्मशास्त्रोंने एक स्वरसे सुदृढ़रूपमें भक्तिको मोक्षके कारण रूपमें अनुमोदनकर स्पष्ट भावसे कहा—"केवल भक्ति द्वारा ही मोक्ष सुलभ होता है।" यथा बृहन्नारदीयपुराणमें लिखा है—"हे द्विजोत्तम! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक पुरुषार्थ हरिभक्तिपरायण भक्तको निःसन्देह प्राप्त होते हैं।" विष्णुपुराणमें भी लिखा है—"समस्त जगतके मूलस्वरूप श्रीभगवान्में जिनकी अचला भक्ति है—धर्म, अर्थ, कामादि तो क्या, मुक्ति भी उनके करतलगत (हाथोंमें) होती है"॥१६२॥

गूढ़ोपनिषदः काश्चित् कैश्चिद्गूढ़ैर्महागमैः।
समं महापुराणैश्च तूष्णीमासन् कृतस्मिताः॥१६३॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् किसी गूढ़ भगवद्भक्ति–परायण उपनिषदने, किसी–किसी गूढ़ महा आगम और सात्त्वत सिद्धान्त–वैष्णवतन्त्रने तथा श्रीमद्भागवत महापुराण आदिने मन्दहास्यपूर्वक मौन धारण किया॥१६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—काश्चित् परमदुर्लभाः श्रीभगवद्भक्तिपरा गूढ़ाः परमरहस्यरूपा उपनिषदस्तु; कैश्चिद्गूढ़ैर्महागमैः सात्वतसिद्धान्तादिवैष्णवतन्त्रैर्महापुराणैः श्रीभागवतादिभिश्च समं सह कृतंस्मितमीषद्धास्यं याभिस्तथाभूताः सत्यः। अहो भगवन्मायावैभवं येन व्यक्तमपि शास्त्रतत्त्वं सर्वज्ञानामपि दुर्ज्ञेयं भवतीति विस्मयेन। किंवा अहो वत भक्तेर्मुक्तिदातृत्वमहिमप्रतिपादनमेवैते बहुमन्यन्त इत्यवज्ञया तूष्णीमासन्। आत्मनोऽसदृशैः सह वादस्यायोग्यत्वात् परमरहस्यार्थस्य सभामध्ये निरूपणानर्हत्वाद् वा मौनमवलम्ब्यैव स्थिताः। इदमत्र तत्त्वम्—यद्यपि भगवद्भक्तिमार्ग-महोत्तानपदारोहण-सोपानरूपाणां कर्म-ज्ञान-मोक्षाणां माहात्म्यमपि भक्तेर्माहात्म्य एव पर्यवस्यति, तथापि तत्तन्माहात्म्य-निरूपणप्रसङ्गे अस्मिन् स्थानीयविशुद्धवचनपरिपाट्या तत्तात्पर्यं भक्तावेव बोधयद्भिरपि भक्तेर्माहात्म्यं साक्षान्न निरूप्यते, अस्थाने तदयोग्यत्वादिति॥१६३॥

भावानुवाद—परम दुर्लभ श्रीभगवान्‌की भक्तिमें अनुरक्त गूढ़ अर्थात् परमरहस्यरूप कोई-कोई उपनिषद, कोई-कोई गूढ़ महा-आगम और सात्त्वत सिद्धान्त-वैष्णवतन्त्र तथा श्रीमद्भागवतादि महापुराण सभी एकसाथ मन्दहास्यपूर्वक मौन हो गये। उन्होंने सोचा—अहो! भगवान्‌की मायाका वैभव कैसा विचित्र है? सर्वज्ञजन भी सुव्यक्त शास्त्रतत्त्वसे अवगत नहीं हैं। अर्थात् शास्त्रोंमें तत्त्व सुस्पष्टरूपमें व्यक्त रहने पर भी सर्वज्ञजनोंके लिए वे दुर्ज्ञेय हैं—यही विस्मयका कारण है। अथवा भक्ति द्वारा मुक्तिदान करनेकी महिमाका प्रतिपादन बहुमान्य होने पर भी भक्तिकी अवज्ञा हो रही है, इसलिए जैसा भी हो इनके साथ वार्त्तालाप करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसा सोचकर वे मौन हो गये, क्योंकि अपने विचारोंके समान न होने पर किसीके साथ वाद-विवाद करना अनुचित है। अथवा परम रहस्यमय भक्तितत्त्वको ऐसी सभामें प्रकाशित करना अनुचित है। ऐसी विवेचना कर उन्होंने मौनधारण कर लिया।

वस्तुतः भगवद्भक्ति-मार्गरूप महा-उच्चतम शिखर पर आरोहण करनेके लिए सोपान-क्रमका अवलम्बन करना होता है, जिसके निम्नस्तर पर कर्म, उसके ऊपर ज्ञान और फिर मोक्ष अवस्थित हैं। यद्यपि कर्म, ज्ञान और मोक्षरूप सोपानोंका माहात्म्य भक्ति माहात्म्यमें ही पर्यवसित होता है, तथापि कर्म, ज्ञान और मोक्षका माहात्म्य निरूपित करते समय प्रसंगक्रमसे भक्तिका माहात्म्य उल्लेख करने पर भी उससे भक्तिका यथार्थ माहात्म्य निरूपण नहीं होता है। अर्थात्

अनुचित स्थान पर गिरी हुई महानिधिके न्यायानुसार कर्म–ज्ञानादिके बीच भक्तिका समावेश होना उचित नहीं है॥१६३॥

मोक्षोऽनुभगवन्मन्त्र–जपमात्रात् सुसिध्यति।
न वेति कैश्चिदाम्नाय–पुराणादिभिरुल्वणः॥१६४॥
आगमानां विवादोऽभूत्तमसोढ्वा बहिर्गताः।
ते पुराणागमाः कर्णौ पिधायोपनिषद्युताः॥१६५॥

श्लोकानुवाद—फिर किसीने कहा कि भगवान्‌के मन्त्रजपके प्रभावसे ही मोक्ष प्राप्त होता है। किसीने कहा—इस प्रकार नहीं होता और भी उपाय हैं। इस प्रकार वेद–पुराणादिके साथ आगमादिका वाद–विवाद आरम्भ हो गया। तब उस वाद–विवादको सहन न करनेके कारण गूढ़ महापुराण, आगम और उपनिषदोंके साथ दोनों कानोंको अंगुली द्वारा बन्दकर वहाँसे बाहर चले गये॥१६४–१६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च कैश्चित् आम्नायैर्वेदैः पुराणादिभिश्च सह; आदि–शब्देन धर्मशास्त्रेतिहासादि; आगमानां पञ्चरात्रादितन्त्राणामुल्वण उत्कटो विवादो वचनानुवचनं तद्रूपकलहो वाऽभूत्। केन हेतुना? नु वितर्के प्रश्ने वा। भगवन्मन्त्रस्य जपमात्रात् केवलजपेनैव मोक्षः सिध्यति, न वेत्येतेन। तं विवादमसोढ्वा विवादहेतुं तत्सन्देहमपि सोढुमशक्नुवन्त इत्यर्थः। ते स्मितं कृत्वा तूष्णीमुपविश्य स्थिता गूढ़महापुराणागमा उपनिषद्भिस्तादृशीभिरेव युताः सहिता बहिर्गताः सभाया निःसृताः। किं कृत्वा? कर्णौ पिधाय, तत्संशयश्रवणायोग्यत्वात्। कुत्रापि तेषु भगवद्भक्तिमाहात्म्यसन्देह–गन्धस्पर्शोऽपि नास्तीति तात्पर्यम्। प्रथमं तूष्णीमासने गूढ़ोपनिषदां प्राधान्याभिप्रायेण श्रीभागवतादिगूढ़महापुराणानां गौणत्वेन साहित्यमुक्तम्; इदानीञ्च तद्विवादासहने श्रीभागवतादीनां मुख्यताभिप्रायेण तासां साहित्यमुक्तमिति ज्ञेयम्, एवमग्रेऽपि॥१६४–१६५॥

भावानुवाद—फिर वेद, पुराणादिका ('आदि' शब्दसे धर्मशास्त्र इतिहासादि) आगमसमूह अर्थात् पाञ्चरात्रादि समस्त तन्त्रोंके साथ घोर वाद–विवादरूप कलह आरम्भ हो गया। किस विषय या प्रश्नको लेकर विवाद हुआ? इसके लिए कहते हैं—केवल मात्र भगवान्‌के मन्त्रजप द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है या नहीं, इस विषय पर विवाद हुआ। तब पहले जिन्होंने मन्दहास्यपूर्वक मौन धारण किया था, वे शास्त्र अर्थात् गूढ़ महापुराण, आगम और उपनिषद उस विवादको

तथा उसके हेतु अर्थात् सन्देह तकको सहन न कर पानेके कारण सभाका परित्याग कर बाहर चले गये। इसका कारण है कि भक्तिमहिमा सम्बन्धी विषयमें संशयका श्रवण करना भी अनुचित है। इन समस्त शास्त्रोंमें कहीं भी भगवद्भक्तिकी महिमाके विषयमें सन्देहकी गन्धमात्र भी नहीं है—यही तात्पर्य है। प्रथमतः मौन धारणके समय पूर्वोक्त गूढ़ उपनिषद ही मुख्य रूपमें और श्रीभागवतादि शास्त्र गौण रूपमें कथित हुए थे, अर्थात् उपनिषदोंके साथ भागवतादि पुराण मौन हो गये थे। किन्तु अब उस विवादको सहन न कर पानेके कारण बाहर जानेके विषयमें श्रीभागवतादि पुराण मुख्य रूपमें और उपनिषदादि गौण रूपमें कथित हुए हैं, अर्थात् श्रीभागवतादि महापुराणोंके साथ उपनिषदादि बाहर चले गये। आगे यह विचार स्पष्टरूपमें व्यक्त होगा॥१६४-१६५॥

ततो महापुराणानां महोपनिषदां तथा।
माध्यस्थ्यादागमानान्तु जयो जातो मम प्रियः॥१६६॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् महापुराण और महा-उपनिषद विवाद मिटानेके लिए बीचमें आये तथा उन्होंने विचारपूर्वक आगमोंको ही विजयी घोषित किया। आगमोंकी जय स्थिर होने पर मैं भी आनन्दित हुआ॥१६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तेषां निर्गमाद्धेतोः माध्यस्थ्यात् पाक्षिकत्वपरिहारेण उभयेषामेव वचनार्थविचारणादित्यर्थः। आगमानां जयः भगवन्मन्त्रजपमात्रेणैव मोक्षः सुष्ठु सिध्यतीति पक्षः सिद्ध इत्यर्थः। तथा च श्रीविष्णुपुराणे—'*गत्वा गत्वा निवर्त्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः। अद्यापि न निवर्त्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः॥*' इति। पाद्मनाभीये च—'*जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति। प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्वतीम्॥*' इति। कीदृशः? मम भगवन्मन्त्रजपमात्रपरस्य प्रियो हृदयङ्गमः॥१६६॥

भावानुवाद—वस्तुतः उन समस्त शास्त्रोंके बाहर जानेका कारण था—मध्यस्थता अर्थात् किसीका भी पक्ष ग्रहण न कर दोनों पक्षोंके विचारों और तर्कोंको सुनकर यथायथ अर्थका निर्धारण करना। तत्पश्चात् उन महापुराणों और महा-उपनिषदोंने विवाद मिटानेमें

मध्यस्थ होकर आगमोंको ही विजयी घोषित किया। आगमोंकी जय होनेसे मैं भी अत्यन्त आनन्दित हुआ, क्योंकि मैं श्रीभगवान्‌के मन्त्रजपका पक्षपाती था। जैसा कि श्रीविष्णुपुराणमें लिखा है—"चन्द्र और सूर्यादि ग्रहोंकी पुनः-पुनः सृष्टि और संहार होता है, किन्तु द्वादशाक्षर मन्त्रका चिन्तन करनेवाले आज तक लौटकर नहीं आये।" पद्मनाभीय नामक शास्त्रमें लिखा है—"मन्त्रजप द्वारा देवताओंकी नित्य स्तुति होनेसे वे प्रसन्न होते हैं, इसीलिए वे जपकारीको प्रचुर भोग ही नहीं, अपितु शाश्वती मुक्ति भी प्रदान करते हैं।" मन्त्रजप द्वारा भगवान् क्यों प्रसन्न होते हैं? श्रीभगवान् सोचते हैं कि यह व्यक्ति केवल मेरे मन्त्रजपमें ही अनुरक्त है, इसलिए मेरा प्रिय है॥१६६॥

मयाभिप्रेत्य तद्भावं ते पुराणागमादयः।
अनुनीय सभा-मध्यमानीताः स्तुतिपाटवैः॥१६७॥

श्लोकानुवाद—उन श्रीमद्भागवतादि महापुराण और आगमादि तन्त्र शास्त्रोंके मन्दहास्य और उनके बाहर जानेके मनोभावसे अवगत होकर मैं अनुनयपूर्वक पुनः उन्हें सभामें ले आया॥१६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च गूढ़ं भावमभिप्रायमभिप्रेत्य स्मितगाम्भीर्यादिना लक्ष्यते, सभाया निर्गताः श्रीभागवत-सात्वत-सिद्धान्तादयः, अनुनीय विनयेन वशीकृत्य स्तुतिपाटवैः कृत्वा सभामध्यमानीताः॥१६७॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् सभासे बाहर गये हुए उन श्रीभागवत और सात्त्वत-सिद्धान्तादिके मन्दहास्य और गम्भीरता द्वारा प्रकाशित गूढ़ अभिप्रायसे अवगत होकर मैं अनुनय-विनयादि द्वारा अर्थात् स्तुति द्वारा प्रसन्नकर पुनः उन्हें सभागृहमें ले आया॥१६७॥

तत्तत्त्वं सादरं पृष्टास्ते श्रीभागवतादयः।
ऊचुः सात्वतसिद्धान्ताद्यागमाः श्रुतिमौलिभिः॥१६८॥

श्लोकानुवाद—फिर मैंने उनसे आदरपूर्वक मोक्ष-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा। तब श्रुतिमौलि उपनिषदगण और सात्त्वत-सिद्धान्तादि आगमोंने श्रीभागवतके साथ एकत्र होकर कहा—॥१६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सादरं यथा स्यात्तथा तस्य मोक्षस्य तत्त्वं याथार्थ्यम्; यद्वा, स्मितपूर्वकमौनावलम्बन-कर्णपिधान-निःसरणादेः कारणं मया पृष्टाः सन्तः ते सभान्तरानीताः, परमधैर्यवन्तः सर्वश्रेष्ठा वा। श्रीभागवतादयो भगवद्भक्तिपरा ग्रन्थाः सात्वतसिद्धान्तादयश्चागमाः ऊचूः; यद्वा, श्रीभागवतमादौ येषां ते, सात्वत-सिद्धान्तानामागमेषु मुख्यं वैष्णवशास्त्रम्; श्रुतीनां मौल्य मुकुटवत् शिरोधार्याः, गूढ़ोपनिषदस्ताभिः सहिताः; सहार्थे तृतीया॥१६८॥

भावानुवाद—तब मैंने उन महापुराणादिसे आदर सहित मोक्ष-तत्त्वके विषयमें पूछा। अथवा उनके मन्दहास्य पूर्वक मौन धारण करनेका तथा दोनों कानोंको अंगुलीसे बन्दकर सभासे बाहर जानेका कारण पूछा। इस पर सभामें एकत्रित उन परमधैर्यवान तथा सर्वश्रेष्ठ श्रीभागवतादि भक्ति परायण शास्त्रोंने सात्त्वत-सिद्धान्तादि आगमोंके साथ अथवा श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंने जिनके आश्रयमें समस्त भक्ति परायण सात्त्वत-सिद्धान्त रूप आगमसमूह मुख्य वैष्णवशास्त्र हैं, श्रुतियोंके मुकुटस्वरूप गूढ़ उपनिषदोंके साथ मिलकर कहा— ॥१६८॥

श्रीभक्तिशास्त्राण्यूचुः—

लब्धब्रह्माधिकारेदं महागोप्यं निधेरपि।
भवत्सद्‌गुण-सन्दोहैराख्यामो मुखरीकृताः ॥१६९॥

श्लोकानुवाद—श्रीभक्तिशास्त्रोंने कहा—हे ब्रह्मापदको प्राप्त करनेवाले नवीन अधिकारी! यह तत्त्व महा मूल्यवान रत्नोंसे भी परम गोपनीय है। श्रीभगवान्‌के भजनमें तुम्हारे स्वभाव आदि गुणोंसे वशीभूत होकर हमलोग स्वयं ही इसे प्रकाशित करनेमें प्रवृत्त हुए हैं॥१६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमूचुस्तदाह—लब्धेत्यादिना निजां व्रजेत्यन्तेन। लब्धो ब्रह्मणोऽधिकारो येन तस्य सम्बोधनम्। अनेन एतच्छ्रवणे तवाधिकारोऽस्तीति ध्वनितम्। इदं वक्ष्यमाणं निधेः सकाशान्महागोप्यमपि आख्यामः कथयामः। विधेरिति पाठे ब्रह्मणः सकाशादपि परमगोप्यं, तस्मै अपि न प्रकाश्यत इत्यर्थः। अतस्तदधिकारमात्रप्राप्त्या त्वयि कथमिदं प्रकाशयितुं युज्येत? तथापि भगवद्-गुणसन्दोहैर्मुखरीकृताः कथयाम इति। तत्र हेतुः—भवतो ये सन्त उत्तमा गुणा भगवद्भजनशीलताद्यास्तेषां सन्दोहैर्मुखरीकृताः॥१६९॥

भावानुवाद—हे ब्रह्मापदको प्राप्त करनेवाले नवीन अधिकारी!—इस सम्बोधनका ध्वनित अर्थ है कि तुमने ब्रह्माका अधिकार प्राप्त किया है, इसलिए तुम इस गूढ़ तत्त्वको श्रवण करनेके अधिकारी हो। यह तत्त्व महानिधिसे भी अधिक गोपनीय है। यहाँ 'निधि'के स्थान पर 'विधि' पाठ होने पर इसका अर्थ होगा कि यह तत्त्व ब्रह्माके लिए भी गोपनीय है अर्थात् ब्रह्माके समीप प्रकाशित करना भी अनुचित है। यदि आपत्ति हो कि मैंने तो ब्रह्माका अधिकारमात्र प्राप्त किया है, अतः मेरे निकट क्यों प्रकाश कर रहे हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—यद्यपि यह गूढ़ तत्त्व प्रकाश करना संगत नहीं है, तथापि श्रीभगवान्‌के भजनमें तुम्हारी चेष्टादि रूप उत्तम सद्‌गुणों द्वारा वशीभूत होकर हम स्वयं ही तुम्हारे निकट इसे प्रकाश करनेमें प्रवृत्त हुए हैं॥१६९॥

क्वचित् प्रस्तूयतेऽस्माभिर्भगवद्भक्तितत्परैः।
मोक्षस्त्याजयितुं सम्यग्विनिन्द्य सपरिच्छदः॥१७०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि हम भगवद्भक्ति परायण शास्त्र हैं, तथापि मोक्षकी तुच्छता दिखलानेके लिए किसी-किसी स्थान पर हमने मोक्षका निरूपणकर मोक्ष और मोक्षके साधनकी विशेषरूपसे निन्दा भी की है॥१७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यपि मोक्षस्य निरूपणमस्माकमयोग्यं; तथापि केनचिद्धेतुना कर्त्तव्यमित्याशयेनाहुः—क्वचिदिति द्वाभ्याम्। भगवतो भक्तौ तत्परैः प्राप्तनिष्ठैरप्यस्माभिः क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चित् स्थाने वा मोक्षः प्रस्तूयते निरूप्यते। किमर्थम्? विनिन्द्य विशेषेण निन्दित्वा सम्यक् नितरां त्याजयितुमुपादेयत्वं निराकर्तुमेव। हेयस्यापि वस्तुनस्तत्त्वाज्ञानेन त्यागासम्भवात्। परिच्छदाः ज्ञानादिसाधनानि, तैः सहितः॥१७०॥

भावानुवाद—यद्यपि मोक्षका निरूपण करना हमारे लिए अनुचित है, तथापि किसी-किसी कारणवशतः मोक्षके विषयमें कहना पड़ता है। इसी अभिप्रायसे 'क्वचित्' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहे हैं कि हम भगवद्भक्तितत्पर और भक्तिनिष्ठा प्राप्त होने पर भी कभी किसी-किसी स्थान पर मोक्षका निरूपण करते हैं। किसलिए? उस मोक्ष और

मोक्षके साधन—ज्ञानादिकी विशेषरूपसे निन्दा करनेके लिए, उसकी हेयता प्रदर्शन करनेके लिए तथा उसको सम्पूर्णरूपसे त्यागनेके लिए उसकी तुच्छताको प्रदर्शित करते हैं। अर्थात् हमारा अभिप्राय है कि कोई भी मोक्षका आदर न करे, बल्कि सभी अवज्ञापूर्वक उसका त्याग करें। हेयवस्तुका तत्त्व स्थापित न करनेसे कोई भी उसे त्याग करनेमें प्रवृत्त नहीं होगा। इसीलिए हम मोक्ष-तत्त्वका निरूपणकर उसकी निन्दा करते हैं॥१७०॥

निर्वक्तुं भक्तिमाहात्म्यं कथ्यतेऽस्यापि तत् क्वचित्।
न तु साध्यफलत्वेन सुखगन्धोऽपि नास्ति यत्॥१७१॥

श्लोकानुवाद—भक्तिमाहात्म्य निरूपण करनेके प्रसंगमें किसी-किसी स्थान पर हमने मोक्षकी प्रशंसा की है। किन्तु ऐसी प्रशंसा साध्य फलके दृष्टिकोणसे नहीं की है, क्योंकि मोक्षमें सुखका गन्ध भी नहीं है॥१७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथं तर्हि कुत्रचित् प्रशंसापि क्रियते? तत्राहुः—निर्वक्तुमिति। भक्तेर्माहात्म्यं निर्वक्तुं निरूपयितुमेव अस्य मोक्षस्यापि तन्माहात्म्यं क्वचित् कथ्यते। ईदृशपरमोत्कृष्टमोक्षसुखात् कोटिकोटिगुणाधिकसुखमयी भगवद्भक्तिरित्येतन्निरूपणस्य तदितरनिदर्शनाभावात्। एतच्च मुमुक्षु-मतानुसारेणैवेति ज्ञेयम्। तत्त्वविचारेण सुखस्पर्शाभावात् तदेवाहुः—न त्विति। साध्यं यत् फलं तद्रूपेण तु न कथ्यते, यद्यतः सुखस्य गन्धः स्वल्पसम्बन्धोऽपि मोक्षे नास्ति॥१७१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि फिर किसलिए आपलोगोंने किसी-किसी स्थान पर मोक्षकी प्रशंसा भी की है? इसके उत्तरमें 'निर्वक्तुम्' इत्यादि श्लोकमें कहते हैं कि भक्तिमाहात्म्य निरूपणके प्रसंगमें थोड़ा बहुत मोक्षका माहात्म्य भी वर्णन करना आवश्यक होता है। उदाहरणस्वरूप—भक्ति ऐसी परमश्रेष्ठ वस्तु है, जिसमें मोक्षसे भी कोटि-कोटि गुणा अधिक सुख है—इस प्रकारसे भक्ति निरूपणके प्रसंगमें हमने मोक्ष-सुखका वर्णन किया है। अर्थात् भक्तिसुखकी तुलनात्मक महिमा प्रदर्शन करनेके लिए मोक्षसुखका दृष्टान्त दिया गया है, किन्तु वह मोक्षसुख भी मुमुक्षुगणोंके मतके अनुसार ही है; वस्तुतः तत्त्व विचारसे मोक्षमें सुखका स्पर्श भी नहीं है। हमने जो

मोक्षमें सुखका वर्णन किया है, वह मोक्षवादियोंके विचारके अनुसार ही जानना होगा। अतएव भक्तिके समान साध्य-फलके रूपमें मोक्षका वर्णन नहीं हुआ है, कारण मोक्षमें सुखका गन्धमात्र भी नहीं है॥१७१॥

यथारोग्ये सुषुप्तौ च सुखं मोक्षेऽपि कल्प्यते।
परन्त्वज्ञानसंज्ञोऽयमनभिज्ञप्रोचकः ॥१७२॥

श्लोकानुवाद—रोगरूपी दुःखके अभावमें जिस प्रकार सुख होता है अथवा सुषुप्ति कालमें जिस प्रकारका सुख होता है, उसी प्रकारका दुःख-अभाव ही मुक्तिसुखके रूपमें कल्पित हुआ है। परन्तु मोक्ष अज्ञान संज्ञक है अर्थात् अज्ञानमय (स्वप्नके) बन्धनमें जिस प्रकार सत्यता नहीं है, उसी प्रकार बन्धन-मोचनरूप मुक्तिमें भी सत्यताका अभाव है, इसलिए केवल अज्ञानी व्यक्ति ही इसमें रुचि दिखाते हैं॥१७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति—यथेति। आरोग्ये रोगित्वाभावे किं सुखमरोगितेति रोगदुःखाभाव एव यथासुखमिति कल्प्यते। यथा च सुषुप्तौ तमोमयां सुषुप्तिदशायां सुखानुभवाभावेऽपि *'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्'* इत्येवं नानामनोरथस्वप्नादि-मनोवैकल्य-दुःखाभाव एव सुखमिति कल्प्यते। तथा मोक्षेऽपि सर्वशून्यतारूपे जन्ममरणादि-संसारदुःखाभाव एव सुखतया कल्प्यत इत्यर्थः; वस्तुतः सुखत्वाभावात्। तर्हि कथमत्रत्यैः स श्लाघितस्तत्राहुः—परमिति। केवलमनभिज्ञेभ्यः मोक्षतत्त्वाविद्भ्यः प्रोचत इति अनभिज्ञान् प्रोचयतीति तथा सः। यतः अज्ञानेन संज्ञा यस्य सः, न तु तस्य वस्तुतः सत्यताप्यस्तीति भावः। यदुक्तं ब्रह्मणैव दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा० १०/१४/२६)—*'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ, द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।'* इति॥१७२॥

भावानुवाद—अब 'यथा' इत्यादि श्लोकमें दृष्टान्त द्वारा मोक्षकी हेयता स्थापित कर रहे हैं। आरोग्य अर्थात् रोगरूपी दुःखके अभावके कारण जो सुख कल्पित होता है, मोक्षसुख भी वैसा ही सुख है अथवा तमोमयी सुषुप्ति दशामें सुखानुभवके अभावमें भी जो एक प्रकारका सुख कल्पित होता है, उस प्रकारका सुख ही मोक्षसुख है। उदाहरण स्वरूप—'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी जान नहीं पाया'—इसमें

जो नाना मनोरथरूप अर्थात् विभिन्न प्रकारके संकल्प-विकल्पादिरूप स्वप्न द्वारा मनकी व्याकुलतारूपी दुःखके अभावसे उत्पन्न जो सुख कल्पित होता है, वैसा सुख ही मोक्षका सुख है।

यदि प्रश्न हो कि सुषुप्तिके बाद जागने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया था'—ऐसी स्मृति उदित होती है, अतः उसे कल्पित सुख कैसे माना जा सकता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—सुषुप्तिके समयमें कुछ भी सुखका अनुभव या बोध नहीं रहता, अतः उसकी स्मृतिका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वह स्मृति सुषुप्तिकालमें हुए सुखके अनुभवकी नहीं होती, किन्तु सुषुप्तिकालमें स्वप्नसे उत्पन्न चित्तकी विकलता रूप कोई दुःख भोग नहीं होता, इसलिए उस दुःखके अभावमें ही सुखकी स्मृतिकी कल्पना की जाती है। इसी प्रकार मोक्षमें भी जन्म-मरणादि संसार-दुःखके अभावरूपी सर्व-शून्यतामें ही सुखकी कल्पना कर ली गयी है। वास्तवमें मोक्षमें सुखकी गन्ध भी नहीं है।

यदि आपत्ति हो कि ऐसा होने पर ब्रह्मलोकवासियों तथा सर्वज्ञोंने किसलिए मोक्षकी इतनी अधिक प्रशंसा की है? इसके उत्तरमें 'परम्' इत्यादि पद कह रहे हैं। मोक्षतत्त्वमें केवल अनभिज्ञ लोग ही रुचि दिखाते हैं, क्योंकि अज्ञान ही जिसकी संज्ञा है, उस मोक्षमें वस्तुतः सत्यता नहीं है। अतएव जब अज्ञानरूप मोक्षकी ही सत्यता नहीं है, तब बन्धन-मोचन रूपी मोक्षकी भी सत्यताका अभाव स्वतःसिद्ध है। जैसा कि दशम-स्कन्धमें श्रीब्रह्माकी उक्ति है (श्रीमद्भा॰ १०/१४/२६)—"संसारबन्धन तथा संसारमोचन ये दोनों ही अज्ञान मूलक हैं। सूर्यमें जिस प्रकार दिन-रात नहीं हैं, उसी प्रकार विशुद्ध-विज्ञानमें बन्धन और मोक्ष दोनोंका ही स्थान नहीं है"॥१७२॥

कथञ्चिद्भगवन्नामाभासस्यापि स सिद्ध्यति।
सकृदुच्चारमात्रेण किं वा कर्ण-प्रवेशतः॥१७३॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्के नामकी महिमा तो दूर रहे केवल उनके नामाभाससे ही अर्थात् एक बार मात्र श्रीभगवान्का नाम उच्चारित होते ही अथवा कानोंमें प्रवेश करते ही अनायास ही मोक्ष सुसिद्ध हो जाता है॥१७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि किं तत् साधनमित्यपेक्षायां भक्तिमाहात्म्यनिर्वचनायैव भगवद्भक्तानामनायासेनैव मोक्षः सिध्यतीत्याहुः—कथञ्चिदिति। अस्तु तावत् भगवन्नाम्नां सेवया, भगवन्नाम्नो य आभासः प्रतिबिम्बवदनुकारकशब्दस्तस्यापि कथञ्चित् केनापि परिहासावहेलनादि—प्रकारेणापि सकृत् बारमेकमपि उच्चारणमात्रेण जिह्वाग्रे करणेन। किंवेति पक्षान्तरे। तस्यैव कथञ्चित् कर्णयोः प्रवेशात् स मोक्षः सिध्यति, तदुक्तं षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ६/३/२४)—*'विकृश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि, नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्।'* इति। तथा श्रीवराहपुराणे सत्यतप-उपाख्यानारम्भे—*'कञ्चिज्जले मग्नं जपपरं ब्राह्मणं भक्षयितुमागतस्य व्याघ्रस्य तैनैव व्याधेन हतस्याकस्मादुद्गतभगवन्नामश्रवणेनैव मुक्तिर्जाता।'* इति दिक्॥१७३॥

भावानुवाद—तथापि उस मोक्षका साधन क्या है? इसकी आशामें 'कथञ्चित्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—भक्तिका माहात्म्य अनिर्वचनीय होनेके कारण भगवद्भक्तोंके लिए वह मोक्ष अनायास ही सिद्ध हो जाता है। भगवान्‌के शुद्ध नामकी तो बात दूर रहे, उनके नामके आभासमात्रसे ही वह मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतः फिर उस भगवन्नामकी सेवाके विषयमें क्या कहा जाय? भगवान्‌के नामका आभास अर्थात् परिहास या अवहेलनादिमें भी यदि किसी प्रकारसे केवल एक बार भगवान्‌का नाम जिह्वामें उच्चारित हो जाय अथवा वह नाम किसी प्रकारसे कानोंमें प्रवेशकर जाय, तब भी अनायास ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (६/३/२४)में वर्णन है—"महापापी अजामिल मृत्युके समय अशुद्ध अवस्थामें भी अस्वस्थ चित्तसे अपने पुत्रको 'नारायण' नामसे पुकारने पर मुक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ हुआ।" श्रीवराहपुराणमें सत्यतप-उपाख्यानके प्रारम्भमें कथित है—एक बार एक ब्राह्मण जलमें मग्न होकर भगवान्‌का नाम जप कर रहा था। उस समय एक व्याघ्र उस ब्राह्मणको खानेके लिए वहाँ आया, तभी एक शिकारीने तीर मारकर उस व्याघ्रको गिरा दिया। उस आहत व्याघ्रने देहत्यागकालमें अकस्मात् उस ब्राह्मणके मुखसे निकलनेवाले भगवान्‌के नामको श्रवण कर मुक्ति प्राप्त की॥१७३॥

विचाराचातुरीरम्यो मोक्षोऽयमवधार्यताम्।
तेषां वेदपुराणादिशास्त्राणां हि यथामतम्॥१७४॥

श्लोकानुवाद—वस्तुतः विचार-चातुरीके अभावमें ही मोक्षको मनोहर माना जाता है। परन्तु इस विषयमें विचार करने पर मोक्ष किसी दृष्टिकोणसे भी रमणीय स्थापित नहीं हो सकता। वेद, इतिहास और पुराणादि समस्त शास्त्रोंका जो मत है, वही हमलोग तुमको बतला रहे हैं॥१७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथं तर्हि तदर्थं योगिभिः प्रयासः क्रियते? तत्राहुः—विचारेति। अयं मुमुक्षुभिः परमपुरुषार्थतया प्रतिपाद्यमानो मोक्षः। विचारेषु याऽचातुरी चातुर्याभावस्तयैव रम्यो मनोहर इत्यवधार्यतां निश्चीयताम्। उत्र च तन्माहात्म्यवादिनामेव सिद्धान्तः प्रमाणमित्याहुः—तेषामिति। यथा यादृङ्मतं तथैव; यद्वा, तेषां मतमनतिक्रम्यैव, तेषां सिद्धान्ताविरोधेनैव मोक्षस्य विचाराचातुरीरम्यता सिध्यतीत्यर्थः॥१७४॥

भावानुवाद—तब योगीगण क्यों उस मुक्तिके लिए इतना प्रयास स्वीकार करते हैं? इस आशंकासे 'विचार' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वह केवल उनकी विचार-चातुरीका अभाव है, वस्तुतः इस विषयमें विचार करनेसे मोक्ष किसी भी मतानुसार रमणीय नहीं होता है। तब मुमुक्षुगणोंने जो इस मोक्षको परम पुरुषार्थ कहकर स्थापित किया है, वह केवल मोक्ष माहात्म्य-वादियोंका सिद्धान्त ही है। यदि कहो कि इस बातका क्या प्रमाण है? इस आशंकासे 'तेषाम्' इत्यादि पद कह रहे हैं। अब हम वेद, इतिहास और पुराणादि शास्त्र-सिद्धान्तोंके अनुसार विचार-चातुरीकी रम्यता जिस प्रकार सिद्ध हुई है, उसीको बतला रहे हैं। अर्थात् उन समस्त शास्त्रोंके मत संग्रहकर तुम्हें कह रहे हैं॥१७४॥

सोऽशेषदुःखध्वंसो वाऽविद्याकर्मक्षयोऽथवा।
मायाकृतान्यथारूपत्यागात् स्वानुभवोऽपि वा॥१७५॥

श्लोकानुवाद—किसी-किसीके मतानुसार सब प्रकारके दुःखोंका सम्पूर्णता ध्वंस हो जाना ही मोक्ष है, कोई-कोई अविद्या तथा कर्मके क्षयको ही मोक्ष मानते हैं और किसी-किसीके मतमें मायासे जो अन्य वस्तुकी भ्रान्ति हो रही है, उस भ्रमसे छुटकारा मिलने पर आत्मस्वरूपका अनुभव होना ही मोक्ष है। परन्तु इनमें से किसी भी मोक्षमें सुख नहीं है॥१७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां मतमेव विकल्पेनोपन्यस्यति—स इति। मोक्षः अशेषस्य एकविंशतिप्रकारस्य दुःखस्य ध्वंसो लोपस्तद्रूप एव वा। एतन्नैयायिकानां मतम्। तदुक्तं नैयायिकैः—*'आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मुक्तिः'* इत्यादि। अथवा अविद्यायाः कर्मणाञ्च क्षयरूपः, एतच्च वैदान्तिकैकदेशीयानां केषाञ्चिन्मतम्। तदुक्तं तैरेव, वैशेषिक-मीमांसासांख्यादि-शास्त्राणाञ्च मतं नोत्थापितम्। तैः कृतेन मोक्षस्य स्वरूपनिरूपणेन स्वत एवातितुच्छतासिद्धेः। वेति पक्षान्तरे। मायाकृतस्यान्यथारूपस्य संसारित्वस्य भेदस्य वा त्यागात् स्वस्य आत्मरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभवरूप एव। एतच्च विवर्त्तवादिनां वेदान्तिनां मुख्यं मतम्। यथोक्तं द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/१०/६)—*'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः'* इति॥१७५॥

भावानुवाद—'स' इत्यादि श्लोक द्वारा मोक्षवादियोंके विभिन्न प्रकारके मोक्षकी परिभाषाएँ बतला रहे हैं। नैयायिक मतमें इक्कीस प्रकारके दुःखोंका आत्यन्तिक अर्थात् सम्पूर्णता ध्वंस होना ही मुक्ति है। उनके मतमें मोक्षकी संज्ञा है—"आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही मुक्ति है।" वैदान्तिक एकदेशवादीगण अर्थात् जो वेदके एक अंशको मानते हैं, उनके मतानुसार—"अविद्या और कर्मका क्षय ही मोक्ष है।" वैशेषिक, मीमांसक और सांख्यवादियोंका मत यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है, क्योंकि उन्होंने मोक्षका जो स्वरूपलक्षण निर्धारित किया है, वह अतितुच्छ होनेके कारण सब प्रकारसे अपूर्ण है। पक्षान्तरमें वैदान्तिकोंमें मुख्य विवर्त्तवादियोंके मतानुसार—"संसाररूप माया द्वारा किया गया अन्यथारूप (भेद) परित्यागकर स्व अर्थात् आत्मरूपका अनुभव (ब्रह्मानुभव) ही मोक्ष है," यथा श्रीमद्भागवत (२/१०/६)में लिखा है—"जब आत्मा मायाकृत अन्यथारूप (भेद) परित्यागकर अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित होती है, तब उसीका नाम मोक्ष है"॥१७५॥

जीवस्वरूपभूतस्य सच्चिदानन्दवस्तुनः।
साक्षादनुभवेनापि स्यात्तादृक् सुखमल्पकम्॥१७६॥

श्लोकानुवाद—जीव-स्वरूपके ज्ञान द्वारा सच्चिदानन्द वस्तुके दर्शनसे अतिअल्प सुख ही प्राप्त होता है। परन्तु सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्के चरणकमलोंके साक्षात् अनुभवसे सागरके समान जो अपार भक्तिसुख

उदित होता है, उसकी तुलनामें मोक्षसुख बिन्दुके समान ही कल्पित होता है॥१७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र प्रथमपक्षद्वये, तेषां मतेनैव मोक्षे दुःखाभाव-तत्कारणाभावमात्रतैवेति सुखं नास्तीति सिद्धमेव। विवर्त्तवादिनां मतेऽपि आत्मस्वरूपानुभवेन सुखं तुच्छमेव स्यादिति साधयति जीवेत्येकविंशत्या। तादृग् जीवस्वरूपानुभवरूपमेव; अतएवाल्पकं सच्चिदानन्दघन—श्रीभगवच्चरणारविन्दानुभवरूप-भक्तिसुखापेक्षयात्यल्पकम्। यद्यपि सुखं नाम तत्र तत्त्वतो नास्त्येव, केवलं दुःखाभाव एवेति निश्चयः, तथापि *'तुष्यतु दुर्जनः'* इति न्यायेनाभ्युपगम्य सुखं मोक्षे किञ्चिदत्रोच्यमानमस्ति। तच्च भगवद्भक्तिसुखमाहात्म्यबोधनायैवेति पूर्वोक्तानुसारेण बोद्धव्यमिति दिक्॥१७६॥

भावानुवाद—इनमें से प्रथम दो पक्षों—नैयायिक और एकदेशिकवादी वैदान्तिकोंके मतानुसार मोक्षमें दुःखका अभाव तथा दुःखके कारणका अभावमात्र निर्धारित हुआ है, अतः उस मोक्षमें सुख नहीं है—यह स्वतः ही सिद्ध होता है। विवर्त्तवादियोंके मतमें आत्मस्वरूपका अनुभवरूप सुख अतितुच्छ है, इसे 'जीव' इत्यादिसे आरम्भकर इक्कीस श्लोकोंके द्वारा प्रतिपादन किया जा रहा है। वस्तुतः जीव स्वरूपके अनुभवका जो सुख है, वह अति अल्प है; अर्थात् सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्के चरणकमलोंके अनुभवसे जो अपार भक्तिसुख उदित होता है, उसकी तुलनामें जीवस्वरूपानुभव मोक्षसुख उसी प्रकारसे तुच्छ है जिस प्रकार सागरकी तुलनामें गोखुर-चिह्नमें रखा जल। यद्यपि मोक्षमें नाममात्रका सुख है, किन्तु तत्त्वतः उसमें केवल दुःखका अभावमात्र ही जानना होगा। तथापि 'तुष्यतु दुर्जनः' अर्थात् 'दुर्जन व्यक्ति सन्तोष लाभ करें'—इस न्यायके अनुसार 'अभ्युपगम' अर्थात् अस्वीकार्य विषयको स्वीकार कर यथार्थ तत्त्वके निर्धारण द्वारा 'सुख' शब्द मोक्षमें बड़ी कठिनाईसे व्यवहारित होता है। परन्तु वैसा व्यवहार भी केवल भगवद्भक्तिके सुखकी महिमा समझानेके उद्देश्यसे ही होता है। यह भी पूर्वोक्त न्यायके अनुसार समझना होगा॥१७६॥

शुद्धात्मतत्त्वं यद्वस्तु तदेव ब्रह्म कथ्यते।
निर्गुणं तच्च निःसङ्गं निर्विकारं निरीहितम्॥१७७॥

श्लोकानुवाद—(आत्मस्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष माननेवालोंके मतमें) शुद्ध आत्मतत्त्व जो वस्तु है, वही ब्रह्म है और वह ब्रह्म निर्गुण, निसङ्ग, निर्विकार और निरीह होनेके कारण सच्चिदानन्दघन नहीं हो सकता है॥१७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मोक्षेऽपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽनुभवात्तदनुरूपं सुखमप्य-परिच्छिन्नमेवास्तु, तत्राह—शुद्धेति। अतस्तदनुभवेनापि तथैवेति भावः। तच्च ब्रह्म निर्गुणं कारुण्यादि-गुणहीनं, तथा निःसङ्गं भक्तजन-सङ्गादिरहितम्, तथा निर्विकारं चित्तार्द्रतादिविक्रियाहीनम्, विचित्रश्रीमूर्त्तिवैभवादिपरिणामरहितमिति वा। तथा निरीहितञ्च विचित्रमधुरलीलाहीनमित्येवं भगवत्ताभावेन सच्चिदानन्दघनत्वाभावात्तदनुभवेन सुखमपि तदनुरूपमेव स्यादिति सिद्धम्॥१७७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मोक्षमें असीम ब्रह्मके अनुभवसे उनके अनुरूप असीमित सुख ही प्राप्त होता है—इस आशंकासे 'शुद्ध' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अर्थात् ऐसी धारणा न करें, क्योंकि जो वस्तु शुद्ध आत्मस्वरूप है, वही ब्रह्मके रूपमें कथित होती है। वह ब्रह्म निर्गुण है—अर्थात् करुणादि गुणहीन है, निसङ्ग है—परिकरादि रहित है, निर्विकार है—चित्त विकाररूप विशेष क्रिया रहित है अर्थात् भक्तोंके करुण क्रन्दनसे भी उसका चित्त द्रवित नहीं होता है अथवा श्रीमूर्त्तिरूप वैभवादि प्राकट्य रहित है तथा निरीह (उदासीन, तृष्णा रहित) है—विचित्र मधुर लीलाहीन है अर्थात् मधुर लीला प्रकटकर भक्तोंका मन हरण नहीं करता। ऐसी भगवत्ताहीन वस्तु कभी भी सच्चिदानन्दघन नहीं हो सकती। अतएव उसके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन स्वरूपके अनुभवका असीम सुख प्राप्त नहीं होता है॥१७७॥

भगवांस्तु परं ब्रह्म परात्मा परमेश्वरः।
सुसान्द्र-सच्चिदानन्दविग्रहो महिमार्णवः॥१७८॥

श्लोकानुवाद—परन्तु श्रीभगवान् ही परब्रह्म, परमात्मा और परमेश्वर हैं। वे परम सच्चिदानन्दघन विग्रह हैं और विविध महिमाके समुद्र-स्वरूप हैं॥१७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि सान्द्रसुखानुभवः कथं स्यादित्यपेक्षायां श्रीभगवद्भक्त्यैव सम्पद्यत इत्युपपादयति—भगवांस्त्विति चतुर्भिः। परब्रह्मत्वादेव परात्मा परमात्मा

सर्वजीवान्तर्यामी चित्ताधिष्ठाता, अतएव परमेश्वरः ब्रह्मादीनामपि नियन्ता। श्रीवैकुण्ठाधिष्ठाता अतएव सुसान्द्रं परमघनं यत् सच्चिदानन्दं तदेव विग्रहो मूर्त्तिर्यस्य सः, अतएव महिम्नामचिन्त्याद्भुतविविधमहत्तानामर्णवः स्थिरापारगम्भीराश्रयः; अतएव *'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।'* (श्रीगी॰ १०/१२)—इत्यत्र तथा परब्रह्मनराकृतीत्यादिवचनेषु च भगवद्वाचके ब्रह्मणि पर-शब्दप्रयोगः। आत्मतत्त्व-वाचके च—*'ब्रह्मन्! ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः। कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/१) इत्यत्र, तथा *'ब्रह्मणोऽपि प्रतिष्ठाऽहम्'* (श्रीगी॰ १४/२७) इत्यादिषु केवलब्रह्म-शब्दप्रयोगः। यत्र तस्मिन्नपि पर-शब्दप्रयोगः क्वचिद्दृश्येत, स च शब्द-ब्रह्माद्यपेक्षयेत्यूह्यम्॥१७८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब घनीभूत सुखानुभव किस प्रकार होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवद्भक्तिके प्रभावसे सम्पादित होगा—यही 'भगवांस्तु' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। श्रीभगवान् ही परब्रह्म-परमात्मा हैं—समस्त जीवोंके अन्तर्यामी चित्ताधिष्ठाता होनेके कारण ब्रह्मादिके भी नियन्ता हैं। वे श्रीवैकुण्ठाधिष्ठाता हैं, अतएव परमघन सच्चिदानन्दविग्रह हैं और अचिन्त्य अद्भुत विविध महिमाके समुद्र-स्वरूप अर्थात् स्थिर और अपार गम्भीर आश्रय हैं। इस प्रकार महिमायुक्त श्रीभगवान्के लिए भी कभी-कभी 'परब्रह्म' शब्दका प्रयोग देखा जाता है। जैसे (श्रीगी॰ १०/१२)—"आप ही परब्रह्म परमधाम और एकमात्र परम पवित्र हैं।" ब्रह्म और परमब्रह्म शब्दोंका प्रायः दो प्रकारसे प्रयोग देखा जाता है। जैसे 'परब्रह्म नराकृति' इत्यादि वाक्योंमें 'परब्रह्म' शब्द द्वारा भगवान् अभिप्रेत हैं तथा आत्म-तत्त्व वाचक स्थान पर केवल 'ब्रह्म' शब्दका ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे श्रीमद्भागवत (१०/८७/१)में कथित है—"हे ब्रह्मन्! जिसको प्रत्यक्षरूपमें निर्देश नहीं किया जा सकता, जो निर्गुण हैं और कार्य-कारणसे सर्वथा परे हैं तथा सत्त्व, रज और तम गुणोंके स्पर्शसे रहित हैं, श्रुतियाँ उस निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप किस प्रकार वर्णन करेंगी?" तथा श्रीभगवान्ने स्वयं गीता (१४/२७)में कहा है—"ब्रह्मणोऽपि प्रतिष्ठाऽहम्" अर्थात् "मैं चित्स्वरूप ब्रह्मका आश्रय हूँ।" अर्थात् घनीभूत तेजविग्रह सूर्य जिस प्रकारसे किरणोंके अथवा प्रकाशके आश्रय हैं, उसी प्रकार चित्घनविग्रह श्रीभगवान् चित्स्वरूप ब्रह्मके आश्रय हैं। इस वाक्यमें केवल 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग हुआ है।

कभी किसी-किसी स्थान पर 'ब्रह्म' शब्दसे पूर्व 'पर' शब्दका प्रयोग देखा जाता है, वह ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ वस्तुको बतलानेके लिए होता है। किन्तु मूर्त्त ब्रह्मको लक्ष्यकर सर्वदा ही 'पर' शब्दका प्रयोग होता है॥१७८॥

सगुणत्वागुणत्वादिविरोधाः प्रविशन्ति तम्।
महाविभूतिर्ब्रह्मास्य प्रसिद्धेत्थं तयोर्भिदा॥१७९॥

श्लोकानुवाद—अगाध समुद्रके समान महिमायुक्त श्रीभगवान्‌में ही सगुणत्व और निगुर्णत्व आदि समस्त परस्पर विरोधी धर्म सुसङ्गत होते हैं। ब्रह्म श्रीभगवान्‌की महाविभूतिके रूपमें प्रसिद्ध हैं—यही श्रीभगवान् और ब्रह्मका परस्पर भेद है॥१७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव सगुणत्वमगुणत्वञ्चेत्यादि-विरोधास्तं भगवन्तं प्रविशन्ति, समुद्रे लीनाः प्रवाहा इव लीयन्त इत्यर्थः। आदि-शब्देन निःसङ्गत्व-सङ्गित्व-निर्विकारत्व-सविकारत्व-निरीहत्वेहावत्वानि, तथैकत्वानेकत्व-निर्विशेषत्व सविशेषत्वादीनि च। ब्रह्मत्वेन निर्गुणत्वादिकं परमात्मत्व-परमेश्वरत्वाभ्याञ्च सङ्गित्व-सगुणत्वादि विवेचनीयम्। यच्चानामारूपत्वादिकं कुत्रापि श्रूयते, तच्च वासुदेवाध्यात्मवचनेन परिहृतमेवास्ति। तथाहि *'अप्रसिद्धेस्तद्गुणानामनामासौ प्रकीर्तितः। अप्राकृतत्वाद्रूपस्याप्य-रूपोऽयं प्रचक्षते॥'* तच्चैतन्मायावादिवत् परमेश्वरत्वस्य मायिकत्वेन सगुणत्वादीनां मायिकतयाऽविरुद्धत्वं सिध्यतीति वाच्यम्। यतस्तस्य पारमैश्वर्यं नित्यं सत्यञ्च, न तु प्रपञ्चवन्मायिकम्; अतएव श्रीभगवदाख्यमेकमेव वस्तु ब्रह्मवद्गुणातीतत्वादिना निर्गुणम्। प्रपञ्चवन्नानाविधविशेषवत्वेन सगुणमपि, तच्च विरुद्धं, तस्मिन्नेवाचिन्त्याद्भुत-विचित्रशक्त्या घटत इत्यत एवोक्तं—महिमार्णव इति। तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—*'यत् किञ्चिदिह लोके वै देहबन्धं विशाम्पते। सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः॥ ईश्वरो हि महद्भूतं प्रभुर्नारायणो विराट्। भूतान्तरात्मा विज्ञेयः सगुणो निर्गुणोऽपि सः॥'* इति। कौर्मे च—*'अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः। अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः॥ ऐश्वर्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते। तथापि दोषाः परमे नैवाहार्याः कथञ्चन॥ गुणा विरुद्धा अपि तु समाहार्याश्च सर्वतः।'* इति। विष्णुधर्मोत्तरे च—*'गुणाः सर्वेऽपि युज्यन्ते ह्यैश्वर्यात् पुरुषोत्तमे। दोषाः कथञ्चिन्नैवात्र युज्यन्ते परमो हि सः॥ गुणदोषौ माययैव केचिदाहुरपण्डिताः। न तत्र माया मायी वा तदीयौ तौ कुतो ह्यतः॥ तस्मान्न मायया सर्वं सर्वैश्वर्यस्य सम्भवम्। अमायो हीश्वरो यस्मात्तस्मात्तं परमं विदुः॥'* इति। एतच्चाग्रे विस्तारेण व्यक्तं भावि। ये च मन्यन्ते—योगिभिरूपास्यं भगवतो निर्गुणं रूपं ब्रह्म पृथक्, भक्तैरुपास्यं सगुणं

चतुर्भूजादिरूपं पृथक्, तच्चापि शुद्धसत्त्वघनं नित्यमेवेति, तेषामपि मते सगुणरूपमेव परमोत्कृष्टतरमपि सिध्यति—एकान्तभक्तिमतामेव लभ्यत्वात्, ब्रह्मनिष्ठानामप्यदृश्यत्वात्, परमानन्दविशेष-विस्तारणादि-महामहिमवत्त्वाच्च। एतच्च मोक्षधर्मे श्रीनारायणीयोपाख्याने उपरिचरवसोर्यज्ञे तेन दृष्टस्यापि यज्ञभागग्राहिणो भगवतो बृहस्पतिप्रभृतिभिरदर्शनात्। तथा श्वेतद्वीपगतानां परमप्रयत्नपराणां ब्रह्मपुत्राणां महायोगीन्द्राणामप्येकत-द्वित-त्रितानां भगवद्दर्शनाप्राप्तेर्व्यक्तमेव भाति। किञ्च, सदा ब्रह्मानुभविनामात्मारामेन्द्राणामपि श्रीसनकादीनां श्रीवैकुण्ठे भगवद्दर्शनार्थं गमनं तथा तत्र तद्दर्शनादेवानन्दविशेषसम्पत्त्या विविधविकारविशेषाविर्भावश्च विशेषतस्तत्र प्रमाणमिति दिक्। तथा च तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/१५/४३)—*'तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द, किञ्जल्कमिश्रतुलसी-मकरन्द-वायुः। अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥'* इति। अलमतिविस्तरेण। अतएव ब्रह्मरूप-जीवतत्त्वरूपमस्य ईश्वरस्य भगवतो महाविभूतिरिति प्रसिद्धा। तदुक्तं महद्भिः—*'परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः'* इति। तथा श्रीभगवद्गीतासु (श्रीगी॰ १०/२०) विभूतिकथने—*'अहमात्मा गुड़ाकेश! सर्वभूताशयस्थितः।'* इति तच्छास्त्रे आत्मब्रह्मणोरभेदोक्तेः। ब्रह्मसंहितायाञ्च (५/४०)—*'यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि, कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्। तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'* इति। अस्यार्थः—यस्य प्रभा कला अंशः ब्रह्म तदनिरूप्यम्; तदेव विशिनष्टि—निष्कलमिति पदत्रयेणेति। तथा च एकादशस्कन्धेऽपि—*'अनारम्भं तमो यान्ति परमात्मविनिन्दनात्। पराधीनश्च बद्धश्च स्वल्पज्ञानसुखे हितः॥ अल्पशक्तिः सदोषश्च जीवात्मा नेदृशः परः। वदता तु तयोरैक्यं किं तैर्न दुष्कृतं कृतम्॥ अन्तर्याम्यैक्यवाचीनि वचनानीह यानि तु। तानि दृष्ट्वा भ्रमन्तीह दुरात्मानोऽल्पचेतसः॥ अस्यस्मि त्वमहं स्वात्मेत्यभिदा गोचरो यतः। सर्वान्तरत्वात् पुरुषस्त्वन्तर्यामी भिदामयन्॥ अतो रमन्ति वचनैरसुरा मोहतत्परैः। तन्मोहने परा प्रीतिर्देवानां परमस्य च। अतो महान्धतमसि नरके यान्त्यभेदतः॥'* इत्यादि॥१७९॥

भावानुवाद—अतएव जिस प्रकार समुद्रमें समस्त तरङ्गें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार समुद्रके समान महिमासे युक्त श्रीभगवान्में सगुणत्व और निर्गुणत्व आदि विरुद्ध-अविरुद्ध समस्त धर्मोंका समावेश है। मूलश्लोकमें 'आदि' शब्दसे निसङ्गत्व-सङ्गित्व, निर्विकारत्व-सविकारत्व, इच्छारहित-इच्छायुक्त, एकत्व-अनेकत्व, निर्विशेषत्व-सविशेषत्व इत्यादि विरुद्ध और अविरुद्ध समस्त धर्मोंको समझना होगा। ब्रह्मत्व हेतु निर्गुणत्वादि तथा परमात्मा-परमेश्वरत्व हेतु सङ्गित्व और सगुणत्वादि समस्त धर्म भगवान्में ही युगपत् सुसङ्गत होते हैं। तथा कहीं-कहीं उनके लिए 'अनाम' और 'अरूप'के विषयमें जो सुना

जाता है, उसका 'वासुदेव-अध्यात्म्य'के प्रमाण द्वारा खण्डन किया गया है। जैसे "अप्रसिद्धेस्तद्गुणानामनामासौ प्रकीर्तितः। अप्रकृतत्वाद-रूपस्याप्यरूपोऽयं प्रचक्षते॥" अर्थात् भगवान्‌के समस्त गुण मायिक इन्द्रियोंमें स्फूर्त नहीं होते, अतः उन्हें 'अनाम' कहा जाता है और मायिक चक्षु आदि इन्द्रियोंके अगोचर, अप्राकृत रूप होनेके कारण उन्हें 'अरूप' कहा जाता है। इसका कारण है कि भगवान्‌के अप्राकृत गुणोंकी अन्य किसीके साथ भी तुलना नहीं है, इसलिए प्राकृत गुणानुसार उनको नाम देना असम्भव होनेके कारण वे 'अनाम' हैं और उनका रूप भी उसी प्रकार अप्राकृत होनेके कारण उनको 'अरूप' कहा जाता है।

माया उन परमेश्वरकी बहिरङ्गा शक्ति है और प्रपञ्च-जगत उसी माया शक्तिका कार्य है। अतएव परमेश्वरकी शक्ति होनेसे परमेश्वर ही मायाके मूल कारण और मायाके अधीश्वर हैं। जब भगवान्‌से पृथक् कुछ भी नहीं है, तब उनमें विरुद्ध और अविरुद्ध सभी धर्मोंका समावेश स्वतःसिद्ध है।

विशेषकर उनका परमैश्वर्य नित्य सत्य है, प्रपञ्चकी भाँति मायिक या मिथ्या नहीं, अतएव श्रीमद्भागवतमें कथित अद्वय-तत्त्व-वस्तु ही ब्रह्म होनेके कारण गुणातीतरूपमें निर्गुण हैं और प्रपञ्चकी भाँति नाना-प्रकारकी अप्राकृत वैचित्री होनेके कारण वे सगुण भी हैं। अतएव श्रीभगवान्‌में अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत और विचित्र शक्तियोंका समावेश होनेके कारण अनन्त प्रकारके विरुद्ध धर्मोंका भी समावेश होता है। इसीलिए श्रीभगवान्‌को विविध महिमाका समुद्र कहा गया है। मोक्षधर्ममें कहा गया है—"ईश्वरके संकल्पसे पञ्चभूत उत्पन्न हुए हैं और पञ्चभूतमें आविष्ट होनेके कारण देही जीव देह-धर्ममें आबद्ध हुआ है। वे ईश्वर महाद्भुत, प्रभु, नारायण और विराट हैं, अतएव वे ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं तथा वे ही निर्गुण और सगुण दोनों हैं।" कूर्मपुराणमें लिखा है—"जो समस्त प्रकारसे अस्थूल (सूक्ष्म) होने पर भी स्थूल हैं, अनणु होने पर भी अणु हैं, अवर्ण होने पर भी श्यामवर्ण और लाल रङ्गके लोचनसे युक्त हैं। यद्यपि ये समस्त गुण परस्पर विरुद्ध होने पर भी अचिन्त्य ऐश्वर्ययोगसे श्रीभगवान्‌में

नित्य ही अवस्थित हैं, तथापि परमेश्वरमें अनित्यता आदि किसी प्रकारके दोषको नहीं लाया जा सकता, क्योंकि ये समस्त गुण परस्पर विरुद्ध होने पर भी उनमें समावेश प्राप्त करते हैं।" विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—"ऐश्वर्यके कारण श्रीपुरुषोत्तममें समस्त गुणोंका ही समावेश रहता है, किन्तु दोषोंका कभी भी उनमें योग नहीं होता क्योंकि वे परमेश्वर हैं। अर्थात् परमेश्वर होनेके कारण उनमें हेय प्राकृत गुणोंके अतिरिक्त, स्वरूपभूत समस्त ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज इत्यादि गुण नित्य विद्यमान रहते हैं। कोई-कोई अज्ञानी व्यक्ति कहते हैं कि भगवान्में मायाके गुण और दोष दोनों ही वर्त्तमान रहते हैं। किन्तु परमेश्वर कभी भी मायायुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि परमेश्वर सूर्यके समान प्रकाशवान तत्त्व हैं और माया अन्धकारके समान है, अतः ज्योतिके साथ अन्धकारका योग किस प्रकार होगा? विशेषतः वह मायातीत ईश्वर होनेके कारण परमेश्वर पदवाच्य हैं।" इस विषयका विशेषरूपमें विवेचन आगे होगा।

जो लोग कहते हैं कि योगियोंके उपास्य भगवान्—निर्गुण ब्रह्मरूपमें पृथक् हैं और भक्तोंके उपास्य भगवान्—सगुण चतुर्भुजादिरूपमें पृथक् हैं, तथापि शुद्धसत्त्वघन होनेके कारण नित्य हैं। अतएव उनके मतानुसार भी सगुणरूप ही परमश्रेष्ठ प्रतिपादित होता है तथा वे भगवान् ऐकान्तिक भक्तों द्वारा प्राप्त होते हैं, किन्तु ब्रह्मनिष्ठ योगियोंके अदृश्य हैं। इस प्रकारसे वे भगवान् भक्तोंके सम्बन्धमें परमानन्द विस्तारकारी लीला द्वारा महामहिमायुक्त होते हैं। इस विषयमें मोक्षधर्मके श्रीनारायण उपाख्यानमें वर्णित है—उपरिचर वसुके यज्ञमें भगवान् साक्षात् आविर्भूत हुए थे और उन्होंने यज्ञका अग्रभाग ग्रहण किया था तथा इन उपरिचर वसुने भगवान्का दर्शन प्राप्त किया था, किन्तु उस यज्ञके पुरोहित—ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पति इत्यादि ऋषिगण भगवान्के दर्शनसे वञ्चित हुए थे। उसी प्रकार ब्रह्माके पुत्र ब्रह्मनिष्ठ एकत, द्वित और त्रिता नामक महर्षिगण श्वेतद्वीपमें जाकर बहुत चेष्टा करने पर भी भगवान्के दर्शन प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हुए।

इस सम्बन्धमें कुछ और भी कहते हैं—'किसी समय निरन्तर ब्रह्मका अनुभव करनेवाले आत्मारामगणोंके शिरोमणि श्रीसनकादि

भगवान्‌के दर्शनके उद्देश्यसे वैकुण्ठमें गये और वहाँ पर भगवान्‌के दर्शनसे उत्पन्न परमानन्दको प्राप्त कर विविध प्रकारके सात्त्विक विकारोंसे विभूषित हुए थे।' इसका प्रमाण है (श्रीमद्भा॰ ३/१५/४३)—"उन मुनियोंने जब श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रणाम किया, उस समय कमलनयन श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके परागसे मिश्रित तुलसीकी मकरन्दयुक्त वायु उनकी नासिकामें प्रविष्ट हुई। यद्यपि वे ब्रह्मज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण सदा ही ब्रह्मानन्दके अनुभवमें निमग्न रहते थे, तथापि उस तुलसीगन्धके द्वारा उनके चित्तमें विशेष आनन्द उदित होनेके कारण उनमें रोमाञ्च आदि सात्त्विक विकार उदित हुए।"

अतएव ब्रह्मरूप और जीवरूप तत्त्व—ये दोनों श्रीभगवान्‌की ही महाविभूतिके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस विषयमें महाजनोंने कहा है—"हे भगवन्! परात्पर ब्रह्म आपकी ही विभूति हैं।" श्रीगीता (१०/२०)के विभूतियोगमें कथन है—"हे अर्जुन! मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ।" यहाँ पर बह्म और आत्मा (भगवान्)के अभेदके सम्बन्धमें कहा गया है। वस्तुतः श्रीगोविन्द और ब्रह्म एक तत्त्व होने पर भी शक्ति विशेषकी अभिव्यक्तिके तारतम्यानुसार श्रीगोविन्द धर्मी हैं और ब्रह्म धर्म है। जैसा कि श्रीब्रह्मसंहिता (५/४०)में लिखा है—"जिनकी अङ्गकान्तिसे उत्पन्न निर्विशेष-ब्रह्म, करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी विभूतियोंसे पृथक् होकर निष्कल, अनन्त अशेष-तत्त्वरूपमें प्रतीत होता है, उन आदि पुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" अर्थात् इस श्लोकमें ब्रह्मका निरूपण श्रीगोविन्दकी प्रभाकी कला या अंशके रूपमें किया गया है—इसे बतानेके लिए उद्धृत श्लोकमें 'निष्कलम्' इत्यादि तीन पद कहे गये हैं। अतएव भगवान् और ब्रह्ममें इस प्रकारसे भेद जानना होगा। श्रीभागवतके एकादश-स्कन्धमें भी वर्णित है—"परमात्माकी निन्दा करनेवाले घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। जीवात्मा पराधीन, बद्ध, अल्पज्ञान, अल्पसुख और अल्पशक्ति विशिष्ट तथा दोषयुक्त है किन्तु परमात्मा ऐसे नहीं हैं। इसलिए जो दोनोंको एक मानते हैं, वे कौनसा दुष्कर्म नहीं करते अर्थात् वे इसके द्वारा परमात्माकी निन्दा करते हैं। अतएव जीवात्मा और परमात्माको एक कहनेवाले दुरात्मा हैं तथा ऐसे दुरात्मा संसार-चक्रमें भ्रमण करते हैं। ऐसे मोह परायण

वचनोंके द्वारा असुर ही मोहको प्राप्त होकर संसार-चक्रमें भ्रमण करते हैं और उनके मोहनसे देवताओंकी भगवान्में परम प्रीति होती है। अतएव जीवात्मा और परमात्मामें भेद नहीं माननेके फलस्वरूप महान्धतम नरकमें जाना पड़ता है"॥१७९॥

अतः सान्द्रसुखं तस्य श्रीमत्पादाम्बुजद्वयम्।
भक्त्यानुभवतां सान्द्रं सुखं सम्पद्यते ध्रुवम्॥१८०॥

श्लोकानुवाद—अतएव श्रीभगवान्के युगल-चरणकमल ही घनसुख स्वरूप हैं और वह सुख भक्ति द्वारा ही अनुभव होता है अर्थात् भक्ति द्वारा जो लोग भगवान्का माधुर्य अनुभव करते हैं, उन्हें निश्चय ही घनसुख प्राप्त होता है॥१८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ब्रह्मानुभविनां सुखादधिकाधिकं भगवद्भक्तानां सुखं सम्पद्यत इत्याहुः—अत इति। सान्द्रं यत् सुखं तद्रूपं सान्द्रं सुखं यस्मात्तदिति वा। तस्य भगवतः पदाम्बुजद्वयं श्रीमत् परमशोभायुक्तम्, तमेव युक्तिसिद्धत्वात्। तथा हि—*'एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥'* इति श्रीपराशरोक्त्या। तथा *'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृत-स्याव्ययस्य च।'* (श्रीगी॰ १४/२७) इति श्रीभगवद्गीतादि-वचनेन च। घनमण्डलचन्द्रतेजोघनमण्डल-सूर्यस्थानीयस्य भगवच्चरणारविन्द-द्वन्दस्य सच्चिदानन्दघनस्य भक्तिद्वारानुभवेन सुखं घनं स्यादेव। सर्वस्यापि ज्योत्स्नातेजःस्थानीयस्य जीवस्वरूपभूतस्य जगन्मयस्य सच्चिदानन्दब्रह्मणोऽनुभवेन सुखमपि तदनुरूपं स्वल्पमेव स्यात्, न च मायिकं प्रपञ्चजातमिदं ज्योत्स्नास्थानीयमिति वाच्यम्। यथा चन्द्र-सूर्ययोर्ज्योत्स्नातेजःपरमाणवः प्रकाशकत्वादि-तत्तद्गुणयोगात्तत्तदंशास्तथा जगतः सच्चिदानन्दत्वाद्यभावेन परब्रह्मणोऽंशत्वा-सम्भवात् शक्तिशब्द-प्रयोगाच्चेति दिक्। तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५/४०) *'यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटिकोटिष्वशेष वसुधादि विभूतिभिन्नम्। तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'* इति। अस्यार्थः—यस्य प्रभा कला अंशः ब्रह्म, तदनिरूप्यम्; तदेव विशिनष्टि—निष्कलमिति पदत्रयेणेति॥१८०॥

भावानुवाद—ब्रह्म-सुखका अनुभव करनेवाले ब्रह्मानुभवीके सुखकी तुलनामें भगवद्भक्तोंको अत्यधिक सुख अनुभव होता है। इसे बतानेके लिए 'अतः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जो वस्तु सान्द्र है अर्थात् घनीभूत सुख स्वरूप है, उसके अनुभवसे भी सान्द्र-सुख ही अनुभूत होता है। अतएव पण्डितोंने उन महिमायुक्त श्रीभगवान्के युगल-

चरणकमलोंको परम शोभायुक्त सान्द्र-सुखके रूपमें निश्चित किया है। जैसा कि श्रीपराशरकी उक्ति है—"एक स्थान पर स्थित अग्नि जिस प्रकार बहुत दूर तक अपने प्रकाशको फैलाती है, उसी प्रकार परब्रह्म सविशेष हैं अर्थात् एक स्थान पर स्थित होकर भी अपनी शक्तिके द्वारा एक साथ समस्त जगतके रूपमें प्रकाशित हैं।" तथा श्रीगीता (१४/२७)में श्रीभगवान्‌ने कहा है—"केवल मैं ही निराकर ब्रह्म, अव्यय अमृत (नित्यमुक्ति) और एकान्तिक सुख (भक्ति)का परमाश्रय (प्रतिष्ठा) हूँ।" इन दोनों प्रमाणों द्वारा जाना जाता है कि श्रीभगवान्‌के युगल-चरणकमल घनसुख स्वरूप हैं। जो भक्तिके द्वारा उनका अनुभव करते हैं, वे ही घनसुख प्राप्त करते हैं, क्योंकि श्रीभगवान्‌के युगल-चरणकमल ही प्रकाशका विस्तार करनेवाली अग्नि स्थानीय हैं और अमृत अव्यय ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रयस्वरूप हैं।

अतएव अग्नि-स्थानीय श्रीभगवान्‌के युगल-चरणकमलोंके अनुभवसे जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख प्रकाश स्थानीय ब्रह्मके अनुभव द्वारा नहीं हो सकता। पुनः दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—घनमण्डल-चन्द्र और तेजघनमण्डल-सूर्य स्थानीय (तुल्य) श्रीभगवान्‌के युगल-चरणकमलोंका जो व्यक्ति सच्चिदानन्दघन भक्तियोग द्वारा अनुभव करता है, उनको उसके अनुरूप ही घनसुख प्राप्त होता है। किन्तु उस घनमण्डलके ज्योत्सना और तेजस्थानीय जीवस्वरूपभूत ज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी सच्चिदानन्द ब्रह्मका अनुभवसुख भी तदनुरूप अल्प ही होता है। इसका कारण है कि धर्मीके अनुभवसे जो सुख प्राप्त होता है, एकदेशवर्त्ति धर्मके अनुभवसे वैसा सुख प्राप्त नहीं होता है। यह सुख मायिक प्रपञ्चजात वस्तु नहीं है, अतएव इस सुखको ज्योत्सना स्थानीय कहा गया है। जिस प्रकार चन्द्र और सूर्यकी क्रमशः ज्योतस्ना और तेजके परमाणु (स्थानीय जीवगण) स्वप्रकाश आदि गुणोंसे युक्त हैं, उसी प्रकार परमाणु स्थानीय जीव भी स्वप्रकाश आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण उन्हें भगवान्‌का अंश कहा गया है। किन्तु सच्चिदानन्द आदि गुणोंके अभावमें इस जगतके लिए परब्रह्मका अंश होना असम्भव है, इसलिए 'शक्ति' शब्दका प्रयोग हुआ है, अर्थात् यह

जगत भगवान्‌की शक्तिसे उत्पन्न हुआ है। जैसा कि ब्रह्मसंहिता (५/४०)में भी वर्णन है—"जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें अशेष-वसुधादि विभूतियोंसे भिन्न हैं, वे निष्कल, अनन्त, अशेषभूत ब्रह्म जिन प्रभुकी अङ्गकान्ति हैं, मैं उन आदि पुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ।" इस प्रमाणमें निराकार या निर्विशेष सर्वव्यापी ब्रह्म श्रीभगवान्‌की कला (अंश) रूपमें अर्थात् प्रभावरूपमें निर्धारित हुए हैं॥१८०॥

सुखरूपं सुखाधारः शर्करा-पिण्डवन्मतम्।
श्रीकृष्ण-चरण-द्वन्द्वं सुखं ब्रह्म तु केवलम्॥१८१॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णके युगल-चरणकमल मिश्रीके पिण्डके समान सुखरूप और सुखके आधार हैं, किन्तु ब्रह्म केवल सुखमात्र हैं, सुखके आधार नहीं॥१८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृणोति—सुखेति। श्रीकृष्णस्य चरणद्वन्द्वं सुखरूपम् सुखस्वरूपम्, सुखस्याधार आश्रयश्च मतं तत्त्वविद्भिः, तत्घनरूपत्वात्। तत्र युक्तो दृष्टान्तः—यथा शर्करापिण्डं शर्करारूपं शर्कराया आधारश्च पिण्डरूपत्वात्तथेति। ब्रह्म तु केवलं सुखमेव, न तु तदाधारः, तथा सति भेदप्रसक्तेः। भगवति समुद्र-कोटिगम्भीरे परमाश्चर्यमहिमवति भेदाभेदादिरूप-विचित्रविरोधप्रवाहाः प्रविशन्तीत्यादा-वेवोक्तमस्ति॥१८१॥

भावानुवाद—अब 'सुख' इत्यादि श्लोक द्वारा उस सुखका स्वरूप वर्णन किया जा रहा है। श्रीकृष्णके चरणयुगल घनीभूतब्रह्म होनेके कारण सुखस्वरूप होने पर भी सुखके आधार हैं, यही तत्त्वको जाननेवालोंने स्थिर किया है। इस विषयमें दृष्टान्त है—जिस प्रकार मिश्रीका पिण्ड मिश्रीरूप होने पर भी मिश्रीका आधार है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके चरणयुगल मिश्रीके पिण्डके समान सुखस्वरूप होने पर भी सुखके आधार हैं, किन्तु ब्रह्म केवल सुखमात्र है—सुखका आधार नहीं है। यहाँ ब्रह्म अर्थात् सुखमात्रका सुखके आधार श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंसे भेद उपस्थित हुआ है। अतएव करोड़ों समुद्रोंकी भाँति गम्भीर, अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण महिमासे युक्त श्रीभगवान्‌में भेदाभेदादि रूप विचित्र विरोधका प्रवाह (नदियाँ) प्रवेशकर यथायोग्य स्थान प्राप्त करता है—इसे पहले ही कहा जा चुका है॥१८१॥

जीवस्वरूपं यद्वस्तु परं ब्रह्म तदेव चेत्।
तदेव सच्चिदानन्दघनं श्रीभगवांश्च तत्॥१८२॥

श्लोकानुवाद—जीवस्वरूप जो वस्तु है, वही यदि परब्रह्म है, तब जीवको ही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म श्रीभगवान् कहना होगा॥१८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सत्यपि ये केचिन्मन्यन्ते—सुखघनमेव ब्रह्म चन्द्रस्थानीयं, तदेव श्रीभगवतः स्वरूपं *'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।'* (श्रीमद्भा॰ १/२/११) इति वचनात्; तच्चैतन्येन व्यापिना ज्योत्स्नास्थानीयेन जगद्भासत इति, तेषां मतमप्यनूद्य तत्रापि युक्त्या मुक्तौ सुखमल्पकमेव सिध्यतीत्याहुः—जीवेति सप्तभिः। तद्वस्त्वेव परं ब्रह्म; अतस्तज्जीवस्वरूपमेव सच्चिदानन्दघनमेव, तत् जीवस्वरूपमेव श्रीभगवानपीति चेद्यदि कैश्चिन्मन्तव्यमित्यर्थः॥१८२॥

भावानुवाद—जो लोग ब्रह्मको सुखघन चन्द्र-स्थानीय मानते हैं और उन अद्वयज्ञान वस्तु श्रीभगवान्को भी—"एक ही परम सत्य—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् नामसे जाना जाता है"—इस प्रमाणनुसार वही स्वरूप मानते हैं तथा उस चन्द्र-स्थानीय ब्रह्मकी व्यापक चैतनतारूप चाँदनीसे समस्त जगतको प्रकाशित मानते हैं, उनके मतमें भी युक्ति द्वारा मुक्तिमें अति अल्पसुख ही प्रमाणित होता है। इसे बतलानेके लिए 'जीव' इत्यादि सात श्लोक कह रहे हैं। जो वस्तु जीवस्वरूप है, वही यदि परब्रह्म हो, तब जीवको ही सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् मानना होगा—यदि किसीका ऐसा मत हो तब—॥१८२॥

तथापि जीवतत्त्वानि तस्यांशा एव सम्मताः।
घनतेजःसमूहस्य तेजो-जालं यथा रवेः॥१८३॥

श्लोकानुवाद—तथापि जिस प्रकार समस्त घन-तेजरूपी किरणें घनीभूत तेजपुञ्ज सूर्यकी अंश हैं, उसी प्रकार समस्त जीव ही भगवान्के अंश हैं—यही तत्त्वदर्शियोंका मत है॥१८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्येवं सत्यपि जीवानां तत्त्वानि स्वरूपाणि तस्य ब्रह्मणोऽंशा एव सतां पराशरादीनां मताः, घनशब्देन निजप्रतियोगिघनेतरापेक्षकानन्द-मात्रस्यापि वस्तुनः सूचितत्वात्। तद्वस्त्वेवात्मतत्त्वं वेदितव्यम्; तस्य च बहुत्वं जीवानां नानात्वापेक्षया। तदेव दृष्टान्तेनोपपादयन्ति—घनानां सान्द्रानां तेजसां समूहो मण्डलं, तद्रूपस्य रवेर्यथा तेजोजालमंशा एव नान्यत् तथेति॥१८३॥

भावानुवाद—तथापि श्रीपराशरादिके मतसे भी समस्त जीव तत्त्वतः ब्रह्म (भगवान्)के ही अंश हैं। 'घन' शब्द अपने विपरीत अघन (तरल) शब्द द्वारा आनन्दमात्र रूपी वस्तुकी आकांक्षाको सूचित करता है और वह आकांक्षित वस्तु ही जीवतत्त्व है—ऐसा जानना होगा। नाना-प्रकारके जीवोंकी आकांक्षा करके ही उस अघनानन्दका बहुत्व स्थापित हुआ है। उसका दृष्टान्त है—जिस प्रकार समस्त तेज (किरणें) घनीभूत तेजमण्डलस्वरूप सूर्यकी ही अंश हैं, उसी प्रकार समस्त जीव भी उन्हीं ब्रह्म (भगवान्)के ही अंश है, उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है॥१८३॥

नित्यसिद्धास्ततो जीवा भिन्ना एव यथा रवेः।
अंशवो विस्फुलिङ्गाश्च वह्नेर्भङ्गाश्च वारिधेः॥१८४॥

श्लोकानुवाद—वह जीवतत्त्व नित्यसिद्ध होनेके कारण परब्रह्मसे भिन्नरूपमें ही प्रतीत होता है। जिस प्रकार किरण सूर्यसे पृथक् है, अग्नि-स्फुलिङ्ग अग्निसे पृथक् है तथा समुद्रकी तरङ्ग समुद्रसे पृथक् है, उसी प्रकार नित्यसिद्ध जीव भी परब्रह्मसे पृथक् है॥१८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु माययैव जीवतत्त्वान्यंशवद्भिन्नान्यनेकानि च प्रतीयन्ते। मुक्तौ च मायापगमादभेदः स्यादेव, नेत्याह—नित्येति द्वाभ्याम्। तत्त्ववादिमतानुसारेण ततः परब्रह्मणः सकाशाज्जीवा जीवतत्त्वानि नित्यसिद्धा नित्यमंशतया सिद्धा, न तु मायया भ्रमेणोत्पादिताः; अतएव भिन्नास्ततो भेदं प्राप्ताः। अत्र दृष्टान्ताः—यथा रवेरंशवः तेजःपरमाणवस्तत्समवेता अपि भिन्नत्वेन नित्यं सिद्धाः, एवमेव; यथा च वह्नेर्विस्फुलिङ्गा, यथा च वारिधेर्भङ्गास्तरङ्गाः॥१८४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मायाके प्रभावसे ही समस्त जीव अंशकी भाँति भिन्न और अनेक प्रतीत होते हैं, किन्तु मुक्ति प्राप्त होने पर अर्थात् मायाके दूरीभूत होने पर अभेद अर्थात् एकमात्र ब्रह्मरूप ही रहेगा। इस मतका खण्डन करनेके लिए 'नित्यसिद्धा' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। तत्त्ववादी सम्प्रदायके मतानुसार परब्रह्मके समीप समस्त जीव नित्य सिद्ध अर्थात् नित्य ही अंश रूपमें विद्यमान हैं, माया द्वारा रचित भ्रमके कारण भेद कल्पित नहीं हुआ है। अतएव जीवका परमेश्वरसे सर्वदा और सर्वथा भेद है। इसका

दृष्टान्त है—जिस प्रकार सूर्य और सूर्यकी किरणोंका भेद, अग्नि और अग्नि-स्फुलिङ्गोंका भेद तथा समुद्र और समुद्रकी तरङ्गोंका भेद नित्य सिद्ध है, उसी प्रकार परमेश्वर और जीवका भेद भी नित्यसिद्ध है॥१८४॥

अनादिसिद्धया शक्त्या चिद्विलासस्वरूपया।
महायोगाख्यया तस्य सदा ते भेदितास्ततः॥१८५॥

श्लोकानुवाद—अनादिसिद्ध, चिद्‌विलासस्वरूप, महायोग नामक अघटन-घटन पटीयसी भगवान्‌की शक्ति द्वारा ही जीव परब्रह्मरूप भगवान्‌से सदा ही भेद अवस्थामें रहता है॥१८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मायां विना सदा भेदः कुतः सम्भवति? तत्राहुः—अनादीति। अस्य श्रीभगवतः शक्त्या ते जीवास्तत्तत्त्वानि, ततः परब्रह्मस्वरूपाद्भगवत एव सदा भेदिता अंशत्वेन पृथक्कृताः सन्ति। कीदृश्या? अनादिसिद्धया अनादित्वेन प्रसिद्धयेत्यर्थः। अतो जीवतत्त्वानामप्यनादिसिद्धत्वम्। पुनः कीदृश्या? चित् चैतन्यं तस्या विलासो वैभवं शोभातिशयो वा, स एव स्वरूपं तत्त्वं यस्या इति तेषामपि चैतन्यविभूतिरूपत्वेनामायिकत्वम्। पुनश्च कीदृश्या? अघटनघटनाचातुर्य-विशेषण महायोग इत्याख्या नाम यस्यास्तया। तथा च भगवद्गीतासु (श्रीगी॰ ७/२५)—*'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'* इत्यादि। अनेनांशांशित्वासम्भवेऽपि तथा सम्पादनसामर्थ्यमिति दिक्॥१८५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मायाके बिना नित्यभेद किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है? इसी आशंकाके उत्तरमें 'अनादि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्ति द्वारा ही समस्त जीव परब्रह्मस्वरूप भगवान्‌से नित्यभेद रूपमें अर्थात् अंश होनेके कारण पृथक् अवस्थामें रहते हैं। जीवकी वह नित्यता कैसे प्रमाणित है? श्रीभगवान्‌का अनादिसिद्ध अंश होनेके कारण जीवकी नित्यता प्रसिद्ध है। यदि कहो कि उस अनादिसिद्ध अंश (जीव)का स्वरूप किस प्रकारका है? उत्तरमें कहते हैं, चिद्‌विलासरूप अर्थात् चैतन्यका वैभवस्वरूप और विभूतिरूप होनेके कारण शुद्ध अर्थात् माया रहित है। पुनः यदि कहो कि यह नित्यता किस प्रकार घटित हुई? उत्तरमें कहते हैं—अघटन-घटन चातुरीसे युक्त महायोग अथवा योगमाया

नामक भगवान्‌की शक्तिके प्रभावसे ही इस प्रकार नित्यभेद अर्थात् परब्रह्म और जीवकी नित्य पृथक्‌रूपमें प्रतीति होती है। यथा श्रीगीता (७/२५)में श्रीभगवान्‌ने कहा है—"योगमाया द्वारा आच्छादित मेरा स्वरूप साधारण प्राकृत दृष्टिके गोचर नहीं होता है, केवलमात्र प्रेममयी दृष्टि द्वारा अनुभव होता है।" अतएव अंश और अंशीमें भेद असम्भव होने पर भी योगमाया द्वारा ही अंश और अंशीरूपमें नित्यभेद प्रतीत होता है॥१८५॥

अतस्तस्मादभिन्नास्ते भिन्ना अपि सतां मताः।
मुक्तौ सत्यामपि प्रायो भेदस्तिष्ठेदतो हि सः॥१८६॥

श्लोकानुवाद—अतएव महापुरुषोंका मत है कि जीवमें भी परब्रह्मकी भाँति सच्चिदानन्दादि धर्म होनेसे उसका परब्रह्मसे अभेद है, किन्तु परब्रह्मका अंश होनेके कारण भेद भी है। मुक्त होने पर भी वह भेद प्रायः विद्यमान रहता है॥१८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्मात्तच्छक्तिविशेषकृतभेदात्; तस्मात् परब्रह्मणोऽभिन्नाः सच्चिदानन्दत्वादिब्रह्मसाधर्म्यवत्त्वात्। अंशत्वादिना भिन्ना अपि; अत्रापि पूर्वोक्तं रवेरंशव इत्यादि दृष्टान्तत्रयं द्रष्टव्यम्। यथा रव्यादेः सकाशादंशादयः प्रकाशकत्वादि-तत्तद्गुणयोगादभिन्नाः, अंशत्वेन नानात्वाद्यव्याप्या भिन्नाश्च तथेति। अतः स नित्यसिद्धो भेदस्तिष्ठेदेव। एवं सत्येव *'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ति'* इति श्रीशंकराचार्य-भगवत्पादानाम् वचनम्। तथा *'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥'* (श्रीमद्भा॰ ६/१४/५) इत्यादीनि महापुराणादिवचनानि च सङ्गच्छन्ते। अन्यथा मुक्त्या ब्रह्मणि लयेनैक्ये सति को नाम लीलया विग्रहं करोतु? को वा भक्त्या नारायणपरायणो भवतु? कथमपि पृथक्सत्तावशेषाभावात्। न च वक्तव्यम्—तद्वचनानि जीवन्मुक्त विषयानीति। यतो जीवन्मुक्तानां स्वत एव देहस्य विद्यमानत्वात् विग्रहं कृत्वेत्युक्तिर्न सङ्गच्छते। तथा *'मुक्तानामपि सिद्धानाम्'* इति पदद्वयनिर्देशोऽपि। अत्र च पाद्मकार्तिकमाहात्म्योक्तौ भगवति लयं प्राप्तस्यापि नृदेहस्य महामुनेः पुनर्नारायणरूपेण प्रादुर्भावः। तथा बृहन्नारसिंहपुराणे नरसिंह-चतुर्दशी-व्रत-प्रसङ्गे कथितः। भगवति लीनस्यापि वेश्यासहितस्य विप्रस्य पुनः सभार्य-प्रह्लादरूपेणाविर्भाव इत्याद्यनेकोपाख्यानमन्यच्च परं प्रमाण-मनुसन्धेयमित्येषा दिक्। प्राय इति कदाचित् कस्यापि भगवदिच्छया सायुज्याख्य-निर्वाणाभिप्रायेण॥१८६॥

भावानुवाद—परब्रह्मका शक्तिविशेषके साथ अभेद होनेके कारण परब्रह्मकी भाँति जीवमें भी सच्चिदानन्दादि धर्म है, इसलिए वे परब्रह्मसे अभिन्न हैं तथा अंश होनेके कारण भिन्न भी हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त सूर्य और सूर्यकी किरणसमूह, अग्नि और उसके स्फुलिङ्ग, समुद्र और उसकी तरङ्ग—यह तीन उदाहरण द्रष्टव्य हैं। अर्थात् जैसे सूर्य और उसके अंश अर्थात् सूर्यकी किरणमें प्रकाशादि गुणधर्मकी समानताके कारण अभेद है, किन्तु अंश होनेके कारण अर्थात् नाना रूपवशतः व्यापकताके कारण भेद है तथा यह भेद नित्यसिद्ध रूपमें विराजमान हैं। तात्पर्य यह है कि स्वभावतः सूर्यरश्मिके साथ सूर्यका जिस प्रकारका सम्बन्ध है, जीवका भी भगवान्‌के साथ वैसा ही सम्बन्ध है। सूर्य-रश्मिके सूर्यसे निकलनेके कारण सूर्य जिस प्रकार रश्मिस्वरूप नहीं है, अपितु उससे भी परमस्वरूप है; उसी प्रकार श्रीभगवान् भी जीवके परमस्वरूप हैं। श्रीभगवान्‌की योगमाया नामक अघटन-घटन पटीयसी स्वभाविकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे रश्मि स्थानीय समस्त जीव भगवान्‌से निकलनेके कारण चेतनायुक्त धर्म हेतु उनसे अभिन्न हैं और उनके अंशरूपमें भिन्न भी हैं। अतएव यह भेद नित्य है तथा जीवके मुक्त होने पर यह भेद भी प्रायः विद्यमान रहता है।

यथा "मुक्तगण भी लीलावशतः शरीर धारणकर श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं"—श्रीशंकराचार्यपादके इस वचनानुसार यह जाना जाता है कि जीवन्मुक्त दशाके बाद देह रहित मुक्ति प्राप्त करने पर भी कोई-कोई जीव स्वेच्छासे श्रीभगवान्‌की सेवाके उपयोगी शरीर ग्रहणकर उनका भजन करते हैं। श्रीपरीक्षितका श्रीशुकदेवके प्रति भी ऐसा ही वचन है (श्रीमद्भा॰ ६/१४/५)—"करोड़ों-करोड़ों सिद्ध और मुक्तगणोंमें नारायणमें अनुरक्त प्रशान्तचित्त भक्त अति दुर्लभ है।" महापुराणके इन वचनोंके द्वारा भी श्रीभगवान् और उनके सेवक जीवका परस्पर भेद स्थापित होता है। अन्यथा मुक्ति कालमें ब्रह्ममें लय होने पर कौन लीलावशतः शरीर धारण करेगा और कौन भक्तिबलसे नारायणमें अनुरक्त होगा? यदि ब्रह्ममें जीवकी सत्ता सदाके लिए ही लीन होती है, तब पृथक् सत्ताका परिचय किस प्रकारसे पाया जाता है?

यदि आपत्ति हो कि उक्त दोनों प्रमाण तो जीवन्मुक्तगणोंके लिए ही कहे गये हैं। इसके उत्तरमें कहते हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुमुक्षुकजनोंकी जीवन्मुक्त अवस्था होने पर भी उनका देह विद्यमान रहता है। अतः फिर 'विग्रहं कृत्वा' अर्थात् 'शरीर धारणकर भजन करेंगे'—इस पदका प्रयोग किसलिए हुआ है? यह उक्ति जीवन्मुक्तगणोंके लिए असङ्गत है। तथा ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि श्रीमद्भागवतमें 'मुक्तानामपि सिद्धानां' पद जीवन्मुक्ति अधिकारको लक्ष्यकर पठित हुए हैं। पद्म पुराणके कार्त्तिक माहात्म्यमें उक्ति है कि एक महामुनि नरदेहमें थे, उनके भगवान्‌में लीन होने पर भी पुनः वे नारायणके समान रूपमें प्रादुर्भूत हुए थे। तथा बृहन्नारसिंहपुराणमें नृसिंह-चतुदर्शी-व्रत प्रसंगमें कथित है—वेश्या सहित किसी विप्रके भगवान्‌में लीन होने पर भी वह विप्र पुनः (पत्नी सहित) प्रह्लादरूपमें आविर्भूत हुए थे। इस प्रकार मुक्त हुए जीवके पुनः देहधारणके सम्बन्धमें अनेक उपाख्यान हैं। मूल श्लोकमें 'प्राय' शब्द द्वारा यह अभिप्राय है कि कभी-कभी किसीकी भगवान्‌की इच्छासे सायुज्य नामक निर्वाण गति होती है। अतएव निर्वाणको ही लक्ष्यकर यह 'प्राय' शब्द प्रयोग हुआ है॥१८६॥

सच्चिदानन्दरूपाणां जीवानां कृष्ण-मायया।
अनाद्यविद्यया तत्त्वविस्मृत्या संसृतिर्भ्रमः॥१८७॥

श्लोकानुवाद—समस्त जीव ही सच्चिदानन्दरूप हैं, परन्तु परब्रह्मके अंश अर्थात् अणुस्वरूप होनेके कारण अपने तत्त्वकी विस्मृतिके फलसे अनादि अविद्यारूप श्रीकृष्णकी माया द्वारा रचित संसाररूपी भ्रममें पतित हो पड़ते हैं॥१८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु यदि मुक्तावपि भेदस्तिष्ठेदेव, तर्हि बहुजन्मकृतपरम-प्रयासेन साध्यमानया मुक्त्या किं कृतम्? तत्राहुः—सच्चिदिति द्वाभ्याम्। कृष्णस्य भगवतो मायया या अनादिरविद्या तया तत्त्वस्य परब्रह्मांशभूत-निजस्वरूपस्य विस्मृतिरननुसन्धानम्, तया संस्मृतिः संसारित्वं तद्रूपो भ्रमः स्यात्। अविद्यया यत् संसारित्वं, तदपि केवलं भ्रमात्मकमेवेत्यर्थः। विचारेण तेषामपि संसारित्वासम्भवात्॥१८७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मुक्तिकी अवस्थामें भी यदि भेद विद्यमान रहता है, तब बहुत जन्मोंके प्रयास द्वारा साधित (प्राप्त) होनेवाली मुक्तिकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें 'सच्चिद्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि समस्त जीव ही सच्चिदानन्दरूप हैं, तथापि अपने अणु स्वरूपके कारण संसारमें आबद्ध होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अनादि अविद्यारूपा माया-शक्तिके प्रभावसे जीव अपने तत्त्वको (अर्थात् मैं परब्रह्मका अंश सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ) भूल जानेके कारण संसाररूपी भ्रममें पतित होते हैं। अतएव अविद्या द्वारा कृत जीवोंका यह संसारिक अभिमान न केवल भ्रमात्मक है, अपितु तत्त्वविचारसे संसारिकता असम्भव है॥१८७॥

मुक्तौ स्वतत्त्वज्ञानेन मायापगमतो हि सः।
निवर्त्तते घनानन्दब्रह्मांशानुभवो भवेत्॥१८८॥

श्लोकानुवाद—मुक्ति होने पर अपने तत्त्वज्ञानके द्वारा संसाररूप माया या भ्रम दूर हो जाता है, उस समय जीवको घनानन्दरूप ब्रह्मके अंशरूपमें अपना अनुभव होता है॥१८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वतत्त्वस्य आत्मस्वरूपस्य ज्ञानेन च मुक्तौ सत्यां मायाया अपगमात् नाशात् स भ्रमो निवर्त्तते। ततश्च घनानन्दं यद्ब्रह्म परंब्रह्म भगवानित्यर्थः; उक्तपक्षे ब्रह्म-भगवतोरैक्याभिप्रायात्। तस्यांश आत्मस्वरूपं, तस्यानुभवो भवेदिति मुक्तौ सुखांशमात्रावाप्तिरिति सिद्धम्। यद्यपि भक्ता अपीदृशस्वरूपा-स्तथापि तेषां भगवद्भजनेन तच्चरणाब्जानुभवाद्भक्तिसुखावाप्तिरिति मुक्तेभ्यो विशेषो ज्ञेयः॥१८८॥

भावानुवाद—मुक्ति होने पर आत्मस्वरूपकी उपलब्धिके द्वारा अपने तत्त्वका ज्ञान होता है। उस तत्त्वज्ञानके द्वारा तत्त्व-विस्मृतिरूपा मायाके हट जानेके कारण भ्रम भी दूर हो जाता है। अन्तमें 'मैं उन घनानन्दरूप परब्रह्म अर्थात् भगवान्का ही अंश हूँ'—इस प्रकारका अनुभव होता है। उक्त विचारको ब्रह्म और भगवान्के ऐक्य अभिप्रायसे ही जानना होगा। उनका अंश ही आत्मस्वरूप है—ऐसे अनुभव द्वारा मुक्ति होने पर मुक्तजीवको सुखके अंशमात्रका ही अनुभव होता है। यद्यपि समस्त भक्त भी परब्रह्म या भगवान्के अंश

स्वरूप होते हैं, तथापि वह श्रीभगवान्‌के भजन द्वारा भगवान्‌के चरणकमलोंके असीम माधुर्यको अनुभव कर भक्ति सुखको ही प्राप्त करते हैं—यही भक्तोंकी मुक्तोंसे विशेषता है॥१८८॥

स्वसाधनानुरूपं हि फलं सर्वत्र सिद्ध्यति।
अतः स्वरूप-ज्ञानेन साध्ये मोक्षेऽल्पकं फलम्॥१८९॥

श्लोकानुवाद—सर्वत्र अपने साधनके अनुरूप ही फल प्राप्त होता है। अतएव स्वरूप ज्ञान द्वारा जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह अल्प सुखदायक होता है॥१८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तमपि मुक्तौ स्वल्पसुखानुभवकारणं लौकिकसाधन-साध्यरीतिदृष्ट्या द्रढ़यन्ति—स्वसाधनेति त्रिभिः। स्वस्य फलस्य यत् साधनं तस्यानुरूपं सदृशमेव सर्वत्र इहलोके परत्र च फलं साध्यं सिध्यति; न हि सत्परशुना साध्यं कर्त्तरिकया सिध्येत्; अतः स्वरूपस्य ब्रह्मांशभूतात्मतत्त्वस्य ज्ञानेन कृत्वा साध्ये मोक्षे सुखमल्पकमेव स्यात्, साधनस्यैवांशविषयकत्वेन स्वल्पत्वात्॥१८९॥

भावानुवाद—इस प्रकार कहकर अब मुक्तिमें अल्प सुख अनुभव होनेके कारणको लौकिक साधन-साध्य रीतिके दृष्टान्त द्वारा 'स्वसाधन' इत्यादि तीन श्लोकोंमें दृढ़ कर रहे हैं। इस लोक या परलोकमें सर्वत्र अपने साधनके अनुरूप ही फल प्राप्त होता है। जिस प्रकारसे तेज धारयुक्त बड़ी कुठार द्वारा जो काटा जा सकता है, उसे सामान्य चाकू या कैंची द्वारा नहीं काटा जा सकता। उसी प्रकारसे ब्रह्मके अंशस्वरूप आत्मतत्त्वज्ञान द्वारा प्राप्त साध्य जो मोक्ष है, वह निश्चय ही अल्प सुखदायक होगा, क्योंकि आंशिक विषयके साधन द्वारा आंशिक सुख ही प्राप्त होता है, पूर्ण सुख प्राप्त नहीं होता है॥१८९॥

संसार-यातनोद्विग्नै रसहीनैर्मुमुक्षुभिः।
बहुधा स्तूयते मोक्षो यथा द्यौः स्वर्गकामिभिः॥१९०॥

श्लोकानुवाद—संसार यातनाके द्वारा अस्थिर चित्तवाले रसहीन मुमुक्षुगण (मुक्तिकामी) संसार-ज्वालाको दूर करनेके लिए ही मोक्षकी शरणमें जाते हैं। जिस प्रकारसे स्वर्गकामीगण अनित्य स्वर्गको ही

चरम सुख मानते हैं, उसी प्रकार मोक्षकामी भी मोक्षको ही चरम पुरुषार्थ मानते हैं॥१९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथं तर्हि मोक्षे सुखस्य पराकाष्ठेति कैश्चिदुच्यते? तत्राहुः—संसारेति संसारयातनया जन्ममरणादिदुःखेन उद्विग्नैर्व्याकुलान्तःकरणैः; अतएव रसेन चित्तार्द्रताकारणद्रव्यविशेषेण प्रीतिविशेषेण वा हीनैः रहितैः। संसारतापशोधित-हृदयतया रसग्रहणसामर्थ्याभावात्, अतएव मुमुक्षुभिः संसारयातनाया मुक्तिमिच्छद्भिः मोक्षो बहुधा परमसुखान्त्यकाष्ठामयत्वादि-नानाप्रकारेण स्तूयते स्तुतिमात्रं क्रियते, न तु वस्तुतस्तादृश इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—यथा पातभय-स्पर्धा-क्षयिष्णुतादि-बहुदुःखसंभिन्ना द्यौः स्वर्गस्तत्रत्यसुखमित्यर्थः। स्वर्गकामिभिः *'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।'* इत्यादिना बहुधा स्तूयते तथेति॥१९०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब क्यों कोई-कोई कहते हैं कि मोक्षमें चरम सुख है? इसके उत्तरमें 'संसार' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। जिनका अन्तःकरण जन्म-मरणादि दुःखमय संसार यन्त्रणाके द्वारा व्याकुल है तथा रसहीन होनेके कारण कभी भी उन्होंने चित्तको द्रवीभूत करनेवाले किसी प्रीतिमय द्रव्यविशेषका उपभोग नहीं किया है, अतएव उनका हृदय भी उस प्रकारकी रसमय वस्तुके आस्वादनमें असमर्थ होनेके कारण संसारके ताप द्वारा उत्तप्त है। उस संसार तापसे छुटकारा पानेके लिए मुमुक्षु ही मोक्षके प्रति शरणागत होते हैं तथा मोक्षको सुखकी चरम सीमा मानकर नाना-प्रकारसे उसकी स्तुति भी किया करते हैं। किन्तु वस्तुतः मोक्षमें वैसा सुख नहीं है। यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार स्वर्गकी कामना करनेवाले पतनभय, स्पर्धा और क्षय आदि बहुत प्रकारके दुःखोंसे युक्त स्वर्गको ही परमसुख कहकर वर्णन करते हैं, उसी प्रकार मोक्षकामी भी मोक्षको ही सुखकी चरम सीमा मानते हैं॥१९०॥

सुखस्य तु पराकाष्ठा भक्तावेव स्वतो भवेत्।
तन्मयश्रीपदाम्भोजसेविनां साधनोचिता॥१९१॥

श्लोकानुवाद—वस्तुतः सुखकी चरम सीमा स्वरूप भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी सेवामें पूर्णरूपसे तत्पर भक्तोंकी भक्तिमें ही उनके साधनके अनुरूप सुखकी चरम सीमा स्वतः आविर्भूत होती है॥१९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीभगवद्भक्तौ त्वनायासेन सम्पद्यते तदनुरूपसाधनादित्याहुः—सुखस्येति। स्वतः स्वयमेव भवेत् सिध्यति। कुतः? तन्मययोः सुखपराकाष्ठामययोः, श्रीयुक्तयोरर्थाद्भगवतः पदाम्भोजयोः सेविनां सेवयानुभविनाम्। अतएव साधनस्योचिता योग्या। यादृशं साधनं, तादृशमेव साध्यं फलतीति युक्त्येत्यर्थः॥१९१॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्की भक्ति द्वारा अनायास ही साधनके अनुरूप सुखकी चरम सीमा प्राप्त होती है। इसे बतलानेके लिए 'सुखस्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी सेवा तत्परता द्वारा अर्थात् सेवाके अनुभव द्वारा चरम सीमामय सुख स्वतः ही प्राप्त होता है। अतएव साधनानुरूप उचित फल अर्थात् जैसा साधन वैसा ही साध्य-फल प्राप्त होता है॥१९१॥

परमातिशयप्राप्तमहत्ताबोधनाय हि।
पराकाष्ठेति शब्द्येत तस्यानन्तस्य नावधिः॥१९२॥

श्लोकानुवाद—परमातिशय महिमा अर्थात् जिस महिमासे अधिक कोई अन्य महिमा नहीं है। इसीको निश्चितरूपमें बतानेके लिए पराकाष्ठा शब्द प्रयोग किया गया है। अतः वह सुख अनन्त है, अर्थात् उसकी कोई सीमा नहीं है॥१९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु पराकाष्ठेत्युक्त्या परिच्छेदः सूच्यते सीमावत्त्वेनानन्त्या-भावादित्याशंक्याहुः—परमेति, परमोऽतिशयः आधिक्यं, यस्मात् परोऽतिशयो नास्ति, तं प्राप्ता या महत्ता, तस्या बोधनाय तस्मादन्यन्महन्नास्तीति ज्ञापनाय; हि निश्चये; शब्द्येत शब्दः प्रयुज्येत; तस्य सुखस्य तु अवधिः सीमा नास्त्येव, यतः अनन्तस्य अपरिच्छिन्नस्येति॥१९२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि 'पराकाष्ठा' (अन्तिम सीमा) शब्द प्रयोग होनेके कारण उस सुखकी अवधि या सीमा सूचित होती है तथा सीमाबद्ध सुख कभी भी आवरण रहित नहीं हो सकता है। इसी आशंकाके निराकरणके लिए 'परमा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जो परम श्रेष्ठ है तथा जिससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है, उस प्रकारके परम महत्वको निश्चितरूपसे ज्ञापन करनेके लिए ही 'पराकाष्ठा' शब्दका प्रयोग हुआ है। वस्तुतः उस सुखकी अवधि या सीमा नहीं है; क्योंकि वह सुख अनन्त और असीम है॥१९२॥

तत्सुखं वर्धतेऽभीक्ष्नमनन्तं परमं महत्।
न तु ब्रह्मसुखं मुक्तौ वर्धते सीमवद्यतः॥१९३॥

श्लोकानुवाद—वह परम महान अनन्त भक्तिसुख प्रतिक्षण नव-नवरूपमें वर्धित होकर भक्तोंके द्वारा अनुभूत होता है। किन्तु ब्रह्मसुख मुक्तजनों द्वारा इस प्रकारसे अनुभूत नहीं होता, क्योंकि वह सीमित है॥१९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवञ्च ब्रह्मानुभवसुखादस्य परमवैशिष्ट्यं सिध्यतीत्याहुः—तदिति। भगवद्भक्तिजं सुखमभीक्ष्नं सर्वदैव वर्धते; तर्हि तद्वृद्ध्युक्त्या। कस्मिंश्चित् कालादौ परिच्छिन्नत्वमप्यायातमित्याशंक्य तदेव विशिनष्टि—अनन्तं सदा अपरिच्छिन्नमपि; तथा परमं महत् परमान्त्यकाष्ठाप्राप्त्या सदा परममहत्तावदपि। प्रतिक्षणं तस्य नूतन-नूतनत्व-मधुरमधुरत्वाधिकाधिकत्वादिना प्रकारेण भक्तैरनुभूयमानत्वात्; यतः सीमवत् तत् सीमायुक्तं वृद्धिविकारायोगात्तथा मुक्तिपरैरेव तत्र सुखस्य पराकाष्ठेत्युक्त्या सीमया बोध्यमानत्वात्॥१९३॥

भावानुवाद—इस प्रकार ब्रह्मके अनुभवसे होनेवाले सुखसे भी भक्तिसुखकी परम विशेषता सिद्ध होती है—इसे बतलानेके लिए 'तत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भगवद्भक्तिसुख क्षण-क्षणमें अधिकसे अधिकरूपमें वर्धित होता है। यदि कहो कि 'तद्वृद्धि' अर्थात् उसकी वृद्धि होती है—इस उक्तिसे प्रतीत होता है कि किसी-किसी समय वह सीमाबद्ध भी होता है? इस आशंकासे कहते हैं—वह सुख अनन्त, सदा असीम तथा परम महत्वकी चरम सीमाको प्राप्त होने पर भी प्रतिक्षण नव-नवायमानरूपमें, मधुरसे भी मधुररूपमें, अधिकसे भी अधिकरूपमें भक्तों द्वारा अनुभव होता है। किन्तु ब्रह्मके अनुभवसे प्राप्त होनेवाला सुख ऐसा नहीं है, क्योंकि सीमायुक्त होनेके कारण उसमें वृद्धिरूप विकार नहीं हो सकता। इसीलिए मुक्तिमें अनुरक्त जन कहते हैं—'मोक्ष ही सुखकी चरम सीमा है।' अतएव उन्होंने ही मोक्षकी सीमा निर्धारित की है॥१९३॥

परमात्मा परब्रह्म स एव परमेश्वरः।
इत्येवमेषामैक्येन सजातीय-भिदा हता॥१९४॥

श्लोकानुवाद—परमेश्वर ही परमात्मा और परब्रह्म हैं अर्थात् परमेश्वर ही गुण-लीला और अवतार भेदसे विविधरूपमें प्रतीत होते

हैं। अतः परमात्मा, परब्रह्म और परमेश्वर सभी एक तत्त्व होनेके कारण सजातीय भेद रहित हैं॥१९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं जीवतत्त्वानां सदा पृथक्सत्तोक्त्या परब्रह्मणि सजातीयभेदः प्रसज्येत, स च एकमद्वयमित्यादि तत्स्वरूपनिरूपणेन निरस्यमानत्वान्नोपपद्यते; सत्यं, तत्तु सजातीय-विजातीय-भेदराहित्यमन्यथा सिध्यतीत्याहुः—परमात्मेति द्वयेन। य एव परमात्मा सर्व-जीवान्तर्यामी, स एव परब्रह्म, स एव परमेश्वरश्च। एवं परमेश्वरस्यापि गुणलीलावतार-भेदेन ये विशेषास्तेऽपि स एवेत्यूह्यमित्येवमनेन प्रकारेण। एषां परमात्म-परब्रह्म-परमेश्वराणां तदवताराणाञ्च भिन्नत्वेन प्रतीयमानानामपि ऐक्येन भेदाभावेन कथमपि कुत्रचित् स्वभावराहित्याभावात् सजातीयभिदा, सर्वेषां सच्चिदानन्दघनत्वेन नानात्वेन च प्रतीयमाना या समान-जातीया भिदा भेदो हता नष्टा, इत्येवमेकमिति सिद्धम्॥१९४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकार परब्रह्मसे जीवोंके सदा पृथक् होने पर परब्रह्ममें सजातीय (एक जातीय चेतन धर्म युक्त वस्तु—जीव और ब्रह्मका) भेदरूप दोष आ जायेगा और 'एकमेवाद्वितीयं'—इस श्रुति वाक्यके द्वारा किया गया उनका स्वरूप निरूपण भी निरस्त होगा। इसी आशंकासे 'परमात्मा' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—परब्रह्ममें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है और न ही कभी हो सकता है। यहाँ जो अन्तर्यामी परमात्मा हैं, वही परब्रह्म हैं, वही परमेश्वर हैं तथा गुणावतार और लीलावतार भेदसे उनका जो-जो विशेषरूप है, वह भी परमेश्वरका प्रकाश है। ये समस्त 'प्रकार' सजातीय भेद रहित जानने होंगे। तथा परमात्मा-परब्रह्म-परमेश्वर और उनके समस्त अवतारोंमें भिन्नता प्रतीत होने पर भी सभी अभिन्न हैं। इन सबके एकत्व हेतु अर्थात् सभीमें सच्चिदानन्दमयत्व और स्वभावगत अभिन्नता हेतु नाना रूपोंमें प्रतीत होने पर भी ये सभी अभिन्न हैं। इस प्रकार सजातीय या समानजातीय भेदका खण्डन होता है॥१९४॥

सदा वैजात्यमाप्तानां जीवानामपि तत्त्वतः।
अंशत्वेनाप्यभिन्नत्वाद्विजातीयभिदा मृता॥१९५॥

श्लोकानुवाद—समस्त जीव सदा ही परब्रह्मके विभिन्नांश हैं, किन्तु तत्त्वतः परब्रह्मके अंश होनेके कारण जीव उनसे अभिन्न हैं, क्योंकि

अंशीके धर्म अंशमें भी रहते हैं। अतएव विजातीय भेदका खण्डन होता है॥१९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अद्वयमित्यपि साधयन्ति—सदेति। वैजात्यं परिच्छिन्नत्वादिभेदेन विजातीयत्वं, विसदृशतामाप्तानां जीवानां जीवतत्त्वानां तत्त्वतः परमार्थतः अभिन्नत्वाद्–भेदाभावात् चिद्विलासशक्तिकृतत्वेन तेषामपि तादृक्त्वात्, तथा अंशिधर्माणामंशेषु सङ्गतत्वादंशत्वेनाप्यभिन्नत्वाद् विजातीयरूपा भिदा नष्टा॥१९५॥

भावानुवाद—अब 'सदा' इत्यादि श्लोक द्वारा परब्रह्मका अद्वयत्व निर्धारण कर रहे हैं। समस्त जीव सर्वदा ही परब्रह्मसे विजातीय हैं, अर्थात् जीव सीमाबद्ध हैं तथा ब्रह्म सीमा-रहित हैं—यह विजातीय भाव सदैव विद्यमान रहने पर भी समस्त जीव तत्त्वतः चिद्विलास परब्रह्मके अंश होनेके कारण उनसे भिन्न नहीं हैं। अर्थात् चिद्विलास-शक्ति द्वारा भेदरूपमें प्रतीत होने पर भी वे परब्रह्मके ही अंश हैं तथा अंशीके धर्म अंशमें भी सङ्गत होनेके कारण दोनोंमें तत्त्वतः अभेद है। अतः विजातीय भेदका खण्डन होता है॥१९५॥

अस्मिन् हि भेदाभेदाख्ये सिद्धान्तेऽस्मत्सुसम्मते।
युक्त्यावतारिते सर्वं निरवद्यं ध्रुवं भवेत्॥१९६॥

श्लोकानुवाद—परन्तु परब्रह्मसे सम्बन्धित भेदाभेदरूपी सिद्धान्तमें सब कुछ ही सुसङ्गत और दोषरहित होता है। इसीलिए श्रीभगवत्-परायण महाजनोंने भी सुदृढ़ और अकाट्य युक्तियोंके द्वारा भेदाभेद-सिद्धान्तको ही स्थापित किया है॥१९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्मिन्नुक्तप्रकारके सिद्धान्ते न्यायविशेषे अस्माकं श्रीभगवद्भक्ति-पराणां सुसम्मते युक्त्या विचारेण अवतारिते व्याख्याद्वाराभिव्यञ्जिते सति सर्वमुक्त-मनुक्तमपि भक्तिमार्गविषयकं व्याख्यानं निर्गतमवद्यं दोषो यस्मात्तादृशं भवति। ध्रुवं निश्चितं, सर्वसन्देहनिरसनसामर्थ्यात्; एवमेव ब्रह्मण एवोत्पद्यन्ते, तस्मिन्नेव लीयन्ते इत्यतो जीवानां तत्त्वतो ब्रह्मणा सहाभेदं ये केचिन्मन्यन्ते, तेषामपि मते मुक्तौ ब्रह्मणोऽशेषस्वरूपानुभवाभावात् सुखमल्पकमेव सिध्यति। तथाहि—यथा समुद्रस्य प्रदेशादेकस्मादेव जायमानास्तरङ्गा एकस्मिन्नेव देशे लीयमाना जलमयत्वादिना समुद्रादभिन्ना गाम्भीर्यरत्नाकरत्वादि-गुणाभावाद्भिन्नाश्च केवलं तस्मिँल्लयात् पृथक्त्वेनादृश्यमाना ऐक्यं गताः, समुद्रस्वरूपं प्राप्ता इत्युच्यते; तथा स्वकारणे ब्रह्मांशे तेजआदिस्थानीये मुक्त्या लीयमाना जीवा ब्रह्मैक्यं गता इत्युच्यते, न

त्वपरिच्छिन्नसुखघनब्रह्मताप्राप्तिस्तेषां स्वभावेनैव परिच्छिन्नत्वात्। अतो मुक्तावपि पृथग्दर्शनादभिन्नत्वं कस्मिंश्चिद्भागे परिच्छिन्नत्वेन लीनतयावस्थानात् भिन्नत्वञ्च। अतएव कस्यचिन्मुक्तस्य श्रीभगवत्कृपाविशेषेण भक्तिसुखाय सच्चिदानन्दशरीरधारणार्थं पुनः पृथक्सत्तावाप्तिं सम्भवतीत्यादावेव निरूपितम्। एवं सत्येव *'सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्व च न समुद्रस्तारङ्गः॥'* इति श्रीभगवच्छङ्करपादानां भेदाभेदन्यायोपबृंहितवचनं सम्यक् उपपद्यते। अविद्याकृत-जीवत्वभेदे विनष्टेऽपि तदीयत्वेन पुनर्भेदस्य सिद्धेः; अन्यथा परमैक्यापत्त्या 'नाथ! तवाहम्' इत्याद्युक्तिर्नैव सङ्गता स्यादिति दिक्। अत्र चेदम् तत्त्वम्—यथा हि परिच्छिन्नानां नदीप्रवाहाणामपरिच्छिन्न-विचित्ररत्नादिमय-समुद्रत्वापत्तिर्न सम्भवति, केवलं बहिःसत्तालोपेनैव समुद्रतावाप्तिरुच्यते; एवं विचारेण मुक्त्या केवलमभाव एव दीपनिर्वाणवत् पर्यवस्यति, न तु सुखादिप्राप्तिस्तेषां नयेनापि तस्य बुद्ध्यादि किञ्चिद्विशेषानुत्पत्तेः, यथापूर्वमेवावस्थानात्। एवमेव चतुर्विधप्रलयमध्ये आत्यन्तिकप्रलये न मोक्षोऽभिधीयत इति दिक्॥१९६॥

भावानुवाद—इस प्रकारके सिद्धान्त या न्यायविशेषमें शास्त्रोंकी सुसङ्गत व्याख्या होती है तथा युक्ति-विचार द्वारा भी भेदाभेदरूपी सिद्धान्त प्रस्तुत होनेसे सब कुछ निश्चितरूपमें ही दोष रहित होता है, अर्थात् समस्त प्रकारसे भक्तिमार्ग द्वारा सम्मत निर्दोष सिद्धान्त ही स्थापित होता है। 'ध्रुव' अर्थात् 'निश्चित'—इस शब्दमें समस्त प्रकारके संशयोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य है।

किसी-किसीके मतानुसार जीव ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है और ब्रह्ममें ही लीन होता है, यथार्थमें ब्रह्म और जीवका तत्त्वतः अभेद है। जो लोग ऐसा कहते हैं, उनके मतमें भी मुक्तिमें ब्रह्मका अनन्तस्वरूप अनुभव नहीं होता अर्थात् अल्प सुख ही अनुभव होता है। जिस प्रकार समुद्रके एक भागसे तरङ्ग उत्पन्न होकर उसी एक भागमें ही लीन हो जाती है, उस समय सर्वत्र जलमय होनेके कारण उस तरङ्गको समुद्रसे पृथक्रूपमें नहीं जाना जाता। इसका कारण है कि वह तरङ्ग उस समय समुद्रसे मिलकर एक हो जाती है, अतएव इस दृष्टिकोणसे समस्त तरङ्गें समुद्रसे अभिन्न हैं। किन्तु जिस प्रकार समुद्र अत्यन्त गहरा होता है तथा उससे रत्नादि प्राप्त होते हैं, इन गुणोंके अभाववशतः अर्थात् समुद्रका पूर्ण धर्म वर्त्तमान न रहनेके कारण वे तरङ्गें समुद्रसे भिन्न हैं। केवल समुद्रमें लय प्राप्त होनेके

कारण वे तरङ्गें भिन्न रूपमें प्रतीत नहीं होती अर्थात् जहाँ उत्पन्न होती हैं, वहीं लय होती हैं। इसलिए उस समय पृथक्‌रूपमें न दीखनेके कारण उनका ऐक्य अथवा तरङ्ग समुद्र स्वरूपको प्राप्त करती है—ऐसा कहा जाता है।

उसी प्रकारसे मुक्तिदशामें अपने कारण स्वरूप तेज स्थानीय ब्रह्मके किसी विशेष अंशमें लीन होनेके कारण जीव ब्रह्मसे एक हुआ कहा जाता है, किन्तु स्वभावतः असीम ब्रह्ममें मुक्तजीवोंको असीम घनसुख प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि समस्त जीव ही स्वभावतः सीमित हैं। इसलिए मुक्तिदशामें पृथक्‌रूपसे दृश्य नहीं होनेके कारण ही जीव ब्रह्मसे अभिन्न हैं, परन्तु सीमाबद्ध होनेके कारण ब्रह्मके किसी भागमें लीनतारूपमें अवस्थित रहनेके कारण भिन्न हैं। भिन्न होनेके कारण ही किसी समय कोई मुक्त जीव श्रीभगवान्‌की विशेष कृपा द्वारा भक्तिसुख अनुभव करनेके लिए पृथक् सत्ता अर्थात् भजनानुरूप सच्चिदानन्द शरीर ग्रहण कर पाते हैं—यह पहले ही निरूपण किया जा चुका है। श्रीशंकराचार्यपादने भी कहा है—"हे नाथ! भेदके नष्ट हो जाने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हो। जिस प्रकार लीन हो जाने पर भी समुद्रकी तरङ्ग कही जाती हैं, तरङ्गको समुद्र नहीं कहा जाता है।" श्रीशंकराचार्यपादका यह भेदाभेद न्याययुक्त वचन सम्पूर्णता युक्तियुक्त हैं। यद्यपि अविद्या द्वारा कृत जो जीवका भेद है, अर्थात् माया द्वारा आत्म-विस्मृतिरूप भ्रमके विनाश हो जाने पर भेद-भाव दूर हो जाता है, तथापि तदीयता रूपमें अर्थात् 'मैं तुम्हारा हूँ' वाक्य द्वारा भेद सिद्ध होता है, अन्यथा एकता प्राप्त होने पर 'हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ'—इस वाक्यकी सङ्गति नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि सीमित नदी-प्रवाह कभी भी असीम और विचित्र रत्नोंका आकर (मूल स्थान) समुद्र नहीं हो सकता। केवल अपनी बाह्य सत्ताको लोप कर नदी-प्रवाह समुद्रके साथ अभिन्नरूपमें प्रतीत होता है। अतः यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो यह निश्चित होता है कि मुक्तिमें 'दीपक बुझ जानेकी भाँति' सत्ताके लुप्त हो जानेके कारण मात्र दुःखका अभाव ही है, अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक (सम्पूर्ण) निवृत्ति मात्र ही है, किन्तु वहाँ सुखकी प्राप्ति

नहीं है। वहाँ बुद्धि आदिके उत्कर्षरूप किसी आत्मगुणका भी सञ्चार नहीं होता है, जैसा कि मुक्तिके पूर्वकी अवस्थामें होता है। इस प्रकार चारों प्रकारके प्रलयमें—आत्यन्तिक प्रलयमें भी जीवका मोक्ष अर्थात् ब्रह्मके साथ ऐक्य सिद्ध नहीं होता है॥१९६॥

सदा प्रमाणभूतानामस्माकं महतां तथा।
वाक्यानि व्यवहाराश्च प्रमाणं खलु सर्वथा॥१९७॥

श्लोकानुवाद—इस विषयकी पुष्टिके लिए श्रीमद्भागवतादि शास्त्र, श्रीनारद-प्रह्लादादि महाजनोंके वाक्य तथा श्रीशुक-सनकादि महानुभवोंके व्यवहार सदा ही भक्तिके उत्कर्षके सम्बन्धमें निश्चित प्रमाण हैं॥१९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ये च केचिन्मन्यन्ते—सदा सर्वदा अद्वितीयमेकं ब्रह्मैव मायोपाधिना भिन्नं, नानाजीवत्वेन मिथ्यैव प्रतीयते, तत्त्वज्ञानेन तत् प्रतीतिलोपाद्ब्रह्म-स्फूर्तिः स्यादेव; अतोऽन्तरापतित-जीवत्वोपाधि-मिथ्याभ्रम-निरासेन यथापूर्व-स्व-स्वरूप-सुखघनब्रह्मत्वप्रकाशरूपे मोक्षे सान्द्रसुखानुभव एव स्यात्; तत्र मोक्षे अहंकारावशेषदोष-प्रसक्त्यसम्भवात्तत्सुखानुभवितुरभावेऽपि मोक्षस्यैव स्वरूपसुखानुभवरूपत्वात्तस्मिन्नपि तथैव सुखं सम्पद्यते। यथा भक्तिपराणामेव मते सच्चिदानन्दघनरूपस्य श्रीभगवतः सदा स्वरूपस्फूर्त्या स्वत एव परममहाघनसुखानुभवः स्यादिति तेषां मते तु मोक्षाद्भक्तेर्माहात्म्य-विशेषो न घटेत, तस्मिन्नेव सान्द्रसुखानुभवसिद्धेः; तच्चायुक्तमिति तन्मतमेव परिहरन्ति—सदेत्यष्टभिः। अस्माकं श्रीभागवतादिशास्त्राणां वचनानि—*'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥'* (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) इति; *'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'* इति, सिद्धेर्मुक्तेः; *'नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥'* (श्रीमद्भा॰ ६/१७/२८) इति; *'दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त-परिश्रमणाः। न परिलसन्ति केचिदपवर्गमीश्वर ते, चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२१) इति; तथा *'महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः'* इत्यादीनि सहस्रसहस्राणि, तथा महतां श्रीनारद-प्रह्लाद-हनुमदादीनां प्राचीनानां वाक्यानि—*'भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये। भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥'* इत्यादीनि। तथार्वाचीनानाञ्च निखिलश्रुत्यर्थव्याख्याकुशल-परमहंसाचार्य-सर्वज्ञवर-श्रीशंकराचार्य—भगवत्पादादीनाम्—*'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ति।'* इति, *'मुक्तोपसृप्यात्'* इति वेदान्ते च तथा एषां व्यवहाराश्च। श्रीशुक-सनकादीनां श्रीभगवल्लीलाख्यानादिप्रवृत्तिरूपाः, प्रह्लाद-हनूमदादीनाञ्च श्रीभगवद्दीयमान-मोक्षास्वीकारादयः। सदा प्रमाणमेव सर्वथेति अर्थवादत्वकल्पनादिना

केनापि प्रकारेणाप्रामाण्यं निरस्यति; खल्विति निश्चये; अत्र प्रमाणं नानुसन्धेयमिति भावः; कुतः? सदा प्रमाणभूतानां प्रमाणेषु प्रमाणान्तरापेक्षानुपयोगात्॥१९७॥

भावानुवाद—कुछ लोग कहते हैं कि सदैव एक अद्वितीय ब्रह्म ही विद्यमान रहते हैं और वे ब्रह्म ही माया-उपाधिसे युक्त होकर नाना जीवोंके रूपमें भिन्न-भिन्न होकर मिथ्या प्रतीत होते हैं। तत्त्वज्ञान द्वारा उस मिथ्या प्रतीतिके लोप होने पर केवल एक ब्रह्मकी ही स्फूर्ति होती है। अतएव ब्रह्म और मोक्ष इन दोनों स्थानोंसे पतित जीव-उपाधिरूप मिथ्या भ्रमके मिट जाने पर पहलेकी भाँति अपने स्वरूप अर्थात् सुखघन-ब्रह्मत्वके प्रकाशरूप मोक्षमें घनीभूत सुख अनुभव होता है। यद्यपि उस मोक्षमें लेशमात्र भी अहंकार न रहनेके कारण अनुभवकारीका अभाव होता है, तथापि मोक्ष स्वयं ही स्वरूप-सुखानुभवरूप होनेके कारण उसी प्रकार सान्द्रसुख (घनीभूत सुख) प्रदान करता है, जिस प्रकार भक्ति-परायणजनोंके मतमें सच्चिदानन्दघनरूप श्रीभगवान्के सदैव उनके हृदयमें स्फूर्ति प्राप्त होनेके कारण परम महाघन सुखानुभव होता है। अतएव जाना जाता है कि मोक्षसे भक्तिका कोई विशेष माहात्म्य नहीं है, क्योंकि मुक्तिमें भी घनीभूत सुखका अनुभव प्रमाणित होता है—किन्तु ऐसा सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं हो सकता।

उक्त वादियोंके विरुद्ध-सिद्धान्तका खण्डन करनेके लिए 'सदा' इत्यादि आठ श्लोकोंकी अवतरणा हुई है। हमारे प्रमाण स्वरूप श्रीभागवतादि समस्त शास्त्रोंके वचन हैं जैसे श्रीमद्भागवत (१/७/१०)—"जो बन्धनमुक्त हैं (अहंकार ग्रन्थीके नष्ट हो जानेके कारण विधि-निषेधोंके अतीत हैं) उन समस्त आत्माराम मुनियोंमें किसी वासनाके न रहने पर भी केवल श्रीहरिके गुणोंसे मोहित होकर ही वे विपुल विक्रमशाली उन भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं।" इसका कारण है कि श्रीभगवान्के गुणोंका प्रभाव ही ऐसा है कि मुक्त और अमुक्त सभी उनसे आकर्षित हो जाते हैं। तथा 'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' इति सिद्धेर्मुक्तेः अर्थात् समस्त प्रकारकी सिद्धियोंमें से भक्तिको अत्यन्त श्रेष्ठ जानना होगा। यहाँ 'सिद्धि' शब्दका अर्थ है—मुक्ति। तथा श्रीमद्भागवत (६/१७/२८)में कथित है—"नारायण-परायण भक्तगण कहीं भी भयतीत नहीं होते तथा स्वर्ग, मुक्ति और नरकको समान

मानते हैं।" श्रीमद्भागवत (१०/८७/२१)में श्रीभगवान्का स्तव किया गया है—"हे विभो! आप अपनी दुर्ज्ञेय भक्तिको प्रकाशित करनेके लिए हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। आपके चरित्ररूप सुधा-सागरमें निमग्न होकर जो लोग अपनी देह तकको भूलकर आपके श्रीचरणकमलोंका मकरन्द आस्वादन कर रहे हैं, उनकी तो बात क्या, जो ऐसे अग्रगण्य भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे गृह त्यागकर भजनमें रत हुए हैं, वे भी कभी मुक्ति कामना नहीं करते।" तथा "मधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त भक्तोंके लिए मोक्ष अति तुच्छ है।" इस प्रकारके हजारों प्रमाण उपलब्ध हैं। तथा महाजनानुभवरूप प्रमाण—जैसे श्रीनारद, श्रीप्रह्लाद और श्रीहनुमान आदि प्राचीन महाजनोंके वचन—"हे नाथ! भवबन्धनका नाश करनेवाली मुक्तिकी मैं कभी भी अभिलाषा नहीं करता हूँ, क्योंकि मुक्तिमें—'आप प्रभु हैं और मैं आपका दास हूँ' यह सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है।" तथा आधुनिक आचार्यगणोंमें समस्त श्रुतियोंकी व्याख्यामें कुशल परमहंसाचार्य सर्वज्ञेश्वर भगवन् श्रीशंकराचार्यपादने कहा है—"मुक्तगण भी लीलापूर्वक विग्रह धारण कर श्रीभगवान्का भजन करते हैं।" तथा वेदान्तदर्शनमें 'मुक्तोपसृप्यात्' (१/२/३) सूत्र द्वारा परब्रह्म श्रीहरि ही मुक्तोंके उपास्यरूपमें निर्दिष्ट हुए हैं। श्रीशुक और श्रीसनकादि ब्रह्मनिष्ठजनोंमें भी श्रीभगवान्की लीलावर्णनमें रुचि दृष्ट होती है तथा श्रीप्रह्लाद और श्रीहनुमानादि प्राचीन समस्त महाजनोंका श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त मुक्तिको अस्वीकाररूप आचरण सर्वथा प्रमाणरूपमें जानना होगा। अर्थात् समस्त प्रकारके अर्थवाद, कल्पनादि रूप प्रमाणोंका निराकरण कर निश्चयार्थमें 'खलु' शब्दका प्रयोग किया गया है। अतः चिरप्रमाणभूत स्वतःसिद्ध प्रमाणके विद्यमान रहते हुए हमारे लिए अधिक प्रमाणका अनुसन्धान करना अनुचित है॥१९७॥

तथैतदनुकूलानि पुरावृत्तानि सन्ति च।
नैव सङ्गच्छते तस्मादर्थवादत्व-कल्पना॥१९८॥

श्लोकानुवाद—इस विषयके अनुकूल बहुतसे प्राचीन इतिहास विद्यमान हैं—इन सबमें अर्थवादकी कल्पना करनेसे केवल कुतर्क ही प्रकाशित होता है॥१९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथेति समुच्चये; एतस्य मोक्षाधिकभक्तिमाहात्म्यनिरूपणस्य; यद्वा, तेषां वाक्यव्यवहाराणामनुकूलानि अनुवर्तीनि पुरावृत्तानि पुरातनोपाख्यानानि च सन्ति—*'तथा हि मुक्तिपदं प्राप्ताः स्वसुता द्वारकावासिना भगवद्भक्तिपरेण विप्रेणार्जुननिन्दादिचातुर्या श्रीभगवद्द्वारा भक्तिपदं द्वाराकापुरीमेवानीताः'* इत्यादीनि, तथा सनकादिसदृशानामेकतद्द्वितत्रितादीनां ब्रह्मनिष्ठानामपि श्वेतद्वीपे परमयत्नेनापि भगवद्दर्शनालाभादिवृत्तानि, तथा परमोत्कृष्टवरवरणार्थं श्रीभगवतादिष्टेन तदीयभक्तावताररूपेण श्रीपृथुना तं साक्षात्स्तुतिविशेषेण सन्तोष्य *'यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं, तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्।'* (श्रीमद्भा० ४/२०/३१) इत्युक्ते सति श्रीभगवतोक्तम्—*'मयि भक्तिरस्तु ते'* (श्रीमद्भा० ४/२०/३२) इत्यादीनि च। तस्मात् महतां वाक्यव्यवहारप्रामाण्यात्, तथा बहुतरेतिहास-सत्त्वाच्च अर्थवादत्वं, तेषां वाक्यानां स्तुतिपरमात्रता, तस्य कल्पना नैव सङ्गच्छते घटते, सहस्र-सहस्र-वचनेष्वर्थवादत्व-कल्पनया तस्यात्यन्तव्यापकतादोषप्रसक्तेः, तथा महतां वाक्यव्यवहारप्रामाण्यात् पुरावृत्तानां सत्यत्वाच्चेति दिक्॥१९८॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे स्वतःसिद्ध प्रमाणोंके द्वारा मोक्षसे भक्तिका अधिक माहात्म्य निरूपण करनेके उपरान्त उन समस्त शास्त्र-वाक्यों तथा महाजनोंके व्यवहारके अनुकूल, मुक्तिसे भक्तिकी श्रेष्ठताके विषयमें बहुतसे प्राचीन उपाख्यान प्रदर्शित हुए हैं। जैसे—'किसी एक समयमें द्वारकावासी एक भगवद्भक्तिमें अनुरक्त ब्राह्मणके पुत्रने देहत्यागके उपरान्त मोक्ष प्राप्त किया। किन्तु ब्राह्मण इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ, इसलिए उसने बुद्धिमानीपूर्वक अर्जुनके बाहुबलकी निन्दा की। तब अर्जुनके वचनकी रक्षाके लिए श्रीभगवान् उस ब्राह्मणके पुत्रको मुक्तिपदसे भक्तिपदरूप द्वारकापुरीमें ले आये थे।' (विस्तार विवरण श्रीमद्भागवत दशम-स्कन्ध ८९ अध्यायमें द्रष्टव्य है।)

तथा 'सनकादिके समान ब्रह्मनिष्ठ एकत, द्वित और त्रिता नामक महर्षिगण जब श्रीभगवान्के दर्शनके लिए श्वेतद्वीपमें गये थे, तब परम यत्नपूर्वक चेष्टा करने पर भी वे श्रीभगवान्का दर्शन प्राप्त नहीं कर सके।'

तथा श्रीभगवान् द्वारा अपने भक्तावताररूप महाराज पृथुको परमश्रेष्ठ वर प्रदान करनेके लिए चेष्टा करने पर भी उन्होंने उस वरको ग्रहण नहीं किया और बोले (श्रीमद्भा० ४/२०/३१)—"हे प्रभो! 'वर लो' आपके द्वारा कथित यह वचन जगतको मोहित करनेवाला

है। अतएव हे प्रभो! पिता जिस प्रकार स्वयं ही अपने पुत्रकी हितकामना करता है, उसी प्रकार आप भी स्वयं विवेचना कर मुझे वर प्रदान करें।" श्रीपृथुके इस प्रकारसे स्तव करने पर श्रीभगवान्‌ने कहा (श्रीमद्भा॰ ४/२०/३२)—"हे वत्स! तुमने भक्तिकी अभिलाषा की है, इसलिए मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति हो।" ऐसे महाजन आचरण-स्वरूप प्रमाणमूलक बहुतसे इतिहास हैं। इन इतिहासोंमें अर्थवादकी कल्पना करना उचित नहीं है। इस प्रकारके हजारों-हजारों वचनोंमें अर्थवादकी कल्पना करनेसे अत्यन्त व्यापकताका दोष या कुतर्क ही प्रकाशित होता है॥१९८॥

अथाप्याचर्यमाणा सा नास्तिकत्वं वितन्वती।
क्षिपेत् कल्पयितारं तं दुस्तरे नरकोत्करे॥१९९॥

श्लोकानुवाद—ऐसे शास्त्र-प्रमाण, महाजनोंके व्यवहार और प्रसिद्ध इतिहासादिमें भी यदि कोई अर्थवादकी कल्पना कर नास्तिकता प्रकाश करे, तब उस नास्तिक मतकी कल्पना करनेवालेको घोर नरकमें पतित होना पड़ेगा॥१९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथापि महतां वाक्यव्यवहाराद्यनादरेणापि आर्च्यमाणा विधीयमाना नास्तिकत्वं कल्पयितुर्वेदशास्त्रविमुखत्वं वितन्वती विस्तारयन्ती विख्यापयन्तीत्यर्थः; यद्वा तस्यामेव प्रवर्त्तमानेन वर्धयन्ती तं निजपाण्डित्यविख्यापनार्थ-प्रौढ़िवादपरं कल्पयितारमेते ह्यर्थवादा इति कल्पयन्तं सैवार्थवादत्वकल्पना दुस्तरे दुष्परिहरेऽनवच्छिन्ने वा नरकाणामुत्करे समूहे क्षिपेत्। तथा च श्रीनारदीये—*'पुराणेषु द्विजश्रेष्ठाः सर्वधर्मप्रवक्तृषु। प्रवदन्त्यर्थवादत्वं ये ते नरकभाजनाः॥'* इति। एतदुक्तं भवति। एवं पर्यालोचनया अवश्यमेव तैर्निजकुतर्ककर्कशमिथ्याप्रौढिवादं विहाया-विरोधप्रकाराय मोक्षाधिकभक्तिमाहात्म्यविशेष-प्रतिपादकः कश्चित् पक्षः स्वीकर्त्तव्यः; अन्यथा महानरकपात-प्रसङ्गादिति। स च पक्षः भगवांस्तु परं ब्रह्मेत्यादि चतुःश्लोक्या निर्दिष्टोऽस्त्येव। तत्रापि विचारेण केवलमभाव एव पर्यवस्यतीति सन्यायं पूर्वमेवोद्दिष्टमस्ति। एवञ्च बहुजन्मसाधिते मोक्षोपायानां प्रायो वैयर्थ्यापत्तेरलं तत्प्रयासेनेति तात्पर्यमलमतिविस्तरेण॥१९९॥

भावानुवाद—तथापि यदि कोई महाजनोंके वचनों तथा उनके व्यवहारादिका अनादर कर आचार्यों द्वारा सम्मत प्रमाणोंको काल्पनिक बतलाते हुए वेद-शास्त्रोंके विमुख होता है अथवा उसमें अपने

पाण्डित्यको स्थापित करनेके लिए अर्थवाद (अर्थात् यह केवल प्रशंसा वाक्य है) कल्पना करता है, तब ऐसी कल्पना ही उस कल्पना करनेवालेको घोर नरकमें पतित करा देगी। जैसा कि श्रीनारदीयपुराणमें कहा है—"हे द्विजश्रेष्ठगण! समस्त प्रकारके धर्मोंके प्रवक्तारूप पुराणोंके वाक्योंमें जो अर्थवादकी कल्पना करते हैं, उनका निश्चय ही नरकमें पतन होता है।"

अतएव इन समस्त शास्त्र प्रमाणों पर भलीभाँति विचार कर अपना-अपना मतवाद अर्थात् कुतर्क-कर्कश मिथ्या निपुणता (समझ)का परित्याग करें और बिना किसी विरोधके मोक्षसे भक्तिकी अधिक महिमा प्रतिपादक किसी एक पक्षको स्वीकार करें, अन्यथा महानरकमें जाना पड़ेगा। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कौनसा पक्ष स्वीकार करना कर्त्तव्य है? इसके उत्तरमें कहते हैं—वह पक्ष ही स्वीकार करना कर्त्तव्य है जहाँ 'भगवांस्तु परब्रह्म' इत्यादि प्रमाण चतुःश्लोक द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं। अतएव तात्पर्य है कि जो बहुत जन्मों तक क्लेश स्वीकार कर मुक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वे अर्थवादरूप कल्पनाका परित्याग करनेके विषयमें सतर्क हों॥१९९॥

अहो श्लाघ्यः कथं मोक्षो दैत्यानामपि दृश्यते।
तैरेव शास्त्रैर्निन्द्यन्ते ये गोविप्रादिघातिनः॥२००॥

श्लोकानुवाद—अहो! वह मोक्ष किस प्रकारसे प्रशंसनीय हो सकता है? गाय और ब्राह्मणादिकी हत्या करनेवाले दैत्य भी जिस मुक्तिको प्राप्त करते हैं तथा मोक्षमें अनुरक्त व्यक्ति भी जिन दैत्योंकी निन्दा करते हैं, ऐसे दुष्टजनों द्वारा प्राप्त की जानेवाली वस्तु—मोक्ष क्या शिष्टजनों द्वारा ग्रहणीय हो सकता है?॥२००॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र प्रकटं न्यायान्तरमपि दर्शयन्ति—अहो इति द्वाभ्याम्। यतो दैत्यानां कंसाघासुरादीनामपि दृश्यते सं; मयादुष्टप्राप्तात्वेन तस्य श्लाघ्यत्वं न घटत इति भावः। दैत्यादीनां परमदुर्घटत्वमेव दर्शयन्ति; तैर्मोक्षपरैरेव ये दैत्या निन्द्यन्ते; कुतः? गो-विप्रादिघातिनः; आदि-शब्देन यज्ञ-वेदादि। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४/४०) कंसमन्त्रिणां वचनम्—'*तस्मात् सर्वात्मना राजन्! ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः। तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः॥*' इति। एवमन्यदत्यन्येषां बहुलमस्ति; अतो निन्द्यजनप्राप्यत्वेन निन्द्यत्वमेव युक्तमिति भावः॥२००॥

भावानुवाद—इस पर भी यदि कोई मुक्तिसे भक्तिकी श्रेष्ठताके विषयमें सन्देह प्रकाश करे, उनके लिए 'अहो' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा इस विषयमें प्रकट अन्य न्याय दिखा रहे हैं। अहो! दैत्य कंस और अघासुरादि महादुष्ट स्वभावयुक्त असुरगण जिस मोक्षको प्राप्त करते हैं, वह मोक्ष किस प्रकारसे प्रशंसनीय हो सकता है? यहाँ कंसादि दैत्योंको भी परमदुर्घट वस्तुकी प्राप्ति प्रदर्शित हुई है, किन्तु विशेषतः मोक्ष-परायण व्यक्तिगण भी जिन दैत्योंकी निन्दा करते हैं, उन निन्दितजनों द्वारा प्राप्तकी जानेवाली वस्तु क्या शिष्टजनोंके लिए ग्रहणीय हो सकती है? यदि कहो कि मोक्ष-परायण व्यक्ति उनकी निन्दा क्यों करेंगे? उत्तरमें कहते हैं—क्योंकि वे सर्वदा गाय और ब्राह्मणकी हत्या करते हैं तथा यज्ञ, वेदादि भी नष्ट करते हैं। यथा श्रीमद्भागवत (१०/४/४०)में कंसके मन्त्रियोंके वचन हैं—"हे राजन्! तब हमलोग समस्त वेदवक्ता ब्राह्मणोंका, तपस्वियोंका, यज्ञ करनेवालोंका और उन यज्ञोंमें हविदाता गायोंका पूर्णतः विनाश करेंगे।" ऐसे बहुतसे प्रमाण हैं, अतएव निन्दितजनों द्वारा प्राप्तकी जानेवाली वस्तु निन्दनीय ही होगी॥२००॥

सर्वथा प्रतियोगित्वं यत् साधुत्वासुरत्वयोः।
तत् साधनेषु साध्ये च वैपरीत्यं किलोचितम्॥२०१॥

श्लोकानुवाद—साधुभाव और असुर-भाव सब प्रकारसे एक-दूसरेके विपरीत हैं, इसीलिए साधुके और असुरके साधन और साध्य विषयमें निश्चय ही विपरीत फल होगा॥२०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाहुः—सर्वथेति। साधुत्वं भगवद्भक्तत्वमसुरत्वं भगवद्द्वेष्टृत्वं, तयोः सर्वथा गुणकर्मादिनाशेषप्रकारेण यद्यस्मात् प्रतियोगित्वं वैपरीत्यम्, अतस्तेषां साधूनामसुराणाञ्च साधनेषु उपायेषु साध्ये च फले वैपरीत्यं किल निश्चितमुचितमेव। तत्र साधूनां श्रीभगवच्चरणाब्जोपासनं साधनं, दैत्यानाञ्च तद्विपरीतमद्वैतात्मतत्त्वज्ञानम्। साध्या च साधूनां प्रेमभक्तिरेव, दैत्यानाञ्च तद्विपरीता मुक्तिरिति विवेको द्रष्टव्यः। यच्च कैश्चिद्भक्तिफलेन समं द्वेषादिफलमप्येकत्रैव गण्यते, तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२३)—*'निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्। स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो, वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥'* इति, तथा च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१/२९)

च—*'कामाद्द्वेषाद् भयात् स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥'* इत्यादि, तच्च केवलं जन्ममरणादिसंसारप्रवाहाभाव-साम्याभिप्रायेण, श्रीभगवत्स्मरण-दर्शन-दयालुत्वाद्यनुभाव-विख्यापनापेक्षया वेत्यूह्यम्। यच्च नारदेन सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१/२६)—*'यथा वैरानुवन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्। न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥'* इति द्वेषः श्लाघितस्तत्तु भक्तिः स्वाभाविका तृप्तितः केवलं प्रेमगाम्भीर्यप्रागल्भ्येण वा वाक्परिपाटी-पाटवमिति ज्ञेयम्; अन्यथा परमभागवतस्य श्रीयुधिष्ठिरस्य सभायां तत्रैव उपविष्टस्य महाप्रभोः श्रीकृष्णदेवस्य साक्षात् परमभक्तिरस-लम्पटाचार्यस्य तस्य तदनुपपत्तेः, यद्वा, इदं तन्मयतारूपं वस्तु भगवद्द्वेषेणैव सिध्येत्, न त्वन्यथेत्येवं तन्मयतायाः सायुज्य-मोक्षाभिप्रायेणोपहास-गाम्भीर्यमिदमित्यूह्यम्। तस्याः परमहेयत्वादिति दिक्॥२०१॥

भावानुवाद—साधु और असुरमें गुण-कर्मादिरूप अनेक प्रकारका परस्पर विपरीत-भाव जानना चाहिए, अतएव साधु और असुर इन दोनोंमें साध्य और साधनके विषयमें भी विपरीत फल अवश्य ही रहेगा। श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी उपासना ही साधुजनोंका साधन है और इसके विपरीत अद्वैत आत्मतत्त्वज्ञान ही समस्त दैत्योंका साधन है। प्रेमभक्ति ही साधुजनोंका साध्य है और इसके विपरीत मुक्ति ही दैत्योंका साध्य है। कोई-कोई भक्तिरूपी फलके साथ भगवान्के प्रति द्वेषभावरूपी फलकी समानरूपसे गणना करते हैं। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२३) श्रुतिस्तव—"हे भगवन्! प्राण, मन और इन्द्रियोंको संयमित कर सुदृढ़योगसे युक्त मुनिजन जिस तत्त्वको हृदयमें धारण करते हैं, आपके स्मरणके प्रभावसे आपके द्वेषकारी असुरगण भी उस तत्त्वको प्राप्त करते हैं। भुजगेन्द्र (शेषनाग)के समान आपकी दीर्घभुजाओंमें आसक्त व्रजवधुएँ आपके चरणकमलोंके सुधारसका आस्वादन करती हैं। अतएव श्रुति-अभिमानी हमने भी उन व्रजवधुओंके अनुगत होकर गोपी-देह प्राप्तकर आपके चरणकमलोंकी सुधाका पान किया।" तथा श्रीमद्भागवत (७/१/२९)में कहा है—"काम, द्वेष, भय, स्नेह अथवा उपयुक्त भक्तिवशतः श्रीभगवान्में मनोनिवेश कर अनेक व्यक्तियोंने कामादि पापोंसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त किया है।"

इसका तात्पर्य है कि भगवान्के द्वेषी और भगवान्के भक्त—इन दोनोंका ही भगवान्में तन्मयता हेतु जन्म-मरणादिरूप संसार प्रवाह समाप्त हो जाता है, ऐसी समानताके अभिप्रायसे ही यह उदाहरण

समझना होगा अथवा श्रीभगवान्के स्मरण, दर्शन और दयालुतादि भावोंके प्रभावको विख्यात करनेके लिए ही उक्तरूपमें वर्णन किया गया है। श्रीनारद द्वारा श्रीमद्भागवत (७/१/२६)में उक्त है—"वैरीभावके द्वारा मरणशील मनुष्य जिस प्रकारसे तन्मयता प्राप्त करता है, भक्तियोग द्वारा वैसी तन्मयता प्राप्त नहीं कर पाता—यह मेरी निश्चित धारणा है।" इस प्रकारसे द्वेषभावकी भी प्रशंसा की गयी है। इस वाक्यको श्रीनारदके स्वाभाविक भक्तिरस आस्वादनकी तृप्ति द्वारा उत्पन्न गम्भीर प्रेमकी प्रागल्भता (साहस)के कारण वाक्यकी शैली मात्र जानना होगा। अन्यथा परम महाभागवत श्रीयुधिष्ठिर महाराजकी सभामें उपस्थित श्रीकृष्णके सम्मुख परम भक्तिरस लम्पटाचार्य श्रीनारदकी ऐसी उक्ति किस प्रकारसे सम्भव हो सकती है? अथवा यह तन्मयतारूप वस्तु श्रीभगवान्से द्वेष द्वारा भी सिद्ध होती है—यह सायुज्य-मोक्षके अभिप्रायसे उपहास है, क्योंकि ब्रह्मसायुज्यके समान अत्यन्त हेय वस्तु और कोई नहीं हैं॥२०१॥

कृष्णभक्त्यैव साधुत्वं साधनं परमं हि सा।
तया साध्यं तदङ्घ्र्यब्जयुगलं परमं फलम्॥२०२॥

श्लोकानुवाद—कृष्णभक्ति द्वारा ही साधुता प्राप्त होती है। अतएव जिस भक्तिमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा होती है, वही साधुताका मुख्य लक्षण है और वही भक्ति श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी प्राप्तिके विषयमें परम साधन और भक्तिका परम फल है॥२०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु स्वधर्माचरण-ज्ञानसाधनादिपरा अपि साधव उच्यन्ते? नेत्याहुः—कृष्णेति। कृष्णस्य भक्त्यैव परमं साधुत्वम्, अन्यथा च गौणमित्यर्थः। यद्वा, साधुत्वं नाम यत् तत् कृष्णभक्त्यैव न त्वन्यथेति। तथा च नवमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ९/४/६३) श्रीमदम्बरीषोपाख्याने दुर्वाससं प्रति *'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज!'* इत्यादिकमारम्भे उपसंहारे च। *'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६८) इत्यादि वदता श्रीभगवता स्वभक्तानामेव साधुत्वमभिप्रेतमिति दिक्। हि यतः सा भक्तिः तच्चरणारविन्दप्राप्तौ परमं साधनञ्च। कर्मज्ञान-वैराग्यादीनां भक्त्यारम्भे तदङ्गत्वेन गौणतापेक्षया तस्याः परमत्वमूह्यम्। यद्वा, परममिति स्वरूपमात्रनिर्द्देशः। अतस्तया परमसाधनरूपया

भक्त्या साध्यं तस्य श्रीकृष्णस्य अङ्घ्र्यब्जयुगलं चरणारविन्दद्वयमेव परमं फलम्। अत्रापि परममिति ब्रह्मापेक्षया स्वरूपमात्रनिर्देशेनैव वा॥२०२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अपने धर्मका आचरण करनेवाले और ज्ञानके साधनादिमें तत्पर व्यक्ति भी तो साधु है? इस मतका खण्डन करनेके लिए कहते हैं—कृष्णभक्ति द्वारा ही परम साधुता प्राप्त होती है। कृष्णभक्ति नहीं रहनेसे अपने धर्मका आचरण आदि क्रियाएँ गौण साधुताके रूपमें ही परिगणित होती हैं। अथवा साधुता कहनेसे कृष्णभक्तिके अलावा अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे श्रीमद्भागवत (९/४/६३)में श्रीअम्बरीष महाराजके उपाख्यानमें दुर्वासाके प्रति श्रीभगवान्की उक्ति—"मैं भक्ताधीन हूँ, भक्तके समीप मेरी स्वाधीनता नहीं है"; इत्यादि दृष्टान्त देकर उपसंहारमें कहते हैं—"साधु-जन मेरा हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ।" अर्थात् साधुभक्तोंने ही मेरे हृदयमें अधिकार किया है। इन वाक्यों द्वारा श्रीभगवान्ने स्वयं ही अपने भक्तोंकी साधुता स्थापित की है, क्योंकि श्रीभगवान्की भक्ति ही उनके चरणकमलोंकी प्राप्तिके विषयमें परम साधन है। भक्तिके आरम्भमें यद्यपि कभी-कभी कर्म, ज्ञान और वैराग्यादि भक्तिके अङ्गरूपमें परिगणित होते हैं, तथापि कर्म-ज्ञानादिका गौणत्व और भक्तिका ही मुख्यत्व जानना होगा। अतएव परम साधनरूपा भक्तिके साध्य श्रीकृष्णके युगलचरणकमलोंकी सेवा प्राप्ति ही परम फल जानना होगा। अथवा 'परम' शब्द द्वारा ब्रह्म अनुभवकी तुलनामें भक्तिका स्वरूपमात्र अर्थात् श्रेष्ठताका निर्देश हुआ है॥२०२॥

तद्भक्तिरसिकानान्तु महतां तत्त्ववेदिनाम्।
साध्या तच्चरणाम्भोजमकरन्दात्मिकैव सा॥२०३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी भक्तिके रसिक तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके लिए वह भक्ति साधनीय होने पर भी साध्यके रूपमें ही जानो। अर्थात् साध्यरूप उस भक्तिको ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी मकरन्द-स्वरूपा जानो॥२०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु परमपुरुषार्थ-मोक्षाधिकत्वेन तस्या एव फलत्वमुचितं, न तु साधनत्वं सत्यमित्याहुः—तद्भक्तीति। तस्मिन् श्रीकृष्णाङ्घ्र्यब्जयुगले या

भक्तिस्तस्यां ये रसिका लम्पटास्तेषामेव। त्वर्थे चकारः पूर्वापेक्षया वैशिष्ट्यं सूचयति। अतएव महतां महाशयानां कुतस्तत्त्वं तद्भक्तिस्वरूपं वेदितुं शीलमेषामिति तथा तेषां सा भक्तिः साध्या फलकरूपैवेत्यर्थः। ननु श्रीकृष्णचरणारविन्दद्वन्द्वसाक्षात्कार एव समग्राया भक्तेरपि फलमिति प्रसिद्धम्; तत्राहुः—तस्य श्रीकृष्णस्य चरणाम्भोजयोर्यो मकरन्दः सारभूतो मधुरसुगन्धि शीतलरसः परमानन्दविशेष इत्यर्थः, तदात्मिकैव। अयमर्थः—भगवतः साक्षात्कारे दर्शनमात्रेण यत् सुखं स्यात्, ततोऽप्यधिकाधिकं तस्य साक्षात्तदीयविचित्रसेवया सम्पद्यत इति भक्तिरेव परमं फलम्, एतच्चाग्रे विस्तरेण व्यक्तं भावि। एवं बहुधा ब्रह्मानुभविनामात्मारामाणां जीवन्मुक्तानां तथा सिद्धानामपि दुःखाभावमात्रमेव, श्रीभगवद्भक्तानान्तु वैकुण्ठमगतानामपि पाञ्चभौतिकदेह-धारिणामपि सान्द्रसुखविशेषानुभवो निरन्तरं भगवत्प्रसादात् सम्पद्यत इति सिद्धम्॥२०३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि परम पुरुषार्थ मोक्षसे भी भक्तिका अधिक फल कहा गया है, अतएव उस भक्तिको साधन न होकर साध्य होना ही उचित है। इसके लिए कहते हैं—सचमुच, वह भक्ति साध्य और साधन दोनों ही है। श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें जो भक्ति है, वही भक्ति भक्तिरसिक महाशयोंके लिए साधनीय है और फलरूपा अर्थात् साध्य भी है। यदि कहो कि श्रीकृष्णके युगलचरणकमलोंका साक्षात्कार ही तो भक्तिके समग्र फलके रूपमें प्रसिद्ध है? इसके लिए कहते हैं—उस साध्यरूपा भक्तिको ही श्रीकृष्णके युगलचरणकमलोंकी मकरन्द अर्थात् सारभूत मधुर सुगन्धित-शीतल-रसमय परमानन्द अर्थात् उसके तदात्मिक जानो। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान्के साक्षात्कारसे जो सुख होता है, उससे भी कहीं अधिक सुख उनकी विचित्र सेवाके द्वारा प्राप्त होता है। इसीको भक्तिके परम फलके रूपमें जानों, इसका भलीभाँति वर्णन बादमें होगा। इस प्रकार अनेक ब्रह्मानुभवी, आत्माराम, जीवन्मुक्त तथा सिद्धजन भी दुःखके अभावमात्रको ही साध्य प्राप्ति मानते हैं, परन्तु भगवान्के भक्त वैकुण्ठ गमन न करने पर भी अर्थात् पाञ्चभौतिक देह धारण करने पर भी निरन्तर घनीभूत सुख अनुभवके रूपमें भगवान्की कृपा प्राप्त करते हैं॥२०३॥

सा कर्मज्ञानवैराग्यापेक्षकस्य न सिद्ध्यति।
परं श्रीकृष्णकृपया तन्मात्रापेक्षकस्य हि॥२०४॥

श्लोकानुवाद—वह भक्ति कर्म, ज्ञान, वैराग्यादि पर निर्भर नहीं करती, इसलिए जो कर्म-ज्ञान आदिकी अकांक्षा करते हैं, उनकी भक्ति कभी भी सिद्ध नहीं होती। परन्तु जो केवल कृष्णभक्तिकी ही आकांक्षा करते हैं, वे ही श्रीकृष्णकृपाके बलसे उस भक्तिको प्राप्त करते हैं॥२०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा कथं सिध्यतीत्यपेक्षायां भक्तिपराणां कर्म-ज्ञान-वैराग्यादि-निरपेक्षतामाहुः—सेति। 'कर्म' स्वधर्माचरणादिकं, 'ज्ञानं' आत्मानात्मादितत्त्वबोधः, 'वैराग्यं' विषयादि-वैतृष्ण्यम्—तेषामपेक्षकस्य तत्तदासक्तस्य सा भक्तिर्न सिध्यति न सम्पद्यते, किन्तु परं केवलं श्रीकृष्णकृपयैव सिध्यतीति। ननु तर्हि श्रीकृष्णस्य स्वाभाविकपरमदयालुत्वेन सर्वेषामेव सा कथं न सिध्यति? तत्राहुः—तन्मात्रं भक्तिमात्रं, न तु कर्म-ज्ञानादि, तत्फलं मोक्षमपि अपेक्षते इति तथा तस्यैव। हि निश्चये। एतादृशमधिकारिणं प्रत्येव तस्य तादृशी कृपा स्यादिति भावः। यथोक्तं श्रीब्रह्मणा श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/१४/८)—*'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो, भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्। हृद्वाग्वपुभिर्विदधन्नमस्ते, जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥'* इति। मुक्तिः परमानन्दाविर्भूतिस्तत्स्वरूपं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यं स्थानं, श्रीभगवच्चरणो वा तस्मिन्। यद्वा, मुक्तेः पदं फलं यत्तस्मिन् भक्तावित्यर्थः। यद्वा, मुक्तौ पदमङ्घ्रिर्यस्य तस्मिन् न्यक्कृतमुक्तिके भक्तिमार्ग इत्यर्थः। यद्वा, अपवर्गपर्यायस्य मुक्तिशब्दस्यात्र पारिभाषिकसंज्ञैव ग्राह्या। तथा च पञ्चमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ५/१९/१९)—*'अपवर्गश्च भवति योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणः॥'* इति। अस्यार्थः—'आत्मनि भवमात्म्यं रागादि, तद्रहितेऽनिरुक्ते वाचामगोचरे, अनिलयने अनाधारे, अनन्यनिमित्तोऽहैतुको भक्तियोग एव लक्षणं स्वरूपं यस्य सः।' श्रीभगवद्वचनञ्चैकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३५)—*'नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्। तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥'* इति। अस्यार्थः—'परं केवलमुत्कृष्टं वा नैरपेक्ष्यं विषयभोगादिनिरपेक्षत्वमेव। यद्वा, विषयभोगादिनिरपेक्षेण जनेन साध्यं यत् परमं वस्तु तदेव अनल्पकं महत् निःश्रेयसं मोक्षमित्यर्थः। तस्मान्निःश्रेयसात् सकाशात् निराशिषो निष्कामस्य अतएव निरपेक्षस्य तदुपायज्ञान-वैराग्याद्यपेक्षाहीनस्य जनस्य मे मदीया भक्तिर्भवेत् सिध्यतीति।' यच्च श्रीविष्णुपुराणे सगरं प्रत्यौर्वेणोक्तं—*'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥'* इति। तस्यार्थः—'वर्णाश्रमाचारः स्वधर्मस्तद्वता पुरुषेण विष्णुराराध्यत एव, न चान्यत् किञ्चित् साध्यते; नापि तेनैव कृतकृत्यतया सर्वत उपरम्यत इत्यर्थः। एवं वर्णाश्रमाचाराणां विष्णोराराधनमेव फलमिति पर्यवसितम्। कुतः? अन्य आराधनात् परः पन्थाः कर्मज्ञानादिमार्गस्तस्य विष्णोस्तोषकारणं न स्यात्, नोचेत् स्वातन्त्र्येण तेषां तत्तोषकारणत्वायोग्यत्वाद्भक्त्यनुसरणं विना वैयर्थ्यापत्तिरेव

स्यात् इति। अतस्तदवचनं—*'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥'* इत्यादिकमन्यमपि तादृशं वर्णाश्रमाचाराणां भक्तिप्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रथमं परित्यागायोग्यत्वात् सर्वथा तत्त्यागनिरसनार्थकं, किंवा प्रवृत्तिपरवेदमार्गरक्षार्थकं किंवा भक्तिविषयकापेक्षाश्रद्धाविशेषरहितजनविषयकमिति बोद्धव्यम्। सर्वत्रैव कर्मणां सावधित्वादिश्रवणाद्भक्तिपराणां कर्मादिलोपेनापि पातित्यादिदोषानुत्पत्तेः। तदुक्तं श्रीभगवतैव पद्मपुराणे—*'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां क्रियालोपो भवेद् यदि। तेषां कर्माणि कुर्वन्ति तिस्रं कोट्यो महर्षयः॥'* इति। तथा तत्रैव देवद्युति-स्तुतौ—*'यस्मिन् ज्ञाते न कुर्वन्ति कर्म चैव श्रुतीरितम्। निरेषणा जगन्मित्राः शुद्धं ब्रह्म नमामि तम्॥'* इति। ज्ञातेऽपि, किं वक्तव्यम् आश्रिते सेविते वा सतीति तथैकादशस्कन्धेऽपि (श्रीमद्भा॰ ११/२०/९)—*'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥'* इति। कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि वाशब्दोऽत्रान्यनिरपेक्षतया अस्य पक्षस्य वैशिष्ट्यं सूचयति—*'महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।' 'ये वा मयीशे कृतसौहृदार्थाः'* (श्रीमद्भा॰ ५/५/२-३) इतिवत्। श्रद्धा विश्वासः; किञ्च, *'न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः। साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३६) इति। गुणदोषैर्विहित-प्रतिषिद्धैरुद्भवो येषां ते गुणाः पूण्यपापादय इति। श्रीशिवेनापि—*'स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातु चित्। सर्वे विधि-निषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥'* इति। अस्यार्थः—कदाचिदपि न विस्मर्त्तव्यः। एतयोः स्मरण-विस्मरणयोरेव किङ्कराः अधीनाः। स्मृतावेव सर्वविधयः तत्कृताशेषपुण्यानि, विस्मृतावेव सर्वे निषेधाः तत्कृताशेषपापानि भवन्तीति। अतस्तत्रैव यत्नः कार्यः, न चान्यत्र इति भावः॥२०४॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि वह भक्ति किस प्रकारसे प्राप्त होती है? इसके लिए कहते हैं—जो कर्म, ज्ञान और वैराग्यादिकी आकांक्षा करते हैं, उनको वह भक्ति कभी भी प्राप्त नहीं होती है। यहाँ कर्मका अर्थ है—अपने धर्मका आचरणरूप कर्म, ज्ञानका अर्थ है—आत्म-अनात्म-तत्त्व बोधरूप ज्ञान, वैराग्यका अर्थ है—विषयादिके प्रति कामना रहित होना। जो इन समस्त आकांक्षाओंका त्यागकर केवल श्रीकृष्णभक्तिकी ही आकांक्षा करते हैं, अर्थात् भक्तिविषयमें आसक्त हैं, वे ही श्रीकृष्णकी कृपाके बलसे उस भक्तिको प्राप्त करते हैं।

यदि कहो कि स्वभावसे ही परमदयालु उन श्रीकृष्णकी कृपासे किसलिए सभीकी भक्ति सिद्ध नहीं होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि श्रीकृष्ण परमदयालु होने पर भी सबको भक्तिफल प्रदान नहीं करते हैं। जो लोग कर्म-ज्ञानादिरूप साधन और उसके फल—स्वर्ग

और मोक्ष आदि सब प्रकारके साध्यफलोंको परित्यागकर केवल भक्तिके लिए ही प्रार्थना करते हैं, इस प्रकारके विशेष अधिकारीको ही वे निश्चितरूपमें भक्ति प्रदान करते हैं। जैसा कि दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ १०/१४/८)में श्रीब्रह्माकी उक्ति है—"जो आपकी कृपाके प्रभावको उत्तमरूपसे हृदयंगम कर केवल कृपाकी प्रतीक्षामें अपने द्वारा किये गये कर्मफलका भोग करनेके साथ-साथ देह-मन-वाक्य द्वारा आपके चरणकमलोंमें निरन्तर प्रणामपूर्वक जीवन धारण करते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करनेके अधिकारी होते हैं।" अर्थात् जीवित न रहने पर जिस प्रकार पैतृकधन प्राप्तिका अधिकार नहीं रहता, उसी प्रकार भक्तिरूपी जीवनके बिना मुक्ति प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। यहाँ 'मुक्ति' शब्दका अर्थ है—परम आनन्दकी विभूति और उसका स्वरूप श्रीवैकुण्ठ नामक पद या श्रीभगवान्‌के चरणकमल। अथवा मुक्ति पदका फल—भक्ति अथवा मुक्तिके ऊपर जो पद है, अर्थात् मुक्तिका तिरस्कार करनेवाला भक्तिमार्ग; अथवा 'मुक्ति' शब्दका अन्य अर्थ या पारिभाषिक संज्ञा है—अपवर्ग। जैसा कि पञ्चम-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ५/१९/१९)में कथित हैं—"समस्त प्रणियोंके आत्मा, रागादि दोषोंसे रहित, अनिर्वचनीय, निराधार परमात्मा भगवान् श्रीवासुदेवमें अनन्य तथा अहैतुक भक्ति ही यह अपवर्ग या मोक्षपद है। यह भक्तियोग तभी प्राप्त होता है, जब अनेक प्रकारकी गतियोंको प्रकट करनेवाली अविद्यारूप हृदयकी ग्रन्थिके कट जाने पर भगवान्‌के प्रेमीभक्तोंका भलीभाँति सङ्ग प्राप्त होता है।" अतएव अपवर्गका अर्थ है—भक्ति। इसी प्रकार एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३५)में भी श्रीभगवान्‌के वचन हैं—"निरपेक्षजनों अर्थात् विषय भोगादिकी आकांक्षासे रहित लोगोंके लिए जो साध्य या परमवस्तु है, वही महापुरुषोंका निःश्रेयस या मोक्ष है। अतएव जो निष्काम और निरपेक्ष हैं, अर्थात् उस मुक्तिके उपाय ज्ञान-वैराग्यादिकी आकांक्षासे रहित और कामनाशून्य हैं, वही मेरी भक्तिके अधिकारी हैं।"

श्रीविष्णुपुराणमें महाराज सगरके प्रति उर्वमुनिकी उक्ति है—"परम-पुरुष श्रीविष्णु वर्णाश्रमका आचरण करनेवाले पुरुषों द्वारा आराधित होते हैं। वस्तुतः वर्णाश्रम आचरणके अलावा श्रीविष्णुको प्रसन्न

करनेका अन्य उपाय नहीं है।" इसका अर्थ है कि वर्णाश्रमीका धर्म होता है—श्रीविष्णु आराधना। इसलिए अन्यान्य साधन परित्यागकर विष्णुकी आराधनारूप वर्णाश्रमधर्म पालनमें अपनेको कृत-कृतार्थ माने, तभी वर्णाश्रमका फल जो विष्णु आराधना है वह भलीभाँति सिद्ध होगा। इसका कारण है कि विष्णु आराधनाके अलावा वर्णाश्रम-आचरणरूप कर्म-ज्ञानादिका अनुष्ठान करनेसे भगवान् सन्तुष्ट नहीं होंगे। वस्तुतः वर्णाश्रमधर्ममें श्रीविष्णुकी आराधना ही फलरूप है, अतएव श्रीविष्णु आराधनाके अलावा केवल वर्णाश्रमाचार व्यर्थ ही है। इस प्रकार जिनकी भक्तिमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, वे भक्तिके अनधिकारी हैं। ऐसे लोगोंके प्रति श्रीभगवान्का उपदेश है—"श्रुति-स्मृति मेरी आज्ञा है तथा जो श्रुति-स्मृतिविधिरूप उस आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, वह मेरे विद्वेषी हैं। अतएव मेरा भजन करने पर भी वे वैष्णव नहीं हैं।" श्रीभगवान्के इस वाक्यका तात्पर्य है कि वैसे वर्णाश्रमाचारमें अनुरक्त व्यक्तिके भक्तिमार्गमें प्रवेशके लिए किसी-किसी स्थान पर अर्थात् गुणीभूता भक्तिके प्रसंगमें ऐसा उपदेश प्रदत्त हुआ है। अर्थात् प्रारम्भमें सर्वथा-वर्णाश्रमाचारके परित्यागका उपदेश नहीं दिया गया है, अथवा प्रवृत्तिमें रत वेदमार्गकी रक्षाके लिए ही श्रीभगवान्ने ऐसी शासनवाणी प्रयोग की है। अथवा भक्ति विषयमें जिस श्रद्धाकी आवश्यकता होती है, वैसी श्रद्धासे रहित व्यक्तियोंके लिए ऐसा उपदेश प्रदत्त हुआ है—जानना होगा।

कर्मका क्षेत्र सीमित है—ऐसा सर्वत्र ही सुना जाता है। इसलिए भक्तिमें अनुरक्त व्यक्तियों द्वारा कर्मका त्याग करनेसे उन्हें पतित होनेका दोष स्पर्श नहीं करता। पद्मपुराणमें श्रीभगवान्ने कहा है—"यदि मेरे कर्मकारी अर्थात् मेरी भक्ति करनेवाले व्यक्ति द्वारा कोई कर्म नहीं हो पाता तो उसे पूर्ण करनेके लिए वेदमें निपुण तीस करोड़ महर्षि नियुक्त हैं।" देवद्युति स्तुतिमें उक्त है—"जिनको जाननेसे फिर कोई कर्म करना नहीं होता, उन परब्रह्मको जानकर जो समस्त प्रकारकी कामनाओंको त्याग देते हैं और जगत जीवोंके प्रति मैत्रभाव पोषणकर भगवान्का भजन करते हैं, मैं उन परब्रह्मको प्रणाम करता हूँ।" यदि उन्हें जाननेका ऐसा फल है, तो उनका आश्रय लेने अथवा उनकी

सेवा करनेके विषयमें क्या कहा जाए? यथा श्रीमद्भागवत (११/२०/९)में श्रीभगवान्ने कहा है—"जब तक चित्तमें विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न न हो अथवा मेरी कथा श्रवण करनेमें श्रद्धा उत्पन्न न हो, तब तक समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करो।" यहाँ कर्मका अर्थ है—शास्त्रमें उक्त नित्य-नैमित्तकादि समस्त कर्म। 'वा' पदका अर्थ है—अन्य समस्त करणीय विषयोंमें निरपेक्ष होना। इसके द्वारा कर्म-ज्ञानादि त्यागके पक्षमें ही वैशिष्ट्य सूचित हुआ है। श्रीभागवत (५/५/२-३)में भी कथित है—"महापुरुष वे हैं जो सबके सुहृद, प्रशान्त, क्रोधहीन, सदाचारी और समस्त प्राणियोंको समान देखते हैं। मुझ ईश्वरमें जिनका प्रेम है और मुझे ही परम पुरुषार्थके रूपमें जानते हैं, वे ही महानपुरुष हैं।" यहाँ 'श्रद्धा' शब्दका अर्थ है—विश्वास। श्रीमद्भागवत (११/२०/३६)में भी कहते हैं—"मेरे एकान्तिक भक्त अर्थात् समदर्शी साधुओंके लिए विधि-निषेधसे उत्पन्न पुण्य-पाप सम्भव नहीं होता। इसका कारण है कि वे बुद्धिके परे अवस्थित होते हैं अर्थात् मुझ मायातीतके गुण-लीलामें उनका चित्त निमग्न होता है।" श्रीशिवने भी कहा है—"सर्वदा श्रीविष्णुका स्मरण करो, कभी भी उन्हें विस्मरण मत करो। समस्त विधि-निषेध इन दोनों कथनोंके अधीन हैं।" अतएव सर्वदा विष्णुस्मरण ही विधि है, उनका विस्मरण ही निषेध है। शास्त्रमें उक्त समस्त विधि और निषेध इस विधि और निषेधके अधीन हैं। यह सत्य है कि विष्णुस्मरण करनेसे ही समस्त विधियोंका पालन करना हो जाता है अर्थात् उनको पालन करनेका फल प्राप्त होता है तथा श्रीविष्णुका विस्मरण होनेसे शास्त्रोंमें वर्णित समस्त पापोंका भागी होना पड़ता है। अतएव सर्वदा यत्नपूर्वक विष्णुस्मरण करो। इसके अलावा अन्य कुछ भी मत करो॥२०४॥

कर्मविक्षेपकं तस्या वैराग्यं रसशोषकम्।
ज्ञानं हानिकरं तत्तच्छोधितं त्वनुयाति ताम्॥२०५॥

श्लोकानुवाद—कर्म भक्तिको अस्थिर करता है, वैराग्य भक्तिरसका शोषक है और ज्ञान भक्तिका हानिकारक है। ऐसा होने पर भी उक्त

कर्म-ज्ञानादि भक्तिके अनुगामी होने पर किसी-किसी समय श्रेयस्कर हो सकते हैं॥२०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव भक्तिविरुद्धं कर्मादिकं सर्वं भक्तिपरैस्त्याज्यमेवेत्याशयेनाहुः—कर्मेति। तस्या भक्तेर्विक्षेपकं नानाव्यापारशतेन चालकं, वैराग्यञ्च सर्वनिरपेक्षत्वं तस्या रसस्य तद्विषयकरागस्य शोषकम्। भगवत्सेवायामपि निर्विण्णतादोषप्रसक्तेः सा चायुक्तैव। *'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४२) इत्यादौ भगवद्भक्तेरन्यत्रैव विरक्तेरुक्तत्वात् ज्ञानन्तु तस्या हानिकरं क्षीणतापादकमात्मतत्त्वादिबोधेन निस्तीर्णम्मन्यतापत्त्या भक्त्यप्रवृत्तेः। अतएव श्रीभगवतोक्तमेकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३१-३३)—*'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्। योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति॥'* इति। प्राय इत्यनेन कदाचित् किञ्चिद्वैराग्यं ज्ञानं कर्म च श्रेयःसाधनं भवेदिति श्रीभगवता यत् सूचितं, तदेव दर्शयन्तः कर्मादीनामपि भक्तिपरत्वेन सार्थकमाहु—तत्तदिति। कर्म वैराग्यं ज्ञानञ्च शेधितं तत्तन्मलहीनतां नीतं सत् तां भक्तिमनुयाति अनुवर्त्तते, भक्तेः प्रथमसाधनाङ्गतां भजतीत्यर्थः। तदुक्तं योगवाशिष्ठे—*'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥'* इति। तत्रैवं विवेचनीयम्—कर्मणस्तत्तत्कामफल-निरसनेन केवलं भगवत्प्रीतये तदर्पणेन शोधनं, वैराग्यस्य च मोक्षेऽपि वैतृष्ण्येण भगवत्सेवादिरागानुवर्त्तनेन, ज्ञानस्य च अद्वैतात्मतत्त्वबोधादित्यागेन केवलं भगवदीयत्वेनैवात्म-मननेन श्रीभगवद्भक्तिमहिमनिर्धारणादिनेति दिक्॥२०५॥

भावानुवाद—अतएव भक्तिविरुद्ध कर्म, ज्ञान और वैराग्यादि, भक्तिका अनुशीलन करनेवालोंके लिए सम्पूर्णरूपसे परित्यज्य हैं। इसी अभिप्रायसे कहते हैं—समस्त कर्म भक्तिके विक्षेपक हैं, अर्थात् कर्मके अङ्गोंके सैकड़ों क्रिया-कलापोंमें चित्त चञ्चल होनेसे भक्तिकी हानि होती है। सब प्रकारसे निरपेक्षस्वरूप वैराग्यसे भक्तिरस शुष्क हो जाता है, अर्थात् यह भक्तिविषयक अनुरक्तिका भी शोषण करता है, जिसके फलस्वरूप भगवान्की सेवामें भी निर्वेदरूप दोष अर्थात् वितृष्णा उत्पन्न होती है। अतएव भक्तिमें विरुद्ध कर्म और वैराग्यादिका मिश्रण अयुक्त है। श्रीमद्भागवत (११/२/४२)के अनुसार "भोजनकारी व्यक्तिको जिस प्रकार प्रति ग्राससे सुख, उदरपूर्त्ति और भूखकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार भक्तमें भक्ति, प्रेमास्पद भगवान्के स्वरूपका स्फुरण

और अन्य विषयोंमें विरक्ति—ये तीनों एक ही समय उत्पन्न होते हैं।" इसी प्रकार ज्ञान भी भक्तिके लिए हानिकारक है, क्योंकि यह भक्तिवृत्तिको क्षीण करता है। अर्थात् आत्मतत्त्व बोध होनेसे व्यक्तिकी ज्ञानी जैसी धारणा होती है कि वह जीवनमुक्त दशा प्राप्तकर कृतकृतार्थ हो गया है, इसलिए उसकी भक्तिमें प्रवृत्ति नहीं होती। एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३१-३३)में श्रीभगवान्‌ने कहा है— "भक्ति ही परमपुरुषार्थ होनेके कारण मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे ही चिन्तनमें मग्न (मदात्मक) भक्तोंके लिए ज्ञान और वैराग्य प्रायः ही श्रेयष्कर नहीं होते हैं। बहुत प्रकारके कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, समाधि, दानसे उत्पन्न धर्म और अन्यान्य श्रेयस्कर कार्यों द्वारा लोग जो समस्त फल प्राप्त करते हैं, मेरे भक्त केवल मेरी भक्तिके द्वारा वे समस्त फल, यहाँ तक कि अभिलाषा करने पर स्वर्ग, मोक्ष या मेरा धाम भी प्राप्त कर लेते हैं।" इन प्रमाणों द्वारा जाना जाता है कि ज्ञान और वैराग्य प्रायः श्रेयष्कर नहीं होते हैं। भगवान्‌के इन वचनोंमें 'प्राय' शब्दका अभिप्राय है कि कभी-कभी किसी समय किञ्चित् वैराग्य, ज्ञान और कर्म भी श्रेयकारी होते हैं। किस समयमें श्रेयकारी होते हैं? ये सब भक्तिसे सम्बन्ध युक्त होने पर ही सार्थक होते हैं। उक्त कर्म, वैराग्य और ज्ञान शोधित होने पर ही भक्तिके अनुगामी होते हैं अर्थात् भक्ति-साधनके प्राथमिक अङ्गके रूपमें स्वीकृत होते हैं। योगवाशिष्ठमें उक्त हुआ है—"जिन्होंने हजारों-हजारों जन्मोंमें दान और समाधिके द्वारा तपस्या की है, उन पापरहित विशुद्धजनोंको ही श्रीकृष्णभक्ति प्राप्त होती है।" इस विषयमें विचार यह है कि जिन्होंने कर्मफलको भोगनेकी कामनाका परित्यागकर केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिए कर्मोंका अनुष्ठान किया है तथा उनके फलको भगवान्‌को समर्पण किया है, उनके द्वारा आचरित उन कर्मोंको शोधित कर्म कहा जायेगा। वैराग्य शोधन कहनेसे मोक्षकी कामना तक त्यागकर भगवान्‌की सेवा-सम्बन्धी कामनाके अनुगामी होना जानना होगा। ज्ञान शोधन कहनेसे अद्वैत-आत्मतत्त्व बोधादि त्यागकर केवल भगवान्‌के दासत्वमें मनन सहित भक्तिकी महिमाका निर्धारण जानना होगा॥२०५॥

आत्मारामाश्च भगवत्कृपया भक्तसङ्गतः।
सन्त्यज्य ब्रह्मनिष्ठत्वं भक्तिमार्गं विशन्त्यतः॥२०६॥

श्लोकानुवाद—आत्माराम मुनिगण भगवान्‌की कृपासे भक्तसङ्ग प्राप्तकर ब्रह्मनिष्ठा परित्याग देते हैं तथा भक्तिमार्गमें प्रवेश करते हैं॥२०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्मान्मुक्त्यधिकाधिक-भक्तिमाहात्म्याद्धेतोः। अप्यर्थे चकारः। आत्मारामा अपि ब्रह्मणि निष्ठां समाधिना तदनुभवस्थिरतां परितः सर्वभावेन त्यक्त्वा भक्तिमार्गमेव प्रविशन्ति, मुक्तिं दूरतो विहाय भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। उक्तञ्चोद्धवेन श्रीभगवन्तं प्रति एकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/१९/३) *'अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं, हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन!'* इति। ननु तेषां एवं कुतः सिध्येत्तत्राहुः—भगवतः कृपया यो भक्तैः सङ्गस्तस्मादिति। अयमर्थः—केचिदात्मारामा निजभक्ति-भक्तजनमहिमप्रकटनव्यग्रेण भगवता कथञ्चिदनुगृहीताः सन्तस्तद्भक्तजनसङ्गं प्राप्य तत्प्रभावेण जातपरमसूक्ष्मविचारचातुर्या मुक्तेस्तुच्छतामाकलय तां सपरिकरां दूरतः परिहृत्य भगवद्गुणमहिमाकृष्टा इव भक्तिमार्गं प्रविश्य बहुधा भगवन्तं भजन्तीति॥२०६॥

भावानुवाद—अतएव मुक्तिसे भी अत्यधिक भक्तिका माहात्म्य होनेके कारण आत्माराम मुनि भी ब्रह्मनिष्ठा, यहाँ तक कि समाधिमें प्राप्त ब्रह्म अनुभवमें स्थिरता तक सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर भक्तिमार्गमें प्रवेश करते हैं, अर्थात् मुक्तिमार्गको दूरसे त्यागकर भक्ति करते हैं। एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ११/१९/३)में श्रीउद्धवने श्रीभगवान्‌से कहा है—"हे कमललोचन! ब्रह्मका अनुभव करनेवाले परमहंसगण समस्त प्रकारका आनन्द विस्तार करनेवाले आपके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करते हैं।" यदि कहो कि किस प्रकारसे उनकी ऐसी प्रवृत्ति होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं—भगवान्‌की कृपाके प्रभावसे भक्तसङ्ग प्राप्त होने पर उनकी इस प्रकारकी प्रवृत्ति होती है। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान् स्वभावसे ही अपनी भक्ति और भक्तोंकी महिमा प्रकट करनेमें सदैव व्यग्र रहते हैं, इसलिए उनके इस कार्यसे कभी-कभी आत्मारामजन भी अनुग्रहीत हुआ करते हैं। इस प्रकार आत्मारामजन भक्तोंका सङ्ग प्राप्त किया करते हैं और उस सङ्गके प्रभावसे उदित परमसूक्ष्म विचार चातुर्य द्वारा मुक्तिकी तुच्छता

भलीभाँति उपलब्धिकर समस्त साधन-प्रणाली सहित मुक्तिको दूरसे ही त्याग देते हैं। इस प्रकार वे श्रीभगवान्की गुण-महिमा द्वारा आकर्षित होकर भक्तिमार्गमें प्रवेश करते हैं तथा बहुत प्रकारसे श्रीभगवान्का भजन किया करते हैं॥२०६॥

मुक्ताश्चास्य तया शक्त्या सच्चिदानन्ददेहिताम्।
प्रापितास्ते भजन्ते तं तादृशैः करणैर्हरिम्॥२०७॥

श्लोकानुवाद—समस्त मुक्तपुरुष भी भगवान्की शक्तिके प्रभावसे सच्चिदानन्दमय देह प्राप्तकर अप्राकृत देह और इन्द्रियोंके द्वारा श्रवण-कीर्त्तनादिरूप श्रीहरिका भजन करते हैं॥२०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु विना देहेन्द्रियादिकं श्रवण-कीर्त्तन-वन्दनार्चनादिभक्तिर्न सम्भवेदेव, तत्र जीवन्मुक्तानां ब्रह्मनिष्ठानां देहस्य विद्यमानत्वात् सा घटतां नाम, प्राप्तमोक्षाणान्तु सिद्धानां ब्रह्मणि लयेन देहाद्यभावात् कथं सा घटताम्? इत्याशंक्याहुः—मुक्ताः इति। ते पूर्वोक्तप्रकारा ब्रह्मणि लयेनापि भिन्नत्वेनैव वर्त्तमानाः मुक्ताः सिद्धमुक्तिका, अतएव षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ६/१४/५)—*'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥'* इत्यत्र सिद्धानामिति प्रयोगात्। तत्र तदादावेव कश्चिन्मुच्येत सिध्यतीति। एवमन्यदपि बहुलं तत्र तत्रानुसन्धेयम्। त्वर्थे चकारः। पूर्वतो भेदापेक्षया तया अनादिसिद्धयेत्यादिना पूर्वोक्तया अस्य भगवतः शक्त्या सच्चिदानन्दमयीं देहितां देहमित्यर्थः, प्रापिताः सन्तस्तादृशैः देहानुरूपैः सच्चिदानन्दमयैर्न तु प्राकृतैरित्यर्थः। करणैरिन्द्रियैः कृत्वा तत् भगवन्तं हरिं परमाकर्षक गुणमहिमानं भजन्ते, श्रवण-कीर्त्तनादिना सेवन्ते॥२०७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सिद्धमुक्तगण भगवान्का भजन करते हैं—यह सत्य है, किन्तु उनकी देह-इन्द्रियादि न रहनेके कारण वे किस प्रकार श्रवण-कीर्त्तन-वन्दन और अर्चनादि रूप भक्तिका अनुष्ठान करेंगे? यद्यपि जीवन्मुक्त ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियोंका देह विद्यमान रहनेके कारण उनके लिए भक्तिका अनुष्ठान सम्भव हो सकता है, किन्तु मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्धगण ब्रह्ममें लय होनेके कारण देह और इन्द्रियादि रहित होते हैं, अतएव उनके द्वारा भगवान्का भजन किस प्रकारसे सम्भव होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—हे महाभाग! इस प्रकारकी आशंका मत करो। समस्त मुक्तजन (पूर्वोक्त सिद्धान्तके अनुसार) ब्रह्ममें लय होने पर भी भिन्न-भिन्न सत्तामें विद्यमान रहते

हैं। अतएव श्रीमद्भागवत (६/१४/५)में कथित है—"करोड़ों-करोड़ों सिद्धमुक्तजनोंमें नारायणमें अनुरक्त प्रशान्तचित्त भक्त अति दुर्लभ हैं।" इस श्लोकमें 'सिद्धानां' शब्दके प्रयोग हेतु जाना जाता है कि सिद्धगण भी भगवान्‌का भजन करते हैं और 'सिद्धमुक्तगणोंमें'—इन पदों द्वारा जाना जाता है कि वे ब्रह्ममें लय होने पर भी पृथक् सत्तामें वर्त्तमान रहते हैं, अतएव इस प्रकारके बहुतसे प्रमाण हैं।

मुक्तजन भी भगवान्‌की शक्तिके प्रभावसे सच्चिदानन्दमय देह प्राप्तकर अप्राकृत देहके अनुरूप इन्द्रियादि द्वारा भगवान् श्रीहरिकी परमाकर्षक गुण-महिमादिका भजन किया करते हैं। प्राकृत देह और इन्द्रियों द्वारा भगवान्‌का भजन नहीं होता। यथार्थतः मुक्तगण ही अप्राकृत देह और इन्द्रियों द्वारा श्रवण-कीर्त्तनादिरूप भगवान्‌की सेवा करते हैं॥२०७॥

स्वारामता त्वहङ्कारत्यागमात्रेण सिद्ध्यति।
सुकरोऽतीव तत्त्यागो मतस्तत्तत्त्ववेदिभिः॥२०८॥

श्लोकानुवाद—अहंकारके त्याग मात्रसे जो आत्मारामता उपलब्ध होती है, वैसा अहंकार-त्याग अत्यन्त सुखकर (सहज) है—ऐसा तत्त्वको जाननेवालोंने स्थिर किया है॥२०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भक्तिं विना न किञ्चित् सिध्यतीति भक्तिपराणां मतम्; तत्रापि ब्रह्मलोकादि-महाविभूतिप्राप्तेः सकाशादप्यात्मारामत्वमुत्कृष्टं फलं कथं भक्तिं विना सिध्येत्? भक्त्यैवेति चेत् *'आत्मारामा भक्ता भूत्वा भक्तिं कुर्वन्ति'* इति वचनमनुपपन्नं स्यात्। यतस्तेषां पूर्वतो भक्तिरनुवर्त्तत एव। यदि वा वक्तव्यमिदं भक्त्या परमपुरुषार्थरूपायामात्मारामतायां सिद्धायामपि विषयवासनावद्भक्ति-वासना न न्यवर्तत, किन्तु तदानीमप्यन्ववर्त्तत। तस्याञ्च फलाभावेऽपि पुनः प्रवृत्त्या भगवद्गुणमहिमा स्तूयत इति। तदा वासनास्वभावेनैव तदनुवृत्तिर्घटते। भगवद्गुणमहिमचमत्कारस्तु को नामास्तु? अहो पुरा परमफलरूपायाः साधितायाः आत्मारामतायास्तुच्छत्वं भगवत्कृपया श्रीवैष्णवसङ्गप्रभावेण विज्ञाय तां परित्यज्य भक्तिं कुर्वन्तीत्येष एवाशेषाकर्षकस्तद्गुणमहिमा युज्यते; किञ्च, एवं भक्तेः फलमात्मारामतेत्यपि पर्यवस्यति, तच्चातीवायुक्तं विरुद्धञ्च। यतो मोक्षोऽपि भक्तेरवान्तरफलमेव श्रीवैष्णवानां मतं, मुख्यञ्च तस्याः फलं तच्चरणारविन्दप्रेमसम्पत्तिरेव। तथा च सहात्मारामता विरुध्येतेत्याशंक्य परिहरन्ति—स्वारामतेति चतुर्भिः। आत्मारामत्वन्तु

अहंकारस्य त्यागमात्रेणैव सिध्यति, न तु तत्र भक्त्यपेक्षेत्यर्थः। ननु भक्तिं विना अहंकारस्य त्यागोऽपि नाम कथं सिध्येत्तत्राहुः—तस्याहंकारस्य त्यागोऽतीवात्यन्तं सुकरो मतः। कैः? तस्याहंकारत्यागस्य यत्तत्त्वं स्वरूपं तद्वेदिभिः श्रीवशिष्ठाद्यैः। तथा च वाशिष्ठे—'*अपि पुष्पावदलनादपि नेत्रनिमीलनात्। सुकरोऽहंकृतित्यागो मतस्तत्तत्त्ववेदिभिः॥*' इति। न च वक्तव्यमहंकारापगमे सति तेषां पुनर्भगवद्भक्तौ प्रवृत्तिः कथं सम्भवति? सर्वकर्माणामहंकारमूलकत्वादिति। यतो भगवच्छक्तिविशेषेण देहवत् सच्चिदानन्दमयस्य दासोऽस्मीत्यहंकार-विशेषस्योपलब्ध्या भक्तिः सुतरां सिध्यतीत्युक्तमेव॥२०८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भक्तिमें अनुरक्त जनोंके मतानुसार भक्तिके बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है, अतः ब्रह्मलोकादि रूप महाविभूतिकी प्राप्तिसे भी श्रेष्ठ फल—आत्मारामता है, वह भक्तिके बिना किस प्रकारसे सिद्ध होगी? यदि कहो कि भक्तिके द्वारा ही आत्मारामता सिद्ध होती है, तब 'आत्मारामगण भक्त होकर भक्ति करें' इस वाक्यकी सङ्गति किस प्रकारसे होगी, क्योंकि उनमें तो पहलेसे ही भक्ति विद्यमान होती है। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि परमपुरुषार्थ रूप जो आत्मारामता है वह भक्तिके द्वारा ही सिद्ध होती है। जिस प्रकार विषय-वासनारूप संस्कार महाप्रलयके समय ब्रह्मलीन अवस्थामें भी जीवसत्तामें विद्यमान रहते हैं और पुनः सृष्टिके समय पूर्व-पूर्व वासनाएँ और संस्कार उदित हो उठते हैं, उसी प्रकार आत्मारामता प्राप्त करनेवाले जीवोंमें पहले किये गये साधनके रूपमें भक्तिका संस्कार विद्यमान रहता है, पुनः वह भक्तिवासना उदित होकर भगवान्‌के गुण-महिमा वर्णनमें प्रवृत्त कराती है, अर्थात् उस वासनाका स्वभाव ही पुनः संघटित होता है।

पुनः यदि आपत्ति हो कि वासनाके स्वभाव द्वारा ही यदि आत्मारामगण भजनमें प्रवृत्त होते हैं, तब श्रीभगवान्‌के गुण-महिमाकी इतनी प्रशंसा क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं—अहो! परम फलरूप आत्मारामताको तुच्छकर देनेवाली जो भगवान्‌की कृपा है, वह श्रीवैष्णव-सङ्गके प्रभावसे श्रीभगवान्‌के गुण और महिमाके माधुर्यकी उपलब्धि कराकर आत्मारामताको दूरसे त्याग करवा देती है तथा श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी भक्तिमें प्रवृत्त कराती है। इसी प्रकारसे अनन्त रूपमें आकर्षक भगवान्‌के गुण-महिमाकी योजना रहती है।

कुछ और भी कह रहे हैं—भक्तिका फल आत्मारामतामें समाप्त होता है, अर्थात् भक्तिके द्वारा या उसके फलस्वरूप आत्मारामता प्राप्त होती है—यह पूर्णतः अयुक्त और सिद्धान्त-विरुद्ध विचार है। इसका कारण है कि वैष्णवोंके मतानुसार मोक्ष ही भक्तिका गौण फल है तथा भक्तिका मुख्य फल श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें प्रेमरूप सम्पत्तिको प्राप्त कराना है। इस प्रकार 'स्वारामता' श्लोक संख्या २०८से २११ तक चार श्लोकोंमें आत्मारामताके सम्बन्धमें विरुद्ध आशंकाका निराकरण किया गया है। जिस अहंकारके त्याग मात्रसे ही आत्मारामता उपलब्ध होती है, उस अहंकारके त्यागमें भक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि कहो कि भक्तिके बिना अहंकारका त्याग किस प्रकारसे सिद्ध होगा? इसके लिए कहते हैं—उस अहंकारका त्याग करना अत्यन्त सहज है। इसका निर्णय किस प्रकारसे हुआ? श्रीवशिष्ठ जैसे तत्त्ववादियोंने अहंकारके त्यागका स्वरूप निश्चय किया है। जैसा कि योगवाशिष्ठमें कथित है—"पुष्प चयन या नेत्र बन्द करनेकी भाँति अहंकारका त्याग करना अत्यन्त सुखकर है।" यहाँ पर आपत्ति हो सकती कि जब अहंकारसे ही समस्त क्रियाएँ होती हैं, तब अहंकारके दूर होने पर पूर्ण अहंतामयी भगवान्की भक्तिके विषयमें प्रवृत्ति किस प्रकार सम्भव होती है? जिस प्रकार भगवान्की विशेष शक्तिके द्वारा भक्तोंको सच्चिदानन्द देह प्राप्त होता है, उसी प्रकार भगवान्की अन्य विशेष शक्ति द्वारा भक्तोंको सच्चिदानन्दमय दासाभिमान प्राप्त होता है। इस अभिमान द्वारा सहजरूपमें भक्ति प्राप्त होती है॥२०८॥

अवान्तरफलं भक्तेरेव मोक्षादि यद्यपि।
तथापि नात्मारामत्वं ग्राह्यं प्रेमविरोधि यत्॥२०९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि आत्मारामता और मोक्षादि भक्तिके गौण फल हैं, तथापि भक्त कभी भी उन्हें ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वह मुख्यफल—प्रेमके विरोधी हैं॥२०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भक्तानामात्मारामतास्ति, न वेत्याहुः—अवान्तरेति। आदिशब्देन आत्मारामत्वयोगसिद्धिज्ञानादि। यद्यपि भक्तेः श्रवण-कीर्त्तनरूपाया

मोक्षादि अवान्तरफलं नान्तरीयकम्, पाकार्थप्रज्वालितस्याग्नेस्तमःशीतनाशादिवत्, तथापि आत्मारामत्वं भक्तैर्न ग्राह्यं, दूरे परिहर्तव्यमित्यर्थः। यद्यस्मात् प्रेम्ना मुख्यफलस्य विरोधि॥२०९॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आत्मारामता भक्ति है या नहीं? इसके उत्तरमें कहते हैं—आत्मारामता भक्तिका गौण फल है। 'आदि' शब्द द्वारा आत्मारामता, योगसिद्धि और ज्ञानादिको भक्तिके गौण फलके रूपमें जानना होगा। जैसे भोजन पकानेके लिए प्रज्वलित अग्नि द्वारा अन्धकार और शीतका नाश गौण फल है, उसी प्रकार यद्यपि मोक्ष श्रवण-कीर्त्तनादिरूप भक्तिका गौण फल है मुख्य नहीं, तथापि भक्त आत्मारामता आदि गौण फलोंको ग्रहण नहीं करते, अपितु दूरसे ही त्याग देते हैं। इसका कारण है कि वह भक्तिके मुख्यफल—प्रेमके विरोधी हैं॥२०९॥

भक्तेः फलं परं प्रेम तृप्त्यभावस्वभावकम्।
अवान्तरफलेष्वेतदतिहेयं सतां मतम्॥२१०॥

श्लोकानुवाद—प्रेम ही भक्तिका परमफल है तथा अतृप्त रहना इस परमफल प्रेमका स्वभाव है। इसलिए साधुजनोंने निरूपण किया है कि भक्तिके गौण फलोंमें आत्मारामता ही अत्यन्त तुच्छ है॥२१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवोपपादयन्ति—भक्तेरिति। परं केवलं श्रेष्ठं वा भक्तेः फलं प्रेमैव। तस्य लक्षणमाहुः—तृप्तेः परिपूर्णताया अभाव एव स्वभावः यस्य तत्, अतः आत्मारामतया तृप्त्युत्पत्तेः प्रेमसम्पत्तौ विरोधि एव स्यादिति सिद्धम्। अतोऽवान्तरफलेषु मध्ये एतदात्मारामत्वम् अतिहेयं परमपरिहरणीयमिति सतां भक्तिरसिकानां मतम्। अति-शब्देन सकामस्य कस्यापि स्वाश्रितस्य मनोरथ-परिपूरणार्थं किंवा बहिर्दृष्टीनामभक्तानां भक्तौ प्रवर्त्तनाय निजपरमवैभवप्रकटनाद्यर्थं ब्रह्मानुभव-योगसिद्धीनां कदाचित् स्वीकारः सूच्यते॥२१०॥

भावानुवाद—भक्तिके मुख्य फल प्रेमकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करनेके लिए 'भक्तेः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भक्तिका परम अथवा केवल या श्रेष्ठ फल प्रेम ही है। उस प्रेमका लक्षण बताते हुए कह रहे हैं कि प्रेममें परिपूर्णतम तृप्तिका अभाव होता है, किन्तु आत्मारामता प्राप्त होनेसे परिपूर्ण तृप्ति होती है, जो प्रेम सम्पत्तिकी विरोधी है।

इसका कारण है कि प्रेममें तृप्ति नहीं होती, वह उत्तरोत्तर वर्द्धित होता रहता है। तृप्तिस्वरूप आत्मारामता और अतृप्तिस्वरूप प्रेम—इन दोनोंमें नित्यसिद्ध विरोध है। इसलिए भक्तिरसिक साधुजनोंने निरूपण किया है कि भक्तिके समस्त गौण फलोंमें आत्मारामता ही अत्यन्त हेय और त्यजनीय है। यहाँ 'अति' शब्दके द्वारा अपने किसी सकाम भक्तके मनोरथ पूर्ण करनेके लिए अथवा बहिर्दृष्टि-परायण अभक्तोंको भक्तिपथमें लानेके लिए और अपनी भक्तिके परमवैभव प्रकट करनेके लिए ब्रह्मानुभव, योग और सिद्धिका कभी-कभी स्वीकारत्व देखा जाता है॥२१०॥

भक्तिं विनापि तत्सिद्धावसन्तोषो भवेन्न तत्।
श्रीमद्भागवतेन्द्राणां मते स हि गुणो महान्॥२११॥

श्लोकानुवाद—भक्तिके बिना भी आत्मारामता प्राप्त होती है—इस सिद्धान्त द्वारा मनमें किसी प्रकारका असन्तोष नहीं होना चाहिए, क्योंकि परम रसिक भक्तोंके मतमें यह भक्तिका एक महान गुण ही है॥२११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् तस्मादतिहेयत्वात् भक्तिं विनापि तस्यात्मारामत्वस्य सिद्धौ सम्पत्तौ असन्तोषो मनोऽतृप्तिर्न भवेत्; एवं दोषाभाव उक्तः। प्रत्युत महागुण एवेत्याहुः—श्रीमतां भागवतेन्द्राणां परमश्रीवैष्णवप्रवराणाम्। एतदुक्तं भवति—इदमात्मारामतारूपमतितुच्छं दुष्टं वस्तु भक्तिं विना कथं सिध्यति, को नाम दोषः प्रसज्जेत्? यतोऽनर्घ्यमहारत्नं विनास्य तुषकणस्य प्राप्तिः कथमभूदिति वाचो युक्तिर्विदुषां किल सम्मता न स्यात्, अथ च श्रीभगवत्पादपद्म-भक्तिमहाचिन्तामणेः सकाशात् अतितुच्छं दुष्टं दुःखदं द्रव्यमविचारेण मृग्यमाणमपि नरकयातनावन्न कदाप्युपतिष्ठतीति परमगुण एव। भक्तिमहिमविशेष-सम्पादनपरिपाट्या भक्तिमाहात्म्य-तत्त्वविदुषां सम्मतत्वादिति दिक्॥२११॥

भावानुवाद—अतएव भक्तिके बिना भी अति तुच्छ आत्मारामता सिद्ध होती है—इस सिद्धान्त द्वारा मनमें किसी प्रकारका असन्तोष नहीं होना चाहिए, अपितु इसे भक्तिका महान गुण ही जानो। इसका कारण है कि श्रीमद्भागवतेन्द्रगणों अर्थात् परम वैष्णवप्रवरजनोंने इसे भक्तिके महान गुणके रूपमें ही व्याख्या की है। ऐसी आशंका हो

सकती है कि आत्मारामतारूप अति तुच्छ वस्तु भक्तिके बिना स्वतन्त्ररूपसे किस प्रकार प्राप्त हो जाती है तथा इससे क्या भक्तिका अपकर्ष या हीनता प्रदर्शित नहीं होती है? 'महामूल्यवान रत्नके बिना भूसीका कण किस प्रकारसे प्राप्त होगा?'—जिस प्रकारसे यह वचन युक्तिपूर्ण पण्डितों द्वारा सम्मत नहीं होगा, उसी प्रकार 'श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें भक्तिरूप महाचिन्तामणिके निकट अति तुच्छ, अतिदुष्ट और दुःख दायक द्रव्य किस प्रकारसे रहता है?'—यह वचन भी युक्तियुक्त नहीं होता। इसका कारण है कि अज्ञ व्यक्ति बिना किसी विचारके नरक यातनारूपी जिस वस्तुकी खोज करता है, उस वस्तुका त्याग करना ही महागुण है। अतएव यह सिद्धान्त भक्तिकी महिमा स्थापित करनेकी एक शैली है तथा भक्तिमाहात्म्यके तत्त्वको जाननेवालों द्वारा सम्मत है—ऐसा जानो॥२११॥

तद्धेतुश्चित्तशुद्धिर्वा स्वधर्माचारभक्तितः।
बाह्यायास्त्वल्पकं भक्तेरान्तर्याः सुमहत् फलम्॥२१२॥

श्लोकानुवाद—इसका कारण यह है कि स्वधर्मके आचरणरूप भक्तिसे चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धिसे आत्मारामता प्राप्त होती है। अतएव आत्मारामता स्वधर्माचरणरूप बाह्य भक्तिका अत्यन्त तुच्छ फलमात्र है, परन्तु प्रेम ही श्रवण-कीर्त्तनरूपा भक्तिका अति महान फल है॥२१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सत्यपि भक्तिं विना न किञ्चित् कथमपि सिध्यतीत्येष केषाञ्चिद्वैष्णवानामाग्रहश्चेद्भवति, तत्राहुः—तद्धेतुरिति। वेति पक्षान्तरे तस्यात्मारामत्वस्य हेतुः कारणं या चित्तशुद्धिः सा स्वधर्माचरणरूपाया भक्तेर्हेतोर्भवति। एवमात्मारामता-सिद्धावपि तत्साधनत्वेन स्वधर्माचरणलक्षणभगवदाज्ञापरिपालनरूपा भक्तिर्वर्त्तत एवेति तयैव तत्सिद्धिरपि मन्तव्येति भावः। ननूक्तमेव, इत्थं भक्तेः फलमात्मारामता पर्यवस्यति, तच्चायुक्तं तस्यातितुच्छत्वात्तथा भक्तेः प्रेमफलत्वाच्चेति। तत्राहुः—बाह्यायाः स्वधर्माचरणरूपाया भक्तेः अल्पकम् आत्मारामतारूपमतितुच्छं फलम्, आन्तर्याः श्रवण-कीर्त्तनरूपायास्तद्भक्तेः सुमहत् परमोत्कृष्टं प्रेमसम्पद्रूपं फलम्। एवं विवेकेन न दोष इति भावः॥२१२॥

भावानुवाद—उक्त प्रकारका सिद्धान्त स्थिर रहने पर भी कोई-कोई वैष्णव कहते हैं कि भक्तिके बिना किसी भी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त

नहीं होती है। उनके आग्रह (संकल्प)की रक्षाके लिए इस विषयमें सिद्धान्त स्थापन कर रहे हैं—आत्मारामताका हेतु या कारण है चित्तशुद्धि और वह स्वधर्मके आचरणरूप भक्तिसे उदित होती है। फिर उसी चित्तशुद्धिसे आत्मारामता सिद्ध होती है, अतएव आत्मारामता स्वधर्माचरणरूप बाह्यभक्तिका अति तुच्छ फलमात्र है। अर्थात् भगवान्का आज्ञापालनरूप जो स्वधर्माचरण है, उसीका अतितुच्छ फल आत्मारामता है। यदि कहो कि इस प्रकारसे भक्तिका फल अतितुच्छ आत्मारामतामें समाप्त होना अयुक्त ही होगा, क्योंकि इससे भक्तिकी महिमा स्थापित नहीं होती अतएव उस भक्तिका फल प्रेम होना ही सङ्गत है। इस विषयमें सिद्धान्त यह है कि तुच्छ आत्मारामता स्वधर्माचरणरूप बाह्यभक्तिका अति अल्पमात्र फल है और स्वधर्माचरणके बीचमें जो श्रवण-कीर्त्तनरूपा अन्तरङ्गा भक्ति है, उसका अत्यन्त महान और परमश्रेष्ठ फल है—प्रेमसम्पद। इस प्रकार विचार करनेसे समस्त दोष दूर हो जाते हैं॥२१२॥

निजात्मारामता पश्चाद्भजतां तत्पदाम्बुजम्।
निर्विघ्नमचिरात् सिद्ध्येद्भक्तिनिष्ठामहासुखम्॥२१३॥

श्लोकानुवाद—अपनी आत्मारामताके सिद्ध होनेके पश्चात् श्रीभगवान्के चरणकमलोंका भजन करनेसे शीघ्र ही बिना किसी विघ्नके भक्तिनिष्ठारूप महासुख अनुभव होता है॥२१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ये चात्मरामतायां सम्यक् सिद्धायां श्रीभगवत्कृपया तां परित्यज्य भजन्ते, तेऽचिरात् परिपूर्णार्था भवन्तीत्याहुः—निजेति, निजाया आत्मारामतायाः पश्चात् तत्सिद्धेरनन्तरं तस्य भगवतः; यद्वा, तदनिर्वचनीयमुक्तस्वरूपं सच्चिदानन्दघनं पदाम्बुजं भजताम् अर्थाद्भगवत एव भक्तिनिष्ठया तद्रूपं वा महासुखमचिरात् सिध्यति। निर्विघ्नमित्यस्यायमर्थः—विविधसंसारदुःखव्याकुलानां निरन्तरं किल भक्तिर्न सम्पद्यते, आत्मतत्त्वज्ञानेनात्मारामतायां सत्यां तत्तद्दुःखनिवृत्या निरन्तरमचिरेण सा सुखं सिध्यतीति। अतएवात्मारामाः खलु भक्तावुत्तमाधिकारिण इति कैश्चिन्मन्यते; यच्च उच्यते—गङ्गास्नान इव भगवद्भक्तौ सर्वेऽप्यधिकारिण इति। तच्च तेषां मते वर्णाश्रमाचाराद्यपेक्षा भक्तौ नास्तीत्यभिप्रायेण। अस्माकन्तु मतं *'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/८) इत्यादिवचनतस्तथा भक्तेरनायास-सिद्धत्वश्रवणात्तथा *'भक्तिरेव*

भक्तिमुत्पादयति' इति न्यायाच्च श्रीभगवत्कृपया तदेकमात्रापेक्षस्य सुखं सम्पद्यत इति प्रागुक्तमेव॥२१३॥

भावानुवाद—अपनी आत्मारामताके भलीभाँति प्राप्त होने पर और फिर श्रीभगवान्‌की कृपासे उस आत्मारामताका परित्यागकर भगवान्‌का भजन करनेसे शीघ्र ही परिपूर्ण भक्तिसुख प्राप्त होता है। अथवा आत्मारामताके भलीभाँति प्राप्त होने पर संसारदुःख सम्पूर्णता ध्वंस हो जाता है, तब निर्विघ्न रूपसे उस अनिर्वचनीय मुक्तस्वरूपसे सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका भजन करनेसे शीघ्र ही भक्तिनिष्ठारूप महासुख प्राप्त होता है। 'निर्विघ्न' कहनेका अभिप्राय है कि विविध प्रकारके संसारदुःखोंसे व्याकुलचित्त मनुष्योंके द्वारा वह भक्ति निरन्तर सम्पन्न नहीं होती है। आत्मारामताके ज्ञान द्वारा आत्मारामताके सिद्ध होने पर उन सब दुःखोंकी निवृत्तिके कारण निरन्तर भजन द्वारा शीघ्र ही भक्ति सुख प्राप्त होता है। अतः 'आत्मारामगण ही भक्तिविषयमें उत्तम अधिकारी हैं'—कोई-कोई ऐसा सिद्धान्त करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार गङ्गामें स्नान करनेका सभीको अधिकार है, उसी प्रकार भक्तिमें भी सभीका अधिकार है। अर्थात् उनके मतके अनुसार भक्तिके लिए मानवको वर्णाश्रमादि धर्मों पर निर्भरताकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु, हमारे मतमें भगवान्‌की कृपाके द्वारा ही भक्ति सिद्ध होती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०/१४/८)में कहा है—"जो लोग भगवान्‌की कृपाके प्रभावको सम्पूर्णतः हृदयंगम कर केवल उनकी कृपाकी प्रतीक्षामें अपने द्वारा किये गये समस्त कर्मोंका फल भोग करनेके साथ-साथ तन, मन और वचन द्वारा निरन्तर उनके चरणकमलोंमें प्रणामपूर्वक जीवन धारण करते हैं, वे लोग ही भक्तिके अधिकारी हैं।" महापुराणके इस वचनके द्वारा जाना जाता है कि केवल श्रीभगवान्‌की कृपाकी प्रतीक्षा करनेसे ही समस्त सुख अनायास ही प्राप्त होते हैं। भक्तिकी अनायास सिद्धिके विषयमें जो शास्त्र-सिद्धान्त सुना जाता है, वह भी ऐसा ही है—'भक्तिरेव भक्तिमुत्पादयति' अर्थात् 'भक्ति ही भक्तिका हेतु है'—अतएव इस न्यायके अनुसार भी श्रीभगवान्‌की कृपाकी आकांक्षा करने मात्रसे

ही समस्त सुख अनायास ही प्राप्त होते हैं, इस विषयमें पहले ही कहा गया है॥२१३॥

तत्रानुभविता सोऽनुभवनीयोऽनुभूतयः।
वृत्तयः करणानाञ्च बहुधा प्रस्फुरन्ति हि॥२१४॥

श्लोकानुवाद—भक्तिसुखका अनुभव करनेवाले भक्त और अनुभवनीय भगवान् तथा अनुभूति और अनुभूतिका कारण वृत्तियाँ एवं इन्द्रियाँ, नाना रूपोंमें स्फूर्ति प्राप्त करती रहती हैं॥२१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उक्तमप्यात्मारामाणां समाध्यनुभूयमान-सुखाभासाद्भगवद्भक्तिसुखस्य परमोत्कृष्टत्वं परममहत्वञ्च युक्त्यन्तरेणोपपादयन्ति—तत्रेति। तस्मिन् भक्तिसुखे अनुभविता भक्तिसुखस्यानुभवकर्त्ता भक्तः; सः अनिर्वचनीयः अनुभवनीयः; अनुभवस्य कर्म श्रीभगवान्; अनुभूतयः अनुभवक्रियाकरणानां बाह्यान्तरेन्द्रियाणां वृत्तयश्च, तत्साधनानि बहुधा नानाप्रकारेण प्रकर्षेण स्फुरन्ति प्रकाशन्ते। तत्रायं विवेकः—अनुभवितुः दासोऽस्मीत्यादिना तत्र पादसम्वाहकत्वादिनाभिमानेन बहुधा स्फूर्त्तिः अनुभवनीयस्य च विचित्रमधुरमधुर-रूपविलासादिना, करणवृत्तीनाञ्च श्रवणकीर्त्तनादिना। तत्र च तत्तदवान्तरबहुलविशेषण। अनुभूतीनाञ्च तत्तद्वैचित्र्यैवेति। एवं तत्तद्वैचित्र्या तत्सुखस्यापि परमवैचित्रीविशेषोत्पत्त्या परममहत्ता स्वयमेव सम्पद्यत इति भावः। न च वक्तव्यमिदम्—आत्मनः करणानाञ्च स्फूर्त्या तदानीं चरणारविन्दस्फूर्त्यभावान्निरन्तरसान्द्रसुखानुभवबाधः स्यात्, युगपदुभयेषां स्फूर्त्त्यसम्भवादिति; यतस्तत्तत् स्फुरणमपि चरणारविन्दनिष्ठमेव, न त्वतीव पृथक्; यतो गौणतयैव तेषां तत्र स्फूर्त्तिरुदेति। इत्थं तेषामस्फूर्त्तिरेव पर्यवस्यतीति चेन्न, तदानीमनुभवस्य सत्तयानुभवितुस्तत्साधनस्यापि सत्ता प्रसज्जेदेव; यतोऽनुभवव्यतिरेकेण प्राप्तमपि द्रव्यमप्राप्तावेव पर्यवस्यति, अस्मृतकण्ठमणिरिव। अतएव *'इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या।'* (श्रीमद्भा॰ १०/१२/११) इत्यादौ सर्वत्रानुभूत्यादि-शब्द-प्रयोग इति दिक्॥२१४॥

भावानुवाद—उत्तम आत्मारामगण भी जिस सुखका समाधि-दशामें अनुभव करते हैं, वह वस्तुतः सुखका आभास ही है। उस सुखसे भगवान्की भक्तिसे प्राप्त होनेवाला सुख परमश्रेष्ठ तथा परममहिमायुक्त होता है—इसीको अब अन्य प्रकारकी युक्ति द्वारा स्थापित कर रहे हैं। उस भक्तिसुखमें अनुभवकर्त्ता हैं—भक्त और अनुभवनीय—अनिर्वचनीय श्रीभगवान्। समस्त अनुभूतियाँ तथा अनुभव क्रियाके कारण बाह्य

और अन्तरेन्द्रियोंकी समस्त वृत्तियाँ अर्थात् अनुभवके समस्त साधन— ये सब नाना-प्रकारसे परम उत्कर्षताके साथ भक्ति अनुष्ठानमें स्फूर्ति प्राप्त करते रहते हैं।

उसकी प्रणाली इस प्रकार है—सर्वप्रथम अनुभवकर्त्तामें 'मैं भगवान्‌का दास हूँ', इस अभिमानसे पाद-सम्वाहन, चामर-ढुलानादि अनेक प्रकारकी सेवाओंके अनुसार अपने स्वरूपकी स्फूर्ति होती है। फिर अनुभवनीय श्रीकृष्णके विचित्र मधुर-मधुररूप और विलासादि स्फुरित हुआ करते हैं। उससे अनुभवनीय श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्त्तनादिके भेदसे इन्द्रियोंकी समस्त वृत्तियाँ नाना-प्रकारके विषयाकारोंमें स्फुरित होती हैं। अर्थात् अनुभवनीय श्रीकृष्णके रूप, गुण और लीलादिकी विभिन्नताके भेदसे श्रवण-कीर्त्तनादिके अन्तर्गत भी बहुतसे विशेषण किये जा सकते हैं—जैसे रूपका स्मरण, रूप-माधुर्यका कीर्त्तन, गुण श्रवण, लीलाकथाका श्रवण इत्यादि अनेक प्रकारके भेद प्रकट होते हैं। इस प्रकारसे अनुभवनीय तत्त्वकी वैचित्रीके कारण अनुभव किये गये सुखका भी परम वैचित्र्य उत्पन्न होता है, इसी कारण उस सुखका परम महत्व स्वयं ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनुभवकर्त्ता, अनुभवनीय वस्तु और अनुभव—इन तीनों विषयोंकी अनन्त वैचित्रीके कारण तथा बाह्य और अन्तरेन्द्रियोंकी अनन्त वृत्तियोंके एक ही समयमें स्फुरित होनेके कारण सुखमें भी परमवैचित्री उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप उसका परम महत्व स्वयं ही सिद्ध होता है।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जब आत्मस्वरूपके अनुभवके साथ इन्द्रियोंकी वृत्ति स्फुरित होती है, उस समय निरन्तर घनीभूत सुख-अनुभवस्वरूप श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी स्फूर्तिका अभाव हो जाता है, क्योंकि एक ही साथ दोनों प्रकारकी स्फूर्तिका अनुभव होना असम्भव है। यदि कहो कि केवल श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय करके ही आत्म-स्वरूपकी स्फूर्ति होती है, स्वतन्त्र रूपसे नहीं। अर्थात् गौणरूपमें ही स्वरूपकी स्फूर्ति होती है, अतः वह स्फूर्ति न होनेके ही समान है। परन्तु यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उस समय अनुभवकर्त्ताका अनुभव-सामर्थ्य विद्यमान रहनेसे उसकी साधन-सामग्री इन्द्रियाँ आदि भी सम्पूर्णरूपसे प्रकाशित होती हैं।

तात्पर्य यह है कि भक्तका स्थायी-भाव ही विभावादि समस्त सामग्रीको एक साथ प्रकाशित करता है और स्वयं उस सामग्रीके संयोगसे रसताको प्राप्त करता है। अतः भक्तका अनुभव सामर्थ्य भी उस स्थायी-भावका ही विशेष प्रभाव जानना चाहिए। अन्यथा अनुभवके अभावमें प्राप्तवस्तु भी अप्राप्तिके समान हो जाती है। इसे 'अस्मृत कण्ठमणि' अर्थात् 'कण्ठमें धारणकी हुई मणिको भी भूल जाना' न्यायके समान जानना होगा। 'इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्य' (श्रीमद्भा॰ १०/१२/११) इत्यादि सर्वत्र ही 'अनुभूति' शब्दका प्रयोग देखा जाता है। अतएव भक्तिसुखके अनुभव कालमें आत्मारामगणोंकी निर्विकल्प समाधिकी भाँति (अनुभवकर्त्ता) भक्तका अनुभव सामर्थ्य लुप्त नहीं होता है॥२१४॥

परं समाधौ सुखमेकमस्फुटं वृत्तेरभावान्मानसो न चाततम्।
वृत्तौ स्फुरद्वस्तु तदेव भासतेऽधिकं यथैव स्फटिकाचले महः॥२१५॥

श्लोकानुवाद—परन्तु समाधिदशामें अनुभवकर्त्ता (आत्मारामगणों)के मन और इन्द्रियादि वृत्तिके लुप्त हो जानेके कारण उन्हें एक ही अस्फुट या शून्यमय सुखका बोध होता है जिसका विस्तार नहीं होता है। किन्तु भक्तोंके विशुद्ध चित्तमें वही अस्फुट सुख उसी प्रकार अधिकतासे प्रकाशित होता है, जैसे सूर्यका प्रकाश स्फटिकमणि पर्वत पर अधिकरूपसे प्रतिफलित होता है। अतएव भक्तिमें समाधिदशाके समय अनुभूत शून्यमय सुखसे भी कहीं अधिक घनीभूत सुखकी स्फूर्ति होती है॥२१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—समाधौ चाहंकाराद्यशेष-बाह्यान्तर-करणवृत्ति-लोपेनानुभवितुरत्यन्ताभावात् पर्यवसितोऽनुभवस्याप्यभावस्ततत्सुखस्य शून्यरूपतामेव बोधयतीत्याहुः—परमिति। समाधौ तु मनसो वृत्तेरभावात् मनस इति सर्वाणीन्द्रियाण्यन्तःकरणानि चोपलक्षयति, तन्मूलकत्वात्तेषाम्। परं केवलमेकम् एकरूपमेव सुखम्, न चाततं विस्तृतं करण-वृत्तिवैचित्र्यभावात्। अस्फुटञ्च शून्यमेव भातीति, तदुक्तं दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२९) भगवतो ब्रह्मत्वेन श्रुतिस्तुतौ—*'वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः'* इति। यदि च वक्तव्यम्—समाधौ ब्रह्मैवानुभूयते, तच्च सर्वाधिष्ठानं सदा सर्वत्र स्वयं भासमानमेवास्तीति शून्यरूपता न सङ्गच्छत इति, तथापि तत्र

वृत्तेरभावात् अनुभवाभावेन शून्यतैव पर्यवस्यति; अन्यथा सर्वत्र सदा वर्त्तमानेन ब्रह्मणा सह स्वत एव व्याप्यत्वादिसम्बन्धस्य सत्तया सर्वेषामेव मुक्तिप्रसङ्गः स्यात्। इत्थमेव—*'सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं, तथाप्येकं स्तोकं न हि भवतरोः पत्रमभिनत्। क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं, समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः॥'* इत्यादिवचनमुपपद्यते ब्रह्मणि। तथा सत्यपि तत्र वृत्त्यभावानुसंसारच्छेदः। भगवन्नामानि च वागिन्द्रियवृत्त्या सिध्यतीति भक्तौ चान्तर्बहिःकरणानामनुक्षणं कोटिशो वर्धमानाभिर्विचित्राभिर्वृत्तिभिर्विचित्राश्चर्यपरम-सुखविशेषानुभावो निरन्तरं स्वयमेव सम्पद्यत इति कैमुतिकन्यायेनाहुः—वृत्ताविति। यद्वस्तु वृत्त्यभावादस्फुटमासीत्तदेव चित्तवृत्तौ स्फुरत् अधिकं सत् अवभासते। अत्र दृष्टान्तः—महः सूर्यादितेजः स्फटिकमयेऽचले पर्वते यथा गगनतलादधिकं भासत इति, किमुत वक्तव्यं समाध्यनुभूयमानशून्यरूपात्मतत्त्वाधिकाधिक-सान्द्रसुखमय-श्रीमच्चरणारविन्दद्वन्द्वस्य भक्त्या प्रतिक्षणनूतनविचित्र-बाह्यान्तरीणकरणवृत्तिषु परिस्फुरणादधिकाधिकं परमसुखं सम्पद्यत इति। यश्च भक्त्या प्रेमसम्पदाविर्भावे कस्यापि कदाचिदखिलदेहस्य, कदाचित् कस्याप्यवयववर्गस्य चेष्टालोपस्तथा कदाचिदिन्द्रियाणां मध्ये कस्य कस्यापि स्वविषय-ग्रहणाशक्त्या वृत्तिलोपश्च दृश्यते, तत्रेदं प्रतिपत्तव्यम्—तदानीं तत्तद्वृत्तीनां कदाचिदन्तःकरणेषु, तत्रापि कदाचिन्मनसि, कदापि बुद्ध्यावन्यस्मिन् वा, कस्य च कदाचिद्बहिरिन्द्रियेषु, तत्र च श्रवणे चक्षुषि वाचि त्वचि परस्मिन् वा, कस्यापि युगपद्द्वयोस्त्रिषु तदधिकेषु वेति वैचित्रीभिः सर्वेषामपि करणानां सर्वेषु तेषु यथायथमन्तर्भावो भवतीति। न चेदमसम्भाव्यम्, यतो वस्तुतः सच्चिदानन्दरूपाणां सर्वेषामेव तेषामन्योऽन्यं सर्वा एव वृत्तयो लौकिकप्राकृतमनसि सूक्ष्मतया सर्वेन्द्रियकर्माणीव सम्भवन्तीति॥२१५॥

भावानुवाद—आत्मारामगणोंकी समाधि अवस्थामें अहंकार सहित बाह्य और अन्तरेन्द्रियोंकी समस्त वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। इसलिए समाधि-अवस्थामें अनुभवकर्त्ताके अभावके कारण ब्रह्मानुभवका भी अभाव ही होता है। अतः वह सुख भी अस्फुट अर्थात् शून्यमय हो जाता है। 'परम्' इत्यादि श्लोक द्वारा इस विचारको और भी स्पष्ट किया जा रहा है। समाधिकालमें मनोवृत्तिके लुप्त हो जानेसे मनकी अन्तर्भूत समस्त वृत्तियाँ भी लुप्त हो जाती हैं, क्योंकि मन ही समस्त इन्द्रियोंका मूल है। इस प्रकार अनुभव करनेवालेके मन और समस्त इन्द्रिय-वृत्तियोंके लुप्त हो जाने पर केवल 'सुख' नामकी वस्तु ही रह जाती है। किन्तु उसका विस्तृत अनुभव नहीं रहता, क्योंकि तब मनोवृत्तिके वैचित्र्यका अभाव रहता है। अतः वह सुख अस्फुट

अर्थात् शून्यमय प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवत (१०/८३/२९) वेदस्तुतिमें भी कहा गया है—"हे भगवन्! आत्मारामगणोंको समाधिमें आप आकाशकी भाँति शून्यके समान प्रतीत होते हैं।"

यदि यह बात स्वीकार भी कर ली जाय कि समाधि कालमें मन और इन्द्रिय-वृत्तियोंके लुप्त हो जाने पर भी ब्रह्मसुखका अनुभव होता है, तब समस्त जगतके अधिष्ठान ब्रह्म जो सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रकाशमान रहते हैं उनकी उपलब्धि क्यों नहीं होती है? ब्रह्मका अनुभव करनेकी वृत्तिके अभावके कारण ही जीवोंके लिए ब्रह्मकी शून्यता बोध होती है, वरना सर्वत्र विद्यमान ब्रह्मके साथ जीवोंका नित्य सम्बन्ध है, अतः उससे समस्त जीवोंको मुक्ति प्राप्त होनी चाहिए थी।

प्राचीन महापुरुषोंकी उक्ति है—"श्रीभगवान् ब्रह्मस्वरूपसे सदा सर्वत्र व्याप्त हैं, तथापि उस ब्रह्मस्वरूपके द्वारा जीवके संसाररूप वृक्षका एक छोटासा पत्ता भी नहीं टूट पाता। किन्तु दूसरी ओर यदि क्षणकालके लिए भी श्रीभगवान्‌का नाम जिह्वा पर उदित होता है तो जीवके संसाररूप वृक्षका समूल नाश हो जाता है।" अतः ब्रह्म और श्रीहरिनाम—इन दोनोंमें से जीवके लिए कौनसा अधिक सेव्य है, यह सहज ही निर्णय किया जा सकता है।

इस प्रकार ब्रह्मके सदा सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी इन्द्रिय वृत्तिके अभावके कारण आत्मारामगणोंका संसार क्षय नहीं होता, परन्तु श्रीभगवान्‌का नाम जिह्वा पर कार्यकारिणीरूपसे आविर्भूत होनेके कारण वह संसारका समूल नाश कर देता है। इस प्रकार भक्तिमें अन्तर और बाह्य समस्त इन्द्रियाँ प्रतिक्षण कोटि-कोटि गुणा वृद्धिको प्राप्त करती हैं। समस्त विचित्र वृत्तियों द्वारा विचित्र आश्चर्यमय परमसुखका अनुभव निरन्तर स्वयं ही प्राप्त होता रहता है। इसीको 'कैमुतिक न्याय'के अनुसार कहा जा रहा है। जो वस्तु (ब्रह्म) वृत्तिके अभाववशतः अस्फुट या शून्यमय थी, वही वस्तु चित्तवृत्तिकी स्फूर्ति पाकर सुस्पष्टरूपसे प्रकाशित होती है। उदाहरणके लिए—जिस प्रकार सूर्यका तेज आकाश मण्डलकी तुलनामें भी स्फटिक मणिमय पर्वत पर अधिकरूपसे प्रकाशित होता है, उसी प्रकार समाधिकालमें अनुभव

होनेवाले शून्यमय आत्मतत्त्वकी तुलनामें सुखस्वरूप श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी भक्ति द्वारा अनुभव होनेवाला नित्य नव–नवायमान विचित्रसुख बाह्य तथा अन्तर इन्द्रियोंकी वृत्तिसे अधिकाधिक घनरूपमें स्फुरित होता है।

भक्तिके प्रभावसे प्रेम–सम्पदके आविर्भूत होने पर किसी–किसी समय समस्त शरीरकी अथवा किसी एक इन्द्रियकी चेष्टा लुप्त हो जाती है। अर्थात् भक्तको भी कभी–कभी अपने अङ्गोंका विस्मरणसा हो जाता है और फिर कभी–कभी किसी इन्द्रियका अपने विषयको ग्रहण करनेका सामर्थ्य भी लुप्त हो जाता है। इसका कारण है कि जब कोई इन्द्रिय आनन्दमें विह्वल हो जाती है, तब वह अन्तःकरणकी दूसरी इन्द्रियके अन्तर्भूत हो जाती है। क्रियाके अनुसार अन्तःकरणके चार विभाग हैं—मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त, जिसे चतुष्टय अन्तःकरण कहा जाता है। इसीलिए कभी मनमें, कभी बुद्धिमें, कभी अहंकारमें और कभी चित्तमें अपनी–अपनी वृत्ति द्वारा सुखका आस्वादन होता ही रहता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंमें भी कभी श्रवण इन्द्रिय, कभी चक्षु इन्द्रिय, कभी वाक् इन्द्रिय द्वारा उस सुखका अनुभव होता ही रहता है। तथा फिर कभी दो–तीन या इससे भी अधिक इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके मिलनेसे नाना वैचित्रीमय सुखकी अनुभूति होती है। समस्त इन्द्रियोंकी समानताके कारण वे एक–दूसरेकी पोषक होकर भी अन्तःकरणके अन्तर्भूत रहती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सच्चिदानन्दस्वरूपका अनुभव होनेके कारण इन समस्त वृत्तियोंके साथ मन उस सच्चिदानन्दस्वरूपमें तादात्म्य प्राप्त करता है। इसलिए प्राकृत मन भी सूक्ष्म होनेके कारण आत्माकारमें प्रसारित होकर समस्त इन्द्रियोंका कर्म सम्पादन करता है॥२१५॥

इत्थं समाधिजान्मोक्षात् सुखं भक्तौ परं महत्।
तद्भक्तवत्सलस्यास्य कृपामाधुर्यजृम्भितम्॥२१६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे भक्तवत्सल श्रीभगवान्की कृपा–माधुरीके प्रभावसे भक्तिमें जो अत्यधिक सुख प्राप्त होता है, वह समाधिसे प्राप्त मोक्षसुखकी तुलनामें परम महान है॥२१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतच्च महावैचित्र्यमवितर्क्यविचित्राश्चर्यलीलस्य श्रीभगवतो भक्तवात्सल्यमहिम-स्वभावजमेवेति वदन्त उपसंहरन्ति—इत्थमिति। समाधेः सकाशाज्जायते प्रादुर्भवतीति। तथा तस्मात् मोक्षात्तत्सुखात् परं महत् परममहत्ताप्राप्तं भक्तौ सुखं भवति; तत् सुखञ्च अस्य भगवतः कृपामाधुर्येण जृम्भितं प्रकाशितम्; भक्त-वत्सलस्येत्यस्यायं भावः; यद्यपि सच्चिदानन्ददेहवतां भक्तानां स्वस्य च सच्चिदानन्दघनस्य सदैकरूपत्वेन विचित्रभेदो न सम्भवेदेव, तथापि भक्तवात्सल्येन भक्तानां परममहासुखविशेषस्य सम्पत्तये निजमहाशक्ति-विशेषेण तथा तथा सम्पादयतीति॥२१६॥

भावानुवाद—'इत्थम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपसंहार करते हुए कह रहे हैं—ऐसे महावैचित्र्य, तर्कसे अतीत, विचित्र, आश्चर्य लीलामय श्रीभगवान्के भक्तवात्सल्यकी महिमाके स्वभावसे भक्तिमें परम महान सुख प्राप्त होता है। वह सुख समाधिसे प्राप्त मोक्षसुखसे भी महान होता है तथा भक्तवत्सल श्रीभगवान्की कृपा-माधुरीके प्रभावसे प्रकाशित होता है। यद्यपि श्रीभगवान् सचिदानन्दघनविग्रह हैं और उनके समस्त भक्त भी सच्चिदानन्दमय होनेके कारण सर्वदा एकरूप ही होते हैं, उनमें कभी भी विचित्र-भेदकी सम्भावना नहीं हो सकती; तथापि भक्त-वात्सल्य स्वभाववशतः श्रीभगवान् अपने समस्त भक्तोंको विशेषरूपसे परमसुख प्रदान करनेके लिए ही अपनी महाशक्तिको प्रकटकर सुख-सम्पत्ति वितरण करते हैं॥२१६॥

सदैकरूपं बहुरूपमद्भुतं
विमुक्तिसौख्यात् प्रतियोगि तत् सुखम्।
हरेर्महाभक्तिविलासमाधुरी-
भरात्मकं तर्क्यमतद्विदां न हि॥२१७॥

श्लोकानुवाद—मोक्षसुख सर्वदा एकरूप रहता है, किन्तु भक्तिसुख अद्भुत अर्थात् श्रीभगवान्के ऐश्वर्यके प्रभावसे अनेकरूपोंमें प्रकट होता है। मुक्तिसुखसे भक्तिसुख सम्पूर्णतः विपरीत होता है तथा भक्तिसुख-वैचित्र्य परम मनोहर श्रीहरिकी महाभक्तिविलास-माधुरीसे परिपूर्ण होता है। जो भक्तितत्त्वसे अनजान हैं, वे तर्क द्वारा इस सुखका निर्णय नहीं कर सकते हैं॥२१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं मोक्षसुखवैपरीत्येन तत्सुखस्य लक्षणं तत्परममहत्ता-कारणत्वेनैव निर्दिशन्ति—सदेति तत्सुखमद्भुतं परमानिर्वचनीयमित्यर्थः। कुतः? सदा एकरूपं परब्रह्मरूपत्वात्, सदा बहुरूपञ्च श्रीभगवदैश्वर्यविशेषात्; अतएव विशिष्टा सायुज्यरूपा या मुक्तिस्तद्रूपात् सौख्यात् सुखात् प्रतियोगि विपरीतम्; तथा हि मोक्षसुखमेकरूपं चरमकाष्ठाप्त्यासीमवच्च, तथापि परिपूर्णतया तृप्तिजनकञ्च, इदञ्चानेकरूपमपरिच्छिन्नं तृप्तिनिरासकम्। एवमन्यदप्युक्तानुसारेण वैपरीत्यमूह्यम्। एतच्च युज्यते एव सदैकरूपस्याप्यस्य प्रतिक्षण-नूतननूतन-मधुरमधुरत्वेन बहुरूपतया सदा वर्धमानत्वात्। नन्विदमत्याश्चर्यं कथं सम्पद्येत? तत्राहुः—हरेरिति। परममनोहरस्य भगवतो यो महान् भक्तेर्विलासो वैभवं, तस्य माधुरीभरो माधुर्यातिशयस्तदात्मकं तन्मयमिति। अयमेव श्रीभगवद्भक्तेर्माहात्म्यविशेष इत्यर्थः। ननु सदा एकमनेकमपि, तथा सदा परिच्छेदातीतमपि वर्धते इत्यादिकं विरुद्धमिव प्रतिभाति? सत्यमित्याहुः—न तं भक्तिविलासमाधुरीभरं तत् सुखं वा विदन्ति ये, तेषां तत् सुखं न तर्क्यं तर्कयितुं शक्यं न भवति, *'तद्धि जानन्ति तद्विदः'* इति न्यायात्॥२१७॥

भावानुवाद—इस प्रकार 'सद्' इत्यादि श्लोकमें मोक्षसुखसे विपरीत उस भक्तिसुखके लक्षण और उसके परम महत्वका कारण निर्देश कर रहे हैं। वह भक्तिसुख अद्भुत और परम अनिर्वचनीय है। यदि कहो कि किस प्रकारसे अद्भुत है? इसके लिए कहते हैं—परब्रह्मरूप होनेके कारण मोक्षसुख सर्वदा ही एकरूप रहता है, किन्तु भक्तिसुख श्रीभगवान्‌के ऐश्वर्यके प्रभावसे सदा अनेकरूपका होता है। अतएव सायुज्यरूप मुक्तिसे उत्पन्न सुखसे भक्तिका सुख सम्पूर्णतः विपरीत होता है। इसी कारण मुक्तिसुख चरम सीमाको प्राप्त एकरूप तथा परिपूर्ण होकर भी तृप्तिजनक है, किन्तु भक्तिसुख अनेकरूप, निरन्तर अतृप्तिदायक, अर्थात् भोग करने पर भी इष्टविषयक भोग लालसा दूर नहीं होती है।

अतएव मुक्तिसुखसे भक्तिसुख सम्पूर्ण विपरीत होता है। विशेषतः भक्तिसुख सदा एकरूप होकर भी प्रतिक्षण नव-नव, मधुर-मधुर, अनेकरूपोंमें सर्वदा वृद्धिशील रहता है। यदि कहो कि निःसन्देह यह अति आश्चर्यका विषय है, किन्तु यह सुख किस प्रकारसे प्राप्त होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—उक्त सुखवैचित्र्य परम मनोहर श्रीभगवद्भक्ति-विलासके वैभवका अत्यधिक माधुरीपूर्ण स्वरूप है। इसीको श्रीभगवद्भक्तिका विशेष माहात्म्य समझो। तथापि, यदि कहो कि वह भक्तिसुख सदा

एकरूप होने पर भी अनेकरूप है तथा सीमारहित होने पर भी वर्द्धनशील है—इत्यादि वाक्य परस्पर विरुद्धकी भाँति प्रतीत होते हैं? यह सत्य है, क्योंकि जो भक्तितत्त्वसे अवगत नहीं है तथा जिन्होंने भक्तिविलास-माधुरीका सुख अनुभव नहीं किया है, वे कभी भी इस सुखवैचित्र्यका निर्णय नहीं कर सकते। इसका कारण है कि यह सुखवैचित्र्य तर्कके द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। अतएव 'तद्विजानन्ति तद्विदः'—अर्थात् "जो इसको जानते हैं, वही जानते हैं" इस न्यायानुसार यह भक्तिविलास-माधुरी दुर्वितर्क्य ही समझो॥२१७॥

सदैकरूपोऽपि स विष्णुरात्मन-
स्तथा स्वभक्तेर्जनयत्यनुक्षणम्।
विचित्रमाधुर्यशतं नवं नवं
तया स्वशक्त्येतरदुर्वितर्क्यया॥२१८॥

श्लोकानुवाद—सच्चिदानन्दघन श्रीविष्णु अपनी शक्तिके प्रभावसे सर्वदा एकरूपमें स्थित होकर भी प्रतिक्षण अपने और अपनी भक्तिके नव-नव विचित्र शत-शत माधुर्यको प्रकट करते हैं। किन्तु अभक्तोंके लिए दुर्वितर्क्य होनेके कारण वे इस वैचित्र्यका निश्चय नहीं कर पाते हैं॥२१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वनुभवनीयस्य सदैकरूपस्य सच्चिदानन्दघनस्य परब्रह्ममूर्त्ते-र्भगवतस्तथा तदनुरूपं तदीयभक्ति-भक्ततत्करणवृत्तीनाञ्च किं बहुवैचित्रीकल्पनया? तत्राहुः—सदेति त्रिभिः। आत्मनः स्वस्य अनुक्षणं नवनवं विचित्रं नानाप्रकारकं माधुर्यशतं जनयति प्रकटयति। तथा पूर्वोक्तया स्वशक्त्या कृत्वा। कीदृश्याः? इतरैः प्राकृतैर्भक्तव्यतिरिक्तैर्वा दुर्वितर्क्यया तर्कयितुमशक्ययेत्यर्थः। एवं तत्कृतानामपि दुर्वितर्क्यत्वमुक्तमित्युन्नेयम्॥२१८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अनुभवनीय—सदा एकरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममूर्त्ति श्रीभगवान्‌के तथा तदनुरूप उनकी भक्ति, भक्त और उनकी वृत्तियोंकी बहुत वैचित्री सहित कल्पना क्यों की गयी है? इसका समाधान 'सद्' इत्यादि तीन श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है। श्रीभगवान् अपनी शक्तिके प्रभावसे प्रतिक्षण अपने नव-नव विचित्र शत-शत माधुर्यको प्रकट करते हैं। किस प्रकारसे प्रकट करते

हैं? मायिक विचित्रतासे भिन्न अथवा भक्तोंके अलावा अन्योंके लिए दुर्वितर्क्य स्वरूपमें प्रकट करते हैं। इस प्रकारसे श्रीभगवान् द्वारा किये जानेवाले कार्योंका दुर्वितर्क्यत्व उक्त हुआ है॥२१८॥

पारब्राह्म्यं मधुरमधुरं पारमेश्यं च तद्वै
भक्तेष्वेष प्रवरकरुणा-प्रान्तसीमा-प्रकाशः।
तेषाञ्चैषा निविड़मधुरानन्दपूरानुभूते-
रन्त्यावस्थाप्रकृतिरुदिता धिक्कृतब्राह्मसौख्या॥२१९॥

श्लोकानुवाद—उन परब्रह्मका मधुर-मधुर परम ऐश्वर्य है और उनके द्वारा भक्तोंके प्रति परम करुणाकी चरम सीमाका प्रकाश करना भी सुमधुर है। उनके भक्तों द्वारा जिस घन मधुरानन्दका अनुभव किया जाता है, वह चरम सीमाको प्राप्त अनुभूति भी परम मधुर है, जिसके समक्ष ब्रह्मसुख भी धिक्कृत हो जाता है॥२१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अयमेव हि ब्रह्मतत्त्व-भगवत्तत्त्वयोस्तथा मुक्त-भक्तानां मुक्ति-भक्त्योश्च भेद इत्याशयेनाहुः—पारेति। वै निर्धारे। तत् अनुक्षण-नवनव-विचित्रमाधुर्यशतजननमेव पारब्राह्म्यं परब्रह्मता, तथा यच्च पारमेष्ठ्यं परमेश्वरता तच्च तदेवेत्यर्थः। मधुरमधुरमिति लिङ्गव्यत्ययेनापि सर्वत्रान्वेति। मधुरमधुरत्वञ्च रूपविलासवैभवादिना सर्वेषामप्यूह्यम्; तथा भक्तेषु या प्रवरा श्रेष्ठतरा करूणा तस्या या प्रान्तसीमा परमान्त्यकाष्ठा तस्या यः प्रकाशः प्रकटनं स च एष एव; तथा तेषां भक्तानां या निविड़स्य सान्द्रस्य मधुरानन्दपूरस्यानुभूतिस्तस्या यान्त्यावस्था च चरमसीमा तस्याः प्रकृतिः स्वभाव उदिता उक्ता महद्भिः, सा तथैव। कीदृशी? धिक्कृतमधरीकृतं ब्राह्मसौख्यं ब्रह्मानुभवसुखं यया सा॥२१९॥

भावानुवाद—ब्रह्मतत्त्व और भगवत्‌तत्त्व, मुक्ति और भक्ति तथा मुक्त और भक्तके बीच भेद बतलानेके लिए 'पार' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'वै' शब्द निर्धारणके अर्थमें है। प्रतिक्षण नव-नव विचित्र सैकड़ों माधुरी प्रकट करना ही परब्रह्मता अर्थात् परब्रह्मका स्वभाव है। जो परमेश्वरता है, वह भी इसी प्रकार मधुरसे भी मधुर है। रूप-विलास-वैभवादि द्वारा जो मधुरसे भी सुमधुर हैं, वह सबके लिए गोपनीय हैं। तथा भक्तोंके प्रति उनकी श्रेष्ठतम करुणाकी चरम सीमाका प्रकटन भी इसी प्रकार मधुर है। उनके समस्त भक्त जिस

घन मधुरानन्दका अनुभव करते हैं, वह चरम सीमा प्राप्त अनुभूति भी परम मधुर है। उस सुखानुभूतिका स्वभाव कैसा है? इसके लिए कहते हैं—वह सुख ब्रह्मानुभव सुखको भी धिक्कृत करता है॥२१९॥

स्वभक्तानां तत्तद्विविधमधुरानन्दलहरी-
सदा-सम्पत्त्यर्थं बहुतरविशेषं वितनुते।
यथा स्वस्मिंस्तत्तत्प्रकृतिरहितेऽपि ध्रुवतरं
तथा तेषां चित्राखिलकरणवृत्त्यादिविभवम्॥२२०॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार श्रीभगवान् स्वभावतः प्रकृतिकी विशेषताओंसे रहित होकर तथा काल और देशादिकी सीमासे रहित होनेके कारण परम नित्य, अनेक अवतारोंका विस्तार करते हैं, उसी प्रकार अपने समस्त भक्तोंको विविध मधुर आनन्दलहरीका अनुभव करानेके लिए श्रवण-कीर्त्तनादिरूप अनेक विशेषताएँ विस्तार करते हैं॥२२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमर्थमेवं करोतीत्यपेक्षायां व्यक्तं तत्प्रयोजनं निर्दिशन्तः पूर्वोक्तमनुभवितुर्बहुधा प्रस्फुरणमेव सदृष्टान्तं प्रपञ्चयन्ति—स्वभक्तानामिति। सा सा परमानिर्वचनीया या विविधा मधुरानन्दस्य लहरी परम्परा, तस्याः सदा नैरन्तर्येण या सम्पत्तिः सम्पन्नता तदर्थं, स्वभक्तानां सच्चिदानन्दविग्रहत्वेनैकरूपाणामपि बहुतरं विशेषं श्रवण-कीर्त्तनादिपरतया भेदं वितनुते विस्तारयति। कीदृशम्? ध्रुवतरं परमनित्यम्। एवमनादित्वमनन्तत्वादिकञ्चोक्तम्। तथेति समुच्चये दार्ष्टान्तिकत्वे वा। तेषां भक्तानां याश्चित्रा विविधा अखिलकरणवृत्तयस्तदादीनां विभवं विभूतिं विस्तारमिति यावत्; आदिशब्देन आकारकान्तिविलासादि। ननु सदैकरूपतादिस्वभावकस्य वस्तुनोऽनेकरूपत्वादिविपर्ययः कथं सङ्गच्छताम्? न हि नित्योष्णत्वधर्मवतो वह्नेः कदापि शैत्यं घटेतेत्याशंक्य दृष्टान्तेनोपपादयन्ति—यथेति। तया नानाविशेषवत्तारूपया प्रकृत्या स्वभावेन रहितेऽपि स्वस्मिन् भगवति यथा ध्रुवतरं, कालदेशादि-परिच्छेदातीतत्वेन परमं नित्यं बहुतरविशेषं वितनुते तथेति। एतदुक्तं भवति—परब्रह्मरूपत्वेन स्वभावतो निर्विशेषस्यापि स्वस्य परमात्मादिरूपेण विचित्रावतारात्मतया निजांश-जीवत्वादिरूपेण च नानाविशेषं, तथा स्वभक्तेश्च श्रवण-कीर्त्तन-दर्शन-सम्भाषणालिङ्गनादि-विचित्रमधुर-प्रकारवर्गं तत्र च प्रत्येकं प्रतिक्षणं बहुविधविशेषं यथा श्रीभगवान् स्वभक्तानामेकरूपात्मतत्त्व-ब्रह्मानुभवसुखाधिकाधिक-सुखविशेषसम्पत्तये निजशक्तिविशेषेण नित्यनूतनतया अभिव्यञ्जयति, तथा सच्चिदानन्दघन-विग्रहत्वेनैक-रूपाणामपि स्वभक्तानां बाह्यन्तरकरणवृत्तिवैचित्री-निष्पादनेन विविध-विशेषशतं

तन्महासुखविशेषार्थं प्रकटयतीति। एवं भेदेऽप्यभेदोऽभेदेऽपि भेद एव सिद्धः; तथा मोक्षसुखमतितुच्छं, भक्तिसुखञ्च परमोत्कृष्टमनन्तञ्चेति च सिद्धमिति दिक्। अलमतिविस्तरेण॥२२०॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् किसलिए परम करुणाकी चरम सीमाका प्रकाश करते हैं? इस आकांक्षासे 'स्वभक्तानाम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उनके उद्देश्यको निर्देशकर पूर्वोक्त भक्तोंके प्रस्फुरणादिके विषयको दृष्टान्त सहित निर्धारित कर रहे हैं। वे परम अनिर्वचनीय श्रीभगवान् जिस प्रकार सदा एकरूपमें होकर भी काल-देशादिकी सीमासे रहित होनेके कारण अपने विचित्र अवतारोंको प्रकटकर अपनी विशेषता विस्तार करते हैं, उसी प्रकार अपने समस्त भक्तोंमें भी विविध आनन्दलहरीकी स्थिरता प्राप्त करानेके लिए श्रवण—कीर्त्तनादि रूप अनेक विशेषताएँ विस्तार करते हैं। तात्पर्य यह है कि भक्तोंका सच्चिदानन्द विग्रह होनेके कारण उन सबके एकरूप होने पर भी उनमें अनेक विशेषताएँ अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, वन्दनादिरूप विविध भक्तिके अङ्गोंके प्रति विशेष-विशेष आसक्तिवशतः भेद देखे जाते हैं। उन विशेषताओंका स्वभाव किस प्रकारका होता है? वह परम नित्य, अनादि और अनन्त होती हैं। विभिन्न भक्तोंकी अनेकों इन्द्रियवृत्तियाँ और उन वृत्तियोंका वैभव-विस्तारादि भी नित्य होता है। यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा आकार, कान्ति और विलासादिको समझना होगा।

यदि कहो कि जिस प्रकारसे स्वभावतः उष्ण-धर्म युक्त अग्निमें कभी भी शीतलता संघटित नहीं हो सकती। उसी प्रकार सर्वदा एकरूप स्वभाव युक्त वस्तुका अनेकरूपत्व विपरीत स्वभाव किस प्रकारसे संघटित हो सकता है? इस आशंकाको दूर करनेके लिए दृष्टान्तके द्वारा कह रहे हैं—जिस प्रकारसे श्रीभगवान् स्वभावतः नाना (प्राकृत) विशेषताओंसे रहित होकर तथा काल-देशादिकी सीमासे रहित होनेके कारण परम नित्य बहुत प्रकारकी विशेषताएँ विस्तार करते हैं। अथवा जिस प्रकार परब्रह्मरूपमें स्वभावतः विशेषता रहित होने पर भी परमात्मरूपमें विचित्र अवतार तथा निजांश जीवत्वरूपमें नाना-प्रकारकी विशेषताएँ प्रकट करते हैं। उसी प्रकार श्रीभगवान्

अपने भक्तोंके विषयमें भी श्रवण, कीर्त्तन, दर्शन, सम्भाषण और आलिङ्गनादि रूपमें विचित्र मधुर-मधुर भेद विस्तार करते हैं। फिर उन-उन भक्तिके अङ्गोंके प्रत्येक अङ्गमें ही प्रतिक्षणमें नाना-प्रकारके नव-नव विशेष रूपोंमें प्रत्येक भक्तके हृदयमें विराजमान रहते हैं। (जिस प्रकार श्रीशुकदेव कीर्त्तनमें, श्रीपरीक्षित श्रवणमें इत्यादि रूपोंमें भक्त हृदयमें अनुरागरूप कल्पलता नाना वैचित्री धारण करती है, अर्थात् इस प्रकारसे भक्तिके अनन्त विभागोंमें अनन्त वैचित्रीका समावेश रहता है।) यद्यपि इस प्रकारसे भक्तगण सच्चिदानन्द-विग्रह होनेके कारण सर्वदा एकरूप हैं, तथापि श्रीभगवान् अपने भक्तोंको विविध भावसे अनन्त माधुर्य आस्वादन करानेके लिए अर्थात् ब्रह्मसुखसे भी अधिकाधिक सुखविशेष आस्वादन करानेके लिए अपनी विशेषशक्ति द्वारा नित्य नये-नये सुखोंको प्रकट करते हैं। इसलिए भक्तोंकी समस्त बाह्य और अन्तरेन्द्रियाँ वैचित्री विस्तारकर विविध विशेषताओं अर्थात् सैकड़ों-सैकड़ों महासुखोंका आस्वादन करती हैं। इस प्रकारसे भेदमें भी अभेद और अभेदमें भी भेद सिद्ध हुआ है तथा मोक्षसुख अतितुच्छ और भक्तिसुख परमश्रेष्ठ और असीम है—यह भी सिद्ध हुआ है॥२२०॥

नित्यैश्वर्यो नित्यनानाविशेषो
नित्यश्रीको नित्यभृत्यप्रसंगः।
नित्योपास्तिर्नित्यलोकोऽवतु त्वां
नित्याद्वैतब्रह्मरूपोऽपि कृष्णः॥२२१॥

श्लोकानुवाद—नित्य अद्वैत ब्रह्मघन होने पर भी जिनकी श्रीमूर्त्ति नित्य ऐश्वर्ययुक्त है, जिनमें नित्य नाना-प्रकारकी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जिनके साथ श्री (लक्ष्मी) नित्य विलासमें अनुरक्त रहती हैं, जो नित्य अपने दासोंका भलीभाँति सङ्ग करते हैं, जिनकी उपासना नित्य है और जिनका धाम भी नित्य है, (हे गोपकुमार!) वे श्रीकृष्ण मुक्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषारूप विघ्नोंसे तुम्हारी रक्षा करें॥२२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—फलितनिरूपणेन प्रकरणमुपसंहरन्तः प्रष्टुर्हेतोरेव श्रीभगवद्भक्ति-माहात्म्यं कीर्त्तितमिति परमानन्देनाशिषं विदधति—नित्येति, नित्यं सदैव। अद्वैतं

यद्ब्रह्म तदेव रूपं श्रीमूर्त्तिर्यस्य; रूपवत्त्वादेव घनता सिद्धा; अतः परब्रह्ममयविग्रह इत्यर्थः। अपि यद्यपि सदा ईदृगेव, तथापि नित्यमैश्वर्यं यस्य सः, सदा अप्रच्युतैश्वर्यत्वात्; तथा नित्यो नाना बहुप्रकारकः सौन्दर्यकान्तिमाधुर्य-गुणलीलादि-भेदेन विशेषो यस्य सः, सदा अप्रच्युतभगवत्त्वात्। एतेन गुणलीलादीनामपि नित्यत्वमुक्तम्; तथा नित्या श्रीर्महालक्ष्मीर्महिषी रूपा यस्य सः, सदा लक्ष्मीलक्षित-वक्षःस्थलत्वात्; तथा नित्यो भृत्यैः सह प्रकृष्टः सङ्गो यस्य सः, नित्यैश्वर्यवत्त्वात्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। एतेन श्रीवैकुण्ठपार्षदानाम् अन्येषाञ्चसाधकानां, *'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'* (श्रीगी॰ ९/३१) इति श्रीभगवद्वचन-प्रामाण्येन नित्यतत्कृपानुवृत्त्या कदाचिदपि नाश-शंकाराहित्येन नित्यत्वं प्रतिपादितम्। नित्या उपास्तिर्भक्तिर्यस्य सः। एवं सदा सिद्धत्वेन श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तेरिन्द्रियव्यापाररूपत्वं निराकृतम्। केवलं भगवत्प्रसाद-तत्तदिन्द्रियवृत्तौ स्फूर्त्तिरेवाभिप्रेतेति ज्ञेयम्। एतच्चाग्रे विस्तरेण व्यक्तं भावि। नित्यो लोकः श्रीवैकुण्ठाख्यो यस्य सः कृष्णस्त्वामवतु, मुमुक्षादि-भक्तिविघ्नेभ्यो रक्षतु॥२२१॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे प्रश्नकर्त्ता गोपकुमारके अभिप्रेत अर्थ (फल)का निरूपणकर भक्ति-शास्त्र प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं। अर्थात् श्रीभगवान्की भक्तिके माहात्म्यका कीर्त्तनकर मूर्त्तिमान श्रीमद्भागवत आदि शास्त्र 'नित्य' इत्यादि श्लोक द्वारा परमानन्दके साथ (गोपकुमारको) आशीर्वाद दे रहे हैं। नित्य अद्वैत ब्रह्म श्रीभगवान्की श्रीमूर्त्ति हैं, अर्थात् घनरूप होनेके कारण श्रीभगवान् परब्रह्ममय-विग्रह होकर भी नित्य ऐश्वर्ययुक्त हैं; उनमें नित्य ही सौन्दर्य, कान्ति, माधुर्य, गुण और लीलादिके भेदसे बहुत प्रकारकी विशेषताएँ वर्त्तमान हैं, अर्थात् सदा स्थिर भगवत्ता हेतु उनमें गुण-लीलादि नित्य ही वर्त्तमान हैं; उनके वक्षःस्थल पर महिषी श्रीलक्ष्मी नित्य विलासमें रत हैं और वे नित्य ही सेवकोंके साथ विराजित रहते हैं। यहाँ 'नित्यभृत्यप्रसङ्ग'का अर्थ है—नित्य पार्षदोंका सङ्ग, इस विशेषण द्वारा वैकुण्ठ पार्षदोंकी भाँति समस्त साधक भक्तोंको भी समझना होगा। यह विचार श्रीगीता (९/३१)में भी उक्त है—"हे अर्जुन! तुम प्रतिज्ञाके साथ घोषणा करो कि मेरे भक्तोंके लिए पतनका भय नहीं है।" श्रीभगवान्के इस वचन द्वारा समस्त भक्तोंके प्रति श्रीभगवान्की नित्य कृपा प्रमाणित होती है। अतः कभी भी पतनकी आशंका उपस्थित नहीं होनेके कारण साधक भक्तोंकी भी नित्यता स्थापित हुई है।

श्रीभगवान्‌की उपासनामें श्रवण-कीर्त्तन आदिरूप भक्ति भी नित्य है। 'नित्य उपास्ति' इस विशेषणके द्वारा सूचित हुआ है कि श्रवण-कीर्त्तन आदिरूप उपासना प्राकृत इन्द्रियोंकी क्रिया नहीं है, अपितु यह केवल श्रीभगवान्‌की कृपा द्वारा ही उन-उन इन्द्रियोंकी वृत्तियों पर स्फुरित होती है। इस विषयमें आगे भलीभाँति वर्णन होगा। जिनका श्रीवैकुण्ठ नामक लोक भी नित्य है, वे श्रीकृष्ण मुक्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषारूप विघ्नोंसे तुम्हारी रक्षा करें॥२२१॥

महारसेऽस्मिन्नबुधैः प्रयुज्यते
सुकोमले कर्कशतर्ककण्टकम्।
तथापि निर्वाणरतप्रवृत्तये
नवीनभक्तप्रमुदे प्रदर्शितम्॥२२२॥

श्लोकानुवाद—पण्डितगण भगवद्भक्तिरूप सुकोमल महारसमें कर्कश तर्क-कण्टकका प्रयोग नहीं करते हैं। तथापि निर्वाणकी चेष्टामें रत नवीन भक्तोंके मोक्ष-कामनारूप दोषको दूर करनेके लिए तथा उनको आनन्द प्रदान करनेके लिए हमने सामान्यरूपमें तर्क-कण्टकका प्रयोग किया है॥२२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं यद्यपि मोक्षाधिक-भक्तिमाहात्म्यभरसिद्धौ प्रमाणचतुष्टयात्मका बहवो न्याया देदीप्यन्ते, तथाप्यत्राल्पानामेव तेषामवतारणे हेतुमाह—महेति। अस्मिन् भगवद्भक्तिरूपे महारसे विषये कर्कशस्तर्को, न्याय एव कण्टकं, कर्कशं तर्करूपकण्टकं वा, बुधैस्तद्रसतत्त्वविद्भिर्न प्रयुज्यते न समर्प्यते। कुतः? सुकोमले परमसुकमारे, अन्यथा परममूर्खतैव प्रसज्जेतेति भावः। रसकण्टकतान्यायेन सुखविशेषहान्यापत्तेः। तथापि दर्शितं तदेव। किमर्थम्? निर्वाणं सायुज्यमुक्तिस्तस्मिन् रतानाम् अस्मिन् महारस एव प्रवृत्तये। दृढ़युक्तिं विना मुक्तित्यागेन भक्तिमार्गे तेषां प्रवेशानुपपत्तेः। अतएव *'कण्टकं कण्टकेनैव'* इति न्यायेन हृदयलग्न-मोक्षकण्टकस्य तीक्ष्णतर्क-कण्टकेन विनोद्धरणघटना नेति दर्शितम्। साक्षादुपनीतमिति श्लेषेणोक्तम्। किञ्च, नवीनानां निष्ठामप्राप्तानां भक्तानां प्रकृष्टमुदेऽपि। मोक्षादिसकाशाद्भक्तिमाहात्म्यविशेष-श्रवणतोऽशेषसंशय-कण्टकोत्पाटनेन चित्तोल्लासभरोत्पत्त्या निरन्तरभक्तिसम्पत्तेः। कर्कशेत्यस्य चायमभिप्रायः—यथा द्वैतपरन्यायशास्त्रादौ प्रमाणचतुष्टयात्मिका बहुविधाः कर्कश-तर्कनिचया विद्यन्ते, तथाद्वैतपरवेदान्तशास्त्रेऽनुभवप्रमाणप्रधानत्वेन न किल वर्त्तन्ते, किन्तु कोमला अल्प एव सन्ति। एवं भक्तिपरशास्त्रेऽपि तदपेक्षया

सुकोमलाः स्वल्पा एव तत्तदभिनिवेशतश्चित्तविक्षेपेण भक्तिरसपरिपाक-विघातापत्तेः। अतो बुधैस्तत्राल्पतरा सुकोमलैव युक्तिः प्रयोक्तव्येति दिक्॥२२२॥

भावानुवाद—यद्यपि इस प्रकार मोक्षसे भी भक्तिकी महिमाकी अधिकता स्थापित करनेके लिए प्रमाण चतुष्टयात्मक (प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य तथा शब्द प्रमाण) बहुतसे न्याय देदीप्यमान हैं, तथापि यहाँ पर अल्पमात्रामें ही उनका प्रयोग किया गया है। इसका कारण है कि भक्तिरसके तत्त्वको जाननेवाले महात्मा भगवद्भक्तिरूप सुकोमल महारसमें तर्करूप कर्कश कण्टकका प्रयोग नहीं करते हैं। किसलिए प्रयोग नहीं करते हैं? परम सुकोमल विषयमें तर्क-कण्टकका प्रयोग करना परम मूर्खता ही है तथा 'रसकण्टकता' न्यायके अनुसार इससे सुखकी भी हानि होती है। तथापि किञ्चित्‌रूपमें तर्क प्रदर्शित हुए हैं। किसलिए? अपक्व बुद्धिवाले नवीन साधकोंके निर्वाणरूप (सायुज्य) मोक्षके अनुरागको दूर करनेके लिए, क्योंकि दृढ़युक्तिके बिना उनकी मुक्तिवासना दूर नहीं होगी और मुक्तिवासनाका त्याग किये बिना भक्ति पथमें प्रवेश प्राप्त नहीं होगा। अतएव 'कण्टक कण्टकेनैव' न्यायानुसार उनके हृदयमें लगे हुए मोक्ष-कण्टकको निकालनेके लिए तीक्ष्ण तर्क-कण्टकका प्रयोग किया गया है। जिन समस्त नवीन भक्तोंने अभी तक निष्ठा प्राप्त नहीं की है, उनको प्रचुर आनन्दित करनेके लिए भी इस तर्क-कण्टकका प्रयोग किया है। इस प्रकार मोक्षसे भी भक्तिकी अधिक महिमा श्रवण करनेसे उनके हृदयसे अगणित संशयरूप कण्टक समूल निकल जायेगा तथा उनके चित्तमें अत्यधिक उल्लास उत्पन्न होगा, जिसके फलस्वरूप उनकी भक्तिसम्पत्तिकी निरन्तर वृद्धि होगी।

इस विषयमें अभिप्राय है कि द्वैतपर न्यायादि शास्त्रोंमें प्रमाण चतुष्टयात्मक बहुतसे कर्कश तर्क हैं। तथा अद्वैतपर वेदान्त शास्त्रोंमें अनुभव प्रमाणोंकी प्रधानता हेतु उनमें बहुतसे कर्कश तर्क नहीं हैं, किन्तु थोड़ेसे कोमल तर्क हैं। परन्तु भक्तिशास्त्रोंमें अद्वैतपर वेदान्त-शास्त्रोंसे भी सुकोमल और अल्पमात्र तर्क होनेके कारण इन समस्त तर्कोंमें चित्तके निमग्न होते ही चित्त विक्षिप्त हो जाता है और भक्तिरसकी परिपक्वताके सम्बन्धमें विघ्न उपस्थित होता है। इसीलिए विवेकीजन

अल्पमात्र सुकोमल युक्ति द्वारा भक्तिसिद्धान्तका निरूपण करते हैं॥२२२॥

भवांस्तु यदि मोक्षस्य तुच्छत्वानुभवेन हि।
विशुद्धभगवद्भक्ति–निष्ठा–सम्पत्तिमिच्छति ॥२२३॥
तदा निजं महामन्त्रं तमेव भजतां परम्।
अत्रापीदं महागूढ़ं शृणोतु हृदयङ्गमम्॥२२४॥

श्लोकानुवाद—(हे गोपकुमार!) यदि तुम मोक्षकी तुच्छताको अनुभव करते हो तथा विशुद्ध भगवद्भक्तिमें निष्ठारूप सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो अपने उस महामन्त्रका ही परमानुरागके साथ जप करो। तथा अभी इस महागूढ़ रहस्यको श्रवणकर हृदयमें धारण करो॥२२३–२२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं बहवो मोक्षस्य परमफल्गुतामनुभूय तं दूरे परिहृत्य भक्तिपरा वृत्ताः सन्ति। भवांस्तु मोक्षस्य यत्तुच्छत्वं, तस्यानुभवेनैव। हि निर्द्धारे। विशुद्धायाः प्रेमलक्षणाया भगवद्भक्तेर्या निष्ठा परमकाष्ठा तदेकपरता वा, तस्याः सम्पत्तिं सम्पन्नतां वैभवं वा यदीच्छति, तदा तं महापुरुषोपदिष्टं सकलमनोरथसाधकं निजमात्मोपास्यमानं महामन्त्रमेव परं केवलं भजतामिति सार्द्धेनान्वयः। अयमर्थः—यद्यपि महतां व्यवहारो वचनञ्च सर्वथा प्रमाणमेव, तथाप्यनुभवं विना तत्तत्त्वज्ञानं सम्यङ् न जायते, न च तद्विना दूरतो हेयपरिहारेण एकान्तितया प्रेमभक्तिः सम्पद्यते। अतस्तदनुभवाय मुक्तिपदं गन्तुं निजमन्त्रमेव श्रद्धया जप, तेनैव तत्सिद्धि–र्भवितेति॥२२३॥

तत्र मोक्षतत्त्वानुभवेऽपि इदं वक्ष्यमाणं हृदयङ्गमम् मनोरमम्, न तु मोक्षपद–सम्बन्धेन भक्तिपराणां भवादृशामप्रियमित्यर्थः॥२२४॥

भावानुवाद—इस प्रकार बहुतसे भाग्यवान मोक्षकी परम फल्गुता (तुच्छता) अनुभवकर उसे दूरसे ही त्यागकर शुद्ध भक्तिमें अनुरक्त हुए हैं। यदि तुम भी मोक्षकी तुच्छता अनुभव करते हो और विशुद्ध प्रेम–लक्षणयुक्त भगवद्भक्तिकी निष्ठा अर्थात् चरम सीमा या एकान्तिकता और उस प्रेम सम्पत्तिको प्राप्त करना चाहते हो, तब महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट समस्त मनोरथ–साधक अपने उपास्यमान केवल उस महामन्त्रका ही जप करो। तात्पर्य यह है कि यद्यपि महाजनोंका

आचरण और उपदेश सर्वदा प्रमाण हैं, तथापि स्वयं अनुभव किये बिना उसका तत्त्वज्ञान भलीभाँति अवगत नहीं होता है, न ही उसके बिना हेयवस्तुको त्याग करनेमें दृढ़ता उत्पन्न होती है तथा एकान्तभावसे प्रेमभक्तिमें निष्ठा भी प्राप्त नहीं होती है। अतएव उस अनुभवके लिए मुक्तिपदमें गमन करो तथा अपने मन्त्रका श्रद्धापूर्वक जप करो। इसके द्वारा मन्त्रकी सिद्धि होगी।

अभी इस मोक्षतत्त्वको अनुभव करनेके लिए कहे जानेवाले इस मनोरम महारहस्यको हृदयमें धारण करो। यद्यपि यह मोक्ष सम्बन्धीय है, तथापि तुम्हारे समान भक्तिमें अनुरक्त व्यक्तिके लिए अप्रिय नहीं होगा॥२२३–२२४॥

ब्रह्माण्डात् कोटिपञ्चाशद्योजनप्रमिताद्बहिः।
यथोत्तरं दशगुणान्यष्टावावरणानि हि॥२२५॥

श्लोकानुवाद—पचास करोड़ योजन परिमाणवाले इस ब्रह्माण्डके बाहर आठ आवरण हैं जिनमें प्रत्येक आवरण पिछले आवरणसे दस गुणा विराट है॥२२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं? तदाह—ब्रह्माण्डादिति पञ्चभिः। अष्टौ पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशाहंकार-महत्तत्त्व-प्रधानानीति कारणरूपाणि ब्रह्माण्डाद्बहिः सन्ति। केचिच्च अण्डकटाहस्यैव पृथिव्यावरणत्वं मत्वा सप्तान्यावरणानि वदन्ति, तच्चासङ्गतमिव। तस्य ब्रह्माण्डदशगुणत्वेन पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तारासम्भवात्, पार्थिवविकारत्वेन कारणरूपता-राहित्याच्चेति दिक्॥२२५॥

भावानुवाद—मोक्षतत्त्वके विषयमें वह महारहस्य किस प्रकारका है? इसके लिए 'ब्रह्माण्डात्' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। इस ब्रह्माण्डके बाहर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महतत्त्व और प्रधान—कारणरूप इन आठ आवरणोंके बाद वह मुक्तिपद है। यद्यपि कोई-कोई ब्रह्माण्डके आवरणको ही पृथ्वीका आवरण मानकर सप्तावरणकी कल्पना करते हैं, किन्तु वह सङ्गत नहीं है। इसका कारण है कि पूर्वोक्त नियमानुसार पृथ्वीका आवरण ब्रह्माण्डसे दस गुण होना चाहिए, अतः यदि ब्रह्माण्ड और पृथ्वीका आवरण एक हो

जाय अर्थात् दोनोंका विस्तार पचास करोड़ योजन हो जाय तो विरोध उपस्थित होगा। विशेषतः तब पृथ्वीका विकार ब्रह्माण्डका कारण किस प्रकार होगा?॥२२५॥

तान्यतिक्रम्य लभ्येत तन्निर्वाणपदं ध्रुवम्।
महाकालपुराख्यं यत् कार्यकारणकालनात्॥२२६॥

श्लोकानुवाद—उन आठ आवरणोंको पार करने पर उस निश्चल निर्वाणपदको प्राप्त किया जाता है। उस मुक्तिपदमें कार्य-कारणका विलोप हो जाता है, इसलिए उसे महाकालपुर भी कहा जाता है॥२२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् सुप्रसिद्धं द्वारकावासि-विप्रकुमारानयनायार्जुनेन सह श्रीभगवद्गमनात्। निर्वाणस्य सायुज्य-मोक्षस्य; पदं स्वरूपं स्थानं वा। यद्यपि मोक्षस्य परमार्थविचारेण देशनियमो नास्ति, तथापि प्रपञ्चातीतत्वेन तत्तदावरणादिस्थानतो बाह्यत्वापेक्षया कल्प्यते। एवमग्रेऽन्यदप्यूह्यम्। ध्रुवमिति प्रपञ्चातीततयाऽनश्वरत्वात्। महाकालपुरमिति आख्या नाम यस्य तत्। तत्र हेतुं निर्दिशन्तो निरुक्तिं दर्शयन्ति—कार्य-कारणानां स्थूल-सूक्ष्माणां; यद्वा, कार्याणां देहेन्द्रियादीनां, कारणानां महाभूतादीनां कालनात् निर्वाणेनात्यन्त-विलोपनात्॥२२६॥

भावानुवाद—उन आठ आवरणोंको भेद करनेसे निर्वाण (सायुज्य) मोक्षपद प्राप्त किया जाता है। शास्त्रमें ऐसा सुप्रसिद्धरूपमें वर्णित है कि द्वारकावासी-विप्रकुमारको लानेके लिए अर्जुनके साथ श्रीभगवान् उस मुक्तिपदमें गये थे। यद्यपि परमार्थ विचारसे उस मोक्षका कोई निर्दिष्ट स्थान अथवा सीमा नहीं है, तथापि प्रपञ्चातीत होनेके कारण उन आवरणोंके बाहर ही मोक्षके लिए स्थान कल्पित होता है। ऐसा सिद्धान्त उन समस्त स्थानोंके लिए भी जानना होगा जहाँ गोपकुमार जायेंगे। यह मोक्षपद प्रपञ्चातीत होनेके कारण अनश्वर और निश्चल है, इसे महाकालपुरके नामसे भी जाना जाता है। इसका कारण है कि कार्य और कारण क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म हैं, अथवा कार्यरूप देह और इन्द्रियाँ तथा कारणरूप महाभूत आदिका अत्यन्त विलोप या निर्वाण होनेके कारण इस पदको महाकालपुर कहा जाता है॥२२६॥

तत् स्वरूपमनिर्वाच्यं कथञ्चिद्वर्ण्यते बुधैः।
साकारञ्च निराकारं यथामत्यनुसारतः॥२२७॥

श्लोकानुवाद—महाकाल पुरुषका स्वरूप अनिर्वचनीय होने पर भी पण्डितगण उसका कुछ-कुछ वर्णन करते हैं। किन्तु अपने-अपने मतानुसार कोई उसको साकार और कोई निराकार वर्णन करते हैं॥२२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अनिर्वाच्यं वाचामगोचरत्वात्। कथञ्चित् *'न शीतं न चोष्णं सुवर्णावदातं प्रसन्नं सदानन्दसम्वित्स्वरूपम्'* इत्यादिना केनापि प्रकारेण बुधैस्तत्त्वविद्भिर्वर्ण्यते। केवलं ज्ञानेनैव तत्र च निजमत्यनुसारेणानुभूयत इत्याहुः—तत् साकारमाकृतियुक्तम्। तदुक्तमर्जुनेन हरिवंशे—*'ततस्तेजः प्रज्वलितमपश्यं तत्तदाम्बरे। सर्वलोकं समाविश्य स्थितं पुरुषविग्रहम्॥'* इति निराकारञ्च निर्वाणपदस्वरूपत्वात्। यथामतीत्यस्यायमर्थः—पुरुषाकारमपि तत् केवलशुष्कज्ञानपरैर्निराकारमेव दृश्यते, भगवदुपासकैश्च साकारमेवेति॥२२७॥

भावानुवाद—महाकाल पुरुषका स्वरूप वचनसे अतीत है। वह उष्ण भी नहीं है और शीतल भी नहीं है, तथापि स्वर्णकी भाँति तेजोमय सदानन्द-सम्वित् स्वरूप इत्यादि किसी प्रकारसे उनका स्वरूप वर्णन किया जाता है। केवल ज्ञानके द्वारा यथार्थ स्वरूप अनुभव नहीं होता, इसलिए कोई-कोई पण्डितगण अपनी-अपनी मतिके अनुसार अनुभवकर उसे साकार आकृति युक्त कहते हैं। जैसा कि हरिवंशमें अर्जुनका वाक्य है—"घन अन्धकारके परे प्रज्वलित तेजोमय पुरुषाकार विग्रह समस्त लोकोंको व्याप्तकर अवस्थान करता है।" कोई-कोई निर्वाण पदस्वरूपको निराकार कहकर वर्णन करते हैं। यहाँ 'यथामति' कहनेका उद्देश्य है कि वह पुरुषाकार होने पर भी केवल शुष्कज्ञानमें अनुरक्त जनोंके लिए निराकारकी भाँति प्रतीत होते हैं। किन्तु भगवान्के उपासकोंने साकार कहकर ही उनका स्वरूप निर्णय किया है॥२२७॥

भगवत्सेवकैस्तत्र गतैश्च स्वेच्छया परम्।
हृद्याकारं घनीभूतं ब्रह्मरूपं तदीक्ष्यते॥२२८॥

श्लोकानुवाद—यदि भगवान्के सेवक कदापि स्वेच्छापूर्वक उस मोक्षपदमें गमन करते हैं, तथापि वह उस मोक्षपदको अपने हृदयके अनुरूप घनीभूत ब्रह्मरूपमें ही देखते हैं॥२२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृण्वन्ति—भगवदिति। तत्र पदे गतैरपि भगवतः सेवकैस्तत् पदं हृद्याकारं परं केवलमीक्ष्यते साक्षादनुभूयते। स्वेच्छयेति—तत्र गमने तेषां कारणान्तराभावं द्योतयति; यद्वा, स्वस्य इच्छया भगवद्दर्शनविषयकया वाञ्छया हेतुना तथा दृश्यत इत्यन्वयः। कीदृशम्? घनीभूतं यद्ब्रह्म तत्स्वरूपम्॥२२८॥

भावानुवाद—'भगवत्' इत्यादि श्लोकमें उन महाकाल पुरुषका साकारत्व वर्णित हुआ है—भगवान्के सेवक उस मोक्षपदमें गमन करने पर भी उक्त मोक्षपदको अपने हृदयके अनुरूप मनोहर रूपमें ही साक्षात् अनुभव करते हैं। वे किसलिए वहाँ जाते हैं? स्वेच्छापूर्वक, क्योंकि वास्तवमें इसके अलावा उनके वहाँ जानेका अन्य कोई कारण नहीं देखा जाता है। अथवा स्वेच्छासे भगवान्के दर्शनकी वासना हेतु वहाँ घनीभूत ब्रह्मरूपका निरीक्षण करने जाते हैं॥२२८॥

अतस्तत्रापि भवतो दीर्घवाञ्छा–महाफलम्।
साक्षात् सम्पत्स्यते स्वीयमहामन्त्र–प्रभावतः॥२२९॥

श्लोकानुवाद—अतएव तुम दीर्घकालसे जिस महाफलको पानेकी वाञ्छा कर रहे हो, अपने महामन्त्रके प्रभावसे वह सम्पत्ति साक्षात् प्राप्त करोगे॥२२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—दीर्घा चिरकालीना या वाञ्छा भगवद्दिदृक्षा तस्या महाफलं तत् सन्दर्शनरूपम्। ननु ईदृशी श्रीभगवत्सेवकता मम कुतो वर्तेत, यया तत्रापि तथा फलिष्यतीत्यत आहुः—महामन्त्रस्य श्रीमदनगोपालदैवतस्य दशाक्षरस्य तस्यैव प्रभावत इति॥२२९॥

भावानुवाद—तुम बहुतकालसे जो भगवान्के दर्शनकी वाञ्छा कर रहे हो, वह महाफल प्राप्त करोगे। यदि आपत्ति हो कि मुझमें ऐसी सेवा-वृत्ति ही कहाँ है जिसके फलसे उन भगवान्के दर्शन प्राप्त होंगे? इसके लिए कहते हैं कि श्रीमदनगोपालदेवके दशाक्षर महामन्त्रके जपके प्रभावसे ही तुम उस महान फलको साक्षात् प्राप्त करोगे॥२२९॥

बहुकालविलम्बञ्च भवान्नापेक्षतेऽत्र चेत्।
तदा श्रीमथुरायास्तां व्रजभूमिं निजां व्रज॥२३०॥

श्लोकानुवाद—यदि तुम उस फलको प्राप्त करनेमें दीर्घकालका विलम्ब नहीं करना चाहते हो, तब इसी समय श्रीमथुरा-मण्डलरूपी अपनी व्रजभूमिमें चले जाओ॥२३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यदि चेदानीमेव त्वरया तत्पदप्राप्तावौत्सुक्यं भवतः स्यात्तदा तत्साधनाय श्रीमाथुर-व्रजभूमिमेव गच्छेत्याहुः—बहुकालेति। तां परममनोहराम्; निजामिति तत्सम्बन्धेन परमभाग्यवत्तां सूचयन्ति। अयमर्थः—ब्रह्मलोकगतानां मध्ये रागिणां पुनरावृत्तिर्विरक्तानाञ्च महाप्रलये ब्रह्मणा सह मुक्तिः। स कालश्च द्विपरार्धान्ते सत्येव भावी। अतस्तेन प्रकारेण कालविलम्बो महानेव स्यात्; तदर्थं वास्मिन् ब्रह्मलोक एवानुष्ठानं क्रियताम्। तच्च पारमैश्वर्यभोगादिसम्बन्धेनात्र शीघ्रं न सम्यक् सिध्यति; अतोऽचिरेणाशेष-मनोरथपरिपूरणीं निजप्रियतमां श्रीवृन्दावन-गोवर्धनादि-भगवत्क्रीड़ाभूमिं याहीति॥२३०॥

भावानुवाद—यदि तुम शीघ्र ही उस मुक्तिपदको पानेके लिए उत्सुक हो, तब उसके साधनके लिए अभी श्रीमाथुर-व्रजभूमिमें चले जाओ। वह व्रजभूमि परम मनोहर है, उसके सम्बन्धसे ही तुम परम सौभाग्यवान रूपमें परिचित हुए हो। वहाँ शीघ्र ही जानेका कारण है कि जिन्होंने ब्रह्मलोकमें गमन किया है तथा उनमें से जो भोगोंमें अनुरक्त होते हैं, वे पुनः लौटकर आते हैं। किन्तु जो विरक्त होते हैं, वे महाप्रलयके समय ब्रह्माके साथ मुक्ति प्राप्त करते हैं। द्विपरार्द्धकालके अन्त होने पर महाप्रलय होता है। अतएव महाप्रलय तक इंतजार करनेसे बहुत विलम्बसे मोक्ष प्राप्त होगा। अर्थात् यदि इस ब्रह्मपदको प्राप्तकरके मुक्ति प्राप्त करनेका अनुष्ठान करोगे, तो इस ब्रह्मलोकके परमैश्वर्यको भोग करनेके कारण वह शीघ्र प्राप्त नहीं होगी। अतएव तुम शीघ्र ही अनन्त प्रकारके मनोरथोंको परिपूर्ण करनेवाली अपनी प्रियतम उस श्रीवृन्दावन-गोवर्धनादि भगवान्की क्रीड़ाभूमिमें गमन करो॥२३०॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तेषामेतैर्वचोभिर्मे भक्तिर्वृद्धिं गता प्रभौ।
विचारश्चैष हृदयेऽजनि माथुर-भूसुर॥२३१॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—वेद-पुराणादिके इन वचनोंको श्रवणकर श्रीभगवान्‌में मेरी भक्ति और भी वर्द्धित हो गयी। हे माथुर विप्र! तब मेरे हृदयमें ऐसा विचार उपस्थित हुआ कि—॥२३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैरेतादृशैर्भगवद्भक्ति-माहात्म्यप्रतिपादकैर्वचोभिर्हेतुभिः प्रभौ भगवति भक्तिर्वृद्धिं गता॥२३१॥

भावानुवाद—श्रीमद्भागवतादि समस्त शास्त्रोंके भगवद्भक्ति माहात्म्य प्रतिपादक वचनोंको श्रवणकर श्रीभगवान्‌के प्रति मेरी भक्ति और भी वर्द्धित हो गई॥२३१॥

भक्तिर्यस्येदृशी सोऽत्र साक्षात् प्राप्तो मया पिता।
तं परित्यज्य गन्तव्यमन्यत्र वत किं कृते॥२३२॥

श्लोकानुवाद—समस्त शास्त्र जिनके प्रति ऐसी भक्ति प्रदर्शन करनेका साक्षात् उपदेश दे रहे हैं, किन्तु मैंने तो उन प्रभुको साक्षात् पिता स्वरूपमें प्राप्त किया है। अतः उन्हें छोड़कर किसलिए किसी अन्य स्थान पर जाऊँ?॥२३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—विचारमेवाह—भक्तिरिति। ईदृशी मुक्तिदासिका परमा-निर्वचनीयानन्दविशेषरूपा। पितेति तत्र च पितृतया प्राप्त इत्यर्थः, परमस्नेहेन लालनादिकरणात्। वत खेदे। किं कृते किमर्थम्॥२३२॥

भावानुवाद—किन्तु, मैंने मन-ही-मन विचार किया कि समस्त शास्त्रोंने जिन श्रीभगवान्‌के प्रति ऐसी भक्ति करनेका आदेश दिया है तथा परम-अनिर्वचनीय आनन्द-विशेषरूपा मुक्ति भी जिन प्रभुकी सेविका है, मैंने साक्षात् उन प्रभुको पिता रूपमें प्राप्त किया है और वे भी पिताकी भाँति परमस्नेह पूर्वक मेरा लालनादि करते हैं। हाय! उन भगवान्‌को परित्यागकर किसलिए अन्य किसी स्थान पर गमन करूँ?॥२३२॥

इत्थमुद्विग्नचित्तं मां भगवान् स कृपाकरः।
सर्वान्तरात्म-वृत्तिज्ञः समादिशदिदं स्वयम्॥२३३॥

श्लोकानुवाद—ऐसी चिन्ता करते-करते मैं बहुत उद्विग्न हो गया, किन्तु सर्व-अन्तर्यामी उन भगवान्‌ने कृपापूर्वक स्वयं मुझे इस प्रकार आदेश दिया॥२३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं श्रीमाथुरव्रजभू-गमनेच्छया श्रीभगवत्परित्यागाशक्त्या च उद्विग्नं क्षुभितं चित्तं यस्य तम्। स महापुरुषरूपो ब्रह्मलोकाधिष्ठाता सर्वेषां सर्वां वा अन्तरात्मनश्चित्तस्य वृत्तिं जानातीति तथा सः। इदं वक्ष्यमाणः स्वयं साक्षात् श्रीमुखेनैव समादिशत्॥२३३॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीमाथुर-व्रजभूमि जानेके लिए इच्छुक होने पर भी किस प्रकारसे श्रीभगवान्का परित्याग सम्भव होगा, इस चिन्तासे मैं बहुत उद्विग्न हो गया। किन्तु, उस ब्रह्मलोकके अधिष्ठाता महापुरुष सबकी अन्तरात्माको जाननेवाले हैं, इसलिए उन्होंने साक्षात् अपने श्रीमुख द्वारा मुझे आदेश दिया॥२३३॥

श्रीभगवानुवाच—

निज-प्रियतमां याहि माथुरीं तां व्रज-क्षितिम्।
तत्तन्मत्परमक्रीड़ा-स्थल्यावलिविभूषिताम् ॥२३४॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—तुम मेरी प्रियतम माथुर-व्रजभूमिमें गमन करो, वह भूमि मेरी सर्वश्रेष्ठ क्रीड़ास्थलियों द्वारा विभूषित है॥२३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किम्? तदाह—निजेति षड्भिः। तास्ताः परमानिर्वचनीयाः परमप्रसिद्धा वा या मम परमा उत्कृष्टाः क्रीड़ा रासाद्यास्तासां याः स्थल्यः स्थलानि तासामावलीभिः श्रेणीभिर्विभूषिताम्। अनेन ब्रह्मलोकात् परमोत्कर्षो दर्शितः॥२३४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने क्या आदेश दिया? इसके लिए 'निज-प्रियतमां' इत्यादि छह श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्ने कहा कि तुम उस माथुर-व्रजभूमिमें गमन करो जो परम-अनिर्वचनीय, परमप्रसिद्ध और परमश्रेष्ठ रासादि क्रीड़ास्थलियों द्वारा विभूषित है। इसके द्वारा व्रजभूमिकी ब्रह्मलोकसे भी अत्यधिक श्रेष्ठता प्रदर्शित हुई है॥२३४॥

यस्यां श्रीब्रह्मणाप्यात्म-तृणजन्माभियाच्यते।
परिवृत्तेऽपि या दीर्घकाले राजति तादृशी॥२३५॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने भी उस व्रजभूमिमें तृणरूपमें जन्म प्राप्त करनेकी प्रार्थना की थी। दीर्घकाल बीत जाने पर भी व्रजभूमि पहलेकी भाँति सौन्दर्यशालिनी रूपमें ही विराजित है॥२३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वीदृशं पारमेष्ठ्यं पदं प्राप्य तत्रापि साक्षादत्र प्राप्तं त्वां विहाय कथम् अन्यत्र गमिष्यामि? सत्यमेतत्, किन्तु स्थानविशेषे मत्सन्दर्शनानन्दविशेषाय गमनमुचितं स्यादित्याशयेनाह—यस्यामिति पञ्चभिः। व्रजभूमौ आत्मनस्तृणरूपजन्म श्रीब्रह्मणापि प्रार्थ्यते। अतः पारमेष्ठ्यादपि तस्यां वासः श्रेयानिति भावः। ननु तत्र बहुकालात्ययेन वैरूप्यादिप्राप्त्या सा भूमिरधुना न नूनं मनःप्रीतिकरी भवितेति चेत्तत्राह—परीति। यादृशी त्वया पूर्वं दृष्टास्ति तादृश्येव। एवं कालकृतविकाराद्यभावेन ब्रह्मलोकात्तस्य विशेषान्तरं दर्शितम्॥२३५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मैंने ऐसा पारमेष्ठीपद (ब्रह्माका पद) प्राप्त किया है और विशेषकर साक्षात्‌रूपमें आपकी सेवा प्राप्त की है, अतः इसे त्यागकर किसलिए अन्यत्र गमन करूँ? इसके उत्तरमें कहते हैं—तुम सत्य कह रहे हो, किन्तु स्थान विशेषमें मेरा दर्शनका आनन्द भी विशेष होता है, अतएव व्रजभूमिमें गमन करना ही उचित है। इसीलिए श्रीब्रह्माने भी व्रजभूमिमें तृणरूपमें जन्मप्राप्त करनेकी प्रार्थना की थी। अतएव परमेष्ठीपदमें रहनेकी अपेक्षा व्रजमें वास करना ही परम उपकारी है। यदि कहो कि बहुत समयके बाद जाने पर विरूपताके कारण उस व्रजभूमिकी शोभा नष्ट हो गयी होगी, इसलिए वह स्थान मनको प्रीतिकर नहीं हो सकता है। इसके लिए कहते हैं—ऐसी आशंका मत करो, बहुतकाल बीत जाने पर भी व्रजभूमि वैसी ही है। अर्थात् पहले जिस रूपमें देखी थी, उसी रूपमें चिर सौन्दर्यशालिनी ही है। इसका कारण है कि वहाँ पर कालका विकार नहीं है, इसलिए व्रजभूमिका ब्रह्मलोकसे भी अधिक वैशिष्ट्य प्रदर्शित होता है॥२३५॥

तत्र मत्परमप्रेष्ठं लप्स्यसे स्वगुरुं पुनः।
सर्वं तस्यैव कृपया नितरां ज्ञास्यसि स्वयम्॥२३६॥

श्लोकानुवाद—वहाँ पर तुम मेरे परमप्रिय अपने गुरुदेवसे पुनः मिलोगे और उनकी कृपासे समस्त तत्त्वोंसे अवगत हो जाओगे॥२३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु साक्षादत्र त्वमेव विराजसे, कर्त्तव्यमशेषं त्वत्प्रसादाद्‌-विजानीयां, तत्र च कोऽपि मदवलम्बो नास्तीति चेत्तत्राह—तत्रेति। व्रजभूमौ मत्परमप्रेष्ठमिति स्वस्मादपि स्वभक्तानामधिकमहिम्नोऽभिप्रायेण मत्तोऽपि तस्मादधिकं ज्ञास्यतीति भावः। अतएवोक्तं—'सर्वं', 'नितरां', 'स्वयम्' इति॥२३६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि आप यहाँ पर साक्षात् रूपमें विराजमान हैं और मैं अपने असीम कर्त्तव्योंको आपकी कृपासे जानकर पालन कर रहा हूँ, किन्तु वहाँ पर मेरा कोई आश्रय नहीं है। इसके लिए 'तत्र' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस व्रजभूमिमें तुम मेरे परमप्रिय, अर्थात् अपने गुरुदेवसे पुनः मिलोगे और उनकी कृपासे स्वयं ही समस्त तत्त्वोंसे अवगत हो जाओगे। अपनेसे भी अधिक अपने भक्तकी महिमा होनेके अभिप्रायसे यहाँ पर श्रीभगवान् द्वारा 'परमप्रेष्ठ' शब्द प्रयोग किया गया है, अर्थात् 'मेरी' तुलनामें उन गुरुकी कृपासे कहीं अधिक तत्त्वोंसे अवगत होओगे। अतएव 'सर्वं—समस्त, नितरां—पूर्णता, स्वयम्'—अपने-आप,—ये तीन शब्द गुरु-कृपाका वैशिष्ट्य सूचित करते हैं॥२३६॥

महाकालपुरे सम्यग्मामेव द्रक्ष्यसि द्रुतम्।
तत्रापि परमानन्दं प्राप्स्यसि स्व-मनोरमम्॥२३७॥

श्लोकानुवाद—फिर, शीघ्र ही महाकालपुरमें पुनः मेरे दर्शन प्राप्त करोगे और वहाँ पर यहाँसे भी प्रचुरमात्रामें अपने मनोरथ परिपूरक परमानन्दको प्राप्त करोगे॥२३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च महाकालपुराख्ये मुक्तिपदे मामेव, न तु मद्भिन्नं कमपि द्रुतं द्रक्ष्यसि। तत्रापि तव दर्शनं, तत्रापि तथैवेति विशेषाभावात्। किं तत्र गमनप्रयासेन? तत्राह—सम्यगिति। इतोऽपि तत्र साधुप्रकारेण द्रक्ष्यसीत्यर्थः। अतस्तत्र मुक्तिपदेऽपि परमितोऽप्युत्कृष्टमतएव स्वस्य तव मनोरमं चित्तपरिपूरकमानन्दं प्राप्स्यसि॥२३७॥

भावानुवाद—उसके पश्चात् शीघ्र ही उस महाकालपुर नामक मुक्तिपदमें मेरी अभिन्न किसी एक मूर्त्तिका दर्शन प्राप्त करोगे। यदि कहो कि यहाँ अर्थात् ब्रह्मलोकमें तथा वहाँ अर्थात् महाकालपुरमें होनेवाले आपके दर्शनमें जब कोई विशेषता नहीं है, तब किसलिए वहाँ जानेका कष्ट स्वीकार करूँ? इसके लिए कहते हैं—यद्यपि यहाँसे भी उस स्थानकी महिमाका उत्तमरूपमें दर्शन होता है, तथापि वहाँ जाकर भलीभाँति उसका दर्शन करो। इसके अलावा मुक्तिपदमें इस स्थानसे भी प्रचुर परिमाणमें चित्त-परिपूरक परमश्रेष्ठ आनन्द प्राप्त होगा॥२३७॥

मत्प्रसाद–प्रभावेण यथाकाममितस्ततः।
भ्रमित्वा परमाश्चर्य–शतान्यनुभविष्यसि॥२३८॥

श्लोकानुवाद—मेरी कृपाके प्रभावसे इच्छानुसार इधर–उधर भ्रमण कर सैकड़ों परमाश्चर्योंको अनुभव करोगे॥२३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीवृन्दावनमध्ये त्वया सह विचित्रक्रीड़यैव मनोरमानन्दः स्यादिति चेत् सत्यं, सोऽपि यथाकालं सम्पत्स्यत इत्याह—मदिति द्वाभ्याम्। इतस्ततः अष्टावरण–मुक्तिपद–श्रीवैकुण्ठलोकादौ यथाकामं निजेच्छानुसारेण भ्रमित्वा॥२३८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीवृन्दावनमें आपके साथ विचित्र क्रीड़ा ही मेरा अभीष्ट है अर्थात् मनोरम आनन्दप्रद है। इसके उत्तरमें कहते हैं—सत्य, वह भी यथासमय पर प्राप्त होगा। अभी मेरी कृपासे इधर–उधर इच्छानुसार भ्रमणकर अर्थात् अष्टावरण भेदकर मुक्तिपद और श्रीवैकुण्ठलोकादि भ्रमणकर सैकड़ों परमाश्चर्य अनुभव करो॥२३८॥

कालेन कियता पुत्र परिपूर्णाखिलार्थकः।
वृन्दावने मया सार्द्धं क्रीड़िष्यसि निजेच्छया॥२३९॥

श्लोकानुवाद—हे पुत्र! कुछ कालके उपरान्त ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा और तुम वृन्दावनमें मेरे साथ अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करोगे॥२३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—कियता? अल्पेनैवेत्यर्थः। हे पुत्रेति स्नेहविशेषं व्यञ्जयति प्रतिज्ञातार्थ–सत्यताबोधनाय। परिपूर्णा अखिला अर्थाः फलानि यस्य तादृशः सन्। श्रीगोलोके श्रीमदनगोपालदेवस्य तादृशसन्दर्शन–निष्पत्तेः। श्रीवृन्दावने श्रीगोलोकीये भूर्लोकीये च॥२३९॥

भावानुवाद—कियता अर्थात् अल्पकाल उपरान्त ही। 'हे पुत्र!'—इस स्नेहपूर्ण सम्बोधनका अभिप्राय इस विषयमें सत्यतासे है, अर्थात् अल्पकालके बाद ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा और श्रीगोलोकमें श्रीमदनगोपालदेवके दर्शन प्राप्त होंगे। अथवा गोलोक तथा भूलोक स्थित वृन्दावनमें मेरे साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करोगे॥२३९॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

एवं तदाज्ञया हर्षशोकाविष्टोऽहमागतः।
एतद्वृन्दावनं श्रीमत्तत्क्षणान्मनसेव हि॥२४०॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते श्रीगोलोकमाहात्म्यखण्डे
ज्ञाननामा द्वितीयोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! इस प्रकार श्रीभगवान्‌की आज्ञानुसार हर्ष तथा शोकमें आविष्ट होकर मैं उसी क्षण मनकी गतिसे इस मनोहर वृन्दावनमें आ गया॥२४०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके द्वितीय अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारया तस्य भगवत आज्ञया श्रीमत् परमशोभा-युक्तमेतद्वृन्दावनं तत्क्षणादेवाहमागतः। मनसेवेति महावेगं बोधयति। श्रीवृन्दावने श्रीभगवता सह क्रीड़ाशया हर्षेण शोकेन च तद्विरहजेनाविष्टोऽभिभूतः सन्॥२४०॥

श्रीमच्चैतन्यरूपाय तस्मै भगवते नमः।
यत्कारुण्य-प्रभावेण पाषाणोऽप्येष नृत्यति॥

इति श्रीमद्भागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां द्वितीयखण्डे द्वितीयोऽध्यायः।

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीभगवान्‌की आज्ञानुसार मैं श्रीमत् अर्थात परम शोभायुक्त इस वृन्दावनमें उसी क्षण आ गया। 'मनसेव' अर्थात् अत्यन्त तीव्र गतिसे। श्रीभगवान्‌के मुखसे सुना, 'श्रीवृन्दावनमें मेरे साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करोगे'—इस आनन्दमें और श्रीभगवान्‌के वियोगसे उदित शोक द्वारा पीड़ित होकर मैं उसी क्षण इस वृन्दावनमें आ गया।

श्रीमत्चैतन्यरूप उन भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ, जिनकी करुणाके प्रभावसे पाषोण भी इस प्रकार नृत्य कर रहा है॥२४०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके द्वितीय अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः (भजनम्)

श्रीगोपकुमार उवाच—

ब्रह्मलोकादिमां पृथ्वीमागच्छन् दृष्टवानहम्।
पूर्वं यत्र यदासीत्तद्गन्धोऽप्यस्ति न कुत्रचित्॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले, हे ब्राह्मण! मैंने ब्रह्मलोकसे इस पृथ्वी पर आकर देखा कि पूर्वकालमें जहाँ जो कुछ जिस प्रकार था, कहीं भी उसका चिह्न या गन्धमात्र भी नहीं है॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

अष्टावरणतो मुक्तिपदे प्राप्ते शिवाग्रतः।
वैकुण्ठपार्षदैरुक्तं तृतीये भक्ति-लक्षणम्॥

तत्र प्रथमं श्रीमद्भगवद्वचनप्रामाण्यं दर्शयन् तदुक्तकालक्षोभाभावेन सपरिकरायाः श्रीमथुराया माहात्म्यमाह—ब्रह्मेति द्वाभ्याम्। तत्र विलोकितमेव सार्द्धेन वर्णयति—पूर्वमिति। यत्र यस्मिन् स्थाने यद्देव-मनुष्यादिकमासीत्, तस्य गन्धोऽपि कुत्रचिन्नास्ति, बहुकाल-परिवृत्तेः॥१॥

भावानुवाद—इस तृतीय अध्यायमें श्रीगोपकुमार द्वारा अष्टावरण लाँघकर मुक्तिपदमें गमन तथा श्रीशिवके समक्ष वैकुण्ठ पार्षदों द्वारा वर्णित भक्तिलक्षणके प्रसंग हैं।

प्रथमतः श्रीभगवान्के द्वारा कहे गये वचनोंका प्रमाण प्रदर्शन करनेके लिए, अर्थात् उनके श्रीमुख द्वारा उक्त—'कालक्षोभ होनेके कारण समस्त जगतके नाश होने पर भी परिकरों सहित मेरे द्वारा वहाँ सदा विराजित रहनेके कारण श्रीमथुरामण्डल एक ही भावसे सदैव वर्त्तमान रहता है।'—इस श्रीमथुरा-माहात्म्यको 'ब्रह्म' इत्यादि दो श्लोकोंमें कहा गया है। इस प्रकारसे श्रीमथुरा-माहात्म्यका वर्णन आरम्भकर श्लोकके प्रथम आधे भागमें कह रहे हैं—मैंने ब्रह्मलोकसे

बहुत समयके पश्चात् पृथ्वीलोक पर आकर देखा; और द्वितीय भागमें कहते हैं—पूर्वकालमें जहाँ-जहाँ जो देव-मनुष्यादि थे, उनका कहीं भी चिह्नमात्र भी नहीं है॥१॥

परं श्रीमथुरा तादृग्वनाद्रिसरिदन्विता।
विराजते यथापूर्वं तादृशैर्जङ्गमैर्वृता॥२॥

श्लोकानुवाद—परन्तु केवल श्रीमथुरामण्डल ही वनों, पर्वतों, नदी तथा चल-अचल प्राणियों द्वारा पूर्वकी भाँति आवृत होकर सुशोभित हो रहा था॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—परं केवलं श्रीयुक्ता मथुरा यथापूर्वं विराजते, तदेव पूर्ववत् स्थिरचरप्राणिवृत्त्या दर्शयति-तादृग्भिः पूर्ववत् तत्सदृशैरेव वनैस्तरु-गुल्म-लतादिभिरद्रिभिश्च श्रीगोवर्द्धनादिभिः सरिद्भिश्च श्रीकालिन्द्यादिभिरन्विता; किञ्च, तादृशैरेव जङ्गमैर्मनुष्य-पशुपक्ष्यादिभिर्वृतेति॥२॥

भावानुवाद—केवल श्रीयुक्त अर्थात् शोभायुक्त मथुरामण्डल ही पूर्वकी भाँति विराजित हो रहा था। वही वृन्दावनादि वन, वही वृक्ष-लता गुल्मादि, वही गोवर्धनादि पर्वत, वही श्रीयमुनादि समस्त नदियाँ पूर्ववत् विद्यमान थीं तथा उसी प्रकारसे ही स्थावर-जंगम-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणियों द्वारा सुशोभित था॥२॥

आज्ञां भगवतः स्मृत्वा भ्रमन् वृन्दावनान्तरे।
अन्विष्य कुञ्जेऽत्रापश्यं स्व-गुरुं प्रेममूर्च्छितम्॥३॥

श्लोकानुवाद—मैंने श्रीभगवान्‌की आज्ञा स्मरणकर इस वृन्दावनमें इधर-उधर भ्रमण करते-करते किसी एक कुञ्जमें अपने श्रीगुरुदेवको प्रेममूर्च्छित अवस्थामें देखा॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगवत आज्ञाम्; *'तत्र यत् परमप्रेष्ठं लप्स्यसे, स्वगुरुम्'* इत्यादिरुपां स्मत्वा; अत्रास्मिन्नेव कुञ्जे॥३॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌की आज्ञा थी—'उस व्रजभूमिमें तुम मेरे परमप्रिय अपने गुरुदेवका पुनः दर्शन प्राप्त करोगे।' इस आज्ञाका स्मरणकर मैंने यहाँ एक कुञ्जमें अपने श्रीगुरुदेवका दर्शन प्राप्त किया॥३॥

प्रयासैर्बहुभिः स्वास्थ्यं नीतोऽसौ वीक्ष्य मां नतम्।
परिरेभेऽथ सर्वज्ञो बुबुधे मन्मनोरथम्॥४॥

श्लोकानुवाद—मैंने बहुत यत्नपूर्वक उनको स्वस्थ किया और फिर उनके चरणोंमें प्रणाम किया, मुझे प्रणत देखकर उन्होंने मुझे आलिङ्गन किया। सर्वज्ञ होनेके कारण उन श्रीगुरुदेवने मेरे मनोरथ (मुक्तिपद गमनकी इच्छा)को जान लिया॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च मया बहुभिः प्रयासैर्जलसेकादिभिः कृत्वा स्वास्थ्यं प्रकृतिस्थतां नीतः सन् असौ गुरुः नतं प्रणतं मां वीक्ष्य परिरेभे। मम मनोरथं मुक्तिपदसाधनेच्छाम्॥४॥

भावानुवाद—मैंने देखा कि वे प्रेममें मूर्च्छित होकर भूमि पर पड़े हुए थे, तब मैंने जल छिड़ककर बहुत यत्नपूर्वक उनकी मूर्च्छाको दूर किया। तब मैंने उनको प्रणाम किया, मुझे देखकर उन्होंने मेरा आलिङ्गन किया तथा सर्वज्ञ होनेके कारण वे मेरी मुक्तिपद गमनकी इच्छासे अवगत हो गये॥४॥

स्नात्वा स्वदत्तमन्त्रस्य ध्यानादिविधिमुद्दिशन्।
किञ्चिन्मुखेन किञ्चिच्च संकेतेनाभ्यवेदयत्॥५॥

श्लोकानुवाद—फिर उन्होंने स्नान किया तथा अपने दिये हुए मन्त्रके ध्यानादिकी कुछ विधियोंको संकेत द्वारा और कुछ विधियोंको मुख द्वारा कहकर मुझे उपदेश दिया॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च स्नात्वा निर्भरप्रेमाविर्भावेन श्लेष्म-लालाश्रु-क्लिन्नमुखत्वाच्छौचार्थमिव यमुनायां निमज्य स्वेन तेनैव दत्तस्योपदिष्टस्य मन्त्रस्य; आदि-शब्देन न्यास-मुद्रादि। तत्र किञ्चिन्न्यासादिकं मुखेन वाक्येनैव अभ्यवेदयत् विज्ञापयामास अशिक्षयदित्यर्थः। किञ्चिच्च श्रीमूर्त्तिध्यानादिकं सङ्केतेन हस्तसंज्ञादिना तत्स्मरणविशेषेण प्रेमाविर्भाववैवस्यात्॥५॥

भावानुवाद—उसके बाद उन्होंने प्रेमके आविर्भाव कालमें निकले श्लेष्मा, लार और अश्रुसे मुखमें लगी समस्त रजको धोनेके लिए यमुनामें स्नान किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने द्वारा प्रदत्त मन्त्रके न्यास और मुद्रादिसे सम्बन्धित नियमोंमें से कुछको मुखसे वाक्यरूपमें प्रकाश किया और कुछको इङ्गित द्वारा व्यक्त किया। परन्तु श्रीमूर्त्तिके

ध्यानादिसे सम्बन्धित कुछ विधियोंकी शिक्षा देते समय अपने इष्टदेवके स्मरण हेतु अत्यधिक प्रेमके आविर्भाववशतः वे मुखसे कुछ भी बोल न सके, इसलिए हस्तचालनादि रूप संकेतों द्वारा उन्होंने मुझे उपदेश दिया॥५॥

जगाद च निजं सर्वमिदं प्रेष्ठाय तेऽददाम्।
सर्वमेतत्प्रभावेण स्वयं ज्ञास्यसि लप्स्यसे॥६॥

श्लोकानुवाद—इसके उपरान्त श्रीगुरुदेवने कहा—हे वत्स! क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैंने तुम्हें अपना सर्वस्व प्रदान किया है। इसके अलावा जो कुछ भी रहस्य है, वह तुम्हें इस मन्त्रजपके प्रभावसे स्वयं ही ज्ञात होगा॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सङ्केतोपदेशेन तत्र च क्षणिकेन कथं तत्तदशेषविधिज्ञानं सिध्येत्? सत्यं, तस्यैवानुग्रहादित्याह—जगादेति। सर्वमुद्दिष्टमनुद्दिष्टमपि साधनं साध्यञ्च। एतस्य मद्दत्तस्य साङ्गमन्त्रस्य प्रभावेण स्वयमेव ज्ञास्यसि प्राप्स्यसि च आत्मसात् करिष्यसि॥६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि क्षणकालके सांकेतिक उपदेशादि द्वारा किस प्रकारसे अनन्त प्रकारकी विधियोंका ज्ञान प्राप्त होगा? इसके लिए कहते हैं—यह बात तो सत्य है, किन्तु श्रीगुरुकी कृपा होने पर क्या सिद्ध नहीं होता? इसीको बतलानेके लिए 'जगाद' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इसके उपरान्त श्रीगुरुदेवने आशीर्वादपूर्वक कहा, वत्स! मैंने तुम्हें सर्वस्व प्रदान किया है। इसके अलावा जो कुछ भी रहस्य है, उसे मेरे द्वारा प्रदत्त मन्त्रके न्यासादि अङ्गोंकी विधि सहित जप करनेके प्रभावसे ही प्राप्त करोगे। इसके द्वारा उद्देश्यगत या उद्देश्यसे अतीत समस्त प्रकारके साध्य और साधनको स्वयं ही जान पाओगे तथा उसे प्राप्त भी करोगे॥६॥

हर्षेण महता तस्य पादयोः पतिते मयि।
सोऽन्तर्हित इवागच्छद्यत्र कुत्राप्यलक्षितम्॥७॥

श्लोकानुवाद—मैं अत्यधिक हर्षपूर्वक उनके चरणकमलोंमें गिर पड़ा। किन्तु उसी क्षण वे अन्तर्धान होनेकी भाँति अलक्षितरूपमें कहीं चले गये॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—स गुरुः अलक्षितं यथा स्यात्तथा गतः, यत्र कुत्रापीत्यनिर्धारात्। अलक्षितगत्यैवान्तर्हित इवेति॥७॥

भावानुवाद—मैं अत्यन्त हर्षपूर्वक उनके श्रीचरणोंमें गिर पड़ा। फिर उठकर मैंने देखा कि वे अलक्षितरूपमें कहीं अन्तर्हित हो गये हैं। मैं निर्धारित नहीं कर सका कि वे कहाँ गये॥७॥

अहञ्च तद्वियोगार्त्तं मनो विष्टभ्य यत्नतः।
यथादेशं स्व-मन्त्रं तं प्रवृत्तो जप्तुमादरात्॥८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रीगुरुदेवके वियोगमें मेरा मन कातर होने लगा, तथापि मैं बहुत यत्नपूर्वक धैर्य धारणकर उनके आदेशानुसार आदर सहित अपने मन्त्रका जप करने लगा॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य गुरोर्वियोगेन आर्त्तं मनः यत्नतो विष्टभ्य स्थिरीकृत्य तं शिक्षित-जपप्रकारकं स्वमन्त्रं यथादेशं गुर्वाज्ञानुसारेण जप्तुं प्रवृत्तोऽहम्। यद्यपि यथाकथञ्चिद्भगवन्मन्त्रजपात् स्वयमेव मुक्तिपदं सिध्यति; तथाप्यचिरात् सुखसिध्यर्थं यथाविधि मन्त्रजप इति द्रष्टव्यम्॥८॥

भावानुवाद—श्रीगुरुदेवके विच्छेदसे मेरा मन दुःखित होने लगा, तथापि मैंने बहुत यत्नपूर्वक अपने मनको स्थिर किया और उनके आदेशानुसार तथा उनके द्वारा प्रदत्त जप विधिकी शिक्षानुरूप मन्त्रजप करने लगा। यद्यपि भगवान्‌के मन्त्रका थोड़ा भी जप करनेसे स्वयं ही मुक्तिपद प्राप्त होता है, तथापि शीघ्र सुख प्राप्तिके लिए मैंने यथाविधि मन्त्रजप करना आरम्भ किया॥८॥

पाञ्चभौतिकतातीतं स्व-देहं कलयन् रवेः।
निर्भिद्य मण्डलं गच्छन्नूर्ध्वं लोकान् व्यलोकयम्॥९॥

श्लोकानुवाद—जपके प्रभावसे मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरा शरीर पञ्चभूतसे अतीत किसी एक अपार्थिव देहमें बदल गया है। फिर मैं सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वलोकमें गमन करते-करते चौदह भुवनोंको देखने लगा॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च स्वस्य मम देहं पाञ्चभौतिकतां पञ्चभूतविकार-रूपत्वमतीतमतिक्रान्तं कलयन् उपलभमानः; अनेन निजशरीरात्यागस्तथावरणातिक्रमेण

मुक्तिपदप्राप्तियोग्यता च दर्शिता। रवेर्मण्डलं निर्भिद्य, मुक्तिद्वारत्वेन निःशेषं भित्त्वा; ऊर्ध्वमुपरिष्टाद्गच्छन् लोकान् चतुर्द्दश भुवनानि॥९॥

भावानुवाद—मन्त्रजप करते-करते मुझे अनुभव हुआ कि मेरी देहने पञ्चभूतका परित्याग कर दिया है। अर्थात् पञ्चभूतके विकाररूपको लाँघकर मैंने मुक्तिपदकी योग्यता प्राप्त की है। यहाँ पर शरीर त्याग नहीं हुआ, केवल आत्माके आवरण अर्थात् पञ्चभूतसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्तिकी योग्यता प्रदर्शित हुई है। तब मुक्तिके द्वारस्वरूप सूर्यमण्डलको भेदकर ऊपर गमन करते-करते मैं चौदह भुवनोंको अवलोकन करने लगा॥९॥

दूषितान् बहुदोषेण सुखाभासेन भूषितान्।
मायामयान्मनोराज्यस्वप्नदृष्टार्थसम्मितान् ॥१०॥

श्लोकानुवाद—मैंने देखा कि समस्त लोक बहुत प्रकारके दोषोंसे युक्त हैं, केवल सुखके आभाससे ही भूषित हैं, मायामय हैं, तथा स्वप्नदृष्ट वस्तुओंकी भाँति मिथ्या हैं॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कीदृशान् विलोकितवानित्यपेक्षायामाह—दूषितानिति। सुखस्याभासेन छायया, न तु परमार्थसुखेन, यतो मायामयान्; अतएव मनोराज्ये मनोरथे स्वप्ने च दृष्टैरर्थैर्द्रव्यैः सम्मितान् तुल्यान्॥१०॥

भावानुवाद—वह अवलोकन किस प्रकारका था? इसे बतानेके लिए 'दूषितान्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मैंने देखा कि समस्त लोक बहुत दोषोंसे युक्त हैं, वहाँ सुखका आभास या छाया ही है किन्तु वहाँ पारमार्थिक सुख नहीं हैं समस्त सुख मायामय है, अर्थात् स्वप्नमें जिस प्रकार अनेक द्रव्योंका भोग होता है उसी प्रकार वे सुख मनोराज्यके मनोरथ तुल्य हैं॥१०॥

पूर्वं ये बहुकालेन संप्राप्ताः क्रमशोऽधुना।
सर्वे निमेषतः क्रान्ता युगपन्मनसेव ते॥११॥

श्लोकानुवाद—पूर्वमें मैंने बहुत समय तक क्रमपूर्वक जिन लोकोंको लाँघा था, अब उन सभीको पलक झपकते ही मनकी गतिसे एक साथ लाँघ लिया॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—ये लोका बहुकालेन क्रमशः 'आदौ स्वर्गस्ततो महः' इत्येवं क्रमेण पूर्वं संप्राप्ताः; अधुना मुक्तिपदगमनसमये ते सर्वेऽपि निमेषतो युगपदेकदैव क्रान्ताः अतिक्रान्ताः। अतएव मनसेव इति तत्तदतिक्रमणे परमवेगो दर्शितः। यद्यपि मायामयत्वेन मनोनिरोधादेव तेषां मिथ्यात्वापत्तेर्मनसैवातिक्रमणं वक्तुमुचितं स्यात्, तथापि सूर्यमण्डलभेदेनोर्धदेशगमनापेक्षया वेग एव तात्पर्यं ज्ञेयम्; अतएव इव-शब्दप्रयोग इति दिक्॥११॥

भावानुवाद—पूर्वमें मैंने बहुत समयमें जिन समस्त लोकोंका क्रमशः अतिक्रमण किया था, अर्थात् पहले स्वर्ग फिर महर्लोक, उसके बाद जनलोक इत्यादि एकके बाद एकको बहुत समय तक लाँघते हुए बहुत विलम्बमें प्राप्त करता था, किन्तु अब मुक्तिपद जानेके समय मैंने मनकी गतिसे अर्थात् परमवेग सहित एक क्षणमें ही एक साथ उन समस्त लोकोंको लाँघ लिया। यद्यपि मायामय होनेके कारण मनका संयम करते ही वे मिथ्या प्रतीत होते हैं, अतः उनका 'केवल मन द्वारा लाँघना' कहना ही उचित है, तथापि वास्तवमें सूर्यमण्डल भेदकर ऊपर गमन करनेके लिए अत्यधिक वेगकी आवश्यकता होती है, इसलिए 'इव' कार द्वारा गोपकुमारने मनकी गतिके समान वेगकी बात ही कही है॥११॥

ब्रह्मलोकात् सुखैः कोटि-गुणितैरुत्तरोत्तरम्।
वैभवैश्च महिष्ठानि प्राप्तोऽस्म्यावरणान्यथ॥१२॥

श्लोकानुवाद—फिर मैं उन श्रेष्ठ आवरणोंमें पहुँचा जहाँका सुख और वैभव, ब्रह्माके लोकसे उत्तरोत्तर करोड़ों गुणा अधिक था॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरमावरणानि प्राप्तोऽस्मि। कीदृशनि? ब्रह्मलोकात् कोटिगुणितैः सुखैर्महिष्ठानि। अत्र चोत्तरोत्तरं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरमुत्तरं दशगुणैरधिकमित्यैवं महिष्ठानि, तथैव कोटिगुणितैर्वैभवैर्विभूतिभिर्महिष्ठानि॥१२॥

भावानुवाद—उसके बाद मैं ब्रह्माण्डके आवरणोंमें पहुँचा। वे आवरण कैसे थे? ब्रह्मलोकसे उत्तरोत्तर करोड़ों गुणा अधिक सुख और श्रेष्ठ वैभवसे युक्त थे। प्रत्येक आवरण अपने पूर्व आवरणसे दस गुणा अधिक था, इस प्रकारसे समस्त आवरण उत्तरोत्तर विराट थे तथा उत्तरोत्तर करोड़ों गुणा सुख और वैभवमें श्रेष्ठ थे॥१२॥

कार्योपाधिमतिक्रान्तैः प्राप्तव्यक्रममुक्तिकैः।
लिङ्गाख्यं कारणोपाधिमतिक्रमितुमात्मभिः॥१३॥
प्रविश्य तत्तद्रूपेण भुज्यमानानि कामतः।
तत्तदुद्भवनिःशेषसुखसारमयानि हि॥१४॥

श्लोकानुवाद—क्रम-मुक्ति प्राप्त करनेवाले व्यक्ति कार्य अर्थात् स्थूल उपाधि (पञ्चभौतिक देह)को लाँघकर उन आवरणोंमें लिङ्ग नामक कारण अर्थात् सूक्ष्म उपाधि (मन-बुद्धि-अहंकार)को लंघन करनेके लिए पहुँचते हैं। वे क्रमसे पृथक्-पृथक् आवरणोंमें उस आवरणके अनुरूप देह प्राप्त कर वहाँके तत्त्वोंसे उत्पन्न सुखसे भी सारभूत सुखको इच्छानुसार भोग करते हैं। कार्यसे कारण श्रेष्ठ है, अतः कार्यसे उत्पन्न सुखकी तुलनामें कारणसे उत्पन्न सुख श्रेष्ठ और परिमाणमें अधिक है॥१३-१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुनस्तान्येव विशिनष्टि-कार्येति द्वाभ्याम्। आत्मभिर्जीवैस्तत्तद्रूपेण पृथिव्यादिरूपेण प्रविश्य, एवं क्लेददाहादि-शङ्का निरस्ता। कामतो यथाकामं भुज्यमानानि। किमर्थं? लिङ्गं लिङ्गशरीरमित्याख्या यस्य तं कारणोपाधिं कारणरूपं सूक्ष्ममुपाधिं जीवत्वहेतुमतिक्रमितुम्। कुतः? प्राप्तव्या क्रमेण मुक्तिर्यैस्तैः; बहुव्रीहौ कः। अतएव कार्यं स्थूलरूपमुपाधिमतिक्रान्तैः। आवरणानां तादृश-सुखमयत्वे हेतुमाह—तस्मात्तस्मात् पृथिव्यादेः सकाशादुद्भवो येषां तानि च तानि निःशेषसुखानि च; यद्वा, तत्तदुद्भव-द्रव्येभ्यो यानि निःशेषाणि सम्पूर्णानि सुखानि तेषां यः सारस्तन्मयानि। कार्येभ्यः कारणानां श्रेष्ठ्यात् तत्तत्-सुखतोऽप्येतत्सुखस्य श्रैष्ठ्योपपत्तेः। यद्यपि सर्वत्रैव सर्वसुखानि तत्साधनानि च सन्ति, तथापि निज-निज-सुखविशेष-तत्साधनद्रव्य-प्राधान्यापेक्षया। एवं ब्रह्मलोकात्तथा पूर्वपूर्वस्माच्चोत्तरोत्तरस्मिन् सुखानामाधिक्यमुपपादयितव्यम्॥१३-१४॥

भावानुवाद—अब 'कार्य' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कार्य रूप आवरणसे कारण रूप आवरणका वैशिष्ट्य प्रदर्शन कर रहे हैं। जो क्रम मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे सर्वप्रथम कार्य-उपाधि (स्थूल देह) परित्यागकर पृथ्वी आदि आवरणोंमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकारसे क्रमशः प्रत्येक आवरणके अनुरूप देह प्राप्त करनेके कारण प्रत्येक आवरणमें उसके सड़ने और दाहादिकी आशंका दूर होती है। पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे उत्पन्न सुखका सारभूत भोगसमूह इच्छानुसार भोग

करते–करते वे लिङ्ग शरीर नामक सूक्ष्म उपाधि लाँघ कर मुक्तिपदमें प्रवेश करते हैं। किन्तु जिनकी आत्माकी आवरण स्वरूप कार्य–उपाधि अर्थात् स्थूल शरीर और कारण–उपाधि अर्थात् सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर ध्वंस नहीं हुए हैं, उनके लिए मुक्तिपदमें जाना कभी भी सम्भव नहीं होता। प्रत्येक आवरणको क्रमशः लाँघते हुए और वहाँके सुखोंका भोग करके जीव लिङ्ग शरीरको त्यागकर मुक्तिपदमें पहुँचता है, किन्तु सद्यमुक्ति प्राप्त करनेवालोंको उन आवरणोंका सुख भोग नहीं करना पड़ता। प्रत्येक आवरणके सुखमय होनेका हेतु है—उस आवरणके तत्त्वसे उत्पन्न असीम सुख अथवा उस आवरणमें उत्पन्न द्रव्योंसे उदित सम्पूर्ण सुखका सार। कार्यसे कारण श्रेष्ठ होता है, इसलिए कार्यसे उत्पन्न सुखकी तुलनामें कारणसे उत्पन्न सुख भी श्रेष्ठ होता है। यद्यपि प्रत्येक आवरणमें समस्त प्रकारके सुख और सुखके साधन विद्यमान हैं, तथापि उस आवरणके प्रधान द्रव्यसे प्राप्त सुख क्रमशः श्रेष्ठ हैं। इस प्रकारसे ब्रह्मलोकसे उत्तरोत्तर सुख और समस्त वैभव दस–दसगुणा क्रमशः अधिक होते हैं॥१३–१४॥

पृथिव्यावरणं तेषु प्रथमं गतवानहम्।
तदैश्वर्याधिकारिण्या धरण्या पूजितं प्रभुम्॥१५॥
ब्रह्माण्डदुर्लभैर्द्रव्यैर्महाशूकररूपिणम्।
अपश्यं प्रतिरोमान्त–भ्रमद्ब्रह्माण्डवैभवम्॥१६॥

श्लोकानुवाद—उन आवरणोंमें से मैंने सर्वप्रथम पृथ्वीरूप आवरणमें प्रवेश किया और वहाँ महाशूकररूपी (श्रीवराहदेव) प्रभुका दर्शन किया। उनके प्रत्येक रोमकूपमें अनेकों ब्रह्माण्डोंके वैभव घूम रहे थे तथा उस आवरणकी ऐश्वर्य–अधिकारिणी धरणीदेवी (पृथ्वीदेवी) ब्रह्माण्ड–दुर्लभ वस्तुओं द्वारा उनका अर्चन कर रही थी॥१५–१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येनोक्त्वा विशेषेण यथाक्रममतिक्रमण द्वारा विवदिषन्नादौ पृथिव्यावरणं वर्णयन् तदतिक्रमप्रकारमाह—पृथिवीति पञ्चभिः। तेषु आवरणेषु मध्ये गतवान् सन् *'प्रभुं भगवन्तमहमपश्यम्'* इति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशम्? महाशूकररूपिणमतएव प्रतिलोमान्तः प्रत्येकलोम–मध्ये भ्रमद्ब्रह्माण्डवैभवं चतुर्दश–भुवनात्मक–ब्रह्माण्ड–विभूतिर्यस्य तम्; इति ब्रह्मलोकाधिष्ठातृ–श्रीमहापुरुषाद्–

विशेषो दर्शितः। एवमुत्तरत्राप्यूह्यम् पुनः कीदृशम्? तस्य पृथिव्यावरणस्य यदैश्वर्यं तस्मिन्नधिकारवत्या मूर्त्तिमत्या धरण्या ब्रह्माण्ड-दुर्लभैर्द्रव्यैः कृत्वा पूजितम्। एवं धरण्या अपि ब्रह्मणः सकाशाद्विशेषो दर्शितः॥१५-१६॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्यरूपमें आवरणोंका वर्णनकर अब विशेषरूपमें वर्णन कर रहे हैं। यथाक्रम अर्थात् एकके बाद एक आवरणको लाँघकर वहाँकी विशेषता जाननेके लिए सर्वप्रथम पृथ्वीरूप आवरणका वर्णनकर उसको लाँघनेके विषयमें 'पृथ्वी' आदि पाँच श्लोक कह रहे हैं। सर्वप्रथम मैंने पृथ्वीरूपी आवरणमें जाकर महाशूकररूपी (श्रीवराहरूप) भगवान्का दर्शन किया। वे प्रभु किस प्रकारके थे? उनके प्रत्येक रोमकूपमें चौदह भुवनात्मक ब्रह्माण्डका वैभव कारणरूपमें परिभ्रमण कर रहा था। इसके द्वारा उस आवरणके श्रीविग्रहकी ब्रह्मलोकाधिष्ठाता श्रीमहापुरुषसे भी अधिक विशेषता प्रदर्शित होती है। इस प्रकारसे उत्तरोत्तर आवरणोंका भी वैशिष्ट्य जानना होगा। उस पृथ्वीरूप आवरणकी कार्यरूपी अधिष्ठात्री मूर्त्तिमान श्रीधरणीदेवी थीं। वे ब्रह्माण्ड-दुर्लभ द्रव्यों द्वारा उन श्रीवराह भगवान्की पूजा कर रही थीं। इस प्रकारसे ब्रह्माकी तुलनामें धरणीदेवीकी भी विशेषता प्रदर्शित होती है॥१५-१६॥

तस्यां कारणरूपायां कार्यरूपमिदं जगत्।
तदुपादानकं सर्वं स्फुरितञ्च व्यलोकयम्॥१७॥

श्लोकानुवाद—मैंने और देखा कि उस कारणरूप पृथ्वी पर कार्यरूप अर्थात् जगतके समस्त उपादान स्फुरित हो रहे थे॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेवाह—तस्यामिति। सा पृथिवी उपादानं घटस्य मृदिवोपादान-कारणं यस्य तत्; अतो जगतः प्रायेण पृथिव्युपादान-कारणकत्वात् तस्यामेव तत्स्फूर्त्तिर्दृष्टेत्यर्थः, कार्यस्य कारणात्मकत्वात्॥१७॥

भावानुवाद—जिस प्रकार मिट्टी घड़ेका उपादान कारण है, उसी प्रकार कारणरूपा पृथ्वी (मिट्टी)के आवरण ही इस दृश्यमान जगतके उपादान कारण हैं। अतएव कारणमें कार्यका दर्शन होनेके कारण पृथ्वीमें ही ब्रह्माण्डके समस्त सुखोंकी स्फूर्ति होती है॥१७॥

विधाय भगवत्पूजां तयातिथ्येन सत्कृतः।
दिनानि कतिचित्तत्र भोगार्थमहमर्थितः॥१८॥

श्लोकानुवाद—धरणीदेवीने श्रीभगवान्‌की पूजा समाप्त करते ही मेरा आतिथ्य-सत्कार किया और मुझे कुछ दिन वहाँके भोगसुखमें वास करनेकी प्रार्थना की॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तया च धरण्या भगवतः पूजां विधाय समाप्य अहमातिथ्येन अतिथिविषयक-कृत्येन सत्कृतः सम्मानितः। तत्रावरणे दिनानि कतिचिद्व्याप्य भोगार्थमर्थितः याचितः॥१८॥

भावानुवाद—वहाँ धरणीदेवीने भगवान्‌की पूजा समाप्त कर अतिथि जानकर मेरा अतिथिकी भाँति सम्मान किया और कुछ दिन वहाँके सुख भोग करनेके लिए प्रार्थना की॥१८॥

तामनुज्ञाप्य केनाप्याकृष्यमाण इवाशु तत्।
अतीत्यावरणं प्राप्तः पराण्यावरणानि षट्॥१९॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् मैंने धरणीदेवीसे अपने विदा होनेकी प्रार्थना की। उस समय एक अज्ञात आकर्षणसे आकृष्ट होकर मैं शीघ्र ही अन्य छह आवरणोंका लंघन कर गया॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तां धरणीमनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रदाप्य तदनुज्ञां गृहीत्वेत्यर्थः। तत् पार्थिवमावरणमतीत्य। ननु कथं तत्र परम-वैष्णव्यास्तस्याः प्रार्थनेनापि न स्थितम्? तत्राह—केनाप्याकृष्यमाण इवेति मुक्तिपद-प्रापक-साधनेन अन्यत्र विलम्बस्य निरस्यमानत्वादिति भावः॥१९॥

भावानुवाद—मेरी वहाँ पर वास करनेकी अभिलाषा नहीं थी, इसलिए मैंने बहुत अनुनयपूर्वक धरणीदेवीसे अपने जानेकी प्रार्थना की और उनकी अनुमति ग्रहणकर उस पृथ्वीके आवरणको लंघन किया। यदि कहो कि उस परम वैष्णवी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी किसलिए वहाँ पर कुछ दिन वास नहीं किया? इसके लिए कहते हैं—किसी आकर्षण द्वारा आकर्षित होकर ही मैंने अतिशीघ्र अन्य आवरणोंका लंघन किया। इसके द्वारा यही सूचित होता है कि मुक्तिपदको प्राप्त करनेके साधनके समय अन्यत्र विलम्ब करना उचित नहीं है॥१९॥

महारूपधरैर्वारि–तेजो–वाय्वम्बरैस्तथा ।
अहङ्कार–महद्भ्याञ्च स्वस्वावरणतोऽर्चितम् ॥२० ॥
क्रमेण मत्स्यं सूर्यञ्च प्रद्युम्नमनिरुद्धकम्।
सङ्कर्षणं वासुदेवं भगवन्तमलोकयम् ॥२१ ॥

श्लोकानुवाद—उन आवरणोंमें मैंने विराट रूप धारण किये हुए जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत् तत्त्वको अपने-अपने आवरणोंमें क्रमशः मत्स्य, सूर्य, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, सङ्कर्षण तथा वासुदेव नामक भगवान्‌की मूर्त्तियोंका पूजन करते हुए देखा ॥२०–२१ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—वार्यादिभिः षड्भिः स्व–स्वावरण–क्रमेणार्चितं श्रीमत्स्यादिरूपं भगवन्तं क्रमेणावलोकयमिति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र जलेन मत्स्यरूपं, तेजसा सूर्यरूपम्–इत्यादिक्रमो द्रष्टव्यः ॥२०–२१ ॥

भावानुवाद—मैंने विराट रूप धारण किये हुए जल इत्यादि छह आवरणोंके अधिष्ठातृ देव और उन समस्त आवरणोंमें क्रमशः पूजित मत्स्य, सूर्यादिरूप भगवान्‌का अवलोकन किया। जलरूप आवरणमें मत्स्यरूपी भगवान्, तेजोमय आवरणमें सूर्यरूपी भगवान् इत्यादि श्लोकानुसार क्रमसे द्रष्टव्य हैं ॥२०–२१ ॥

स्वकार्यात् पूर्व–पूर्वस्मात् कारणं चोत्तरोत्तरम्।
पूज्यपूजक–भोगश्रीमहत्त्वेनाधिकाधिकम् ॥२२ ॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार कार्यरूपा पृथ्वी आवरणका कारण जल आवरण है, उसी प्रकार प्रत्येक आवरण अपने पूर्व-पूर्व आवरणका कारण है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आवरणोंमें पूज्य-पूजक, भोग-ऐश्वर्य तथा महिमादि विषय भी क्रमशः अधिक हैं ॥२२ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कीदृशं तत्तदावरणम्? कीदृशा वा तत्तदधिकारिणो वाय्वादयः, श्रीमत्स्यादयो वा कीदृशाः?—इत्येतत् पूर्ववद्विशेषेण वर्णयेत्यपेक्षायां पूर्वोक्तमेव विशेषं संक्षेपेणाभिव्यञ्जयति–'स्वकार्यात्' इति। पूज्या मत्स्यादयः, पूजका मुर्त्तिमद्वार्यादयः, भोगोऽधिकारादि–सुखं, श्रियो विभूतयः, तेषां महत्त्वेन महिम्ना कृत्वा पूर्वस्मात् पूर्वस्मादावरणादुत्तरोत्तरमावरणम् अधिकतोऽप्यधिकं परम–विशिष्टतरमित्यर्थः ॥२२ ॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि वे समस्त आवरण किस प्रकारके हैं और उन-उन आवरणोंके अधिकारी जलादि देवता तथा वहाँके पूज्य श्रीमत्स्यादि भगवान् किस प्रकारके हैं? इसके उत्तरमें पहलेकी भाँति विस्तारसे वर्णन न करके पूर्वोक्त विषयको संक्षिप्तरूपमें वर्णन कर रहे हैं। पूज्य अर्थात् श्रीमत्स्यादि भगवान् और पूजक अर्थात् मूर्त्तिमान जलादि देवता। भोगसुख और विभूति या सम्पत्ति रूपसे भी प्रत्येक आवरणकी अधिक महिमा जाननी होगी, अर्थात् पूर्व-पूर्व आवरणरूप कार्यसे उत्तरोत्तरवर्ती आवरणरूप कारणको क्रमशः श्रेष्ठ या विशेषतायुक्त जानना होगा॥२२॥

पूर्ववत्तान्यतिक्रम्य प्रकृत्यावरणं गतः।
महातमोमयं सान्द्र-श्यामिकाक्षिमनोहरम्॥२३॥

श्लोकानुवाद—पूर्वकी भाँति समस्त आवरणोंको क्रमशः लाँघनेके बाद अन्तमें मैं महातमोमय प्रकृतिरूप आवरणमें पहुँचा। वहाँकी घनघोर श्यामकान्तिने मेरे नेत्रों और मनको हरण कर लिया॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्वदिति तेभ्य आतिथ्य-सत्कारं लब्ध्वा तैः प्रार्थितमपि तत्र तत्र भोगार्थमवस्थानमस्वीकृत्यताननुज्ञाप्य इत्यर्थः। तानि आवरणानि महातमोमयमिति परमावरकस्वभावायाः प्रकृतेः परिणामिरूपत्वात्। तदुक्तमर्जुनेन हरिवंशे—*'पङ्कभूतं हि तिमिरं स्पर्शाद्विज्ञायते घना'* इति। *'अथ पर्वतभूतन्तु तिमिरं समपद्यत'* इति च। श्रीभागवते दशमस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ १०/८९/४७)—*'लोकालोकं तथातीत्य विवेष सुमहत्तमः।'* इति। लोकं चतुर्दशभुवनात्मकं ब्रह्माण्डम्, अलोकं तद्बाह्यमावरणाष्टरूपमिति वाक्यार्थः। अतएव सान्द्रया निविडया श्यामिकया श्यामकान्त्या अक्षीणि मनांसि च हरतीति तथा तत्॥२३॥

भावानुवाद—पूर्वकी (पृथ्वी आवरणकी) भाँति समस्त आवरणोंको लाँघते समय मैंने उन समस्त आवरणोंके अधिकारियों द्वारा किया गया आतिथ्य-सत्कार प्राप्त किया। उन अधिकारी देवताओंके द्वारा अपने-अपने आवरणमें सुखभोगके लिए मुझे अनुरोध करने पर भी मेरे हृदयमें किसी एक अनिर्वचनीय सुखकी लालसा होनेके कारण मैंने उनके द्वारा प्रार्थित भोगसुख ग्रहण करनेके लिए वहाँ पर अवस्थान करना स्वीकार नहीं किया। परन्तु विनयपूर्वक उनकी

अनुमति ग्रहणकर महातमोमय प्रकृतिरूप आवरणमें उपस्थित हुआ। उस तमोमय आवरणका अत्यन्त आवरक (ढकनेवाला) स्वभाव था, जिसने प्रकृतिके परिणामरूप घनीभूत श्यामकान्ति द्वारा मेरे नयन और मनको हर लिया था। जैसा कि श्रीहरिवंशमें अर्जुनका वाक्य है—"पहले-पहले वह अन्धकार कीचड़के समान प्रतीत होता, किन्तु स्पर्श करनेसे पर्वतके समान घना अनुभव होता।" श्रीमद्भागवत (१०/८९/४७)में भी कथित है—"लोकालोकको लाँघकर घनघोर अन्धकारमें प्रवेश किया।" यहाँ लोक कहनेसे चौदह भुवनात्मक ब्रह्माण्डको और अलोक कहनेसे ब्रह्माण्डके बाहर अष्ट आवरणोंको समझना होगा। अतएव वह प्रकृति घन श्यामकान्ति द्वारा सबके नेत्र और मनको हरण करती है॥२३॥

तस्मिन्निजेष्टदेवस्य वर्ण–सादृश्यमातते।
दृष्ट्वाहं नितरां हृष्टो नैच्छं गन्तुं ततोऽग्रतः॥२४॥

श्लोकानुवाद—उस आवरणको अपने इष्टदेवके वर्णके समान देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ, अतएव मैं और आगे जानेके लिए उत्सुक नहीं हो सका॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मिन् आवरणे निजेष्टदेवस्य श्रीमदनगोपालचरणारविन्दद्वन्द्वस्य यद्वर्णं श्यामसुन्दरकान्तिस्तस्याः सादृश्यं दृष्ट्वा। आतते विस्तृते, प्रकृतेरियत्ताराहित्यात्। अनेन च यत्र तत्र कुत्रापि तथैव दर्शनात् परमहर्षकारणं ध्वनितम्। अतएव ततस्तस्मादावरणादग्रतो गन्तुं नैच्छम्, मनो मे न प्रावर्ततेत्यर्थः॥२४॥

भावानुवाद—उस प्रकृतिरूप आवरणको अपने इष्टदेव श्रीमदन-गोपालदेवके युगलचरणकमलोंके समान श्यामवर्णका देखकर मैं आनन्दमें विभोर हो गया। विशेषतः वह प्रकृति अत्यन्त विस्तृत और हेयता रहित थी। इसलिए प्रत्येक ओर उस प्रकृतिकी श्यामकान्तिका संदर्शन ही मेरे परमहर्षका कारण होता। अतएव उस आवरणको त्यागकर मैं आगे जानेके लिए उत्सुक नहीं हो पाया॥२४॥

श्रीमोहिनी–मूर्त्तिधरस्य तत्र
विभ्राजमानस्य निजेश्वरस्य।

पूजां समाप्य प्रकृतिः प्रकृष्ट–
मूर्त्तिः सपद्येव समभ्ययान्माम्॥२५॥

श्लोकानुवाद—उस आवरणमें प्रकृतिदेवी वहाँ विराजित श्रीमोहिनी–मूर्त्तिधारी अपने ईश्वरकी पूजा समाप्तकर मनोहर वेशमें मेरे सामने उपस्थित हुई॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तस्मिन्नावरणे विभ्राजमानस्य निजेश्वरस्य पूजां समाप्य सपदि मद्गमनक्षण एव प्रकृतिः सम्यक्सार्धहस्तत्वादिसाधुप्रकारेण अभ्ययात् अभिमुखे प्राप्ता। कीदृशस्य? श्रीमोहिनीमूर्त्तिधरस्य, परममोहिन्या मायायाः पूज्यस्ततोऽपि परममोहनरूप एव स्यादिति न्यायात्॥२५॥

भावानुवाद—मैंने देखा वहाँ प्रकृतिदेवी उस आवरणमें विराजमान अपने ईश्वरकी पूजा समाप्तकर मनोहर वेशमें हाथ फैलाकर अर्थात् भलीभाँति मेरा आतिथ्य करते हुए मेरे समीप आयीं। वे ईश्वर कैसे थे? आहा! उन ईश्वरकी श्रीमोहिनीमूर्त्ति परममोहिनी मायाके द्वारा भी पूज्य थी अर्थात् उस मूर्त्तिके सौन्दर्य द्वारा मायाकी मोहिनीमूर्त्ति भी लज्जित थी। वहाँ भगवान् परम मनोहररूप प्रकटकर घने अन्धकारमें भी विशेषरूपसे शोभा पा रहे थे॥२५॥

उपानयन् महासिद्धीरणिमाद्या ममाग्रतः।
ययाचे च पृथिव्यादिवत्तत्र मदवस्थितिम्॥२६॥

श्लोकानुवाद—उन प्रकृतिदेवीने भी धरणीदेवी आदिकी भाँति अणिमादि सिद्धिरूप उपायनसमूह मेरे समक्ष लाकर मुझे वहाँ रहनेके लिए अनुरोध किया॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—उपानयत् उपायनरूपेणाजहार। तत्र प्रकृत्यावरणे ममावस्थितिं वासं पृथिव्यादिवद्ययाचे च॥२६॥

भावानुवाद—उन प्रकृतिदेवीने भी अणिमादि सिद्धिरूप समस्त उपहारोंको मेरे समक्ष लाकर पृथ्वी आदिकी भाँति अपने आवरणमें वास करनेके लिए मुझसे अनुरोध किया॥२६॥

सस्नेहञ्च जगादेदं यदि त्वं मुक्तिमिच्छसि।
तदाप्यनुगृहाणेमां मां तस्याः प्रतिहारिणीम्॥२७॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद उन प्रकृतिदेवीने स्नेहपूर्वक कहा—यदि तुम मुक्तिकी इच्छा करते हो तो मेरे प्रति अनुग्रह करो, क्योंकि मैं ही मुक्तिकी द्वारपाल हूँ॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदन्तया परामृष्टमेवाह—यदीति पादोनद्वयेन। इमां याचमानाम्; ननु तन्निरसनेनैव मुक्तिः स्यात्तत्राह—तस्य मुक्तेः प्रतिहारिणीमिति। यदि मया स्वयं विरज्यसे, तदैव तत्र प्रवेशः स्यादित्यर्थः॥२७॥

भावानुवाद—इसके बाद प्रकृतिदेवी स्नेहपूर्वक बोली कि यदि तुम मुक्तिकी इच्छा करते हो तो मेरे प्रति कृपा करके समस्त सिद्धियोंका उपभोग करो। यदि मुझे परित्याग करोगे, तो मुक्ति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि मैं ही मुक्तिकी द्वारपाल हूँ। अतः जब मैं स्वयं तुम्हें रजादि प्राकृत गुणोंसे मुक्त कर दूँगी, तभी तुम मुक्तिपदमें प्रवेश करनेमें समर्थ होओगे, क्योंकि मैं ही मुक्तिकी द्वारपाल हूँ॥२७॥

भक्तिमिच्छसि वा विष्णोस्तथाप्येतस्य चेटिकाम्।
भगिनीं शक्तिरूपां मां कृपया भज भक्तिदाम्॥२८॥

श्लोकानुवाद—और यदि तुम विष्णुभक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो, तो भी कृपापूर्वक मुझ भक्तिदायिनीका भजन करो, क्योंकि मैं विष्णुकी दासी हूँ, उनकी बहन हूँ तथा उनकी शक्ति हूँ॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भक्तिपराणां किं मुक्त्येति चेत्तत्राह—भक्तिमिति। यदि वा विष्णोर्भक्तिमिच्छसि, तथापि मां कृपया भज अनुवर्तस्व। कुतः? तस्य विष्णोश्चेटिकां दासीं, तदधीनत्वात्। किञ्च, भगिनीं श्रीयशोदागर्भसम्भवात्। किञ्च, शक्तिरूपाम्, अतएव भक्तिदां विचित्रभक्तिवर्धिनीम्। यद्यपि मायेयं भिन्ना, शक्तिश्च भिन्ना, तथापि तस्या एव छायारूपत्वे नैक्यमभिप्रेत्य एवमुक्तम्॥२८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भक्तिमें अनुरक्त जनोंको मुक्तिकी क्या आवश्यकता है? अतएव मैं मुक्तिकी इच्छा नहीं करता, भक्तिकी इच्छा करता हूँ। इसके लिए कहते हैं—यदि विष्णु भक्तिकी ही इच्छा करते हो तो भी कृपापूर्वक मेरा भजन करो। यदि कहो कि तुम्हारा भजन क्यों करूँ? इसके उत्तरमें कहते हैं—तुम मुझे विष्णुकी अधीन दासी जानकर ही भजन करो। अथवा मैंने यशोदाके गर्भसे जन्म ग्रहण किया था, इस कारण विष्णुकी बहनके रूपमें भजन करो

अथवा उनकी शक्तिके रूपमें ही मेरा भजन करो। इस प्रकार मैं ही विष्णुभक्ति प्रदान करती हूँ तथा वर्द्धित करती हूँ। यद्यपि माया और विष्णुभक्तिवर्द्धिनी विष्णुशक्ति परस्पर भिन्न हैं, तथापि शक्तिकी छायारूप होनेके कारण दोनोंका ऐक्यरूपमें वर्णन हुआ है॥२८॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तदशेषमनादृत्य विष्णुशक्तिधिया परम्।
तां नत्वावरणं रम्यवर्णं तद्द्रष्टुमभ्रमम्॥२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—मैंने उन प्रकृतिके द्वारा प्रस्तुत अणिमादि सिद्धि या उनके वचनोंको अङ्गीकार न कर केवल विष्णुशक्ति जानकर उनको नमस्कार किया तथा उनके आवरणके मनोहर वर्णको देखनेके लिए वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगा॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् तदुपानीतं द्रव्यं, तदुक्तञ्च सर्वमनादृत्य अनङ्गीकृत्य विष्णोः शक्तिरियमिति बुद्ध्या परं केवलं तां नत्वा तत् प्राकृतमावरणं द्रष्टुमितस्ततोऽभ्रमं चंक्रममकार्षम्। कुतः? रम्यं मनोहरवर्णं कान्तिर्यस्य तत्॥२९॥

भावानुवाद—उन प्रकृतिदेवी द्वारा लाये गये द्रव्यों अर्थात् अणिमादि समस्त सिद्धियोंको मैंने स्वीकार नहीं किया तथा उनके वचनोंका भी आदर नहीं किया। केवल विष्णुशक्ति जानकर मैंने उनको नमस्कार किया तथा उनके आवरणके मनोहर वर्ण अर्थात् कान्तिको देखनेके लिए वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगा॥२९॥

प्राधानिकैर्जीवसङ्घैर्भुज्यमानं मनोरमम्।
सर्वतः सर्वमाहात्म्याधिक्येन विलसत् स्वयम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—स्थूल प्रधानरूप देहसे युक्त उपाधि रहित अगणित जीव उस मनोरम आवरणमें उपभोग कर रहे थे और वह प्रकृति भी स्थूल-सूक्ष्म कार्य-कारणसे भी विलक्षण अधिकतर वैभव प्रकटकर स्वयं प्रकाशमान थी॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विशिनष्टि—प्राधानिकैरिति द्वाभ्याम्। प्रधानं कारणरूपा प्रकृतिस्तन्मात्रमयैः, अतिक्रान्तकार्योपाधित्वात्। सर्वतः स्थूल-सूक्ष्म-कार्य-कारणेभ्यः सकाशात् सर्वेषां बहूनां माहात्म्यानां महिम्नामाधिक्येन हेतुना स्वयं विलसत्

प्रकाशमानं सर्वप्रपञ्चानां तत्कारणकत्वात्। यद्यपि जड़ायास्तस्याः स्वयं प्रकाशता नास्ति, तथाप्यधिष्ठानस्य ज्ञानेन तस्या लयापत्तेर्निजावरक-स्वभावेन तस्याच्छादनात् स्वयं प्रकाशताभावेन स्वयमित्युक्तम्॥३०॥

भावानुवाद—'प्राधानिकैः' इत्यादि दो श्लोकोंमें उस आवरणमें जो देखा उसे वर्णन कर रहे हैं। कार्य-उपाधिसे रहित प्रधानरूप देहसे युक्त जीव अर्थात् कारण रूप प्रकृतिके तन्मात्रमय उपादान—प्रधानके साथ तादात्म्यप्राप्त जीव उस अति मनोरम आवरणका उपभोग कर रहे थे। वह प्रधानरूपी आवरण समस्त प्रकारसे स्थूल-सूक्ष्म और कार्य-कारणादिसे भी अत्यधिक महिमायुक्त होनेके कारण स्वयं ही प्रकाशमान था अर्थात् समस्त प्रपञ्चका कारण स्वरूप था। यद्यपि प्रधानके जड़रूपा होनेके कारण स्वयं उसकी प्रकाशकता नहीं है, तथापि अधिष्ठान अर्थात् जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान होनेसे वह लीन हो जायेगी, इस आशंकासे अपने आवरक (आवरण करनेवाले) स्वभाव द्वारा जीवके स्वरूप ज्ञानको आच्छादितकर उसने स्वयं प्रकाश योग्यता पर अधिकार कर लिया है॥३०॥

बहुरूपं दुर्विभाव्यं महामोहनवैभवम्।
कार्यकारणसङ्घातैः सेव्यमानं जगन्मयम्॥३१॥

श्लोकानुवाद—वह प्रधानरूप आवरण बहुत रूपोंवाला, अनिर्वचनीय और मनमोहन वैभवसे युक्त था। कार्य और कारणके संयोग द्वारा सेवित सम्पूर्ण जगत उसमें परिव्याप्त था॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहुरूपः नानाविकारजातमूलत्वात् दुर्विभाव्यम् अनिर्वचनीयत्वाद-चिन्त्यगतित्वाच्च। अतएव महामोहनं परमचित्ताकर्षकं वैभवं विभूतिर्यस्मिन् यस्य वा। कार्याणि पृथिव्यादीनि, कारणानि च तन्मात्रादीनि तेषां संघातैः सेव्यमानं सूक्ष्मरूपादखिलघनप्रपञ्चमयत्वात्; अतएव जगन्मयम्। एवमत्र व्यक्ततयानुक्तमपि पञ्चतन्मात्रादीनामतिक्रमणमूह्यम्, तेषां सर्वेषामपि प्रकृत्यन्तर्गततत्वात्। किंवा कारणतया तत्कार्येष्वेव समवेतत्वेन पूर्वमेव तैः सहाक्रान्तत्वात्। अन्यथा मुक्तिपदारोहणानुपपत्तेः॥३१॥

भावानुवाद—वह प्रधानरूप आवरण बहुत रूपोंवाला था अर्थात् नानाविकारोंसे उत्पन्न कार्यसमूहका मूल कारण होनेके कारण बहुत रूपोंवाला तथा अनिर्वचनीय होनेके कारण अचिन्त्यगति था। अतएव

परम चित्ताकर्षक विभूतिसे युक्त था। कार्य पृथ्वी आदि, कारण उनकी तन्मात्रा गन्धादि और उनके संयोग द्वारा सेवित सूक्ष्मरूप अखिल घन–प्रपञ्च अर्थात् सम्पूर्ण जगत उसमें व्याप्त था। यद्यपि यहाँ पर रूप, रस, गन्धादि तन्मात्रादिके सम्बन्धमें स्पष्टरूपमें उल्लिखित नहीं हुआ है, तथापि गोपकुमारने उक्त पाँच तन्मात्रादिको भी अतिक्रम किया था—ऐसा जानना होगा। इसका कारण है कि तन्मात्रा प्रकृतिके ही अन्तर्भूत तत्त्वविशेष है अथवा पञ्चतन्मात्रा कारणरूपसे कार्यमें ग्रथित होनेके कारण पहलेसे ही प्रकृतिके साथ सम्मिलित हैं। अतएव प्रकृतिको लाँघनेसे ही प्रकृतिके अन्तर्भूत तत्त्वोंका लाँघना हो जाता है, अन्यथा मुक्तिपदमें जाना सम्भव नहीं होता है॥३१॥

अथेश्वरेच्छयातीत्य दुरन्तं तद्घनं तमः।
तेजःपुञ्जमपश्यन्तं दृङ्निमीलनकारकम्॥३२॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् मैंने ईश्वरकी इच्छासे उस दुरतिक्रम (जिसको लाँघना अति कठिन हो) घन तमको पार किया। फिर मैंने प्रचण्ड तेज पुञ्जको देखा और भयसे अस्थिर होकर दोनों नेत्रोंको बन्द कर लिया॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् प्रकृति-परिणामरूपं घनं तमः; अतीत्य–अतिक्रम्य। ईश्वरस्येच्छयेति—तस्य परमसुन्दरवर्णत्वेन तदतिक्रमणे मदिच्छा नासीदेव, केवलमुक्तिपदप्रापणार्थ-भगवदिच्छयैवेत्यर्थः। तत् अनिर्वचनीयं तेजःपुञ्जं घनतेज इत्यर्थः। दृशोर्निमीलनं मुद्रणं कारयतीति तथा तत्॥३२॥

भावानुवाद—उस प्रकृतिके परिणामरूप घनघोर तमका परमसुन्दर वर्ण होनेके कारण उसको लाँघनेकी इच्छा न होने पर भी मैंने केवल भगवान्‌की इच्छासे मुक्तिपद प्राप्तिके लिए उस दुरतिक्रम घनघोर तमको लाँघकर अनिर्वचनीय तेज पुञ्जको देखा। किन्तु, उस तेज पुञ्जको देखते ही मैंने भयसे अस्थिर होकर नेत्र बन्द कर लिये॥३२॥

भक्त्या परमया यत्नादग्रे दृष्टी प्रसारयन्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशमपश्यं परमेश्वरम्॥३३॥

श्लोकानुवाद—मैंने परमभक्तिके साथ उस आवरणको पार किया और जैसे ही यत्नपूर्वक अपनी दृष्टिको आगे फैलाया, मैंने करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान परमेश्वरके दर्शन किये॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—सूर्यकोटिभिः प्रतिकाशं तुल्यं परममहातेजोघनरुपत्वात्॥३३॥

भावानुवाद—परमेश्वरका करोड़ों सूर्योंके समान परम तेजघनरूप था॥३३॥

मनोदृगानन्दविवर्द्धनं विभुं
विचित्रमाधुर्यविभूषणाचितम् ।
समग्रसत्पुरुषलक्षणान्वितं
स्फुरत् परब्रह्ममयं महाद्भुतम्॥३४॥

श्लोकानुवाद—परमेश्वर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त होने पर भी मन और नयनका आनन्द विवर्द्धनकारी थे। वे विचित्र मधुर-मधुर आभूषणोंसे भलीभाँति अलंकृत थे, सत्पुरुषोंके समस्त लक्षणोंसे युक्त थे तथा अत्यन्त अद्भुत परब्रह्म स्वरूपमें स्फुरित हो रहे थे॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—मन इति द्वाभ्याम्। सूर्यकोटिप्रतीकाशत्वेऽपि मनसां दृशां चानन्दविशेषेण वर्धयतीति तथा तं विभुं व्यापकम्। विचित्रैर्विविधैर्माधुर्यै-र्विभूषणैश्च आचितं व्याप्तम्। समग्रैः सम्पूर्णैः सत्पुरुषस्य लक्षणैः सप्तरक्तत्वादि-रूपैर्द्वात्रिंशतान्वितम्। यतः स्फुरत् मायावरणाभावेन सर्वतो भासमानं यत् परब्रह्म तन्मयं, स्वरूपे मयट्। एवं महाद्भुतं सर्वतोऽत्यन्तविलक्षणमित्यर्थः॥३४॥

भावानुवाद—परमेश्वरके परम घन तेजको विशेषरूपसे स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे 'मन' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। वह परमेश्वर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान होने पर भी मन और वचनोंके आनन्द विवर्द्धनकारी और सर्वव्यापक थे। वे विचित्र विविध माधुर्यमय विभूषणोंसे भलीभाँति अलंकृत थे तथा रक्तके समान लाल हथेली, लाल तलवा इत्यादि महापुरुषोंके बत्तीस लक्षणोंसे युक्त थे। मायावरणके अभावके कारण समस्त प्रकारसे प्रकाशमान परब्रह्मका स्वरूप महाद्भुत अर्थात् सम्पूर्णरूपसे विलक्षण था॥३४॥

सदा गुणातीतमशेषसद्‌गुणं निराकृतिं लोक-मनोरमाकृतिम्।
प्रकृत्याधिष्ठातृतया विलासिनं तदीयसम्बन्धविहीनमच्युतम्॥३५॥

श्लोकानुवाद—वे गुणातीत होने पर भी भक्त-वात्सल्यादि अनन्त गुणोंके आधार स्वरूप थे, प्राकृत आकार न रहने पर भी वे लोक मनोहर अप्राकृत आकारसे युक्त थे तथा अच्युत होनेके कारण प्रकृतिके अधिष्ठाता रूपमें विलास करने पर भी प्रकृति सहित सम्बन्ध-विहीन थे॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—वैलक्षण्यमेवाह—सदेति। गुणान् प्राकृतान्, अतीतम् अतिक्रान्तं परब्रह्ममूर्त्तित्वात्। अशेषाः सद्गुणा भक्तवात्सल्यादयो यस्मिन् तं भगवत्त्वादित्यादिविरोध-सिद्धिसिद्धान्तश्च प्रागुक्तोऽस्त्येव। निराकृतिं प्राकृताकाररहितत्वात् परब्रह्मत्वेन विशेषाभावाद्वा। प्रकृतेः प्रधानस्याधिष्ठानतया आश्रयत्वेन विलासिनं, तस्या अधिष्ठानत्वेन तद्विलासानामप्याश्रयत्वात् ब्रह्मलोकवर्ती भगवान् श्रीमहापुरुषस्तु पूर्वं प्रकृत्यधिष्ठातृत्वेनोक्तः। एष च मुक्तिपदाधिष्ठातृत्वात् परब्रह्मरूपतया प्रकृतेराश्रयमात्रमिति विशेषः। तदीयेन प्राकृतेन सम्बन्धेन स्पर्शेन विहीनं, यतः अच्युतं सर्वथैवाप्रच्युतस्वभावमित्यर्थः॥३५॥

भावानुवाद—अब 'सदा' इत्यादि श्लोक द्वारा परमेश्वरकी विलक्षणताके सम्बन्धमें कह रहे हैं। वे परमेश्वर परब्रह्ममूर्त्ति होनेके कारण गुणातीत होने पर भी भक्त-वात्सल्यादि अनन्त सद्गुणोंके आधार थे और निराकार होकर भी लोक मनोहर आकृतिसे युक्त थे अर्थात् प्राकृत आकार तथा विशेष रहित परब्रह्म होने पर भी वे लोकमनोरम मूर्त्तियुक्त थे। इस प्रकार भगवत्तादि विषयमें विरोधसिद्धि-सिद्धान्तकी बात पहले ही (अध्याय-२, श्लोक-१७९में) कही गई है। प्रकृतिके साथ प्रधानके अधिष्ठाता रूपमें विलास करने पर भी पूर्व कथित ब्रह्मलोकके अन्तर्गत भगवान् श्रीमहापुरुष प्रकृतिके अधिष्ठाता हैं। इस मुक्तिपदके अधिष्ठाता परब्रह्मरूपता हेतु प्रकृतिके आश्रय मात्र हैं। वे अच्युत होनेके कारण प्रकृति सम्बन्ध-शून्य हैं, अर्थात् किसी भी कारणसे अपने स्वभावका परित्याग नहीं करते हैं॥३५॥

महासम्भ्रमसन्त्रास-प्रमोदभरविह्वलः ।
तदा किं करवाणीति ज्ञातुं नेशे कथञ्चन॥३६॥

श्लोकानुवाद—मैं परमेश्वरका दर्शनकर अत्यधिक गौरव, भय और हर्षसे विह्वल हो गया। उस समय मैं किसी भी प्रकारसे अपने कर्त्तव्यका निश्चय नहीं कर पाया॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमहं करवाणीत तदा तस्मिन् काले कथञ्चन केनापि प्रकारेण ज्ञातुं नेशे नाशकमित्यर्थः। कुतः? महतां सम्भ्रम-सन्त्रास-प्रमोदानां भरेण विह्वलो विवशः सन्॥३६॥

भावानुवाद—उस समय मेरा क्या कर्त्तव्य था? अर्थात् क्या करूँ, क्या न करूँ—मैं यह किसी प्रकारसे भी स्थिर नहीं कर पाया। क्यों? क्योंकि उन प्रभु अच्युतका दर्शनकर मैं अत्यधिक गौरव, भय और हर्षसे (आनन्दसे) विवश हो गया था॥३६॥

यद्यपि स्वप्रकाशोऽसावतीतेन्द्रियवृत्तिकः।
तत्कारुण्यप्रभावेण परं साक्षात् समीक्ष्यते॥३७॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि वे स्वप्रकाश और इन्द्रियवृत्तिके अतीत थे, तथापि उनकी करुणाके प्रभावसे ही मैंने उनका साक्षात् दर्शन किया॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यप्यसौ परमेश्वरः स्वप्रकाशः स्वयमेव प्रकाशते इति तथा सः। यतः अतीता अतिक्रान्ता इन्द्रियाणां वृत्तयो येन सः। सर्वेन्द्रियागोचर इत्यर्थः। तथापि तस्य परमेश्वरस्य कारुण्यप्रभावेणैव परं केवलं साक्षात् प्रत्यक्षं सम्यक् तत्तदङ्गसौन्दर्यादि-ग्रहणपूर्वकमसावीक्ष्यते॥३७॥

भावानुवाद—यद्यपि वे परमेश्वर स्वप्रकाश अर्थात् स्वयं ही प्रकाशित होते हैं, उनको कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता, इस कारण वे इन्द्रियवृत्तिके अतीत हैं अर्थात् इन्द्रियोंके अगोचर हैं। तथापि उनकी करुणाके प्रभावसे ही मैंने न केवल उनका साक्षात् दर्शन किया, बल्कि भलीभाँति उनके अङ्ग-सौन्दर्यादिके माधुर्यको भी ग्रहण करते हुए उनका अवलोकन किया॥३७॥

नैतन्निश्चेतुमीशेऽयं दृग्भ्यां चित्तेन वेक्ष्यते।
किंवातिक्रम्य तत्सर्वमात्मभावेन केनचित्॥३८॥

श्लोकानुवाद—परन्तु मैं यह निश्चय नहीं कर सका कि वे परमेश्वर नेत्रके द्वारा दृश्यमान थे अथवा चित्तके? अथवा बाह्य और अन्तरेन्द्रियोंको लाँघकर किसी प्रकारसे आत्मभाव द्वारा निरीक्षित हो रहे थे?॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि एतन्निश्चेतुं निर्धारयितुं नेशे नाशकमित्यर्थः। अयं परमेश्वरो दृग्भ्यामीक्ष्यते दृश्यमानोऽस्ति चित्तेन वा ईक्ष्यते किंवा तच्चित्तं सर्वं सम्पूर्णम्; यद्वा उक्तं दृक् चित्तमन्यदपि तत्सदृशं सर्वं बाह्यमन्तरीणञ्च करणमतिक्रम्य केनचिदनिर्वचनीयेन आत्मनो भावेन चेतना विशेषेण ईक्ष्यते इति॥३८॥

भावानुवाद—तथापि मैं निश्चय नहीं कर पाया कि मैं उन परमेश्वरको अपने नेत्रोंसे देख रहा हूँ अथवा चित्त द्वारा उनका निरीक्षण कर रहा हूँ? अथवा सम्पूर्ण चित्तवृत्ति एकाकार होकर अपृथक् हो गई है। अथवा बाह्य और अन्तरेन्द्रियोंको लाँघकर किसी अनिर्वचनीय आत्मभावकी चेतना विशेष द्वारा उनका दर्शन कर रहा हूँ॥३८॥

क्षणान्निराकारमिवावलोकयन् स्मरामि नीलाद्रिपतेरनुग्रहम्।
क्षणाच्च साकारमुदीक्ष्य पूर्ववन् महामहःपुञ्जममुं लभे मुदम्॥३९॥

श्लोकानुवाद—पुनः क्षणकाल बाद उस महातेज पुञ्जको निराकारकी भाँति देखते ही चित्तके खेदवशतः नीलाद्रिपति श्रीजगन्नाथकी कृपाको स्मरण करने लगा, किन्तु क्षणकाल बाद उन्हींको पुनः साकाररूपमें देखकर हर्षित हुआ॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च अदस्तत् महामहःपुञ्जं क्षणान्निराकारमिवावलोकयन् परमतेजोघनत्वेन विशेषग्रहणाशक्तेः मुक्तिपदस्वभावाद्वा। इवेति तत्त्वतो निराकारतां निराकरोति। नीलाद्रिपतेः श्रीजगन्नाथदेवस्यानुग्रहं स्मरामि, ततोऽन्यः परमदयालुर्न सम्भवेदिति चिन्तयामि, सदा साकारतया दृश्यमानत्वात् क्षणाच्च पूर्ववत् साकारमुदीक्ष्य ऊर्ध्वदृष्ट्यावलोक्य मुदं लभे। अतीतेऽपि वर्त्तमाननिर्द्देशः तत्तत्क्रियाया बहुकाला-नुवृत्त्यपेक्षया। एवमग्रेऽपि यथास्थानमूह्यम्॥३९॥

भावानुवाद—क्षणकाल बाद मैंने उस महातेजपुञ्जका निराकारकी भाँति अवलोकन किया तथा घनीभूत परमतेज होनेके कारण मैं उसकी विशेषता ग्रहण करनेमें असमर्थ हुआ। अथवा मुक्तिपदके स्वभाववशतः तत्त्वतः निराकार न होने पर भी उसे निराकारकी भाँति अवलोकन करते ही मैं नीलाद्रिपति श्रीजगन्नाथके अनुग्रहको स्मरण करता और मनमें चिन्ता करता कि श्रीजगन्नाथदेवके समान परमदयालु कोई नहीं है, क्योंकि वे सर्वदा साकाररूपमें दृश्यमान होते हैं। किन्तु

क्षणकाल बाद मैंने उस तेजपुञ्जको पुनः साकाररूपमें अवलोकन किया, अर्थात् मेरे ऊपरकी ओर दृष्टिपात करनेसे वे महान ज्योतिपुञ्ज मूर्त्तिमान होकर मेरा आनन्दवर्द्धन करने लगता। बहुत काल तक वैसी क्रियाओंकी पुनरावृत्तिकी अकांक्षासे भूतकालमें भी वर्त्तमान कालका निर्देश हुआ है। यह विचार आगे भी यथास्थान पर प्रयुक्त होगा॥३९॥

कदापि तस्मिन्नेवाहं लीयमानोऽनुकम्पया,
रक्षेय निजपादाब्जनखांशुस्पर्शतोऽमुना॥४०॥

श्लोकानुवाद—परमेश्वरकी अनुकम्पासे मैं कभी-कभी उस तेजपुञ्जमें लीन होते-होते किसी प्रकार बच जाता। अर्थात् उन परमेश्वरके श्रीचरणकमलोंके नखमणिकी किरणछटा मुझे स्पर्शकर उस विपदसे मेरी रक्षा करती॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कदापि तस्मिन् महःपुञ्ज एव लीयमानः सायुज्यमाप्नुवन् सन् तत्पद-स्वभावात् अमुना परमेश्वरेण अनुकम्पया अहं रक्षेय, यथापूर्वशरीरत्वेन धार्येय। कथम्? निजयोः पादाब्जयोः नखानां मणयः किरणास्तेषां स्पर्शेन श्रीमच्चरणनखमणिच्छटा-सम्बन्धेनापि न कदाचिन्मुक्तिप्रसङ्गः स्यादिति भावः॥४०॥

भावानुवाद—किसी-किसी समय मैं सायुज्य प्राप्त होनेकी भाँति उस महातेजपुञ्जमें लीन होता हुआ बोध करता, क्योंकि यही मुक्ति पदका स्वभाव है। किन्तु उस समय भी मैं उन परमेश्वरकी कृपासे बच जाता अर्थात् यथायथ पूर्व शरीरमें ही अवस्थान करता। ऐसा किस प्रकार सम्भव होता? वे परमेश्वर अपने श्रीचरणकमलोंके नखमणिकी किरणछटासे मुझे स्पर्शकर उस विपदसे मेरी रक्षा करते तथा उन श्रीचरणोंके नखमणिकी छटाके प्रभावसे कभी भी मेरे हृदयमें मुक्तिका प्रसंग स्थान नहीं पाता॥४०॥

भिन्नाभिन्नैर्महासिद्धैः सूक्ष्मैः सूर्यमिवांशुभिः।
वृतं भक्तैरिवालोक्य कदापि प्रीयते मनः॥४१॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार सूर्य सूक्ष्म किरण-कणों द्वारा परिव्याप्त रहता है, उसी प्रकार समस्त भिन्न-भिन्न महासिद्ध जीव—भक्तोंकी

भाँति उन परमेश्वरको चारों ओरसे घेरे हुए थे। कभी-कभी यह सब देखकर मेरे मनमें आनन्द होता॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—परमेश्वरमित्युक्त्या जातायां पूर्वोक्तरीत्या सेवकसेवापेक्षायामाह—भिन्नेति। महासिद्धैः संसिद्धमुक्तिकैर्जीवैर्वृतमुपस्थितं कदाप्यालोक्य मनो मम प्रीयते। कीदृशैः? भिन्नाभिन्नैः अंशत्वेन तस्माद्भिन्नैरभिन्नैश्च। अतएव सूक्ष्मैरव्यक्तैः मुक्त्या व्यक्ततया पृथगदर्शनात् निरस्तस्थूलमायोपाधित्वात् स्वभावादिभिस्तत्सूक्ष्मांशरूपत्वादिति दिक्। भक्तैरिवेति वस्तुतस्तेषां पूर्वं तादृशभक्त्यभावादिदानीमपि तादृशसेवाराहित्यात्। यतोऽत्र केवलं परितः आवरणरूपेण वृत्तिरेव सेवाभिप्रेता। अत्रानुरूपो दृष्टान्तः—सूक्ष्मैरंशुभिः किरणपरमाणुभिर्वृतं सूर्यमिव ते यथा भिन्ना अभिन्नाश्च सूक्ष्माश्च अंशत्वेन अनुचरा इव च। यथा च तैर्वृत एवासौ सदा वर्ते, तथात्राप्यूह्यम्। एतच्च पूर्वमुक्तप्रायमेव॥४१॥

भावानुवाद—पूर्वोक्त रीतिके अनुसार 'परमेश्वर' कहनेसे सेव्य-सेवक सम्बन्ध सूचित हुआ है। इसलिए कहा गया है—वे परमेश्वर भिन्न और अभिन्न महासिद्ध जीवों द्वारा अपने सेवकोंकी भाँति ही घिरे रहते थे, यह देखकर मेरे मनमें आनन्द होता। वे जीव भिन्न और अभिन्न कैसे थे? परमेश्वरके अंश होनेके कारण जीव उनसे भिन्न और अभिन्न हैं। परमेश्वर विभु-चैतन्य स्वरूप हैं तथा जीव अणु-चैतन्य हैं, चेतनताके धर्मसे दोनों अभिन्न होने पर भी विभु और अणुका भेद होनेके कारण जीव और परमेश्वरमें भेद है। किन्तु मुक्ति प्राप्त जीव भिन्नरूपमें दृश्य नहीं होते, क्योंकि वे माया उपाधिसे निर्मुक्त हैं तथा स्वभावतः परमेश्वरके सूक्ष्म अंश हैं। 'समस्त भक्तोंकी भाँति'—वस्तुतः मुक्तजीवोंने पूर्वमें कभी भी परमेश्वरके प्रति भक्ति प्रदर्शन नहीं की तथा अभी आवरण रूपमें परमेश्वरके चारों ओर घिरे रहनेसे प्रभुके सेवकरूपमें प्रतीत होनेके कारण उन्हें 'समस्त भक्तोंकी भाँति' कहा गया है, किन्तु मुक्तिपदमें भक्तोंके लिए कोई उपयोगी सेवा नहीं है। इसका अनुरूप दृष्टान्त है कि जिस प्रकार सूर्य सूक्ष्म अंशरूप किरण परमाणुओंसे परिव्याप्त है, उसी प्रकार वे परमेश्वर भिन्न और अभिन्न धर्मयुक्त सूक्ष्मांश जीवरूप अनुचरों द्वारा घिरे हुए थे। यह भिन्नाभिन्नत्वका विचार द्वितीय अध्यायके मोक्षविचारमें प्रदर्शित हुआ है॥४१॥

इत्थमानन्द-सन्दोहमनुविन्दन्निमग्नधीः ।
आत्माराम इवाभूवं पूर्णकाम इवाथवा ॥४२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मेरी बुद्धि आनन्द-समुद्रमें निमग्न हो गयी और उस समय मैं भी आत्माराम अथवा पूर्णकामकी भाँति हो गया ॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थमनेन उक्तप्रकारेण आनन्दसमुद्र एव निमग्ना धीर्यस्य सः। अतएव आत्माराम इव, अथवा पूर्णकाम इवाभूवम्। इव-शब्दाभ्यां तत्त्वतस्तथात्वं निरस्यते। आत्मारामत्वे साक्षाद्भगवद्दर्शन-प्रवृत्त्यसम्भवादथवेति पक्षान्तरम् ॥४२॥

भावानुवाद—मेरी बुद्धि उक्त प्रकारके आनन्द-समुद्रमें निमग्न हो गयी। अतएव उस समय मैं भी आत्माराम और पूर्णकामकी भाँति हो गया। यहाँ 'इव' शब्द द्वारा तत्त्वतः आत्मारामता प्राप्तिका खण्डन हुआ है, क्योंकि आत्मारामता उपस्थित होनेसे भगवान्‌का साक्षात् दर्शन करनेकी प्रवृत्ति नहीं रहती। पक्षान्तरमें मुझमें भगवान्‌के दर्शनकी प्रवृत्ति प्रबलरूपमें विद्यमान थी ॥४२॥

तर्कार्चितविचारौघैरिदमेव परं पदम्।
परां काष्ठां गतं चैतदमंसि परमं फलम् ॥४३॥

श्लोकानुवाद—उस समय मैंने मन-ही-मन युक्तितर्क द्वारा विचारकर स्थिर किया कि यही परमपद और चरम सीमा प्राप्त परम फल है ॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—तर्केति, तर्केण न्यायेनार्चितानामादृतानां विचाराणामोघैः समूहैः कृत्वा। इदं महाकालपुराख्यं पदमेव परं श्रेष्ठमित्यमंसि मन्ये स्म। तथा फलं चरममेतदेवेत्यमंसि। कीदृशं? परां चरमां काष्ठां सीमां गतं प्राप्तम्। अस्य पूर्वेण परेण च सम्बन्धः ॥४३॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें गोपकुमारके आत्माराम और पूर्णकामकी भाँति होनेका हेतु बता रहे हैं। तर्कपूर्ण विचारों द्वारा अर्थात् जितने प्रकारके भी न्याय-विचार हो सकते हैं, उन सबकी आराधनाकर मैंने मन-ही-मन स्थिर किया कि यह महाकालपुर नामक परमपद ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है और चरम सीमाको प्राप्त परम फल है ॥४३॥

पदस्वाभाविकानन्द–तरङ्गक्षोभविह्वले ।
चित्ते तदन्यस्व–प्राप्यज्ञानमन्तर्दधाविव ॥४४॥

श्लोकानुवाद—उस महाकालपुर नामक पदकी स्वाभाविक आनन्द-तरङ्गोंके द्वारा चित्तके विह्वल होकर क्षोभित होनेसे वहाँ विराजित परमेश्वरके अलावा प्राप्तकी हुई अन्य सभी वस्तुओंके विषयमें ज्ञान स्वतः ही अन्तर्हित हो जाता है॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीमदनगोपालदेवोपासकस्य तत्र च सम्प्रति विज्ञात-तदीय-श्रीमूर्त्तिसौन्दर्यादिकस्य कथमेतादृक्त्वं सम्भवेत्? तत्राह—पदेति, पदस्य तत्स्थानस्य स्वाभाविकः स्वभावेनैव जायमानो य आनन्दतरङ्गः परम्परा वा, तस्मात् यः क्षोभो धैर्यहानिर्विकार-विशेषो वा तेन विह्वले विवशे चित्ते; तस्मात् पदात् तादृशात् परमेश्वराद्वा, अन्यद्व्यतिरिक्तं यत् स्वस्य मे प्राप्यं साध्यं तस्मिन् ज्ञानं तिरोऽधत्त अन्तर्दधो; इवेति सम्यगन्तर्धानं निवारयति॥४४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि आप तो श्रीमदनगोपालके उपासक हैं, तथा अब उनकी मूर्त्तिके सौन्दर्य-माधुर्यादिसे भी परिज्ञात हुए हैं, अतएव आपके लिए इस मुक्तिपदको परम फल मानना कैसे सम्भव हो सकता है? इसके लिए कह रहे हैं कि उस महाकालपुर नामक पदकी स्वाभाविक आनन्द-तरङ्गोंसे चित्तके विह्वल होकर क्षोभित होनेसे धैर्य-हीनतारूप विकार जब चित्तको सब कुछ विस्मरण करा देता है, उस समय केवल उन परमेश्वरके अलावा अन्यान्य प्राप्त सभी वस्तुओं अर्थात् अन्य उपास्य या उनका ज्ञान स्वतः ही अन्तर्हित हो जाता है। उस पदमें प्राप्त अत्यधिक आनन्द अन्य वस्तुके अनुभवको विलुप्तकी भाँति कर देता। यहाँ 'इव' कार द्वारा वह ज्ञान पूर्णता अन्तर्द्धान नहीं होता—ऐसा समझना होगा॥४४॥

श्रीमन्महाभागवतोपदेशतः सन्मन्त्रसेवा–बलतो न केवलम्।
लीना कदाचिन्निज–पूज्यदेवतापादाब्जसाक्षादवलोक–लालसा॥४५॥

श्लोकानुवाद—महाभागवत श्रीमत् गुरुदेवके उपदेश और उनके द्वारा प्रदत्त मन्त्रकी सेवाके बलसे मुझमें अपने पूज्यदेवताके श्रीचरणकमलोंके साक्षात् दर्शनकी लालसा कभी भी लुप्त नहीं हुई॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यप्येवं, तथापि श्रीगुरुपादप्रसादतः श्रीमदनगोपालदेव–चरणारविन्दविषयक–दिदृक्षा न कदाचिदुपरतेति वदन् पूर्ववत्ततोऽपि परमोत्तमपदप्राप्तये तत्रावस्थितौ निर्वेदकारणमुपन्यस्यति—श्रीमदिति त्रिभिः। निजपूज्यदेवता–श्रीमदन–गोपालदेवस्तस्य पादाब्जयोः साक्षादवलोके लालसा परमौत्सुक्य–विशेषः, केवलं कदाचिदपि न लीना नान्तरधात्। कुतः? श्रीमतो महाभागवतस्य गुरुदेवस्य उपदेशतो या सन्मन्त्रस्य सेवा, तस्या बलतः प्रभावात्॥४५॥

भावानुवाद—यद्यपि वह मुक्तिपद सब कुछ विस्मरण करानेवाला था, तथापि श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी कृपासे और उनके द्वारा दिये हुए मन्त्रकी सेवाके प्रभावसे कभी भी मुझमें मेरे इष्टदेव श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंके दर्शनकी लालसा तिरोहित नहीं हुई। इसलिए पहलेकी भाँति परमश्रेष्ठ पद प्राप्तिके लिए वहाँ अवस्थान करने पर भी मेरे चित्तमें निर्वेद उत्पन्न होता। इसी बातको 'श्रीमत् महाभागवत्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। श्रीगुरुदेवके उपदेश और उनके द्वारा प्रदत्त मन्त्रजपके प्रभावसे मुझमें मेरे पूज्यदेवता श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंके साक्षात् दर्शनकी लालसा कभी भी विलीन नहीं हुई॥४५॥

उतास्य तेजोमयपूरुषस्य चिरावलोकेन विवर्धितोऽभूत्।
निजेष्ट–सन्दर्शनदीर्घलोभः स्मृतेः सृतिं नीत इव प्रकर्षात्॥४६॥

श्लोकानुवाद—परन्तु उन तेजोमय पुरुषका बहुत समय तक अवलोकन करनेके फलस्वरूप मुझमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालदेवके साक्षात् दर्शन करनेका लोभ और भी वर्द्धित हो गया और वे बलपूर्वक मेरे स्मृति पथ पर आने लगे॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं ब्रह्मलोकादिसकाशान्मुक्तिपदस्याधिको महिमा त्वयि कतमोऽस्त्वित्यपेक्षायामाह—उतेति। निजेष्टः श्रीमदनगोपालदेवस्तस्य सन्दर्शने साक्षादवलोकने यो दीर्घ आयतश्चिरकालीनो वा लोभो लालसा–विशेषः, सोऽस्य मुक्तिपदाधिष्ठातुश्चिरं मत्कर्तृकेणावलोकनेन विवर्धितोऽभूत्। स्मृतेर्मनोवृत्तिविशेषस्य, सृतिं पन्थानम्, प्रकर्षान्नीत इव, अस्य चिरदर्शनेन तत्स्मरणविशेषोत्पत्तः। इवेति वस्तुतः कदापि तद्विस्मृतिर्नास्ति इति बोधयति॥४६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ब्रह्मलोकसे मुक्तिपदकी अधिक महिमा क्यों है? इसकी आकांक्षामें 'उता' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं।

इस मुक्तिपदके अधिष्ठाता तेजोमय परमेश्वरको बहुतकाल तक अवलोकन कर मुझमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालके साक्षात् दर्शनकी चिरकालीन उत्कण्ठा और भी वर्द्धित हो गयी। यद्यपि वह उत्कण्ठा कभी भी प्रशमित नहीं होती, तथापि उन परमेश्वरके दर्शनसे मेरी स्मृति पथ पर वे बलपूर्वक उदित होने लगे। स्मृति मनकी वृत्तिविशेष है, उस स्मृतिके किसी एक श्रेष्ठ पथ पर आकर्षित होनेकी भाँति बहुत काल तक तेजोमय पुरुषके दर्शनसे मुझमें अपने इष्टदेवका स्मरण विशेषरूपसे ही वर्द्धित होता। 'इव' कारका अर्थ है—वस्तुतः कभी भी उनकी विस्मृति नहीं होती॥४६॥

तेन तं प्रकटं पश्यन्नपि प्रीये न पूर्ववत्।
सीदाम्यथ लयं स्वस्य शङ्कमानः स्वयम्भवम्॥४७॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मुक्तिपदके अधिष्ठाता परमेश्वरको साकाररूपमें दर्शन करने पर भी मैं पहलेकी भाँति हर्षित नहीं हो पाता, अपितु 'उनमें लीन हो जाऊँगा'—ऐसी आशंकासे सर्वदा उद्विग्न होता॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन लोभविवर्धनेन हेतुना तं मुक्तिपदाधिष्ठातारं परमेश्वरं प्रकटं साकारत्वेन व्यक्तं पश्यन्नपि पूर्ववत् निजेष्टदेव-सन्दर्शनलोभ-विवृद्धेः पूर्वं यथा प्रीतिं प्राप्तोऽस्मि, तथा न प्रीये प्रीतो न भवामि। अथ प्रत्युत स्वस्य लयं शङ्कमानः सीदामि, लयेन निजेष्टदेवसन्दर्शनाशाविनाशात्। कीदृशम् लयम्? स्वयम्भवं तत्पदस्वभावेन स्वयमेव भवति जायत इति तथा तम्॥४७॥

भावानुवाद—अपने इष्टदेवके दर्शनका लोभ वर्द्धित होनेका कारण था—उन मुक्तिपदके अधिष्ठाता परमेश्वरको साकाररूपमें अवलोकन करना। किन्तु अपने इष्टदेवके दर्शनका लोभ वर्द्धित होने पर भी मैं पूर्ववत् हर्षित नहीं हो पाता, अपितु उन तेजोमय पुरुषमें लीन होनेकी आशंकासे उद्विग्न हो उठता। इसका कारण था कि उन मुक्तिपदके अधिष्ठाता परमेश्वरके अत्यन्त निकट होनेसे समस्त जीव मुक्तिपदके स्वभाववशतः उन तेजोमय पुरुषमें लीन हो जाते। मैं भी उनके निकट ही था, अतः मैं विचार करता कि यदि मैं इनमें लीन हो गया तो चिरकालके लिए अपने इष्टदेवके दर्शनकी आशा नष्ट हो जायेगी—मैं इस भयसे सर्वदा दुःखित रहता॥४७॥

व्रजभूमाविहागत्य साधयेऽहं स्व–वाञ्छितम्।
विमृशन्नेवमश्रौषं गीतवाद्याद्भुत–ध्वनिम् ॥४८॥

श्लोकानुवाद—कब मैं व्रजभूमिमें जाकर अपना अभीष्ट साधन करूँगा। इस प्रकारसे मन–ही–मन विचार करते–करते मैंने अद्भुत गीत–वाद्यकी ध्वनि सुनी॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव इह अस्यां व्रजभूमावागत्य स्व–वाञ्छितं निजेष्टदेव–सन्दर्शनं साधयेयमित्येवं विमृश्य विचार्य तत्पदादग्रे गतः सन् इति तेन महापुरुषेण सह श्रीशिवस्यासङ्गमो ज्ञेयः। गीतवाद्यानामद्भुतमश्रुतपूर्वं ध्वनिविशेषम्॥४८॥

भावानुवाद—अतएव इस व्रजभूमिमें लौटकर अपना वाञ्छित अर्थात् अपने इष्टदेवके दर्शनका साधन करूँगा। इस प्रकार चिन्ता करते–करते कुछ आगे जाते ही मुझे गीत–वाद्यादिकी अद्भुत अर्थात् पहले कभी न सुनी हुई ध्वनि सुनाई पड़ी। इस विशेष ध्वनिके द्वारा उन मुक्तिपदके अधिष्ठाता महापुरुषके साथ श्रीशिवके संगमकी सूचना हो रही थी॥४८॥

हृष्टोऽहं परितः पश्यन् वृषारूढं व्यलोकयम्।
कमप्यूर्ध्वपदात्तत्रायान्तं सर्वविलक्षणम् ॥४९॥

श्लोकानुवाद—उस ध्वनिको सुनकर मैं आनन्दित हुआ और फिर देखा—बैल पर विराजित होकर समस्त प्रकारसे विलक्षण कोई पुरुष ऊर्ध्वदेशसे वहाँ पर अवतरण कर रहे थे॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ऊर्ध्वपदादुपरितनप्रदेशात्; तत्र मुक्तिपदे आयान्तं कमपि व्यलोकयम्; कमपीति तदानीं तत्तत्त्वाज्ञानात्। कीदृशम्? सर्वेभ्यः पूर्वदृष्टेभ्यो विलक्षणम्॥४९॥

भावानुवाद—मैंने देखा कि समस्त प्रकारसे विलक्षण कोई एक अपूर्व मूर्त्ति बैल पर विराजित होकर ऊपरसे अर्थात् मुक्तिपदके ऊपरी प्रदेशसे इस मुक्तिपदमें अवतरण कर रही है। यहाँ 'कोई एक' कहनेका उद्देश्य यही है कि उस समय मुझे उनका तत्त्व अवगत नहीं था। वह भगवन्मूर्त्ति कैसी थी? इसके पूर्व भगवान्की जिन समस्त मूर्त्तियोंका अवलोकन किया था, वह उन समस्त मूर्त्तियोंसे विलक्षण थी॥४९॥

कर्पूर–गौरं त्रिदृशं दिगम्बरं चन्द्रार्धमौलिं ललितं त्रिशूलिनम्।
गङ्गाजलाम्लानजटावलीधरं भस्माङ्गरागं रुचिरास्थि–मालिनम्॥५०॥

श्लोकानुवाद—वे पुरुष कर्पूरकी भाँति गौरवर्णके थे, त्रिनेत्रयुक्त, दिगम्बर, अर्द्धचन्द्रमौली, ललित, गङ्गाजल द्वारा प्रक्षालित जटावली धारणपूर्वक शोभा पा रहे थे। उनके शरीर पर भस्मका अङ्गराग था और वे अस्थियोंकी मनोहर मालासे शोभित होकर हाथमें त्रिशूल धारण किये हुए थे॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—वैलक्षण्यमेव निर्दिशंस्तं विशिनष्टि–कर्पूरेति द्वाभ्याम्। ललितं परमसुन्दरं तं त्रिशूलिनम् त्रिशूलधरम्, गङ्गाजलैरम्लाना जटावलीर्धारयतीति तथा तं, शिरसि गङ्गां जटाजूटञ्च विभ्रतमित्यर्थः; भस्मैवाङ्गरागो विलेपनं यस्य; रुचिरैर्मृतवैष्णववराणामस्थ्युद्भवत्वात् सुन्दरैरस्थिभिर्या माला तद्वन्तम्॥५०॥

भावानुवाद—अब 'कर्पूर' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा उनकी विलक्षणता निर्देश कर रहे हैं। वे कर्पूरकी भाँति गौरवर्णयुक्त परमसुन्दर पुरुष थे, उनके हाथमें त्रिशूल था तथा उनके मस्तककी जटावली गङ्गाजलसे प्रक्षालित हो रही थी अर्थात् उनके मस्तककी जटाजूटका आश्रयकर गङ्गादेवी शोभा पा रही थी। उनके शरीर पर भस्मका लेप था तथा उन्होंने शरीरका त्याग किये हुए वैष्णवचूड़ामणिजनोंकी अस्थियोंकी सुन्दर माला निर्माणकर धारण की हुई थी॥५०॥

गौर्या निजाङ्काश्रितयानुरञ्जितं दिव्यातिदिव्यैः कलितं परिच्छदैः।
आत्मानुरूपैः परिवार–सञ्चयैः संसेव्यमानं रुचिराकृतीहितैः॥५१॥

श्लोकानुवाद—उनकी गोदमें विराजित गौरी (पार्वती देवी) प्रेमसे तृप्त हो रही थी और वे महादेव दिव्यसे भी अति दिव्य छत्र–चामरादि द्वारा घिरकर अपने अनुरूप सेवकों द्वारा सेवित हो रहे थे। उन सेवकोंकी आकृति और अङ्ग–सञ्चालन अत्यन्त मनोहर था॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजं तदीयमङ्कमाश्रितया स्वाङ्के निवेश्यालिङ्गितयेत्यर्थः। एवम्भूतया गौर्या गौराङ्ग्या अनुरञ्जितं प्रेम्णाप्यायितम्; गौर्येति तत्त्वाज्ञानेन यथादृष्टवर्णमात्रेण निर्देशः। दिव्येभ्यो देवोपभोग्येभ्यः परमोत्कृष्टेभ्योऽपि वा अतिदिव्यैः परमोत्कृष्टतरैः परिच्छदैः छत्रचामरादिभिः कलितं परिवृतम्; आत्मानुरूपैः शिरस्युपयुक्तैरिति वा। परिवाराणां परिजनानां सञ्चयैः समूहैः संसेव्यमानं चामरान्दोलनादिना

भक्त्या परिचर्यमाणम्। कीदृशैः? रुचिरा आकृतयो मूर्त्तयः, लम्बोदर–गजाननताद्या ईहितानि च व्यापारा येषां तैः। यद्यपि लम्बोदराद्युपासनया लम्बोदरगजाननताकारतादिकं बहुविधं वर्तते, तथाप्यत्र श्रीकृष्णाभेदेन श्रीशिवोपासनया श्रीशिवलोकप्राप्तानामेषां सुन्दराकारतादिकं श्रीवामन–पुराणे ह्यन्धकयुद्धप्रसङ्गोक्त्यनुसारेणोक्तम्॥५१॥

भावानुवाद—श्रीगौराङ्गी (पार्वती देवी) महादेवकी गोदमें बैठकर उनको तृप्त कर रही थी और वे भी अपने प्रेमसे उनको तृप्त कर रहे थे। यहाँ 'गौराङ्गी' कहनेका तात्पर्य है कि उनके तत्त्वज्ञानके अभावमें केवल उनके वर्णको देखकर ही गोपकुमारने उनका निर्देश किया है। वे महादेव दिव्यसे भी अतिदिव्य परम श्रेष्ठ छत्र–चामरादि द्वारा मण्डित थे तथा अपने अनुरूप सेवकों द्वारा सेवित हो रहे थे। उनके भक्तोंमें कोई चामर ढुला रहा था और कोई छत्रादि धारण किया हुआ था। उन अनुचरोंकी आकृति कैसी थी? उनकी आकृति और अङ्ग–चालनादि अत्यन्त रुचिकर थे—जैसे श्रीगणेशका बड़ा पेट तथा हाथीका माथा।

यद्यपि गणेशादिकी उपासना द्वारा गणेश आदिके समान आकारयुक्त देह प्राप्त होता है, तथापि श्रीवामनपुराणमें श्रीशिव और अन्धकके बीच हुए युद्धके प्रसंगमें कथित है कि श्रीकृष्णके साथ अभेदभावसे श्रीशिवकी उपासना द्वारा श्रीशिवलोक प्राप्ति होने पर मनोहर आकृतियुक्त देह प्राप्त होता हैं॥५१॥

परमं विस्मयं प्राप्तो हर्षञ्चैतदचिन्तयम्।
को न्वयं पारिवाराढ्यो भाति मुक्तिपदोपरि॥५२॥

श्लोकानुवाद—उनका दर्शनकर मुझे परम विस्मय और हर्ष हुआ। मैं मन–ही–मन चिन्ता करने लगा कि अपने परिवारके साथ मुक्तिपदके ऊपर विराजमान यह पुरुष कौन हैं?॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—विस्मये हर्षे च हेतुः—को न्वयमिति, नु वितर्के॥५२॥

भावानुवाद—विस्मय और हर्षका कारण था कि मुक्तिपदके ऊर्ध्व–देशमें विराजमान परिवार द्वारा घिरे हुए यह पुरुष कौन हैं?॥५२॥

जगद्विलक्षणैश्वर्यो मुक्तवर्गाधिकोऽपि सन्।
लक्ष्यतेति सदाचारो महाविषयवानिव॥५३॥

श्लोकानुवाद—उनका जगतसे विलक्षण ऐश्वर्य था तथा वे मुक्त-जनोंसे भी श्रेष्ठतम होकर सदाचार-उल्लंघनकारी महाविषयीके समान लक्षित हो रहे थे॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, जगतो विलक्षणं निरुपममैश्वर्यं यस्य तादृशोऽपि अतिक्रान्तसदाचार इव लक्ष्यते, दिगम्बरत्वेऽपि प्रियालिङ्गनादिना, तथा मुक्तानां त्यक्तविषय-सम्बन्धानां वर्गेभ्योऽधिकः श्रेष्ठतमोऽपि महाविषयवानिव लक्ष्यते, विचित्र-विभूतिमत्त्वात्। इव-शब्देन तत्त्वतस्तादृक्त्वं निरस्यति; परमेश्वरस्य धर्मपरिपालकस्य सदाचार-लंघनेन, तथा परममुक्तस्वभावकस्यापि विषयभोगदर्शनेन परमविस्मयाद्-वितर्कः॥५३॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं—वे जगत विलक्षण निरुपम ऐश्वर्यवान होकर भी सदाचार-उल्लंघनकारीकी भाँति दिखाई दे रहे थे अर्थात् सर्वत्यागी दिगम्बर होकर भी सर्वदा प्रेयसीको अपनी गोदमें धारण किये हुए थे। तथा विषय सम्बन्धका त्याग करनेवाले मुक्तजनोंसे भी श्रेष्ठतम होकर महाविषयीके समान छत्र-चामरादि विषय भोग करनेके कारण उनकी समस्त विभूतियाँ विचित्र लक्षित हो रही थीं। यहाँ 'इव' शब्द द्वारा तत्त्वतः वैसा होनेका खण्डन हुआ है, अर्थात् तत्त्व विचार करनेसे वैसी प्रतीत नहीं होती। विशेषतः वे धर्म परिपालक परमेश्वर होकर भी सदाचारका उल्लंघन कर रहे थे तथा परममुक्तस्वभाव होने पर भी विषय-भोग कर रहे थे। ऐसा वैचित्र्यमय व्यवहार देखकर मैं परम विस्मित हुआ॥५३॥

परानन्दभराक्रान्तचेतास्तद्दर्शनादहम्　।
नमन् सपरिवारं तं कृपयालोकितोऽमुना॥५४॥

श्लोकानुवाद—गौरीपतिके दर्शनसे मेरा चित्त परमानन्दसे ग्रसित हो गया। मैंने सपरिवार उन गौरीपतिको प्रणाम किया और उन्होंने भी मुझ पर कृपा सहित दृष्टिपात किया॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य गौरीपतेर्दर्शनात् यः परानन्दभरः परानन्दातिशयः तेनाक्रान्तचेताः सन् तं सपरिवारं नमन्; अमुना गौरी-पतिना कृपयाऽहमवलोकितो दृष्टः॥५४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद दृष्टव्य है॥५४॥

हर्षवेगादुपव्रज्य श्रीमन्नन्दीश्वराह्वयम्।
अपृच्छं तदगणाध्यक्षं तद्वृत्तान्तं विशेषतः॥५५॥

श्लोकानुवाद—मैं अत्यन्त हर्ष सहित उनके निकट गया और उनके गणाध्यक्ष श्रीमन् नन्दीश्वरसे उनके विषयमें विशेषरूपसे पूछा॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च हर्षस्य वेगात् प्राबल्यात् श्रीमन्तं नन्दीश्वरसंज्ञं तस्य गौरीपतेर्गणाध्यक्षं सेवकमुख्यमुपव्रज्य निकटे गत्वा तस्य गौरीपतेर्वृत्तान्तं विशेषतोऽपृच्छम्। कोऽयं कुत्र निवसति, कुत्र वा यातीत्यादिविशेषवृत्तप्रश्नमकरवम्॥५५॥

भावानुवाद—तब मैं अत्यन्त हर्षके साथ उनके निकट गया और उन गौरीपतिके मुख्य सेवक श्रीमन् नन्दीश्वरसे उनके सम्बन्धमें विशेषरूपसे पूछा—ये कौन हैं? कहाँ रहते हैं तथा कहाँ जा रहे हैं?॥५५॥

स सहासमवोचन्मां गोपालोपासनापर।
गोपबाल! न जानीषे श्रीशिवं जगदीश्वरम्॥५६॥

श्लोकानुवाद—उन्होंने (श्रीनन्दीने) हास्यपूर्वक मुझसे कहा, हे गोपालकी उपासनामें अनुरक्त गोपबालक! क्या तुम जगदीश्वर श्रीशिवको नहीं जानते हो?॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—स नन्दीश्वरः किमवोचत्? तदाह—गोपालेति पादोनचतुर्भिः। हे गोपालोपासनापरेति श्रीशिवाज्ञानेऽसम्भावना निरस्ता। तथाप्यज्ञानाद्धासः। युक्तञ्चैत-दित्यभिप्रायेण पुनः सम्बोधयति—हे गोपबालेति। जगदीश्वरमित्यनेन परमस्वतन्त्रस्य सदाचारादिलंघनेनापि न दोष इति ध्वनितम्॥५६॥

भावानुवाद—तब उन नन्दीश्वरने हास्यपूर्वक कहा—हे गोपालकी उपासनामें रत जन! क्या तुम जगदीश्वर श्रीशिवको नहीं जानते? यद्यपि गोपालके उपासकके लिए श्रीशिवके विषयमें अज्ञानता असम्भव है, तथापि ज्ञानकी मिथ्या प्रतीति हेतु नन्दीश्वरने हास्यपूर्वक पुनः कहा, 'हे गोपबालक!' अर्थात् गोपबालक होनेके कारण तुम उनके तत्त्वके विषयमें अनजान हो सकते हो। 'जगदीश्वर' कहनेका तात्पर्य है कि वे परमस्वतन्त्र हैं, अतः सदाचारका उल्लंघन करनेसे उनका कोई दोष नहीं होता॥५६॥

भुक्तेर्मुक्तेश्च दातायं भगवद्भक्तिवर्द्धनः।
मुक्तानामपि संपूज्यो वैष्णवानाञ्च वल्लभः॥५७॥

श्लोकानुवाद—ये भुक्ति और मुक्तिके दाता हैं तथा समस्त भक्तोंकी भगवद्भक्तिका वर्द्धन करते हैं। समस्त मुक्तोंके द्वारा भलीभाँति पूज्य हैं तथा वैष्णवोंके प्रिय हैं॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगवतः श्रीकृष्णस्य भक्तिं स्नेहादिदर्शनेन स्वस्मिन् वर्धयतीति तथा सः। यद्वा, भगवांश्चासौ भक्तिवर्धनश्च। ततश्च सर्वपुरुषार्थाधिकः पुरुषार्थविशेषो भक्तिरिति ज्ञेयम्। शिवभक्तत्वेन तस्यायमभिप्रायः। वस्तुतस्तु भगवति लोकानां भक्तिं स्ववचनाचरितैर्वर्धयतीति। अतएव वैष्णवानां विष्णुभक्तिपराणां वल्लभः। तन्मते शिव-कृष्णयोरभेदाद्वैष्णव-वल्लभत्वम्। यद्वा, वैष्णवानामपि प्राप्यत्वेन प्रियत्वं द्रष्टव्यम्॥५७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके प्रति अपनी भक्ति अर्थात् स्नेहादिके वर्द्धन द्वारा श्रीशिव अपने प्रति श्रीकृष्णके प्रेमका वर्द्धन करते हैं। ये भगवान् होकर भी श्रीकृष्णके प्रति भक्तिवर्द्धन करते हैं। अथवा ये भोगदाता और मुक्तिदाता होने पर भी भक्तिवर्द्धन अर्थात् सर्वपुरुषार्थ शिरोमणि जो भक्ति है, उसका वर्द्धन करते हैं। यहाँ शिवभक्त श्रीनन्दीश्वरका अभिप्राय है कि श्रीशिव और श्रीकृष्णके अभेदरूपमें जो शिवभक्ति है, ये उसका वर्द्धन करते हैं। किन्तु वास्तवमें भगवान्‌के प्रति जो भक्ति है, श्रीशिव जगतमें उसी भक्तिका अपने वचनों और आचरण द्वारा वर्द्धन करते हैं। अतएव श्रीशिव वैष्णवोंके प्रिय हैं। श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेद हेतु भी वे समस्त वैष्णवोंके वल्लभ हैं। अथवा वैष्णवोंको श्रीशिवका सङ्ग प्राप्त होनेके कारण वे उनके प्रिय हैं॥५७॥

शिव-कृष्णापृथग्दृष्टि-भक्तिलभ्यात् स्वलोकतः।
स्वानुरूपात् कुबेरस्य सख्युर्भक्तिवशीकृतः॥५८॥
कैलासाद्रिमलंकर्तुं पार्वत्या प्रिययाऽनया।
समं परिमितैर्याति प्रियैः परिवृतैर्वृतः॥५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेददृष्टि सहित भक्ति करनेसे जो लोक प्राप्त होता है, ऐसे अपने अनुरूप लोकसे श्रीशिव अपने सखा कुबेरकी भक्ति द्वारा वशीभूत होकर अपनी प्रिया पार्वती

और थोड़े बहुत परिजनोंके साथ कैलाश पर्वतकी शोभावर्द्धन करनेके लिए वहाँ जा रहे हैं॥५८–५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुतः कुत्र यातीत्यपेक्षायामाह—शिवेति। स्वलोकतः कैलासाद्रिमलंकर्तुं यातीति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र हेतुः—कुबेरस्य सख्युः सखित्वेनाङ्गीकृतस्य भक्त्या वशीकृतः। कीदृशात् स्वलोकात्? शिवे कृष्णे च अपृथग्दृष्ट्या या भक्तिस्तया लभ्यात्। पुनः कीदृशात्? स्वस्य श्रीशिवस्य अनुरूपादुपयुक्तादिति। नित्यापरिमितविचित्रवैभवसम्पत्तिरुक्ता। अनया श्रीशिवाङ्कोपविष्टया पार्वत्या सममिति तस्या अपि परिचयः कृतः। प्रिययेत्यालिङ्गनदोषो निराकृतः। नन्वीदृशश्चेत् कथमल्पपरिवारकः? तत्राह—प्रियैरेव, तत्र च परिमितैरेव परिजनैर्वृत इति। अन्येऽपि बहवोऽस्य परिवाराः शिवलोके सन्ति। कैलासाद्रिमसङ्कोचेनाधुनाल्पा एव परिवाराः सङ्गे गृहीता इति भावः॥५८–५९॥

भावानुवाद—कहाँसे आ रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं? इस प्रश्नकी आकांक्षासे कह रहे हैं—अपने लोकसे कैलाश पर्वतको अलंकृत करने जा रहे हैं। किस कारणसे? कुबेरके सख्य भावके बलसे अर्थात् उसकी भक्तिसे वशीभूत होकर वहाँ जा रहे हैं। उनका अपना लोक कैसा है? श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेदबुद्धिपूर्वक भक्ति करनेसे उस लोककी प्राप्ति होती है। ऐसे अपने अनुरूप लोक अर्थात् नित्य असीम विचित्र वैभव सम्पत्तिसे युक्त अपने उस लोकसे थोड़े बहुत परिजनोंसे परिवृत होकर प्रिया पार्वती सहित आगमन कर रहे हैं। यहाँ 'श्रीशिवकी गोदमें विराजित श्रीपार्वती सहित' कहनेसे उनका वास्तव परिचय प्राप्त हो गया। इसलिए 'प्रेयसीको सदा अंकमें रखे हुए हैं' अर्थात् श्रीशिवकी शक्ति होनेके कारण दोनोंमें अभेद है—इन वाक्योंमें प्रेयसीसे आलिङ्गनादिका दोष दूर हुआ। यदि कहो कि उनका तो विशाल वैभव और अनन्त परिकर उस शिवलोकमें विराजमान हैं अतः वे इस प्रकार थोड़ेसे परिजनोंके साथ क्यों जा रहे हैं? इसके लिए कहते है कि वह कैलाश पर्वत सीमित स्थान है, अतएव असंकोच विहारके लिए अभी थोड़ेसे परिकरोंके साथ वहाँ जा रहे हैं॥५८–५९॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽहमैच्छं तस्मान्महेश्वरात्।
प्रसादं कमपि प्राप्तुमात्मनो हृदयङ्गमम्॥६०॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले, नन्दीश्वरकी समस्त बातोंको सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ और शिव-कृष्णकी अभिन्नता हेतु उन महेश्वरसे अपने अनुभवगोचर कोई विशेष प्रसाद (कृपा) पानेकी इच्छा करने लगा॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कमपि श्रीमदनगोपालदेवेन सह श्रीशिवस्याभेदज्ञानादिरूपं आत्मनो मम हृदयङ्गमम्। प्रियमित्यस्यायं भावः—श्रीमदनगोपालपादपद्मद्वय एव मम स्वाभाविकी रतिः, परमैश्वर्यादिदृष्ट्या श्रीशिवोऽयमपि परित्यक्तुं न शक्येत; अतोऽनयोरभेदज्ञानेनैव मनस्तुष्यतीति॥६०॥

भावानुवाद—श्रीनन्दीश्वरकी बातोंको सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ और श्रीमदनगोपालके साथ श्रीशिवकी अभिन्नताको हृदयङ्गम कर मैंने श्रीशिवसे कोई विशेष कृपा प्राप्त करनेकी इच्छा की। यद्यपि श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंमें मेरी स्वाभाविक रति थी, तथापि श्रीशिवके परम ऐश्वर्यादिको देखकर मैं उन्हें भी परित्याग करनेमें असमर्थ हो गया था, क्योंकि मैंने सोचा कि इन श्रीमहादेव और श्रीमदनगोपालदेवमें अभेदज्ञान होनेसे ही मन सन्तोष प्राप्त करेगा॥६०॥

ज्ञात्वा भगवता तेन दृष्ट्यादिष्टस्य नन्दिनः।
उपदेशेन शुद्धेन स्वयं मे स्फुरदञ्जसा॥६१॥

श्लोकानुवाद—सर्वज्ञ भगवान् श्रीमहादेवने मेरे अभिप्रायको जानकर नन्दीश्वरको आदेश दिया और नन्दीश्वरके निर्मल उपदेशसे मेरे हृदयमें अनायास ही वह अभेदतत्त्व स्फुरित हुआ॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन महेश्वरेण भगवता सर्वज्ञशिरोमणिना ज्ञात्वा मम हृद्यमभिप्रेत्य दृष्ट्या अवलोकेन कृत्वा आदिष्टस्य नन्दिनः श्रीनन्दीश्वरस्य भगवदंशोद्भुत-नन्दिनामवृषभस्य वा, शुद्धेन निर्मलेनोपदेशेन शिव-कृष्णाभेदज्ञान-प्रकार-शिक्षणेन स्वयं साक्षात् अञ्जसा सुखेन॥६१॥

भावानुवाद—तब सर्वज्ञशिरोमणि भगवान् श्रीमहेश्वरने मेरे अभिप्रायसे अवगत होकर नेत्रोंके इंगित द्वारा अपने प्रधान अनुचर श्रीनन्दीश्वरको आदेश किया, अथवा श्रीभगवान्‌के अंशसे उत्पन्न श्रीनन्दी नामक बैलको आदेश किया। उनके निर्मल उपदेशसे श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेदज्ञानरूपी विषय स्वतः ही मेरे हृदयमें स्फुरित हुआ॥६१॥

श्रीमन्मदनगोपालान्निज–प्राणेष्टदैवतात् ।
अभिन्नः श्रीमहेशोऽयमुत तद्भाववर्द्धनः ॥६२॥

श्लोकानुवाद—तब मैं समझ पाया कि ये श्रीमहेश्वर मेरे प्राणोंके इष्टदेवता श्रीमदनगोपालसे अभिन्न हैं और यही समस्त भक्तोंमें भगवद्भक्तिकी वृद्धि करते हैं॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमस्फुरत्तदाह—श्रीमदिति। अभिन्नत्वादस्मिन्नपि रतिर्युज्यत एव; किञ्चास्य भक्त्यापि तस्मिन्नेव भक्तिः कृता स्यादिति भावः। विशेषतश्चास्यैव भक्त्या स प्राप्येतेत्याशयेनाह—उतेति अप्यर्थे। तस्य श्रीमदनगोपालदेवस्य भावं भक्तिं वर्धयतीति तथा सः॥६२॥

भावानुवाद—मेरे हृदयमें जिस अभेदतत्त्वकी स्फूर्ति हुई वह इस प्रकार थी—मेरे प्राणोंके इष्टदेवता श्रीमदनगोपालदेवसे ये श्रीमहेश्वर भिन्न नहीं हैं, अतः अभिन्न होनेके कारण इनसे भी प्रीति करना उचित है। तथा इनकी भक्ति करनेसे मेरे इष्टदेवकी भक्ति करना हो जायेगा। विशेषतः श्रीमहादेवकी भक्ति द्वारा ही श्रीमदनगोपालदेवको भी प्राप्त किया जायेगा, क्योंकि ये श्रीमदनगोपालदेवके प्रति भक्तोंकी भक्तिका वर्द्धन करते हैं॥६२॥

सुखं तद्गण–मध्येऽहं प्रविष्टः प्रीणितोऽखिलैः।
शैवैः श्रीनन्दिनोऽश्रौषं वृत्तमेतद्विलक्षणम्॥६३॥

श्लोकानुवाद—फिर मैंने आनन्दपूर्वक श्रीशिवके गणोंके बीचमें प्रवेश किया तथा वे शिवभक्त भी मेरा हर्ष–वर्द्धन करने लगे। उसके बाद मैंने श्रीशिवके वाहन श्रीनन्दी नामक बैलके मुखसे विलक्षण वृत्तान्त सुना॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तस्य श्रीशिवस्य गणानां मध्ये सुखं प्रविष्टः सन् अखिलैः शैवैः शिवभक्तैः प्रीणितो हर्षितः सन् श्रीनन्दिनः सकाशादेतद् वक्ष्यमाणं वृत्तमश्रौषम्। श्रीगोपकुमारस्य सहजवृषभप्रीत्या तत्पार्श्वगमनेन तस्मादेव श्रवणं युक्तम्॥६३॥

भावानुवाद—तब मैंने परमसुखसे श्रीशिवके गणोंके बीच प्रवेश किया तथा समस्त शिवभक्त भी मेरे मनको सन्तुष्ट करनेमें लग गये। बादमें मैंने श्रीनन्दी नामक बैल द्वारा कहा गया वृत्तान्त सुना। गो–प्रिय

गोपकुमार होनेके कारण सहजरूपमें ही मेरी उस बैलके प्रति प्रीति उत्पन्न हो गई अतएव उसके निकट जाकर उससे श्रवण करनेमें मुझे अत्यधिक सुख प्राप्त होने लगा॥६३॥

सदैकरूपो भगवान् शिवोऽयं वसन् स्व-लोके प्रकटः सदैव।
विलोक्यते तत्र निवासतुष्टैस्तदेकनिष्ठैः सततं निजेष्टैः॥६४॥

श्लोकानुवाद—ये भगवान् श्रीशिव सर्वदा एकरूप हैं और अपने लोकमें सदैव ही प्रकटभावसे वास करते हैं। उनके एकनिष्ठ भक्त भी उनके प्रिय उस शिवलोकमें रहते हुए परमानन्दपूर्वक सदैव उनका दर्शन करते हैं॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—सदेति त्रिभिः। सदा एकरूप एव, न तु कदाचिन्निराकारत्वेन, कदापि साकारत्वेन मुक्तिपदाधिष्ठातृवद्विविधरूपः। यद्वा, एकमेव रूपं मुर्त्तिर्न तु मत्स्यकुर्मादि-नानारूपं यस्य सः; इत्यनेन तदेकप्रीतिनिष्ठानां कदापि तदीय-निजरूपान्यदर्शनशङ्काया निरासेन सदैव सुखसम्पत्तिरुक्ता। अतः स्वलोके सदैव प्रकटः सन् वसन्, न तु श्रीविष्ण्वादिवदन्तर्धाय कुत्रापि गच्छन्नित्यर्थः। अतएव निजेष्टैरेव तदीयप्रियजनैः सततं विलोक्यते। अनेन स्वर्ग-महर्लोकाद्यधिष्ठातृ-श्रीविष्णुयज्ञेश्वरादिभ्यो विशेषो दर्शितः। अयञ्च श्रीशिवभक्तस्य श्रीनन्दिनोऽभिप्रेतार्थः। वस्तुतश्चायमर्थः—सदैव एकरूपः, सच्चिदानन्दविग्रहत्वेन कदापि विकाराभावात्। अतः सदैव स्वलोके प्रकटः सन् वसन् मायिकाखिलप्रपञ्चातीतत्वेन मुक्तिपदोपर्यपि वर्त्तमानत्वेन च सदैव निजगणमनोनयनाह्लादकतया प्रकाशमानत्वादिति दिक्। अत्र शिवलोके यो निवासो नितरां वसतिः, तेनैव तुष्टैस्तृप्तैः; यतस्तस्मिन् शिव एव एका अव्यभिचारिणी निष्ठा तत्परता येषां तैः॥६४॥

भावानुवाद—श्रीनन्दीसे क्या श्रवण किया? इसे बतलानेके लिए 'सदैकरूपो' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। ये भगवान् श्रीशिव सर्वदा एकरूप ही हैं, मुक्तिपदके अधिष्ठाता परमेश्वरकी भाँति कभी साकाररूपमें और कभी निराकार रूपमें प्रतीत नहीं होते हैं। अथवा एकरूपका अर्थ है कि इनकी मत्स्य-कूर्मादिरूप नाना मूर्त्तियाँ नहीं हैं, सचमुच इनमें निष्ठ प्रीति रखनेवाले भक्तोंको कभी भी इष्टदेवकी दूसरी श्रीमूर्त्तिके दर्शनसे उत्पन्न क्लेश भोग नहीं करना पड़ता। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि महादेवके प्रीतिनिष्ठ भक्तोंको सर्वदा सुखसम्पत्तिकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं रहती, क्योंकि उन्हें अपने

इष्टरूपसे भिन्न अन्य किसी रूपके दर्शनकी आशंका नहीं रहती। अतएव ये अपने लोकमें सर्वदा ही प्रकटभावसे विराजित रहते हैं, श्रीविष्णु आदिकी भाँति अन्तर्हित होकर कभी भी कहीं जाते नहीं हैं। इसलिए उनके एकनिष्ठ भक्त उनके विशेष प्रीतिपात्र हैं और वे भी उस शिवलोकमें सर्वदा निवास करते हुए परमसुखसे उनका अवलोकन करते हैं। इसके द्वारा स्वर्ग और महर्लोकादिके अधिष्ठाता श्रीविष्णु और यज्ञेश्वरादिसे श्रीशिवकी विशेषता प्रदर्शित होती है—यही वक्ता शिवभक्त श्रीनन्दीके कहनेका अभिप्रेत अर्थ है।

वस्तुतः 'सदैव एकरूप'का अर्थ है—सच्चिदानन्द-विग्रह हेतु विकाररहित रहना। अतएव समस्त मायिक प्रपञ्चोंसे अतीत मुक्तिपदके भी ऊपर वर्त्तमान शिवलोक नामक अपने लोकमें सदा प्रकटरूपमें रहते हुए वे अपने गणोंके मन और नेत्रोंका आनन्द वर्द्धन करते हैं। उस शिवलोकमें जो नित्य वास करते हैं, वही वहाँ पर तृप्त होते हैं, क्योंकि श्रीशिवके प्रति उनकी एकान्तिक निष्ठा है॥६४॥

स्वाभिन्नभगवद्भक्तिलाम्पट्यं ग्राहयन्निव।
सदा रमयति स्वीयान् नृत्यगीतादिकौतुकैः॥६५॥

श्लोकानुवाद—ये स्वयं ही सर्वदा नृत्य, गीत और भगवान्के नामसंकीर्त्तनादि द्वारा कौतुक विस्तार किया करते हैं तथा अपने भक्तोंको भी अपने अभिन्न स्वरूप श्रीकृष्णकी भक्तिके प्रति लोभकी शिक्षा देकर सुखी करते हैं॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, सदा स्वीयान् स्वभक्तान् नृत्यादिकौतूकैः कृत्वा रमयति; आदि-शब्देन भगवन्नामसंकीर्त्तनादय-प्रेम-रोदनादि। किमर्थम्? स्वस्मादभिन्नो यो भगवान् श्रीकृष्णस्तस्मिन् या भक्तिस्तस्यां लाम्पट्यं रसिकतां ग्राहयन्, लोकान् ग्राहयितुम्; इवेति तस्यैव तत्स्वभावकतां द्योतयति, नारदादिवद् भक्तावतारत्वात्॥६५॥

भावानुवाद—आगे कहते हैं—ये सदा-सर्वदा नृत्य-गीतादि रूप कौतुक विस्तारकर अपने भक्तोंको सुखी करते हुए रमण करते हैं। 'आदि' शब्दका अर्थ है—भगवान्का नामसंकीर्त्तन तथा आदर और प्रेमसे रोदनादि। वे किसलिए श्रीभगवान्का नामसंकीर्त्तन करते हैं? अपने अभिन्न-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिके प्रति लोभ अर्थात्

उसकी रसिकतादिको ग्रहण करनेके लिए स्वयं आचरणकर समस्त लोगोंको उसे ग्रहण करनेकी शिक्षा देकर सुखी करते हैं। 'इव' कारका अर्थ है—श्रीनारदादि भक्तावतारोंकी भाँति वे भी भक्तावतार हैं अर्थात् श्रीकृष्ण-भक्तिमें निमग्न रहते हैं॥६५॥

भगवन्तं सहस्रास्यं शेषमूर्त्तिं निजप्रियम्।
नित्यमर्चयति प्रेम्णा दासवज्जगदीश्वरः॥६६॥

श्लोकानुवाद—श्रीशिव जगतके ईश्वर होकर भी दासकी भाँति नित्य ही अपने प्रिय सहस्रवदन शेषमूर्त्ति भगवान्‌का प्रेमसहित अर्चन किया करते हैं॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव शेषमूर्त्तिं भगवन्तं जगतामीश्वरोऽप्ययं दासवन्नित्यमर्चयति। शेषमूर्तेरेव पूजायां हेतुः—निजप्रियमिति। लीलया द्वयोरेव तमोगुणाधिष्ठातृत्वात्; अतएव प्रेम्णा नित्यमर्चयति। तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ५/१७/१६) इलावृतवर्ष-पूज्यवर्णने—*'भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुद-सहस्रैरवबुध्यमानो भगवतश्चतुर्मूर्त्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्त्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति'* इति। अहङ्कारावरण-पूज्यसङ्कर्षणादस्य विशेषमाह—सहस्रास्यमिति। एतेन सहस्रफणादिकञ्चोह्यम्। एतच्च तत्रैव श्रीशिवस्तुतौ वर्णितमस्ति। स च सङ्कर्षणः श्रीप्रद्युम्नानिरुद्धवत् प्रायेन चतुर्भुजत्वादिविशिष्ट एव। एवं सर्वथा सर्वतोऽधिकः श्रीशिवलोकस्य महिमा दर्शितः॥६६॥

भावानुवाद—अतएव श्रीशिव जगतके ईश्वर होने पर भी दासकी भाँति सर्वदा ही प्रेमसहित शेषमूर्त्ति भगवान्‌की पूजा किया करते हैं। शेषमूर्त्तिकी पूजाका एकमात्र कारण है कि वे उनके प्रिय हैं। लीलावशतः उपास्य और उपासक दोनों ही तमोगुणके अधिष्ठाता हैं, इसलिए श्रीशिव अपने प्रियतम भगवान् श्रीशेषकी प्रेमपूर्वक नित्य अर्चना करते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (५/१७/१६)में इलावृतवर्षके पूज्य पुरुषके वर्णनमें उक्त है—"इस वर्षमें पार्वती और उनके अधीन सैकड़ों-हजारों दासियों द्वारा सदा सर्वदा सेवित भगवान् शंकर परम पुरुष भगवान्‌की वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण नामक चार मूर्त्तियोंमें से अपनी कारणरूपा सङ्कर्षण नामकी तमः प्रधान चतुर्थ मूर्त्तिको आत्मसमाधि योगसे हृदयमें ध्यानपूर्वक सदा उनकी स्तव-स्तुतिके

साथ अर्चना करते हैं।" ये सङ्कर्षण तमोगुणके अधिष्ठाता, प्रलयकालीन तमोगुणके प्रेरणकर्ता तथा वस्तुतः तुरीय अर्थात् त्रिगुणके अतीत परमशुद्ध चिन्मयमूर्त्ति हैं। अहंकार आवरणके अधिष्ठाता पूज्य सङ्कर्षणसे इन सङ्कर्षणकी विशेषता है, अर्थात् इनके सहस्र मुख, सहस्रफणा इत्यादि उसी शिवस्तुतिमें वर्णित हैं। किन्तु अहंकार आवरणके अधिष्ठाता सङ्कर्षण श्रीप्रद्युम्न और अनिरुद्धादिकी भाँति चुतुर्भुज हैं। इसके द्वारा सम्पूर्णरूपसे शिवलोककी महिमा प्रदर्शित होती है॥६६॥

ज्ञात्वेमं शिवलोकस्य विशेषं सर्वतोऽधिकम्।
प्रमोदं परमं प्राप्तोऽप्यपूर्णं हृदलक्षयम्॥६७॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैं शिवलोकके सबकी तुलनामें अधिक और विशेष माहात्म्यको जानकर परम आनन्दित हुआ, किन्तु तथापि मेरे हृदयमें अपूर्णता ही बोध होती॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं श्रीशिवलोकस्य माहात्म्यविशेषश्रवणात् तत्प्राप्त्याशया परमानन्दविशेषे जातेऽपि श्रीमदनगोपालदेवपादपद्मसन्दर्शनोत्कण्ठा मामवबाधत इत्याह—ज्ञात्वेति त्रिभिः। इममुक्तप्रकारकं, हृत् निजं मनः अपूर्णमसन्तुष्टं न्यूनं वा अलक्षयं, सुखविशेषानुदयादिलक्षणेनाज्ञासिषम्॥६७॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैंने शिवलोकके विशेष माहात्म्यका श्रवण किया और उसकी प्राप्तिकी आशासे परमानन्दित होने पर भी श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंके दर्शनकी उत्कण्ठा मेरे उस आनन्दमें बाधा देती। मैं अपने मनकी अपूर्णता या असन्तुष्टता लक्ष्यकर अर्थात् विशेष सुख उत्पन्न न होनेके लक्षणों द्वारा इसे जान पाया॥६७॥

तन्निदानमनासाद्य सद्योऽज्ञासिषमामृशन्।
श्रीमद्गुरुप्रसादाप्तवस्तु-सेवा-प्रभावतः ॥६८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैं प्रथमतः मनके इस प्रकारसे अतृप्त रहनेके कारणको तनिक भी समझ नहीं सका, तथापि विचार करते ही श्रीमद्गुरुदेवकी कृपासे प्राप्त मन्त्रकी सेवाके प्रभावसे तत्क्षण सबकुछ समझ गया॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्या असम्पूर्णताया निदानञ्च अनासाद्य अलब्ध्वा आमृशन् विचारयन्, सद्यस्तत्क्षण एव अज्ञासिषं ज्ञातवानहम्; कुतः? श्रीमद्गुरोः प्रसादात् प्राप्तं यद्वस्तु दशाक्षरमन्त्रः, तस्य सेवाप्रभावाद्धेतोः॥६८॥

भावानुवाद—यद्यपि मैं प्रथमतः मनके उस प्रकार असन्तुष्टताके कारणको समझ नहीं सका, किन्तु विचार करते ही उसी क्षण सब कुछ जान गया। किस प्रकारसे जाना? श्रीमद्गुरुदेवकी कृपासे प्राप्त दशाक्षर मन्त्रकी सेवाके प्रभावसे॥६८॥

श्रीमन्मदनगोपालदेव–पादसरोजयोः ।
लीलाद्यनुभवाभावो मामयं बाधते किल॥६९॥

श्लोकानुवाद—श्रीमन्मदनगोपालके चरणकमलोंसे सम्बन्धित लीलादिका अनुभव न कर पानेके कारण ही मेरा मन अतृप्त जैसा लक्षित होता था॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं तदाह—श्रीमदिति। आदि-शब्देन सौन्दर्य-माधुर्य-कारुण्यादि; लीलादीनामनुभवस्याभावोऽयं मां बाधते पीड़यति। किल वितर्के॥६९॥

भावानुवाद—उस अतृप्तिका कारण क्या था? इसके लिए 'श्रीमत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेद है, तथापि श्रीमदनगोपालकी माधुरी अनुभव न कर पानेके कारण ही मेरा मन अतृप्त जैसा लक्षित होता था। 'आदि' शब्दसे सौन्दर्य, माधुर्य और कारुण्यादि गुणोंको समझना होगा। विशेषतः उनकी लीलाओंके अनुभवका अभाव ही मेरे लिए पीड़ादायक हुआ अर्थात् अतृप्तिके कारणरूपमें लक्षित हुआ॥६९॥

अबोधयं मनोऽनेन महेशेनैव सा खलु।
लीलाविशेष–वैचित्री कृता मूर्त्तिविशेषतः॥७०॥

श्लोकानुवाद—ऐसा निश्चयकर मैंने अपने मनको समझाया कि ये श्रीमहेश्वर ही एक अन्य परमसुन्दर मूर्त्ति ग्रहणकर उन समस्त विशेष लीला वैचित्र्यको प्रकट करते हैं॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च मनो निजमबोधयम्; किम्? तदाह—अनेन साक्षाद्दृश्यमानेन। ननु सोऽन्यः, अयञ्चान्य एव मूर्त्तिभेदात्, तत्राह—मूर्त्तेः

श्रीविग्रहस्य विशेषेणेति। अयमेव हि तत् परमसुन्दरतरं रूपं प्रकाश्य तथा कृतवानस्तीत्यर्थः॥७०॥

भावानुवाद—इसके बाद मैंने अपने मनको आश्वासन दिया। किस प्रकार? हे मन! दृश्यमान ये श्रीमहादेव ही परमसुन्दर मूर्त्ति प्रकटकर विचित्र लीला विस्तार करते हैं। यदि आपत्ति हो कि वे परमसुन्दर मूर्त्ति कोई और है और दृश्यमान ये महेश कोई अन्य हैं, अतएव मूर्त्तिभेद होनेके कारण किस प्रकारसे लीलाका माधुर्य अनुभव होगा? इसके समाधानके लिए कहते हैं—ये महादेव ही उस प्रकारसे सुन्दररूप प्रकटकर विशेष-विशेष लीला वैचित्र्य प्रकट करते हैं॥७०॥

तथाप्यस्वस्थमालक्ष्य स्वचित्तमिदमब्रुवम्।
यद्यस्मिन्नानुभूयेत सा तद्रूपादि-माधुरी॥७१॥
तथापि दीर्घवाञ्छा तेऽनुग्रहादस्य सेत्स्यति।
अचिरादिति मन्यस्व स्वप्रसाद-विशेषतः॥७२॥

श्लोकानुवाद—मेरे द्वारा मनको समझाने पर भी मन किन्तु पहलेकी भाँति अप्रसन्न ही रहा, तब मैंने फिर विचार किया—(हे मन!) यद्यपि इन श्रीमहादेवके रूपमें श्रीमदनगोपालदेवकी लीलादिकी माधुरीका अनुभव नहीं कर पा रहे हो, तथापि इन श्रीमहादेवकी कृपासे तुम्हारी दीर्घकालकी वाञ्छा शीघ्र ही पूर्ण होगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है॥७१-७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि एवं प्रबोधितेऽपि स्वचित्तमस्वस्थमालक्ष्य अस्मिन् सर्वथा तदनुभवस्य तत्त्वतोऽसम्भवात् स्वचित्तं प्रत्येवाब्रुवम्; इदन्तापरामृष्टमेव प्रकटयति—यदीति सार्द्धेन। अस्मिन् श्रीरुद्रे सा परमासाधारणा तस्य श्रीमदनगोपाल-देवस्य रूपादीनां माधुरी; आदि-शब्देन गुण-लीलादि। अस्य श्रीशिवस्यानुग्रहादेव ते तव वाञ्छा तद्रूपमाधुर्याद्यनुभवेच्छा अचिरात् सेत्स्यति सिद्धिं यास्यति, इत्येतन्मन्यस्व; कुतः? स्वस्मिन् त्वयि यः प्रसादविशेषस्तस्माद्धेतोः, अन्यथैतादृश-प्रसादानुपपत्तेः॥७१-७२॥

भावानुवाद—तथापि जब मन आश्वस्त नहीं हुआ और पहलेकी भाँति ही अप्रसन्न रहा, तब मैंने पुनः कहा—हे भ्रातः मन! तत्त्वविचारसे यदि तुम उस माधुर्यको इस मूर्त्तिमें आस्वादन करना

असम्भव मानते हो, तब मैं जो कहता हूँ उसे सुनो। यद्यपि इन श्रीरुद्रमें श्रीमदनगोपालदेवके परम असाधारण गुण-लीलादिकी माधुरीका साक्षात् अनुभव नहीं करते हो, तथापि इन श्रीशिवकी असाधारण करुणाके प्रभावसे ही तुम्हारी वह वाञ्छा अर्थात् उस प्रकारके माधुर्यादिके अनुभवकी इच्छा शीघ्र ही पूर्ण होगी। हे मनः! तुम ऐसा निश्चयकर स्थिर हो जाओ, सन्देह मत करो, क्योंकि किसी प्रकारके भी संशयके रहते वे तुम्हारे प्रति कभी भी ऐसा अनुग्रह प्रकाश नहीं करेंगे॥७१-७२॥

एवं तुष्टमनास्तस्य तत्र केनापि हेतुना।
विश्रान्तस्य महेशस्य पार्श्वेऽतिष्ठं क्षणं सुखम्॥७३॥

श्लोकानुवाद—किसी कारणवश श्रीशिवने मुक्तिपदमें कुछ क्षणके लिए विश्राम किया, तब मैंने भी उनके निकट खड़े रहकर प्रबोध वाक्यों द्वारा मनको सन्तुष्ट किया॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्त-बोधनप्रकारेण तुष्टं मनो यस्य तादृशः सन् तस्य उक्तमाहात्म्य-महेशस्य पार्श्वे क्षणं सुखमतिष्ठमासम्। ननु कैलासाद्रिं गच्छतस्तस्य पार्श्वेऽवस्थितिः कथं समपद्यतेत्यत आह—केनापि हेतुना, तत्र मुक्तिपदे विश्रान्तस्य; स च हेतुरग्रे व्यक्तो भावी। यस्यैव गोपकुमारस्यार्थे तत्रागच्छतां वैकुण्ठ-पार्षदानां सङ्गमापेक्षया किल तत्र कृतविश्राम इति क्षणमित्यनेन सद्य एव प्रसङ्गान्तरं तत्रापतितमिति सूचितम्॥७३॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रबोध वचनोंसे मनको सन्तुष्टकर और महेश्वरके उक्त माहात्म्यको साक्षात् दर्शन करनेके लिए मैंने क्षणभरके लिए उनके निकट सुखपूर्वक अवस्थान किया। यदि आपत्ति हो कि वे महादेव तो कैलाश पर्वतको जा रहे थे, अतः उनके निकट अवस्थान किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके लिए कह रहे हैं—किसी कारणसे विश्रामके लिए वे मुक्तिपदमें आये। वह कारण आगे व्यक्त होगा। अभी गोपकुमारके लिए वैकुण्ठके पार्षदगण वहाँ पर आ रहे थे, उनके सङ्गकी आशासे श्रीशिवने वहाँ पर क्षणकाल विश्राम किया। यहाँ 'क्षणकाल' कहनेसे तत्क्षणात् प्रसंग बदले जानेकी सूचना मिलती है॥७३॥

तर्ह्येव भगवन्! दूरे केषामपि महात्मनाम्।
सङ्गीत–ध्वनिरत्यन्तमधुरः कश्चिदुदगतः ॥७४॥

श्लोकानुवाद—हे भगवन्! उसी समय दूरसे किन्हीं महात्माओंकी अत्यन्त मधुर संगीत ध्वनि सुनाई पड़ी॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—तर्ह्येवेति षड्भिः। तस्मिन्नेव क्षणे हे भगवन्! माथुरत्वेन तत्र च श्रीमदनगोपालोपासनेन परमभाग्ययुक्तः कश्चिदनिर्वचनीयः सङ्गीतध्वनिरुद्गत आविर्बभूव॥७४॥

भावानुवाद—उस प्रसंगको बतानेके लिए 'तर्ह्येव' इत्यादि छह श्लोक कह रहे हैं। हे भगवन्! उसी समय कुछ महात्माओंकी अनिर्वचनीय संगीत ध्वनि सुनाई पड़ी। यहाँ गोपकुमार द्वारा 'भगवन्' सम्बोधन उस माथुर-ब्राह्मणका परमभाग्य सूचित करता है, क्योंकि वह श्रीमदनगोपालदेवका उपासक था॥७४॥

तं श्रुत्वा परमानन्द–सिन्धौ मग्नो महेश्वरः।
महाप्रेमविकारात्तः प्रवृत्तो नर्त्तितुं स्वयम्॥७५॥

श्लोकानुवाद—उस संगीत ध्वनिको सुनकर महेश्वर परमानन्दके सागरमें निमग्न हो गये और महाप्रेम विकारमें उन्मत्त होकर स्वयं ही नृत्य करने लगे॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं ध्वनिं श्रुत्वा महता प्रेम्णा ये विकाराश्चित्तार्द्रता–लक्षण–स्वेद–गद्गदाकम्प–पुलकाश्रुपातादिरूपास्तैरात्तो गृहीतो वशीकृतः सन्नित्यर्थः। स्वयमेव नर्त्तितुं प्रवृत्तः॥७५॥

भावानुवाद—उस ध्वनिको सुनकर महेश्वर महाप्रेम विकारमें प्रमत्त हो गये। अर्थात् चित्तके द्रवीभूत होनेके कारण स्वेद, कम्प, पुलक, गद्गद वचन और अश्रुपातादि रूप सात्विक विकारोंसे परिव्याप्त होकर स्वयं ही नृत्य करने लग गये॥७५॥

पतिव्रतोत्तमा सा तु देवी नन्द्यादिभिः सह।
प्रभुमुत्साहयामास वाद्य–संकीर्त्तनादिभिः॥७६॥

श्लोकानुवाद—पतिव्रता-शिरोमणि पार्वतीदेवी भी नन्दी आदि गणोंके साथ वाद्य-संकीर्त्तनादि द्वारा प्रभुका उत्साह वर्द्धन करने लगी॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो तादृशीं निजेश्वरस्य धैर्यहानिं दृष्ट्वापि पार्वती नासूयामकरोदुत तमेवान्ववर्त्ततेत्याह—पतीति। सा अङ्कोपविष्टा वाद्यादिभिः कृत्वा प्रोत्साहयामास, तत्रोत्साहं कारयामास; यत पतिव्रतासु मध्ये उत्तमा॥७६॥

भावानुवाद—अहा! अपने ईश्वरको उस प्रकारसे अधीर होते देखकर भी पार्वतीदेवीने कोई ईर्ष्या प्रकाशित नहीं की, अपितु पतिकी गोदमें बैठी रहकर ही श्रीशिवका अनुसरण किया। अर्थात् वाद्य-संकीर्त्तनादि द्वारा उनका उत्साह वर्द्धन करने लगी, क्योंकि वे पतिव्रताओंमें श्रेष्ठ हैं॥७६॥

सद्य एवागतांस्तत्राद्राक्षं चारुचतुर्भुजान्।
श्रीमत्कैशोर-सौन्दर्यमाधुर्यविभवाचितान्॥७७॥

श्लोकानुवाद—उस समय मैंने देखा कि मनोहर चार भुजाओंवाले कैशोर अवस्थाके सौन्दर्य तथा माधुर्यसे युक्त कुछ पुरुष उस स्थान पर आये॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—सद्यस्तस्मिन्नेव क्षणे तत्र शिव-पार्श्वे आगतान् चारवः सुन्दराश्चत्वारो भुजा येषां तान् अद्राक्षमपश्यम्। श्रीशिवगणेषु केषाञ्चिच्चतुर्भुजत्वापेक्षयात्र चारुशब्द-प्रयोगः। तथा च वामनपुराणे तानेव विशिनष्टि-सार्द्धद्वयेन। श्रीमतां कैशोर-सौन्दर्यमाधुर्याणां विभवैर्विस्तारैराचितान् व्याप्तान्॥७७॥

भावानुवाद—उसी समय वे महात्मागण श्रीशिवके निकट आ पहुँचे। वे मनोहर चार भुजाओंसे युक्त थे। यहाँ 'चारु' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीशिवगणोंमें किसी-किसीके चतुर्भुज होने पर भी वे गण वैकुण्ठ पार्षदोंकी भाँति चारु (सुन्दर) नहीं थे। इसलिए श्रीवामनपुराणमें वैकुण्ठ पार्षदोंकी विशेषता वर्णित हुई है—वे कैशोर अवस्थाके सौन्दर्य और माधुर्यसे युक्त तथा विपुल वैभवादिके द्वारा अर्चित हैं॥७७॥

भूषाभूषणगात्रांशुच्छटाच्छादितशैवकान्।
निजेश्वरमहाकीर्त्ति-गानानन्दरसाप्लुतान्॥७८॥

श्लोकानुवाद—वे वैकुण्ठ पार्षद भूषणोंके भी भूषणस्वरूप थे तथा अपनी अङ्गकान्तिके द्वारा शिवके गणोंको आच्छादित कर रहे थे। अपने ईश्वरकी महाकीर्त्तिके गान द्वारा वे आनन्दरसमें निमग्न हो रहे थे॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—भूषा अलङ्कारान् भूषयन्तीति तथा तादृशानि यानि गात्राणि तेषामंशुच्छटाभिः किरणाग्रभागैराच्छादिताः शैवाः शिवगणा यैः; निजेश्वरस्य श्रीवैकुण्ठ-नाथस्य महाकीर्त्तीनां गानानन्दरसे आप्लुतान् निमग्नान्॥७८॥

भावानुवाद—वे अलङ्कारोंके भी अलङ्कार स्वरूप थे। उनकी अङ्गकान्ति शिवभक्तोंकी शुभ कान्तिको आच्छादित कर (ढक) रही थी। वे अपने ईश्वर श्रीवैकुण्ठनाथकी महाकीर्त्तिके गान रूप आनन्दरसमें निमग्न थे॥७८॥

अनिर्वाच्यतमांश्चेतोहारि-सर्वपरिच्छदान् ।
सङ्गतान् पूर्वदृष्टैस्तैश्चतुर्भिः सनकादिभिः॥७९॥

श्लोकानुवाद—वचनके द्वारा उनका वर्णन करना सम्भव नहीं था तथा उनके वस्त्र-आभरणादि मनोहर थे। तपोलोकमें दृष्ट सनकादि चार भाई भी इनके साथ ही थे॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—चेतोहारिणः सर्वे परिच्छदा वस्त्रालङ्कारादयो येषाम्; पूर्वं तपोलोके दृष्टैः सनकादिभिः सङ्गतान् मिलितान्। अनेन तेषां नित्यतपोलोकवासित्वेन ब्रह्मलोकादिवासिभ्यः सकाशात् प्राप्तं न्यूनत्वं वारितं, भगवदवतारत्वात्॥७९॥

भावानुवाद—उनके वस्त्र अलङ्कारादि भी मनोहर थे तथा पूर्वमें तपोलोकमें जिनके दर्शन हुए थे, वे श्रीसनकादि चार भाई भी उनके साथमें ही थे। यद्यपि वे नित्य ही तपोलोकमें वास करते हैं, तथापि श्रीभगवान्के अवतार होनेके कारण ब्रह्मलोकवासियोंकी तुलनामें कम नहीं हैं॥७९॥

तद्दर्शनस्वभावोत्थप्रहर्षाकृष्टमानसः ।
नाज्ञासिषं किमप्यन्तर्बहिश्चान्यन्निजप्रियम्॥८०॥

श्लोकानुवाद—उनके दर्शनके स्वाभाविक फलसे उदित जो प्रेम था, उसीसे मेरा मन ऐसा आकृष्ट हो गया कि उस समय मैं अन्दर या बाहरमें अपने किसी अन्य प्रिय विषयको जान ही नहीं पाया॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च अन्यत्तेषां दर्शनात् परं निजप्रियमन्तर्मनसि बहिश्च किमपि किञ्चिदपि नाज्ञासिषम्; तत्र हेतुः—तेषां दर्शनस्य स्वभावेनोत्थ आविर्भूतो यः प्रकृष्टो हर्षस्तेनाकृष्टं मानसं यस्य सः॥८०॥

भावानुवाद—उस समय उनके साक्षात् दर्शनसे मैं अन्दर या बाहर, अपना या पराया, किसी भी अन्य प्रियविषयको जान ही नहीं सका। इसका कारण था कि उनके दर्शनके स्वभावसे उदित जो प्रचुर आनन्द था, उसीसे मेरा मन आकृष्ट हो गया॥८०॥

क्षणात् स्वस्थोऽप्यहो तेषां दासत्वमपि चेतसा।
नाशकं याचितुं भीत्या लज्जया च सुदुर्घटम्॥८१॥

श्लोकानुवाद—थोड़ी देरके बाद मैंने स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त किया, किन्तु तथापि भय और लज्जावशतः मैं उनके दास्यरूप दुर्घटवस्तुकी याचना नहीं कर पाया॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वस्थः प्रकृतिस्थः सन्नपि तेषां चारुचतुर्भुजानां दासत्वमपि चेतसापि याचितुं नाशकम्; केन हेतुना? भीत्या लज्जया च। ननु कुतो भीतिर्लज्जा चेत्यपेक्षयामाह—सुदुर्घटं परम-दुर्लभतरं नीचस्य परमोच्चतरपद-प्रार्थनेऽयोग्यत्वादपराधेन भीतिर्लज्जा च सम्भवेदेवेति भावः॥८१॥

भावानुवाद—क्या आश्चर्य! क्षणकालके बाद स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त करने पर भी मैं उन सुन्दर चतुर्भुजगणोंके दास्यरूप दुर्घटवस्तुकी मनके द्वारा भी प्रार्थना नहीं कर पाया। किसलिए? भय और लज्जावशतः। यदि कहो कि अभीष्टवस्तुकी प्रार्थनामें भय और लज्जाका क्या कारण है? इसकी आकांक्षासे कहते हैं कि सुदुर्घट अर्थात् परम दुर्लभ वस्तुकी प्रार्थना या परमोच्च पदकी प्रार्थनामें अयोग्यताके कारण अपराधवशतः नीचजनोंमें स्वभावतः लज्जा और भय उत्पन्न होता है॥८१॥

एषा हि लालसा नूनं कृपणं मामबाधत।
सम्भाषेरन्निमे किं मां शिवस्य कृपया सकृत्॥८२॥

श्लोकानुवाद—पार्षदोंके दास्यको प्राप्त करनेकी लालसा बहुत ही दुर्घट है, इसलिए मन-ही-मन भी प्रार्थना नहीं कर पानेके कारण मेरे चित्तमें बहुत दीनता उत्पन्न हुई। फिर उस दास्यको प्राप्त करनेकी लालसा भी वर्द्धित होकर मेरे चित्तको और भी उत्पीड़ित करने

लगी। उस समय मैंने सोचा कि श्रीशिवकी कृपासे क्या ये एकबार मेरे साथ बातचीत करेंगे? ॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—नूनं निश्चये; कृपणं मनस्यपि तेषां दास्यप्रार्थनाशक्त्या दीनचित्तम्। लालसामेवाह—इमे चारुचतुर्भुजाः सकृदपि सम्भाषेरन्निति॥८२॥

भावानुवाद—मैं मन-ही-मन भी उनके दास्यकी प्रार्थना नहीं कर पानेके कारण बहुत ही दुःखित हो गया। फिर वह लालसा भी मुझे अधिकतर पीड़ा देने लगी। मेरी लालसा थी कि ये चतुर्भुज महापुरुषगण क्या एक बार भी मेरे साथ बातचीत करेंगे? ॥८२॥

कुत्रत्याः कतमे वैते कृपापाङ्गेन पान्तु माम्।
यानालिङ्ग्य भृशं रुद्रः प्रेममूर्च्छामयं व्रजेत्॥८३॥

श्लोकानुवाद—ये कहाँ वास करते हैं? ये कौन हैं? जैसा भी हो, कृपा-कटाक्ष द्वारा मेरी रक्षा करें। कैसा आश्चर्य! उनको आलिङ्गनकर श्रीरुद्र भी महाप्रेममें मूर्च्छित हो गये॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपायुक्तेन अपाङ्गेन ईषदवलोकनेनेत्यर्थः। पान्त्विति, अन्यथा मरणमेव स्यादिति भावः। एते तु केचित् परममहत्तमा नूनं भविष्यन्तीत्य-भिप्रायेणाह—यानिति॥८३॥

भावानुवाद—कृपायुक्त कटाक्ष द्वारा अर्थात् ईषत् अवलोकन द्वारा ये मेरी रक्षा करें, अन्यथा मेरी मृत्यु हो जायेगी—यही भावार्थ है। उनको आलिङ्गन कर श्रीरुद्र भी महाप्रेममें मूर्च्छित हो गये। इसके द्वारा किसी एक परम महान फलप्राप्तिके पूर्वाभासकी सूचना मिलती है॥८३॥

इत्यादिमन्मनो-वृत्तं ज्ञात्वा देव्यो मयेरितः।
शिवचित्तानुवर्तिन्या गणेशोऽकथयच्छनैः॥८४॥

श्लोकानुवाद—मेरे वैसे मनोभावको जानकर श्रीशिवके चित्तका अनुगमन करनेवाली श्रीउमादेवीने गणेशको कुछ कहनेके लिए आदेश दिया॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदि-शब्देन तेषां पादस्पर्शनादि। उमया श्रीपार्वत्या ईरितः प्रेरितो गणेशोऽकथयत्। शनैर्लघु लघु; सर्वेषु शिवगणेषु; तत्प्रकाशनस्यात्य-

योग्यत्वात् स्वभावतः परमगोप्यत्वाच्चेति दिक्। शिवस्य चित्तमनुवर्तितुं शीलमस्या इति तथा तया इति शिवस्यानुमतिं तत्र बोधयति॥८४॥

भावानुवाद—'आदि' शब्दका अर्थ है—उनके चरणस्पर्शादि। अहो! क्या मुझमें इनके चरणस्पर्श करनेकी योग्यता होगी? मेरे ऐसे मनोभावको जानकर श्रीशिवके मनको जाननेवाली श्रीपार्वतीदेवीने नेत्रोंके इशारेसे गणेशको कुछ उपदेश प्रदान करनेका आदेश दिया। तब गणेशजी गोपनमें मुझसे धीरे-धीरे बोलने लगे। 'गोपन' कहनेका उद्देश्य यह है कि महादेवके गणोंके बीचमें वैसा गूढ़ विषय प्रकाश करना उचित नहीं था, क्योंकि वह स्वभावसे परम गोपनीय था। 'शिवचित्तानुवर्त्तिनी' कहनेका अर्थ है कि इस विषयमें श्रीशिवके अनुमोदनका भी बोध होता है॥८४॥

श्रीगणेश उवाच—

एते वैकुण्ठनाथस्य श्रीकृष्णस्य महाप्रभोः।
पार्षदाः प्राप्तसारूप्या वैकुण्ठादागताः किल॥८५॥

श्लोकानुवाद—श्रीगणेश कहने लगे—ये लोग वैकुण्ठनाथ महाप्रभु श्रीकृष्णके सारूप्यप्राप्त पार्षद हैं तथा ये वैकुण्ठसे आये हैं॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्राप्तं सारूप्यं श्रीकृष्णस्य समानरूपता यैस्ते; अनेन तस्यापीदृशं रूपमुद्दिष्टम्। किल निश्चितम्; अत्रासम्भावना न कार्येत्यर्थः॥८५॥

भावानुवाद—श्रीगणेशने कहा—ये वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्णके सारूप्यप्राप्त पार्षद हैं, इसलिए ये श्रीकृष्णके समान रूपवाले हैं। ऐसा निश्चितरूपमें जानो, अर्थात् यहाँ असम्भावनाका कोई स्थान नहीं है॥८५॥

पश्येमेऽप्यपरे यान्ति ब्रह्मणोऽधिकृतेऽल्पके।
ब्रह्माण्डे चतुरास्यस्य तथामी दूरतः परे॥८६॥
अमी चाष्टमुखस्यैतद्द्विगुणे यान्ति वेगतः।
अमी तु षोड़शास्यस्य ब्रह्माण्डे द्विगुणे ततः॥८७॥

श्लोकानुवाद—यह देखो, ये चतुर्मुख ब्रह्माके अधिकारवाले छोटेसे ब्रह्माण्डमें जा रहे हैं। और थोड़ी दूरी पर देखो, अन्यान्य पार्षद भी उत्तरोत्तर बहुत मुखोंसे युक्त ब्रह्माके अधिकारवाले बड़े-बड़े ब्रह्माण्डोंमें

जा रहे हैं। चतुर्मुख ब्रह्मासे अष्टमुख ब्रह्मा दोगुणा बड़े हैं और उनके अधिकारवाले ब्रह्माण्ड भी दोगुणा बड़े हैं। इस प्रकारसे अष्टमुखसे सोलहमुख ब्रह्मा दोगुणा बड़े हैं और उनका ब्रह्माण्ड भी दोगुणा बड़ा है॥८६-८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुं वदन् महाप्रभुतामेव दर्शयति—पश्येति द्वाभ्याम्। इमे अत्यदूरगमनाच्चतुरास्यस्य ब्रह्मणोऽधिकृतेऽतोऽल्पके वक्ष्यमाण-ब्रह्माण्डान्तरापेक्षयात्यल्पे। अमी इति दूरे दृश्यमानत्वात्। एतस्माच्चतुरास्याधिकृताद्द्विगुणे शतकोटीयोजनपरिमित इत्यर्थः। एवं तत्र वर्तिनामपि सर्वेषां द्वैगुण्यमूह्यमेवमुत्तरत्रापि वेगत इति दूरगमनात्। ततोऽष्टमुखब्रह्माधिकृत-ब्रह्माण्डाद्द्विगुणे एवमधिकारिणो ब्रह्मणो द्वैगुण्यात् तदधिकृतस्य ब्रह्माण्डस्यापि द्वैगुण्यं सम्भाव्यम, एवमग्रेऽपि॥८६-८७॥

भावानुवाद—वैकुण्ठ पार्षदोंकी असाधारण महिमाका हेतु बतलानेके लिए श्रीगणेश उनकी महाप्रभुताको भी 'पश्य' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा साक्षात् दिखला रहे हैं। यह देखो, ये पार्षद चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा अधिकृत छोटेसे ब्रह्माण्डमें जा रहे हैं। यह ब्रह्माण्ड अन्यान्य ब्रह्माण्डोंकी तुलनामें अत्यन्त सीमित है। और भी दूरमें देखो, ये इन चतुर्मुख ब्रह्माके अधिकृत ब्रह्माण्डसे दोगुणा, अर्थात् सौ करोड़ योजनयुक्त सीमावाले ब्रह्माण्डोंमें जा रहे हैं। इस प्रकारसे अन्यान्य पार्षदगण भी उत्तरोत्तर बड़े-बड़े ब्रह्माके अधिकारवाले बड़े-बड़े ब्रह्माण्डोंमें शीघ्रतापूर्वक जा रहे हैं। चतुर्मुख ब्रह्मासे अष्टमुख ब्रह्मा बड़े हैं और उनका ब्रह्माण्ड भी दोगुणा बड़ा है। इस प्रकारसे आगे-आगे अधिक-अधिक मुखोंवाले ब्रह्मा दिखाने लगे॥८६-८७॥

इत्येवं कोटिकोटीनां ब्रह्मणां महतां क्रमात्।
कोटिकोटिमूखाब्जानां तादृग्ब्रह्माण्डकोटिषु॥८८॥
गच्छतो लीलया तत्तदनुरूप-परिच्छदान्।
गणेशोऽदर्शयत्तान्मां बहुशो दृङ्मनोहरान्॥८९॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार सोलहमुखसे क्रमशः करोड़ों-करोड़ों मुखोंवाले ब्रह्मा अपने-अपने ब्रह्माण्डोंमें प्रतिष्ठित हैं। श्रीगणेशने मुझे दिखाया—हे महाभाग! इन नेत्रोंको मनोहर लगनेवाले सौन्दर्यसे युक्त वैकुण्ठ पार्षदोंको तो देखो। जो ब्रह्माण्ड जितना विराट है, वे उसके

अनुसार ही वस्त्र-अलङ्कार और वैभवादि प्रकाश करते हुए वहाँ-वहाँ जा रहे हैं॥८८-८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीगणेशकृतमेव श्रीवैकुण्ठपार्षदगणदर्शनं समादधानः तद्वाक्यमध्य एव स्वयं गोपकुमार आह—इत्येवमिति श्लोकद्वयम्। क्रमात् महतामादौ द्वात्रिंशन्मुखस्य, ततश्चतुःषष्टि-मुखस्य, ततश्चाष्टाविंशत्यधिकशत-मुखस्येत्येवं क्रमेणाधिकानां तत्र चानन्तत्वात् सीमा नास्तीत्यभिप्रायेणाह—कोटिकोटयो मुखाब्जानि येषां तेषां कोटि-कोटिनां ब्रह्मणां, तैरधिकृतास्वित्यर्थः। तादृशानां ब्रह्मसदृशानां ब्रह्माण्डानां कोटिषु, बहुवचनेनात्रापि कोटिकोटित्वमेव ऊह्यम्। सर्वथानन्तत्वे तात्पर्यम्; तथा चोक्तं दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/१४/११) ब्रह्मस्तुतौ—*'क्वेदृग्विधा विगणिताण्डपरानुचर्या, वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्।'* इति; श्रुतिस्तुतौ च (श्रीमद्भा॰ १०/८७/४१)—*'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया, त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः। ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह'* इति; षष्ठस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ ६/१६/३७) सङ्कर्षणस्तुतौ—*'क्षित्यादिभिरेष किलावृतः सप्तभिर्दशगुणोत्तरैरण्डकोषः। यत्र पतत्यनुकल्पः सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः॥'* इति। लीलया गच्छतस्तान् बहुशः कोटिकोटीर्गणेशो मामदर्शयदिति द्वाभ्यामन्वयः। मुक्तिपदे आवरणाभावेन तथादर्शनोपपत्तेः। कीदृशान्? तस्य तस्य ब्रह्माण्डस्यानुरूपो योग्यः परिच्छदो येषां तान्; यादृशं ब्रह्माण्डं ये यान्ति, ते तादृशमेवात्मनः वैभवादिकं प्रकाश्य तत्रागच्छत इत्यर्थः। अन्यथा तत्रत्यानां बृहदाकारवैभवादिनैषां न्यूनतापत्तेर्बहिर्दृष्टीनामादर-विशेषानुत्पत्तेर्दोषः स्यादिति भावः। इत्थं सर्वथैव दृशो मनांसि च हरन्तीति तथा तान्। इतः प्रभृति प्रकृतं गणेशवाक्यमिव ज्ञेयम्॥८८-८९॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीगणेश द्वारा किये गये श्रीवैकुण्ठ पार्षदोंके वर्णन और दर्शनके बाद, उनके वाक्योंके माध्यमसे ही गोपकुमार 'इत्येवं' इत्यादि दो श्लोकोंमें अपने द्वारा देखे गये विषयका वर्णन कर रहे हैं। श्रीगणेशने मुझे कहा—हे महाभाग! यह देखो क्रमशः सोलहमुख, बत्तीसमुख, चौसठमुख, एक सौ अट्ठाईस मुखसे आरम्भकर करोड़ों-करोड़ों मुखोंवाले ब्रह्मा अपने-अपने ब्रह्माण्डोंमें प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्माओंकी भाँति उनके अधिकारवाले ब्रह्माण्ड भी करोड़ों-करोड़ों थे। 'कोटि-कोटि' शब्दका तात्पर्य यही है कि ब्रह्मा अनन्त हैं और उनके अधिकृत समस्त ब्रह्माण्ड भी अनन्त और असीम हैं। श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्ध (१०/१४/११)में ब्रह्मस्तुतिमें देखा जाता है—"हे भगवन्! प्रकृत्ति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायुः, अग्नि, जल और पृथ्वी आवरणोंसे घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड

ही मेरा शरीर है। आपके प्रत्येक रोमके छिद्रमें ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार गमनागमन करते हैं, जैसे खिड़कीकी जालीमें से आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें छोटे-छोटे परमाणु उड़ते दिखायी पड़ते हैं। कहाँ साढ़े तीन शरीरवाला अत्यन्त क्षुद्र मैं और कहाँ आपकी अनन्त महिमा।" श्रुतिस्तव (श्रीमद्भा॰ १०/८७/४१)में भी कथित है—"हे भगवन्! स्वर्गादि लोकोंके अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा जैसे देव भी आपकी थाह नहीं पा सके तथा आश्चर्यकी बात तो यह है कि आप भी उसे नहीं जानते, क्योंकि जब अन्त है ही नहीं तो कोई जानेगा कैसे? प्रभो! जैसे हवासे धूलके छोटे-छोटे कण आकाशमें उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार कालके वेगसे अपनेसे उत्तरोत्तर दसगुण बड़े सात आवरणोंके सहित असंख्य ब्रह्माण्ड आपमें एक साथ ही घूमते रहते हैं और फिर आपमें ही प्रवेश कर जाते हैं। हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते आपकी ही महिमा कुछ रूपमें स्थापित कर रहीं हैं।" षष्ठ-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ६/१६/३७)में चित्रकेतु श्रीसङ्कर्षणके लिए स्तव करते हैं—"हे भगवन्! पृथ्वी इत्यादि सात पदार्थोंमें से एकके बाद एक पदार्थ पिछलेकी तुलनामें उत्तरोत्तर दसगुना बड़े हैं तथा इन्हींके द्वारा ब्रह्माण्ड आवर्त है। इस प्रकारके करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड आपके रोमकूपोंमें परमाणुके समान भ्रमण करते हैं। अतएव आप जिस प्रकारसे अनन्त हैं, उसी प्रकारसे आपकी विभूति भी अनन्त है।" इस प्रकारसे श्रीगणेशने मुझे दिखलाया कि अनन्त वैकुण्ठोंके पार्षदगण अनन्त ब्रह्माण्डोंमें लीलापूर्वक गमन कर रहे हैं। मुक्तिपदमें प्राकृत आवरणोंके अभाव हेतु इन सबके दर्शनमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती है।

वे पार्षदगण कैसे थे? उन-उन ब्रह्माण्डोंके अनुरूप, अर्थात् जो ब्रह्माण्ड जितना ही विराट है, उसीके अनुरूप आभरण और वैभवादि प्रकाश करते हुए, नेत्रोंको मनोहर लगनेवाले वैकुण्ठ पार्षदगण वहाँ जा रहे थे। उन समस्त विराट ब्रह्माण्डोंके उपयोगी विराट वैभवादि प्रकाश न करनेसे उन-उन ब्रह्माण्डके वासियोंकी वैकुण्ठ पार्षदोंके प्रति बाह्य दृष्टिसे अनादर रूप दोषकी उत्पत्ति हो सकती है॥८८-८९॥

एते हि मृत्युकालेऽपि जिह्वाग्रे श्रोत्रवर्त्म वा।
कथञ्चित् सकृदाप्तेन नामाभासेन च प्रभोः ॥९०॥
भक्तान् कृत्स्नभयात् पान्तस्तन्वन्तो भक्तिमुज्ज्वलाम्।
सर्वत्र विचरन्त्यात्मेच्छया भक्त्येकवल्लभाः ॥९१॥

श्लोकानुवाद—(श्रीगणेशने आगे कहा—) जो व्यक्ति मृत्युके समय श्रीवैकुण्ठनाथका नाम आभासरूपमें भी जिह्वा पर उच्चारण करते हैं अथवा कानों द्वारा सुनते हैं, उन समस्त भक्तोंकी भक्तिविघ्नादिरूप भयसे रक्षा करनेके बहाने विशुद्ध भक्तिका विस्तार करनेके लिए भक्तिके ऐकान्तिक प्रिय ये वैकुण्ठ पार्षदगण इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करते हैं॥९०-९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीवैकुण्ठपार्षदानां तत्र तत्र किमर्थं गमनम्? तत्राह—एत इति द्वाभ्याम्। श्रीवैकुण्ठपार्षदा हि आत्मेच्छयैव, न तु केनाप्यन्यपारतन्त्र्येण, सर्वत्र चरन्तीति द्वाभ्यामन्वयः। किं कुर्वन्तः? अप्यर्थे चकारः; प्रभोः श्रीवैकुण्ठनाथस्य नामाभासेनापि तस्यैव भक्तान् कृत्स्नेभ्यो भयेभ्यो भक्तिविघ्नादिरूपेभ्यः पान्तः रक्षन्तः। कीदृशेन? मृत्युकालेऽपि कथञ्चित् परिहासावहेलनादिप्रकारेणापि सकृदपि जिह्वाया अग्रमपि, श्रोत्रस्य वर्त्मनिकटमपि वा आप्तेन लब्धेन। अतएव उज्ज्वलां विशुद्धां भक्तिं तन्वन्तः सर्वत्र प्रवर्त्तयन्तः; यतः भक्तिरेवैका वल्लभा येषां ते॥९०-९१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठ पार्षदगण उन-उन ब्रह्माण्डोंमें किसलिए जाते हैं? इसके लिए 'एते' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहे हैं कि पार्षदगण वहाँ स्वेच्छापूर्वक ही गमन करते हैं, किसीकी इच्छासे नहीं। वहाँ (ब्रह्माण्डोंमें) जाकर वे क्या करते हैं? अपने प्रभु श्रीवैकुण्ठनाथके नामको आभास रूपमें भी उच्चारण करनेवाले समस्त भक्तोंकी भक्तिविघ्नादिरूप समस्त प्रकारके भयसे रक्षा करनेके लिए ये सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करते हैं। उक्त नामाभास कैसा होता है? मृत्युके समय जो श्रीवैकुण्ठनाथका नाम परिहास या अवहेलादिरूपमें भी मात्र एक बार जिह्वासे उच्चारण या कानोंसे श्रवण करते हैं, उसीसे नामाभास होता है। अतएव विशुद्ध भक्ति विस्तार करते हुए वे विचरण करते हैं, क्योंकि वे 'भक्त्येकवल्लभ' हैं अर्थात् उन्हें एकमात्र भक्ति ही प्रिय है॥९०-९१॥

भक्तावतारास्तस्यैते चत्वारो नैष्ठिकोत्तमाः।
परिभ्रमन्ति लोकानां हितार्थं पार्षदा इव॥९२॥
वसन्ति च तपोलोके प्रभुं नारायणं विना।
अनाथानामिव क्षेमं वहन्तस्तन्निवासिनाम्॥९३॥

श्लोकानुवाद—तथा नैष्ठिक-ब्रह्मचारियोंमें उत्तम तथा भक्त-अवतार सनकादि चारकुमार भी लोकहितके लिए वैकुण्ठ पार्षदोंकी भाँति सर्वत्र विचरण करते हैं। तपोलोकमें श्रीमन्नारायणके अदर्शनसे अनाथकी भाँति दीखनेवाले अन्यान्य ब्रह्मचारियोंके पालनके लिए भगवान्‌की कथाका वितरण करनेके लिए ये तपोलोकमें भी वास करते हैं॥९२-९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननू तर्हि आत्मारामैः सममेषां कुतः सङ्गोवृत्तः? तत्राह—भक्तेति चतुर्भिः। एते श्रीसनकादयश्चत्वारस्तस्य श्रीवैकुण्ठनाथस्य भक्तावताराः, स्वाचरितैर्भक्तिप्रवर्त्तनेन भक्तरूपावतारा इत्यर्थः। अतएव पार्षदा इव लोकानां, हितार्थं परिभ्रमन्ति सर्वत्र चरन्ति। ननु मयैते चिरं तपोलोके निवसन्तो दृष्टाः, सत्यम्, तदर्थमेवेत्याह—वसन्तीति। प्रभुं तपोलोकेश्वरं विना अनाथानां स्वामिहीनानां तस्मिन् लोके निवासिनामूर्ध्वरेतसां स्वदर्शितमार्गरतानां योगीन्द्राणां क्षेमं भगवद्वार्त्ता-संकीर्त्तनादिमङ्गलं वहन्तः सदा कुर्वन्तस्तपोलोके वसन्ति। च-कार उक्तसमुच्चये। इवेति वस्तुतो ध्याने, सदा प्रभोर्दर्शनेन अनाथत्वाभावात्॥९२-९३॥

भावानुवाद—यह तो अच्छी बात है कि वैकुण्ठ पार्षदगण निर्मल भक्ति विस्तारके लिए सर्वत्र भ्रमण करते हैं, किन्तु इनके साथ आत्मारामगण क्यों हैं? इस प्रश्नकी आकांक्षामें 'भक्त' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। श्रीसनकादि चारकुमार श्रीवैकुण्ठनाथके भक्त अवतार हैं तथा लोकहितके लिए ये भी सर्वत्र परिभ्रमण करते हैं। यदि कहो कि आपने तो पहले इनको तपोलोकमें वास करते हुए देखा था। यह सत्य है, इसका कारण है कि तपोलोकवासी यद्यपि ध्यानमें सर्वदा भगवान्‌का दर्शन करते हैं, तथापि साक्षात् दर्शनके अभावमें वे स्वामीहीन अनाथकी भाँति प्रतीत होते हैं। अतएव ये सनकादि चारकुमार अन्यान्य ऊर्ध्वरेता—नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके पालक स्वरूप अर्थात् भगवान्‌की कथा और संकीर्त्तनादि द्वारा उनका मङ्गलविधान करनेके लिए तपोलोकमें वास करते हैं। 'इव' कारका

तात्पर्य है कि वे अनाथ जैसे हैं। वस्तुतः उन्हें ध्यानमें सर्वदा भगवान्‌का दर्शन होता है, किन्तु साक्षात् दर्शन नहीं होनेके कारण अनाथ भावकी सम्भावनावशतः दोनों दर्शनोंमें यथेष्ट पार्थक्य है॥९२–९३॥

गत्वा सम्प्रति वैकुण्ठे सर्वाकर्षकसद्‌गुणम्।
भगवन्तं तमालोक्य मोक्षानन्दविडम्बिना॥९४॥
निर्भरानन्दमपूरेण संयोज्यात्मानमागताः।
पिबन्तो भक्तसङ्गत्या हरेर्भक्त्या महारसम्॥९५॥

श्लोकानुवाद—अभी इन्होंने वैकुण्ठमें सबको आकर्षण करनेवाले सद्‌गुणोंसे मण्डित श्रीभगवान्‌का दर्शनकर मोक्षके आनन्दका तिरस्कार करनेवाली आनन्दराशिसे परिपूरित हृदयसे पार्षदगणोंके सङ्गमें आगमन किया है। अब वे हरिभक्तोंके संसर्गमें भक्तिरसका पान कर रहे हैं॥९४–९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि वैकुण्ठपार्षदैरेतैः सङ्गो वृत्तः? तत्राह—गत्वेति द्वाभ्याम्। सम्प्रति च श्रीवैकुण्ठलोके गत्वा तं श्रीवैकुण्ठनाथमालोक्य साक्षाद्दृष्ट्वा, अतएव निर्भरानन्दपूरेणात्मानं संयोज्य, अतएव हरेर्भक्तानां सङ्गत्या तस्यैव भक्तिरसं पिबन्तः, तदीयकीर्त्तिगान–महामृतरसपानं कुर्वन्तः अत्रागताः। नन्वात्मारामाणामेषां कथं तत्र गमनं वृत्तम्? तत्राह—सर्वेषामाकर्षकाः सन्तः, परमोत्कृष्टा गुणा यस्य तमिति। अतएव हरेरित्युक्तम्। तदेव दर्शयितुं तदीयसाक्षाद्दर्शनानन्दस्य परमोत्कर्षं वदन् आनन्दपूरमेव विशिनष्टि—मोक्षानन्दं विड़म्बयितुमुपहसितुं धिक्कर्तुं शीलमस्येति तथा तेनेति॥९४–९५॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि इनको वैकुण्ठ पार्षदोंका सङ्ग किस प्रकार प्राप्त हुआ? इसीके लिए कह रहे हैं—अभी ये चारकुमार वैकुण्ठसे आ रहे हैं, जहाँ इन्होंने सर्वाकर्षक श्रीवैकुण्ठनाथके साक्षात् दर्शन किये हैं। अतएव अत्यधिक परमानन्दका अनुभव कर अब ये हरिभक्त–पार्षदोंके संसर्गमें भक्तिरस–पान कर रहे हैं और श्रीभगवान्‌की महिमा गानसे उदित महामृतका रसपान करते–करते यहाँ आये हैं। यदि आपत्ति हो कि आत्मारामगणोंका इस प्रकारसे वैकुण्ठमें गमन किस प्रकारसे सम्भव होता है? इसके लिए कहते हैं—सर्वाकर्षक

सद्गुणोंसे मण्डित श्रीभगवान्का परमश्रेष्ठ गुण यही है कि वे आत्मारामगणोंको भी आकर्षित करते हैं, इसलिए उनका नाम 'हरि' है। तथा आत्मारामगण भी उनके साक्षात् दर्शनके आनन्दकी परम श्रेष्ठताका वर्णन करते हुए मोक्षके आनन्दका तिरस्कार करनेवाले परमानन्द प्राचुर्यके आस्वादनके लिए भक्तसङ्गमें भक्तिरसका पान कर रहे हैं॥९४–९५॥

नित्यापरिच्छिन्नमहासुखान्त्यकाष्ठावतस्तादृशवैभवस्य ।
साक्षाद्रमानाथ–पदारविन्दक्रीड़ाभराजस्रविभूषितस्य ॥९६॥
तत्प्रेमभक्तैः सुलभस्य वक्तुं वैकुण्ठलोकस्य परं किमीशे।
अद्वैतदुर्वासनया मुमुक्षाविद्धात्मनां हृद्यपि दुर्लभस्य॥९७॥

श्लोकानुवाद—जो स्थान नित्य असीम महासुखकी चरम सीमासे युक्त है तथा उसके अनुरूप वैभवसे परिपूर्ण है, जो साक्षात् श्रीरमानाथके चरणकमलोंकी विविध प्रकारकी क्रीड़ा–स्थलियोंसे सदैव विभूषित है और जो उनके प्रेमीभक्तोंको ही सुलभ है, ऐसे वैकुण्ठलोकके सम्बन्धमें अधिक क्या वर्णन करूँ? अद्वैत–दुर्वासनाके कारण जिनका हृदय मुमुक्षुता–रूप काँटेसे विद्ध हुआ है, वे हृदय (स्वप्न)में भी उस स्थानके माहात्म्यकी धारणा नहीं कर सकते॥९६–९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमुपसंहरति—नित्येति द्वाभ्याम्। परमुक्तादन्यत् वैकुण्ठलोकस्य किं वक्तुमीशे? अपि तु न किञ्चिदन्यद्वक्तुं शक्तो भवामीत्यर्थः। तत्र हेतून् वदंस्तमेव विशिनष्टि—नित्येत्यादिविशेषणैः पञ्चभिः। नित्यमपरिच्छन्नं तन्महासुखं तस्य याहन्त्या चरमा काष्ठा परिपाकस्तद्वतः, अतस्तादृशानि तल्लोकसदृशानि नित्यपरिच्छिन्नमहासुखान्त्यकाष्ठावन्तीत्यर्थः। वैभवानि परिच्छद–परिवारादीनि यस्मिन् तस्य। कुतः? साक्षात् रमानाथस्य पदारविन्दयोः क्रीड़ाभरेण अजस्रं विभूषितस्य अतएव तस्य रमानाथस्य प्रेम्णा भक्तैः सुलभस्य। अतएव अद्वैते आत्मना सह भगवतोऽभेदे या वासना, सैव दुर्वासना दुष्टो मनःसंस्कारस्तया या मुमुक्षा मोक्षेच्छा तया विद्धः शक्त्येव भिन्न आत्मा अन्तःकरणं येषाम् तेषाम्। यद्यपि दुर्लभस्य मनोरथेनापि गन्तुमशक्यस्येत्यर्थः। यथोक्तं वाशिष्ठे—'*अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानरकजालेषु तेनैव विनियोजितः॥*' ब्रह्मवैवर्त्ते च—'*विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माऽहमिति यो वदेत्। कल्पकोटिसहस्राणि नरके स तु*

पच्यते।' पुराणान्तरे च—*'संसारसुखसंयुक्तं ब्रह्माऽहमितिवादिनम्। कर्म-ब्रह्मपरिभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा॥'* इति। ईदृशानां नरकपातस्यैव श्रवणात्, किमुत वक्तव्यं परब्रह्मणा भगवता सहाभेदवादिनामित्यूह्यम्॥९६-९७॥

भावानुवाद—अब श्रीगणेश प्रासङ्गिक वक्तव्य अर्थात् सनकादि कुमारोंके वैकुण्ठ पार्षदोंके सङ्गमें होनेका कारण बतलाकर वैकुण्ठलोककी सम्पूर्ण महिमाके वर्णनमें असमर्थता प्रकट करते हुए साररूपमें पाँच विशेषणोंके द्वारा वैकुण्ठलोकके सम्बन्धमें 'नित्या' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा बतला रहे हैं। वे स्थान नित्य-असीम महासुखकी चरम सीमासे युक्त है और वहाँके वैभव अर्थात् परिवार-अनुचरादि भी उस लोकके अनुरूप ही हैं। साक्षात् श्रीलक्ष्मीनाथके चरणकमलोंकी क्रीड़ा-स्थलियोंसे निरन्तर विभूषित और केवल रमानाथके प्रेममें अनुरक्त भक्तोंके लिए ही सुलभ उस वैकुण्ठलोकके विषयमें अधिक क्या वर्णन करूँ? अद्वैतभावनाके कारण जिनका हृदय मुमुक्षुतारूपी काँटेसे विद्ध है, अर्थात् मुक्तिकी इच्छाके कारण भगवान्‌के साथ अपनेको अभेद मानकर जिनका हृदय दुर्वासनासे दुष्ट हो गया है, वे कभी भी उस स्थानको मन (स्वप्न)में भी धारण नहीं कर सकते। अर्थात् उनके लिए वह स्थान परमदुर्लभ है। योगवाशिष्ठ ग्रन्थके प्रणेताने भी इस सिद्धान्तको ही प्रदर्शित किया है, "जो अज्ञानी और अर्द्ध जगे व्यक्तिको 'सर्वं ब्रह्म' उपदेश देते हैं, वे उस अपराधके कारण महानरकजालमें बद्ध होकर अनन्तकाल तक नरकभोग करते हैं।" ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें भी उल्लेख है—"जो व्यक्ति मायिक विषयमें आसक्त होकर 'अहं ब्रह्म', अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' कहता है, वह एक हजार करोड़ कल्पों तक नरकमें सड़ता है।" अन्य पुराणोंमें भी ऐसा स्पष्टरूपसे उल्लिखित है—"संसारसुखमें रत व्यक्ति यदि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' कहता है, तब उस वैदिक कर्म तथा ब्रह्म अनुभवसे भ्रष्ट व्यक्तिको अन्त्यज चण्डालके समान परित्याग करो।" जब ऐसे व्यक्तियोंके नरकगमनके सम्बन्धमें सुना जाता है, तब जो परब्रह्मके साथ अपना अभेद मानते हैं, उनकी क्या दुर्गति होगी उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है॥९६-९७॥

यद्यस्य मत्पितुः सम्यक् करुणा स्यात्तदा त्वया।
श्रोष्यते महिमा तस्य गत्वा चानुभविष्यते॥९८॥

श्लोकानुवाद—यदि मेरे पिता (श्रीशिव)की सम्पूर्ण करुणा हो जाय, तब तुम भी वैकुण्ठलोककी महिमा श्रवण करोगे और वहाँ जाकर साक्षात् उसे अनुभव भी करोगे॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथाप्यन्यत् किञ्चिद्विशेषेण वर्णयेति चेत्तत्राह—यदीति। अस्य साक्षाद्भूतस्य इति करुणासम्भावना दर्शिताः। सम्यक् समीचीना, न तु शिवलोकप्राप्त्यनुरूपेत्यर्थः। तस्य वैकुण्ठलोकस्य, तत्रैव गत्वा तस्य महिमानुभविष्यते साक्षात्करिष्यते च॥९८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि तथापि आप कुछ विशेष भावसे उस वैकुण्ठ-माहात्म्यका वर्णन करें। इसके लिए 'यद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—यदि मेरे पिताकी भलीभाँति करुणा हो जाय, तब तुम विशेषरूपसे वैकुण्ठकी महिमा श्रवण करोगे और वहाँ जाकर साक्षात् अनुभव भी करोगे। 'साक्षात् अनुभव'—इस वाक्यके द्वारा श्रीशिवकी करुणा प्राप्त करनेकी सम्भावना प्रदर्शित होती है। यहाँ 'सम्यक्'का अर्थ है—यथार्थ करुणा, शिवलोक प्राप्तिके समान करुणा नहीं। वैकुण्ठलोकमें जाकर साक्षात् उस महिमाका अनुभव भी करोगे। अतएव चिन्ता मत करो, मेरे पिता निश्चय ही तुम पर अनुग्रह करेंगे॥९८॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

ब्रह्मंस्तत्प्राप्तये जातमहालालसया भृशम्।
अहं चिन्तार्णवापारभङ्गरङ्गे प्रनर्तितः॥९९॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्रह्मण्! उस वैकुण्ठलोककी प्राप्तिके लिए मुझमें जो महान लालसा उत्पन्न हुई, वह लालसा अपार चिन्तासागरकी तरङ्गमाला रूपी रङ्गमञ्च पर मुझे अत्यधिक नचाने लगी॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीवैकुण्ठलोकस्य प्राप्तये जातया महालालसया कर्त्र्या चिन्तार्णवस्यापारोऽनन्तो भङ्गस्तरङ्ग एव रङ्गः नृत्यस्थली तस्मिन्नहं भृशं प्रकर्षेण नर्त्तितः। तदीप्सातिशयेन महाचिन्ताकुलोऽभवमित्यर्थः॥९९॥

भावानुवाद—उसके बाद उस वैकुण्ठलोक प्राप्तिके लिए मुझमें जो महान लालसा उत्पन्न हुई, वह लालसा मुझे अपार चिन्ता-समुद्रकी तरङ्गमालारूपी नृत्यस्थली पर नचाने लगी। अर्थात् उस अभिलषित वैकुण्ठप्राप्तिके लिए मैं महान चिन्तासे आकुल हो गया॥९९॥

विचारजाततः स्वस्य सम्भाव्य तदयोग्यताम्।
प्ररुदन् शोकवेगेन मोहं प्राप्याऽपतं क्षणात्॥१००॥

श्लोकानुवाद—जब मैंने मन-ही-मन विचारकर स्थिर किया कि मैं वैकुण्ठवासके अयोग्य हूँ, तब मैं शोकके वेगसे मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च स्वस्य मम तस्यां वैकुण्ठलोकप्राप्तौ अयोग्यतां विचारसमूहैः सम्भाव्य प्ररुदन् सन्॥१००॥

भावानुवाद—उसके बाद जब मैंने मन-ही-मन विचारकर निश्चय किया कि मैं उस वैकुण्ठलोकको प्राप्त करनेके सर्वथा अयोग्य हूँ, तब मैं शोकके आवेगमें रोने लगा और मूर्च्छित होकर भूमितल पर गिर पड़ा॥१००॥

महादयालुनानेन परदुःखासहिष्णुना।
वैष्णवैकप्रियेणाहमुत्थाप्यास्वास्य भाषितः॥१०१॥

श्लोकानुवाद—तब परदुःखको सहन न करनेवाले वैष्णवप्रिय महादयालु उन श्रीमहादेवने मुझे भूमिसे उठाया और आश्वासन देते हुए कहने लगे—॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अनेन श्रीमहादेवेन॥१०१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद दृष्टव्य है॥१०१॥

श्रीमहादेव उवाच—

हे श्रीवैष्णव पार्वत्या सहाहमपि कामये।
तस्मिन् वैकुण्ठलोके तु सदा वासं भवानिव॥१०२॥

श्लोकानुवाद—श्रीमहादेव बोले—हे श्रीवैष्णव! तुम्हारी भाँति मैं भी पार्वतीके साथ उस वैकुण्ठलोकमें सर्वदा वास करनेकी इच्छा करता हूँ॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—भवानित्यस्यायमभिप्रायः। पार्वत्या सह वाञ्छ्यमानमर्थं त्वमप्यभीप्सन् मत्सादृश्यं प्राप्त एवेति मल्लोक एवागत्य सुखं निवसेति॥१०२॥

भावानुवाद—तब श्रीमहादेव बोले—तुम्हारी भाँति मैं भी पार्वतीके साथ उस वैकुण्ठलोकमें वास करनेकी कामना करता हूँ। अतएव तुम और मैं दोनों ही एक कामनासे युक्त हैं, अब मेरे लोकमें चलकर वहाँ सुखपूर्वक वास करो॥१०२॥

सोऽतीव दुर्लभो लोकः प्रार्थ्यो मुक्तैरपि ध्रुवम्।
साध्यो ब्रह्मसुतानां हि ब्रह्मणश्च ममापि सः॥१०३॥

श्लोकानुवाद—उस वैकुण्ठलोकको प्राप्त करना अतिदुर्लभ है, मुक्तगण भी उसके लिए सर्वदा प्रार्थना किया करते हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माके पुत्र भृगु आदि महर्षिगण, ब्रह्मा और मैं भी उसके लिए साधना कर रहे हैं॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—यतः स वैकुण्ठलोकः अतीव दुर्लभः, ब्रह्म-सुतानां भृग्वादीनां साध्य एव, न तु साधितः॥१०३॥

भावानुवाद—परन्तु उस वैकुण्ठलोकको प्राप्त करना अतिदुर्लभ है, यहाँ तक कि वह स्थान ब्रह्माके पुत्र भृगु आदि महर्षियोंका भी साध्य है, किन्तु वे अभी तक उसे प्राप्त नहीं कर सके॥१०३॥

निष्कामेषु विशुद्धेषु स्वधर्मेषु हि यः पुमान्।
परां निष्ठां गतस्तस्मिन् या कृपा श्रीहरेर्भवेत्॥१०४॥
तस्याः शतगुणा चेत् स्याद्ब्रह्मत्वं लभते तदा।
तस्याः शतगुणायाञ्च सत्यां मद्भावमृच्छति॥१०५॥
श्रीमद्भगवतस्तस्य मयि यावाननुग्रहः।
तस्माच्छतगुणोत्ताने जाते वैकुण्ठमेति तम्॥१०६॥

श्लोकानुवाद—जो विशुद्ध पुरुष निष्काम भावसे अपने वर्णाश्रम धर्मोंका पालन करते हुए उनमें परम निष्ठा प्राप्त करते हैं, उन पर

श्रीभगवान्‌की जो कृपा होती है, उस कृपासे सौगुणा अधिक कृपा प्राप्त होने पर ब्रह्मा-पदकी प्राप्ति होती है। उस कृपासे भी सौगुणा अधिक कृपा जिन पर होती है, वे मेरे भाव अर्थात् शिव-पदको प्राप्त करते हैं तथा मेरे प्रति श्रीभगवान्‌का जैसा अनुग्रह है, उससे सौगुणा अधिक अनुग्रह होने पर ही वैकुण्ठलोकमें गमन किया जा सकता है॥१०४-१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—दुर्लभत्वकारणमेवाह—निष्कामेष्विति त्रिभिः। स्वधर्मेषु निजवर्णाश्रमधर्मेषु परां श्रेष्ठामन्त्यां वा निष्ठां परिपाकं यः पुमान् गतः प्राप्तः, या यादृशी तस्याः कृपायाः सकाशाच्छतगुणा चेद्यदि स्यात्, मद्भावं शिवत्वं ऋच्छति लभते। तदुक्तं तेनैव प्रचेतसः प्रति चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/२४/२९)—*'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्। अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं, पदं यथाहं बिबुधाः कलात्यये॥'* इति। अस्यार्थः—अथ ततः परं भागवतः सन् अव्याकृतं प्रपञ्चातीतं यथाहं रुद्रो भूत्वाधिकारिकवद्वर्तमानः, बिबुधा देवाश्चाधिकारिकाः, कलात्ययेऽधिकारान्ते लिङ्गभङ्गे सत्येष्यन्तीति तस्मिन् अनुग्रहे शतगुणैरुत्ताने अधिके जाते सति वैकुण्ठमेति। यथोक्तमितिहाससमुच्चये मुद्गलोपाख्याने—*'ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदं। शुद्धं सनातनं ज्योतिः परब्रह्मेति यद्विदुः॥ निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा ये जितेन्द्रियाः। ध्यानयोग पराश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः॥ येऽर्चयन्ति हरिं विष्णुं कृष्णं जिष्णुं सनातनम्। नारायणमजं कृष्णं विष्वक्सेनं चतुर्भुजम्॥ ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्ति ये। लभन्ते तेऽच्युतं स्थानं श्रुतिरेषा सनातनी॥'* इति। ब्रह्मणः सदनादित्यस्य मुक्तिपदादित्यर्थः, सायुज्येन तत्र ब्रह्मानुभवात्। एवं श्रीमहेशादपि श्रीवैकुण्ठवासिनामधिको महिमा सम्पन्नं। तच्च तस्य भक्तावतारत्वेन विनयोक्ति मात्रम्; वस्तुतस्तु तस्य श्रीभगवदवतारत्वात् पार्षदैरपि पूज्यतैव प्रसज्येत। एतच्च तेषामेव वाक्यतोऽग्रे व्यक्तं भावि। एवं सर्वेषामपि भगवदवताराणां बोद्धव्यम्। तारतम्यञ्च यद्दृश्यते, तच्च भगवत्ता-प्रकटनानुसारमात्रेणैव, न तु वस्तुतः। एतदप्यग्रे श्रीनारदवाक्यतो विस्तरेण व्यक्तं भावि; प्रस्तुतमनुसरामः॥१०४-१०६॥

भावानुवाद—'निष्कामेषु' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा उस वैकुण्ठकी दुर्लभताका कारण बता रहे हैं। 'स्वधर्मेषु'—अपने वर्णाश्रमधर्ममें परमनिष्ठा प्राप्त करनेसे या निष्ठाके परिपक्व होने पर उस पुरुषके प्रति श्रीहरिकी जैसी कृपा होती है, उस कृपासे सौगुणा अधिक कृपा होने पर वही पुरुष ब्रह्माका पद प्राप्त करता है। पुनः उस कृपासे भी सौगुणा अधिक कृपा होने पर वह पुरुष मेरे भाव (शिवत्व)को

प्राप्त करता है। श्रीमद्भागवत (४/२४/२९)में श्रीशिवने स्वयं ही प्रचेताओंको कहा है—"सौ जन्मों तक स्वधर्मका निष्ठापूर्वक पालन करनेसे ब्रह्माका पद प्राप्त होता है, उसके पश्चात् ही मुझे प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु जो व्यक्ति भगवद्भक्त हैं, वे देहत्यागके पश्चात् ही वैकुण्ठलोक प्राप्त करते हैं।" तात्पर्य यह है कि मैं जिस प्रकार रुद्ररूपमें आधिकारिक देवता होकर प्रजापालन करता हूँ, उसी प्रकार ब्रह्मादि देवता भी प्रजापालन करते हैं। जब हमारा अधिकारकाल समाप्त होगा, तब लिंगभङ्ग होने पर श्रीभगवान्‌की सौगुणा अधिक कृपा प्राप्त होनेसे हम सभी उस वैकुण्ठलोकको प्राप्त करेंगे। इस विषयमें इतिहास-समुच्चयके मुद्‌गल-उपाख्यानमें स्पष्टरूपसे कथित हुआ है—"ब्रह्मसदनके ऊपर विष्णुका परमपद विराजित है, जो मायातीत शुद्ध सनातन ज्योतिरूप परब्रह्म है। जिन साधुओंका देह और देहिक विषयोंमें अहंता और ममताभाव नहीं है और जो निर्द्वन्द अर्थात् सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख सबमें ही समानभावयुक्त हैं, जो जितेन्द्रिय और ध्यानयोगमें रत हैं, विशेषतः जो साधु हरि, विष्णु, कृष्ण, सनातन, नारायण, अज, विष्वकसेन जैसी चतुर्भुज दिव्य मूर्त्तियोंमें अच्युत पुरुषकी अर्चना, स्मरण और नित्य ध्यान करते हैं, वे ही उस अच्युतस्थान अर्थात् विष्णुके परमपदको प्राप्त करते हैं। सनातनी श्रुतियोंका भी यही मत है।" यहाँ 'ब्रह्मसदन' कहनेसे मुक्तिपद समझना होगा, क्योंकि सायुज्य मुक्तिमें ही वहाँ ब्रह्मानुभव होता है। इस प्रकारसे श्रीमहेशसे भी वैकुण्ठवासियोंकी अधिक महिमा स्थापित होती है। यद्यपि यह स्वयं श्रीमहादेवकी ही उक्ति है, तथापि भक्तावतार होनेके कारण इसे उनकी विनयपूर्वक उक्तिके रूपमें ही ग्रहण करना होगा। किन्तु वास्तवमें श्रीभगवान्‌के अवतार होनेके कारण वे पार्षदोंके द्वारा भी पूज्य हैं, पार्षदोंके वाक्यों द्वारा यह आगे प्रतिपादित होगा। ऐसा समस्त भगवदवतारोंके सम्बन्धमें जानना होगा। उनमें जो तारतम्य देखा जाता है, वह केवल भगवत्ता प्रकटनके अनुसार ही होता है, वस्तुतः नहीं। यह भी आगे श्रीनारदवाक्य द्वारा विस्तारसे व्यक्त होगा। अभी प्रस्तुत विषयका अनुसरण किया जा रहा है॥१०४-१०६॥

अथापि गोवर्द्धनगोपपुत्रस्तमर्हसि त्वं मथुरेशभक्तः।
तदेकभक्तिप्रियविप्रशिष्यस्तदीयतन्मन्त्रपरोऽनुरक्तः ॥१०७॥

श्लोकानुवाद—तथापि हे गोवर्धनवासि गोपपुत्र! तुम उस वैकुण्ठलोकको प्राप्त करनेके लिए उपयुक्त हो, क्योंकि तुम मथुरानाथके भक्त हो, उनके एकान्तिक भक्ति-प्रिय विप्रके शिष्य हो तथा उनके मन्त्रजपमें अनुरक्त हो॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथाप्येवं परमदुर्लभत्वे सत्यपि तं श्रीवैकुण्ठलोकं त्वमर्हसि प्राप्तुं योग्योऽसि; तद्धेतुत्वेन तमेव पञ्चभिर्विशिनष्टि–गोवर्द्धनेत्यादि। तस्य मथुरेशस्य एका भक्तिरेव प्रिया यस्य तस्य विप्रस्य शिष्यः; तदीय–श्रीमदनगोपालदैवतः सोऽनिर्वचनीय–महिमा दशाक्षरो यो मन्त्रस्तत्परः; अतएव श्रीगोपालदेवे तस्मिन्ननुरक्तः॥१०७॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे वह श्रीवैकुण्ठलोक परम दुर्लभ है, तथापि तुम उसे प्राप्त करनेके योग्य हो। 'गोवर्धन' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें उसका कारण बता रहे हैं। हे गोवर्धनवासि गोपपुत्र! तुम उन मथुरानाथके भक्त हो, उनके ऐकान्तिक भक्तिप्रिय-विप्रके शिष्य हो तथा उन श्रीमदनगोपालदेवकी अनिर्वचनीय महिमासे युक्त दशाक्षर मन्त्रके जपमें तत्पर हो, अतएव श्रीगोपालदेवमें तुम एकान्त अनुरक्त हो॥१०७॥

चतुर्विधेषु मोक्षेषु सायुज्यस्य पदं त्विदम्।
प्राप्यं यतीनामद्वैतभावना भावितात्मनाम्॥१०८॥
महासंसारदुःखाग्निज्वालासंशुष्कचेतसाम्।
असारग्राहिणामन्तःसारासाराविवेकिनाम्॥१०९॥
मयैव कृष्णस्यादेशात् पतितानां भ्रमार्णवे।
निजपादाम्बुज–प्रेमभक्तिसङ्गोपकस्य हि॥११०॥
भगवद्भजनानन्दरसैकापेक्षकैर्जनैः।
उपेक्षितमिदं विद्धि पदं विघ्नसमं त्यज॥१११॥

श्लोकानुवाद—यह चार प्रकारकी मुक्तियोंमें सायुज्य नामक मुक्तिका स्थान है। जिन समस्त यतियोंका चित्त अद्वैत भावनासे भावित है, उनको ही यह स्थान प्राप्त होता है। महासंसारदुःखरूप अग्निकी

ज्वालासे जिनका चित्त शुष्क हुआ है और जिनमें सारासारका विवेक नहीं है, ऐसे असारग्राही यति ही सायुज्यपदको प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्णके द्वारा अपने श्रीचरणकमलोंकी प्रेमभक्ति संगोपन करनेके लिए मुझे आदेश दिये जाने पर मैंने इन यतियोंको भ्रम-समुद्रमें डुबो दिया। अतएव जो भगवान्‌के भजनानन्द रूप भक्तिरसका आस्वादन करना चाहते हैं, वे इस पदकी उपेक्षा कर देते हैं, अतः तुम भी विघ्नके समान जानकर इस स्थानका त्याग कर दो॥१०८-१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो मुक्तिपदेऽस्मिंस्तवावस्थितिरनुचितेति वक्ष्यन् आदौ तत्त्यागकारणमुपन्यस्यति—चतुरिति पादोनचतुर्भिः। चतुर्विधेषु मध्ये सायुज्यस्य निर्वाण-रूपस्य पदं स्थानमिदम्। यथोक्तमर्जुनं प्रति श्रीभगवता हरिवंशे—*'ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महद्‌यद्दृष्टवानसि। अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम्॥ प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी। तां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः॥ सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगीनाञ्च तपस्विनाम्। तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्॥ ममैव तदघनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥'* इति। यच्चार्जुनसहितेन श्रीकृष्णेन गतं, तत्स्थानं ब्रह्माण्डान्तर एव लोकालोक-पर्वत इति केचिद्वदन्ति; तच्च कालान्तराभिप्रायेण, किंवा लोकेभ्यश्चतुर्दशभुवनेभ्योऽलोकेभ्यश्च लोकबहिर्भूतेभ्यः परत इति व्याख्यया तत्सादृश्येन लोकालोकादिसंस्थानप्रस्तावे तत्रैव कथितमिति ज्ञातव्यम्। अतएव यतीनां संन्यासिनां प्राप्यं प्राप्तुं योग्यं, तद्धेतुत्वेन तानेव विशिनष्टि-अद्वैतेत्यादिपञ्च-विशेषणैः। अद्वैतस्य अभेदस्य भावनया भावितः संस्कृत आत्मा चित्तं येषामन्तर्मनसि सारासारयोः; यद्वा, अन्तःसारमन्तरसारञ्च यद्वस्तु तयोर्विवेकहीनानाम्। अतएव श्रीब्रह्मणोक्तं दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/१४/४)—*'स्थूलतुषावघातिनाम्'* इति। कुतः? मयैव भ्रमार्णवे भ्रान्तिमये समुद्रे पतितानाम्। तदुक्तं तेनैव श्रीपद्मपुराणोत्तरखण्डे—*'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव वक्ष्यते देवी कलौ ब्राह्मण रूपिणा॥ ब्रह्मणश्चापरं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया। सर्वस्य जगतोऽप्यस्य मोहनार्थं कलौ युगे॥'* इति। तत् कुतः? कृष्णस्य आदेशात्। तदुक्तं बृहत्सहस्रनामस्तोत्रारम्भे—*'स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु॥'* इति। तदपि कुतः? इत्यपेक्षायां कृष्णमेव विशिनष्टि—निजेति। अतएव भगवतः कृष्णस्य भजनानन्दरसमेकमेवापेक्षन्त इति तथा तैर्जनैरिदं पदमुपेक्षितं परित्यक्तमिति विद्धि। तस्मात्त्वञ्च इदं त्यज, यतः भगवद्भक्तिविघ्नतुल्यं सायुज्येन भक्त्यसम्भवात्॥१०८-१११॥

भावानुवाद—अतएव तुम्हारा मुक्तिपदमें अवस्थान करना उचित नहीं है—इसे बतानेके लिए 'चतुर्विध' इत्यादि चार श्लोक कहे गये हैं। मुक्तिपदमें रहना क्यों अनुचित है—इसका कारण श्रवण करो। चार

प्रकारकी मुक्तियोंमें यह सायुज्य या निर्वाणरूप मुक्तिपद है। जिनका चित्त अद्वैत भावनासे विभावित है, ऐसे यतियोंको ही यह सायुज्यपद प्राप्त होता है। श्रीहरिवंशमें अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌की उक्ति है—"हे भरतश्रेष्ठ! यह जो दिव्य महा-तेजोमय ब्रह्मस्वरूप देख रहे हो, यह मेरा ही सनातन तेज है और वह व्यक्ताव्यक्त परा प्रकृति भी मेरी सनातनी शक्ति है। उत्तम योगी इस प्रकृतिमें प्रवेशकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। ज्ञानी, योगी और तपस्वियों द्वारा प्राप्त किया जानेवाला यह स्थान मुक्तिपद है और यह पद मुझ परब्रह्मकी ही अङ्गकान्ति है, जिससे जगत प्रकाशित हुआ है। हे भारत! तुम उसे मेरा घन तेज जानो।" यद्यपि कोई-कोई कहते हैं कि अर्जुनके साथ श्रीकृष्णने ब्रह्माण्डके बीच स्थित लोकालोक पर्वतमें गमन किया था, किन्तु उक्त वाक्य समस्त कालान्तर अभिप्रायसे कहा गया है। अथवा 'लोक' कहनेसे चौदह भुवन, 'अलोक' कहनेसे चौदह भुवनात्मक ब्रह्माण्डके बाहर स्थित स्थानको लाँघनेसे यह मुक्तिपद (महाकालपुर नामक) स्थान प्राप्त होता है।

अतएव वह मुक्ति पर यति या संन्यासियोंके ही प्राप्त होने योग्य स्थान है। इसका हेतु 'अद्वैत' इत्यादि पाँच विशेषणों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जो अद्वैत अभेदभावनासे विभावित हैं, जिनमें सारासारका विवेक नहीं है, अथवा जो अपने चित्तमें सारासार विचार करने पर सारवस्तुको समझ नहीं पाते, ऐसे असारग्राही विवेकहीन यतियोंको प्राप्त होनेवाला योग्यस्थान यह सायुज्यपद है। इसलिए श्रीब्रह्माने श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्ध (१०/१४/४)में कहा है—"स्थूल भूसेको पीटनेसे जिस प्रकार (फलरहित) दुःख ही सार होता है, उसी प्रकार जो समस्त प्रकारके मङ्गलके अक्षय सरोवर सदृश भक्तिको त्यागकर केवल ज्ञान प्राप्तिके लिए इच्छा करते हैं, उनके लिए दुःख ही सार होता है।" इस प्रकार महासंसार रूप दुःखाग्निकी ज्वालासे जिनका हृदय शुष्क हो गया है, वे उस संसारदुःखके निवारणकी आशासे निर्वाणरूप मुक्तिपदकी आराधना करते हैं।

श्रीभगवान्‌के द्वारा अपने श्रीचरणकमलोंकी प्रेमभक्तिको संगोपन करनेके लिए मुझे आदेश देने पर मैंने उन अद्वैत-भावनासे विभावित

व्यक्तियोंको भ्रम-समुद्रमें डुबो दिया। पद्मपुराणमें स्वयं श्रीशिवने इस विषयमें कहा है—"हे देवि! कलिकालमें ब्राह्मणरूपमें मेरे द्वारा ही असत्‌शास्त्र रूपमें मायावाद या प्रच्छन्न बौद्धवाद कथित हुआ है। इसके द्वारा परमात्मा और जीवात्माकी एकता और ब्रह्मका निर्गुणस्वरूप ही श्रेष्ठरूपमें निरूपण हुआ है। बुद्धिविमोहन द्वारा समस्त जगतके नाशके लिए मैंने वेदके यथार्थ अर्थोंको अवैदिक कल्पित मायावादसे ढक दिया है।" यदि प्रश्न हो कि आपने ऐसा गर्हित कार्य क्यों किया? इसके उत्तरमें कहते हैं—श्रीकृष्णके आदेशसे ऐसा किया। उन्होंने कहा था—जैसा कि बृहद्सहस्रनामस्तोत्रोंके प्रारम्भमें उक्त है—"हे शंकर! तुम कल्पित तन्त्रशास्त्रके द्वारा इस लोकमें सबको मुझसे विमुखकर मुझे गोपन करो।" हे देवि! मैंने इस प्रकारसे प्रभुका आदेश प्राप्तकर हरिसे विमुखजनोंके लिए समस्त असत् शास्त्रोंका प्रचार किया है। अतएव भगवान् श्रीकृष्णके भजनानन्दरूप रसके लोभीजन इस मुक्तिपदकी सर्वदा उपेक्षा करते हैं। विशेषतः सायुज्य मुक्तिमें भक्तिकी गन्धमात्र भी नहीं है। अतएव तुम शीघ्र ही इस लोकको परित्याग करो, क्योंकि यह सायुज्यमुक्ति भगवद्भक्तिके लिए विघ्नके समान है॥१०८-१११॥

द्वारकावासि-विप्रेण कृष्णभक्तिरसार्थिना।
इतो नीताः सुतास्तत्र स चातुर्यविशेषतः॥११२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी भक्तिरसके प्रार्थी द्वारकावासी किसी एक ब्राह्मणने विशेष चतुरता सहित अपने पुत्रको इस मुक्तिपदसे पुनः द्वारका लौटा लिया था॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र सदाचारमपि प्रमाणयति—द्वारकेति। इतो मुक्तिपदात्, तत्र द्वारकायां नीताः। तदानीन्तनानां सच्चिदानन्दविग्रहाणां द्वारकावासिनां साक्षाच्छ्रीदेवकीनन्दनचरणारविन्द-विचित्रप्रेमभक्त्या मोक्षसुखस्य धिक्कारापत्तेः। ये केचिन्मन्यन्ते तेऽपि पाञ्चभौतिकदेहधारिणो मनुष्या एव, जन्मादिश्रवणात्; तथा सत्यपि केवलप्रेमभक्तिविशेषेणैव भगवता सह तादृक् सम्बन्ध इति तेषां मतेऽप्यनुकरणमात्रमेव तत्, न तु तत्त्वतः, अन्यथा परमायोग्यत्वेन तेषां परम-सच्चिदानन्दघनमूर्त्तिना तेन श्रीभगवता सह तत्तत्क्रीड़ाद्यनुपपत्तेः। तथा भगवद्भक्ति-

प्रभावेण सच्चिदानन्दविग्रहतैव पर्यवस्यतीति प्रागुक्तविरोधाच्च। नन्वेवं श्रीभगवतोऽपि मनुष्यरूपादेरनुकरणमात्रता प्रसज्येत, तच्चायुक्तम्, अग्रे सर्वेषामेव तद्रूपाणां नित्यसत्यत्व-व्यापकत्वादेश्च वक्ष्यमाणत्वात्। सत्यं नित्यमेव तस्य तत्तद्रूपाणां सत्यतादिदर्शनात्, तथा तत्तद्रूपेणैव सदा निजनिजोपासकेषु परिस्फुरणादनुकरणं न किल घटते। द्वारकादि-वासिनाञ्च केषाञ्चिदनुकृत मनुष्यशरीरादित्यागेन केवल-सच्चिदानन्ददेहत्वेनैव वृत्तिरित्यपि श्रूयते। अतएव यतस्तेषां मते *'अन्तर्गृहगताः काश्चित्'* इत्यादौ गुणमयं देहं जहुः, किन्तु गुणातीत-सच्चिदानन्ददेहं प्रापुः। तेन वा विच्छेदं श्रीभगवता तेन सह निजाभीष्टसुखक्रीड़ाविशेषसिद्धेरित्यर्थः। कल्पते ततश्च तमेव सङ्गता इति सच्चिदानन्दविग्रहतया श्रीभगवत्साम्यापत्त्यभिप्रायेणैव; अतएवोद्धवयानेऽपि भगवत्-सन्देशः—*'या मया क्रीड़ता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/३७) इति। यथा हि सनकादिशाप-समाप्त्यनन्तरं च यथा पूर्वद्वारपालकत्वेऽपि भाव्ये शिशुपाल-दन्तवक्रयोः साक्षात्तेजःप्रवेशेन सायुज्यमुक्तमिति दिक्। न च सायुज्यमोक्ष एव तयोर्वृत्त इति वक्तव्यम्; यतः श्रीभगवद्भक्तयोर्विशेषतो वैकुण्ठलोकं गतयोः परमानिष्टस्य मोक्षस्य कथमप्यसङ्गतेः, किञ्च, पुनः पार्षदताश्रवणाच्च। यथोक्तं श्रीनारदेन सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१/४६)—*'वैरानुवन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्। नीतौ पूनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥'* इति। यत एवं शप्तौ स्वभवनात् पतन्तौ तौ कृपालुभिः प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पतामित्येवमेव श्रीसनकादि-शापोक्त्याविर्भावादिति। वयन्तु मन्यामहे—श्रीभगवानिव मर्त्त्यलोकेऽपि ते सर्वे मनुष्याकाराः सच्चिदानन्दविग्रहा एव, यद्धि कदाचित् स्वकीयाविर्भाव-तिरोभावादिकं निजप्रभुवरलीलानुसारेण परमोत्कटप्रेमविशेषोदयेन वा विस्तारयन्ति। तदेव मुनिभिर्जहुरित्यादौ त्यागादिशब्देनोच्यते इति ज्ञेयम्। एवं च तेषां त्रयाणां श्लोकानामयमर्थः—गुणमयं सर्वसद्गुणपूर्णमपि देहं सद्यो जहुः, लीलया अन्तर्धापयामासुः। कथम्भूताः? तं परमात्मानं जारबुद्ध्यैव सङ्गताः सम्यक् प्राप्ताः। एष सर्वत्रैव मुख्यो हेतुर्द्रष्टव्यः। अतः प्रक्षीणानि बन्धनानि विधिनिषेधपालनरूपाणि यासां ताः, श्रीभगवदनुग्रहविशेष-पात्रत्वात्। यथोक्तं श्रीनारदेन चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/२९/४७)—*'यदा यदानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥'* इति। किञ्च, ध्यानप्राप्तस्याच्युतस्याश्लेषेण, यद्वा, ध्यानप्राप्तो योऽच्युतोऽविच्छिन्न आश्लेषः अर्थात् कृष्णस्यैव तेन या निवृत्तिः सुखविशेषस्तयापि अक्षीणं मङ्गलं तिलकादिभगवद्भजनरूपं वा सुकृतं यासां तथाभूता अपि दुःसहात् प्रेष्ठस्य तस्य विरहात्तीव्रतापस्तेन धूता निरस्ता आशु शीघ्रं भा दीप्तिः; यद्वा, धूतं भाविविच्छेदरूपमशुभं यासां ताः। तथा सङ्गतत्वे हेतुः—तया परमरहस्यत्वेन सभामध्ये अत्रानिर्वाच्यया सुप्रसिद्धया वा जार-भावनया। श्रीगीतगोविन्दे—*'निभृतनिकुञ्जगृहं गतया'* इत्याद्युक्तया युक्ताः सत्यः

कृष्णं दध्युरिति, तत्प्रकारो—*'मिलितलोचनाः'* इति अर्धमुद्रित-नेत्रा इत्यर्थः। किंवा ध्याने सम्यङ्मुद्रितचक्षुष एवेति; यद्वा, *'श्रुति-स्मृति उभे नेत्रे'* इतिवचनानुसारेणानादृत-शास्त्रार्ह इत्यर्थः। ततश्चायं तथा ध्याने हेतुर्द्रष्टव्यः। देहत्यागे हेतुः—न लब्धो निर्गमो याभिस्ताः, तत्रैव हेतुरन्तर्गृहगता इति दिक्॥११२॥

भावानुवाद—सायुज्य-मुक्तिकी तुच्छताके विषयमें शास्त्र प्रमाणके अलावा विशेष व्यक्तियोंका सदाचार भी एक प्रमाण है—इसके लिए 'द्वारका' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। द्वारकावासी कोई ब्राह्मण विशेष चतुरताके साथ अपने पुत्रको इस मुक्तिपदसे भक्तिपद अर्थात् द्वारकामें ले गये थे। भगवान्की प्रकट लीलाके समय द्वारकावासियोंका भी सच्चिदानन्दविग्रह था, अतः साक्षात् श्रीदेवकीनन्दनके चरणकमलोंसे सम्बन्धित विचित्र प्रेमभक्तिरसका आस्वादन करनेके कारण वे सर्वदा मोक्षसुखको धिक्कार देते थे। अतएव उन द्वारकावासियोंमें से किसीका भी मुक्तिपदमें गमन सम्भव नहीं था।

यदि आपत्ति हो कि द्वारकावासी पाञ्चभौतिक देहयुक्त साधारण मनुष्य थे, क्योंकि उनके जन्मादिके विषयमें सुना जा रहा है तथा ऐसा होने पर भी केवल प्रेमभक्तिरूप सम्पत्तिके बलसे ही भगवान्के साथ उनका विशेष सम्बन्ध स्थापित होता है। किन्तु इस मतके अनुसार भी द्वारकावासियों द्वारा सच्चिदानन्द देहका अनुकरणमात्र ही स्वीकृत हुआ है, तत्त्वतः नहीं, क्योंकि पाञ्चभौतिक देहके द्वारा परम सच्चिदानन्दविग्रह भगवान्के साथ किसी प्रकारकी क्रीड़ा सम्भव नहीं हो सकती है। अथवा क्रीड़ाके उपकरणस्वरूप विविध द्रव्यसमूहके सच्चिदानन्दमय न होनेसे वे श्रीभगवान्की साक्षात् क्रीड़ाके योग्य नहीं हो सकते हैं। तथा 'भगवद्भक्तिके प्रभावसे उनका पाञ्चभौतिक देह सच्चिदानन्दरूपमें ही पर्यवसित होता है'—ऐसा नहीं होनेसे उपरोक्त वाक्यके साथ विरोध उपस्थित होगा।

यदि आपत्ति हो कि श्रीभगवान् भी तो मनुष्यरूपका अनुकरण करते हैं। इसके लिए कहते है कि ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि श्रीभगवान्के समस्त स्वरूप ही नित्यसत्य और व्यापक हैं—आगे ऐसा प्रदर्शित होगा। विशेषतः अनन्त प्रकारके भक्तोंको उनके अनन्त प्रकारके भावोंके अनुसार नित्यसत्यस्वरूप श्रीमूर्त्तिका परिस्फुरण होता

है, वह स्वरूप निश्चय ही मनुष्यरूपका अनुकरण नहीं होता। द्वारकादि धामवासियोंमें किसी-किसीके द्वारा अनुकरणरूप मनुष्य शरीरके त्यागको भी केवल सच्चिदानन्ददेहकी वृत्तिके रूपमें श्रवण किया जाता है। अतएव जिनका ऐसा मत है, उनके अनुसार श्रीमद्भागवत (१०/२९/९-११)में कथित है कि रासकी रात्रिमें जो गोपियाँ अपने घरोंसे बाहर नहीं निकल सकीं, उन गोपियों द्वारा गुणमय देहत्याग और उसी क्षण गुणातीत सच्चिदानन्ददेहकी प्राप्तिके कारण उन्होंने श्रीभगवान्‌के साथ बाधारहित रूपमें अपना अभीष्ट सुखमय क्रीड़ा-विहार किया था। तथा ऐसा भी सुना जाता है कि 'तमेव संगता' पदोंसे उन गोपियोंने श्रीभगवान्‌के समान होनेके अभिप्रायसे सच्चिदानन्द-घनविग्रह प्राप्त किया। अतएव श्रीमद्भागवत (१०/४७/३७)में श्रीउद्धव द्वारा भी श्रीभगवान्‌ने व्रजमें जो संदेश भेजा था, उसमें भी कथित है—"वृन्दावनमें मेरे द्वारा रात्रिमें रासक्रीड़ामें प्रवृत्त होने पर जो समस्त व्रजललनाएँ पति आदि गुरुजनों द्वारा रोके जानेके कारण मेरे साथ रास नहीं कर पायीं, वे परम सौभाग्यशालिनी हैं, क्योंकि वे मेरी चिन्ताकर मुझे प्राप्त हुई थीं।"

और भी देखा जाता है कि श्रीसनकादि चार कुमारों द्वारा दिये गये शापकी समाप्तिके प्रसंगमें, वैकुण्ठके पूर्व द्वारपाल होने पर भी जय और विजय तीसरे जन्ममें शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें जब श्रीकृष्णके हाथोंसे हत हुए, तब उनकी आत्मा साक्षात् श्रीकृष्णके तेजमें प्रविष्ट हुई। इसके द्वारा उन दोनोंकी सायुज्यमुक्तिके रूपमें केवल प्रतीति हुई थी, यथार्थतः सायुज्य मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ था, क्योंकि उन्होंने पुनः जय और विजयके रूपमें अपनी सेवाको प्राप्त किया था। विशेषतः जिन्होंने श्रीभगवान्‌के भक्तरूपमें वैकुण्ठलोकको प्राप्त किया है, उनके लिए परम अनिष्टकर मोक्ष किस प्रकारसे सङ्गत हो सकता है? श्रीमद्भागवत (७/१/४६)में जय और विजयके पुनः पार्षदत्व प्राप्त करनेके सम्बन्धमें श्रीनारदकी उक्ति है—"वैरभावके कारण निरन्तर ही वे भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन किया करते थे। उसी तीव्र तन्मयताके फलस्वरूप वे भगवान्‌को प्राप्त हुए और पुनः उनके पार्षद होकर उनके समीप चले गये।" जिस प्रकार अग्निमें दग्ध

होनेसे स्वर्णका मल ही नष्ट होता है स्वर्ण नहीं, उस प्रकार जय और विजयका बाह्य मलिनतारूप अपराध या शाप ही विनष्ट हुआ। इसलिए उनका तेज श्रीकृष्णमें प्रविष्ट हुआ तथा वे पुनः वैकुण्ठको गमन किये। वास्तवमें श्रीकृष्णमें उनका सायुज्य लोकप्रसिद्धिमात्र है, यथार्थतः नहीं, क्योंकि वे भगवान्‌के पार्षद हैं, उनके लिए परम अनिष्टकर सायुज्यमोक्ष कभी भी संगत नहीं हो सकता। विशेषतः वैकुण्ठलोकसे पतनके समय उन कृपालु भगवान्‌ने उन्हें कहा था—'तीन जन्मोंके बाद मुझे प्राप्त होओगे।' श्रीसनकादि कुमारोंके शाप द्वारा जय और विजयका इस जगतमें आगमन आविर्भावके समान ही हुआ था।

किन्तु हमारा (श्रील सनातन गोस्वामीका) मानना है कि इस जगतमें भगवद्भक्तोंका भी भगवान्‌की भाँति मनुष्य आकार होने पर भी उनका देह सच्चिदानन्द है और अपने प्रभुके आविर्भाव और तिरोभावकी भाँति वे भी लोक-लोचनके गोचर और अगोचर होते हैं। उनका आविर्भाव और तिरोभावादि अपने प्रभुकी लीलानुसार अथवा कभी-कभी अत्यन्त तीव्र प्रेमके कारण होता है। शास्त्रोंमें मुनियों द्वारा भक्तोंके तिरोभावको 'जहु' अर्थात् 'देहत्याग' शब्दसे वर्णित किया गया है।

अतएव उपरोक्त श्रीमद्भागवतके (१०/२९/९-११) 'अन्तर्गृहगता' इत्यादि तीन श्लोकोंका अर्थ इस प्रकार हैः 'गुणमय' कहनेका अर्थ है कि गोपियोंने समस्त सद्‌गुणोंसे पूर्ण देहको तत्क्षणात् त्याग कर दिया अर्थात् लीलाशक्ति द्वारा लोकदृष्टिसे अन्तर्धान करा दिया। यदि कहो कि ऐसा किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके लिए कहते हैं कि उन परमात्माको जार (उपपति) माननेसे 'संगता' अर्थात् उनका भलीभाँति सङ्ग प्राप्त हुआ—यही उन गोपियोंके द्वारा कृष्णकी प्राप्तिका मुख्य कारण है। अतएव उन गोपियोंका 'बन्धन' अर्थात् विधि-निषेध पालनादि रूप बन्धन 'प्रक्षीण' अर्थात् प्रकृष्टरूपसे क्षीण हो गया, क्योंकि वे श्रीभगवान्‌की विशेष कृपापात्र थीं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (४/२९/४७)में श्रीनारदकी उक्ति है—"भगवान् वासुदेव आत्मामें (अपनेमें) विभावित होकर जब जिसके प्रति कृपा करते हैं, तब वह लौकिक-व्यवहार तथा वैदिक कर्म-मार्गकी निष्ठासे मुक्त हो

जाता है।" तदुपरान्त, ध्यानमें प्राप्त अच्युतका आलिङ्गन अथवा ध्यानमें प्राप्त श्रीकृष्णका च्युतरहित अर्थात् अखण्डरूप आलिङ्गन करनेसे जो 'निवृत्ति' या विशेष सुख प्राप्त हुआ उस आनन्दके आवेशमें 'अक्षीणमङ्गल' अर्थात् उन गोपियोंका वह सुखरूप मङ्गल क्षीण नहीं हुआ, यहाँ तक कि तिलकादिरूप भगवद्भजनके चिह्न तक भी नष्ट नहीं हुए। अथवा इस प्रकार कृष्णका आलिङ्गनरूप श्रेष्ठ सौभाग्य प्राप्त करने पर भी प्रियतमके दुःसहनीय विरहके तीव्र ताप द्वारा उन गोपियोंकी कान्ति शीघ्र ही 'धूता' अर्थात् खण्डित हो गयी थी। अथवा गोपियोंका प्रियतम श्रीकृष्णसे भावी विच्छेदरूप अशुभ 'धूतं' अर्थात् नष्ट हो गया था।

तथा गोपियों द्वारा श्रीकृष्णका सङ्ग प्राप्त करनेका हेतु था—जारभावसे किया गया प्रेम। परमगोपनीय और परमरहस्यमय होनेके कारण वह प्रेम श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा विस्तारपूर्वक सभामें प्रकाशित नहीं किया गया है। ये अनिर्वचनीय सुप्रसिद्ध जारभाव 'श्रीगीतगोविन्द'के पदोंमें प्रकाशित हुआ है, यथा 'निभृत निकुञ्जगृहं गतया'—"परकीया भावसे अति संगोपनमें निभृत निकुञ्जमें श्रीराधा आदि समस्त गोपियोंने अभिसार पूर्वक श्रीकृष्णको धारण किया था।" किस प्रकार धारण किया? इसके लिए कहते हैं—'मिलितलोचनाः'—अर्द्ध मुद्रित नेत्र अथवा ध्यानमें पूर्णता मुद्रित लोचनवाली होकर। अथवा जिनके 'श्रुति-स्मृति' रूपी दो नेत्र बन्द हो गये थे—इन वचनोंके अनुसार उन गोपियोंने शास्त्र वचन अर्थात् विधिमार्ग रूपी लोक लज्जाका त्यागकर प्रबल अनुरागसहित रागमार्गमें प्रवेश किया—यही ध्यानका अभिप्राय है। गोपियोंके देहत्यागका हेतु था—बाहर नहीं जा सकना, क्योंकि वे अपने घरोंमें अवरुद्ध थीं—यही इस विचारका दिग्दर्शन है॥११२॥

अत्रापि भगवन्तं यद्दृष्टवानसि तादृशम्।
सद्गुरोः कृपया कृष्णदिदृक्षाभरकारितम्॥११३॥

श्लोकानुवाद—तुमने इस स्थान पर भगवान्‌का जो अनिर्वचनीय सुन्दर रूप दर्शन किया है, वह केवल सद्गुरुकी कृपासे ही सम्भव

हुआ है तथा तुममें जो श्रीकृष्णके दर्शनकी वासना जाग्रत हुई है, उसे भी उनकी कृपाके फलस्वरूप ही जानो॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र ईदृशेऽपि मुक्तिपदे तादृशमनिर्वचनीयं सुन्दराकारं, तच्च सद्गुरोः कृपया यः कृष्णदिदृक्षाभरस्तेन कारितमत्रापि विद्धीत्यनुवर्त्तनीयम्॥११३॥

भावानुवाद—ऐसे मुक्तिपदमें भी तुमने उन अनिर्वचनीय सुन्दराकार श्रीभगवान्‌का सन्दर्शन किया, इसे केवल सद्‌गुरुकी कृपासे ही संघटित हुआ जानो। तथा तुममें जो श्रीकृष्णके दर्शन करनेकी उत्कण्ठा उदित हुई है, इसे भी उन गुरुकी कृपाका ही फल जानो॥११३॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तच्छङ्करप्रसादेन परानन्दभरं गतः।
किञ्चिदिच्छन्नपि ब्रह्मन्नाशकं वदितुं ह्रिया॥११४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—श्रीशंकरकी कृपा प्राप्त कर मैं परमानन्दित हुआ। उस समय मन-ही-मन इच्छा होने पर भी मैं लज्जावशतः वैकुण्ठ पार्षदोंसे कुछ भी कह न सका॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेनोक्तरूपेण शङ्करस्य प्रसादेन परमानन्दातिशयं लब्धः सन् किञ्चित् पार्षदैः सह सम्भाषणादिकमिच्छन्नपि ह्रिया लज्जया वदितुं नाशकम्॥११४॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैं श्रीशंकरकी कृपासे अत्यधिक परमानन्दमें निमग्न हो गया। उस समय श्रीभगवान्‌के पार्षदोंके साथ कुछ वार्त्तालापकी इच्छा रहने पर भी लज्जावशतः मैं कुछ बोल न सका॥११४॥

भगवत्पार्षदाः श्रुत्वा तां तां वाचमुमापतेः।
प्रणम्य सादरं प्रीत्या तमूचुर्विनयान्विताः॥११५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के पार्षद श्रीशिवकी बात सुनकर उनको सादर प्रणामकर विनयपूर्वक कहने लगे—॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजागमनप्रयोजनमग्रे विधास्यन्तः प्रथमं ते भगवत्प्रेम-विशेषाविर्भावेण शोकाकुलमिव मामसान्त्वयन्नित्याह—भगवदिति। तमुमापतिं प्रणम्योचुः॥११५॥

भावानुवाद—पार्षदोंने अपने आगमनका कारण कहनेसे पहले भगवत्-प्रेमके आविर्भावसे शोकाकुल मुझे सान्त्वना देनेके लिए श्रीउमापतिको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया तथा कहा—॥११५॥

श्रीभगवत्पार्षदा ऊचुः—

तेन वैकुण्ठनाथेन समं कोऽपि न विद्यते।
भगवन्! भवतो भेदो गौर्याश्च रमया सह॥११६॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के पार्षदोंने कहा, हे भगवन्! उन वैकुण्ठनाथ और आपमें कोई भेद नहीं है तथा रमा और गौरीमें भी कोई भेद नहीं है॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कोऽपि भेदो न विद्यते; तया रमया लक्ष्म्या सह गौर्याश्च कोऽपि भेदो न विद्यते तत्तदवतारत्वात्॥११६॥

भावानुवाद—हे भगवन्! उन वैकुण्ठनाथ और आपमें कोई भेद नहीं है, रमा और इन गौरीमें भी कोई भेद नहीं है। आप जिस प्रकार प्रभुके अवतार हैं, गौरी भी उसी प्रकार श्रीलक्ष्मीका अवतार हैं॥११६॥

तल्लोके भवतो वासो देव्याश्च किल युज्यते।
ख्यातः प्रियतमस्तस्यावतारश्च भवान् महान्॥११७॥

श्लोकानुवाद—आप और गौरी उस वैकुण्ठलोकमें वास करनेके योग्य हैं, क्योंकि आप वैकुण्ठनाथके परमप्रिय तथा महान अवतारके रूपमें विख्यात हैं॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तस्य लोके वैकुण्ठे; किलेत्यवधारणे; यतस्तस्य वैकुण्ठनाथस्य भवानपि प्रियतमो महानवतारश्च ख्यातः प्रसिद्धः॥११७॥

भावानुवाद—अतएव आप दोनों उस वैकुण्ठलोकमें वास करनेके योग्य हैं, क्योंकि आप वैकुण्ठनाथके प्रसिद्ध महान अवतार और प्रियतम रूपमें विख्यात हैं। यहाँ 'किल' शब्द निश्चयके अर्थमें है॥११७॥

तथापि यदिदं किञ्चिद्भाषितं भवताधुना।
स्वभावो भगवत्-प्रेष्ठतमतौपयिको ह्ययम् ॥११८॥

श्लोकानुवाद—तथापि आपने अभी जो कुछ वर्णन किया है, वह श्रीभगवान्‌के प्रियतमजनोंका उपयुक्त स्वभाव ही है॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदं किञ्चित् साध्यो ब्रह्मसुतानाञ्चेत्यादिना यदधुना भवता भाषितमुक्तमयमेव भगवत्प्रेष्ठतमतया औपयिक उचितः स्वभावः॥११८॥

भावानुवाद—तथापि आपने अभी जो वैकुण्ठको अपना तथा ब्रह्मा, ब्रह्माके पुत्र भृगु आदिके लिए साध्य बतलाया है, वह भगवान्‌के प्रियतमजनोंका उपयुक्त स्वभावमात्र है॥११८॥

तद्भक्तिरसकल्लोलग्राहको वैष्णवेड़ितः।
अतः सर्वावतारेभ्यो भवतो महिमाधिकः॥११९॥

श्लोकानुवाद—आप श्रीकृष्ण-भक्तिरसकी तरङ्गोंके ग्राहक हैं, इसलिए वैष्णवजन आपका स्तव करते हैं। अतएव श्रीभगवान्‌के समस्त अवतारोंमें आपकी ही महिमा अधिक है॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुत्वेन स्वभावमेव विशिंषन्ति—तदिति, तस्य भगवतो भक्तिरसकल्लोलानां ग्राहकः प्रवर्त्तकः, अतएव वैष्णवैरीड़ितस्तुतः॥११९॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के पार्षद श्रीशिवके स्वभावकी प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं कि आप श्रीकृष्ण-भक्तिरसकी तरङ्गोंके ग्राहक और प्रर्वत्तक हैं, इसलिए वैष्णवजन सर्वदा आपका स्तव किया करते हैं॥११९॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

निजस्तुत्या तया तस्मिन् ह्रिया तूष्णीं स्थिते प्रभौ।
भगवत्पार्षदास्ते मामाश्लिष्योचुः सुहृद्वराः॥१२०॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—अपनी स्तुति सुनकर श्रीशिवने लज्जासे मौनधारण कर लिया। तब सुहृद-शिरोमणि भगवान्‌के उन पार्षदोंने मेरा आलिङ्गन कर कहा—॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तया पार्षदैः कृतया तादृश्या निज-स्तुत्या या ह्रीर्लज्जा

तया महतामात्मस्तुतिश्रवणेन स्वयं लज्जोत्पत्तेस्तस्मिन् परमसद्गुणवति प्रभौ श्रीशिवे सुहृदो निरुपाधिकृपाकरास्तेष्वपि वराः श्रेष्ठाः, अतएव मामाश्लिष्योचुः॥१२०॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के पार्षदों द्वारा अपनी स्तुति सुनकर लज्जावशतः परम सद्गुणोंसे मण्डित प्रभु श्रीशिवने मौनधारण कर लिया। इसका कारण है कि महापुरुष मात्र ही अपनी स्तुतिसे लज्जित होते हैं, अतः महत् शिरोमणि श्रीमहादेव क्यों नहीं लज्जित होते? उस समय निरुपाधिक कृपा करनेवालोंमें श्रेष्ठ वे वैकुण्ठ पार्षदगण मुझे आलिङ्गनकर कहने लगे—॥१२०॥

श्रीभगवत्पार्षदा ऊचुः—

अस्मदीश्वरसन्मन्त्रोपासकोमापतिप्रिय ।
गोपनन्दन! भक्तेषु भवन्तं गणयेम हि॥१२१॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्के पार्षदोंने कहा—हे उमापतिप्रिय गोपनन्दन! तुम हमारे ईश्वरकी सत्मन्त्रसे उपासना करते हो, इसलिए हम तुम्हारी एक भक्तके रूपमें ही गणना करते हैं॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ भवतो वैकुण्ठलोक प्राप्तियोग्यतास्तीति सान्त्वयन्ति–अस्मदीति। हे गोपनन्दन! भक्तेषु मध्ये भवन्तं वयं गणयेम लिखाम; हि निश्चितम्। तत्र हेतुः—हे अस्मदीश्वरस्य वैकुण्ठनाथस्य सन्मन्त्रोपासक! हे उमापतिप्रियेति॥१२१॥

भावानुवाद—हे गोपनन्दन! तुममें वैकुण्ठ प्राप्तिकी योग्यता है—इस प्रकारसे आश्वासन देनेके लिए 'अस्मद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। तुम हमारे ईश्वर श्रीवैकुण्ठनाथकी सत्मन्त्रसे उपासना करते हो तथा तुम श्रीउमापतिके प्रिय हो, अतएव हम तुम्हारी एक भक्तके रूपमें ही गणना करते हैं—ऐसा निश्चित जानो॥१२१॥

गौड़े गङ्गा–तटे जातो माथुरब्राह्मणोत्तमः।
जयन्तनामा कृष्णस्यावतारस्ते महान् गुरुः॥१२२॥

श्लोकानुवाद—गौड़देशके गङ्गातटमें जन्में जयन्त नामक जो एक उत्तम माथुर ब्राह्मण हैं, वे श्रीकृष्णके अवतार हैं और वे ही तुम्हारे महान गुरु हैं॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, कृष्णस्य महानवतारस्ते तव गुरुः॥१२२॥

भावानुवाद—और भी कुछ कहते हैं—तुम्हारे महान गुरु श्रीकृष्णके अवतार हैं॥१२२॥

सत्यं प्रतीहि वयमत्र भवन्निमित्त–
मेवागताः शृणु हितं निजकृत्यमेतत्।
वैकुण्ठमिच्छसि यदि प्रविहाय सर्वं
सप्रेमभक्तिमनुतिष्ठ नवप्रकाराम्॥१२३॥

श्लोकानुवाद—तुम यह सत्य जानो कि हम तुम्हारे लिए ही इस मुक्तिपदमें उपस्थित हुए हैं। अब यदि वैकुण्ठलोक चाहते हो, तो अपने कर्त्तव्यके विषयमें श्रवण करो। सब कुछ त्यागकर प्रेमसहित नौ प्रकारकी भक्तिका अनुष्ठान करो॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव भवन्निमित्तं भवद्धितार्थमेव अत्र मुक्तिपदे आगता इति सत्यं प्रतीहि, आत्मनोऽत्रायोग्यत्वाशङ्कयाऽसम्भावनां मा कुर्वित्यर्थः। एतदग्रे उच्यमानम्। तत्रादौ श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तये मन्त्रजपाद्यासक्तिपरित्यागेन श्रवण–कीर्त्तनादिभक्तिनिष्ठत्वं हितं कृत्यं मन्वाना उपदिशन्ति–वैकुण्ठमिति; सर्वं मुक्तिपदमिदं; निजमन्त्रजपनिष्ठतादिकञ्च प्रकर्षेण सपरिकरं विहाय सप्रेम यथा स्यात्॥१२३॥

भावानुवाद—अतएव तुम यह सत्य जानो कि हम तुम्हारे लिए ही इस मुक्तिपदमें उपस्थित हुए हैं। तुम अपनेको वैकुण्ठ प्राप्तिके अयोग्य मत मानो। (इसके सम्बन्धमें आगे कहा जायेगा।) यदि वैकुण्ठलोकको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो तो सर्वप्रथम अपने मन्त्रजपके प्रति आसक्ति त्यागकर श्रवण–कीर्त्तनादिरूप भक्तिका अनुष्ठान करो—तुम्हारे हितके लिए ही हम यह उपदेश दे रहे हैं। सर्वप्रथम इस मुक्तिपदका त्याग करो और फिर अपने मन्त्रजपकी निष्ठाका न्यास और ध्यानादि समस्त अङ्गों सहित परित्यागकर प्रेम सहित भक्तिके अङ्ग श्रवण–कीर्त्तनादिका अनुष्ठान करो॥१२३॥

तज्ज्ञापकञ्च भज भागवतादिशास्त्रं,
लीलाकथा भगवतः शृणु तत्र नित्यम्।

ता एव कर्णविवरं प्रणयात् प्रविष्टाः,
सद्यः पदं भगवतः प्रभवन्ति दातुम्॥१२४॥

श्लोकानुवाद—उस भक्तिका बोध करानेवाले भागवतादि शास्त्रोंका अनुशीलन करो तथा नित्य ही श्रीभगवान्‌की लीला-कथाका श्रवण करो। प्रेम सहित उस लीलाकथाके कर्णकुहरों (कानों)में प्रवेश होनेसे वे उसी क्षण तुम्हें श्रीभगवान्‌का धाम प्राप्त करवा देंगी॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु के ते नवप्रकाराः? कथञ्चानुष्ठेया? इत्यपेक्षायामाहुः—तदिति। तस्या भक्तेर्ज्ञापकं तेष्वपि सर्वेषु मध्ये प्रथमं प्रायो लीलाकथाश्रवणमेव परमचित्ताकर्षकत्वात् परमहितमित्याहूः—लीलेति। तत्र शास्त्रे; तत्र हेतुः—ता लीलाकथा एव। तदुक्तं श्रीशुकेन द्वादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १२/४/४०)—*'संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य। लीलाकथारस-निषेवणमन्तरेण पुंसां भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य॥'* इति। द्वितीयस्कन्धेऽपि (श्रीमद्भा॰ २/२/३७)—*'पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्। पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥'* इति॥१२४॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि वह नवधा भक्ति किस प्रकारकी है और उसका अनुष्ठान किस प्रकार होता है? इसकी आशंकासे 'तद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस भक्तिके सम्बन्धमें बतलानेवाले भागवतादि शास्त्रोंका अनुशीलन करते हुए नित्य ही भगवान्‌की लीला-कथाका श्रवण करो। उस नवविधा भक्तिमें प्रथमतः सर्वश्रेष्ठ है लीला-कथाका श्रवण, जो अत्यधिक रूपमें चित्तका आकर्षण करनेके कारण परम हितजनक है। अर्थात् उस लीला-कथाके कानोंके माध्यमसे हृदयमें प्रवेश करते ही वह कथा उसी समय श्रीभगवान्‌के धामको प्रदान करवा देती है। इस विषयको द्वादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ १२/४/४०)में श्रीशुकदेवने स्पष्टरूपसे कहा है—"जो लोग दुःखरूप दावानलसे दग्ध होकर सुदुस्तर संसार सिन्धुको पार करनेके इच्छुक हैं, उसके लिए एकमात्र नौकास्वरूप पुरुषोत्तम भगवान्‌की लीला-कथाका अमृतमय रसास्वदन करनेके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।" द्वितीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ २/२/३७)में भी लिखित है—"जो साधुजनोंकी आत्मास्वरूपसे प्रकाशमान श्रीभगवान्‌के कथारूपी अमृतको

कानोंके माध्यम द्वारा परिपूर्णरूपमें पान करते हैं, मायारूपी मरीचिकाके समान रूप और रसादि विषयोंसे विदूषित उनका चित्त शोधित हो जाता है और वे सुखपूर्वक प्रभुके चरणकमलोंका सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं"॥१२४॥

तेषां नवप्रकाराणामेकेनैव सुसिद्ध्यति।
सर्वसाधनवर्येण वैकुण्ठः साध्यसत्तमः॥१२५॥

श्लोकानुवाद—उस नवधा भक्तिके किसी एक अङ्ग द्वारा ही समस्त साध्योंका श्रेष्ठतम फल वैकुण्ठलोक प्राप्त किया जाता है, क्योंकि भक्ति समस्त साधनोंमें श्रेष्ठ है॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि किं नवप्रकाराणामनुष्ठानेन? तत्राहुः—तेषामिति त्रिभिः। वैकुण्ठलोकः सुसिध्यति, सुखेन तत्प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—सर्वेषु ज्ञानकर्मादिषु साधनेषु मध्ये वर्येण श्रेष्ठेन; अतः साध्येषु भुक्तिमुक्त्यादिषु सत्तमः श्रेष्ठतमः सुष्ठु सिध्येत्येवेत्यर्थः। महता साधनेन महतः फलस्य प्राप्त्युपपत्तेः। तथा च ब्रह्मपुराणे—'*दीक्षामात्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं लभन्ति वै। किं पुनर्ये सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं नराः॥*' मोक्षयतीति मोक्षः कृष्णस्तम्। '*शाठ्येनापि नरा नित्यं ये स्मरन्ति जनार्दनम्। तेऽपि यान्ति तनुं त्यक्त्वा विष्णुलोकमनामयम्॥*' इति॥१२५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि क्या वैकुण्ठको प्राप्त करनेके लिए नौ प्रकारकी भक्तिका अनुष्ठान करना होगा? इसके उत्तरमें 'तेषाम्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। उस नवधा भक्तिमें से किसी भी एक अङ्गके अनुष्ठान द्वारा सुखपूर्वक वैकुण्ठलोक प्राप्त किया जाता है। इसका कारण है कि ज्ञान और कर्मादि जितने प्रकारके भी साधन हैं, नवधा भक्तिका प्रत्येक अङ्ग ही उन साधनोंसे श्रेष्ठ है तथा भुक्ति और मुक्ति आदि समस्त साध्योंसे भी श्रेष्ठतम साध्य प्रदान करनेवाला है। यद्यपि ज्ञान-कर्मादि साधनोंका फल क्रमशः मुक्ति और भुक्ति इत्यादि साध्यरूपोंमें निरूपित हुआ है, तथापि महापुरुषोंने तुच्छ फल जानकर इनका परित्याग किया है। इसका कारण है कि जैसा साधन होगा, वैसा ही फल होगा, महान साधन द्वारा महान फल ही प्राप्त होता है। जैसा कि ब्रह्मपुराणमें लिखित है—"जब मनुष्य कृष्णमन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनेमात्रसे मोक्ष प्राप्त कर

लेता है, तब जो सर्वदा भक्तिभावसे अच्युतकी पूजा करते हैं, उनकी महिमाका वर्णन करनेमें कौन समर्थ होगा?" इस श्लोकमें उक्त 'मोक्ष' शब्दका अर्थ है—'मोक्षयतीति मोक्षः श्रीकृष्ण' अर्थात् जो मोक्ष प्रदान करते हैं, वही श्रीकृष्ण हैं। तथा—"जो शठता या वञ्चना करनेके लिए नित्य जनार्दनका भी स्मरण करते हैं, वे भी गुणमय देह त्यागकर सर्वदा-दोषशून्य विष्णुलोकको प्राप्त करते हैं"॥१२५॥

महत्तमतया श्रूयमाणा अपि परेऽखिलाः।
फलव्राताविचारेण तुच्छा महदनादृताः॥१२६॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठलोकके अलावा अन्य जिस किसी भी महाफलके विषयमें सुना जाता है, सार-असारके विवेकमें निपुण रसिकभक्तगण बिना किसी विचारके उसे तुच्छ ही मानते हैं॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वन्यान्यपि महाफलानि श्रूयन्ते, तत्राहुः—महेति। परे श्रीवैकुण्ठलोकादन्ये; तुच्छत्वे हेतुः—महद्भिः सारासारविवेक-चतुरैः भक्तिरसिकैरनादृताः, तत्कारणञ्च प्रागुक्तप्रायमेव॥१२६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अन्य महाफलोंके विषयमें भी तो सुना जाता है? इसके लिए 'मह' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वैकुण्ठलोकके अलावा और जो कुछ भी महाफलके रूपमें कथित होते हैं, वह अतितुच्छ हैं, क्योंकि सार-असारके विवेकमें चतुर भक्तिरसिक महापुरुषोंने उन समस्त साध्य और साधनोंको तुच्छ ही माना है॥१२६॥

तथापि तद्रसज्ञैः सा भक्तिर्नवविधाञ्जसा।
सम्पाद्यते विचित्रैतद्रसमाधुर्यलब्धये॥१२७॥

श्लोकानुवाद—तथापि रसिक भक्तगण भक्तिरस-माधुर्यकी विचित्रता आस्वादन करनेके लिए नवधा भक्तिका ही सुखपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि एकेनैव प्रकारेण वैकुण्ठस्य सिद्धौ सत्यामपि सा अनिर्वचनीय-परममहारसविशेषमयी नवविधैव सम्पाद्यते, साङ्गमनुष्ठीयते। किमर्थम्?

विचित्राणां श्रवणकीर्त्तनादिभेदेन बहुविधानामेतस्या भक्ते रसानामास्वादानां माधुर्यस्य लब्धये, यतो रसज्ञैः॥१२७॥

भावानुवाद—यद्यपि नवधा भक्तिके अङ्गोंमें से किसी भी एक अङ्गके अनुष्ठान द्वारा ही वैकुण्ठलोक प्राप्त हो जाता है, तथापि भक्तिरसिक महापुरुषगण भक्ति रसमाधुर्यकी विचित्रताका आस्वादन करनेके लिए अनिर्वचनीय परम महारसमयी नवधा भक्तिका ही अनुष्ठान किया करते हैं। यहाँ 'विचित्र' कहनेका अर्थ है—श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणादि भेदसे बहुत प्रकारके भक्ति–अङ्गोंका रस–आस्वादन॥१२७॥

तेषां कस्मिंश्चिदेकस्मिन् श्रद्धयानुष्ठिते सति।
स्वयमाविर्भवेत् प्रेमा श्रीमत्कृष्णपदाब्जयोः॥१२८॥

श्लोकानुवाद—इस नवधा भक्तिमें किसी भी एक भक्ति–अङ्गको श्रद्धा सहित पालन करनेसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रेम स्वयं ही आविर्भूत हो जाता है॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं नवानामपि प्रकाराणामनुष्ठाने हेतुमुक्त्वा प्रेमानुष्ठानमाहुः—तेषामिति द्वाभ्याम्। तेषां नवप्रकाराणां मध्ये श्रद्धया विश्वासेन कृत्वा॥१२८॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे नवधा भक्तिके किसी भी एक अङ्गका श्रद्धा–विश्वासके साथ पालन करनेसे उसमें निष्ठा होते ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रेम स्वयं ही आविर्भूत होता है॥१२८॥

तथापि कार्या प्रेम्णैव परिहाराय हृद्रुजः।
फलान्तरेषु कामस्य वैकुण्ठाप्तिविरोधिनः॥१२९॥

श्लोकानुवाद—तथापि हृदरोगको दूर करनेके लिए उस नवधा भक्तिका ही प्रेमसहित अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है, क्योंकि फलान्तर–अभिलाषा वैकुण्ठलोकको प्राप्त करनेके विषयमें महान विघ्न उपस्थित करती है॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—भक्तिरनुवर्त्तत प्रेम्णैव कार्या एव। किमर्थम्? फलान्तरेषु कामस्य परिहाराय प्रेम्णः फलानुसन्धानाभावस्वभावकत्वात्। कुतः? हृद्रुजः हृदयरोगरूपस्य

विविधचिन्ताज्वरापादकत्वात्। किञ्च, वैकुण्ठस्य भगवतस्तल्लोकस्य वा प्राप्तेर्विरोधिनः तत्तत्फलभोगेन महान्तरायापातनात्। एवं लोकद्वयेऽपि कामस्यानर्थावहत्वमुक्तम्। प्रेम्णि च सति तत्तदभावेनात्र परत्रापि स्वत एव परममहासुखं सिध्यतीत्यर्थः॥१२९॥

भावानुवाद—तथापि उस नवधा भक्तिका प्रेमसहित अनुष्ठान करना ही कर्त्तव्य है। किसलिए? जागतिक कामनाएँ अर्थात् वैकुण्ठ प्राप्तिकी विरोधी अभिलाषाओंको दूर करनेके लिए। इसका कारण है कि प्रेम स्वभावतः ही किसी भी फलके अनुसन्धानसे रहित सुखस्वरूप होता है, अतः प्रेमसे वैकुण्ठ प्राप्तिकी विरोधी अन्यान्य अभिलाषाएँ नष्ट हो जाती हैं। वस्तुतः वैकुण्ठ विरोधी अभिलाषा ही हृद्रोग स्वरूप है, क्योंकि हृदयमें फलान्तर कामनाके उपस्थित होते ही विविध चिन्तारूप ज्वर उपस्थित होता है और यदि इन कामनाओंके अनुरूप फलभोग होता है, तब वैकुण्ठप्राप्तिके विषयमें महान विघ्न उपस्थित होता है। अतएव इस लोक और परलोक दोनोंसे सम्बन्धित कामनाएँ ही अनर्थजनक हैं। किन्तु प्रेममें स्वभावतः ही कामनाका अभाव होता है, इसलिए दोनों लोकोंमें ही सुखका सञ्चार होता है। अतएव प्रेमसे ही महासुखकी प्राप्ति होती है॥१२९॥

यद्यप्येतादृशी भक्तिर्यत्र यत्रोपपद्यते।
तत्तत्स्थानं हि वैकुण्ठस्तत्र तत्रैव स प्रभुः॥१३०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि ऐसी भक्ति कहीं भी प्राप्त की जा सकती है, तथा जिस-जिस स्थान पर यह भक्ति प्राप्त की जा सकती है, वही स्थान वैकुण्ठ हैं और उन्हीं स्थानों पर प्रभु भी विराजमान हैं॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु धिक्कृतब्राह्मसुखा निखिलमधुरपरम-महानन्दरसमयी प्रेमभक्तिर्यदीहैव सिद्धा, तत् किं वैकुण्ठलोकेन? सत्यम्, तत्रैवान्यः कोऽपि विशेषोऽस्तीत्याहुः—यदीति त्रिभिः। एतादृशी सप्रेम-नवप्रकारका यत्र यत्र स्थाने उपपद्यते सम्पद्यते, हि निश्चये, तत्तदेव स्थानं वैकुण्ठलोकः। ननू वैकुण्ठलोके भगवान् साक्षाद्वर्त्तते, तत्राहुः—तत्रेति। स प्रभुः श्रीवैकुण्ठनाथः। यथोक्तं श्रीभगवतैव—*'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'* इति॥१३०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ब्रह्मानन्दको धिक्कार देनेवाली जो परम मधुर महानन्दसे पूर्ण रसमयी प्रेमभक्ति है, वह यदि जहाँ-तहाँ अर्थात् कहीं भी प्राप्त की जा सकती है तब किसलिए वैकुण्ठलोककी आकांक्षा करनी होगी? यह सत्य है कि ऐसी भक्ति कहीं भी प्राप्त की जा सकती है, इस विषयकी मीमांसाके लिए 'यद्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। ऐसी नवधा भक्तिका प्रेम सहित जिन-जिन स्थानों पर पालन होता है, वही स्थान वैकुण्ठलोक हैं। यदि कहो कि वैकुण्ठलोकमें तो निश्चितरूपमें श्रीभगवान् साक्षात् विराजमान हैं? इसके लिए कहते हैं कि उन स्थानों पर भी प्रभु सर्वदा विराजित हैं। इस विषयमें भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—"हे नारद! मैं वैकुण्ठमें वास नहीं करता, न ही योगियोंके हृदयमें रहता हूँ किन्तु मेरे भक्तगण जहाँ पर भी मेरी कथाका गान करते हैं, मैं उसी स्थान पर रहता हूँ"॥१३०॥

तथापि सर्वदा साक्षादन्यत्र भगवांस्तथा।
न दृश्येतेति वैकुण्ठोऽवश्यं भक्तैरपेक्ष्यते॥१३१॥

श्लोकानुवाद—तथापि श्रीभगवान् उन समस्त स्थानों पर साक्षात् दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, इसीलिए भक्तगण वैकुण्ठलोककी अकांक्षा करते हैं॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथा तेन विचित्रसौन्दर्य गुण-लीला-माधुर्याद्यनुभवप्रकारेण सर्वदा साक्षान्न दृश्यते, इत्यतो हेतोर्भक्तजनैर्वैकुण्ठलोकोऽवश्यमपेक्ष्यते॥१३१॥

भावानुवाद—ऐसा होने पर भी श्रीभगवान् वैकुण्ठकी भाँति विचित्र सौन्दर्य और गुण-लीला-माधुर्य विस्तारपूर्वक अन्यत्र सर्वदा दृष्ट नहीं होते हैं। इसीलिए भक्तगण अवश्य वैकुण्ठलोककी अकांक्षा करते हैं॥१३१॥

सर्वप्रकारिका भक्तिस्तादृशी च सदान्यतः।
न सम्पद्येत निर्विघ्ना तन्निष्ठैर्बहुभिः सह॥१३२॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठलोकमें दृष्टिगोचर होनेवाली समस्त प्रकारकी भक्ति अन्य किसी भी स्थान पर नहीं देखी जा सकती, क्योंकि

वैकुण्ठलोकमें वैसी भक्तिमें निष्ठा रखनेवाले बहुतसे भक्त हैं और वहाँ कालादिका भी कोई विघ्न नहीं हैं॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, सर्वेति। चकार उक्तसमुच्चये। तादृशी वैकुण्ठलोकीय-भक्तिसदृशी, प्रेमविशेषपरिपाकयुक्ता वा। बहुभिस्तन्निष्ठैस्तादृशभक्तिनिष्ठैर्लोकैः सह अन्यत्र सदा निर्विघ्ना न सम्पद्यते च, वैकुण्ठे कालादिकृत-विघ्नाभावात् सहजप्रेमभक्तिरसिकैर्नित्यैः सच्चिदानन्दघनविग्रहैरनन्तैस्तत्रत्यैः समं सदा सा स्वयमेव सम्पद्यत इत्यवश्यं सोऽपेक्ष्यत एवेत्यर्थः॥१३२॥

भावानुवाद—इस विषयमें कुछ और भी कह रहे हैं कि वैकुण्ठलोकीय भक्ति जैसी परिपक्व प्रेमसे युक्त भक्ति अन्य किसी भी स्थान पर नहीं देखी जाती है। इसका कारण है कि वैकुण्ठ-लोकमें ऐसी भक्तिमें निष्ठा रखनेवाले बहुतसे भक्त वास करते हैं, किन्तु अन्यत्र वैसा नहीं होनेके कारण सर्वदा निर्विघ्नतापूर्वक भक्ति अनुष्ठित नहीं होती है। विशेषतः वैकुण्ठमें कालादिका कोई विघ्न नहीं हैं, अन्यत्र बहुत प्रकारके विघ्न हैं। अतएव वैकुण्ठमें स्वाभाविक प्रेमभक्तिके रसिक नित्य सच्चिदानन्दघन-विग्रहयुक्त अनन्त समजातीय भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होनेके कारण वहाँ निर्विघ्न भजन स्वतः ही सम्पादित होता है, इसलिए वैकुण्ठलोककी आकांक्षा देखी जाती है॥१३२॥

निजेन्द्रिय-मनःकायचेष्टारूपां न विद्धि ताम्।
नित्यसत्यघनानन्दरूपा सा हि गुणातिगा॥१३३॥

श्लोकानुवाद—विशेषतः भक्ति जड़ इन्द्रिय, मन और देहकी चेष्टा नहीं है। इसका कारण है कि वह भक्ति नित्य, सत्य तथा घनानन्दरूपा होनेके कारण गुणातीत है, अतः वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं है॥१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अनुतिष्ठेत्युक्त्या प्राप्तं भक्तेः पुरुषप्रयाससाध्यत्वं वारयन्तस्तस्याः स्वरूपमाहुः—निजेति द्वाभ्याम्। तां भक्तिमिन्द्रियमनःकायानां चेष्टारूपां श्रवण-कीर्त्तनादिकं श्रोत्र-वागिन्द्रियाणाम्, स्मरणादिकं मनसः, वन्दनादिकश्च कायस्येत्येवं व्यापाररूपां न विद्धि न जानीहि, यतः सा प्राकृतेन्द्रियाद्यविषय इत्याहुः—नित्येति। हि यस्मात् सा भक्तिर्गुणातिगा त्रिगुणातीता। तर्हि कीदृशी? इत्यत आहुः—नित्यश्चासौ सत्यश्च

घनश्च निविड़ो य आनन्दस्तत्स्वरूपा, नित्या च सत्या च घनानन्दरूपा चेति वा॥१३३॥

भावानुवाद—श्लोक १२३में वैकुण्ठ पार्षदों द्वारा गोपकुमारको कथित 'भक्तिका अनुष्ठान करो'—इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि भक्ति मनुष्यके प्रयास द्वारा साधित होती है। 'निज' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा इसका खण्डन कर उस भक्तिका स्वरूप बतला रहे हैं। वह भक्ति जड़ इन्द्रिय, मन और शरीरकी चेष्टारूपा नहीं है तथा श्रवण, कीर्त्तनादि भी श्रोत्र और वागेन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। अर्थात् श्रवण कर्णेन्द्रियकी क्रिया, कीर्त्तन वागेन्द्रियकी, स्मरण अन्तरेन्द्रियकी तथा वन्दन और परिचर्यादिके शरीरकी क्रियारूपमें प्रकाश पाने पर भी ये क्रियाएँ प्राकृत इन्द्रियादि द्वारा ग्राह्य नहीं हैं, इन क्रियाओंको गुणातीत जानो। तब वह भक्ति कैसी है? इसके उत्तरमें कहते हैं—उस भक्तिको नित्य, सत्य और घनानन्दरूपा जानो॥१३३॥

निर्गुणे सच्चिदानन्दात्मनि कृष्णप्रसादतः।
स्फुरन्ति विलसत्यात्मभक्तानां बहुधा मुदे॥१३४॥

श्लोकानुवाद—वह भक्ति एकरूपवाली होकर भी श्रीकृष्णकी कृपासे निर्गुण जीवों अर्थात् अन्तरङ्ग भक्तोंके हर्षके लिए श्रवण-कीर्त्तनादि बहुतरूपोंमें स्फुरित होती है॥१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननू तर्हि कथं कुत्र तत्प्राप्तिः स्यात्? तत्राहुः—निर्गुण इति। कृष्णप्रसादात् गुणातीते सच्चिदानन्दरूपे आत्मनि शुद्धजीवतत्त्वे स्फुरन्ती प्रकाशमाना बहुधा श्रवण-कीर्त्तनादिरूपेण विलसति क्रीड़ति। सच्चिदानन्द-घनत्वेनैकरूपाया अपि बहुधा स्फुरणे हेतुः—आत्मभक्तानां स्वसेवकानां मुदे वैचित्र्येणैवानन्दविशेषः सम्पद्यत इति प्रागुक्तमेवाग्रेऽपि वक्ष्यते॥१३४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब वह भक्ति गुणातीत है, तब कहाँ और किस रूपमें उसकी प्राप्ति होगी? इसके उत्तरमें 'निर्गुण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वह निर्गुण सच्चिदानन्दस्वरूपा भक्ति श्रीकृष्णकी कृपासे 'आत्मनि' अर्थात् शुद्धजीवतत्त्वमें प्रकाशित होकर श्रवण-कीर्त्तनादिरूपमें विलास करती है। सच्चिदानन्दघन होनेके कारण उस भक्तिके एकरूप होने पर भी बहुतरूपमें स्फुरणका हेतु अपने

अन्तरङ्ग भक्तोंके अर्थात् अपने सेवकोंके विचित्र आनन्दको वर्द्धन करना है। यह प्रसंग पहले भी कथित हुआ है और आगे भी होगा॥१३४॥

विशुद्धे तु विवेकेन सत्यात्मनि हरेः पदम्।
गतेऽप्यप्राकृतं भक्तिविधयो विलसन्ति हि॥१३५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे विशुद्ध विवेक द्वारा चित्तके परिमार्ज्जित होने पर उक्त नौ प्रकारकी भक्ति उस विशुद्ध आत्मामें विलास करती है और तभी श्रीहरिपद (वैकुण्ठलोक) प्राप्त होता है॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येनोक्तमप्राकृतत्वं विशेषतो हेतुभिरन्वय-व्यतिरेकाभ्यामुपपादयन्ति—विशुद्ध इति। विवेकेन *'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्।'* (श्रीगी॰ ५/९) इत्येवं प्रकारकविचारेण आत्मनि जीवतत्त्वे विशुद्धदेहेन्द्रियादि-सम्बन्धतो विविक्ते सति; तथा अप्राकृतं प्रकृति-सम्बन्धरहितं हरेः पदं श्रीवैकुण्ठलोकं गतेऽप्यात्मनि हि यतो भक्तेर्विधयः सर्वेऽपि प्रकारा विलसन्ति॥१३५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे सामान्यरूपमें भक्तिका लक्षण निरूपणकर अब 'विशुद्ध' इत्यादि श्लोक द्वारा विशेषरूपमें (अन्वय और व्यतिरेकरूपमें विचारकर) भक्तिका अप्राकृतत्व स्थापन कर रहे हैं। विशुद्ध विवेक अर्थात् "समस्त इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, जीवात्मा स्वयं कुछ नहीं करता" गीता (५/९)के इस विचार द्वारा अभिमान रहित होनेके कारण जीवको किसी भी कर्मका फल-भोग नहीं करना पड़ता। इस विवेक द्वारा विशुद्ध जीवके देह और इन्द्रियादिके सम्बन्धसे पृथक् होते ही वह अप्राकृत हरिपद अर्थात् श्रीवैकुण्ठलोकको प्राप्त करनेके योग्य हो जाता है और उस समय भक्ति भी सब प्रकारसे उसमें विलास करती है॥१३५॥

अन्यथेतरकर्माणीवैतेऽपि स्युर्न सङ्गताः।
कायेन्द्रियात्मचेष्टातो ज्ञानेनात्मनि शोधिते॥१३६॥

श्लोकानुवाद—अन्यान्य इतर कर्मादिकी भाँति भगवद्भक्ति इन्द्रियोंकी क्रियारूपा होनेसे आत्माका धर्म नहीं हो सकती। अथवा ज्ञान द्वारा शरीरिक और इन्द्रिय चेष्टासे आत्माके शोधित होने पर नवधा भक्ति

प्राकृत कर्मादिकी भाँति आत्मसङ्गता (आत्माका धर्म) नहीं हो सकती, क्योंकि भक्तिविधि प्राकृत कर्मादिकी भाँति जीवके कर्तृत्वाभिमान मूलक नहीं है। कर्तृत्वाभिमान-शून्य शोधित आत्मामें भक्ति स्वयं ही कृपापूर्वक विलास करती है॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्यथेति। प्राकृतत्वेन यदीन्द्रियव्यापाररूपा भवेयुरित्यर्थः, तदा ज्ञानेन विवेकेन कामादिचेष्टातः शोधिते आत्मनि ऐते भक्तिविधयोऽपि इतराणि भक्तेरन्यानि प्राकृतानि वा कर्माणि नित्यनैमित्तिकादीनीव सङ्गता न स्युः, *'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते'* इति न्यायेन अकर्तृत्वज्ञानेनात्मन्यप्राप्तेः॥१३६॥

भावानुवाद—अन्यथा यदि नवधा भक्ति प्राकृत इन्द्रियोंकी क्रिया ही होती, तब ज्ञान अर्थात् विवेक द्वारा कामादि चेष्टासे आत्माके शोधित होने पर उक्त भक्तिविधि (नवधा भक्ति) भी अन्यान्य प्राकृत नित्य-नैमित्तिकादि समस्त कर्मोंकी भाँति तिरस्कृत होती अर्थात् आत्माका धर्म नहीं हो पाती। "समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त रहती है।" गीता (५/९)के इस न्यायानुसार कर्त्ता रहित होनेके ज्ञानसे आत्मतत्त्वको पाया जाता है और ज्ञानी भी इसी विवेक द्वारा समस्त प्राकृत पदार्थोंको दूर कर देते हैं। किन्तु भक्तिविधि उक्त प्राकृत पदार्थोंके अन्तर्गत नहीं है, अतः वह विवेक द्वारा आत्मासे पृथक् नहीं हो सकती है॥१३६॥

अन्येभ्य इव कर्मेभ्यो भगवद्भक्तिकर्मतः।
विविक्तः सन् कथं यातु वैकुण्ठं मुक्तिमर्हति॥१३७॥

श्लोकानुवाद—अन्य कर्मोंकी भाँति भगवद्भक्ति देहादिकी क्रियारूपा नहीं है। भगवद्भक्तिरूप कर्मसे रहित होने पर आत्मा किस प्रकारसे वैकुण्ठलोकमें गमन करेगी? अतः वह केवल मुक्ति प्राप्त करनेके ही योग्य है॥१३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सङ्गच्छन्तां नाम, कोऽत्र दोषः स्यात्तत्राह—अन्येभ्य इति। अन्येभ्यः कायादिव्यापाररूपेभ्यः कर्मेभ्य इव भगवद्भक्तिरूप-कर्मतोऽपि विविक्तो विशुद्धः सन् आत्मा कथं वैकुण्ठलोकं यातु, स्वतो भक्त्यसमवेतत्वात्, किन्तु मुक्तिमेवार्हति नैष्कर्म्यत्वात्। अतो वैकुण्ठाप्त्याऽवश्यं भक्तिसद्भावो बोध्यते। ततश्चोक्तन्यायेनाप्राकृतत्वमेवोपपद्यत इति तात्पर्यम्॥१३७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भक्तिके आत्मधर्म न होकर अन्यान्य कर्मादिकी भाँति प्राकृत इन्द्रियोंकी क्रियारूप होनेसे क्या कोई दोष होगा? इसके लिए 'अन्येभ्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। देहिक क्रियारूप कर्मकी भाँति यदि आत्मा इस भगवद्भक्तिरूप कर्मसे भी रहित हो जाएगी तब वह आत्मा किस प्रकारसे विशुद्ध होगी तथा विशुद्ध न होने पर उसका वैकुण्ठलोकमें किस प्रकार गमन होगा? इसका कारण है कि भक्तिशून्य आत्मा वैकुण्ठप्राप्तिके अयोग्य है। किन्तु नैष्कर्म्यत्व अर्थात् कर्मरहित होनेके कारण वह आत्मा मुक्ति प्राप्त करनेके योग्य हो सकती है। अतएव वैकुण्ठलोककी प्राप्तिके लिए अवश्य ही भक्तिका प्रयोजन होगा, क्योंकि उक्त न्यायानुसार अप्राकृत वैकुण्ठलोक प्राकृत कारणसे प्राप्त नहीं होता है। अतः अप्राकृत वैकुण्ठलोककी प्राप्ति करवानेवाली होनेके कारण वह भक्ति भी अप्राकृत ही होगी॥१३७॥

न ह्यन्यकर्मवद्भक्तिरपि कर्मेति मन्यताम्।
बहिर्दृष्ट्यैव जल्प्येत भक्तदेहादिवत् क्वचित्॥१३८॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई सोचते हैं कि स्वधर्म-आचरणकी भाँति भगवद्भक्ति भी कर्म है, किन्तु ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। वैसा बहिर्दृष्टिके अनुसार ही कल्पित होता है, तत्त्वविचारसे नहीं। जिस प्रकार वैकुण्ठवासी भक्तोंकी देह और पाञ्चभौतिक देह दोनों स्थानों पर देह शब्दका उपयोग होने पर भी एक देह अप्राकृत है और दूसरी प्राकृत है, उसी प्रकार भक्तिके कर्मसे स्वतन्त्र होने पर भी कभी-कभी बाह्य दृष्टिसे उसमें कर्मका आरोप मात्र होता है॥१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वधर्माचरणादीन्यपि कर्माणि भक्तिरपि कर्मेत्येवं कर्मत्वेन साम्यापत्तेः कर्मभ्य इव तस्या अपि सकाशाद्विविक्तता-युक्तैरित्यभिप्रायेण परम-तमेवाश्रित्य भक्तिकर्मत इत्यत्र कर्म शब्दः प्रयुक्तः। इदानीं प्राकृतेन्द्रियादिव्यापार-रूपत्वाभावेन भक्तेः कर्मत्वं वारयन्ति—न हीति द्वाभ्याम्। ननू चित्तशोधकानां सर्व-सत्कर्मणां मध्ये भगवद्भक्तिः श्रेष्ठेति मीमांसापरैः सद्भिरुच्यते; तदुक्तं तत्राहुः—बहिरिति। क्वचित् कदाचित् प्रसङ्गसङ्गत्या भक्तिरपि कर्मेति जल्प्येत, तच्च बहिर्दृष्ट्यैव, न तु तत्त्वविचारेण। तत्र दृष्टान्तः—भक्तानां वैकुण्ठवासिनां देहवदिति।

यथा एकेनैव देहशब्देन तेषां सच्चिदानन्द-विग्रहाणामन्येषाञ्च प्राकृत-पाञ्चभौतिकशरीराणां देह उच्यते; आदि-शब्देन मण्यादि; यथा चैकेनैव मणि-शब्देन चिन्तामणिः काचमणिश्च, यथा चैकेनैव सत्त्व-शब्देन त्रयाणां प्रकृतिगुणानामेकतमो गुणस्तथा परब्रह्म च सर्वसत्ताघनत्वेन सर्वसाधुत्वघनत्वेन च *'सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेत्'* (श्रीमद्भा॰ १०/२/३५) इत्यादावुच्यते; तथा एकेनैव कर्म-शब्देन स्वधर्माचरणादिकं भक्तिरपि बहिर्दृष्ट्यैव कर्मेत्युच्यत इति॥१३८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि स्वधर्म-आचरणादि जिस प्रकारसे कर्म है, उसी प्रकार भक्ति भी कर्मविशेष होगी? इसके उत्तरमें कहते है कि भगवान्‌की परिचर्यारूप भक्ति स्वधर्म-आचरणादिकी भाँति कभी भी कर्म नहीं है, क्योंकि परिचर्यारूप भक्ति जब प्राकृत इन्द्रियोंकी क्रिया ही नहीं है, तब बहिर्दृष्टिसे कर्मके समान प्रतीत होने पर भी वह स्वरूपतः कर्म नहीं है। अन्य मतके अनुसार किसी-किसी स्थान पर 'भक्तिकर्म' शब्दका प्रयोग देखा जाता है। यद्यपि भक्ति प्राकृत इन्द्रियादिकी क्रिया नहीं है, तथापि भक्तिमें कर्मके आरोपका खण्डन करनेके लिए 'न हि' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा सिद्धान्त उद्धृत कर रहे हैं।

यदि कहो कि चित्तकी शुद्धिके लिए जितने सत्कर्म हैं, उनमें भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ है—ऐसा मीमांसकगणोंका विचार है। उनके इस विचारका खण्डन करनेके लिए 'बहिः' इत्यादि पद कह रहे हैं। किसी-किसी स्थान पर प्रसंगक्रमसे भक्तिको जो कर्म कहकर जल्पना-कल्पना किया गया है, उसे बाह्यदृष्टिके अनुसार ही जानो, तत्त्व-विचारके द्वारा ऐसा नहीं कहा गया है। इसका उदाहरण है—जिस प्रकार वैकुण्ठवासी भक्तोंके सच्चिदानन्दमय विग्रहको भी देह कहा जाता है, उसी प्रकार भक्तिके कर्मसे भिन्न होने पर भी उसमें कर्मका आरोप होता है। यहाँ जिस प्रकार एक 'देह' शब्द द्वारा ही सच्चिदानन्द विग्रह और प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीर दोनों कथित होते हैं; तथा एक 'मणि' शब्द द्वारा चिन्तामणि और कांचमणि दोनों ही कथित होते हैं, अथवा एक 'सत्त्व' शब्द द्वारा जिस प्रकार प्राकृतिक त्रिगुणमय सत्त्व तथा समस्त सत्ता तथा साधुत्वके आश्रय परब्रह्मका स्वभाव-शुद्धसत्त्व दोनों ही कथित होते हैं। श्रीमद्भागवत (१०/२/३५)में श्रीब्रह्माने कहा है—"हे प्रभो! यदि आप अपना यह सत्त्व वपु प्रकट नहीं करते तो

अज्ञान दूर करनेका कोई अन्य उपाय नहीं था।" उसी प्रकार एक 'कर्म' शब्द द्वारा स्वधर्म-आचरणरूप कर्म और भगवान्‌की परिचर्यारूपा भक्ति भी बाह्यदृष्टिसे कर्मरूपमें ही कथित होती है॥१३८॥

भक्तानां सच्चिदानन्दरूपेष्वङ्गेन्द्रियात्मसु।
घटते स्वानुरूपेषु वैकुण्ठेऽन्यत्र च स्वतः॥१३९॥

श्लोकानुवाद—भक्त वैकुण्ठमें वास करें अथवा अन्य किसी स्थान पर, उनकी उपयुक्त सच्चिदानन्दरूप देह और इन्द्रियादि स्वतः ही प्रकाशित होती हैं॥१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्राकृतत्वादिनिरसनेन विशुद्धात्मनि भक्तेः स्वप्रकाशकता साधिता, तत्र शङ्कते। भक्तानामपि श्रवण-कीर्त्तनादिरूपेणेन्द्रियादिव्यापरता-प्रतीतेः कथमप्राकृतत्वं स्वयं प्रकाशत्वञ्च सिध्यतीति तत्राहुः—भक्तानामिति। वैकुण्ठेऽन्यत्र च वर्त्तमानानां वैकुण्ठवासिनामन्येषाञ्चेत्यर्थः। अङ्गादिषु स्वतः स्वयमेव घटते सम्बध्यते। कुतः? स्वानुरूपेषु स्वस्याः सच्चिदानन्दघनरूपाया भक्तेः सदृशेषु, यतः सच्चिदानन्दरूपेषु। अतो द्वयोरप्येकरूपत्वेन नोक्तदोषप्रसङ्ग इति भावः। पाञ्चभौतिक-देहवतामपि भक्तिस्फूर्त्त्या सच्चिदानन्दरूपतायामेव पर्यवसानात्; किंवा तत्कारुण्यशक्ति-विशेषेण तत्र तत्रापि तत्स्फूर्ति-सम्भवात्; किंवा आत्मनि तत्स्फूर्त्त्या आत्मतत्त्वस्यैव भगवच्छक्तिविशेषेण तदनुरूपाङ्गेन्द्रियादिरूपताप्रतिपादनादिति दिक्॥१३९॥

भावानुवाद—भक्ति प्राकृत इन्द्रियादिका विषय नहीं है, अपितु आत्माके स्वधर्मके रूपमें विशुद्ध हृदयमें स्वयं ही प्रकाशित होती है—यद्यपि ऐसा प्रतिपादित हुआ है, अर्थात् भक्तिकी स्वप्रकाशकता सिद्ध हुई है, तथापि यदि कोई आशंका करे कि भक्तकी इन्द्रियों द्वारा क्रियारूपमें जब श्रवण-कीर्त्तनादिकी प्रतीति होती है, तब उस भक्तिको किस प्रकारसे अप्राकृत और स्वप्रकाशक माना जाएगा? इस आशंकाके निवारणके लिए 'भक्तानाम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भक्त चाहे वैकुण्ठमें वास करें अथवा अन्य किसी स्थान पर वास करें उनकी यथोपयुक्त सच्चिदानन्द देह स्वयं स्वाभाविक रूपसे ही प्रकाशित होती है। किस प्रकारसे? भक्तिकी स्फूर्ति होनेसे पाञ्चभौतिक देह भी सच्चिदानन्द जैसी ही हो जाती है। जिस प्रकार स्पर्शमणिके स्पर्शसे लोहा भी स्वर्णमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार भक्तिकी

स्फूर्तिसे साधक-भक्तकी प्राकृत देह भी अप्राकृत हो जाती है अथवा श्रीभगवान्‌की करुणाशक्तिके द्वारा भी साधककी प्राकृत इन्द्रियाँ सच्चिदानन्दरूपमें परिणत होती है; अथवा प्रथमतः भगवान्‌की कृपाशक्ति विशुद्ध आत्मामें प्रकाश पाकर भगवान्‌के अनुरूप अङ्ग, इन्द्रिय आदि रूपको प्रकाशित करती है—यही दिग्दर्शन है॥१३९॥

वयमत्र प्रमाणं स्मोऽनिशं वैकुण्ठपार्षदाः।
तन्वन्तो बहुधा भक्तिमस्पृष्टाः प्राकृतैर्गुणैः॥१४०॥

श्लोकानुवाद—भक्ति और भक्त दोनों ही अप्राकृत हैं—इस विषयमें हम वैकुण्ठ पार्षद ही प्रमाण हैं। हम प्राकृतगुणोंमें आविष्ट न होकर या उन्हें स्पर्श न करके भी निरन्तर बहुत प्रकारसे भक्ति विस्तार करनेके लिए सर्वत्र स्वच्छन्दरूपमें विचरण करते हैं॥१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र स्वानुभवं प्रमाणयन्ति—वयमिति। अत्र भक्तेरप्राकृतत्वादौ तथा वैकुण्ठप्राप्त्या सच्चिदानन्दविग्रहे जातेऽपि विचित्रभक्तिप्रवृत्तौ वयं वैकुण्ठपार्षदा एव प्रमाणम्; कथं प्राकृतैर्गुणैः समुदायैस्त्रयोविंशत्यात्मकैस्तद्भेदैश्चान्यैव स्पृष्टा अपि; यथोक्तं श्रीयुधिष्ठिरेण सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१/३४)—*'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्'* इति। अनिशमविरतं भक्तिं बहुधा कीर्त्तनादि-बहु-प्रकारेण तन्वन्तः विस्तारेण कुर्वन्तः सन्तः॥१४०॥

भावानुवाद—इस विषयमें अपना अनुभव भी एक विशेष प्रमाण है—'वयम्' श्लोक द्वारा वैकुण्ठ पार्षद भक्तिके अप्राकृतत्त्वके विषयमें स्वयंको ही प्रमाण बता रहे हैं। वैकुण्ठको प्राप्त सच्चिदानन्द विग्रहयुक्त हम पार्षद प्राकृत गुणोंके तेइस तत्त्वोंवाली किसी वस्तुको स्पर्श न करने पर भी निरन्तर बहुत प्रकारसे भक्ति विस्तार करते-करते सर्वत्र स्वच्छन्दरूपमें भ्रमण करते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (७/१/३४)में श्रीयुधिष्ठिरका कथन है—"शुद्धसत्त्वमय देहधारी वैकुण्ठपुरवासियोंका प्राकृत देह और इन्द्रियादिसे कोई सम्बन्ध नहीं है"॥१४०॥

नवीनसेवकानान्तु प्रीत्या सम्यक् प्रवृत्तये।
निजेन्द्रियादिव्यापारतयैव प्रतिभाति सा॥१४१॥

श्लोकानुवाद—समस्त नवीन सेवकोंमें भक्तिके प्रति भलीभाँति प्रीति उत्पन्न करानेके लिए वह भक्ति उनकी इन्द्रियोंकी क्रियारूपमें केवल मात्र प्रकाशित होती है॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु इतरवार्त्तादिवन्निजवागिन्द्रियादि-वृत्तिरूपमेव भगवत्-कीर्त्तनादिकमपि साक्षादेतदनुभूयमानमस्ति। तत् कथमनुभवापलापः क्रियते? तत्राहुः—नवीनेति द्वाभ्याम्। सा भक्तिर्निजेन्द्रियादि-व्यापारतयैव नवीनसेवकानां भक्तौ प्रथमप्रवर्त्तमानानां प्रतिभाति। किमर्थम्? प्रीत्या सम्यक्प्रवृत्तये *'अहो मम कर्ण-जिह्वादीनीमानि भगवन्नामानि गृणन्ति सन्ति'* इति हर्षेण तत्र निष्ठासम्पत्तये, अन्यथा स्वप्रयाससाध्यत्वाभावेन तत्र तत्रौदासीन्यापत्तेः॥१४१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अन्य (साधारण) वार्त्तादिके समान अपनी वागिन्द्रिय (जिह्वा)की वृत्तिरूपमें जब भगवान्‌का कीर्त्तनादि साक्षात् अनुभव होता है, तब उस अनुभवको किस प्रकार अस्वीकार करेंगे? इसके समाधानके लिए 'नवीन' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। समस्त नवीन सेवकोंके लिए वह भक्ति उनकी इन्द्रियकी क्रियारूपमें ही प्रतीत होती है। किसलिए? उनके हर्षवर्द्धनके लिए और उन्हें भक्तिमें सम्यक्‌रूपसे प्रवृत्त करानेके लिए। उस समय वे सोचते हैं—"अहो! मेरे कान भगवान्‌का नाम श्रवण कर रहे हैं, जिह्वा भगवान्‌का नामकीर्त्तन कर रही है।" इस प्रकार उनमें हर्षयुक्त निष्ठा उत्पन्न होती है; ऐसा न होने पर अर्थात् अपने प्रयासके असाध्य प्रतीत होनेसे वे सभी उदासीन हो पड़ेंगे॥१४१॥

महद्भिर्भक्तिनिष्ठैश्च न स्वाधीनेति मन्यते।
महाप्रसादरूपेयं प्रभोरित्यनुभूयते॥१४२॥

श्लोकानुवाद—परन्तु भक्तिनिष्ठ महापुरुष भक्तिको अपनी शक्तिके अधीन नहीं मानते, अपितु प्रभुका महाप्रसादरूप जानकर ही अनुभव करते हैं॥१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र च महदनुभव एव प्रमाणमित्याहुः—महद्भिरिति। इयं भक्तिः प्रभोर्महाप्रसादरूपैरत्यनुभूयते, तत्र निजशक्तिसाध्यत्वाननुभवात्॥१४२॥

भावानुवाद—इस विषयमें महापुरुषोंका अनुभव ही विशिष्ट प्रमाण है। इसीके लिए 'महद्भिः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भक्तिनिष्ठ

महापुरुष भक्तिको अपनी इन्द्रियोंके अधीन नहीं, अपितु श्रीभगवान्‌की परमकृपाके रूपमें ही मानते हैं। अर्थात् इस भक्तिको प्रभुके महाप्रसादरूपमें ही अनुभव करते हैं, अपनी शक्तिके द्वारा साधित होनेवाली नहीं॥१४२॥

त्वरा चेद्विद्यते श्रीमद्वैकुण्ठालोकने तव।
सर्वाभीष्टप्रदश्रेष्ठां तां श्रीव्रजभुवं व्रज॥१४३॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे श्रीगोपकुमार! यदि शीघ्र ही वैकुण्ठलोक प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो, तब उस श्रीव्रजभूमिमें जाओ, क्योंकि वह व्रजभूमि समस्त प्रकारके अभीष्टोंको प्रदान करनेमें श्रेष्ठ है॥१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमनुसृत्योपदिशन्ति—त्वरेति। शिवलोक-प्राप्त्या श्रीमहेश्वरकृपया यद्यपि क्रमेण वैकुण्ठलोकप्राप्तिः स्यात्तथापि तव त्वरा चेद्यदि विद्यते, तदा तां सुप्रसिद्धां निजां वा श्रीमतीं व्रजभुवं व्रज। कुतः? सर्वेषां सर्वमभीष्टं प्रकर्षेणाचिरात् साङ्गतया ददातीति, तथा तासु श्रेष्ठाम्॥१४३॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे प्रासंगिक विषय समाप्तकर मूल विषयका सार प्रस्तुत कर रहे हैं। यद्यपि इन श्रीमहेश्वरकी कृपाके बलसे शिवलोककी प्राप्तिके बाद क्रमशः वैकुण्ठलोक प्राप्त हो जाता है, तथापि यदि विलम्ब सहन नहीं कर सकते, तब उस सुप्रसिद्ध तथा अपनी प्रिय श्रीव्रजभूमिमें शीघ्र जाओ। किसलिए? समस्त अभीष्टोंको प्रकृष्टरूपमें शीघ्र प्रदान करनेके कारण वह व्रजभूमि ही सर्वश्रेष्ठ है॥१४३॥

परं श्रीमत्पदाम्भोज-सदासङ्गत्यपेक्षया।
नामसंकीर्त्तनप्रायां विशुद्धां भक्तिमाचर॥१४४॥

श्लोकानुवाद—वहाँ जाकर सदा श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके सङ्गकी आशासे ज्ञान-कर्मसे रहित उस विशुद्धा भक्तिका निरन्तर आचरण करो, जिसमें नामसंकीर्त्तनकी प्रधानता है॥१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र च त्वरया वैकुण्ठप्राप्त्यर्थं प्रायो भगवन्नाम-संकीर्त्तनं कार्यमित्याहुः—परमिति। केवलं श्रीमतोः पदाब्जयोः सदा सङ्गतेरपेक्षया काम्यतया भक्तिमाचर; विशुद्धां कर्म-ज्ञानाद्यसंमिश्राम्॥१४४॥

भावानुवाद—वहाँ जाकर वैकुण्ठकी शीघ्र प्राप्तिके लिए और विशेषतः यदि तुम श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके निरन्तर सङ्गकी आशा करते हो, तो कर्म-ज्ञानादिसे रहित केवल नामसंकीर्त्तनकी प्रधानतारूपा विशुद्ध भक्तिका अनुष्ठान करो॥१४४॥

तयाशु तादृशी प्रेमसम्पदुत्पादयिष्यते।
यया सुखं ते भविता वैकुण्ठे कृष्णदर्शनम्॥१४५॥

श्लोकानुवाद—नामसंकीर्त्तनकी प्रधानतारूप भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही ऐसी प्रेम-सम्पत्ति उदित होगी जिसके बलसे सहज ही वैकुण्ठमें श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्त होते हैं॥१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेमरूपा सम्पत्—प्रेम्णः सम्पत् श्रीरिति वा; यया प्रेम-सम्पदा। यथोक्तं ब्रह्मणा तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/१५/२५) वैकुण्ठवर्णने—'*यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या, दूरे यमा ह्युपरिणः स्पृहणीयशीलाः। भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागवैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः॥*'॥१४५॥

भावानुवाद—नामसंकीर्त्तनकी प्रधानतासे युक्त भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही प्रेमरूप सम्पद प्राप्त होगी और उस प्रेम-सम्पदके बलसे तुम सुखपूर्वक अर्थात् सहज ही वैकुण्ठमें श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्त करोगे। यथा श्रीमद्भागवत (३/२५/२५)में वैकुण्ठलोक वर्णनके सम्बन्धमें श्रीब्रह्माकी उक्ति है—"जो निरन्तर श्रीहरिके गुणोंका कीर्त्तन करते हैं, वे ही वैकुण्ठलोकको जा सकते हैं। वे परस्पर मिलित होकर श्रीभगवान्‌के सुयशके कीर्त्तनमें ऐसा अनुराग प्रकाश करते हैं कि सात्त्विक विकारोंमें परिव्याप्त होकर कभी वे विवश होकर अश्रुवर्षण करते हैं और कभी पुलकित हो जाते हैं। उस समय वे यम-नियमादि समस्त साधनोंकी उपेक्षा कर देते हैं। इसलिए ऐसे भक्तोंकी करुणारूप कृपाकी हम भी प्रार्थना करते हैं"॥१४५॥

प्रेम्णोऽन्तरङ्गं किल साधनोत्तमं
मन्येत कैश्चित् स्मरणं न कीर्त्तनम्।
एकेन्द्रिये वाचि विचेतने सुखं
भक्तिः स्फुरत्याशु हि कीर्त्तनात्मिका॥१४६॥

श्लोकानुवाद—(किन्तु श्रीगोपकुमारने पहले तपोलोकवासी योगेन्द्रोंसे सुना था।) समस्त प्रकारके भक्ति अङ्गोंमें स्मरण ही मुख्यतम है और यही प्रेमके अन्तरङ्ग साधनोंमें भी सर्वोत्तम है, किन्तु कीर्त्तन वैसा नहीं है। इसका कारण है कि कीर्त्तनमें केवल जड़–इन्द्रियोंकी एकमात्र वचनरूपवृत्ति ही स्फुरित होती है तथा कीर्त्तन अनायासमें और शीघ्र ही स्फुरण होनेके कारण किञ्चित् फलदानमें समर्थ होता है॥१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सर्वेष्वपि भक्तिप्रकारेषु स्मरणमेव मुख्यतममिति तपोलोकवासिभिर्योगीन्द्रैरुक्तम्—सत्यमिति आहुः; प्रेम्ण इति, स्मरणमेव प्रेम्णः अन्तरङ्गं साधनोत्तमं कैश्चित् पिप्पलायनादिभिर्मन्येत, न कीर्त्तनम्; तत्र हेतुः—एकेति सार्धेन। हि यस्मात् कीर्त्तनात्मिका कीर्त्तनरूपा भक्तिरेकस्मिन्नेवेन्द्रिये वाचि वाग्रूपे, अतो विचेतने ज्ञानहीने, कर्मेन्द्रियत्वात्। सुखमनायासेन तत्र चाशु शीघ्रमेव स्फुरति; एवमल्पायासादि–सिद्धत्वेनाल्पतैव पर्यवस्यतीति भावः॥१४६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तपोलोकवासी योगिन्द्रगणोंके मुखसे सुना है कि सब प्रकारके भक्ति अङ्गोंमें स्मरण ही मुख्यतम है—इस विचारकी सत्यता बतानेके लिए 'प्रेम्ण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। स्मरण ही प्रेमका अन्तरङ्ग श्रेष्ठत्तम साधन है, किन्तु कीर्त्तन वैसा नहीं है—ऐसा पिप्पलायनादि ऋषियोंने वर्णन किया है। कीर्त्तनरूप भक्ति अचेतन कर्म इन्द्रियोंमें एकमात्र वचन (जिह्वा) वृत्तिमें अनायास ही शीघ्र स्फूर्ति प्राप्त करती है। अतः इस प्रकारसे अनायास ही सिद्ध होनेवाले साधनका फल भी अल्प होना ही सम्भव है॥१४६॥

भक्तिः प्रकृष्टा स्मरणात्मिकास्मिन्
सर्वेन्द्रियाणामधिपे विलोले।
घोरे बलिष्ठे मनसि प्रयासै–
र्नीते वशं भाति विशोधिते या॥१४७॥

श्लोकानुवाद—(नवयोगेन्द्रोंने कहा था) परन्तु स्मरण समस्त इन्द्रियोंके अधिपति मनकी वृत्ति है और उस चञ्चल मनको सभी विषयोंसे निग्रह करना अर्थात् हटाना भी सहज नहीं है। अतएव बहुत यत्न तथा चेष्टा द्वारा शोधित उस मनसे सिद्ध होनेवाली स्मरणरूप भक्ति भी कीर्त्तनसे श्रेष्ठ है। विशेषतः मनके ऐसे वशीकरणसे जो वस्तु सिद्ध

होती है, वह सर्वश्रेष्ठ होगी—इसमें किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात्तस्याः सकाशादिति वा। प्रकृष्टत्वे हेतुः—या स्मरणात्मिका भक्तिरस्मिन् दुर्वशत्वेन सर्वैरेवानुभूयमाने मनसि प्रयासैर्वशं नीते विशोधिते एव भाति स्फुरति। कीदृशे? सर्वेन्द्रियाणामधीपे, अतः कीर्त्तनादिकमपि तद्वृत्तावेवान्तर्भवतीति भावः। किञ्च, विलोले परमचञ्चले, तत्र च घोरे भयानके सद्य एवानर्थ शतोत्पादनात्, तत्रापि बलिष्ठे परम-दुर्वशत्वात्। अतएव भिक्षुणा गीतमेकादश-स्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/२३/४७)—*'मनो वशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा, मनश्च नान्यस्य वशं समेति। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्, युञ्ज्याद्वशं तं स हि देवदेवः॥'* इति॥ तथा *'दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च, श्रुतञ्च कर्माणि च सद्व्रतानि। सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः, परो हि योगो मनसः समाधिः॥'* (श्रीमद्भा॰ ११/२३/४५) इति च। एवमेतादृशस्य वशीकरणेन यद्वस्तु सिद्धं स्यात्तदेव श्रेष्ठमिति भावः॥१४७॥

भावानुवाद—उन योगिन्द्रगणोंने कहा था कि स्मरणरूप भक्ति ही सर्वोत्तम साधन है। इसकी श्रेष्ठताका कारण है कि समस्त इन्द्रियोंके अधिपति महाबलवान, अति चञ्चल और शीघ्र ही सैकड़ों भयानक अनर्थ उत्पन्न करनेमें सक्षम परम दुर्वश मनके बहुत प्रयाससे शोधित और वशीभूत होने पर ही उस स्मरणरूप भक्तिका आविर्भाव होता है, अतः यह भक्ति समस्त प्रकारके भक्ति-अङ्गोंमें श्रेष्ठ है। अतएव भिक्षु-गीता (श्रीमद्भा॰ ११/२३/४७)में कहा गया है—"सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं, मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। यह मन बलवानसे भी बलवान और अत्यन्त भयङ्कर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देव-देव—इन्द्रियोंका विजेता है।" तथा श्रीमद्भागवत (११/२३/४५)में कथित है—"दान, स्वधर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और सद्व्रत—सभीका चरम फल है कि मन संयमित होकर भगवान्में लग जाय। अतएव मनका संयम ही परमयोग है।" इस प्रकारके वशीकरणसे जो वस्तु सिद्ध होती है, उसकी सर्वश्रेष्ठताके विषयमें सन्देह ही क्या है?॥१४७॥

मन्यामहे कीर्त्तनमेव सत्तमं
लोलात्मकैक-स्वहृदि स्फुरत्स्मृतेः।

वाचि स्वयुक्ते मनसि श्रुतौ तथा
दीव्यत् परानप्युपकुर्वदात्म्यवत् ॥१४८॥

श्लोकानुवाद—(अब वैकुण्ठ पार्षदगण अपने मतको व्यक्त कर रहे हैं।) किन्तु हमारे मतमें चञ्चल स्वभावयुक्त मन द्वारा एकमात्र अपने हृदयमें ही स्फुरित होनेवाली स्मृतिसे कीर्त्तन ही श्रेष्ठतम है। इसका कारण है कि कीर्त्तन जिह्वामें स्फुरित होकर स्वयं ही मनसे संयुक्त होता है। अन्तमें वह कीर्त्तन-ध्वनि अपनी श्रवणेन्द्रियको भी कृतार्थ करती है तथा अपने समान अन्य-अन्य श्रोताओं (जीवों)को भी कृतार्थ करती है॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परमतमनूद्य स्व-मतं निर्दिशन्ति—मन्यामह इति। लीलात्मके चञ्चलस्वभावे एकस्मिन्नेव अन्तरे स्मरणात्, हृदि मनस्येव स्फुरन्त्याः स्मृतेः स्मरणात् सकाशात् सत्तमं श्रेष्ठतरं कीर्त्तनमेव वयं मन्यामहे। तत्र हेतुः—वाचि वागिन्द्रिये दीव्यत् परिस्फुरत्; तथा मनसि च दीव्यत्। कथम्? स्व युक्ते स्वयमेव वागिन्द्रियेण सह संयुक्ते, सूक्ष्मरूपेण सर्वेन्द्रियविषयक-सहजमानस-संयोगवृत्तेः, अन्यथा विषयाग्रहणासम्भवात्; तथा श्रुतौ श्रवणेन्द्रिये च दीव्यत् कीर्त्तनध्वनेः स्वत एव कर्णयोः प्रवेशात्, तथा आत्मवत् निजसेवकमिव परान् श्रोतॄनप्युपकुर्वत्, न तु स्मरणादेवं सिध्यति; अथच मनसश्चञ्चलस्वभावापनयनेन वशीकरणानुपपत्तेः स्मरणमपि न सम्यक् सिध्यतीति गूढोऽभिप्रायः। प्रयासाप्रयास-साध्यत्वेनाधिक्यन्यूनते च वस्तुस्वभावविचारतो नापेक्षते एवेति दिक्। एवमेव पराशरेणोक्ते—*'यस्मिन्न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने, विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः। मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः, किं चित्रं यदघः प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्त्तिते॥'* इत्यत्र अघः अजामिलादितुल्यः पापात्मा विलयं मुक्तिं प्राप्नोतीति किं चित्रमित्येवं व्याख्यया कैमुतिकन्यायेनोक्तः स्मरणादधिकः कीर्त्तनस्य महिमा सङ्गच्छेत। किञ्च, *'ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्त्य केशवम्॥'* इत्यादिवचनैः धयान-याग-पूजाफलं सर्वं कीर्त्तनफलेऽन्तर्भवतीति यदभिहितं तच्च घटेत॥१४८॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे अन्योंके मतका वर्णन कर 'मन्यामहे' इत्यादि श्लोक द्वारा अब वैकुण्ठ पार्षदगण अपना मत प्रदर्शित कर रहे हैं। हमारे मतमें चञ्चल स्वभावयुक्त मन द्वारा एकमात्र मनमें ही स्फुरित होनेवाली स्मरणाङ्ग-भक्तिसे कीर्त्तन ही श्रेष्ठतम है। इसका

कारण है कि कीर्त्तन जिह्वामें स्फुरित होता है या नृत्य करता है तथा स्वयं मनमें भी विहार करता है अर्थात् स्वयं ही मनसे युक्त हो जाता है। अन्तमें वह कीर्त्तन-ध्वनि श्रवणेन्द्रियको भी कृतार्थ करती है और अन्य इन्द्रियोंको भी अपने सेवकके समान अधीन कर लेती है, क्योंकि मन ही सूक्ष्मरूपमें समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करता है, मनके बिना विषयोंको ग्रहण करना असम्भव होता है। अतः मैं कीर्त्तनकी महिमा अधिक क्या वर्णन करूँ? यह कीर्त्तन स्वतः ही कानमें प्रवेश कर कीर्त्तनकारीके साथ-साथ अपने अन्य सेवक अर्थात् कीर्त्तनका श्रवण करनेवाले श्रोताओंको भी उपकृत करता है, किन्तु स्मरणमें ऐसी क्षमता नहीं है। अतएव कीर्त्तन ही चञ्चल मनको वशीभूत करनेमें समर्थ है तथा कीर्त्तनके बिना मन भी स्मरणका सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सकता है। अर्थात् कीर्त्तनके अलावा अन्य किसी भी उपायसे चञ्चल मनको स्थिर नहीं किया जा सकता है और मनके चञ्चल होनेसे स्मरण भी भलीभाँति सिद्ध नहीं होता—यही गूढ़ अभिप्राय है।

यहाँ अपने प्रयास या बिना किसी प्रयास द्वारा साधित होनेके कारण वस्तु (अर्थात् स्मरण और कीर्त्तन)के स्वभाव पर न्यूनता या अधिकता रूप विचारका भी खण्डन होता है। इसलिए पराशर स्मृतिमें लिखा है—"जिनमें मति निमग्न होनेसे नरक नहीं जाना पड़ता, परन्तु स्वर्गादि उत्तमलोक प्राप्त होते हैं। जिनमें मनोनिवेश करनेसे समस्त प्रकारके विघ्ननाश होकर ब्रह्मलोकके प्रति भी अल्पबुद्धि होती है, वह अव्यय परम पुरुष निर्मलात्मा साधकोंके चित्तमें अवस्थित होकर मुक्ति तक प्रदान करते हैं। अतः उन अच्युतप्रभुका नामकीर्त्तन अघ (पापसमूह)को ध्वंसकर परमफल उत्पन्न करेगा—इसमें सन्देह ही क्या है?" यहाँ 'अघ' कहनेका अर्थ है अजामिलादिके समान पापात्मा भी मुक्तिको प्राप्त हुए हैं। इस व्याख्यामें कैमुतिक न्यायसे सिद्ध होता है कि स्मरणसे कीर्त्तनकी महिमा अधिकतर है। कुछ और भी कहा गया है—"सत्ययुगमें ध्यान द्वारा, त्रेतायुगमें यज्ञ द्वारा, द्वापरमें अर्चन द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें केवलमात्र भगवान्‌के नामोंका कीर्त्तन करनेसे उन समस्त युगोंके साधनका फल भी अनायास ही

प्राप्त हो जाता है।" इन वचनों द्वारा प्रमाणित होता है कि ध्यान, यज्ञ और पूजादिके समस्त फल ही कीर्त्तनके अन्तर्भूत हैं, अतएव कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ रूपमें विराजमान हैं॥१४८॥

बाह्यान्तराशेष-हृषीकचालकं
वागिन्द्रियं स्याद्यदि संयतं सदा।
चित्तं स्थिरं सद्भगवत्स्मृतौ तदा
सम्यक् प्रवर्तेत ततः स्मृतिः फलम्॥१४९॥
एवं प्रभोर्ध्यानरतैर्मतं चेद्-
बुद्ध्येदृशं तत्र विवेचनीयम्।
ध्यानं परिस्फूर्त्तिविशेषनिष्ठा-
सम्बन्धमात्रं मनसा स्मृतिर्हि॥१५०॥

श्लोकानुवाद—यदि बाह्य और अन्तरेन्द्रियोंकी परिचालक वागिन्द्रिय (जिह्वा) सदा नियन्त्रित रहे, तभी चित्त स्थिर होता है तथा चित्तके स्थिर होने पर ही भगवान्‌का स्मरण होता है। अतएव कीर्त्तन स्मृतिके अनुकूल है और स्मृति ही कीर्त्तनरूप भक्तिका फल है। प्रभुके ध्यानमें रत भक्त ऐसा ही सिद्धान्त करते हैं, किन्तु उन भक्तोंकी युक्तिके सम्बन्धमें यही विचारनीय है कि विशेषरूपमें प्रभुकी परिस्फूर्तिमें निष्ठा ही ध्यान है और मनमें प्रभुके साथ सम्बन्धमात्र होना ही स्मृति है॥१४९-१५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ये केचिद्भगवद्ध्यानरसिकाः कीर्त्तनस्यापि फलं ध्यानमेव मन्यन्ते, तेषां मतमेवानूद्य विवेकचातुर्येणाङ्गीकृत्य परिहरन्ति—बाह्येति द्वाभ्याम्। बाह्यानि श्रवणादीनि, आन्तराणि च मनआदीनि अशेषाणि हृषीकाणि इन्द्रियाणि चालयति क्षोभयतीति, तथा तद्वाचां सर्वेन्द्रियक्षोभकस्वभावात्। मौनेन भगवत्कीर्त्तनेन वा सदा यदि संयतं स्यात्तदा चित्तं स्थिरं सत् सदा भगवतः स्मृतौ प्रवर्तेत। ततस्तस्मात् कीर्त्तनेन स्मृतेः साध्यत्वात् स्मृतिरेव कीर्त्तनस्य फलं स्यात्; ततश्च यद्ध्यानफलं कलौ संकीर्त्तनेऽन्तर्भवतीत्युक्तं, तच्च कालापेक्षयैवेति मन्तव्यम्। यदि च तत्र वक्तव्यमिदम्—अनन्यसाधारणः कलिदोषो महाप्रभावकीर्त्तनेनैव निराकृतः स्यान्न चान्येन ध्यानादिना केनापीत्येवं ध्यानात् कीर्त्तन-महिमा वक्तव्य इति। तथापि कलि-महापातकादि-दोषनिरसनं नाम-संकीर्त्तनस्य किं नाम महत्त्वमस्तु, येन ध्यानान्महिमानं तल्लभताम्; किञ्च, *'ध्यानमात्रेण कलिदोषा न नश्यन्ति'* इति

युक्तिरपि नास्ति, यया कलौ तस्या विधिः स्यात्। अथच यथाकथञ्चिद्भगवत्-स्मरणमात्रेणाशेषपापक्षयादिकं सदा सिध्यतीति वचनशतप्रमाणं विद्योतते, तस्माद्ध्यानमेव श्रेष्ठमित्येवं प्रभोर्भगवतो ध्यानरतैरनुरक्तैर्मतञ्चेत्, तत्र तस्मिन् मते बुद्ध्या ईदृशं विवेचनीयम्। कीदृशं तदित्याहुः—हि यतः प्रभोः परितः सर्वतोभावेन स्फूर्त्तिविशेषः आकेशपादान्त-तत्तल्लावण्य-माधुर्यादि-परिस्फुरण-पूर्विका चित्ते या साक्षादिवाभिव्यक्ति-स्तस्याः निष्ठापरिपाको ध्यानं स्मृतिश्च मनसा सम्बन्धमात्रम् *'ईश्वरोऽस्ति'* इति, *'भगवतो दासोऽस्मि'*—इत्यादिप्रकारेण भगवतः सम्पर्कमात्रम्॥१४९-१५०॥

भावानुवाद—जो कोई भगवत्-ध्यानके रसिक भक्त ध्यानको कीर्त्तनका फल मानते हैं, उनके मतको विवेकचातुर्य द्वारा अङ्गीकार करने पर भी अन्तमें कीर्त्तनको ही श्रेष्ठरूपमें स्थापित किया गया है। इस अभिप्रायको प्रकाश करनेके उद्देश्यसे 'बाह्यान्तर' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। कर्णादिरूप बाह्येन्द्रिय और मनरूप अन्तरिन्द्रियकी परिचालक जो वागिन्द्रिय (जिह्वा) है, यदि उसे भगवान्के कीर्त्तनमें नियोजित किया जाय अथवा मौन धारण किया जाय तभी चित्तमें भगवान्की स्मृति उदित होती है। इस वाक्यसे ऐसा जाना जाता है कि कीर्त्तन स्मरणके अनुकूल है और स्मरण ही भक्तिके अङ्गोंमें चूड़ामणि सदृश है। अतएव कीर्त्तन द्वारा ही स्मरण साधित होनेसे स्मरण ही कीर्त्तनका फल है। तथा कलियुगमें जो ध्यानादिके फलको संकीर्त्तनके अन्तर्भूत कहा गया है, उसे भी कालके प्रभाववशतः ही समझना होगा। यदि कहो कि कलिकालका असाधारण महादोष असाधारण प्रभावयुक्त कीर्त्तनके द्वारा ही दूर होता है, ध्यानादिसे नहीं। इसके द्वारा ध्यानसे कीर्त्तनकी महिमा अधिकरूपमें स्थापित होती है। तथापि यदि कहो कि कलिकालके महापातकादि दोषोंको दूर करनेमें नामसंकीर्त्तनकी क्या विशेष महिमा है, जो ध्यानकी महिमामें उपलब्ध नहीं है। तदुपरान्त कहते हैं—केवल ध्यानके द्वारा कलिकालका दोष नष्ट नहीं होता? इस प्रकारकी युक्तिको प्रमाणरूपमें स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिस उद्देश्यसे कलिकालमें कीर्त्तनका विधान विहित हुआ है, उसी उद्देश्यसे शास्त्रमें लिखित है—"जिस किसी प्रकारसे भी भगवान्का स्मरणमात्र होनेसे ही कलिकालके अनन्त दोष-पापादिका पूर्णरूपसे सदा ही क्षय होता है।" इस प्रकारके

सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, अतएव ध्यान ही श्रेष्ठ है—यही भगवान्‌के ध्यानमें अनुरक्त जनोंका मत है।

ध्यान-रसिकगणोंके इस मतकी बुद्धिपूर्वक विवेचना करना कर्त्तव्य है, अर्थात् जब भगवान्‌के केशसे उनके श्रीचरणकमलोंकी नखमणि तक उनकी श्रीमूर्त्तिके लावण्य-माधुर्यादिकी सम्पूर्णरूपमें चित्तमें स्फूर्ति प्राप्त होने पर साक्षात् प्रकटकी भाँति उनकी प्रतीति होती है, वैसी निष्ठाकी परिपक्व अवस्था ही ध्यान है। किन्तु यदि मनमें निश्चय होता है कि 'ईश्वर हैं', 'मैं ईश्वरका दास हूँ'—इस प्रकारसे भगवान्‌के साथ मनका सम्पर्कमात्र होना ही स्मृति है॥१४९-१५०॥

चेद्ध्यानवेगात् खलु चित्तवृत्ता-
वन्तर्भवन्तीन्द्रियवृत्तयस्ताः ।
संकीर्त्तन-स्पर्शन-दर्शनाद्या
ध्यानं तदा कीर्त्तनतोऽस्तु वर्यम्॥१५१॥

श्लोकानुवाद—यदि ध्यानके वेगवशतः संकीर्त्तन-स्पर्शन-दर्शनादिरूप इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ चित्तवृत्तिके (मनके) अन्तर्भूत हो जायें, तभी कीर्त्तनसे ध्यानकी श्रेष्ठता स्वीकार की जा सकती है॥१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं संकीर्त्तनादिसम्बन्धे सति ध्यानस्य श्रेष्ठ्यमस्माभिरप्यङ्गीक्रियत इत्याहुः—चेदिति। ता अस्मदभिप्रेता इन्द्रियाणां वाक्त्वक्चक्षुरादीनां वृत्तिरूपाः संकीर्त्तनादयो ध्यानस्य वेगात् प्राबल्येन चेद्यदि चित्तवृत्तावन्तर्भवन्ति, ध्यानमध्ये एवान्तःकीर्त्तनादयः सम्पद्यन्ते, तदा ध्यानं कीर्त्तनतो वर्यं श्रेष्ठमस्त्वित्यभ्युपगमः॥१५१॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे संकीर्त्तनादिकी तुलनामें ध्यानकी श्रेष्ठताको अभ्युपगम-न्यायानुसार अङ्गीकारकर 'चेद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यदि ध्यानके प्रबल वेगसे वाणी, त्वचा और नेत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तिस्वरूप कीर्त्तन-स्पर्शन-दर्शनादि स्वाभाविक रूपमें चित्तमें प्रकाशित हों, अर्थात् ध्यानमें ही भगवान्‌का कीर्त्तन, दर्शन और स्पर्श होने लगे, तभी कीर्त्तनसे ध्यान श्रेष्ठ होगा॥१५१॥

प्रीतिर्यतो यस्य सुखञ्च येन
सम्यग्भवेत्तद्रसिकस्य तस्य।

तत्साधनं श्रेष्ठतमं सुसेव्यं
सद्भिर्मतं प्रत्युत साध्यरूपम् ॥१५२॥

श्लोकानुवाद—जिसकी जैसी साधनामें भलीभाँति प्रीति हो या जिस साधनसे सुखकी प्राप्ति हो उस रसिकके लिए वही साधन श्रेष्ठतम है और उसी साधनका श्रद्धा और आदर सहित अनुष्ठान कर्त्तव्य है तथा वही उसके लिए साध्यरूप है। साधुगण भी इस विचारमें सहमति प्रकट करते हैं॥१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु यदि ध्याने संकीर्त्तन-स्पर्शनादिरूपा मनोवृत्तिविशेषा नोत्पद्यन्ते, केवलं भगवतः श्रीमूर्त्तौ चेतोवृत्ति सन्ततिरेव स्यात्, तत्रैव निजमनो रमते, तर्हि किं कार्यमित्यपेक्षायामाहुः—प्रीतिरिति। यतो यस्मिन् तदेव श्रेष्ठतमं तस्य साधनमतस्तदेव तेन सुष्ठु सेव्यम्, सदा श्रद्धया चादरेण चानुष्ठेयम्। प्रीतिविषयत्वादचिरेण निजेष्टसम्पादनयोग्यत्वात्, प्रत्युत तदेव तस्य साध्यं फलं तत्स्वरूपञ्च सद्भिर्मतं प्रेमोदयात्॥१५२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ध्यानमें ही संकीर्त्तन-स्पर्शनादिरूप वृत्ति प्रकाश न पाकर केवल भगवान्‌की श्रीमूर्त्तिमें चितवृत्ति निमग्न हो और उसीमें मनका सुख वर्द्धित होता, तब क्या कर्त्तव्य है? इसकी आकांक्षामें 'प्रीतिः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस साधनमें जिसकी प्रीति हो या जिस प्रकारसे सुख उत्पन्न होता हो, उसके लिए वही श्रेष्ठतम साधन है और उसीका सुष्ठुसेवन अर्थात् सदैव श्रद्धा और आदरसहित अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। इसका कारण है कि प्रीति सहित साधन करनेसे अतिशीघ्र अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है, अपितु यही उनका साध्यफल है तथा यही साधुजनों द्वारा भी सम्मत सिद्धान्त है॥१५२॥

संकीर्त्तनाद्ध्यानसुखं विवर्द्धते ध्यानाच्च संकीर्त्तन-माधुरीसुखम्।
अन्योऽन्यसम्वर्द्धकतानुभूयतेऽस्माभिस्तयोस्तद्द्वयमेकमेव तत् ॥१५३॥

श्लोकानुवाद—संकीर्त्तनसे ध्यानसुख वर्द्धित होता है और ध्यान द्वारा भी कीर्त्तनमाधुरीका सुख सम्वर्द्धित होता है। अतएव दोनों ही एक दूसरेके पोषक और सम्वर्द्धक हैं। अतः संकीर्त्तन और ध्यानको हम एक ही मानते हैं॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—*'वयं तु ध्यानं संकीर्त्तनञ्च द्वयमेव सेव्यं मन्यामहे'* इत्याहुः—संकीर्त्तनादिति। तयोः संकीर्त्तन-ध्यानयोरन्योऽन्यं परस्परं संवर्धकता-परिपोषकत्वमस्माभिरनुभूयते। एवं सत्यपि कालदेशादिविभाग-व्यवस्थया अन्योऽन्याश्रयदोषोऽपि न किल घटेत, तत्तस्मात् तत् संकीर्त्तनं ध्यानञ्चेति द्वयमेकमेव, कार्य-कारणयोरभेदात्॥१५३॥

भावानुवाद—"किन्तु हम ध्यान और संकीर्त्तन दोनोंको ही सेव्य मानते हैं"—'संकीर्त्तनाद्' इत्यादि श्लोक द्वारा वैकुण्ठ पार्षदगण अपने इसी मतको बता रहे हैं। संकीर्त्तन द्वारा ही ध्यानसुखकी वृद्धि होती है और ध्यान द्वारा संकीर्त्तन-माधुरीका सुख सम्वर्द्धित होता है, अतएव दोनों ही एक दूसरेके पोषक और सम्वर्द्धक हैं। ऐसा होनेसे काल और देशके अनुसार दोनोंकी एक दूसरे पर निर्भरता दोष नहीं है। अतः संकीर्त्तन और ध्यानको हम एक ही मानते हैं, क्योंकि दोनोंमें से किसीके भी कार्य या कारण होनेसे दोनोंमें अभेद है॥१५३॥

ध्यानञ्च संकीर्त्तनवत् सुखप्रदं
यद्वस्तुनोऽभीष्टतरस्य कस्यचित्।
चित्तेऽनुभूत्यापि यथेच्छमुद्भवे-
च्छान्तिस्तदेकाप्तिविषक्तचेतसाम् ॥१५४॥

श्लोकानुवाद—ध्यान भी संकीर्त्तनकी भाँति ही सुखप्रद है, क्योंकि प्रियतमकी प्रत्येक वस्तुके अनुभवमें ही सुख होता है तथा उनसे सम्बन्धित किसी भी विषयमें यथेष्टरूपमें चित्तके निमग्न होनेसे शान्ति प्राप्त होती है॥१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं ध्यानमङ्गीकृत्य प्रशंसन्ति—ध्यानमिति। अप्यर्थे चकारः। ध्यानमपि संकीर्त्तनमिव सुखप्रदं स्यात्, यद्यस्मात् अभीष्टतरस्य प्रियतमस्य कस्यचिद्वस्तुनो यथेच्छं निजेच्छानुसारेण चित्तेऽनुभूत्या अनुभवेनापि तस्य वस्तुन एवैकस्य प्राप्तौ विषक्तमासक्तं चेतो येषां तेषां शान्तिं सुखं तदधुनापि दुःखोपशमो वा उद्भवेत् जायते॥१५४॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे ध्यानको अङ्गीकारकर 'ध्यानम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। संकीर्त्तनकी भाँति ध्यान भी सुखप्रद है, क्योंकि प्रियतमकी किसी भी वस्तुके अनुभवसे सुख होता

है। अभीष्ट अर्थात् प्रियतमसे सम्बन्धित किसी भी विषयमें यथेष्टरूपमें चित्तके प्रवेश करते ही शान्ति उत्पन्न होती है। अर्थात् अपनी इच्छानुसार प्रियतमकी जिस किसी वस्तुके चित्तमें अनुभव होते ही चित्तमें उसके प्रति आसक्ति होती है। आसक्ति होनेसे दुःखका उपशम या शान्तिरूप सुख होता है॥१५४॥

यथा ज्वररुजार्त्तानां शीतलामृतपाथसः।
मनःपानादपि त्रुट्येत्तृड़्वैकुल्यं सुखं भवेत्॥१५५॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार अमृततुल्य सुशीतल जलको मनसे कल्पनाकर पान करनेसे भी ज्वरसे पीड़ित व्यक्तिकी पिपासा-व्याकुलता नष्ट होकर उसे सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभीष्ट वस्तुके संकीर्त्तनसे भी संकीर्त्तनकारीको सुख-शान्ति प्राप्त होती है॥१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र स्फुटं दृष्टान्तं दर्शयन्ति—यथेति। शीतलममृततुल्यं यत् पाथो जलं तस्य मनसा पानादपि ज्वररोगेणार्त्तानां यथा तृषा वैकुल्यं त्रुट्येत् ह्रसति, ततः सुखञ्च भवेत्तथेति॥१५५॥

भावानुवाद—'यथा' इत्यादि श्लोक द्वारा उक्त विषयमें सुस्पष्ट दृष्टान्त प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार ज्वरसे पीड़ित व्यक्ति द्वारा अमृततुल्य शीतल जलको मनसे कल्पना द्वारा पान करनेसे उसकी तृष्णा-व्याकुलता नष्ट हो जाती है अर्थात् उसे सुखप्राप्त होता है, उसी प्रकार अभीष्टवस्तुके संकीर्त्तनसे भी संकीर्त्तनकारीको सुख और शान्ति प्राप्त होती है॥१५५॥

तत्तत्संकीर्त्तनेनापि तथा स्याद्यदि शक्यते।
सतामथ विविक्तेऽपि लज्जा स्यात् स्वैरकीर्त्तने॥१५६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि अभीष्टवस्तुके संकीर्त्तनसे भी सुखप्राप्त हो सकता है, तथापि कीर्त्तन द्वारा कीर्त्तनकारीके समस्त भावसमूह ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। यत्न द्वारा वैसी शक्ति प्राप्त होने पर भी मानसिक ऐसे अनेक गोपनीय भाव होते हैं, जिन्हें कोई-कोई साधुभक्त निर्जनमें अकेले कीर्त्तन करनेमें भी लज्जाबोध करते हैं॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु *'निवेद्य दुःखं सुखिनो भवन्ति'* इति न्यायेन संकीर्त्तनेनापि तत्सिध्येत्तत्राहुः—तत्तदिति। तस्य तस्याभीष्टतरवस्तुनः संकीर्त्तनेनापि तथा शान्तिः स्यादेव, किन्तु यदि तत्तत्-संकीर्त्तनं कर्तुं शक्येत, मानसिका-नामखिलानामर्थजातानां वाक्शक्त्या ग्रहणासम्भवात् भवतु वा यत्नविशेषेण तत्र शक्तिस्तथापि केषाञ्चिदर्थानां रहस्येकाकितया कीर्त्तने साधवो लज्जेरन्नित्याहुः—सतामिति। विविक्ते एकान्तेऽपि स्वैरेण स्वाच्छन्द्येन कीर्त्तने लज्जा स्यात्, परमगोप्यार्थोद्घाटनात्॥१५६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि 'निवेद्य दुःखं सुखिनो भवन्ति'—इस न्यायानुसार जिस प्रकार सहृदय बन्धुके समीप दुःखका वर्णन करने पर दुःख दूर होता है और सुखकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अभीष्ट वस्तुके संकीर्त्तनसे भी सुखलाभ हो सकता है। इस प्रश्नके समाधानके लिए 'तत्तद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अपनी अभीष्ट वस्तुके संकीर्त्तन द्वारा ही शान्ति प्राप्त होती है—यह सत्य है, किन्तु संकीर्त्तन समस्त मानसिक भावोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। अर्थात् मानसिक समस्त भाव वाक्य द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते, क्योंकि मनकी वृत्ति अनन्त है। उस अनन्त मानसवृत्तिके अर्थोंको वाक्शक्ति द्वारा ग्रहण करना सम्भव नहीं है। यद्यपि किसी भी प्रकारसे उनका प्रकाश होता है, तथापि किसी-किसी गोप्य विषयमें ऐसा रहस्यमय भाव रहता है जिसे कोई-कोई साधुभक्त अति निर्जनमें एकान्तमें भी भाषाके द्वारा प्रकाश करनेमें लज्जाबोध करते हैं। अतः भक्तगण उन समस्त भावोंका मानसिक चिन्तन द्वारा यथेष्ट आनन्दानुभव करते हैं। ऐसी अवस्थामें ध्यान अवश्य ही समादरणीय है॥१५६॥

एकाकित्वेन तु ध्यानं विविक्ते खलु सिद्ध्यति।
संकीर्त्तनं विविक्तेऽपि बहूनां सङ्गतोऽपि च॥१५७॥

श्लोकानुवाद—निर्जन या अकेला न होनेसे ध्यान कभी भी सिद्ध नहीं होता है। किन्तु अकेले या बहुत लोगोंके एकत्र रहने पर भी संकीर्त्तन सुसिद्ध होता है॥१५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं ध्यानं प्रशस्य निजपरमसम्मतस्य भगवन्नाम-संकीर्त्तनस्य सर्वोत्कृष्टं माहात्म्यातिशयं वक्ष्यन्तः प्रथमं सामान्येन संकीर्त्तनस्य ध्यानान्महिमानं

वदन्ति—एकाकित्वेनेति। ध्यानं तु एकाकित्वेन तत्र विविक्ते निर्जनप्रदेश एव सिध्यति, खल्विति। एवमेव सिध्येत् नान्यथेति निश्चिनोति। एवं बहुविघ्नसत्तया तत्तदभावे सति तस्याः सिद्धिरुक्ता। कीर्त्तनन्तु सदैव सिध्यतीत्याहुः—संकीर्त्तनमिति॥१५७॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे ध्यानकी प्रशंसाकर अपने और अन्यों द्वारा सम्मत श्रीभगवान्‌के नामसंकीर्त्तनके सर्वश्रेष्ठ महात्म्यको कहनेके लिए सर्वप्रथम सामान्यरूपसे ध्यानसे कीर्त्तनकी महिमा प्रकाश करनेके लिए 'एकाकित्वेन्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। निर्जन या अकेले न होनेसे ध्यान कभी भी सिद्ध नहीं होता, किन्तु संकीर्त्तन अकेलेमें भी हो सकता है और बहुत लोगोंके साथ भी हो सकता है। बहुत लोगोंके सङ्गमें या समस्त प्रकारके विघ्नोंके बीच भी संकीर्त्तन सिद्ध होता है। अतः ध्यानकी सिद्धिमें बहुतसे विघ्न है और संकीर्त्तनकी सिद्धि सरल है॥१५७॥

कृष्णस्य नानाविध-कीर्त्तनेषु
तन्नाम-संकीर्त्तनमेव मुख्यम्।
तत्प्रेमसम्पज्जनने स्वयं द्राक्
शक्तं ततः श्रेष्ठतमं मतं तत्॥१५८॥

श्लोकानुवाद—नाना-प्रकारके कीर्त्तनोंमें श्रीकृष्णके नामोंका संकीर्त्तन ही मुख्य है, क्योंकि उनका नामसंकीर्त्तन शीघ्र ही प्रेमरूप-सम्पत्तिको उत्पन्न करनेमें समर्थ है। अतएव पण्डितजनोंने भी नामसंकीर्त्तनको भक्तिके श्रेष्ठतम अङ्गके रूपमें निर्धारित किया है॥१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र च श्रीभगवन्नाम-संकीर्त्तनमेव सेव्यमित्याशयेनाहुः—कृष्णस्येति। नानाविधेषु वेद-पुराणादिपाठ-कथा-गीतस्तुत्यादिभेदेन बहुप्रकारकेषु कीर्त्तनेषु मध्ये तस्य कृष्णस्य नामसंकीर्त्तनमेव मुख्यम्। कुतः? द्राक् अविलम्बेनैव तस्मिन् कृष्णे प्रेमसम्पदो जनने आविर्भावणे स्वयमन्यनैरपेक्ष्येणैव शक्तं समर्थम्। ततस्तस्माद्धेतोर्ध्यानादिति वा। तत् श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तनमेव श्रेष्ठतमं मतं सद्भिरस्माभिर्वा॥१५८॥

भावानुवाद—अतएव श्रीभगवान्‌का नामसंकीर्त्तन ही परम सेव्य है, इसे बतलानेके लिए 'कृष्णस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वेद-पुराणादिका पाठ, कथा, गीत और स्तुति इत्यादि भेदसे बहुत

प्रकारके कीर्त्तनोंमें श्रीकृष्णके नामोंका संकीर्त्तन ही मुख्य है। इसका कारण है कि श्रीकृष्णके नामसंकीर्त्तन द्वारा अतिशीघ्र ही श्रीकृष्णके प्रति प्रेमरूप-सम्पत्तिका आविर्भाव होता है और श्रीनामसंकीर्त्तन स्वयं ही अन्य उपायों या कीर्त्तनों पर निर्भर किये बिना ही प्रेम सम्पत्ति उत्पन्न करनेमें समर्थ है। अतएव श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तन ही भक्तिके अङ्गोंमें श्रेष्ठतम है—साधुजनोंने ऐसा ही निश्चय किया है॥१५८॥

श्रीकृष्णनामामृतमात्महृद्यं
प्रेम्णा समास्वादनभङ्गिपूर्वम्।
यत् सेव्यते जिह्विकयाऽविरामं
तस्याऽतुलं जल्पतु च को महत्वम्॥१५९॥

श्लोकानुवाद—हार्दिक प्रेमसहित रसना द्वारा निरन्तर अपने प्रिय श्रीकृष्ण-नामरूप अमृतके सेवन द्वारा जो अतुलनीय आस्वादन सुख प्राप्त होता है, उसकी महिमाको कौन वर्णन कर सकता है?॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येनोक्त्वा विशेषेणाहुः—श्रीकृष्णेति। आत्महृद्यं स्वप्रियं समास्वादनं रसग्रहणं तस्य भङ्गि-वैचित्री मुद्रा वा तत्पूर्वकं जिह्विकया रसनया यदविरामं सेव्यते तस्य तादृश-संकीर्त्तनस्येत्यर्थः। अतुलं निरुपमं महत्त्वं को जल्पतु, अपि तु न कोऽपि वक्तुं शक्नोतीत्यर्थः॥१५९॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य भावसे श्रीनामसंकीर्त्तनकी महिमाका वर्णनकर अब 'श्रीकृष्ण' इत्यादि श्लोक द्वारा विशेषभावसे वर्णन कर रहे हैं। प्रेमसहित विचित्र भङ्गिसे जिह्वा द्वारा अपने प्रिय श्रीकृष्ण-नामामृतके निरन्तर सेवनरूप रसास्वादन सुखकी अतुलनीय महिमाको कौन वर्णन कर सकता है। अर्थात् श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तनकी महिमाको कोई भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है॥१५९॥

सर्वेषां भगवन्नाम्नां समानो महिमापि चेत्।
तथापि स्वप्रियेणाशु स्वार्थसिद्धिः सुखं भवेत्॥१६०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि भगवान्के समस्त प्रकारके नामोंकी महिमा समान है, तथापि अपने प्रिय नामोंके संकीर्त्तनसे सुखपूर्वक शीघ्र स्वार्थसिद्धि होती है॥१६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भगवन्नाम्नां महिमनि तारतम्यं न केनापि मन्येत, सर्वेषामपि प्रत्येकमपरिच्छिन्न-माहात्म्योक्तेः। सत्यं, तथापि मनोरत्या श्रीघ्रमनायासेनार्थ-साधकत्वात्। कल्प्येतेत्याहुः—सर्वेषामिति। अपि चेद्यद्यपि समानस्तुल्य एव महिमा, एकेनैव चिन्तामणिना अशेषार्थसिद्धेः। बहुभिस्तैरलमितिवदेकस्य भगवन्नाम्नः सहस्रतुल्यतोक्त्या अनन्तता पर्यवसानात्। तथापि स्वस्य सेवकस्य प्रियेण मनोरमेण भगवन्नाम्ना अतएव रामनाम-प्रियैरुक्तम्—*'सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने।'* इत्यादि॥१६०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि कोई-कोई श्रीभगवान्‌के नामकी महिमामें तारतम्य स्वीकार नहीं करते हैं, अर्थात् वे भगवान्‌के समस्त प्रकारके नामोंको ही समान और असीम महिमायुक्त मानते हैं। इसके लिए कहते हैं—यह सत्य है कि भगवान्‌के समस्त प्रकारके नामोंकी महिमा समान है, तथापि जिसको जो नाम प्रिय है, उस नामके संकीर्त्तनसे ही अनायास और सुखपूर्वक स्वार्थ सिद्ध होता है। इसे बतलानेके लिए 'सर्वेषाम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस प्रकार एक ही चिन्तामणि चिन्तककी भावनाके अनुसार अनन्त प्रकारके विभिन्न फलोंको प्रदान करती है, उसी प्रकार रुचिकी विभिन्नताके अनुसार अर्थात् जिसकी जिस नाममें रुचि होती है, उसको उसी नामके कीर्त्तन द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। अतएव नामके प्रति प्रियता या अप्रियता, केवल भक्तोंकी रुचिकी विभिन्नता वशतः ही कल्पित हुई है। इसलिए किसीकी एक नाममें रुचि होती है, किसीकी दो या तीन नामोंमें रुचि होती है और किसी-किसीकी बहुत नामोंमें रुचि होती है। इस प्रकार समस्त प्रकारके नामोंमें ही प्रियता सम्भव होती है और प्रत्येक नामकी अचिन्त्य अनन्त महिमा रहने पर भी इस प्रकारका भेद कल्पित होता है।

तथापि अपने प्रिय मनोरम नामका कीर्त्तन करना ही श्रेष्ठ है। इसलिए श्रीराम-नामके प्रिय श्रीमहादेवने स्वयं ही कहा है, "एक रामनाम एक हजार विष्णुनामके तुल्य है।" तात्पर्य यह है कि जब एक चिन्तामणि द्वारा ही समस्त कामनाओंकी प्राप्ति होती है, तब बहुत चिन्तामणियोंका क्या प्रयोजन है? तथापि भक्तजन अपने प्रिय मनोरम नामको एकबार कहकर शान्त नहीं होते, अतृप्तिवशतः पुनः-पुनः दोहराते रहते हैं॥१६०॥

विचित्ररुचिलोकानां क्रमात् सर्वेषु नामसु।
प्रियतासम्भवात्तानि सर्वाणि स्युः प्रियाणि हि॥१६१॥

श्लोकानुवाद—नाना-प्रकारकी रुचिवाले व्यक्तियोंकी भगवान्‌के अनेक प्रकारके नामोंमें से एक नाममें प्रीति होने पर क्रमशः उन्हें समस्त नाम ही प्रिय लगने लगते हैं॥१६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं सति भगवन्नाम्नां मध्ये केषाञ्चित् प्रियत्वं, केषामपि न तादृक्त्वमायातम्, ततश्च सर्वाणि न सेव्यतां ययुः; तत्राहुः—विचित्रेति, रुचीनां वैचित्र्यात् कस्यापि कस्मिंश्चित् कस्यचित् कस्मिन्नपि, तत्रापि कस्यचित् एकस्मिन्नेव, कस्यचित् द्वयोः, कस्यचित् त्रिषु, कस्यापि कतिपयेष्वित्येवं क्रमात् एकैकशः सर्वेष्वपि प्रियतायाः सम्भवात् तानि नामानि सर्वाण्येव प्रियाणि स्युः। हि निश्चितम्॥१६१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि यद्यपि किसी व्यक्तिको श्रीभगवान्‌के कुछ नाम तो प्रिय लगते हैं, परन्तु कुछ नाम नहीं, तथापि ऐसा होने पर भी क्या श्रीभगवान्‌के समस्त प्रकारके नाम ही सेवनीय नहीं हैं? इसके उत्तरमें करते हैं—विचित्र रुचिवाले लोगोंकी किसी एक नाममें प्रीति होपे पर क्रमशः उन्हें समस्त नाम ही प्रिय प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् रुचिमें विचित्रता होनेके कारण किसीकी एक नाममें, किसीकी दो या तीन नामोंमें और किसीकी बहुतसे नामोंमें रुचि होती है। इस प्रकारसे क्रमशः समस्त नामोंमें ही रुचि होती है—यही निश्चित सिद्धान्त है॥१६१॥

एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं नामामृतं रसैः।
आप्लावयति सर्वाणीन्द्रियाणि मधुरैर्निजैः॥१६२॥

श्लोकानुवाद—नामामृत-रस एक इन्द्रिय (जिह्वा) पर प्रकट होकर अपने माधुर्यसे समस्त इन्द्रियोंको ही प्लावित कर देता है॥१६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तु कथमपि सेवितं भगवन्नाम सर्वसुखं जनयतीत्याहुः—एकस्मिन्निति। निजैः स्वकीयैः स्वाभाविकैर्वा मधुरै रसैः सुखविशेषैः सर्वाण्याप्लावयति नितरां संयोजयति॥१६२॥

भावानुवाद—किन्तु किस प्रकारसे सेवित होने पर श्रीभगवान्‌का नाम समस्त प्रकारके सुख उत्पन्न करता है? इसके उत्तरमें 'एकस्मिन्'

इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। नामामृत एक इन्द्रिय (जिह्वा) पर प्रकट होते ही अपने स्वाभाविक मधुररससे या विशेष सुखसे समस्त इन्द्रियोंको ही प्लावित कर देता है॥१६२॥

मुख्यो वागिन्द्रिये तस्योदयः स्वपरहर्षदः।
तत् प्रभोर्ध्यानतोऽपि स्यान्नामसंकीर्त्तनं वरम्॥१६३॥

श्लोकानुवाद—वागिन्द्रिय (जिह्वा) पर ही नाम मुख्यतः उदित होता है और नामके उच्च स्वरसे कीर्त्तित होनेसे अपनेको और अन्योंको भी सुख होता है, किन्तु ध्यानमें केवल अपना ही उपकार और सुख होता है। अतएव प्रभुके ध्यानसे नामसंकीर्त्तन ही श्रेष्ठ है॥१६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तस्य संकीर्त्तनमेव श्रद्धया कार्यमित्याहुः—मुख्य इति। तस्य नाम्न उदयः स्फूर्त्तिर्वागिन्द्रिय एव मुख्यः, वर्णमयत्वात्। एवमेव स्वेषां स्वसेवकानां परेषाञ्च श्रोतृणां हर्षं ददातीति तथा सः। तत्तस्मादुक्तन्यायात् प्रभोर्ध्यानतोऽपि नामसंकीर्त्तनं वरं श्रेष्ठम्॥१६३॥

भावानुवाद—तथापि उस नामसंकीर्त्तनका श्रद्धाके साथ होना ही प्रयोजन है। इसे कहनेके लिए 'मुख्यो' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वागिन्द्रिय (जिह्वा) ही श्रीनामकीर्त्तनके उदित होनेका मुख्य स्थान है, क्योंकि श्रीनाम वर्णमय हैं। यह नाम उच्च स्वरमें गान होनेसे अपनेको और अन्यों (श्रोताओं)को सुख प्रदान करता है, अर्थात् सभीका उपकार करता और आनन्द प्रदान करता है, किन्तु ध्यानमें केवल अपना ही उपकार और आनन्द होता है। अतएव इस न्यायानुसार प्रभुके ध्यानसे कीर्त्तन ही श्रेष्ठ है॥१६३॥

नामसंकीर्त्तनं प्रोक्तं कृष्णस्य प्रेमसम्पदि।
बलिष्ठं साधनं श्रेष्ठं परमाकर्षमन्त्रवत्॥१६४॥

श्लोकानुवाद—नामसंकीर्त्तन ही श्रीकृष्ण-प्रेमरूप सम्पत्तिको प्राप्त करनेका श्रेष्ठतम और अति बलवान साधन है, क्योंकि यह परमाकर्षक मन्त्रके समान है॥१६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वोत्कर्षचरमकाष्ठाप्राप्तः फलविशेषः संकीर्त्तनादेव सिध्यतीत्युक्तमेव। तच्छ्रैष्ठ्ये हेतुं पुनरतिहर्षेणाभिव्यञ्जयन्ति—नामेति। परमाकर्षको

मन्त्रो यथा दुर्लभतरमर्थं दूरादाकृष्य घटयति तथेति। एवमेष उक्तपोषो द्रष्टव्यः। अतएव *'शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके। गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/३९) इत्युक्त्वापि प्रेमसम्पदाविर्भावेऽन्तरङ्गत्वेन। *'एवं-व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायति'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४०) इत्यत्र पुनः स्वप्रियनाम-कीर्त्या इत्युक्तमिति दिक्॥१६४॥

भावानुवाद—सर्वोत्कर्षक चरम सीमाको प्राप्त विशेष फल नामसंकीर्त्तनसे ही सिद्ध होता है, इसलिए उसकी श्रेष्ठताके हेतुको पुनः अतिहर्ष सहित 'नाम' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रकाश कर रहे हैं। प्रेम-सम्पद प्राप्त करनेके लिए श्रीकृष्ण नामसंकीर्त्तन अति बलिष्ठ और श्रेष्ठतम साधन है, क्योंकि यह मन्त्रके समान भगवान्‌को आकर्षित करता है। सरल भाव और व्याकुल हृदयसे श्रीभगवान्‌का नामकीर्त्तन करनेवाले भक्तके आह्वानसे श्रीभगवान् उसके सामने आविर्भूत होते हैं। वास्तविक रूपमें श्रीनामकीर्त्तन सिद्ध-मन्त्रकी भाँति दुर्लभतर वस्तुको दूरसे आकर्षित करके ले आता है।

अतएव श्रीमद्भागवत (११/२/३९)में उक्त हुआ है—"संसारमें भगवान् चक्रपाणिके जन्म और लीलाओंकी बहुतसी सुमङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण करानेवाले भगवान्‌के बहुतसे नाम भी प्रसिद्ध है। निरपेक्ष भावसे अर्थात् सर्वत्र आसक्ति रहित होकर तथा लज्जा-संकोच त्यागकर इन नामोंका श्रवण और कीर्त्तन करते हुए विचरण करना चाहिए।" यह कहकर पुनः प्रेम-सम्पदके आविर्भावका श्रेष्ठतम साधन बतला रहे हैं। श्रीमद्भागवत (११/२/४०)में योगेन्द्र श्रीकविने राजा निमिको कहा—"हे राजन्! जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत लेता है, उनके हृदयमें अपने प्रियतम प्रभुके नामकीर्त्तन द्वारा अनुरागका अर्थात् प्रेमका अंकुर उदित होता है। तब उनका चित्त द्रवित हो जाता है तथा स्वभावसे ही मतवालासा होकर कभी उच्च हास्य करने लगता है, कभी रोदन करने लगता है। कभी उच्च स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है या कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है तथा कभी उनका अनुभवकर नृत्य करने लगता है। इस प्रकारसे वे भगवद् प्रेममें उन्मत्त होकर

सर्वत्र विचरण करने लगता है।” अतएव अपने प्रियनामोंका कीर्त्तन करना ही श्रेष्ठतम और बलिष्ठ साधन है॥१६४॥

तदेव मन्यते भक्तेः फलं तद्रसिकैर्जनैः।
भगवत्प्रेम–सम्पत्तौ सदैवाव्यभिचारतः॥१६५॥

श्लोकानुवाद—इसलिए भक्तिके रसिक नामसंकीर्त्तनको ही भक्तिका फल मानते हैं, क्योंकि भगवान्‌के प्रति प्रेमरूप सम्पत्ति उत्पन्न करनेमें उसमें कभी भी व्यभिचार (उल्लंघन) नहीं होता है॥१६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—‘अहो किं वक्तव्यम् श्रेष्ठं साधनमिति, साध्यमपि तदेव कैश्चिन्मन्यते’ इत्याहुः—तदेवेति, नामसंकीर्त्तनमेव। तत्र रसिकैर्नाम–संकीर्त्तन–लम्पटैः। ननु सर्वेषामपि साधनभक्तिप्रकाराणां प्रेमैव फलमित्यभिप्रेतम् सत्यं, नामसंकीर्त्तने सति प्रेम्णः अवश्यम्भावित्वात् उपचारेण तदेव फलं मन्यत इत्याहुः—भगवदिति, भगवति प्रेम्णः सम्पत्तौ सम्पन्नतायां सदैव नाम–संकीर्त्तनस्य अव्यभिचारत आवश्यकहेतुत्वादित्यर्थः॥१६५॥

भावानुवाद—अहो! श्रेष्ठतम नामसंकीर्त्तनकी महिमा अधिक क्या वर्णन करें? भक्तिके रसिक अर्थात् लोभी जनोंने नामसंकीर्त्तनको ही साध्यके रूपमें निश्चित किया है। तथापि यदि आपत्ति हो कि समस्त प्रकारकी साधनभक्तिका फल तो प्रेम है। इसके लिए कहते है कि यह सत्य है, किन्तु नामसंकीर्त्तन द्वारा अविलम्ब तथा निश्चित रूपमें प्रेम उदित होनेके कारण दोनोंके सादृश्य हेतु नामसंकीर्त्तनकी ही भक्तिके फल रूपमें गणना की गयी है। वस्तुतः नामसंकीर्त्तन द्वारा प्रेम–सम्पत्ति प्राप्त करनेमें कभी भी व्यभिचार (उल्लंघन) नहीं होता, इसलिए साधुजन नामसंकीर्त्तनको ही भक्तिका फल मानते हैं॥१६५॥

सल्लक्षणं प्रेमभरस्य कृष्णे
कैश्चिद्रसज्ञैरुत कथ्यते तत्।
प्रेम्णो भरेणैव निजेष्टनाम–
संकीर्त्तनं हि स्फुरति स्फुटार्त्त्या॥१६६॥

श्लोकानुवाद—कोई–कोई रसिकगण नामसंकीर्त्तनको ही श्रीकृष्णप्रेमका स्वरूप और श्रेष्ठतम लक्षण मानते हैं, क्योंकि अपने इष्टदेवका नाम

प्राणोंकी व्याकुलता सहित परिस्फुटरूपमें कीर्त्तन करनेसे उस नामसंकीर्त्तनमें स्वतः ही प्रेमकी स्फूर्ति होती है॥१६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एके तु नामसंकीर्त्तनमेव प्रेम्णः स्वरूपं मन्यन्त इत्याहुः—सदिति। तन्नाम-संकीर्त्तनमेव कृष्णे प्रेमभरस्य सत् उत्कृष्टं लक्षणं कथ्यते उच्यते। हि यतः स्फुटया अभिव्यक्तया आर्त्त्या यन्निजेष्टस्य नामसंकीर्त्तनं, तत् प्रेम्णो भरेणैव स्फुरति आविर्भवति। एवं नामसंकीर्त्तन-प्रेम्णोऽन्योऽन्यं कार्यकारणता सिद्धा। ततोऽभेदोऽपि सिद्ध इति दिक्॥१६६॥

भावानुवाद—रसिकजन नामसंकीर्त्तनको ही प्रेमका स्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार श्रीनामसंकीर्त्तन ही श्रीकृष्णप्रेमका श्रेष्ठतम लक्षण है, क्योंकि परिस्फुट आर्ति अर्थात् प्राणोंकी व्याकुलता सहित अपने इष्टके नामका संकीर्त्तन करनेसे उसमें प्रेमकी स्फूर्ति प्राप्त होती है। ऐसे संकीर्त्तनमें प्रेम आविर्भूत होता है तथा प्रेमके साथ संकीर्त्तन भी सिद्ध होता है। अतएव नामसंकीर्त्तन और प्रेम—दोनोंमें परस्परका कार्य-कारण सम्बन्ध होनेके कारण अभेद ही सिद्ध होता है॥१६६॥

नाम्नान्तु संकीर्त्तनमार्त्तिभारा-
न्मेघं विना प्रावृषि चातकानाम्।
रात्रौ वियोगात् स्वपते रथाङ्गी-
वर्गस्य चाक्रोशनवत् प्रतीहि॥१६७॥

श्लोकानुवाद—वर्षाऋतुमें चातकके आर्तनादके समान अथवा रात्रिकालमें पति-वियोगमें चक्रवाकी (कुररी)के करुण विलापके समान समस्त भक्त प्रेममें विरह-यातनासे व्याकुल होकर श्रीकृष्णका नामसंकीर्त्तन करते हैं॥१६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तु प्रेमविशेषेणैव नामसंकीर्त्तनं स्यादिति दृष्टान्ते-नोपपादयन्ति—नाम्नामिति। आर्त्तेर्भाराद् गौरवाद्धेतोरेव नाम्नां संकीर्त्तनं भवतीति प्रतीहि। किमिव? प्रावृषि वर्षासु मेघं विना चातकानामाक्रोशनमार्त्तस्वरेण प्रिय-प्रियेत्याह्वानमिव, तथा रात्रौ स्वपति-विरहात् रथाङ्गीवर्गस्य चक्रवाकीवर्गस्य चाक्रोशनवत्। एवं विरहज-प्रेम्णैव प्रायो नाम-संकीर्त्तनं स्यादित्युक्तम् विरहद्वाराविर्भवतः प्रेम्णश्च परमवैशिष्ट्यं पूर्वोपाख्यानान्ते प्रायेणोक्तमेवाग्रेऽपि वक्ष्यते। एवं परमार्त्या विचित्रमधुरगाथा-प्रबन्धेन भगवन्नामसंकीर्त्तनं कार्यमिति तात्पर्यम्, *'सिद्धस्य लक्षणं यत् स्यात् साधनं साधकस्य तत्'* इति न्यायात्॥१६७॥

भावानुवाद—किन्तु विशेष प्रेमके द्वारा नामसंकीर्त्तनमें जो आर्ति उदित होती है, उसकी तुलना नहीं है—इसे दृष्टान्तके द्वारा बतलानेके लिए 'नाम्नाम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वर्षाकालमें मेघके बिना चातक जिस प्रकार आर्तनाद करते हैं अथवा रात्रिकालमें पतिवियोग-विधुरा चक्रवाकी (कुररी) जिस प्रकार कातर स्वरमें चीत्कारकर प्रियका आह्वान करती हैं, उसी प्रकार समस्त भक्त भी परमविरहसे उदित प्रेमकी आर्तिसे पीड़ित होकर नामसंकीर्त्तन करते हैं। विरह द्वारा आविर्भूत होनेवाले परमप्रेमके वैशिष्ट्यकी कथा प्राय पहले कथित हुई है तथा आगे भी कही जायेगी। इस प्रकार परम आर्तिके साथ विचित्र मधुर गाथा-क्रमसे भगवान्‌का नामसंकीर्त्तन करना ही कर्त्तव्य है और यही समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य है। 'सिद्धस्य लक्षणं यत्स्यात् साधनं साधकस्य तत्।'—इस न्यायानुसार सिद्धके जो लक्षण हैं, वे ही साधकका साधन है अर्थात् सिद्धका लक्षण—नामसंकीर्त्तनरूप प्रेम ही साधकका साधन है॥१६७॥

विचित्रलीलारससागरस्य प्रभोर्विचित्रात् स्फुरितात् प्रसादात्।
विचित्र-संकीर्त्तन-माधुरी सा न तु स्वयत्नादिति साधु सिध्येत्॥१६८॥

श्लोकानुवाद—वह विचित्र संकीर्त्तन-माधुरी सुख, विचित्रलीलारसके सागरस्वरूप प्रभुके अनुग्रहसे ही स्फुरित होता है, अपने यत्नरूप चेष्टा द्वारा कभी भी भलीभाँति सिद्ध नहीं होता॥१६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथा स्फुटकीर्त्तने विघ्नशङ्का-लोकपूजादि-दोषोऽशक्तिरपि शरीरदौर्बल्यादिना कदाचित् सम्भवति, न तु केनाप्यलक्ष्यमाणेऽनायासेनान्तश्चिन्तने तत्राहुः—विचित्रेति। सा उक्तप्रकारा विचित्रा विविधा भगवन्नाम-संकीर्त्तनस्य माधुरी प्रभोर्भगवतो विचित्रात् प्रसादाद्धेतोः स्फुरिता आविर्भूता, न तु स्वयत्नात् निजपौरुषेण। विचित्रत्वे हेतुः—विचित्राणां लीलारसानां सागरस्य, इत्यतो हेतोः साधु सम्यक् सिध्येत्। भगवत्प्रसादप्राप्तेऽर्थे विघ्नदोषाद्यसम्भवात्। एतच्च नवस्वपि भक्तिप्रकारेषु सममेवेत्यूह्यम्॥१६८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि स्फुटरूपमें अर्थात् सबके सम्मुख नामसंकीर्त्तन करनेमें कभी-कभी लोगों द्वारा शंका, लोक-पूजादि दोष तथा शरीर दौर्बल्य जैसे बहुत विघ्नोंकी सम्भावना हो सकती है। किन्तु

दूसरोंसे अलक्षित अनायास मानस चिन्तनमें किसी भी प्रकारके विघ्नकी आशंका नहीं है, अतएव उच्च कीर्त्तनका क्या प्रयोजन है? इसकी आशंकासे 'विचित्र' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। विचित्र लीलाके सागरस्वरूप प्रभुके विचित्र अनुग्रह द्वारा ही उक्त प्रकारकी विचित्र अर्थात् विविध प्रकारकी संकीर्त्तन माधुरी स्फुरित होती है। यह अपने प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं है, अर्थात् अपने पौरुषबलसे यह माधुरी-सुख प्राप्त नहीं होता है। अतएव भगवान्‌की कृपा द्वारा प्राप्त वस्तुमें कभी भी विघ्न-दोषादि उदित नहीं हो सकते। अर्थात् भगवान्‌की कृपासे उस प्रकारकी विचित्र नामसंकीर्त्तन माधुरीका सुख प्राप्त होनेके कारण विघ्नकी सम्भावना नहीं रहती। यह विचार केवल नामसंकीर्त्तनके सम्बन्धमें ही नहीं, अपितु नवधा भक्तिके सम्बन्धमें भी प्रयोज्य है॥१६८॥

इच्छावशात् पापमुपासकानां
क्षीयेत भोगोन्मुखमप्यमुष्मात्।
प्रारब्धमात्रं भवतीतरेषां
कर्मावशिष्टं तदवश्यभोग्यम्॥१६९॥

श्लोकानुवाद—सदा भगवान्‌के नामकी सेवामें अनुरक्त उपासकोंके भोगोन्मुख पाप उनकी इच्छानुसार क्षय होते हैं। किन्तु जो ऐसे उपासक नहीं हैं, उनके द्वारा कभी-कभी नामकीर्त्तन करने पर भी उनके प्रारब्ध कर्म वर्त्तमान रहते हैं॥१६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु ईदृश-महाप्रभावकं नामसंकीर्त्तनं कुर्वतामपि कथं दुःखादिकं दृश्यते? तत्राहुः—इच्छेति। उपासकानां सदा भगवन्नामसेवापराणां भोगोन्मुखं प्रारब्धभोगमपि पापममुष्मान्नामसंकीर्त्तनादेव क्षीयते दुःखफलत्वात्; अतः शुभफलत्वात् पुण्यं तिष्ठेदेवेत्यर्थः। कुतः? इच्छावशात् तेषामेवेच्छाधीनत्वात् उपासकानामिच्छयैव कर्म तिष्ठेन्नश्येदपीत्यर्थः। यथोक्तं श्रीहरिभक्तिसुधोदये—*'कर्मचक्रन्तु यत् प्रोक्तमविलङ्घ्यं सुरासुरैः। मद्भक्तिप्रबलैर्मर्त्यैर्विद्धि लङ्घितमेव तत्॥'* इति। इतरेषामुपासक व्यतिरिक्तानां कदाचित् कथमपि नाम-संकीर्त्तयतामित्यर्थः। प्रारब्धमात्रं, न तु कुटादिकर्म अवशिष्टं भवति; यतस्तत् प्रारब्धमवश्यभोग्यं, भोगेनैव तस्य क्षयात्॥१६९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसे महाप्रभावसे युक्त नामसंकीर्त्तन करने पर भी किसलिए भक्तोंमें दुःखादि देखा जाता है? इसकी

आकांक्षासे 'इच्छा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। सर्वदा श्रीभगवान्‌के नामकी सेवामें अनुरक्त उपासकोंके भोगोन्मुख (प्रारब्ध कर्मफल) समस्त पाप दुःखोंके आकारमें दृष्ट होने पर भी उनकी इच्छानुसार क्षय होते हैं, शुभफलजनक पुण्य ही बाकी रहते हैं। किसलिए? प्रारब्ध भोगका नाश या उनकी स्थिति नाम-संकीर्त्तनकारीकी इच्छाके अधीन होती है। हरिभक्ति सुधोदयमें उक्त है—"जिस कर्मचक्रको सुर और असुर भी लाँघ नहीं सकते हैं, भक्तगण भक्तिके प्रभावसे उसे अनायासमें ही लाँघ लेते हैं।" किन्तु दूसरे अर्थात् उपासक व्यक्तिके अलावा अन्य व्यक्तियोंके द्वारा कभी किसी प्रकारसे नामसंकीर्त्तन करने पर भी उनके अवश्यभोग्य प्रारब्धकर्म रह जाते हैं, किन्तु अप्रारब्ध कूटस्थ कर्मादि नष्ट हो जाते हैं। इसका कारण है कि उनके लिए प्रारब्ध (अवश्यभोग्य) समस्त कर्म भोग द्वारा ही क्षय होते हैं॥१६९॥

महाशया ये हरिनाम-सेवकाः
सुगोप्यतद्भक्तिमहानिधेः स्वयम्।
प्रकाशभीत्या व्यवहारभङ्गिभिः
स्वदोषदुःखान्यनुदर्शयन्ति ते॥१७०॥

श्लोकानुवाद—हरिनामकी सेवा करनेवाले महाशयगण अतिगोपनीय भक्तिरूप महानिधिके प्रकाशित होनेके भयसे व्यवहार-भङ्गि द्वारा समस्त लोगोंके समक्ष अपने दोषसे उत्पन्न दुःखभोगको दिखाते हैं॥१७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननूपासकानामपि भरतादीनां भोगोन्मुख कर्माक्षयो दृश्यते, तत्राहुः—महेति। ये महाशयाः परमगम्भीरभावास्ते व्यवहाराणां हरिणबालपोषणादिरूपाणां चेष्टितानां भङ्गीभिर्वैचित्रीभिः कृत्वा स्वस्य दोषान् दुष्टसङ्गादीन् दुःखानि च कुयोनिप्राप्त्यादीनि स्वयमेवानुदर्शयन्ति अनुकुर्वन्ति, यद्वा, लोकेषु दर्शयन्ति। किमर्थम्? सुगोप्या तस्य हरेर्भक्तिरेव महानिधिः सर्वार्थसाधकत्वात्, तस्य प्रकाशाद्या भीतिस्तया हेतुना परमरहस्यरूपां भगवद्भक्तिमाच्छादयितुमित्यर्थः॥१७०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि किसलिए भरतादि उपासकोंके भोगोन्मुख कर्म क्षय नहीं हुए? इसकी आकांक्षामें 'महा' इत्यादि

श्लोक कह रहे हैं। हरिनामकी सेवामें अनुरक्त महाशयगण परम गम्भीर भावसे युक्त होते हैं, वे बाह्य रूपमें सांसारिक दुःखादि भोगके छलसे अन्यान्य समस्त लोगोंको अपने दुःखभोगका प्रदर्शन करते हैं। वास्तवमें उनका व्यवहार अति दुर्गम है। हिरणके शिशुका पोषण करनेकी चेष्टा द्वारा भक्तिक्रममें सतर्क करनेके लिए तथा वैसे दुष्ट सङ्गका दुःखमय फल अर्थात् कुयोनि प्राप्तिका स्वयं अनुकरणकर भरत महाराजने जगतको अपना दुःखभोग दिखाया। किस अभिप्रायसे? 'अति गोपनीय तथा समस्त प्रकारके अभीष्टको पूर्ण करनेवाली भक्तिरूप महानिधि प्रकाशित हो जायेगी'—इस भयसे भीत होकर ही वे समस्त लोगोंके समक्ष अपने दुःखभोगका प्रदर्शन करते हैं तथा अपने हृदयस्थित भक्तिसुखको भी गोपन करते हैं। अर्थात् परम रहस्यरूप भगवद्भक्तिको आच्छादन करके रखते हैं॥१७०॥

तन्नाम–संकीर्त्तनमात्रतोऽखिला
भक्ता हरेः स्युर्हतदुःखदूषणाः।
केचित्तथापि प्रभुवत् कृपाकुला
लोकान् सदाचारमिमं प्रशासति॥१७१॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्के नामसंकीर्त्तन मात्रसे ही समस्त भक्तोंके दोष और दुःखादि विनष्ट हो जाते हैं, तथापि कोई-कोई भक्त प्रभुकी भाँति कृपालु होकर समस्त लोगोंको सदाचारकी शिक्षा देनेके लिए दुःखादि अङ्गीकार करते हैं॥१७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सर्वलोकनिस्तारणार्थं तत्प्रकाशनमेवोचितम्, तत्राहुः—तन्नामेति। अखिलाः सर्वेऽपि जनाः हरेर्भक्ताः सन्तः हतानि दुःखानि दूषणानि च येषां तादृशा यद्यपि स्युः, तथापि केचित् कृपाकुलाः प्रभुवत् भगवानिव इमं वक्ष्यमाणं दुःसङ्गदोष-परिहारादिरूपं सदाचारं लोकान् प्रशासति शिक्षयन्ति। सदाचारं विना पापेन चित्ते मलिने सति भक्तौ प्रवृत्तिरपि न स्यादिति भावः॥१७१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि समस्त लोगोंके निस्तारके लिए उस महानिधिका प्रकाश करना क्या कर्त्तव्य नहीं है? इस विषयमें 'तन्नाम' इत्यादि श्लोक द्वारा सन्देहको दूर कर रहे हैं। श्रीभगवान्के नामसंकीर्त्तन मात्रसे ही समस्त हरिभक्तोंके दोष और दुःख नष्ट हो

जाते हैं, तथापि कोई-कोई भक्त भगवान्‌के समान कृपालु होकर लोगोंको उक्त दुसङ्गदोषके परित्यागरूप सदाचारकी शिक्षा देते हैं। इसका कारण है कि सदाचारके बिना पाप-मलिन चित्तमें सहज ही भक्तिविषयकी प्रवृत्ति उदित नहीं होती॥१७१॥

दुःसङ्गदोषं भरतादयो यथा
दुर्द्यूतदोषञ्च युधिष्ठिरादयः।
ब्रह्मस्वभीतिञ्च नृगादयोऽमलाः
प्रादर्शयन् स्वव्यवहारतो जनान्॥१७२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे महाराज भरत जैसे भक्तोंने स्वयं शुद्धचित्त होने पर भी समस्त लोगोंको दुसङ्गके दोषकी शिक्षा दी है। श्रीयुधिष्ठिर महाराजने धर्मराज होकर भी जुआ खेलनेके दोष तथा राजा नृग आदिने पापरहित होते हुए भी अपने व्यवहारसे ब्राह्मणके द्रव्यको हरण करनेके पापको प्रदर्शित करके लोगोंको शिक्षा प्रदान की है॥१७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव प्रपञ्चयन्ति—दुःसङ्गेति। दुष्टसङ्गे दोषं भरतादयः स्वस्य व्यवहारतः हरिणपोत-पोषणासक्त्या कुयोनिप्राप्तिरूपेणेति तेन कृत्वा जनान् प्रकर्षेण साक्षात्तया अदर्शयन्। आदि-शब्देन सौभर्यादयः; अमलाः ते च सर्वे तत्त्वतस्तत्तन्मलरहिता एव॥१७२॥

भावानुवाद—भक्तोंके सदाचार द्वारा दुसङ्गके दोषकी शिक्षाको 'दुसङ्ग' इत्यादि श्लोकमें दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। महाराज भरत आदि भक्तोंने शुद्धचित्त होने पर भी लोगोंको दुसङ्गके दोषसे उत्पन्न कुफलकी शिक्षा दी है। अर्थात् उन्होंने स्वयं मृगशिशुके पालनका अनुकरणकर उससे उत्पन्न आसक्तिवशतः कुयोनि प्राप्तिरूप आदर्श प्रदर्शन किया है। 'आदि' शब्द द्वारा सौभरिमुनि जैसे भक्तोंको भी ग्रहण करना होगा। उन सभीने दोषोंसे रहित शुद्धचित्त होकर भी अपने-अपने व्यवहार द्वारा समस्त जगतको शिक्षा दी है॥१७२॥

भक्तिप्रभावेण विचारजातैः
सञ्जायमानेन सदेदृशैस्त्वम्।

विघ्नातिविघ्नान् किल जेष्यसीह
सर्वत्र ते हन्त वयं सहायाः॥१७३॥

श्लोकानुवाद—(हे गोपकुमार!) निरन्तर इन तत्त्वोंका विचारकर तुम जिस भक्तिप्रभावका सञ्चय करोगे, उसके द्वारा सर्वदा ही बड़े-से-बड़े विघ्नोंको जय करोगे और हम भी सर्वत्र तुम्हारी सहायता करेंगे॥१७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु बहुविघ्नाकुलस्य मे ईदृशी नामसंकीर्त्तन-निष्ठा कुतः स्यात्? तत्राहुः—भक्तीति। सदा अविरतमीदृशैरुक्तसदृशैर्विचारजातैः सञ्जायमानेन भक्तेः प्रभावेण प्राबल्येण विघ्नातिविघ्नान् किल निश्चितं त्वं जेष्यसि। ननु महतां कृपया विना न किमपि स्यात्? तत्राहुः—इह अस्मिन् विघ्नजये विचाराविर्भावे वा अन्यत्र सर्वत्रापि वयमेव तव सहायाः। हन्त हर्षे॥१७३॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमार आपत्ति करें कि बहुतसे विघ्नोंसे आकुल मुझमें ऐसे नामसंकीर्त्तनके प्रति निष्ठा किस प्रकार होगी? इसकी अकांक्षामें 'भक्ति' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। निरन्तर साधुसङ्गमें इन तत्त्वोंका भलीभाँति विचार कर तुम जिस भक्तिप्रभावका सञ्चय करोगे, उस भक्तिके प्रभावसे ही सर्वदा बड़े-बड़े विघ्नोंको निश्चितरूपमें जय करोगे। यदि कहो कि महत् कृपाके बिना तो कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। इसकी आकांक्षामें (वैकुण्ठ पार्षदगण) हर्ष सहित कह रहे हैं—विघ्नों पर जय प्राप्त करनेके लिए विचारों (तत्त्वों)को तुम्हारे हृदयमें उदित करवाकर या अन्यान्य विषयोंमें हम सर्वत्र ही तुम्हारी सहायता करेंगे॥१७३॥

श्रीकृष्णचन्द्रस्य महानुकम्पा-
स्माभिः स्थिरा त्वय्यवधारितास्ति।
लीना न साक्षाद्भगवद्दिदृक्षा
त्वत्तस्तपोलोकनिवासिवाक्यैः ॥१७४॥

श्लोकानुवाद—हमारी निश्चित धारणा है कि तुम पर श्रीकृष्णकी महान अनुकम्पा निरन्तर विद्यमान है, क्योंकि तुम तपोलोकके निवासियोंके वाक्यों द्वारा मोहित नहीं हुए तथा साक्षात् भगवान्‌के दर्शनकी इच्छाका भी त्याग नहीं कर पाये॥१७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—त्वन्तु स्वत एव कृतार्थ इति वदन्तस्तपोलोके पिप्पलायनेनोक्तं साक्षाद्दर्शनस्यापि चित्ते दर्शनस्य सम्यक्त्वमनूद्य परिहरन्ति—श्रीकृष्ण इत्यष्टभिः। त्वयि स्थिरा अचञ्चला महती अनुकम्पा अवधारिताऽस्ति। कुतः? साक्षात् भगवति दिदृक्षा तपोलोकनिवासिनां वाक्यैरपि त्वत्तो न लीना नाच्छन्ना॥१७४॥

भावानुवाद—हमारी धारणामें तुम तो स्वतः ही कृतार्थ हो, क्योंकि तुम पर श्रीकृष्णकी महान अनुकम्पा है। यदि कहो कि आपने इसे किस प्रकार जाना? इसके लिए कहते हैं कि तुम तपोलोकवासी पिप्पलायन जैसे योगेन्द्रों द्वारा कथित 'साक्षात् भगवान्के दर्शनकी तुलनामें मानस ध्यान द्वारा होनेवाला भगवान् दर्शन श्रेष्ठ है'—ऐसे प्रशंसावादको सुनकर भी श्रीभगवान्के साक्षात् दर्शनोंकी लालसाका त्याग नहीं कर पाये, अपितु तुम्हारी वह लालसा उत्तरोत्तर वर्द्धित हो रही है॥१७४॥

रूपं सत्यं खलु भगवतः सच्चिदानन्दसान्द्रं
योग्यैर्ग्राह्यं भवति करणैः सच्चिदानन्दरूपम्।
मांसाक्षिभ्यां तदपि घटते तस्य कारुण्यशक्त्या
सद्यो लब्ध्या तदुचितगतेर्दर्शनं स्वेहया वा॥१७५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्का रूप सच्चिदानन्दघन और नित्य परम सत्य है, अतएव उनका वह रूप उनके अनुरूप सच्चिदानन्द इन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण होता है। तथापि भगवान्की कृपाशक्तिके प्रभावसे दर्शन-योग्यता प्राप्त करने पर चर्म-चक्षु द्वारा भी भगवान्के उस असीम स्वरूपका साक्षात् दर्शन होता है॥१७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ पिप्पलायनोक्तमेवानुवदन्ति—रूपमिति द्वाभ्याम्। योग्यैस्तद्ग्रहणोचितैरेव करणैरिन्द्रियैर्ग्राह्यं भवतीति सत्यमेव। तदपि तथापि मांसाक्षिभ्यां कृत्वा तस्य दर्शनं घटते। कथम् तस्यैव कारुण्यशक्त्या या तदुचितायास्तद्दर्शनयोग्याया गतेः स्वरूपस्य ज्ञानशक्तेर्वा सद्यो लब्धिस्तया। वा शब्दः पक्षान्तरे। कारुण्यशक्ति-सङ्कोचापरितोषात् स्वयोरक्ष्णोरेवेहया व्यापारेण। एवमपरिच्छिन्नस्य स्वप्रकाशस्य परिच्छिन्नेन जड़ेन ग्रहणमघटमानमपि तदीयमहाकारुण्यशक्त्या सम्भवेदेवेत्यदोषः॥१७५॥

भावानुवाद—'रूपम्' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा प्रथमतः पिप्पलायन द्वारा उक्त मतको कह रहे हैं। यद्यपि श्रीभगवान्का रूप सच्चिदानन्दघन

और नित्य सत्य है, तथा वह स्वरूप सच्चिदानन्द-अनुरूप इन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण होता है, तथापि चर्म-चक्षु द्वारा भी उनके दर्शनकी क्रिया संघटित होती है। इसका कारण है कि श्रीभगवान्की करुणा-शक्तिके प्रभावसे उनका दर्शन करनेके योग्य सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्त होता है, अथवा उनके सच्चिदानन्द स्वरूपको ग्रहण करनेकी ज्ञानशक्ति प्राप्त करनेसे वही (चर्म-चक्षु) भगवान्के दर्शनके योग्य हो जाते हैं। इसलिए चर्म-नेत्रोंकी चेष्टा द्वारा भी भगवान्के रूपका साक्षात् दर्शन संघटित होता है, किन्तु कृपाशक्ति रहित केवल चर्म-चक्षु द्वारा भगवान्के रूपका दर्शन नहीं होता है। अतएव असीम स्वप्रकाश भगवान्के रूपका सन्दर्शन भगवान्की करुणाशक्ति द्वारा ही सम्भव होनेके कारण सीमित जड़ इन्द्रियों द्वारा भी सन्दर्शन होता तथा इसमें कोई दोष नहीं है॥१७५॥

तद्दर्शने ज्ञानदृशैव जाय-
मानेऽपि पश्याम्यहमेष दृग्भ्याम्।
मानो भवेत् कृष्ण-कृपा-प्रभाव-
विज्ञापको हर्षविशेष-वृद्ध्यै॥१७६॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान् अपनी कृपाशक्ति द्वारा कभी-कभी जीवके बाह्य नेत्रों द्वारा गोचर होते हैं, श्रीभगवान्के इस वात्सल्यके कारण जीवमें भी ऐसा अभिमान होता है कि उसने नेत्र द्वारा ही भगवान्के दर्शन किये। उस समय जीवके हृदयमें जो हर्ष वर्द्धित होता है, उसके द्वारा ही श्रीकृष्णकी करुणाके प्रभावकी हृदयमें भी धारणा होती है॥१७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सत्यपि दुर्वितर्क्यानन्तकारुण्य-सामर्थ्यमहिमातर्कणात् भगवद्रूपस्य मांसाक्षि-दर्शनेन स्वप्रकाशतादिहानिमाशङ्क्य ये ज्ञानचक्षुषैव तद्दर्शनं मन्यन्ते, तेषां मतेऽपि मांसचक्षुर्दर्शन-मननेनैव सुखविशेषः स्यान्नान्यथेत्याहुः। यद्वा, स्वेच्छया तद्दर्शनमत्यन्तासम्भवं मत्वा तत्प्रकारमेव निर्दिशन्ति—तदिति। दृग्भ्यामेवाहमेव पश्यामि भगवन्तमिति मानोऽभिमानो भवेत्। कीदृशः? कृष्णस्य यः कृपायाः प्रभावः शक्तिविशेषस्तस्य विशेषेण ज्ञापकः। अहो! परमदुर्दर्शोऽपि मया अयं साक्षाद्दृश्यमानोऽस्तीत्येवं बोधकः। किमर्थम्? हर्षविशेषस्य वृद्ध्यै सर्वेन्द्रियवृत्त्य-गोचरस्यापि स्वमांसचक्षुषा दर्शनाभिमानेन तदीयकारुण्यविशेषावगमात्॥१७६॥

भावानुवाद—यह सत्य है कि दुर्वितर्क्य अनन्त कारुण्य-सामर्थ्यकी महिमासे युक्त भगवान्‌के रूपके दर्शन चर्म-चक्षु द्वारा होते हैं, किन्तु इसमें स्वप्रकाशकताकी हानिकी आशंकाकर जो केवल ज्ञानचक्षु द्वारा ही दर्शन क्रियाको स्वीकार करते हैं, उनके मतमें भी चर्म-चक्षु द्वारा भगवान्‌के दर्शनमें जो विशेष सुख उदित होता है, वह मनमें ही उदित होता है, क्योंकि सुखकी अभिव्यक्तिका स्थान मन ही है। अतएव चर्म-चक्षु द्वारा दर्शनका सुख अन्यथा सम्भव नहीं है। अथवा स्वेच्छानुसार भगवान्‌का दर्शन अत्यन्त असम्भव मानकर दर्शनका प्रकार 'तद्' इत्यादि श्लोक द्वारा निर्देश कर रहे हैं। श्रीकृष्णकी कारुण्यशक्तिके प्रभावसे द्रष्टा अभिमान करता है—अहो! मैं दोनों नेत्रोंके द्वारा ही परम दुर्लभ भगवान्‌का साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ। किसलिए? इस दर्शन द्वारा दृष्टा हर्ष वर्द्धित होनेसे कृष्ण-कृपाके प्रभावका बोध करानेवाला अभिमान उसके हृदयमें ही आविर्भूत होता है। इस प्रकारसे समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिसे अगोचर वस्तु भी चर्म-चक्षुके गोचर होती है और द्रष्टाके अभिमानमें भी श्रीभगवान्‌की करुणाविशेष ही अनुभव होती है॥१७६॥

प्रभोः　कृपापूरबलेन　भक्तेः
प्रभावतो वा खलु दर्शनं स्यात्।
अतः परिच्छिन्नदृशापि सिध्ये-
न्निरन्तरं　तन्मनसेव　सम्यक्॥१७७॥

श्लोकानुवाद—प्रभुकी प्रचुर कृपाके प्रभावसे अथवा भक्तिके प्रभावसे सीमित बाह्य चक्षु द्वारा भी श्रीभगवान्‌का दर्शन होता है और वह दर्शन भी मानस-नेत्रोंकी भाँति निरन्तर और भलीभाँति प्राप्त होता है॥१७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु चक्षुर्भ्यां दर्शनपक्षे सहज-सुपरिच्छिन्नवृत्तिना चक्षुरिन्द्रियेण भगवद्दर्शनस्य कदाचित्तिरोधान-व्यवधानादिना विच्छेदोऽपि घटेत, मनसा च व्यापकेन परमसूक्ष्मवृत्तिना सर्वत्रैव निर्विघ्न-सन्दर्शन-सुखं सम्पद्येतेत्याशङ्क्यानुक्तं पिप्पलायन-मतमेवोपसंहृत्य परिहरन्ति—प्रभोरिति। एवं प्रभोः कृपाया पूरस्य समूहस्य बलेन शक्त्या खलु प्रभोर्दर्शनं स्यादित्युपसंहारः। वेति पक्षान्तरम्। प्रस्तुत-प्रकटाशेष-

शक्तियुक्त-भगवद्भक्तिमहिमदर्शनार्थं अतोऽस्मादुक्तन्यायात्। तत्प्रभुदर्शनं परिच्छिन्नेन दृशा चक्षुरिन्द्रियेणापि मनसेव निरन्तरं निर्विघ्नं सम्यक् सर्वाङ्गलावण्यादिग्रहणपूर्वकं सिध्येत्॥१७७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सहज ही अति सीमित वृत्तिसे युक्त क्षुद्र आकारवाली चक्षु-इन्द्रिय द्वारा भगवान्का दर्शन होने पर भी कभी-कभी उस दर्शनमें प्रभुका तिरोधान रूप व्यवधान द्वारा विच्छेद घटित हो सकता है, किन्तु परम सूक्ष्मशक्तिसे युक्त व्यापक मन द्वारा जो भगवान्के दर्शन तथा सुख प्राप्त होता है, वह समस्त प्रकारसे ही निर्विघ्न सन्दर्शन-सुखके रूपमें परिगणित हो सकता है—इस प्रकारकी आशंकाके निराकरणके लिए पिप्पलायन द्वारा उक्त मतके उपसंहारमें 'प्रभोः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रभुकी कृपाके बिना प्रभुके दर्शन नहीं होते हैं। प्रभुकी कृपाका प्रभाव हो अथवा भक्तिका प्रभाव हो, जब कृपाके बिना भगवान्के दर्शन ही नहीं होते तब दर्शन क्रियामें चर्म-चक्षु और मनकी समान योग्यता ही कही जायेगी। अतएव सीमित चर्म-चक्षु द्वारा भी भगवान्के दर्शन मानस-दर्शनकी भाँति ही निरन्तर और सम्यक्रूपमें प्राप्त होते है। पक्षान्तरमें भगवान्की कृपाके वैभवके सम्बन्धमें कह रहे हैं। अनन्त शक्तिसे युक्त भगवद्भक्तिकी महिमा प्रदर्शनके लिए उक्त न्यायानुसार भक्तिके प्रभावसे ही भगवान्के दर्शन होते हैं। अतएव सीमित चक्षु-इन्द्रिय द्वारा भी व्यापक और सूक्ष्मवृत्तिसे युक्त मानस-दर्शनके समान ही निर्विघ्नरूपमें समस्त अङ्गोंके लावण्यादिका दर्शन होता है॥१७७॥

न चेत् कथञ्चिन्न मनस्यपि स्यात्
स्वयंप्रभस्येक्षणमीश्वरस्य ।
घनं सुखं सञ्जनयेत् कथञ्चि-
दुपासितः सान्द्रसुखात्मकोऽसौ॥१७८॥

श्लोकानुवाद—अतः वे प्रभु यदि कृपा न करें तो कोई भी उन्हें मनके द्वारा या इन्द्रियोंके द्वारा अथवा अन्य किसी भी उपाय द्वारा नहीं देख सकते। इसका कारण है कि वे परमेश्वर हैं, स्वप्रकाश हैं तथा मन और नेत्रोंके अगोचर हैं, अर्थात् वे प्रभु परम स्वतन्त्र और

सबके नियन्ता हैं। जिस किसी प्रकारसे थोड़ेसे भी उपासित होने पर वे असीम सुख प्रदान करते हैं॥१७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—चेद्यदि कारुण्यविशेषशक्त्या भक्तिप्रभावेण वा दर्शनं स्यादिति न भवेत्, तदा कथञ्चिदपि मनस्यपि ईक्षणं तस्य दर्शनं न स्यात् न सम्भवेदित्यर्थः। कुतः? स्वयंप्रभस्य स्वप्रकाशस्य मनोवृत्तीनामप्यविषयत्वात्, किञ्च, ईश्वरस्य परमस्वतन्त्रस्य सर्वनियन्तृत्वात्। नन्वपरिच्छिन्ने मनसि दर्शनेन सुखमपरिच्छिन्नं परिच्छिन्नाभ्यां लोचनाभ्याञ्चाल्पकं स्यात्तत्राहुः—घनमिति। कथञ्चित् केनापि मनोध्यान-साक्षाद्दर्शनादिना प्रकारेण उपासितः सेवितः सन् असौ भगवान् सुखं घनमेव दत्ते, यतः स्वयमेव सान्द्रसुखस्वरूपः॥१७८॥

भावानुवाद—तथापि यदि कहो कि भगवान्की कारुण्य-शक्ति या भक्तिका प्रभाव भगवान्के दर्शनका कारण नहीं हो सकते, तब तो मनके द्वारा भी उनका दर्शन सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि वे प्रभु स्वप्रकाश होनेके कारण मनकी वृत्तिके अगोचर हैं। विशेषतः वे ईश्वर अर्थात् परम स्वतन्त्र और सबके नियन्ता हैं। यदि आपत्ति हो कि मन असीम है, अतः मनके द्वारा भी उस असीम वस्तुके दर्शनमें जो दर्शनसुख प्राप्त होता है, वह स्वभावतः असीम होता है, किन्तु सीमित चक्षु द्वारा जो दर्शनसुख प्राप्त होता है वह अल्प होता है। इसकी मीमांसामें कहते हैं—घनसुखात्मक उन भगवान्की जिस किसी प्रकारसे भी उपासना होनेसे घनसुख ही प्राप्त होता है। अर्थात् मनके द्वारा ध्यान या चक्षुके द्वारा दर्शनादिरूप जिस किसी प्रकारसे भी उपासित होने पर वे अपने उपासकको परम सुख ही प्रदान करते हैं, क्योंकि वे स्वयं ही घनसुखस्वरूप हैं॥१७८॥

दृग्भ्यां प्रभोर्दर्शनतो हि सर्वत
स्तत्तत्प्रसादावलिलब्धिरीक्ष्यते ।
सर्वाधिकं सान्द्रसुखञ्च जायते
साध्यन्तदेव श्रवणादिभक्तितः॥१७९॥

श्लोकानुवाद—चक्षु द्वारा जो भगवान्का दर्शन होता है, उसीसे प्रभुका विविध प्रकारका अनुग्रह प्राप्त होता है तथा उस चक्षु-दर्शनमें ध्यान-दर्शनसे भी अधिक घनसुख प्राप्त होता है, अतः चक्षु इन्द्रिय द्वारा दर्शन ही श्रवणादि नवधा भक्तिका भी फल है॥१७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ च भावनाया दर्शनात् साक्षाद्दर्शनस्य फलविशेषो दृश्यत इत्याहुः—दृग्भ्यामिति त्रिभिः। दृग्भ्यां दर्शनादेव तासां सुप्रसिद्धानां कर्दमादि-ध्रुवादि-विषयकाणां प्रसादावलीनां लब्धिः प्राप्तिः सर्वत्र ईक्ष्यते साक्षादनुभूयते। एवञ्च तपोलोके पिप्पलायनोक्तं यत् समाधिविषयकदर्शनेऽपि श्रीब्रह्मणस्तादृश-प्रसादप्राप्त्यादिकं तच्च तं प्रत्येव, कदाचित् न तु प्रायिकमित्येवं परिहरणीयम्। किञ्च, सर्वतोऽधिकं सान्द्रं सुखञ्च दृग्भ्यां दर्शनादेव जायते। तद्दृग्भ्यां दर्शनमेव श्रवणादिभिर्भक्तिप्रकारैः साध्यम्। आदिशब्देन कीर्त्तन-स्मरणादि। अतो मानसिकस्य ध्यान-धारणादिरूपभक्तिप्रकारस्यापि साक्षाद्दर्शनमेव फलमिति भावः॥१७९॥

भावानुवाद—भावना द्वारा मानस-दर्शनकी तुलनामें चक्षु द्वारा साक्षात् दर्शनमें विशेष फल देखा जाता है। इसे बतलानेके लिए 'दृग्भ्याम्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। चक्षु द्वारा भगवान्के दर्शनमें ही अनन्त प्रकारका अनुग्रह प्रदर्शित होता है। सुप्रसिद्ध कर्दम ऋषि और ध्रुव इत्यादिके विषयमें आलोचना करनेसे श्रीभगवान्के अनुग्रहका परिचय प्राप्त होता है तथा अपने दोनों नेत्रों द्वारा भगवान्के साक्षात्कार हेतु उनकी विचित्र कृपा प्राप्तिका विषय भी साक्षात् अनुभव किया जाता है। इस प्रकार तपोलोकवासी महर्षि पिप्पलायनने गोपकुमारको समाधि-दशा अर्थात् ध्यानदर्शन द्वारा श्रीब्रह्माको भगवान्की वैसी कृपा प्राप्तिका वर्णन किया था। उसका तात्पर्य यही है कि ध्यान-दर्शन द्वारा कभी किसी-किसीको ही भगवान्की वैसी कृपा प्राप्त होती है। अतएव श्रीपिप्पलायन द्वारा उक्त जो समाधि विषयक दर्शन है, अर्थात् श्रीब्रह्माके प्रति घटित वैसी कृपा कदाचित् ही किसी पर होती है, सब समय नहीं। किन्तु ऐसे समाधि-दर्शनसे भी साक्षात् दर्शनका वैशिष्ट्य सर्वत्र ही विघोषित हुआ है। विशेषतः चक्षु द्वारा साक्षात् दर्शनमें ही ध्यान-दर्शनसे अधिक घनसुख होता है। अतः दोनों नेत्रों द्वारा दर्शन ही श्रवणादि नवधा भक्तिका साध्य (फल) है। 'आदि' शब्दसे कीर्त्तन, स्मरणादिको भी समझना होगा। अतएव मानसिक ध्यान-धारणादिरूप भक्तिका भी साध्य (फल)—साक्षात् दर्शन ही है॥१७९॥

सर्वेषां साधनानां तत्साक्षात्कारो हि सत्फलम्।
तदैवामूलतो माया नश्येत् प्रेमापि वर्धते॥१८०॥

श्लोकानुवाद—इसका कारण है कि श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार ही समस्त साधनोंका श्रेष्ठतम फल है। उनके साक्षात्कार द्वारा ही माया समूल नष्ट हो जाती है तथा प्रेम भी वर्द्धित होता है॥१८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाहुः—सर्वेषामिति। हि यस्मात्तस्य प्रभोः साक्षात्कार एव सदुत्कृष्टं फलं, तदेव साक्षात्कारे सत्येव आमूलतः मूलं भगवद्विस्मृतिस्तत्पर्यन्तं माया नश्येत्। तदुक्तं प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/२/२१; ११/२०/३०)—*'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥'* इति अत्रात्मनीति आत्मनि स्थितानि कर्माणि संशया ग्रन्थिश्चेति योज्यम्। किंवा आत्मनि परमप्रियतम इत्यर्थः। तदैव प्रेमा भगवद्विषयक-भावविशेषोऽपि वर्धते, साक्षात् तत्सौन्दर्यमाधुर्याद्यनुभवात्॥१८०॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन ही नवधा भक्ति और मानसिक ध्यान-धारणादि रूप भक्तिका भी फल है—'सर्वेषाम्' इत्यादि श्लोक द्वारा इसका कारण बतला रहे हैं। श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार ही समस्त साधनोंका श्रेष्ठतम फल है, क्योंकि श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार होते ही माया अपने मूलसे ही नष्ट हो जाती है अर्थात् भगवान्‌की विस्मृतिरूपा अविद्या तक नष्ट हो जाती है। श्रीमद्भागवत (१/२/२१)में ऐसा कथित है—"श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार होने मात्रसे ही भक्तके हृदयसे समस्त प्रकारके अहंकार रूप बन्धन कट जाते हैं। असम्भावना और विपरीत भावनारूप संशय छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं तथा प्रारब्धादि समस्त कर्मफल क्षय हो जाते हैं।" यहाँ 'आत्मनि' अर्थात् हृदयस्थित बन्धन, संशय और कर्मफल नष्ट हो जाते हैं। अथवा 'आत्मनि' अर्थात् परम प्रेमास्पद ईश्वरके मनमें दृष्ट होनेसे अथवा साक्षात् चक्षु द्वारा दृष्ट होनेसे समस्त संशय और कर्मग्रन्थि छेदन हो जाती है। परन्तु साक्षात् दर्शन द्वारा ही सौन्दर्य-माधुर्यादिके अनुभवसे प्रेम अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्धित विशेष भाव भी वर्द्धित होता है। यहाँ विचारनीय है कि हृदयग्रन्थिका छेदन, संशय नाश तथा समस्त प्रकारके कर्मक्षय भगवान्‌के साक्षात्कारका मुख्य फल नहीं है, गौण फल है, किन्तु भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके प्रति प्रेम ही ऐसे साक्षात्कारका मुख्य फल है॥१८०॥

कायाधवादेर्हृदि पश्यतोऽपि
प्रभुं सदाक्ष्ना किल तद्दिदृक्षा।
तत्र प्रमाणं हि तथावलोकना–
दनन्तरं भावविशेषलाभः ॥१८१॥

श्लोकानुवाद—कयाधुपुत्र श्रीप्रह्लाद अपने हृदयमें प्रभुके दर्शन करने पर भी सर्वदा बाह्य चक्षुसे प्रभुके दर्शन करनेकी अभिलाषा करते थे। इसका प्रमाण है कि समुद्र तट पर प्रभुके साक्षात् दर्शन कर उन्होंने विशेष भावको प्राप्त किया था॥१८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र सतां व्यवहारमपि प्रमाणयन्ति—कायेति। कयाधु-र्हिरण्यकशिपोर्भार्या तस्या अपत्यं श्रीप्रह्लादस्तदादेर्भक्तगणस्य प्रभुं हृदि पश्यतोऽपि अक्ष्ना चक्षुरिन्द्रियेण, यद्वा, जात्यैकत्वम् अक्षिभ्यामित्यर्थः। तस्य प्रभोर्दिदृक्षैव। हि यस्मात्तत्र साक्षाद्दर्शनस्य परमोपादेयत्वादौ प्रमाणम्। किलेति निश्चयेन सदाचारस्य प्रामाण्यं द्योतयति, तथेति समुच्चये। अवलोकात् साक्षाद्दर्शनादनन्तरमेव भावविशेषस्य प्रेमभरस्य लाभश्च। तत्र प्रमाणमेतच्च समुद्रतीरे श्रीभगवद्दर्शनादनु श्रीप्रह्लादस्य प्रेमभराविर्भाववृत्तं हरिभक्तिसुधोदयादनुसन्धेयम्॥१८१॥

भावानुवाद—इस सम्बन्धमें साधुओंका व्यवहार भी एक विशेष प्रमाण है—इसे बतानेके लिए 'काय' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधुके पुत्र श्रीप्रह्लाद और अन्यान्य भक्तों द्वारा अपने-अपने हृदयमें प्रभुके दर्शन करने पर भी वे सर्वदा चक्षु इन्द्रिय द्वारा प्रभुके दर्शन करनेकी अभिलाषा करते थे। यही साक्षात् दर्शनकी परम उपयोगिताका प्रमाण है। साक्षात् दर्शनके द्वारा विशेष भाव या प्रेम वर्द्धन होता है तथा इस विषयमें प्रमाण है कि श्रीप्रह्लादने समुद्रतट पर श्रीभगवान्के साक्षात् दर्शनसे विशेष भावको प्राप्त किया था—ऐसा हरिभक्ति-सुधोदयमें वर्णित हुआ है॥१८१॥

कृष्णस्य साक्षादपि जायते यत्
केषाञ्चिदक्षिद्वयमीलनादि ।
ध्यानं न तत् किन्तु मुदां भरेण
कम्पादिवत् प्रेमविकार एषः ॥१८२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने पर भी यदि किसीके दोनों नेत्र मुद्रित हो जायँ, तब उसे ध्यान नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इस नेत्र मुद्रणको प्रचुर आनन्दवशतः कम्पादिके समान प्रेमविकार ही जानो॥१८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि *'ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोषमुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम्। लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रिद्वन्द्वं नखारुणमणि-श्रयणं निदध्युः॥'* (श्रीमद्भा॰ ३/१५/४४) इत्यादौ वैकुण्ठे साक्षाद्दर्शनेऽपि सनकादीनां ध्यानं श्रूयते? तत्राहुः—कृष्णस्येति। अक्षिद्वयस्य मीलनं मुद्रणम्। आदिशब्देन अङ्गेन्द्रिय-चेष्टादि-राहित्यं तद्ध्यानं ध्यानलक्षणं न भवति। यद्वा, तत्तस्मादक्षिमिलनादेर्हेतोर्ध्यानं न मन्तव्यमित्यर्थः। ध्येयस्यैव साक्षात्प्राप्तेः। एषः अक्षिनिमीलनादिरूपः प्रेम्णो विकारो बाह्यलक्षणप्रकारः कम्पादिर्येषां स्वेदरोमाञ्चाश्रुपातादीनां तद्वत्। अतो ध्यानसादृश्यात् ध्यानमित्युच्यते न तु तत्त्वतस्तद्ध्यानमिति भावः। एवं साक्षाद्दर्शनस्यैव परमफलत्वं साधितम्॥१८२॥

भावानुवाद—श्रीमद्भागवत (३/१५/४४)में कथित है—"श्रीसनकादि समस्त योगिन्द्रगण ऊपरकी ओर दृष्टिपात कर नीलकमलके समान श्रीभगवान्के मुख, अरुणवर्णके समान मनोहर अधर और कुन्दपुष्पके समान उनके मधुर हास्यका दर्शन कर अत्यन्त आनन्दित हुए। तदनन्तर उन्होंने नीचेकी ओर दृष्टि करके उनकी नखमणिसे शोभित अरुणवर्णसे युक्त श्रीचरणयुगलके दर्शन किये। इस प्रकार एक ही समयमें समस्त अङ्गोंकी लावण्यराशि अनुभव करनेकी वासनासे वे बार-बार ऊपर तथा नीचेकी ओर दृष्टिपात करने लगे। किन्तु एक ही समयमें ऊपर और नीचे दृष्टिपात करना असम्भव होनेके कारण उनकी वासना पूर्ण नहीं हुई, इसलिए वे नेत्र मुद्रितकर ध्यानस्थ हो गये, तब श्रीभगवान्ने उन्हें अपने समस्त अङ्गोंके रूप-लावण्यराशिका एक साथ दर्शन कराया।"

यदि आपत्ति हो कि इस उपाख्यानसे वैकुण्ठलोकमें श्रीसनकादिके द्वारा साक्षात् दर्शन करनेके बाद भी ध्यानके विषयमें सुना जाता है तथा इससे समझा जाता है कि साक्षात् दर्शनकी तुलनामें ध्यान ही श्रेष्ठ है। इस विषयका सिद्धान्त स्पष्ट करनेके लिए 'कृष्णस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने पर भी

जिनके दोनों चक्षु मुद्रित हो जाते हैं, उस चक्षुमुद्रणको ध्यान नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण है कि ध्येयवस्तुकी साक्षात् प्राप्ति ही ध्यानका फल है। अतः इस प्रकार चक्षु-मुद्रणादि क्रियाको प्रेमका विकार अर्थात् श्रीकृष्णदर्शनसे उत्पन्न प्रचुर आनन्दवशतः स्वेद-रोमाञ्च-अश्रुपात और कम्पादिकी भाँति प्रेमके बाह्य लक्षणके रूपमें ही जानना होगा। यहाँ ध्यानकी भाँति होनेके कारण 'ध्यान' शब्दसे कथित होने पर भी वास्तवमें वह ध्यान नहीं है। इस प्रकारसे साक्षात् दर्शनका ही परम फल सिद्ध होता है॥१८२॥

ध्यानं परोक्षे युज्येत न तु साक्षान्महाप्रभोः।
अपरोक्षे परोक्षेऽपि युक्तं संकीर्त्तनं सदा॥१८३॥

श्लोकानुवाद—भगवान्का ध्यान उनकी अनुपस्थितिमें ही सङ्गत होता है, उनके साक्षात् विद्यमान रहने पर नहीं। परन्तु संकीर्त्तन भगवान्के साक्षात् विद्यमान रहने पर अथवा न रहने पर सदैव ही युक्तिसङ्गत होता है॥१८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्तु तावत् साक्षात्कारतो ध्यानस्य न्यूनता, कीर्त्तनादपि सिध्येदिति प्रकृतमुपसंहरन्तः, पूर्वोक्तमपि भगवन्नाम-संकीर्त्तन-माहात्म्यं *'मधुरेण समापयेत्'* इति न्यायेन सयुक्तिकमाहुः—ध्यानमिति द्वाभ्याम्। महाप्रभोर्ध्यानं साक्षादपरोक्षे न तु युज्येत सर्वत्र लोकरीत्यनुभव-प्रामाण्यात् संकीर्त्तनम् तु सदैव युक्तम्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/३३/७) रासक्रीड़ायाम्—*'गायन्त्यस्तं तड़ित इव ता मेघचक्रे विरेजुः'* इति। विष्णुपुराणे च—*'कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीकुमुदाकरम्। जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः॥'* इति। तथा *'रासगेयं जगौ कृष्णो यावत्तारायतध्वनिः। साधु कृष्णेति कृष्णेति तावत्ता द्विगुणं जगुः॥'* इति। परोक्षे च कीर्त्तनं सुप्रसिद्धमेव दशमस्कन्धादौ गोपिका-गीतानुगीतोद्धवयानादिषु॥१८३॥

भावानुवाद—चक्षु द्वारा श्रीभगवान्के साक्षात्कारकी तुलनामें ध्यानयोगमें भगवान्के दर्शनकी न्यूनताकी बात तो दूर रहे, कीर्त्तनसे ही ध्यानकी न्यूनता सर्वत्र परिलक्षित होती है। इस प्रकार प्रसंगको समाप्तकर पूर्वोक्त भगवान्के नामसंकीर्त्तनके माहात्म्यको 'मधुरेण समापयेत्' (मधुर रूपमें समाप्त करना)—इस न्यायानुसार पुनः युक्तिसहित कहनेके लिए 'ध्यानम्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। भगवान्का ध्यान परोक्षमें

(उनकी अनुपस्थितिमें) सर्वत्र ही युक्तियुक्त होता है, किन्तु अपरोक्षमें अर्थात् उनके साक्षात् विद्यमान रहने पर युक्तियुक्त नहीं होता, परन्तु लोकरीतिके अनुभवरूप प्रमाणसे भी सिद्ध होता है कि कीर्त्तन अपरोक्ष और परोक्षमें सर्वत्र ही युक्तियुक्त होता है।

श्रीमद्भागवतके रास-पञ्चाध्याय (१०/३३/७)में इस विषयका विशेष प्रमाण है कि अपरोक्षमें अर्थात् श्रीकृष्णके सामने ही गोपियोंने संकीर्त्तन किया—"समस्त गोपियाँ श्रीकृष्णको घेरकर—'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' गान करते-करते मेघचक्रमें विद्युत्मालाके समान अर्थात् बादलोंमें बिजली चमकनेके समान विराजने लगीं।" विष्णुपुराणमें भी ऐसा उक्त है—"श्रीकृष्ण स्वयं शरत् ऋतुके चन्द्र, जिसकी चाँदनी रात्रिकालमें सरोवरमें कुमुदको खिला देती है, की महिमा गान करने लगे तथा समस्त गोपियाँ भी केवल 'कृष्ण, कृष्ण' नाम पुनः-पुनः गान करने लगीं। इस प्रकारसे रासके उपयोगी समस्त गान श्रीकृष्ण द्वारा गाये गये और यह गीत जितना उच्च होना सम्भव हुआ उतने उच्च स्वरसे गान हुआ, किन्तु समस्त गोपियाँ श्रीकृष्णको साधुवाद प्रदानकर केवल 'कृष्ण कृष्ण' कहकर उनसे भी दोगुने उच्च स्वरसे गान करने लगीं।" परोक्ष (अनुपस्थितिमें) भी कीर्त्तन सर्वत्र ही सुप्रसिद्ध है जैसा कि दशम-स्कन्धमें गोपी-गीत, उद्धवके व्रज आगमनके समय, भ्रमर-गीत इत्यादि॥१८३॥

श्रीमन्नाम प्रभोस्तस्य श्रीमूर्त्तेरप्यतिप्रियम्।
जगद्धितं सुखोपास्यं सरसं तत्समं न हि॥१८४॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌को श्रीनाम अपनी श्रीमूर्त्तिसे भी अधिक प्रिय है, क्योंकि वह नाम जगतका हितकारी, सहज उपास्य तथा रससे पूर्ण है। अतएव उस नामकी तुलनामें अन्य कुछ भी नहीं है॥१८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः श्रीभगवन्नाम-संकीर्त्तनमेवास्माभिर्नितरां प्रशस्यत इत्याहुः—श्रीमदिति। सर्वशोभासम्पत्त्यतिशययुक्तं सदा सर्वत्र सर्वेष्वेव निजमहिमभरेण प्रकाशमानत्वात्; अतः श्रीमूर्त्तेर्निजविग्रहादपि सकाशात्तस्य प्रभोः श्रीवैकुण्ठेश्वरस्य भगवतोऽत्यन्तप्रियं *'न तथा मे प्रियतमः'* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१५) इत्यादौ निजश्रीमूर्त्तेः सकाशादप्यन्येषां श्रेष्ठताप्रतिपादनात्, न तु कुत्रापि नाम्नः सकाशात् श्रीमत्त्वमेव विवृण्वन्तोऽतिप्रियत्वे

हेतुमाहुः—जगतो हितमधिकार्यनपेक्षया कथञ्चित् केनापीन्द्रियेण सेवनत एव सर्वलोकोपकारित्वात्; यतः सुखेनोपास्यं सेव्यं, जिह्वाग्रमात्रेणैव सेवनात्। यतः सरसं कोमलं मधुराक्षरमयत्वात्, सच्चिदानन्दरसमयत्वाद्वा। यद्वा, रसैरशेषैरेव सह वर्त्तमानः शृङ्गारादि-नवरसेषु भक्तिरसे प्रेमरसे च तथा विरह-सङ्गमयोश्च परिस्फुरणात्। यद्वा, रसो रागस्तत्सहितमव्यभिचारित्वेनावश्यमेवाशु श्रीभगवत्प्रेमसम्पादनात्। यद्वा, स्वस्मिन् स्वसेवकानां सर्वेषां वा जनानामनुरागजनकत्वात्। यद्वा, रसो वीर्यविशेषः परमशक्तिमत्वात्; यद्वा, गुणविशेषः अखिलदीनजन-निस्तारकत्वात्; यद्वा, सुखविशेषः घनसुखमयत्वात्; माधुर्यविशेषो वा परममधुरत्वादिति दिक्। यथोक्तं—*'मधुर-मधुर'* इत्यादि। अतस्तस्य नाम्न एव समं तत्तुल्यमन्यत् किञ्चिन्नास्तीति निरुपममित्यर्थः॥१८४॥

भावानुवाद—अतएव श्रीभगवान्के नामसंकीर्त्तनको हम सर्वश्रेष्ठ साध्य और साधन मानकर सर्वदा प्रशंसा करते हैं। इसे बतलानेके लिए 'श्रीमन्नाम' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीनामकी महिमा अधिक क्या वर्णन करूँ? भगवान्को श्रीनाम अपनी श्रीमूर्त्तिसे भी अधिक प्रिय है। उस नाम ग्रहणमें अधिकारी-अनधिकारीका विचार नहीं है, इसलिए वह जगतके हितकारीरूपमें सर्वत्र वर्णित हुआ है। यहाँ 'श्रीमन्' शब्दका तात्पर्य है कि समस्त प्रकारकी अत्यधिक शोभा-सम्पत्तिसे युक्त होकर 'नाम' सदा सर्वत्र और समस्त विषयोंमें अपनी महिमामें ही प्रकाशमान है। अतएव श्रीमूर्त्ति (अपने विग्रह)से भी प्रभुको अपना नाम अधिक प्रिय है। श्रीमद्भागवत (११/१४/१५)में वर्णित है—"हे उद्धव! ब्रह्मा, शंकर, सङ्कर्षण, लक्ष्मी यहाँ तक कि मेरी आत्मा भी मुझे इतनी प्रिय नहीं है, जितने तुम मुझे प्रिय हो।" श्रीभगवान्के इस वाक्यसे जाना जाता है कि श्रीभगवान्की आत्मासे भी भक्त उनको अधिक प्रिय हैं, किन्तु श्रीनामसे भक्त प्रिय हैं—ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है।

अतएव नामी अर्थात् श्रीमूर्त्तिसे भी उनका नाम उन्हें अत्यन्त प्रिय है। 'श्रीमत्'का अर्थ प्रकाशकर अब अपने नामके अत्यन्त प्रिय होनेका हेतु बतला रहे हैं। श्रीनाम जगतका हितकारी है तथा जिस प्रकार श्रीनाम लेनेमें अधिकारी-अनधिकारीका विचार नहीं है, उसी प्रकार जिह्वा द्वारा उच्चारण और कानों द्वारा श्रवणसे भी ये नाम समस्त जीवोंका उपकार करते हैं। ये अति सहजरूपमें उपासित होते

हैं अर्थात् जिह्वाके अग्रभागसे भलीभाँति उच्चारित होनेसे ही इनकी उपासना हो जाती है। ये नाम मधुर अक्षरमय होनेके कारण सरस और कोमल हैं, अथवा ये सच्चिदानन्दमय होनेके कारण सरस हैं। इसकी 'सरसता'के सम्बन्धमें और भी व्याख्या की जा सकती है, जैसे—श्रीनामसंकीर्त्तन बहुत रसों सहित विराजमान होनेके कारण सरस है, अर्थात् शृंगारादि समस्त रसोंमें, भक्तिरसमें और प्रेमरसमें श्रीनामकीर्त्तन होते हैं। अथवा मिलन और विरह दोनों अवस्थाओंमें श्रीनामकीर्त्तनमें ही नामीकी स्फूर्ति होनेके कारण श्रीनाम मिलन-सेतु और विरहीका बन्धु है। अथवा 'रस' शब्दका अर्थ है—राग, रागसहित वर्त्तमान रहनेके कारण नाम सरस है; श्रीनामकीर्त्तनमें प्रभु स्वयं स्थिर रूपमें वर्त्तमान रहनेके कारण यह सरस हैं अर्थात् श्रीनाम निश्चितरूपमें अतिशीघ्र श्रीभगवत्प्रेम प्रदान करते हैं।

अथवा ये अपने सेवक (या समस्त उपासकों)में ही प्रेम उत्पन्न करनेके कारण अपने और सेवकोंके बीच परस्पर प्रबल आकर्षण (अनुराग) वर्द्धन करते हैं तथा समस्त लोगोंमें भी अनुराग उत्पन्न करते हैं। अथवा प्रबल शक्ति विद्यमान रहनेके कारण ये अति वीर्यशाली हैं, अतः सरस हैं, क्योंकि 'रस' शब्दका अर्थ है—वीर्यविशेष। गुणको भी रस कहा जाता है, इनमें समस्त दीनजनोंको निस्तार करनेका गुण होनेके कारण ही ये सरस हैं। अथवा रसका अर्थ है—'सुख', ये सच्चिदानन्दघन सुखस्वरूप होनेके कारण सरस हैं, अथवा रस अर्थात् माधुर्यविशेष—ये परम मधुर रसमय होनेके कारण सरस हैं। इसलिए भगवान् वेदव्यासने कहा है, "हे भृगुवर! मधुरसे भी मधुर, मङ्गलसे भी मङ्गल, समस्त वेदरूपी कल्पलताका सारफल चित्स्वरूप कृष्णनाम है। जो कोई मनुष्य हेला या श्रद्धासे मात्र एक बार भी श्रीनामका उच्चारण करता है, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिके लिए प्रयास नहीं किये जाने पर भी शीघ्र ही वह श्रीभगवान्का सान्निध्य प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है।" अतएव श्रीनामके समान अन्य कुछ भी नहीं होनेके कारण ये निरुपम है॥१८४॥

तन्मानयञ्छिवस्याज्ञामितो निःसर सत्वरम्।
कृष्णप्रियतमां श्रीमन्मथुरां त्वां नमाम ताम्॥१८५॥

श्लोकानुवाद—अतएव अभी तुम हमारे उपदेश और श्रीशिवकी आज्ञानुसार शीघ्र ही इस मुक्तिपदसे श्रीकृष्णकी प्रियतम उस श्रीमथुरापुरीमें जाओ। हम भी उस मथुराको प्रणाम करते हैं॥१८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तस्य हितकृत्योपदेशं समापयन्तो निजागमन-प्रयोजनमभिव्यञ्जयन्ति—तदिति। तस्मादुक्तन्यायात् इतो मुक्तिपदात् सत्वरं निःसर। एवं श्रीशिवस्यापि सन्तोषणं स्यादित्याहुः—शिवस्याज्ञां पदं विघ्नसमं त्यजेत्यादिरूपां सम्मानयन्। ननु सुदूरं मुक्तिपदमिदमागतस्य मे त्वरया श्रीमथुराप्राप्तिः कथं स्यात्तत्राहुः—कृष्णेति। तां तदीयामविलम्बेन सर्वार्थसिद्धि-प्रदायिनीमिति। कुतः? श्रीकृष्णस्य प्रियतमाम्॥१८५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे वैकुण्ठ पार्षदगण गोपकुमारके प्रति हितकर उपदेश समाप्तकर 'तन्मानयन्' इत्यादि श्लोक द्वारा अपने आगमनका प्रयोजन निर्देश कर रहे हैं। अतएव उक्त न्यायानुसार इस मुक्तिपदसे शीघ्र चले जाओ अर्थात् अभी तुम हमारे उपदेश और श्रीशिवकी आज्ञानुसार शीघ्र ही इस स्थानसे उस श्रीमथुराधाममें चले जाओ। श्रीशिवकी प्रीतिके लिए भी उनकी आज्ञा—'यह स्थान भक्तिविघ्न स्वरूप है, अतः शीघ्र ही इसका त्याग करो'का सम्मान करो। यदि आपत्ति हो कि सुदूर मुक्तिपदमें बहुत कष्टपूर्वक आया हूँ, अतः मैं तुरन्त उस मथुरामें किसलिए जाऊँगा? इसके लिए कहते हैं—श्रीकृष्णकी प्रियतमा होनेके कारण श्रीमथुरापुरी शीघ्र ही समस्त प्रकारकी सिद्धि प्रदान करती है॥१८५॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

निपीय हृत्कर्णरसायनं तत्
प्रमोदभारेण भृतो नमंस्तान्।
शिवौ च सद्यो व्रजभूमिमेतां
तैः प्रापितोऽहं वत मुग्धबुद्धिः॥१८६॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते श्रीगोलोकमाहात्म्यखण्डे
भजननामा तृतीयोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! वैकुण्ठ पार्षदोंसे हृदय तथा कानोंको आनन्द प्रदान करनेवाले उपदेश श्रवणकर मैंने हर्षपूर्वक उन पार्षदों और श्रीपार्वती सहित श्रीशिवको प्रणाम किया और (उनकी कृपासे) उसी क्षण इस व्रजभूमिमें आ पहुँचा। परन्तु इस घटनासे मैं अत्यन्त मुग्ध हो गया॥१८६॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके तृतीय अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तेषां वचनं हृत्-कर्णानां रसायनरूपं निपीय प्रमोदस्य भारेण भृतः पूर्णः सन् तान् पार्षदान् शिवौ च शिवं शिवाञ्च नमन् सद्यस्तत्क्षण एव तैः पार्षदादिभिरेतां व्रजभूमिमहं प्रापितः। वत हर्षे विस्मये वा। मुग्धा मोहं गता बुद्धिर्यस्य सः। तत्राष्टाङ्ग-नमस्कारे प्रवृत्तौ निमीलिताक्षोऽहं *'कथमत्र सद्य एवानीतः'* इत्यादिकं किमपि बोद्धमशक्नुवन्नित्यर्थः॥१८६॥

इति श्रीमद्भागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां द्वितीयखण्डे तृतीयोऽध्यायः।

भावानुवाद—(श्रीगोपकुमारने कहा—) उन वैकुण्ठ पार्षदोंके द्वारा कथित हृदय और कानोंको रस (अमृत) प्रदान करनेवाले वचन सुनकर मैं आनन्दसे परिपूर्ण हो गया तथा फिर उन पार्षदोंको और श्रीपार्वतीसहित श्रीशिवको प्रणाम करते ही तुरन्त इस व्रजभूमिमें आ पहुँचा। वस्तुतः इस घटनासे मैं हर्ष और विस्मयसे मुग्ध हो गया। विस्मित होनेका कारण था कि मैंने दण्डवत् प्रणाम करते समय अपनी आँखें मूँद रखी थीं, किन्तु नेत्र खोलते ही किस प्रकार मैं तुरन्त इस व्रजभूमिमें आ पहुँचा, मैं इसे बिल्कुल ही समझ न सका, इसलिए विस्मित हुआ॥१८६॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके तृतीय अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः (वैकुण्ठः)

श्रीगोपकुमार उवाच—

एकाकिनात्र भ्रमता मयाऽस्या,
भूमेः श्रियं कुत्रचिदप्यदृष्टाम्।
संपश्यता संवसता वनान्तः,
सर्वं विमोहादिव विस्मृतं तत्॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! मैं इस व्रजभूमिमें अकेला भ्रमण करने लगा और मैंने इस व्रजभूमिकी जैसी शोभा देखी, वैसी अन्यत्र कहीं भी नहीं देखी। इस वनमें वास करते समय इसकी अपूर्व शोभाको निहारते हुए मैं ऐसा विमोहित हुआ कि वैकुण्ठ प्राप्तिके साधनको भी भूल गया॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

तुर्ये वैकुण्ठ-तद्वासिरूपादेस्तत्त्वमुच्यते।
प्रतिमामहिमाप्यूर्ध्वेऽयोध्यातो द्वारकागमः॥

तत्रादौ निखिलप्रपञ्चान्मुक्तिपदादपि श्रीमाथुरव्रजभूमेर्माहात्म्यं दर्शयति—एकाकिनेति। अत्र व्रजभूमौ अस्याः श्रीवृन्दावनादिरूपाया भूमेः श्रियं शोभां सम्पश्यता। शोभाया असाधारणतामाह—कुत्रचिद्ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिश्च मुक्तिपदेऽपि अदृष्टामतो वनानामन्तर्मध्ये निवसता तत्पार्षदोक्तं श्रीवैकुण्ठलोकसाधनानुष्ठानादिकं सर्वमेव विस्मृतं विमोहादिवेति यथात्यन्तमोहात् सर्वं विस्मृतं भवेत्तथेत्यर्थः। यद्वा, विस्मृतमिवेत्यन्वयः। ततश्च विमोहादिति एतद्भूमिशोभया चित्ताकर्षणादित्यर्थः। एवं मथ्नाति सर्वेषां मनो विलोड़यतीति मथुरा-शब्दार्थो ध्वनितः॥१॥

भावानुवाद—इस चतुर्थ अध्यायमें वैकुण्ठ और वहाँके निवासियोंका स्वरूपादि तत्त्व और प्रतिमाओंकी महिमा वर्णन की गयी है। अन्तमें श्रीगोपकुमारके द्वारा वैकुण्ठके ऊपर स्थित अयोध्या और अयोध्याके ऊपर स्थित द्वारका जानेका वृत्तान्त कहा गया है।

सर्वप्रथम समस्त प्रपञ्च और मुक्तिपदसे भी श्रीमाथुर व्रजभूमिका माहात्म्य 'एकाकिन्' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! मैं इस व्रजभूमिमें अकेला भ्रमण करने लगा और इस व्रजभूमिमें श्रीवृन्दावनादिकी अपूर्व शोभा देखने लगा। मैंने ऐसी असाधारण शोभाको ब्रह्माण्डमें या उसके बाहर यहाँ तक कि मुक्तिपदमें भी नहीं देखा था। उस शोभाको निहारते हुए इस वनमें वासकर मैं इतना विमोहित हुआ कि वैकुण्ठ पार्षदों द्वारा कथित वैकुण्ठ-लोक प्राप्त करनेसे सम्बन्धित साधन-अनुष्ठानादि सब कुछ भूल गया। वास्तवमें व्रजभूमिकी शोभाने मेरे मनको आकर्षित कर लिया था, क्योंकि ऐसी शोभा या सुख मैंने अन्य किसी भी स्थान पर अनुभव नहीं किया था। 'मथुरा' शब्दका ध्वनित अर्थ है—जो सबके मनको मथकर अपने अलावा अन्य सब कुछ विस्मरण करा दे॥१॥

श्रीमन्मधुपुरीं क्रीड़ाभ्रमणक्रमतो गतः।
तत्र माथुरविप्रेभ्योऽश्रौषं भागवतादिकम्॥२॥

श्लोकानुवाद—एकबार क्रीड़ावशतः भ्रमण करते-करते मैं श्रीमथुरापुरीमें उपस्थित हुआ। वहाँ मैंने माथुर ब्राह्मणोंके मुखसे श्रीभागवतादि भक्तिशास्त्रोंका श्रवण किया॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि श्रीमथुरानाथ-प्रसादात् सर्वमेव सम्पन्नमित्याह—श्रीमदित्यादिना। क्रीड़या यद्भ्रमणं तस्य क्रमेण पर्यायानुल्लंघनेन। तत्र पुर्याम्; भागवतमादिर्मुख्यं यस्य शास्त्रस्य तत्प्रायः श्रीभागवतमन्यच्च तदनुवर्ति-भगवद्भक्ति-प्रतिपादकं किञ्चिदश्रौषमित्यर्थः॥२॥

भावानुवाद—तथापि श्रीमथुरानाथकी कृपासे मेरे समस्त अभीष्ट पूर्ण हुए—इसे बतानेके लिए 'श्रीमन्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस प्रकार क्रीड़ावशतः भ्रमण करते-करते किसी समय मैं श्रीमधुपुरीमें उपस्थित हुआ। यहाँ 'क्रीड़ावशतः भ्रमण' कहनेका तात्पर्य है—श्रीव्रजभूमिके भ्रमण-क्रममें उल्लंघन होना। उस श्रीमथुरापुरीमें मैंने माथुर ब्राह्मणोंकी कृपासे भागवतादि शास्त्र अर्थात् समस्त शास्त्रोंमें मुख्यतम श्रीमद्भागवतका अधिकांश रूपसे और उसके अनुवर्ती

भगवद्भक्तिका भलीभाँति बोध करानेवाले अन्यान्य भक्तिग्रन्थोंका किञ्चित् रूपमें श्रवण किया॥२॥

भक्तिं नवविधां सम्यग्ज्ञात्वेदं वनमागतः।
अपश्यं सहसैवात्र श्रीमद्गुरुवरं निजम्॥३॥

श्लोकानुवाद—उस श्रवणके फलस्वरूप मुझे नवधा भक्तितत्त्वका भलीभाँति बोध हुआ और मैं पुनः इस श्रीवृन्दावनमें उपस्थित हुआ। यहाँ सहसा मैंने अपने श्रीगुरुदेवके दर्शन किये॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च नवविधां भक्तिं सम्यक् तत्प्रतिकूलानुकूलहेयोपादेयता-विवेचनादि-साधुप्रकारेण ज्ञात्वा इदं श्रीवृन्दावनाख्यम्। अत्रेति यत्रायमहं निविष्टोऽस्मि, अस्मिन्नेव स्थाने इत्यर्थः॥३॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् नवधा भक्तितत्त्वको भलीभाँति अर्थात् उसके प्रतिकूल और अनुकूल तथा हेय और उपादेयके विवेचन द्वारा अच्छी प्रकारसे जानकर मैं इस श्रीवृन्दावनमें लौट आया। यहाँ अर्थात् जहाँ पर मैं अभी बैठा हुआ हूँ, इसी केशीतीर्थ पर अचानक मुझे अपने श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए॥३॥

पूर्ववद्राजमानोऽसौ दृष्ट्वा मां प्रणतं मुदा।
साशीर्वादं समालिङ्ग्य सर्वज्ञोऽकृपयत्तराम्॥४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगुरुदेवके देहमें किसी प्रकारका भी परिवर्तन नहीं हुआ था। उनके दर्शनकर मैंने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और उन्होंने आशीर्वाद देते हुए मुझे आलिङ्गन किया। फिर उन सर्वज्ञ गुरुवरने अत्यधिक कृपा सहित मुझे परम रहस्यपूर्ण भक्तितत्त्वका उपदेश दिया॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—असौ गुरुवरः पूर्ववद्राजमान इति निर्विकारित्वादि-भगवदवतारलक्षणं माथुरव्रजभूमिरसिकत्वञ्च दर्शितम्। अकृपयत्तरामत्यन्तं कृपां कृतवान्, अखिलं परमरहस्यं भक्तितत्त्वमनुभवपर्यन्तमुपादिशदित्यर्थः; यतः सर्वज्ञः॥४॥

भावानुवाद—श्रीगुरुवर पूर्वकी भाँति विकार रहित अर्थात् देहकी अवस्थामें परिवर्तनसे रहित होकर विराजमान थे—इसके द्वारा उनके भगवदवतार होनेका लक्षण तथा माथुर-व्रजभूमिके प्रति रसिकता

प्रदर्शित हुई है। मैंने उनके दर्शन करते ही उनको दण्डवत् प्रणाम किया और उन्होंने मुझे आशीर्वाद देते हुए आलिङ्गन किया। इसके बाद उन सर्वज्ञ गुरुदेवने कृपापूर्वक मुझे परमरहस्यपूर्ण समस्त भक्तितत्त्वका अपने अनुभव सहित उपदेश दिया॥४॥

तस्य प्रसादमासाद्य महागूढ़प्रकाशकम्।
अन्वतिष्ठं यथादिष्टं भक्तियोगमनारतम्॥५॥

श्लोकानुवाद—महागूढ़-भक्तितत्त्वका प्रकाश करनेवाली श्रीगुरुदेवकी कृपाके प्रभावसे मुझे भक्तितत्त्वका बोध हुआ तथा फिर उनकी आज्ञाके अनुसार मैं निरन्तर भक्तियोगका पालन करने लगा॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—महागूढं परमरहस्यं भक्तितत्त्वं प्रकाशयतीति तथा तं प्रसादमासाद्य यथादिष्टं गुरुवराज्ञानुसारेणेत्यर्थः। भक्तिरेव योगः श्रीवैकुण्ठलोक-प्राप्त्युपायः, भगवच्चरणारविन्दसंयोगरूपो वा, तमन्वतिष्ठं साधयितुं प्रवृत्तोऽहम्॥५॥

भावानुवाद—महागूढ़ अर्थात् परमरहस्यमय भक्तितत्त्वका प्रकाश करनेवाली श्रीगुरुदेवकी कृपाको प्राप्तकर उनके आदेशानुसार मैं वैकुण्ठलोक प्राप्त करनेका उपाय अथवा भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका संयोग करानेवाला जो भक्तियोग है—उसका निरन्तर अनुष्ठान करने लगा॥५॥

सञ्जातेनाचिरात् प्रेमपूरेण विवशोऽभवम्।
न कर्तुमशकं किञ्चित् परं तं समकीर्त्तयम्॥६॥

श्लोकानुवाद—उस अनुष्ठानके प्रभावसे शीघ्र ही मुझमें प्रेम उदित हुआ। किन्तु प्रेमकी विवशताके कारण मैं पूजादि कुछ भी नहीं कर पाता, केवल उच्च स्वरसे नामसंकीर्त्तन ही करता रहता॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्चाविलम्बमेव प्रेमभक्तिर्मे सम्पन्नेत्याहु—सञ्जातेनेति त्रिभिः। किञ्चित् पूजादिकं कर्तुं नाशकं प्रेमवैवश्यात्, परं केवलं तन्निजेष्टदेवं सम्यक् सुस्वरमुच्चैरकीर्त्तयम्॥६॥

भावानुवाद—उस भक्तियोगके प्रभावसे शीघ्र ही मुझमें प्रेमभक्ति उत्पन्न हो गयी—इसे बतानेके लिए 'सञ्जातेन' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। प्रेमकी विवशताके कारण मैं पूजादि अनुष्ठान करनेमें

समर्थ नहीं होता, परन्तु सुन्दर और उच्च स्वरसे केवल अपने इष्टदेवका नामसंकीर्त्तन ही करता रहता॥६॥

श्रीकृष्ण गोपाल हरे मुकुन्द,
गोविन्द हे नन्दकिशोर कृष्ण।
हा श्रीयशोदातनय प्रसीद,
श्रीबल्लवीजीवन राधिकेश॥७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण! गोपाल! हरे! मुकुन्द! गोविन्द! हे नन्दकिशोर कृष्ण! हा श्रीयशोदाके प्रिय पुत्र, मुझ पर प्रसन्न होओ! हा श्रीबल्लवी-जीवन! राधिकेश!॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्प्रकारमेवाह—श्रीकृष्णेति। एतानि देशनामानि तस्य प्रियतमानीति बोद्धव्यम्॥७॥

भावानुवाद—उस नामसंकीर्त्तनके प्रकारको बतानेके लिए 'श्रीकृष्ण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्ण! गोपाल! हरे! मुकुन्द! इत्यादि। इस प्रकारसे उनके नामोंका गान करता, क्योंकि मैं इन समस्त नामोंको अर्थात् प्रियजनोंके नामोंसे संयुक्त श्रीकृष्णके नामोंको उनके प्रियतम रूपमें मानता॥७॥

एवं सगानं बहुधाह्वयंस्तं,
क्षणं प्रनृत्यन् क्षणमुद्रुदंश्च।
उन्मत्तवत् काममितस्ततोऽहं
भ्रमामि देहादिकमस्मरन् स्वम्॥८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार गानसहित अपने इष्टदेवका आह्वान करते-करते मैं कभी नृत्य करता तथा कभी उन्मत्तकी भाँति अपनी देहादिको भी भूलकर इधर-उधर भ्रमण करता॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च निःशेषमेव बाह्यमनुसन्धानमप्यन्तर्हितमित्याह—एवमिति। गानेन सुस्वरं वा गायति गाथया सहितं यथा स्यात्, बहुधा *'क्वासि क्वासि महाभुज'* इत्यादि-बहुप्रकारेण तं श्रीभगवन्तमाह्वयन् सन्। उन्मत्तवत् स्वं स्वीयं देहादिकमस्मरन् अननुसन्धानः कामं यथेष्टमितस्ततोऽहं भ्रमामि। आदि-शब्देन दैहिकादि॥८॥

भावानुवाद—इस प्रकार नाम गान करते-करते अन्तमें मेरा बाह्य ज्ञान तक तिरोहित हो गया—इसे बतानेके लिए 'एवम्' श्लोक कह रहे हैं। मैं कभी नृत्य, कभी रोदन और कभी सुस्वरमें गान करता या कभी गुणगाथा सहित गान करता। "हे महाभुज! आप कहाँ हो, दर्शन दो"—इत्यादि रूप बहुत प्रकारसे श्रीभगवान्‌का आह्वान करता तथा कभी उन्मत्तकी भाँति अपनी देहादिको भूल कर इधर-उधर इच्छानुसार भ्रमण करता। 'आदि' शब्दका अर्थ है कि मुझे देहसे सम्बन्धित विषयोंका भी विस्मरण हो जाता॥८॥

एकदा तं निजप्राणनाथं पश्यन्निवाग्रतः।
धर्तुं धावन् गतो मोहं न्यपतं प्रेमविह्वलः॥९॥

श्लोकानुवाद—एकबार अपने प्राणनाथको सामने देखकर उनको पकड़नेके लिए धावित होते ही मैं प्रेमकी विह्वलतावशतः मूर्च्छित हो गया॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेम्णा विह्वलो विवश इति सर्वत्रैव हेतुः॥९॥

भावानुवाद—प्रेमकी विह्वलता या विवशता ही गोपकुमारके सर्वत्र मूर्च्छित होनेका कारण है॥९॥

तावत्तैः पार्षदैरेत्य वैकुण्ठं नेतुमात्मनः।
यानमारोपितः सद्यो व्युत्थायाचालयं दृशौ॥१०॥

श्लोकानुवाद—उस समय पार्षदगण मुझे वैकुण्ठ ले जानेके लिए आये और तुरन्त मुझे विमान पर चढ़ा लिया। उस समय मेरी मूर्च्छा भङ्ग हुई और मैं चकित होकर इधर-उधर देखने लगा॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तावत्तत्क्षण एव तैः पूर्वमिलितैरेत्यागत्य वैकुण्ठलोकं नेतुम् आत्मनः स्वीयं यानं विमानमारोपितः सन्नहं व्युत्थाय संज्ञां लब्ध्वा दृशोऽचालयमुन्मील्य इतस्ततः प्रसारितवानित्यर्थः॥१०॥

भावानुवाद—उस समय वैकुण्ठ-पार्षद, जिन्होंने मुक्तिपदमें मुझे वैकुण्ठप्राप्तिके साधनका उपदेश दिया था, मुझे वैकुण्ठ ले जानेके लिए आये और उन्होंने तुरन्त मुझे विमानमें चढ़ा लिया। तब मेरी मूर्च्छा भङ्ग हुई और मैं चकित होकर इधर-उधर देखने लगा॥१०॥

सर्वमन्यादृशं दृष्ट्वा विस्मितः स्वस्थतां गतः।
पार्श्वेऽपश्यं पुरा दृष्टांस्तानेवात्मप्रियङ्करान्॥११॥

श्लोकानुवाद—सब कुछ नया-नयासा देखकर मैं विस्मित हो गया। परन्तु कुछ देर बाद मैं स्वस्थ हुआ और देखा कि जिन्होंने मुझे मेरे प्रिय वैकुण्ठप्राप्तिका उपाय निर्देशकर मेरा उपकार किया था, वे पार्षदगण ही मेरे समीप विराजित हैं॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वं स्थानादिकमन्यादृशं निजव्रजभूमिव्यतिरिक्तं दृष्ट्वा पुरा दृष्टान् पूर्वपरिचितान् आत्मनो मम प्रियं श्रीवैकुण्ठप्राप्त्युपायाद्युपदेशेन तत्र नयनेन च कुर्वन्तीति तथा तान्॥११॥

भावानुवाद—मैंने देखा कि व्रजभूमिके अलावा अन्य समस्त स्थान ही नये रूपमें दृष्ट हो रहे हैं और यही मेरे विस्मित होनेका कारण था। तत्पश्चात् अपने निकट उन वैकुण्ठपार्षदोंको देखकर मैं कुछ आश्वस्त हुआ, क्योंकि वे मेरे पूर्व परिचित थे तथा मेरे प्रिय श्रीवैकुण्ठको प्राप्त करनेका उपाय निर्देश कर उन्होंने मेरा उपकार किया था॥११॥

महातेजस्विनां तेजो मुष्णतोऽनुपमं वरम्।
विमानं योग्यमारूढ़ाननिरूप्यं सुरूपवत्॥१२॥

श्लोकानुवाद—वे जिस विमान पर विराजित थे वह अनुपमरूपसे सुशोभित, सुन्दर तथा वर्णसे अतीत था। उस विमानका तेज, महातेजस्वी सूर्यादिके तेजको भी तिरस्कृत कर रहा था॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानेव विशिनष्टि—महेति। महातेजस्विनां सूर्यादीनां तेजो मुष्णतः हरतः वरं सर्वतः श्रेष्ठं विमानारूढ़ान्। कीदृशम्? योग्यमात्मोचितं महातेजस्वितादियुक्तत्वात्। पुनः कीदृशम्? सुशोभनं रूपमाकारविभागादितद्वदपि अनिरूप्यं तत्त्वतोऽनिर्वचनीयं ब्रह्मघनत्वात्; अतएव अनुपमम्॥१२॥

भावानुवाद—विमानकी महिमा विस्तारपूर्वक बतानेके लिए 'महातेजस्विनाम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वैकुण्ठ-पार्षदगण महातेजस्वी सूर्यादिके तेजको भी तिरस्कृत करनेवाले विमान पर आरूढ़ थे। वह विमान कैसा था? उन वैकुण्ठ-पार्षदोंके अनुरूप

महातेजस्वी अर्थात् सुन्दर और सुशोभित था। परन्तु उसका आकार और वैभव निरूपण नहीं किया जा सकता, अर्थात् तत्त्वतः ब्रह्मघन होनेके कारण उसे वचनों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, अतएव वह उपमा रहित था॥१२॥

सम्भ्रमात् प्रणमन्तं मामाश्लिष्याश्वासयन्मुहुः।
ऐच्छन् स्वसदृशं रूपं दातुं युक्तिशतेन ते॥१३॥

श्लोकानुवाद—उन पार्षदोंको गौरव और सम्मान सहित प्रणाम करने पर उन्होंने मुझे आलिङ्गनकर बार-बार आश्वासन प्रदान किया। तत्पश्चात् वे मुझे अपने जैसा रूप ग्रहण करनेके लिए सैकड़ों युक्तियाँ बताने लगे॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते पार्षदा आश्वासयन्—विस्मयं सम्भ्रमञ्च त्यज, वयं ते सखायः, स्वाधीनास्त्वामिमे वैकुण्ठं नयन्तः स्म इत्यादिकमाश्वासनं चक्रुरित्यर्थः ततः स्वसदृशं चतुर्भूजत्वादिविशिष्टं रूपं, युक्तीनां *'मनुष्यशरीरं वैकुण्ठवासयोग्यं न भवेत्तत्रत्यसुखञ्चैतेन गृहीतं न स्यात्'* इत्यादिरूपाणां शतेन दातुमैच्छन्॥१३॥

भावानुवाद—मैंने उन पार्षदोंको गौरव और सम्मानके साथ प्रणाम किया। मुझे ऐसा करते देख उन्होंने मेरा आलिङ्गन किया और बार-बार आश्वासन प्रदानकर कहने लगे—हे गोपकुमार, विस्मय और सम्भ्रम त्याग करो, हम तुम्हारे सखा हैं, तुम्हें वैकुण्ठ ले जायेंगे। फिर उन्होंने मुझे अपने समान चतुर्भुजरूप ग्रहण करानेके लिए बहुत प्रकारकी युक्तियाँ दीं—'मनुष्य शरीर वैकुण्ठवासके अयोग्य है, विशेषतः मनुष्य शरीरके द्वारा वैकुण्ठसुख अनुभव नहीं किया जा सकता है'॥१३॥

तदस्वीकृत्य तु स्वीयं गोवर्द्धनभवं वपुः।
तेषां प्रभावतस्तादृग्गुणरूपाद्यलम्भयम्॥१४॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैंने उनके समान ऐश्वर्यशाली चतुर्भुज रूप ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, तथापि मेरे इस शरीरके गोवर्धनमें जन्म होनेके कारण यह उनके समान प्रभाव तथा रूप, गुण आदिसे युक्त हो गया॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्सारूप्यमस्वीकृत्य स्वीयं मामकमेव वपुः तादृक्पार्षदसदृशं गुणं नित्यत्वसत्यत्वादिकं कान्तिञ्च द्युतिविशेषम्, आदि-शब्देन सर्वसामर्थ्यादि अलम्भयं प्रापयम्। अस्वीकारे हेतुः—गोवर्द्धनमिति॥१४॥

भावानुवाद—वैकुण्ठ पार्षदोंका सारूप्य (चतुर्भुजरूपता) अस्वीकार करने पर भी मेरा गोवर्धनमें जन्मा यह शरीर उनके समान नित्य, सत्य, कान्ति तथा समस्त प्रकारके सामर्थ्यादि गुणोंसे युक्त हो गया। उनके द्वारा प्रस्तावित सारूप्यको अस्वीकार करनेका मुख्य कारण था कि मुझे अपने इस गोवर्धनमें जन्में शरीरको अन्य किसी आकारमें बदलनेकी इच्छा नहीं थी॥१४॥

परमानन्दयुक्तेन दुर्वितर्क्येण वर्त्मना।
जगद्विलक्षणेनाहं वैकुण्ठं तैः सह व्रजन्॥१५॥
तेषु लोकेष्वलोकेष्वावरणेष्वपि सर्वतः।
दृष्टिपातेऽपि लज्जेयं पूज्ये तदधिकारिभिः॥१६॥
लोकपालादिभिश्चोर्ध्वमुखैः साञ्जलिमस्तकैः।
वेगादुत्क्षिप्यमाणाभिः पुष्पलाजादिवृष्टिभिः॥१७॥

श्लोकानुवाद—उनके साथ वैकुण्ठ गमनके समय परमानन्दसे युक्त, जगद्-विलक्षण तथा दुर्वितर्क्य पथसे मैंने जिन समस्त लोकोंको लाँघा था, उन स्वर्गादि लोक और अलोक अर्थात् चौदह भुवनके बाहर तथा अष्ट आवरणादिके प्रति लज्जाके कारण मैं दृष्टिपात नहीं कर सका। उन समस्त लोकोंके अधिकारी इन्द्रादि देवतागण मेरी पूजा करने लगे। लोकपालगण ऊपरकी ओर मुख करके और दोनों हाथोंको जोड़ मस्तक पर रखकर मेरे उद्देश्यसे वेगपूर्वक पुष्प-लाजादि माङ्गलिक द्रव्य अर्पण करने लगे॥१५-१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु पूर्वं सूर्यमण्डलभेदेन वर्त्मना मुक्तिपदं गतोऽसि, वैकुण्ठस्तु केनेत्यपेक्षायामाह—परमेति द्वाभ्याम्। दुर्वितर्क्यत्वे हेतुः—जगतो विलक्षणेन असाधारणेन। यद्वा, जगत् सर्वमेव विलक्षणं यस्मिन् तेन। एवं भक्तिमार्गतुल्यं तदूह्यम्। तदेवाह—परमानन्दयुक्तेनेति। सर्वोत्कृष्टतरमुक्तिपदादपि परमविशिष्टपदस्य प्रापकत्वात् तेषु सानन्दं प्रयत्नेन पूर्वं प्राप्तेषु लोकेषु स्वर्गादिषु अलोकेषु च चतुर्दशलोकबाह्येषु। यद्वा, लोकालोकाचलस्य पार्श्वद्वयवर्तिषु सूर्यालोकानालोकवत्सु

देशेषु आवरणेष्वष्टसु। एवं सर्वत्र दृष्टैः पातेऽपि लज्जेयं लज्जां कुर्याम्। पूर्वं मुक्तिपदारोहण–समये मायिकत्वानुसन्धानेन तत्र तत्र दृष्टिर्गता, अधुना तु मुक्तेरप्यतितुच्छत्वावगमादन्यत्र कुतो दृष्टिरापततु परमघृणास्पदत्वादिति भावः। अतएव तेषां लोकादीनामधिकारिभिर्लोक–पालादिभिरिन्द्रप्रभृतिभिः कर्तृभिर्वेगाज्जवेन ऊर्ध्वं क्षिप्यमाणाभिः पुष्पादिवृष्टिभिः कृत्वा पूज्येऽहमिति परेणान्वयः॥१५–१७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि पहले तो गोपकुमार सूर्यमण्डल भेदकर उस पथसे मुक्तिपदमें गये थे, अभी किस प्रकारसे उन्होंने वैकुण्ठ गमन किया? इस प्रश्नकी आशंकासे 'परमानन्द' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। परमानन्दसे युक्त, जगतसे विलक्षण तथा दुर्वितर्क्य पथ द्वारा मैंने उस वैकुण्ठलोकमें गमन किया था। 'दुर्वितर्क्य' कहनेका कारण है कि वह पथ जगतसे विलक्षण अर्थात् असाधारण है। अथवा उस पथका नाम भक्तिपथ है, जो समस्त अवस्थाओंमें परमानन्दमय होनेके कारण जगतसे विलक्षण है। अथवा वह पथ जिससे गमन करने पर समस्त जगतको विलक्षणरूपमें देखा जाता है और जो सर्वश्रेष्ठतर मुक्तिपदसे भी अति विशेष पद है। उस पदकी प्राप्तिसे उत्पन्न प्रचुर परमानन्दके कारण मैं पूर्वमें प्राप्त स्वर्गादि चौदह लोक तथा उनके बाहर स्थित अलोक अथवा लोकालोक पर्वतोंके पासमें अवस्थित सूर्यलोकादि तथा अनालोक अर्थात् जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं पहुँचता, उन स्थानों और अष्टावरण इत्यादिके प्रति घृणा (लज्जा) वशतः दृष्टिपात भी नहीं कर पाया। अर्थात् पहले मुक्तिपदमें गमनके समय जिन समस्त लोकोंको मायिक (आकर्षणके) रूपमें देखा था, अब उस मुक्तिपदके प्रति ही अतितुच्छ बुद्धि होनेके कारण अन्यत्र दृष्टिपात करना भी घृणाका विषय प्रतीत हुआ। अतएव उन समस्त लोकोंके अधिकारी लोकपालगण और इन्द्र जैसे समस्त देवता दोनों हाथोंको जोड़कर अपने–अपने मस्तक पर रखकर ऊपरकी ओर मुख करके मुझे प्रणाम करने लगे और पुष्प–लाजादि माङ्गलिक द्रव्य मेरे उद्देश्यसे अर्पण कर मेरी पूजा करने लगे॥१५–१७॥

तैः स्तूयमानो जयशब्दपूर्वकं,
प्रणम्यमानश्च पदे पदे चलन्।

तुच्छं पुरो मुक्तिपदञ्च लोचय-
नूर्ध्वं ततः श्रीशिवलोकमव्रजम्॥१८॥

श्लोकानुवाद—उन समस्त लोकोंके अधिकारियोंने 'जय' शब्द उच्चारण कर प्रत्येक स्थान पर मेरी स्तुति करते हुए मुझे प्रणाम किया। मार्गमें अवस्थित मुक्तिपदको भी मैंने तुच्छ मानकर अवलोकन किया। फिर मैंने मुक्तिपदके ऊपरस्थित श्रीशिवलोकमें गमन किया॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—पदे पदे स्थाने स्थाने चलन् गच्छन् सन् तैस्तत्तदधिकारिभिर्जय-शब्दपूर्वकं स्तूयमानः तदनन्तरं तुच्छं मुक्तिपदञ्च पुरः अग्रे लोचयन् पश्यन् सन्। यद्वा, पुरस्थितं मुक्तिपदं तुच्छत्वेनालोचयन् ततो मुक्तिपदादूर्ध्वं श्रीयुक्तं शिवलोकमव्रजं प्राप्तोऽहम्॥१८॥

भावानुवाद—मार्गमें मैंने जिन-जिन स्थानोंसे गमन किया, उन-उन स्थानोंके लोकाधिकारियोंने 'जय' शब्द द्वारा मेरी स्तुति की और मुझे प्रणामादि किया। इसके पश्चात् मैंने मुक्तिपदको तुच्छ मानकर अवलोकन किया। अथवा श्रीशिवलोकका अवलोकनकर मुक्तिपदकी तुच्छता आलोचना करते-करते श्रीशिवलोकमें प्रवेश किया॥१८॥

सोमं शिवं तत्र मुदा प्रणम्य,
तेनादरप्रेमसदुक्तिजालैः　।
आनन्दितो वाक्यमनोदुराप,
माहात्म्यमालं तमगां विकुण्ठम्॥१९॥

श्लोकानुवाद—वहाँ पहुँचकर मैंने श्रीउमादेवीके साथ विराजित श्रीमहादेवको हर्षपूर्वक प्रणाम किया तथा उन्होंने भी आदर और प्रेमयुक्त सुमधुर वचनों द्वारा मुझे आनन्दित किया। तत्पश्चात् मैं वैकुण्ठलोकमें उपस्थित हुआ जिसकी माहात्म्य-माला वाक्य और मनके द्वारा दुष्प्राप्य है॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र श्रीशिवलोके सोममुमया सहितं शिवं, तेन श्रीशिवेन आदरो गौरवं प्रेमसौहार्दं सदुक्तिर्मिष्टवचनं तेषां जालैर्वृन्दैः कृत्वा आनन्दितः सन् तमनिर्वचनीयमाहात्म्यं निजाभीष्टतमं वा विकुण्ठलोकमगां प्राप्तोऽहम्। कीदृशम्? वाक्येन मनसा च दुरापस्य तत्तदतीतस्य माहात्म्यस्य माला श्रेणी यस्य तम्॥१९॥

भावानुवाद—उस श्रीशिवलोकमें पहुँचकर मैंने उमासहित श्रीशिवको प्रणाम किया तथा उन्होंने आदर और प्रेम-प्रकाशक सुमधुर वाक्यों द्वारा मुझे आनन्दित किया। फिर मैंने अनिर्वचनीय माहात्म्ययुक्त अपने अभीष्टतम वैकुण्ठलोकको प्राप्त किया जो वाक्य और मनके लिए सुदुर्गम माहात्म्य-श्रेणी द्वारा परिपूर्ण था॥१९॥

पार्षदैरिदमुक्तोऽहं त्वं तिष्ठेहक्षणं बहिः।
विज्ञाप्य प्रभुमस्माभिः पुरीं यावत् प्रवेक्ष्यसे॥२०॥

श्लोकानुवाद—वहाँ पहुँचकर पार्षदगणोंने मुझे कहा—तुम क्षणकालके लिए इस बाहरी द्वार पर रुको। हम प्रभुको तुम्हारे आगमनका संवाद देंगे, तब तुम पुरीमें प्रवेश करोगे॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इह अस्मिन् बहिर्देशे गोपुर इत्यर्थः। त्वं क्षणमेकं तावत्तिष्ठ। प्रभुं वैकुण्ठनाथं स्वयमेव साक्षाद्विज्ञाप्य केनचित्तदधिकारिणा वा कृत्वा विज्ञापनं कारयित्वा परमैश्वर्याविष्कार-रीत्यनुसारात्। एवमन्यत्राप्यूह्यम्॥२०॥

भावानुवाद—वैकुण्ठ पहुँचकर पार्षदोंने मुझे पुरीके बाहर (गोपुर अर्थात् द्वार पर) बैठाकर कहा कि तुम थोड़ी देरके लिए यहाँ पर रुको, हम स्वयं प्रभु वैकुण्ठनाथको तुम्हारे आगमनका संवाद देंगे, तभी तुम पुरीके भीतर प्रवेश करोगे। अथवा किसी विशेष अधिकारी द्वारा प्रभुको तुम्हारे आनेका संवाद देकर तुम्हें पुरीके भीतर प्रवेश करवायेंगे। वैकुण्ठमें परम ऐश्वर्यकी रीतिके अनुसार सर्वत्र ही इस प्रकारका व्यवहार प्रचलित है॥२०॥

अत्रादृष्टाश्रुताश्चर्यसमुद्रोर्मिपरम्पराम्।
भगवद्भक्तिदीप्ताभ्यां नेत्राभ्यां गणय स्थिरः॥२१॥

श्लोकानुवाद—तुम इस स्थान पर भगवद्भक्तिसे दीप्त नयनों द्वारा परम आश्चर्यसे युक्त वैभवसमूहका दर्शन करो तथा स्थिरचित्तसे पहले कभी न देखी हुई तथा कभी न सुनी हुई आश्चर्य-समुद्रकी तरङ्गोंकी गणना करो॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजविच्छेद-दुःखं सम्भाव्य तदुपशमप्रकारं सपरिहास-मुपदिशन्ति—अत्रेति। अदृष्टश्चाश्रुतश्च य आश्चर्यसमुद्रस्तस्योर्मीणां परम्परां, स्थिरः अक्षुभित-चित्तः सन् नेत्राभ्यां गणय। अत्रत्यं परममहाश्चर्यजातं साक्षादिदं तावत् पश्येत्यर्थः। तत्तदाश्चर्य-भरदर्शनेन श्रीवैकुण्ठनाथमहिमविशेषज्ञापनार्थमथवा तद्द-र्शनोत्कण्ठातिशयवर्धनार्थम्; किंवा पारमैश्वर्यरीत्यनुसारेण तद्दास्यलाभपरमोत्कर्ष-परम्पराबोधनार्थम्। तस्य बहिर्द्वारे स्थापनमिति दिक्। ऊर्मीणां गणनं कुर्विति श्लेषेण परिहासो ग्राह्यः। ननु तत्र मन्नेत्रयोः का शक्तिः सम्भवेत्तत्राहुः—भगवद्भक्त्या दीप्ताभ्यां कृतप्रकाशाभ्यामिति॥२१॥

भावानुवाद—पार्षदगण गोपकुमारको उनके सम्भावित विच्छेद-दुःखको दूर करनेके लिए परिहासपूर्वक 'अत्र' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। तुम इस स्थान पर स्थिर चित्तसे बैठकर भगवद्भक्तिसे दीप्त नयनोंसे पहले कभी न देखी हुई और कभी न सुनी हुई आश्चर्य-समुद्रकी तरङ्गमालाओंकी गणना करो। इस प्रकारसे कहनेका अभिप्राय यह है कि धारावाहमें उत्पन्न महाश्चर्यके साक्षात् दर्शन करनेसे गोपकुमारको इन वैकुण्ठनाथकी विशेष महिमा अनुभव होगी तथा इसके द्वारा ही उसमें उनके दर्शनकी उत्कण्ठा भी अत्यधिक वर्द्धित होगी। अथवा परम-ऐश्वर्यकी रीतिके अनुसार उनके दास्यको प्राप्त करनेकी सर्वश्रेष्ठ धाराका बोध करानेके लिए गोपकुमारको बाहरके द्वार पर बिठा दिया। 'आश्चर्य-समुद्रकी तरङ्गमालाकी गणना करो'—श्लेष अर्थमें यह वाक्य परिहास रूपमें ही ग्रहणीय है। यदि कहो कि मनुष्यनेत्रोंकी क्या शक्ति है कि ऐसे आश्चर्योंके दर्शन करें? इसके लिए ही कहते हैं कि भगवद्भक्तिसे दीप्त नेत्रोंमें वे आश्चर्य स्वतः ही प्रकाशित होते हैं, अतः ऐसे नेत्रों द्वारा ही प्रभुका दर्शन सम्भव होता है॥२१॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तेषु चान्तःप्रविष्टेषु द्वारप्रान्ते बहिःस्थितः।
अपश्यमेकमायान्तं प्रविशन्तञ्च तां पुरीम्॥२२॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—उन पार्षदोंके पुरीमें प्रवेश करने पर मैंने बाहर द्वार पर ही अवस्थित होकर देखा कि एक व्यक्ति पुरीमें प्रवेश कर रहा है॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषु मत्सङ्गिपार्षदेषु अन्तःपुरीमध्यं प्रविष्टेषु सत्सु। एकं कञ्चित् श्रीवैकुण्ठवासिनम्; तां श्रीवैकुण्ठाख्याम्॥२२॥

भावानुवाद—इसके बाद मेरे सङ्गी पार्षदोंने अन्तःपुरमें प्रवेश किया और मैं द्वार पर ही रहा। उस समय मैंने देखा कोई एक पुरुष उस पुरीमें प्रवेश कर रहा है। 'कोई एक' कहनेका अर्थ है कि वह श्रीवैकुण्ठवासियोंमें से कोई एक जन था॥२२॥

ब्रह्माण्डशतभूत्याढ्य–सद्यानारूढ़मद्भुतैः ।
गीतादिभिर्मुदाविष्टं कान्ताद्यैः सदृशं प्रभोः॥२३॥

श्लोकानुवाद—मैंने देखा कि वह पुरुष सैकड़ों ब्रह्माण्डोंकी विभूतिसे युक्त श्रेष्ठ यान पर विराजित है तथा अद्भुत गीतादिसे उत्पन्न हर्षमें आविष्ट हो रहा है। उस पुरुषकी अङ्गकान्ति तथा सौन्दर्यादि प्रभुके समान था॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—ब्रह्मेति, ब्रह्माण्डशतस्य भूतिभिर्वैभवैराढ्यं युक्तं यत् सत् उत्कृष्टं यानं विमानं तदारूढ़म्, अद्भूतैरसाधारणैर्गीतादिभिर्हेतुभिर्मुदा हर्षेणाविष्टमभिभूतं व्याप्तमिति यावत्। आदि-शब्दात् कीर्त्तनाभिनयनादि; तथा अद्भुतैः कान्त्याद्यैः सुश्यामवर्णादिभिः प्रभो श्रीभगवतः सदृशं, आद्य-शब्देन वयोऽलङ्कारावयव-सौन्दर्यादि॥२३॥

भावानुवाद—उस पुरुषके सम्बन्धमें विशेषरूपसे बतानेके लिए गोपकुमार 'ब्रह्माण्ड' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मैंने देखा कि वह पुरुष सैकड़ों ब्रह्माण्डोंकी विभूतिसे युक्त विमान पर विराजित है तथा असाधारण गीतादिके हर्षमें आविष्ट है। 'आदि' शब्दके द्वारा कीर्त्तन, अभिनयादिको भी समझना होगा। उस पुरुषकी अद्भुत अङ्गकान्ति थी अर्थात् श्रीभगवान्‌के समान ही उसकी सुन्दर श्यामकान्ति, आयु, वेश, अलङ्कार और अङ्गोंका सौन्दर्य था॥२३॥

तं मत्वा श्रीहरिं नाथ पाहीति मुहुरालपन्।
नमन् कर्णौ पिधायाहं संज्ञयानेन वारितः॥२४॥

श्लोकानुवाद—उन पुरुषको साक्षात् श्रीहरि जानकर मैं 'हे नाथ! मेरी रक्षा करो'—कहते-कहते बार-बार उन्हें प्रणाम करने लगा। 'हे

नाथ'—ऐसा सुनते ही उन्होंने दोनों कानोंमें उँगली डाल ली और संकेत द्वारा मुझे मना किया॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तमहं श्रीहरिं श्रीवैकुण्ठेश्वरं मत्वा *'हे नाथ! जगदीश्वर! पाहि'* इति मुहुरालपन् भाषमाणस्तथा मुहुर्नमन् सन्; अनेन पुरान्तःप्रविशता वैकुण्ठवासिना संज्ञया जिह्वाग्र-सन्दशन—करधूननादि-संकेतेन वारितस्तथालपने नमने च मम निवारणं कृतवानित्यर्थः। किं कृत्वा? कर्णौ निजौ पिधाय हस्ताभ्यामावृत्य; नाथेति सम्बोधनस्य श्रवणायोग्यत्वात्॥२४॥

भावानुवाद—अतएव मैं उनको साक्षात् वैकुण्ठेश्वर श्रीहरि मानकर 'हे नाथ! जगदीश्वर! मेरी रक्षा करो'—ऐसा कहते-कहते बार-बार प्रणाम करने लगा। तब पुरीमें प्रवेश करनेवाले उस वैकुण्ठवासी पुरुषने मेरे इस प्रकारके असङ्गत सम्बोधनको सहन न कर पानेके कारण अपने हाथोंसे अपने दोनों कान ढक लिये और जिह्वाके अग्र भागको दाँतोंके तले दबा लिया तथा हाथ हिलाकर संकेत द्वारा मुझे मना किया। अपने हाथोंसे कानोंको ढकनेका अभिप्राय था कि वे 'हे नाथ!' इत्यादि सम्बोधन सुननेके योग्य नहीं थे॥२४॥

दासोऽस्मि दासदासोऽस्मीत्युक्त्वा तस्मिन् गतेऽन्तरम्।
अन्यः कोऽप्यागतोऽमुष्मान्महीयान् वैभवादिभिः॥२५॥

श्लोकानुवाद—'मैं दास हूँ, मैं दासोंका दास हूँ'—ऐसा कहते-कहते उन्होंने पुरीके भीतर प्रवेश किया। इसके बाद उनसे भी महान वैभवशाली कोई एक पुरुष वहाँ आये॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव दासोऽहमस्मि दासानामप्यहं दासोऽस्मीत्युक्त्वा अन्तरं पुराभ्यन्तरं तस्मिन् गते सति अमुष्मादन्तःपुरप्रविष्टात् सकाशाद्वैभवादिभिः कृत्वा महीयान् महत्तमः तत्रत्य एव कोऽपि पूर्वस्मादन्यः तत्रैवागतः प्रभुं विज्ञापयितुं पुरान्तःप्रविष्टेषु निजसङ्गि-पार्षदेषु दृष्टेष्वपि प्रभोर्बहिरागमने वक्ष्यमाण एव हेतुरूह्यः। किंवा संभ्रमभरेण तदनुसन्धानं न जातमिति ज्ञेयम्॥२५॥

भावानुवाद—अतएव 'मैं दास हूँ, दासोंका दास हूँ'—ऐसा कहते-कहते उन्होंने पुरीके भीतर प्रवेश किया। इसके बाद उनसे भी अधिक वैभवशाली अन्य कोई पुरुष वहाँ आये। पहलेकी भाँति उनको भी 'हा नाथ!' इत्यादि कहकर सम्बोधन करने पर उन्होंने भी उसी प्रकार

संकेतादि द्वारा मुझे मना किया। यदि आपत्ति हो कि जिस समय गोपकुमार वहाँ पहुँचे तथा गोपकुमारके सङ्गी पार्षदगण प्रभुको उसके आनेका संवाद देनेके लिए अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए थे, ऐसा जानकर भी गोपकुमारने किसलिए सोचा कि प्रभु बाहर गये हैं? यहाँ इसका कारण नहीं बताया गया है, क्योंकि वह आगे व्यक्त होगा। अथवा अत्यन्त गौरववशतः प्रभुके अनुसन्धानकी प्रवृत्ति गोपकुमारमें उदित नहीं हुई॥२५॥

तं दृष्ट्वा सर्वथामंसि जगदीशमहं पुरीम्।
प्रविशन्तं निजामेत्य गत्वा कुत्रापि लीलया॥२६॥

श्लोकानुवाद—मैंने उनके दर्शन करने पर सोचा कि सचमुच यही जगदीश्वर होंगे, लीलावशतः ये किसी अन्य स्थान पर गये हुए थे तथा अभी पुरीमें लौट रहे हैं॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तञ्चाहं सर्वथा जगदीशं श्रीवैकुण्ठेश्वरममंसि। ननु श्रीवैकुण्ठनाथोऽन्तःपुर एव निवसति। अतएव त्वत्सङ्गिनः पार्षदास्तेऽन्तःपुरं प्रविष्टास्तत् कथं बहिरागतमेतं तममंस्थाः? तत्राह—पुरीमिति। लीलया कुत्रापि गत्वाऽधुना तत एत्य आगत्य निजां पुरीमेतां प्रविशन्तमिति। अतो मत्सङ्गा गतास्ते पार्षदा अपि नूनं त्वद्वार्त्तानभिज्ञा अन्तःपुरं प्रविविशुरिति भावः॥२६॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैं जिनका भी दर्शन करता, उनको ही पूर्णरूपसे जगदीश श्रीवैकुण्ठेश्वर मान लेता। यदि आपत्ति हो कि श्रीवैकुण्ठनाथ तो अन्तःपुरमें ही विराजित थे, इसीलिए तो आपके सङ्गी पार्षदोंने अन्तःपुरमें प्रवेश किया था। अतएव प्रभु बाहर हैं, आपको ऐसा अनुमान क्यों हुआ? इसके लिए कहते हैं—प्रभु लीलावशतः अन्य किसी स्थान पर गये होंगे तथा अभी पुरीमें प्रवेश कर रहे हैं। मेरे ऐसा सोचनेका कारण था कि अत्यन्त गौरववशतः मेरा ज्ञान विलुप्त हो गया था। ऐसा भी हो सकता है कि मेरे सङ्गी पार्षदोंने इसे न जानकर अन्तःपुरमें प्रवेश किया हो॥२६॥

सम्भ्रमैः प्रणमन्तं मां पूर्ववत् स्तुति-पूर्वकम्।
दृष्ट्वा सोऽपि तथैवोक्त्वा सस्नेहं प्राविशत् पुरीम्॥२७॥

श्लोकानुवाद—मैंने पहलेकी भाँति अत्यन्त गौरवके साथ स्तुति करते हुए उनको प्रणाम किया, किन्तु उन्होंने भी दोनों कानोंमें अंगुलि देकर स्नेहपूर्वक मुझे मना किया और पुरीमें प्रवेश कर गये॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्ववदिति, नाथ पाहीति मुहुरालपन्तमित्यर्थः। इदानीञ्च सर्वथा जगदीश-मननेन पूर्वतो विशेषमाह—स्तुतिपूर्वकमिति। तथैव संज्ञया मां निवार्य कर्णौ पिधाय *'दास दासोऽस्मि'* इत्युक्त्वा सस्नेहमित्यस्य उक्त्वेत्यनेन दृष्ट्वेत्यनेन वा सम्बन्धः॥२७॥

भावानुवाद—उनको भी पहलेकी भाँति अत्यन्त गौरव सहित 'हे नाथ! मेरी रक्षा करो!'—कहते-कहते प्रणाम करने पर उन्होंने भी पूर्ववत् दोनों कानोंमें अंगुलि प्रदानकर 'मैं दासोंका दास हूँ'—ऐसा कहकर स्नेहपूर्वक मुझे निषेध किया तथा अन्तःपुरमें प्रवेश कर गये। परन्तु अभी उन पुरुषको सचमुच जगदीश माननेका पूर्वकी तुलनामें भी कुछ अधिक विशेष कारण था, अतएव स्तुतिपूर्वक सम्बोधन किया॥२७॥

केऽप्येकशो द्वन्द्वशोऽन्ये युगपद्बहुशोऽपरे।
पूर्वपूर्वाधिकश्रीकाः प्रविशन्ति पुरीं प्रभोः॥२८॥
तांश्च पश्यन् पुरेवाहं मज्जन् सम्भ्रमसागरे।
नमन् स्तुवन् निवार्ये तैः स्निग्धवागमृतैस्तथा॥२९॥

श्लोकानुवाद—आश्चर्यका विषय यह था कि इस प्रकारके कोई एक, कोई दो और कोई दलबद्ध होकर पुरुष प्रभुकी पुरीमें प्रवेश कर रहे थे तथा ये सभी पूर्व-पूर्व पुरुषोंकी तुलनामें अधिकतर शोभासे युक्त थे। मैं उनका दर्शनकर पहलेकी भाँति सम्भ्रम सागरमें निमग्न हो गया और उन्हें स्तुतिपूर्वक प्रणाम भी किया। उन्होंने भी पूर्ववत् स्निग्ध अमृतमय वाक्योंसे मुझे निषेध किया॥२८-२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमन्तःपुरं प्रविशन्तो बहव एव वैकुण्ठवासिनो मया भगवन्मत्या पूर्ववन्नमस्कृतास्तैश्च तथैवाहं निवारित इत्याह—कोऽपीति द्वाभ्याम्। पूर्वस्मात् पूर्वस्मादधिकाः श्रियो विभूतयो येषां ते सैनापत्यादि-बृहदधिकारवतां तत्तत्प्रयोजनावेक्षणेन पश्चात् प्रवेशात्। किंवा निज-निज-सेवार्थमादौ त्वरया प्रविशतां तदेकापेक्षया निजवैभवप्रकटन-तात्पर्याभावादिति दिक्। बहूनामपि तेषां

भगवन्मननेन नमनादौ हेतुः—सम्भ्रमसागरे निमज्जन्निति परमसम्भ्रमाक्रान्तचित्तानां विचारानुदयात्। एवं तेषां दर्शनस्य परममोहन-महिमा दर्शितः। अथवा एषु पूर्ववज्जगदीश इति मतिर्नास्ति, तादृश-शब्दनिर्देशाभावात्। किन्तु केवलं तेषां महिमविशेषदर्शनेन परमसम्भ्रमभरात् पूर्ववन्नमनादिकमिति ज्ञेयम्। तैश्चाहं निवार्ये, मन्नमन-स्तवन-निवारणं क्रियते इत्यर्थः, तादृश-नमनाद्यसहनात्। कैः? स्निग्धैः स्नेहयुक्तैर्वचोऽमृतैः कृत्वा, इदं तेषामेव विशेषणं वा॥२८-२९॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे प्रभुके अन्तपुरमें बहुतसे वैकुण्ठवासी प्रवेश कर रहे थे। मैं उनके दर्शनकर उन्हें भी भगवान् मानकर पूर्ववत् नमस्कारादि करता, किन्तु वे भी मुझे पूर्ववत् ऐसा करनेसे निषेध करते। उनमें कोई अकेला, कोई दो और कोई-कोई दलमें पूर्वसे भी अधिक वैभव और सैन्यबलसे युक्त थे। अर्थात् बड़े-बड़े अधिकारी होनेके कारण आवश्यकतानुरूप सेनापति इत्यादि भी उनके पीछे-पीछे प्रवेश कर रहे थे। अथवा अपनी-अपनी सेवाके लिए व्यग्र होकर क्रमशः अधिक वैभव प्रकटकर अर्थात् शोभासे युक्त होकर वे पुरीमें प्रवेश कर रहे थे।

यदि आपत्ति हो कि आप एकबार, दोबार या बहुतबार देखने पर भी तथा उनके द्वारा निषेध किये जाने पर भी क्यों उनको भगवान् मानकर प्रणामादि कर रहे थे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मैं सम्भ्रम सागरमें निमग्न था तथा उस समय मेरा चित्त अत्यधिक गौरवसे वशीभूत होनेके कारण मुझमें विचार करनेवाले ज्ञानका उदय नहीं हुआ। इसके द्वारा उनके दर्शनकी परममोहन महिमा प्रदर्शित हुई है। अथवा उनके प्रति पूर्ववत् जगदीश बुद्धि नहीं हुई, किन्तु उनके लिए किसी शब्द निर्देशके अभाववशतः केवल उनकी महिमाके दर्शनसे ही परम सम्भ्रमपूर्वक पूर्ववत् नमस्कार-स्तवादि किया—ऐसा समझना होगा। वे नमस्कारादिको भी सहन नहीं कर सके, इसलिए उन्होंने स्नेहयुक्त वाक्यामृत द्वारा मुझे मना किया। अतः ऐसा व्यवहार उन्हीं की विशेषता थी॥२८-२९॥

तेषु स्वसेवासामग्रीं गृहीत्वा केऽपि कामपि।
धावन्ति पुरतः केचिन्मत्ता भक्तिसुधारसैः॥३०॥

श्लोकानुवाद—उनमें कोई छत्र-चामरादि अपनी-अपनी सेवा-सामग्री लेकर और कोई भक्ति-सुधारसमें मत्त होकर वेगपूर्वक जा रहे थे॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां प्रवेशप्रकारमाह—तेष्विति चतुर्भिः। तेषु अन्तःपुरं प्रविशत्सु मध्ये केऽपि कामपि सेवासामग्रीं निजसेवासम्बन्धिद्रव्यं छत्रचामरादि गृहीत्वा पुरतोऽभिमुखे धावन्ति, वेगेन गच्छन्ति, केचिच्च तदपेक्षारहिताः केवलं भक्तिरेव सुधा निजमाधुर्यभरेण तदितरविस्मारकत्वात् तद्रसैर्मत्ताः सन्तः पुरतो धावन्ति, तेषाञ्च तद्रूपैव सेवोह्या। अग्रे निरन्तरश्लोके एवमात्मसेवास्वित्युक्तेः॥३०॥

भावानुवाद—वे किस प्रकार पुरीमें प्रवेश कर रहे थे—इसे बतलानेके लिए 'तेषु' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। उनमें से कोई-कोई छत्र-चामरादि अपनी-अपनी सेवासामग्रीके साथ अत्यन्त वेगसे पुरीकी ओर धावित हो रहे थे। अन्य कोई उन वस्तुओंकी आकांक्षा न कर केवल भक्तिसुधाके माधुर्यसे पूर्ण होकर तथा उससे पृथक विषयोंको भूलकर भक्तिरसमें प्रमत्त हो पुरीकी ओर भाग रहे थे। इन लक्षणोंसे उनकी भी वैसी ही सेवा समझनी होगी। आगेके निरन्तर श्लोकोंमें ऐसी सेवाका विषय कथित हुआ है॥३०॥

एवमात्मात्मसेवासु व्यग्रान्तःकरणेन्द्रियाः।
विचित्रभजनानन्द-विनोदभरभूषिताः ॥३१॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार उन सभीका मन और इन्द्रियाँ अपनी-अपनी सेवाओंमें उत्कण्ठित थे तथा विचित्र भजनानन्दकी प्रचुर क्रीड़ासे विभूषित थे॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानेव विशिनष्टि—एवमिति त्रिभिः। उक्तप्रकारेण आत्मनः आत्मनः सेवासु विषयेषु व्यग्राणि आकुलान्यन्यासक्तानि अन्तःकरणानि चित्तादीनि इन्द्रियाणि च वाक्चक्षुरादीनि येषां, अतएव विचित्रेण नानाप्रकारेण भजनेन सेवया य आनन्दस्तेन यो विनोदभरः लीलातिशयस्तेनैव। यद्वा, विचित्रैर्भजनानन्दैस्तद्रूपैरेव विनोदभरैश्च भूषिताः॥३१॥

भावानुवाद—उन वैकुण्ठवासियोंकी सेवाको 'एवम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा विशेषरूपसे वर्णन कर रहे हैं। उक्त प्रकारसे वे सभी

अपनी–अपनी सेवाके विषयमें व्यग्र थे, अर्थात् उनकी वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सेवामें आसक्त थे। अतएव उनकी इन्द्रियाँ नाना–प्रकारकी सेवाके आनन्दवशतः लीलाका अत्यधिक रूपमें विस्तार कर रही थीं। अथवा विचित्र भजनानन्द तथा उसके अनुरूप प्रचुर क्रीड़ा द्वारा विभूषित थीं॥३१॥

भूषाभूषणसर्वाङ्गा निजप्रभुवरोचिताः।
प्रणमन्तः स्तुवन्तश्च कुर्वाणाश्चित्रमीहितम्॥३२॥
वितन्वतो महालीलाकौतुकं चक्रवर्तिवत्।
लक्ष्मीपतेर्भगवतश्चरणाब्जदिदृक्षवः ॥३३॥

श्लोकानुवाद—उनके समस्त अङ्ग भूषणोंके भी भूषणस्वरूप थे, अतः वे सभी अपने प्रभुकी सेवाके अनुरूप थे तथा विविध प्रकारकी चेष्टाओंके साथ वे प्रभुको प्रणाम और उनका स्तवादि कर रहे थे। वे प्रभु सार्वभौम चक्रवर्तीकी भाँति अपनी महालीला–कौतुकका विस्तार कर रहे थे तथा पार्षदगण भी उन लक्ष्मीपतिके श्रीचरणकमलोंके दर्शनके लिए उत्सुक हो रहे थे॥३२–३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—भूषाणामलंकाराणां भूषणानि सर्वान्यङ्गानि येषाम्। अतएव निजप्रभुवरस्य श्रीवैकुण्ठेश्वरस्य उचिता योग्या एते चानुक्तमन्यत् सौन्दर्यादिकं तेषामूह्यम्। चित्रं बहुविधमीहितं नृत्य–कीर्त्तनादिचेष्टां कुर्वाणाः। तत्र हेतुः—चक्रवर्ती सम्राट तद्वद् या महती लीला भोजन–पानादि–तदुचितगृहद्वारादि–तत्तदधिकारिविभजनादि–रूपा चर्या तया तद्रूपमेव वा कौतुकं चित्तचमत्कारविशेषं वितन्वतो भगवतश्चरणारविन्दे दिदृक्षवः। तथा विताने हेतुः—लक्ष्मीपतेरिति। इदमेव तस्य लक्ष्मीपतित्वोचितभगवत्त्व–प्रकाशनम्; अतस्तत्सेवकानामपि तदनुसरणमेवोचितमिति भावः॥३२–३३॥

भावानुवाद—उन पार्षदोंके समस्त अङ्ग भूषणोंके भी भूषणस्वरूप थे, अतएव वे सभी अपने प्रभुवर श्रीवैकुण्ठेश्वरकी सेवाके योग्य थे। इस कथनके द्वारा सौन्दर्यादि जिन गुणोंके विषयमें उक्त नहीं हुआ, उनके सम्बन्धमें भी जानना होगा। वे नृत्य–कीर्त्तनादि बहुत प्रकारकी विचित्र चेष्टाओंके द्वारा प्रभुके सेवासुखका विस्तार कर रहे थे। इसका कारण था कि प्रभु चक्रवर्ती सम्राटकी भाँति महान लीला अर्थात् अपने सेवकोंके अधिकार अनुसार भोजन–पानादि और यथोचित

गृह–द्वारादि प्रदानकर उनसे परिचर्यादि ग्रहणरूप चित्तचमत्कारी विशेष लीलाका विस्तार कर रहे थे, अतएव पार्षद उनके श्रीचरणकमलोंके दर्शनके प्रार्थी थे। ऐसी लीलाके विस्तारका कारण था कि भगवान् लक्ष्मीपति हैं तथा यही लक्ष्मीपतिकी समुचित भगवत्ताका प्रकटन है। जिस प्रकारसे श्रीभगवान् सेवकवत्सल हैं, उनके सेवकोंका भी उसी प्रकार प्रभुभक्त होना उचित है। अतएव सेवकगण उनके दर्शनोंकी उत्कण्ठामें व्याकुल चित्त थे और उनके ही भावोंमें उन्मत्त थे॥३२–३३॥

केचित् सपरिवारास्ते केचिच्च सपरिच्छदाः।
केचिद्बहिर्धृतस्वीय–परिवार–परिच्छदाः ॥३४॥

श्लोकानुवाद—कोई सपरिवार और कोई परिच्छदादि सहित तथा कोई अपने परिच्छदादि त्यागकर तथा परिवारको पुरीके बाहर ठहराकर पुरीके भीतर प्रवेश कर रहे थे॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव प्रकारान्तरमाह—केचिदिति द्वाभ्याम्। परिवाराः पुत्रकलत्रभृत्यादयस्तैः सहिता एव, केचित्ते वैकुण्ठनाथसेवकाः पुरतो धावन्तीति पुरीं प्रविशन्तीति वा पूर्वेणैवान्वयः। सर्वेषां परिच्छदाश्छत्र–चामरायुधवाहनादयस्तैः सहिता बहिः पुरीबाह्यप्रदेशे धृता रक्षिताः स्वीया निजाः परिवाराः परिच्छदाश्च यैस्ते॥३४॥

भावानुवाद—उन सेवकोंका अन्य प्रकारसे वर्णन करनेके लिए 'केचित्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। उनमें से कोई परिवार अर्थात् पुत्र, पत्नी और सेवकों सहित श्रीवैकुण्ठनाथकी पुरीकी ओर धावित हो रहे थे तथा कोई चामर, आयुध, वाहन आदि परिच्छद सहित पुरीमें प्रवेश कर रहे थे। कोई अपने वैभव अर्थात् परिच्छद और परिवारको पुरीके बाहर रखकर अकेले ही पुरीमें प्रवेश कर रहे थे॥३४॥

स्वस्मिन्नेव विलाप्यैके कृत्स्नं परिकरं निजम्।
अकिञ्चना इवैकाकितया ध्यानरसाप्लुताः ॥३५॥

श्लोकानुवाद—कोई–कोई परिकर, परिच्छद और वैभवको अपनेमें लीनकर अकिञ्चनकी भाँति ध्यानरसमें मग्न होकर पुरीमें प्रवेश कर रहे थे॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—परिकरं परिवार-परिच्छदापि-वैभवम्। अस्मिन् आत्मन्येव विलाप्य विशेषेण लीनं कृत्वा, यतो ध्यानरसे आप्लुता निमग्नाः। एवं तेषां सर्वशक्तिमत्त्वं भजनानन्दलीलाविशेष-वैचित्र्यादिकञ्च दर्शितम्॥३५॥

भावानुवाद—कोई-कोई अपने परिकर, परिवार, परिच्छदादि रूप वैभवको अपनेमें लीनकर अकिञ्चनकी भाँति ध्यानरसमें मग्न होकर पुरीमें प्रवेश कर रहे थे। इस प्रकारसे वैकुण्ठ पार्षदोंकी सर्वशक्तिमत्ता और भजनानन्द लीलाविशेषकी वैचित्री अर्थात् प्रभुकी सेवामें नाना-प्रकारके विचित्र भावोंकी प्रकटनशीलता प्रदर्शित होती है॥३५॥

केचिद्विचित्ररूपाणि धृत्वा धृत्वा मुहुर्मुहुः।
विचित्रभूषणाकारविहाराढ्या मनोहराः॥३६॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई पुनः-पुनः अनेक प्रकारके विचित्र रूप धारण कर रहे थे और तदनुरूप विचित्र भूषण, आकार और विहारसे मनका हरण कर रहे थे॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुनस्तत्रैव रूपवैचित्र्येण प्रकारान्तरमाह—केचिदिति त्रिभिः। विचित्राणि रूपाणि पशु-पक्षि-वृक्षाद्याकारान् धृत्वा धृत्वेति मुहुर्मुहुरिति च वीप्साभ्यां विचित्ररूपाणां पुनःपुनराविष्करणं पुनःपुनस्तिरोधापनञ्च बोध्यते। तथा विचित्रैर्विविधै-र्भूषणैराकारैर्विहारैश्चाढ्या युक्ताः। एवं सर्वथैव मनोहरा इति निगमनम्॥३६॥

भावानुवाद—पुनः उनके रूपकी विचित्रताके प्रकारको 'केचित्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। कोई-कोई विचित्र रूप अर्थात् पशु, पक्षी और वृक्षादिका आकार पुनः-पुनः धारण कर रहे थे। यहाँ 'मुहुर्मुहु' शब्द द्वारा विचित्र प्रकारके आकारादिका पुनः-पुनः आविष्कार और पुनः-पुनः उसका तिरोधान समझना होगा। इस प्रकार वे सब विचित्र भूषण, आकार और विहारादिके द्वारा मनका हरण कर पुरीमें प्रवेश कर रहे थे॥३६॥

केचिन्नरा वानराश्च देवा दैत्यास्तथर्षयः।
परे वर्णाश्रमाचार-दीक्षालक्षणधारिणः॥३७॥

श्लोकानुवाद—कोई नरमूर्त्ति, कोई वानरमूर्त्ति, कोई देवमूर्त्ति, कोई दैत्यमूर्त्ति और कोई ऋषिमूर्त्ति धारण किये हुए थे। बादमें किसीने

वर्णाश्रमका आचार ग्रहण किया और किसीने दीक्षाके लक्षणस्वरूप मुद्रादिको धारण किया॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, केचिदिति द्वाभ्याम्। नरा नराकाराः; एवं वानरादयः सर्वेऽप्यूह्याः। सच्चिदानन्दविग्रहाणां श्रीवैकुण्ठवासिनां वस्तुतो नरत्वाद्यसम्भवात्। वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणाञ्च ब्रह्मचर्यादीनां य आचारो व्यवहारः, तथा दीक्षायाः सावित्र्यादिविषयकाया भगवन्मन्त्रविषयकायाश्च यानि लक्षणानि, क्रमेण यज्ञोपवीत-कमण्डलुधारणादीनि, तथा कुश-शृङ्गादि-तुलसीमाला-मुद्रादिधारणादीनि तानि धर्त्तुं शीलमेषामिति तथा ते॥३७॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं—कोई नरमूर्त्ति, कोई वानरमूर्त्ति, कोई देवमूर्त्ति, कोई दैत्यमूर्त्ति और कोई ऋषिमूर्त्ति धारण किये हुए थे। परन्तु वे सभी पूज्य थे, क्योंकि सच्चिदानन्द-विग्रहयुक्त श्रीवैकुण्ठवासियोंकी वस्तुतः नर आदि होनेकी सम्भावना नहीं होती। फिर कोई ब्राह्मणादि वर्ण और कोई ब्रह्मचर्यादि आश्रमका आचरण ग्रहण किये हुए थे। कोई सावित्री आदि विषयक दीक्षाके लक्षण अर्थात् यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण किये हुए थे और कोई भगवान्के मन्त्र-विषयक दीक्षाके लक्षण अर्थात् कुशासन, तुलसी-माला और विविध मुद्रादिको धारण किये हुए थे॥३७॥

इन्द्रचन्द्रादिसदृशास्त्रिनेत्राश्चतुराननाः ।
चतुर्भुजाः सहस्रास्याः केचिदष्टभुजास्तथा॥३८॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई इन्द्र और चन्द्रादि देवताओंके समान दिख रहे थे तथा कोई त्रिनेत्र (शिव), कोई चतुरानन (ब्रह्मा), कोई चतुर्भुज, कोई अष्टभुज और कोई सहस्र-मुख मूर्त्ति धारण किये हुए थे॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इन्द्रः सहस्रनेत्रः वज्रहस्तत्वादिलक्षणवान्; एवमन्योऽपि ज्ञेयः। आदि-शब्दात् सूर्याग्नि-वाय्वादयः। तथाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् केचिदित्यस्य सर्वैरपीन्द्रादिभिः सम्बन्धः कार्यः। ततश्च केचिदिन्द्रसदृशाः, केचिच्चन्द्रादिसदृशाः, केचित् त्रिनेत्रा इत्यूह्यम्। इन्द्रादीनां प्रायो भगवदवतारत्वाभावेन केवलं रूपसाम्येन वैकुण्ठवासिनां तत्सादृश्यमुक्तम्। त्रिनेत्रादीनाञ्च स्वतोऽपि भगवदवतारत्वेन रूप-भेदमात्रनिर्देशः॥३८॥

भावानुवाद—कोई वैकुण्ठवासी इन्द्रके समान सहस्रलोचन (हजार नेत्रयुक्त) और वज्रको हाथमें लिए हुए लक्षणोंसे युक्त थे तथा कोई चन्द्रादि देवताओंके समान आकार धारण किये हुए थे। 'आदि' शब्दसे सूर्य, अग्नि, वायु जैसे देवताओंको भी जानना होगा। इस प्रकार उन्होंने समस्त देवताओंके सदृश ही आकार धारण किया हुआ था—ऐसा समझना होगा। उन वैकुण्ठवासियोंमें कोई इन्द्रके समान, कोई चन्द्रके समान, कोई त्रिनेत्र (शिव) हैं। इन्द्रादि समस्त देवता प्राय भगवान्‌के अवतार नहीं हैं, अतः इस उक्तिमें जो 'सदृश' (समान) कहा गया है, वह केवल रूपकी समानतावशतः ही वैकुण्ठवासियोंका देवताओंके साथ सादृश जानना होगा। किन्तु त्रिनेत्रादि (शिव और ब्रह्मादि)के स्वतः ही भगवान्‌के गुणावतार होनेके कारण उनके रूपोंमें भेदमात्र निर्देश हुआ है॥३८॥

एतत्परमवैचित्रीहेतुं वक्ष्यामि तेऽग्रतः।
कृष्णभक्तिरसास्वादवतां किं स्यान्न सुन्दरम्॥३९॥

श्लोकानुवाद—इस परम विचित्रताका कारण बादमें कहूँगा। कृष्ण-भक्तिरसका आस्वादन करनेसे क्या सुन्दर नहीं होता है?॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भगवत्सारूप्यप्राप्त्या चतुर्भूजत्वादिकमुचितमेव, नर-वानराद्याकारप्राप्तौ तु किं कारणमित्यपेक्षायामाह—एतदिति। एतस्या उक्तायाः परमवैचित्र्या हेतुमग्रतः श्रीनारदोक्तसिद्धान्ते ते त्वां वक्ष्यामि। ननु भवतु नाम तत्र हेतुः, तथापि वानराद्याकाराः सौन्दर्याभावात्तत्र नोपयुज्यन्ते, तत्राह—कृष्णेति। लोकेऽपि रसविशेषसेविनां सौन्दर्य-सिद्धि-प्रसिद्धेः। अन्यथा श्रीहनूमज्जाम्बवदादिषु प्रीतिविशेष-हान्यापत्तेः॥३९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भगवान्‌का सारूप्य प्राप्त करनेके कारण श्रीभगवान्‌की भाँति चतुर्भुज रूप ही सङ्गत होता है, किन्तु वैकुण्ठमें मनुष्यमूर्त्ति विशेषतः वानरादिके समान तुच्छ मूर्त्ति किसलिए दृष्ट हुई? इसकी आशंकासे 'एतत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस प्रकारकी विचित्रताका कारण आगे श्रीनारद द्वारा कहे जानेवाले सिद्धान्तमें प्रकाशित होगा। पुनः यदि कहो कि वैकुण्ठमें नाना-प्रकारकी वैचित्री रहने पर भी वानरादि जैसे सौन्दर्य रहित आकार सङ्गत नहीं

होते। इसके लिए कहते हैं कि कृष्णभक्तिका रसास्वादन होनेसे क्या सुन्दर नहीं होता? जगतमें भी प्रसिद्ध है कि किसी विशेष रसके सेवनसे सौन्दर्य प्राप्त होता है, अर्थात् दिव्य रूपादि प्राप्त होता है। इसके सम्बन्धमें श्रीहनुमान और श्रीजाम्बवान आदिको प्रमाण जानों। श्रीभगवान्‌के प्रति प्रीति विशेषकी हानि न होनेके कारण ही वे स्वेच्छासे वैसा स्वरूप ग्रहण करते हैं, अर्थात् उनका वानरादि रूप भी श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके लिए प्रीतिकर होता है॥३९॥

सर्वप्रपञ्चातीतानां तेषां वैकुण्ठवासिनाम्।
तस्य वैकुण्ठलोकस्य तस्य तन्नायकस्य च॥४०॥
तानि माहात्म्यजातानि प्रपञ्चान्तर्गतैः किल।
दृष्टान्तैर्नोपयुज्यन्ते न शक्यन्ते च भाषितुम्॥४१॥

श्लोकानुवाद—समस्त प्रपञ्चसे अतीत उन वैकुण्ठवासियोंका, उस वैकुण्ठलोकका तथा उन वैकुण्ठनायकका असीम माहात्म्य प्रपञ्चके दृष्टान्त द्वारा कभी भी प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वैसे दृष्टान्त अपनी युक्ति और भाषा द्वारा उनके माहात्म्यका वर्णन नहीं कर सकते हैं॥४०–४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं बहुविधेन भेदेन महातारतम्यापत्तेः स्वर्गवासिनामिवैषामपि विचित्रवैषम्यं स्यात्, तच्चात्र न युज्यते; सच्चिदानन्दविग्रहत्वेनैकस्वभावादित्याशंक्य तत्परिहाराय तेषु तत्त्वं निरूपयितुं लौकिकदृष्टान्तोपन्यासेन अपराधाद्विभ्यद्भगवन्तं प्रार्थयते—सर्वेति चतुर्भिः। सर्वप्रपञ्चमतीतानामतिक्रान्तानामित्यस्य लिङ्गवचनव्यत्ययेनापि सर्वैरेवान्वयः। अतस्तेषामिति अनिर्वचनीयानामित्यर्थः। इदञ्च पूर्ववत्, अतएव तानि माहात्म्यजातानि स्वाभाविकमहिमवृन्दानि प्रपञ्चान्तर्गतैर्दृष्टान्तैर्भाषितुं निरूपयितुं नोपयुज्यन्ते, परमासदृशत्वात् भाषितुं न शक्यन्ते च, सम्यग्बोधनसामर्थ्याभावादिति द्वाभ्यामन्वयः। तन्नायकस्य श्रीवैकुण्ठनाथस्य॥४०–४१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसे बहुत प्रकारके भेद होनेके कारण वैकुण्ठमें महातारतम्यका तथा स्वर्गवासियोंमें विद्यमान विचित्र विषमतावशतः मात्सर्यादिका दोष भी होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वैकुण्ठमें ऐसे दोषोंकी सम्भावना नहीं है। सच्चिदानन्द विग्रहमें अनेक प्रकारके स्वभावादिकी आशंकाको दूर करनेके लिए तथा उस

सच्चिदानन्द तत्त्वका निरूपण करनेके लिए लौकिक दृष्टान्तोंकी अवतारणारूप अपराधकी आशंकामें वक्ता श्रीभगवान्‌के निकट क्षमा प्रार्थना करते हुए 'सर्व प्रपञ्च' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। समस्त प्रपञ्चके अतीत उन वैकुण्ठवासियोंका, उस वैकुण्ठलोकका तथा उन श्रीवैकुण्ठनाथका माहात्म्य प्रपञ्चसे सम्बन्धित दृष्टान्त द्वारा कभी भी प्रकाशित नहीं किया जा सकता, तथापि प्रपञ्चगत दृष्टान्तके बिना कोई इसे समझ भी नहीं सकता। इसलिए विद्वानजन उस तत्त्वको साधारणजनोंके चित्तमें प्रवेश करवानेके लिए जगतसे सम्बन्धित दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, किन्तु उसमें प्रपञ्चके अतीत लिङ्ग-वचनादिका परिवर्त्तन संघटित हो सकता है, क्योंकि वैकुण्ठ और वैकुण्ठस्थित समस्त वस्तुएँ अनिर्वचनीय हैं अर्थात् प्राकृत मन, बुद्धि और वाक्यके अगोचर हैं। अतएव वैकुण्ठकी स्वाभाविक महिमा प्रपञ्चसे सम्बन्धित दृष्टान्तों द्वारा निरूपण करना विडम्बना मात्र है, क्योंकि परम असमानता हेतु उसे भाषामें प्रकाश भी नहीं किया जा सकता है, अथवा किञ्चित् प्रकाश करनेकी चेष्टा करने पर भी भलीभाँति बोधकी असमर्थताके कारण कोई भी उसकी धारणा नहीं कर सकता है॥४०-४१॥

तथापि भवतो ब्रह्मन् प्रपञ्चान्तर्गतस्य हि।
प्रपञ्चपरिवारान्तर्दृष्टिगर्भितचेतसः ॥४२॥
तद्दृष्टान्तकुलेनैव तत्तत् स्याद्बोधितं सुखम्।
तथेत्युच्येत यत् किञ्चित् तदागः क्षमतां हरिः॥४३॥

श्लोकानुवाद—तथापि हे ब्रह्मन्! आप प्रपञ्चके अन्तर्गत रहते हैं, इसलिए आपकी चित्तवृत्ति या अन्तर्दृष्टि प्रपञ्चकी वस्तुओंको ही ग्रहण कर सकती है। अतएव प्रपञ्चसे सम्बन्धित अनुकूल दृष्टान्त होनेसे आपको यह विषय सहज ही बोध होगा, इसीलिए प्रपञ्चके दृष्टान्त द्वारा आपको वैकुण्ठलोकके सम्बन्धमें समझाया है। यदि इसमें मेरा कोई अपराध हो तो समस्त अपराधोंका हरण करनेवाले श्रीहरि मुझे क्षमा करेंगे॥४२-४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—भो ब्रह्मन्! साक्षाद्वेदमूर्त्ते! तथापि भवतः भवन्तं प्रति यत्तथा तेन प्रपञ्चान्तर्गतद्रव्यदृष्टान्तदर्शनप्रकारेण तन्माहात्म्यानां किञ्चिदुच्येत, तेन यत् आगोऽपराधस्तत् हरिः सर्वदोषादिहर्ता भगवान् क्षम्यतामिति द्वाभ्यामन्वयः। अयोग्यत्वेऽशक्यत्वे च सत्यपि तथोक्तौ हेतुः—प्रपञ्चान्तर्गतस्य भवतस्तस्य प्रपञ्चस्य दृष्टान्तकुलेनैव किञ्चिदित्यत्राप्यकर्षणीयं सुखं यथा स्यात् तथा किञ्चित्तन्माहात्म्यं बोधितं स्यात्। कुतः? प्रपञ्चस्य परिवाराणां सचेतना-चेतनादि-द्रव्याणामन्तरन्तरे या दृष्टिर्ज्ञानं तया गर्भितमावृतं चेतो यस्य तस्य; अतएव चक्रवर्तिवदित्युक्तम्। द्वितीयार्थे षष्ठ्यः॥४२-४३॥

भावानुवाद—हे ब्रह्मन्! आप साक्षात् वेदमूर्त्ति होकर भी प्रपञ्चके अन्तर्गत रह रहे हैं तथा आपका चित्त चेतन-अचेतन प्रापञ्चिक वस्तुओंमें बद्ध होनेके कारण आपकी अन्तर्दृष्टि भी उसीमें निमग्न हो गयी है। इसलिए प्रपञ्चसे सम्बन्धित वस्तुओंके दृष्टान्त द्वारा ही मैंने आपको प्रपञ्चसे अतीत वैकुण्ठलोककी कुछ बातें बतलायीं हैं। यदि इसमें मेरा कोई अपराध हुआ हो तो समस्त अपराधोंका हरण करनेवाले श्रीहरि मुझे क्षमा करेंगे। प्रपञ्चके भीतर स्थित चेतन और अचेतन द्रव्योंमें जिनकी दृष्टि और मन एकाग्र हुआ है, वे कदापि प्रपञ्चातीत वस्तुका तत्त्व नहीं समझ सकते हैं। अतएव वैकुण्ठवस्तुको समझनेमें आपकी अयोग्यता और शक्तिहीनता होने पर भी उसके सम्बन्धमें कुछ कहनेका कारण यह है कि प्रपञ्चके दृष्टान्त द्वारा प्रपञ्चातीत वस्तुमें चित्तको प्रवेश करानेसे क्रमशः चित्तसे प्रापञ्चिक भाव या माया दूर हो जायेगी। इसलिए श्लोक ३३ में श्रीवैकुण्ठनाथका वैभव समझानेके लिए इस जगतसे सम्बन्धित 'चक्रवर्तीके समान' शब्दका व्यवहार किया गया है॥४२-४३॥

तत्रत्यानाञ्च सर्वेषां तेषां साम्यं परस्परम्।
तारतम्यञ्च लक्ष्येत न विरोधस्तथापि च॥४४॥

श्लोकानुवाद—समस्त वैकुण्ठवासियोंमें परस्पर समानता और तारतम्य दोनों ही लक्षित होते हैं, इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं देखा जाता है॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उच्यत इति यत् प्रतिज्ञातं तत्तत्त्वनिरूपणमेव करोति—तत्रत्यानामिति नवभिः। तेषां पूर्वोद्दिष्टानां वैकुण्ठवासिनां परस्परं साम्यं समानता, प्रत्येकं सर्वसामर्थ्यत्त्वात् तारतम्यञ्च न्यूनाधिकता महदल्पतया निजवैभवादिप्रकटनात् लक्ष्येत तत्तल्लक्षणैर्दृश्येत, न च तथापि विरोधो भवति; लक्ष्यत इत्यनेनैवान्वयः। सर्वेषामपि प्रत्येकं स्वेच्छया सर्ववैभवप्रकटन-सामर्थ्यदर्शनात्॥४४॥

भावानुवाद—अब वैकुण्ठमें विरुद्ध प्रतीत होनेवाले तत्त्वका निरूपण 'तत्रत्यानाम्' इत्यादि नौ श्लोकों द्वारा कर रहे हैं। यद्यपि पूर्वोक्त समस्त वैकुण्ठवासियोंमें परस्पर समानता और प्रत्येकके सर्व-सामर्थ्यवान् होनेके कारण उनमें न्यून-अधिकका तारतम्य लक्षित होता है, तथापि विरोध लक्षित नहीं होता। परस्पर समान धर्मी या समान सामर्थ्ययुक्त होकर भी उनमें से किसीने महान वैभव प्रकट किया है और किसीने अल्प वैभव प्रकट किया है। इसलिए जो तारतम्य देखा जाता है, उसमें कोई वैषम्य (विरोध) नहीं है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ही स्वेच्छासे समस्त प्रकारका वैभव प्रकट करनेमें समर्थ हैं॥४४॥

न मात्सर्यादयो दोषाः सन्ति कस्यापि तेषु हि।
गुणाः स्वाभाविका भान्ति नित्याः सत्याः सहस्रशः॥४५॥

श्लोकानुवाद—वहाँ किसीमें भी मात्सर्य आदि दोष नहीं है, अपितु उनमें सौहार्द, विनय और सम्मानादि हजारों गुण वर्त्तमान हैं तथा ये गुण नित्य और सत्य हैं॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तत्त्वतस्तारतम्यं नास्त्येव, आस्तां वा बहिर्दृष्ट्या, तथापि कापि हानिः कुत्रापि नास्तीत्याह—नेति। मत्सरः परोत्कर्षासहनं, स आदिर्येषां स्पर्धासूया-तिरस्कारादीनां ते दोषा हि यस्मात्तेषु वैकुण्ठवासिषु मध्ये कस्यापि न सन्ति, अथ च गुणा अन्योऽन्यसौहार्द-विनय-सम्मानादयः सहस्रशो भान्ति विराजन्ते। कीदृशाः? नित्याः। ननु मायाया अनादित्वेन मायिकानामपि नित्यत्वं सिध्यतीत्याशंक्याह—सत्या इति न तु मायिका इत्यर्थः; यतः स्वाभाविकाः सहजाः। यथोक्तं श्रीब्रह्मणा तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/१५/१८-१९)—*'पारावतान्यभृत-सारसचक्रवाक-दात्यूह-हंस-शुक-तित्तिर-वर्हिणां यः। कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्र-मुच्चैर्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥ मन्दारकुन्द-कुरवोत्पलचम्पकार्ण-पुन्नागनाग-बकुलाम्बुज-पारिजाताः। गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या, यस्मिंस्तपः सुमनसो*

बहु मानयन्ति॥' इति। पार्षदा एव पारावतादिरूपा भवन्तीत्युक्तमेवाग्रेऽपि सप्रपञ्चं वक्ष्यते॥४५॥

भावानुवाद—इस प्रकार उन वैकुण्ठवासियोंमें तत्त्वतः कोई तारतम्य नहीं है। यद्यपि बाह्य दृष्टिके अनुसार कुछ तारतम्य लक्षित होता है, तथापि उसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि उनमें कोई भी मत्सर नहीं है। 'मत्सर'का अर्थ है—दूसरोंकी श्रेष्ठताको सहन नहीं कर पाना। उसी प्रकार उन वैकुण्ठवासियोंमें किसीमें भी स्पर्धा, असूया, तिरस्कारादि दोष भी नहीं हैं, अपितु परस्पर सौहार्द-विनय-सम्मानादि हजारों गुण विद्यमान हैं तथा वे समस्त गुण नित्य हैं।

यदि आपत्ति हो कि मायाके अनादि होनेके कारण मायिक गुण भी नित्य हो सकते हैं। इस आशंकाको दूर करनेके लिए कह रहे हैं कि वैकुण्ठवासियोंके समस्त गुण सत्य हैं, मायिक गुणोंके समान असत्य या क्षणस्थायी नहीं हैं। इसका कारण है कि वे समस्त गुण स्वाभाविक हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति या ध्वंस नहीं होता है। श्रीमद्भागवत (३/१५/१८-१९)में श्रीब्रह्माने कहा है—"वैकुण्ठमें जब भ्रमर मधुर स्वरसे गुञ्जनपूर्वक मानों हरिकथाका गान करते हैं, उस समय पारावत (कबूतर), कोयल, सारस, चक्रवाक (चकवे), डाहुक (चातक), हंस, तोते, तीतर, मयूर जैसे समस्त पक्षी भी क्षणकालके लिए कोलाहलसे विरत होकर उस हरिकथाके श्रवणमें तन्मय हो जाते हैं। श्रीभगवान् तुलसी द्वारा अपने विग्रहको सजाते हैं तथा तुलसीकी गन्धका आदर करते हैं, इसे देख मन्दार, परिजात, कुन्द, कुवर, चम्पक, पुन्नाग, नागकेसर, बकूल, उत्पल, कमल जैसे समस्त फूल स्वयं सौगन्धयुक्त होकर भी उस तुलसीकी तपस्याको अधिक मानकर उसका अभिनन्दन करते हैं।" इसके द्वारा दूसरेकी श्रेष्ठताको सहन करनेमें सौहार्दताका गुण परिस्फुट हुआ है। वहाँ पार्षदगण ही कबूतर आदि रूपमें विराजित हैं। अतएव उनके समस्त गुण ही स्वाभाविक, नित्य और सत्य हैं तथा परस्पर समभावसे ही वे वैकुण्ठवासी छोटे-बड़े अगणित रूपोंमें अपने प्रभुकी सेवा करते हैं। इस विषयमें आगे भी कहा जायेगा॥४५॥

प्रपञ्चान्तर्गता भोगपरा विषयिणो यथा।
बहिर्दृष्ट्या तथेक्ष्यन्ते ते हि मुक्तार्चिताङ्घ्रयः ॥४६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि बाह्य दृष्टिसे वैकुण्ठवासी प्रपञ्चमें रहनेवाले भोगोंमें अनुरक्त विषयी लोगोंके समान प्रतीत होते हैं, तथापि वे विषयी नहीं हैं। समस्त विषयसुखोंको त्यागनेवाले मुक्तगण भी उनके श्रीचरणोंका अर्चन करते हैं॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च ते विचित्रवैभवादियोगेन विषयलिप्ता इव शंकनीया, इत्याह—प्रपञ्चेति। प्रपञ्चान्तर्गता ये विषयिणस्तेष्वपि भोगपरास्तत्तद्भोगासक्ता यथेक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दिव्यातिदिव्य-विचित्रविषयभोग-नृत्यगीतादिसेवितत्वात्, तथा तेऽपि बहिर्दृष्ट्यैव ईक्ष्यन्ते; हि यस्मात्ते मुक्तैः प्रपञ्चातीतैः त्यक्तविषयसुखैर्ब्रह्मनिष्ठैरपि अर्चिता अङ्घ्रयो येषां ते; अतः प्राकृतानामिव तुच्छातितुच्छविषयभोगशङ्का तेषु कुतः सम्भवेदिति भावः। तदुक्तं तेनैव तत्र—*'वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः। अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां, गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः॥'* (श्रीमद्भा॰ ३/१५/१७) इति। अस्यार्थः—'चरितानि चरित्राणि; भर्तुः प्रभोः; अनुविकसन्मधवः प्रसरन्मकरन्दाः, माधव्यः मधुकालीनाः सुमनसस्तासां गन्धेन खण्डिता विघ्निता धीर्येषां तेऽपि तद्गन्धप्रापकमनिलं क्षिपन्तस्तिरस्कुर्वन्तो गायन्ति।' अनेन वैकुण्ठवासिनां निरतिशयसुखेऽपि भजनानन्दासक्तिर्दर्शिताऽस्ति। तथा *'तत् सङ्कुलं हरिपदानतिमात्र-दृष्टैर्वैदुर्यमारकत-हेममयैर्विमानैः। येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः॥'* (श्रीमद्भा॰ ३/१५/२०) इति। अस्यार्थः—'हरिपदयोरानतिः प्रणामस्तावन्मात्रेण दृष्टैर्वैकुण्ठवासिनां विमानैर्न तु कर्म-ज्ञान-योगादि-प्राप्यैः। रजः काममुत्स्मयः परिहासस्तदाद्यैर्न आदधुर्न जनयामासुः; यतः कृष्णे आत्मा येषां तेषाम्' इति॥४६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकारके विचित्र वैभवादिसे युक्त होकर भी वैकुण्ठवासी किस प्रकार विषयोंमें लिप्त नहीं होते हैं? इस आशंकाको दूर करनेके लिए 'प्रपञ्च' इत्यादि श्लोकमें कहते हैं कि वे दिव्य-अतिदिव्य विचित्र विषयभोग और नृत्य-गीतादिका सेवन करनेके कारण बाह्य दृष्टिसे प्रपञ्चमें रहनेवाले भोगमें आसक्त विषयीके समान प्रतीत होते हैं, किन्तु वे विषयीके समान नहीं हैं। इसका कारण है कि विषयसुख त्यागकर प्रपञ्चसे अतीत स्थित ब्रह्मनिष्ठगण (मुक्तगण) भी उन वैकुण्ठवासियोंके श्रीचरणोंका अर्चन करते हैं। अतएव प्राकृत विषयीकी भाँति तुच्छसे भी अतितुच्छ

विषयभोगकी आशंका उनमें किस प्रकारसे सम्भव हो सकती है? श्रीमद्भागवत (३/१५/१७)में उक्त है—“वहाँ विमानचारी वैकुण्ठवासी अपनी प्रियाओंके साथ लोगोंकी सम्पूर्ण पापराशिको नाश करनेवाली श्रीभगवान्‌की पवित्र लीलाओंके गुणगानमें निरन्तर निमग्न रहते हैं। उस समय सरोवरोंमें खिली हुई मकरन्दयुक्त माधवीलताकी मधुमय सुगन्ध उनको अपनी ओर खींचती है, किन्तु वे उसकी ओर ध्यान नहीं देते अर्थात् उस गुणगानका परित्याग नहीं करते हैं। जो वायु उस सुगन्धको वहनकर लाती है, वे उस सुगन्धयुक्त वायुकी ही निन्दा करते हैं।” इसके द्वारा प्रदर्शित होता है कि वैकुण्ठवासियों द्वारा अत्यधिक सुख प्राप्त करने पर भी वे उस सुखको त्यागकर भजनानन्दके उपभोगमें ही आसक्त रहते हैं। तथा श्रीमद्भागवत (३/१५/२०)में कथित है—“वह वैकुण्ठलोक भगवद्भक्तों द्वारा अगण्य (तुच्छ बोध्य) वैदूर्य-मणि, मरकतमणि (पन्ने) और स्वर्णसे बने विमानोंसे परिपूर्ण है। ये समस्त विमान कर्म-ज्ञान-योगादिके द्वारा लब्ध नहीं हैं, बल्कि श्रीभगवान्‌के चरणयुगलोंमें प्रणाम करनेमात्रसे ही प्राप्त हो जाते हैं। उन समस्त वैकुण्ठवासियोंका मन श्रीहरिके चरणकमलोंमें इस प्रकारसे आसक्त है कि बड़े-बड़े नितम्बोंवाली परम सुन्दरी रमणियोंकी मन्द-मुस्कान या स्वाभाविक हास-परिहासादि क्रियाओंसे भी उनमें बिन्दुमात्र रजोगुणका उदय नहीं होता, क्योंकि उनकी आत्मा श्रीकृष्णमें समर्पित है”॥४६॥

ते निर्विकारताप्रान्तसीमां प्राप्ताश्च तन्वते।
विकाराल्लीलया चित्रान् प्रभुलीलानुसारिणः॥४७॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि वे निर्विकारताकी चरम सीमाको प्राप्त कर चुके हैं, तथापि प्रभुकी लीलाके अनुरूप वे विचित्र रूपादिका अनुकरणकर लीलावशतः विकार अङ्गीकार करते हैं॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्चनापि नानाविधरूप-धारणादिना तेषु कोऽपि विकारः शङ्कनीयः। श्रीमत्प्रभुवर-सन्तोषणार्थमेव तत्तदनुकारादित्याह—ते इति। अप्यर्थे चकारः। निर्विकारतायाः प्रान्तसीमां परमान्त्यकाष्ठां प्राप्ता इति चित्रान् बहुप्रकारान् विकारान् विचित्ररूपानुकरणादीन् लीलया तन्वते विस्तारयन्ति। तत्र हेतुः—प्रभोः

श्रीभगवतो लीलां परममधुरैश्वर्यविशेष-विस्तारणरूपामनुसर्तुं शीलमेषामिति तथा ते॥४७॥

भावानुवाद—उन वैकुण्ठवासियोंके द्वारा नाना-प्रकारके रूप धारण करनेके लिए किसी प्रकारके विकारकी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रभुके सन्तोषके लिए ही वे वैसा-वैसा आकार धारण करते हैं। यद्यपि उन्होंने निर्विकारताकी चरम सीमाको प्राप्त कर लिया था, तथापि प्रभुकी परम मधुर ऐश्वर्य-विस्ताररूप लीलाके अनुरूप ही वे नाना-प्रकारके विचित्र रूपादिको अङ्गीकार करते थे॥४७॥

अतस्तेऽन्योन्यमेकत्वं गता अपि पृथग्विधाः।
तत्स्थानं स विमानौघस्तत्रत्यं सर्वमीदृशम्॥४८॥

श्लोकानुवाद—अतएव वैकुण्ठवासियोंके परस्पर समान होने पर भी वे पृथक् रूपमें प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार वह स्थान और उस स्थानके विमानादि समस्त द्रव्य भी स्वरूपतः ब्रह्मघन होने पर भी लीलाके लिए नाना रूपोंमें प्रतीत होते हैं॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्मात् प्रभुलीलानुसरणाद्धेतोः ते वैकुण्ठवासिनः सच्चिदानन्दमयत्वादन्योऽन्यमेकत्वमेकरूपतां प्राप्ता अपि पृथगविधा नानारूपवन्तो भवन्ति। यद्वा, ईक्ष्यन्त इति पूर्वक्रियैवात्राप्याकृष्या। तत्रत्यं तत्स्थानस्य तद्विमानौघस्य च सम्बन्धि यत् किञ्चित् द्रव्यजातं तच्च। यद्वा, वैकुण्ठलोकीयं सर्वमपि ईदृश-मुक्तसदृशमेव ऐक्यं प्राप्तमपि पृथगविधमेवेत्यर्थः। ब्रह्मघनत्वेनैक्यत्वं भगवल्लीलानुसारेण च बहुविधत्वमिति दिक्॥४८॥

भावानुवाद—अतएव प्रभुकी लीलाका अनुसरण करनेके लिए वे वैकुण्ठवासी सच्चिदानन्दमय होनेके कारण परस्पर एक रूप होने पर भी नाना आकारोंमें प्रतीत होते हैं। वे जिस रूपमें अवस्थान करते हैं—वह रूप, वह स्थान, वहाँके विमान, यहाँ तक कि वहाँ स्थित समस्त द्रव्य ही वस्तुतः ब्रह्मघन एकरूप होने पर भी नाना रूपोंमें प्रतीत होते हैं। अतएव सच्चिदानन्दमय ब्रह्मघन होनेके कारण समस्त वैकुण्ठवासियोंमें ऐक्य है और भगवान्‌की लीलाके अनुसार उनमें बहुत प्रकारकी विचित्रता है॥४८॥

कदाचित् स्वर्णरत्नादिमयं तत्तत् प्रतीयते।
कदाचिच्च घनीभूतचन्द्रज्योत्स्नेव कक्खटी॥४९॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी वह स्थान स्वर्ण-रत्नमय रूपमें प्रतीत होता है और कभी घनीभूत चन्द्र-ज्योत्सनाके समान सफेद चूने जैसा प्रतीत होता है॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव तत्तत् स्थान-विमानादिकं स्वर्णरत्नादिमयमिव कदाचित् प्रतीयते, तत्तत्सादृश्य-दर्शनात्। कदाचिच्च घनीभूता कक्खटी-कठिना च चन्द्रज्योत्स्नेव तत्तत् प्रतीयते, विशुद्धमधुरतेजोघनत्वात्॥४९॥

भावानुवाद—अतएव वह स्थान और वहाँके विमानादि कभी-कभी स्वर्ण-रत्नादिमयके रूपमें अर्थात् उनके समान प्रतीत होते हैं और कभी घनीभूत चन्द्र-ज्योत्स्नाके समान अर्थात् चूने जैसे ठोस प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वैकुण्ठ तथा वहाँके समस्त द्रव्य विशुद्ध मधुर घनतेज होनेके कारण ही वैसे प्रतिभात होते हैं॥४९॥

कथञ्चित्तत्-प्रभावेण विज्ञातं स्यान्न चान्यथा।
ग्रहीतुं किल तद्रूपं मनसापि न शक्यते॥५०॥

श्लोकानुवाद—उस स्थानका स्वरूप वैकुण्ठपतिकी कृपासे ही ज्ञात हो सकता है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं, क्योंकि उस स्थानका रूप या तत्त्वादि मनके अगोचर है॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तच्च तस्य श्रीवैकुण्ठेश्वरस्य भगवतस्तेषां स्थानादीनां वा प्रभावेण कारुण्यादिशक्त्या कथञ्चित् केनापि स्वानुभवादिप्रकारेण विज्ञातं स्यात्। यद्वा, केनापि तत्तत्सादृश्यावलोकनस्पर्शनादिना प्रकारेण यदनुमानं तेनैव, न च अन्यथा अन्येन स्वशक्त्या बहिर्दृष्ट्यादिप्रकारेण वा। तत्र हेतुः—तेषां रूपं तत्त्वं मनसापि ग्रहीतुं न शक्यते, ब्रह्मघनत्वात्। अतः कथमन्यस्मिन् निर्वक्तुं शक्यतेति भावः॥५०॥

भावानुवाद—उस वैकुण्ठका स्वरूप या वैभवादि श्रीवैकुण्ठपतिकी करुणाके प्रभावसे अथवा उनके परिकरोंके अनुग्रहसे ही किसी प्रकार अनुभव किया जा सकता है। अथवा किसी प्रकार इस जगतमें उस वैकुण्ठकी सादृश्यताके दर्शन और स्पर्श आदि द्वारा भक्त उस

वैकुण्ठके सम्बन्धमें अनुमान लगा सकते है, किन्तु अपने सामर्थ्य या बाह्यदृष्टिकी क्रियाके द्वारा कभी भी वैकुण्ठतत्त्व या वहाँ स्थित वस्तुओंको नहीं जाना जा सकता है। इसका कारण है कि ब्रह्मघन होनेके कारण वहाँकी वस्तुओंका रूप और तत्त्व मनके द्वारा भी चिन्ता नहीं किया जा सकता, अतः मैं उनका किस प्रकारसे वर्णन करूँ? ॥५०॥

न कश्चित् प्रभवेद्बोद्धुं सम्यक् स्वानुभवं विना।
एतन्मात्रं हि शक्येत निरूपयितुमञ्जसा॥५१॥

श्लोकानुवाद—महिमासूचक वाक्य सुनकर किञ्चित्मात्र बोधगम्य होने पर भी व्यक्तिगत अनुभवके बिना वैकुण्ठको भलीभाँति जाना नहीं जा सकता है। अतः यथार्थतः वैकुण्ठतत्त्वके सम्बन्धमें मेरे लिए इतना कहना ही सम्भव है॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि तद्बोधं स्यात्? इत्यपेक्षायामाह—नेति। स्वस्यात्मनोऽनुभवं विना तद्रूपं सम्यग्बोद्धुं कश्चिन्न प्रभवेत्, अनुभवितुरपि वाक्यश्रवणात् किञ्चिदेव कश्चिदेव बोद्धुं शक्नुयादित्यर्थः। यद्वा, सम्यक् समीचीनो यः स्वानुभवस्तं विनेति योज्यम्। ततश्चानुभवस्य सम्यक्त्वं सर्वथा तन्निष्ठतापरिपाकादि-कमूह्यम्। तत्र च स्वेति—आत्मन एव साक्षादनुभवात्, न तु गुरूपदेश-प्रभावादिति दिक्। ननु विना तत्त्वबोधं कथं साधकानां श्रद्धा स्यात्तत्राहुः—एतदिति सार्द्धेन। अञ्जसा अनायासेन याथार्थ्येन वा॥५१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वह वैकुण्ठ किस प्रकारसे जाना जायेगा? इसकी आकांक्षामें 'न' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि स्वयं अनुभव किये बिना कोई भी वैकुण्ठतत्त्वको भलीभाँति जान नहीं सकता है। अनुभवीजनोंके वाक्य श्रवणकर उस तत्त्वको कोई किञ्चित् मात्र ही जान सकता है। अथवा स्वयंको भलीभाँति अनुभव न होनेसे उस तत्त्वको जाना नहीं जा सकता है तथा उस सम्यक् अनुभवमें सर्वथा अपने इष्टके प्रति निष्ठाके परिपक्व होनेका भी विचार है। यहाँ 'अनुभव' शब्दका अर्थ है कि उस स्थान और वहाँके परिकरादिके शरणागत होकर उनके भावोंकी चिन्ता करते-करते जब उस भावके अलावा अन्य पदार्थोंकी स्फूर्ति-स्मरणादि नहीं होंगे, तभी

वह तत्त्व जाना जायेगा—इसके अलावा उस तत्त्वको जाननेका अन्य कोई उपाय नहीं है। तथा उस वैकुण्ठतत्त्वका ज्ञान स्व-अनुभव अर्थात् अपनी आत्मा द्वारा किये गये साक्षात् अनुभव द्वारा ही सम्भव है। वह तत्त्व गुरुके उपदेश श्रवण मात्र द्वारा ही अनुभव नहीं होता, अपितु उस उपदेशको जीवनमें पालन करनेसे ही भलीभाँति अनुभव होता है। यदि आपत्ति हो कि साध्यवस्तुका तत्त्व न जाननेसे साधकमें श्रद्धा तथा साधनमें प्रवृत्ति किस प्रकार होगी? इसके उत्तरमें 'एतद्' इत्यादि आधे श्लोक द्वारा कह रहे हैं—इस वैकुण्ठतत्त्वके सम्बन्धमें मेरे लिए यथार्थतः इतना कहना ही सम्भव है। अथवा वह वस्तु ऐसी अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न है कि श्रद्धाके साथ उसके विषयमें श्रवणकर हृदयमें भावना करते-करते कृपाशक्तिके प्रभावसे साधकको साधनका सामर्थ्य तथा अनुभव अनायास प्राप्त होता है॥५१॥

तेषु वै दृश्यमानेषु तद्ब्रह्मानुभवे सुखम्।
गच्छत् सुतुच्छतां सद्यो ह्रियेव विरमेत् स्वयम्॥५२॥

श्लोकानुवाद—उस वैकुण्ठ और वहाँके समस्त पदार्थोंके दर्शन होनेसे ब्रह्मानुभवका सुख तुच्छ प्रतीत होता है तथा लज्जावशतः उसकी इच्छा स्वतः ही समाप्त हो जाती है॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—तेष्विति। वै प्रसिद्धौ; तत्स्थानादिषु दृश्यमानेषु सत्सु तत्परममहत्तया प्रतिपाद्यमानं ब्रह्मण आत्मतत्त्वस्यानुभवे साक्षात्कारे सुखमपि स्वयमेव सद्यो विरमेत् भज्यते। सुतुच्छतामत्यन्तलघुतां गच्छत् लभमानं सत्; अतो ह्रिया लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षा॥५२॥

भावानुवाद—उस वैकुण्ठके अनुभवकी महिमाको बतानेके लिए 'तेषु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस प्रसिद्ध वैकुण्ठ और वहाँ स्थित समस्त पदार्थोंके साक्षात् दर्शन होनेसे उनकी परम महानताका अनुभव होनेके कारण ब्रह्मानुभवसे प्राप्त सुखकी इच्छा स्वतः ही समाप्त हो जाती है। अर्थात् जब अनुभव पथ पर वैकुण्ठसे सम्बन्धित सुख स्फुरित होता है, तब स्वरूप (आत्म) अनुभवसे उत्पन्न सुखके विषयमें क्या कहें, ब्रह्मानुभवका सुख भी तुच्छ परिगणित होता है, अतः लज्जावशतः उसकी इच्छा स्वयं ही समाप्त हो जाती है॥५२॥

स्वारामाः पूर्णकामा ये सर्वापेक्षाविवर्जिताः।
ज्ञातं प्राप्तं निजं कृत्स्नं त्यक्त्वा वैष्णव-सङ्गतः॥५३॥
सारासारविचाराप्त्या भक्ति-मार्गं विशन्ति यत्।
तद्धेतुस्तत्र यातेनानुभूतो दार्ढ्यतो मया॥५४॥

श्लोकानुवाद—जो आत्माराम, पूर्णकाम और समस्त प्रकारकी आकांक्षाओंसे रहित हैं, वे भी वैष्णव सङ्गके द्वारा सार-असार विचार प्राप्त कर अपने द्वारा अवगत तथा अनुभूत आत्मरामता (ब्रह्मसुख)को परित्यागकर भक्तिमार्गमें प्रवेश करते हैं। मैंने स्वयं ही इसे वैकुण्ठमें जाकर अनुभव किया है॥५३-५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि श्रद्धाविशेष-सम्पत्तये तद्बोधनार्थं तत्प्रकारः कश्चिदन्योऽपि कथ्यतामिति चेत्तत्राह—स्वारामा इति द्वाभ्याम्। स्वारामाः आत्मारामाः अतः पूर्णकामाः समाप्ताशेषाभीष्टाः, अतएव सर्वत्र अपेक्षया विवर्जिता विहीनाः। ज्ञातमवगतं प्राप्तं चानुभूतं निजम् आत्मारामत्वादिकं ब्रह्मसुखं वा कृत्स्नं साङ्गं त्यक्त्वा; कुतः? वैष्णवानां सङ्गतः; सारासारयोर्विचारस्य आप्त्या लाभेन, यत् विशन्ति प्रविशन्ति, तस्य निजात्मारामतादि-त्यागेन भक्तिमार्गे प्रवेशस्य हेतुः कारणं, तत्र श्रीवैकुण्ठलोके यातेन गतेन एव मया दार्ढ्यतो निश्चयेनानुभूतः, धिक्कृतब्रह्म-सुखस्य श्रीवैकुण्ठलोकस्य साक्षादनुभवसिद्धेः। अतो ब्रह्मनिष्ठानां तेषां निजब्रह्म-निष्ठतादिपरित्यागेन भक्तिमार्गप्रवेशतोऽन्यथानुपपत्तिन्यायेन भक्तानां वैकुण्ठसुखानुभवस्य परममाहात्म्यप्रकारोऽनुमानेन बुध्यताम्। तत्तत्त्वबोधस्तु सम्यगनुभवं विना न सम्भवतीति निगमनम्॥५३-५४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अपने अनुभव द्वारा ही वैकुण्ठतत्त्वको जाननेके अलावा विशेष श्रद्धा रूप सम्पत्तिके बलसे उस वैकुण्ठतत्त्वके बोधके लिए क्या कुछ और उपाय नहीं हैं? इसके लिए 'स्वारामाः' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। स्वरामाः अर्थात् आत्मारामाः, अतः पूर्णकाम अर्थात् जिनकी समस्त अभिलाषाएँ समाप्त हो चुकी हैं, अतएव वे सर्वत्र आकांक्षाओंसे रहित हैं। ऐसे व्यक्ति भी अपने द्वारा ज्ञात तथा अनुभव किये जानेवाली आत्मारामता अर्थात् ब्रह्मसुखको सम्पूर्णता त्याग देते हैं। किसलिए? वैष्णव सङ्गमें सार-असारका विचार प्राप्तकर सभी भक्तिपथमें प्रवेश करते हैं। ब्रह्मसुखका अनुभव करनेवाले व्यक्तियों द्वारा अपनी आत्मारामताको

परित्यागकर भक्तिमार्गमें प्रवेश करनेका कारण मैंने स्वयं ही वैकुण्ठलोकमें जाकर दृढ़ता सहित अनुभव किया है। अर्थात् वैकुण्ठलोकका सुख अनुभव होते ही ब्रह्मसुख स्वतः ही धिक्कृत हो जाता है, इसलिए ब्रह्मविद् अपनी ब्रह्मनिष्ठादिका परित्यागकर भक्तिमार्गमें प्रवेश करते हैं। अतः 'अन्यथानुपपत्ति' न्यायानुसार भक्तों द्वारा वैकुण्ठ सुखका अनुभव परम महिमा युक्त है—इसे अनुमान द्वारा स्वयं ही अनुभव करो, क्योंकि जब तक स्वयं भलीभाँति अनुभव न हो, तब तक वह तत्त्व सम्पूर्णरूपसे समझा नहीं जा सकता है॥५३-५४॥

गच्छदागच्छतोऽहं तान् पश्यन्निदमचिन्तयम्।
ईदृशाः सेवका यस्य स प्रभुर्नाम कीदृशः॥५५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारके महावैभवसे युक्त श्रीवैकुण्ठनाथके सेवकोंके गमन और आगमनको लक्ष्यकर मैंने सोचा कि जिनके सेवक ऐसी महिमासे युक्त हैं, न जाने वे प्रभु कैसे होंगे?॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुतं निजवृत्तमाह—गच्छदिति। गच्छतः पुरीं प्रविशतः; आगच्छतः ततो निःसरतः; तान् श्रीवैकुण्ठनाथसेवकान् पश्यन् सन्। चिन्तितमेवाह—ईदृशा इति, एवम्भूत-सौन्दर्य-वैभवादि-युक्ताः। स कीदृशः कथम्भूतः स्यात्? नाम वितर्के; सेवकेभ्यः सेव्यस्य स्वत एव महिमविशेषोपपत्तेः॥५५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे प्रासंगिक विषयको समाप्तकर अब गोपकुमार मूल विषयको अपने वृत्तान्त द्वारा 'गच्छत्' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। महावैभवसे युक्त सेवक पुरीमें प्रवेश कर रहे थे और कोई पुरीसे बाहर जा रहे थे। इस प्रकार उनका गमन और आगमन देखकर मैंने मन-ही-मन सोचा कि जिनके सेवक ऐसे अद्भुत सौन्दर्य और वैभवसे युक्त हैं, न जाने वे प्रभु कैसे होंगे? मुझमें उन प्रभुको जाननेकी प्रबल उत्कण्ठा उदित हुई, क्योंकि सेवकोंके दर्शनसे स्वतः ही सेव्य प्रभुकी महिमा बोध होती है॥५५॥

इत्थं हर्षप्रकर्षेणोत्तिष्ठन्नुपविशन् भृशम्।
गोपुरे वर्त्तमानोऽहं तैर्जवेनैत्य पार्षदैः॥५६॥

अन्तः प्रवेश्यमानो यत् दृष्टवानद्भुताद्भुतम्।
वक्तुं तद्द्विपरार्द्धेन सहस्रास्योऽपि न क्षमः॥५७॥

श्लोकानुवाद—मैं उस गोपुरमें (पुर द्वारमें) रहकर हर्षपूर्वक बार-बार खड़ा हो रहा था तथा बैठ रहा था। इसी बीच मेरे सङ्गी पार्षदगण आये और मुझे पुरीके भीतर ले गये। मैंने वहाँ प्रवेशकर जो कुछ देखा वह सब कुछ ही अद्भुत था, सहस्रवदन (अनन्तदेव) भी द्विपरार्द्धकाल तक उसे वर्णन करनेमें सक्षम नहीं होंगे॥५६-५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थमुक्तप्रकारेण गोपुरे बहिर्द्वारे वर्त्तमानस्तैर्विज्ञापनार्थमन्तःपुर-प्रविष्टैः पार्षदैर्जवेन एत्य धावित्वाऽन्तःपुरमध्यं प्रवेश्यमानोऽहं यत् अद्भुतादाश्चर्याद्यद्भूतं दृष्टवान् साक्षादन्वभवं तद्वक्तुं सहस्रास्यः शेषोऽपि द्विपरार्द्धकालेनापि वक्तुं न क्षमः शक्त इति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र गोपुरे वृत्तिः प्रकारो हर्षस्य प्रकर्षेण उद्रेकेण भृशमुत्तिष्ठन्नुपविशंश्चेति॥५६-५७॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैं गोपुरमें (बाह्य द्वारपर) वर्त्तमान रहकर हर्षपूर्वक बार-बार खड़ा हो रहा था तथा बैठ रहा था। इसी बीच अन्तःपुरमें गये मेरे सङ्गी पार्षद आये और मुझे अन्तःपुरके भीतर ले गये। मैंने अन्तःपुरमें प्रवेशकर जिस आश्चर्यपूर्ण विषयका साक्षात् अनुभव किया वह सब कुछ ही अद्भुत था। सहस्रवदन अर्थात् शेषदेव भी अपने सैकड़ों मुखोंसे द्विपरार्द्धकाल तक उसे वर्णन करनेमें समर्थ नहीं होंगे॥५६-५७॥

द्वारे द्वारे द्वारपालास्तादृशा एव मां गतम्।
प्रवेशयन्ति विज्ञाप्य विज्ञाप्यैव निजाधिपम्॥५८॥

श्लोकानुवाद—प्रत्येक द्वार पर द्वारपाल अपने-अपने अध्यक्षको मेरे सम्बन्धमें बतलाकर मुझे प्रवेश कराने लगे॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीमन्तःप्रवेशप्रकारमेवाह—द्वार इति त्रिभिः। द्वारे गतं सन्तं मां तादृशाः पूर्वोक्तसदृशा एव सर्वेऽपि द्वारपालाः प्रतिद्वारिणो निजाधिपं निजनिजाध्यक्षं विज्ञाप्यैव प्रवेशयन्ति। वीप्साद्वयञ्च द्वाराणां द्वारपालाधिपानाञ्च बहुत्वापेक्षया। तेन च यथापेक्ष्यमन्यत्रापि वीप्सावगन्तव्या, एवमग्रेऽपि॥५८॥

भावानुवाद—अब 'द्वार' इत्यादि तीन श्लोकोंके द्वारा अन्तःपुरमें प्रवेशकी रीतिका वर्णन कर रहे हैं। मैं जिस-जिस द्वार पर उपस्थित

होता, पूर्वकी भाँति उस-उस द्वारके द्वारपाल भी अपने अध्यक्षको मेरे विषयमें बतलाकर मुझे उस द्वारमें प्रवेश कराते। इस प्रकार मैंने बहुतसे द्वारोंको पार किया॥५८॥

प्रतिद्वारान्तरे गत्वा गत्वा तत्प्रतिहारिभिः।
प्रणम्यमानो यो यो हि तत्प्रदेशाधिकारवान्॥५९॥
दृश्यते स स मन्येत जगदीशो मया किल।
पूर्ववत् सम्भ्रमावेशात् नम्यते स्तूयते मुहुः॥६०॥

श्लोकानुवाद—प्रत्येक द्वारके द्वारपालगण एक द्वारसे अन्य द्वारमें जाकर उस-उस प्रदेशके अधिकारियोंको प्रणाम करने लगे। मैं भी उन-उन अधिकारियोंको देखकर उन्हें जगदीश मानकर पहलेकी भाँति सम्मान सहित बार-बार प्रणाम और स्तव करने लगा॥५९-६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रतिद्वारस्य अन्तरेऽभ्यन्तरे गत्वा तस्य द्वारस्य प्रतिहारिभिर्यो यः प्रणम्यमानो मया दृश्यते, स स मया जगदीशः श्रीवैकुण्ठेश्वरो मन्येत। अतः सम्भ्रमैरावेशाद्धेतोः सः स पूर्ववन्मुहुर्नम्यते स्तूयते चेति द्वाभ्यामन्वयः। ननु प्रतिहारिभिः सः स कुतः प्रणम्यते? तत्राह—तत्प्रदेशस्य तस्य द्वारप्रकोष्ठस्य अधिकारवान् अध्यक्ष इति। एवं तेषां वैभवविशेषेण जगदीशमनने हेतुविशेषश्च दर्शितः। तथा श्रीवैकुण्ठपार्षदानां तेषां भगवत्सादृश्येन माहात्म्यविशेषोऽस्य च गोपकुमारस्य भगवद्दर्शनौत्सुक्यावेशोऽपि दर्शित इति दिक्॥५९-६०॥

भावानुवाद—मैंने और भी देखा कि प्रत्येक द्वारमें प्रवेश करते समय वे द्वारपालगण उस-उस प्रदेशके अध्यक्षको प्रणाम करते। मैं भी उनकी भाँति उन-उन अध्यक्षोंको श्रीवैकुण्ठेश्वर मानकर सम्मान पूर्वक पहलेकी भाँति बार-बार प्रणाम और स्तव करने लगा। यदि आपत्ति हो कि द्वारपालगणोंने तो प्रत्येक द्वारके आधिकारीको अध्यक्षरूपमें प्रणाम किया, किन्तु आपने किसलिए उन्हें श्रीवैकुण्ठेश्वर मानकर पुनः-पुनः प्रणाम और स्तवादि किया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वस्तुतः मुझमें समझनेका सामर्थ्य नहीं थी, क्योंकि उनके विचित्र वैभवके माहात्म्यसे मेरा ज्ञान विलुप्त हो गया था। इस वचनसे गोपकुमार द्वारा उन अध्यक्षोंको जगदीश माननेका कारण प्रदर्शित हुआ है तथा श्रीवैकुण्ठ पार्षदोंके साथ भगवान्के सादृश्यका माहात्म्य

और गोपकुमारके द्वारा भगवान्‌के दर्शनकी उत्सुकतामें आवेश भी प्रदर्शित हुआ है॥५९-६०॥

अथ तैः पार्षदैः स्निग्धैरसाधारणलक्षणम्।
प्रभोर्विज्ञापितोऽहञ्च शिक्षितः स्तवनादिकम्॥६१॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद मेरे प्रति स्निग्ध उन वैकुण्ठपार्षदोंने मुझे प्रभुके असाधारण लक्षणोंके सम्बन्धमें बतलाया तथा प्रभुके स्तवादिकी शिक्षा भी दी॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरमतो हेतोरिति वा। तैर्मत्सङ्गिभिः; प्रभोः श्रीवैकुण्ठेश्वरस्य असाधारणमग्रे वक्ष्यमाणं श्रीवत्सादिकं लक्षणमहं विशेषेण ज्ञापितः, प्रभोः स्तवनादिकञ्च शिक्षितः। यतः स्निग्धैः; आदि-शब्देन प्रणामानन्तरं चरणारविन्दाग्रण्यस्तद्दृष्टित्वेन निश्चलतयैकपार्श्वे दूरतोऽवस्थानं सर्वविकारसम्वरणं साञ्जलिहस्तत्वादिकं ग्राह्यम्॥६१॥

भावानुवाद—तब मेरी अवस्थाको देखकर उन सङ्गी पार्षदोंने मुझे प्रभु श्रीवैकुण्ठेश्वरके असाधारण लक्षणों अर्थात् उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स इत्यादिके चिह्नके विषयमें बतलाया तथा प्रभुके स्तवादिके विषयमें भी शिक्षा प्रदान की। इसका कारण था कि वे पार्षदगण मेरे प्रति स्निग्ध थे। 'आदि' शब्दका अर्थ है—विभिन्न शिक्षाएँ जैसे प्रभुको प्रणामकर उनके श्रीचरणकमलोंके अग्रभागमें दृष्टिपात करना, फिर निश्चल होकर दूरमें एक तरफ खड़े हो जाना, प्रभुके दर्शनसे उदित समस्त प्रकारके आनन्द विकारोंको सम्वरण करना, सर्वदा उनके समक्ष हाथ जोड़कर रहना इत्यादि॥६१॥

महामहाचित्रविचित्रगेह द्वारप्रदेशानतिगम्य वेगात्।
श्रीमन्महल्लप्रवरस्य मध्ये प्रासादवर्गैः परिषेवितांघ्रिम्॥६२॥
प्रासादमेकं विविधैर्महत्तापूरैर्विशिष्टं परसीम यातैः।
प्राप्तोऽहमादित्यसुधांशुकोटिकान्ति मनोलोचन-वृत्तिचोरम्॥६३॥

श्लोकानुवाद—मैंने महा-महा चित्र-विचित्र गृह-द्वार और प्रदेशोंको अतिवेगसे पारकर अन्तमें एक परमोत्तम अन्तःपुरमें प्रवेशकर देखा कि

वह भवन (महल) इतना उत्तम था कि अन्यान्य समस्त भवन मानों उस भवनकी चरण सेवा कर रहे हों। वह भवन विविध प्रकारकी महिमाओंसे सुशोभित था तथा वैसी महिमाओंकी चरम सीमा अन्यत्र कहीं भी नहीं थी। वह करोड़ों सूर्योंके समान उज्ज्वल तथा करोड़ों चन्द्रोंके समान स्निग्ध कान्ति विस्तारकर मन और नेत्रोंकी वृत्तिका अपहरण कर रहा था॥६२-६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च महद्भ्योऽपि महतश्चित्रेभ्योऽप्यद्भुतेभ्योऽपि विचित्राम्; यद्वा, महतो महत इति वीप्सा बहुत्वापेक्षया, चित्रान् विविधान् परमाद्भुतान् गेहद्वारप्रदेशान्, गेहानि द्वाराणि प्रकोष्ठानि च वेगात् अतिगम्य लङ्घयित्वा श्रीमतो महल्लप्रवरस्य परमोत्तमान्तःपुरविशेषस्य मध्ये प्रासादमेकमहं प्रापु इति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशम्? प्रासादवर्गैः परितः शोभिता अङ्घ्रयः प्रान्तभागा यस्य, चतुर्दिक्षु वर्त्तमानानां प्रासादसमूहानां मध्ये विराजमानमित्यर्थः। पुनः कीदृशम्? परसीम-चरमकाष्ठां यातैः प्राप्तैर्विविधाया महत्ताया माहात्म्यस्य पूरैः समूहैर्विशिष्टं, तथा आदित्यस्य सूर्यस्य सुधांशोश्चन्द्रस्य कोटीनामिव कान्तिर्द्युतिर्यस्य तम्, मनोनयनाह्लादक-विविध-महातेजोविशेषवत्त्वात्। अतएव मनसो लोचनयोश्च वृत्तीनां चोरं, तत्प्राप्तौ मनोनयनानामन्यत्राप्रवृत्तेः॥६२-६३॥

भावानुवाद—इसके बाद मैंने महानसे भी महान, चित्र-विचित्र अर्थात् अद्भुतसे भी अद्भुत गृह, द्वारदेश और समस्त प्रदेशोंको बहुत तेजीसे पार किया। यहाँ 'महानसे भी महान' रूप द्विरुक्तिका तात्पर्य है कि इस प्रकारके बहुत-बहुत चित्र-विचित्र अत्यन्त अद्भुत गृह, द्वार और प्रकोष्ठादिको बहुत शीघ्रतासे लाँघकर परम महिमासे युक्त श्रीमत् महलप्रवर अर्थात् अत्यन्त उत्तम अन्तःपुरोंमें से एक महलमें प्रवेश किया। वह महल किस प्रकारका था? उस श्रेष्ठतम महलके चारों तरफ सैकड़ों चित्र-विचित्र महल इस प्रकार विराजित थे मानों उसकी चरणसेवा कर रहे हों। वास्तवमें वैसी चरम सीमाको प्राप्त महिमा अन्यत्र कहीं भी नहीं देखी जाती। वह महल करोड़ों चन्द्र और सूर्योंकी प्रभाको तिरस्कृत कर सुस्निग्ध कान्ति विकासकर सभीके मन और नेत्रोंको आनन्दित कर रहा था। अतः मन और नेत्रोंकी वृत्तिको चुरानेवाले उस विशेष महलका दर्शन करने पर और कुछ दर्शन करनेकी इच्छा ही नहीं हो रही थी॥६२-६३॥

तदन्तरे रत्नवरावलीलसत्सुवर्णसिंहासहनराज–मूर्धनि।
सुजातकान्तामलहंसतूलिकोपरि प्रसन्नाकृशचन्द्रसुन्दरम्॥६४॥
मृदूपधानं निजवामकक्षकफोणिनाक्रम्य सुखोपविष्टम्।
वैकुण्ठनाथं भगवन्तमारादपश्यमग्रे नवयौवनेशम्॥६५॥

श्लोकानुवाद—उस महलके भीतर जाकर मैंने देखा कि कुछ दूरी पर श्रेष्ठ रत्नोंसे शोभायमान स्वर्णमय सिंहासनराज था और उसके ऊपर हंसतूलिका अर्थात् कोमल और कलङ्करहित पूर्णचन्द्रके समान सुन्दर समस्त उपधान (बिछौने–तकिये) थे। नवयौवनके ईश्वर भगवान् श्रीवैकुण्ठनाथ उन उपधानों पर अपना वाम अङ्ग और कुहनी रखकर सुखपूर्वक विराजमान थे॥६४–६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य प्रासादस्यान्तरे यो रत्नावलिभिर्लसन् शोभमानः सूवर्णमय–सिंहासनराजस्तस्य मूर्धनि उपरिष्टात् या सुजाता कोमला कान्ता मनोज्ञा अमला उज्वला हंसतूलिका तूलिविशेषस्तस्या उपरि सुखेनोपविष्टं वैकुण्ठनाथ–माराद्दूरत एव, तत्प्रकोष्ठस्य सुविस्तीर्णत्वात्। अग्रेऽभिमुखेऽपश्यमिति द्वाभ्यामन्वयः। कथमुपविष्टम्? मृदु कोमलमुपधानं निजेन वामेन दक्षिणेतरेण कक्षेण कफोणिना च आक्रम्य अवष्टभ्येत्यर्थः। कीदृशं तत्? प्रसन्नान्निष्कलङ्कादकृशात् पूर्णाच्चन्द्रादपि सुन्दरम्, परमशुभ्रकान्तिवर्तुलाकारमित्यर्थः। कीदृशं तम्? नवयौवनस्य ईशं स्वामिनं, कदापि तद्व्यभिचाराभावात्। नित्यमेवोद्भिन्नयौवने वयसि वर्त्तमानमित्यर्थः। यतो भगवन्तं स्वाधीनाशेषवैभवादिकमिति दिक्। एवं हेतुश्चाग्रेऽपि यथापेक्षमाकर्षणीयः॥६४–६५॥

भावानुवाद—मैंने दूरसे देखा कि उस महलके सुविस्तीर्ण प्रकोष्ठके बीचमें रत्नोंसे जड़ित अर्थात् शोभायमान स्वर्णमय सिंहासनराज था। उस सिंहासन पर एक कोमल, सुन्दर और उज्ज्वल हंसतूलिका (बिछौना) था जिस पर श्रीवैकुण्ठनाथ सुखपूर्वक विराजमान थे। श्रीवैकुण्ठेश्वर किस प्रकार विराजित थे? उस सिंहासन पर कलङ्करहित पूर्णचन्द्रसे भी सुन्दर अत्यन्त शुभ्र(सफेद)कान्तिसे युक्त कोमल तकिया था तथा नवयौवनके ईश्वर भगवान् श्रीवैकुण्ठनाथ उस कोमल गोलाकार तकिये पर अपना वाम अङ्ग और कुहनी रखकर सुखपूर्वक विराजमान थे। 'नवयौवन' कहनेका तात्पर्य है कि उनके नवयौवनमें कभी भी अस्थिरता नहीं होती—वे दिव्य नवयौवनमें नित्य विराजमान रहते हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं तथा समस्त वैभव ही उनके अधीन

है। इसका कारण गोपकुमारकी अपेक्षासे भी आकर्षणीय रूपमें आगे कथित होगा॥६४-६५॥

सौन्दर्य-माधुर्यमयाङ्ग-कान्त्या, नूत्नाम्बुद-श्रीहरया स्फुरन्त्या।
रत्नाचित-स्वर्णविभूषितस्रग्वस्त्रानुलेपादि-विभूषयन्तम् ॥६६॥

श्लोकानुवाद—मैंने देखा कि नवीन मेघकी शोभाका हरण करनेवाली सौन्दर्य-माधुर्यमय-अङ्गकान्ति द्वारा वे रत्नजड़ित स्वर्ण विभूषण, माला, वस्त्र, अनुलेपन और सिंहासनादिको विभूषित कर रहे थे॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—सौन्दर्येति दशभिः। सौन्दर्यं तत्तदवयवसौष्ठवं, माधुर्यं लावण्यादि-तत्तद्गुणविशेषः, तन्मया अङ्गस्य श्रीमूर्त्तेरवयववर्गस्य वा कान्त्या कृत्वा, रत्नैराचितानि व्याप्तानि स्वर्णमयानि विभूषणानि किरीट-कुण्ड़ल-कङ्कणाङ्गद-काञ्चि-नूपुरादीनि तदादिविशेषेणाधिक्येन भूषयन्तम्; कीदृश्या? नूत्नाम्बुदानां नवीन-नीरदानां श्रियं शोभां हरतीति तथा तया; तत्राप्यपरितोषेणाह—स्फुरन्त्या सर्वतः प्रसरत्परमसुन्दर-श्यामकान्तिच्छटाभिः शोभमानयेति। स्रक् वनमाला वैजयन्ती वा। आदि-शब्देन उपधान-हंसतूलिका-सिंहासनादि॥६६॥

भावानुवाद—अब श्रीवैकुण्ठनाथके सौन्दर्यके सम्बन्धमें विशेषरूपमें बतलानेके लिए 'सौन्दर्य' इत्यादि दस श्लोकोंकी अवतरणा कर रहे हैं। सौन्दर्य अर्थात् आयुके अनुरूप शरीरके अङ्गोंका सुन्दररूपमें गठन। माधुर्य अर्थात् लावण्यादि गुणविशेष। श्रीवैकुण्ठनाथकी सौन्दर्य-माधुर्यमय अङ्गकान्ति वर्षण होनेवाले नव-मेघकी शोभाका भी हरण करनेवाली थी और वे नाना रत्नोंसे जड़े स्वर्णमय विभूषण, वनमाला, वस्त्र और अनुलेपनादि द्वारा विभूषित थे। विभूषण कहनेसे किरीट, कुण्डल, कङ्कण, अङ्गद, काञ्चि, नूपुरादि जानना होगा। तथापि असन्तोषके कारण पुनः कहते हैं—सर्वतः प्रसरणशील उनकी परम सुन्दर श्यामकान्ति द्वारा उनके वस्त्र, भूषण, अनुलेपन, उपधान, हंसतूलिका और सिंहासनादि प्रकाशमान हो रहे थे। श्रीभगवान्‌ने अपने कण्ठमें वैजयन्तीमाला या वनमाला धारण की हुई थी। वैजयन्तीमाला अर्थात् पाँच रङ्गोंके पुष्पोंसे गुथी हुई घुटने तक लम्बी माला। वनमाला अर्थात् पत्तों और फूलोंसे बनी हुई चरणों तक लम्बी विशेष माला॥६६॥

कङ्कणाङ्गदविभूषणायत–स्थूलवृत्तविलसच्चतुर्भुजम् ।
पीतपट्टवसनद्वयाञ्चितं चारुकुण्डल–कपोलमण्डलम् ॥६७ ॥

श्लोकानुवाद—वे कङ्कण, अङ्गद आदि समस्त अलङ्कारोंकी विभूषण-स्वरूप स्थूल, सुगोल, चमकदार चार भुजाओं द्वारा सुशोभित थे। दो पीत रेशमी वस्त्र उनके अङ्गों पर शोभा पा रहे थे तथा उनके कपोलों पर सुन्दरकुण्डल आन्दोलित हो रहे थे॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कङ्कणानां वलयानामङ्गदानाञ्च विभूषणरूपाश्च आयताश्च स्थूलाश्च वृत्ताश्च विलसन्तश्च भोगिभोगादिभ्यः शोभामानाश्चत्वारो भुजा यस्य; पीतं रविकरगौरं पट्टञ्च कौषेयं यद्वस्त्रद्वयं परिधानोत्तरीयरूपं तेनाञ्चितं सेवितम्; चारुणी कुण्डले यस्मिन् तत् कपोलमण्डलं यस्य॥६७॥

भावानुवाद—वे कङ्कण और अङ्गदादिके विभूषणरूप सुदीर्घ, स्थूल, सुगोल चार भुजाओं द्वारा सुशोभित थे। सूर्यकी छटाका तिरस्कार करनेवाले दो रेशमी पीतवस्त्रों (परिधेय और उत्तरीय) द्वारा उनका श्रीअङ्ग सेवित था तथा अलकावलिसे मण्डित उनके कपोलों पर दो मनोहर कुण्डल आन्दोलित हो रहे थे॥६७॥

कौस्तुभाभरण–पीनवक्षसं, कम्बुकण्ठ–धृतमौक्तिकावलिम्।
सस्मितामृतमुखेन्दुमद्भुत–प्रेक्षणोल्लसित–लोचनाम्बुजम् ॥६८ ॥

श्लोकानुवाद—उनके विशाल वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणिका आभरण था, शंखके समान कण्ठमें मोतियोंका हार शोभा पा रहा था, उनका मुखचन्द्र मन्द मुस्कानरूप अमृतसे परिपूर्ण था तथा अपने खिले हुए कमलके समान नेत्रों द्वारा वे भङ्गिमापूर्वक अवलोकन कर रहे थे॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—कौस्तुभस्य मणेराभरणं पीनं वक्षो यस्य। कम्बुवत् त्रिरेखाङ्कित–सुवृत्तकण्ठे धृता मौक्तिकावलिर्मुक्ताहारो येन; स्मितमेवामृतं सर्वाह्लाद-कत्वादिना, तेन सह वर्त्तमानं मुखमेवेन्दुः सुवृत्तत्वादिना यस्य; चन्द्रस्याप्यमृतमयत्वं प्रसिद्धमेव। अद्भुतेन निरुपमेण प्रेक्षणेन अवलोकभङ्ग्या उल्लसिते परमशोभिते लोचनाम्बुजे यस्य॥६८॥

भावानुवाद—उनके विशाल वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणिका आभरण था तथा शंखके समान त्रिरेखायुक्त सुगोल कण्ठमें मोतियोंका हार

शोभा पा रहा था। श्रीनारायणका मुखचन्द्र मन्द-मुस्कानरूप अमृतके माधुर्यसे परिपूर्ण होकर सबको प्रसिद्ध चन्द्रके अमृतकी तुलनामें भी अधिक आनन्द प्रदान कर रहा था। उनके करुणापूर्ण अरुण नेत्रकमल अद्भुत अवलोकन भङ्गिमा द्वारा शोभायमान थे॥६८॥

कृपाभरोद्यद्वरचिल्लिनर्त्तनं, स्व-वामपार्श्वे स्थितयात्मयोग्यया।
निवेद्यमानं रमया सविभ्रमं, प्रगृह्य ताम्बूलमदन्तमुत्तमम्॥६९॥

श्लोकानुवाद—मैंने और भी देखा कि धनुषके जैसी उनकी भ्रू-युगल कृपा वितरण करनेके लिए नृत्य कर रही थीं। उनके बायीं ओर उनके ही अनुरूप महालक्ष्मी विशेष सम्मानके सहित उन्हें ताम्बूल निवेदन कर रही थीं तथा श्रीभगवान् भी उस उत्तम ताम्बूलको आदर सहित ग्रहणकर चर्वण कर रहे थे॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपाभरेण हेतुना उद्यत् आविर्भवद्वरयोर्नतधनुराकारयो-रुत्कृष्टयोश्चिल्ल्योर्भ्रुवोर्नर्त्तनं यस्य; रमया महालक्ष्म्या; निवेद्यमानमुपष्कृत्य समर्प्यमाणम् उत्तमं सर्वसद्गुणयुक्तं ताम्बूलं प्रगृह्य प्रकर्षेण दक्षिणकराङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां भङ्गीविशेषेणादाय अदन्तं चर्वन्तम्। कीदृश्या? स्वस्य भगवतो वामपार्श्वे स्थितया आत्मयोग्यया निरुपमयेत्यर्थः। यद्वा, आत्मनो भगवतस्तस्यैव योग्ययेति। तस्या अपि तदनुरूपमेव सौन्दर्यादिकमूह्यम्। एवं धरण्या अपि विभ्रमो लीलाविशेषस्तेन सहितं यथा स्यादित्यस्य यथेच्छं सर्वत्र सम्बन्धः॥६९॥

भावानुवाद—मैंने और भी देखा कि धनुषाकारकी उनकी उत्कृष्ट भ्रू-युगल कृपासे परिपूर्ण होकर नृत्य कर रही थीं। महालक्ष्मी श्रीरमादेवी अत्यन्त गौरव सहित अपने दाँए हाथसे उन्हें समस्त सद्गुणोंसे युक्त उत्तम ताम्बूल प्रदान कर रही थीं और श्रीभगवान् भी लीलापूर्वक दाँए हाथके अंगूठे और तर्ज्जनी अंगुलीके अग्रभाग द्वारा ग्रहणकर विशेष भङ्गिमा सहित उसे चबा रहे थे। वे महालक्ष्मी कैसी थीं? भगवान्की बाँयीं ओर स्थित रहनेके कारण भगवान्के ही अनुरूप थीं, अर्थात् उपमाके अतीत थीं। अथवा समस्त प्रकारसे ही भगवान्के योग्य तथा उनके अनुरूप सौन्दर्यादि अनन्त गुणोंसे अलंकृत थीं। इसी प्रकारसे श्रीधरणीदेवी भी सम्मानपूर्वक लीलाविशेष सहित उन प्रभुकी सेवा कर रही थीं॥६९॥

तद्रागकान्ताधरबिम्बकान्ति–सम्भिन्न–कुन्दामलदन्तपंक्त्योः ।
दीप्तिप्रकाशोज्ज्वलहासरासं, नर्मोक्तिभङ्गीहृतभक्तचित्तम् ॥७०॥

श्लोकानुवाद—ताम्बूलके रागसे रँगे हुए और बिम्बफलके समान अधरकी कान्तिके सम्मिश्रणसे दोगुणा अधिक सुशोभित कुन्दपुष्पका भी तिरस्कार करनेवाली अपनी अमल दन्तश्रेणीके प्रकाश द्वारा वे प्रभु उज्ज्वल हास्यरसका विस्तार कर रहे थे तथा परिहासयुक्त वचनों द्वारा भक्तोंके चित्तका हरण कर रहे थे॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य ताम्बूलस्य रागेणारुणकान्त्या कान्तौ कमनीयौ अधरावेव बिम्बे आरुण्यादिगुणयोगात्, तयोः कान्त्या सम्भिन्नानां मिश्रितानां कुन्देभ्योऽप्यमलानामुज्ज्वलानामुत्तमानां वा दन्तानां पंक्त्योर्दीप्तिप्रकाशेन उज्ज्वलः शोभमानो हासरूपो रासः क्रीड़ा यस्य; नर्मोक्तीनां भङ्गीभिर्वैचित्रीभिर्हृतमाकृष्टं भक्तानां निजसेवकानां चित्तं येन॥७०॥

भावानुवाद—महालक्ष्मी द्वारा अर्पित ताम्बूलके अरुणरागसे रँगे हुए और बिम्बफलके समान कमनीय अधरकान्तिके सम्मिश्रणसे दोगुणा अधिक सुशोभित कुन्दपुष्पके दर्पका मर्दन करनेवाली अपनी उज्ज्वल दन्तपक्तियोंको प्रकाशकर वे प्रभु प्रियतमा सहित उज्ज्वल अर्थात् शोभायमान परिहास क्रीड़ा द्वारा रसका विस्तार कर रहे थे तथा उसी प्रकारसे विचित्र मधुर वचनों द्वारा अपने सेवकोंके चित्तका भी हरण कर रहे थे॥७०॥

करे पतद्ग्राहभृता धरण्या कटाक्षभङ्ग्या मुहुरर्च्यमानम्।
सुदर्शनाद्यैर्वरमूर्त्तिमद्भिः शिरस्थचिह्नैः परिषेव्यमाणम् ॥७१॥

श्लोकानुवाद—प्रिया धरणीदेवी हाथमें पीकदानी लेकर कटाक्ष भङ्गिमा द्वारा बार–बार उनका अर्चन कर रही थीं। श्रीभगवान्‌के सुदर्शन, गदा आदि समस्त अस्त्र सुन्दर मूर्त्तिमान रूपमें अपने–अपने चिह्न मस्तक पर धारणकर प्रभुकी सेवा कर रहे थे॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—धरण्या च द्वितीयप्रियया, कटाक्षस्य भङ्ग्या कृत्वा मुहुरर्च्यमानं सेव्यमानम्। कीदृश्या? करे निजदक्षिणहस्ताब्जे पतद्ग्राहं ताम्बूलचर्वित–ग्रहणपात्रविशेषं विभर्तीति तथा तया। वरमूर्त्तिमद्भिः परमोत्कृष्टमूर्त्तिधारिभिः सुदर्शनाद्यैः

परितः सेव्यमानम्। आद्य-शब्देन गदा-शंखासि-धनुरादि। ननु कथमेवं परिचयो वृत्तः? तत्राह—शिरःस्थानि चिह्नानि निजनिजचक्रत्वादि-लाञ्छनानि येषां तैः॥७१॥

भावानुवाद—श्रीनारायणकी द्वितीय प्रिया श्रीधरणीदेवी अपने दाँए हस्तकमलमें पीकदानी धारणकर कटाक्ष-भङ्गिमा द्वारा बार-बार प्रभुका अर्चन कर रही थीं। श्रीभगवान्‌के सुदर्शन, गदा, तलवार, धनुषादि समस्त अस्त्र भी परम श्रेष्ठ मूर्त्तिरूपमें मस्तक पर अपना-अपना चिह्न धारणकर प्रभुकी सेवा कर रहे थे। यदि कहो कि आपने उनका परिचय कैसे पाया? इसके उत्तरमें कहते हैं—उनके परिचयका बोध करानेवाले चिह्न देखकर, अर्थात् श्रीसुदर्शनके मस्तक पर उनका चिह्न—चक्र लाञ्छित था तथा इसी प्रकार अन्य अस्त्रोंको भी समझना होगा॥७१॥

चामरव्यजनपादुकादिकश्रीपरिच्छदगणोल्लसत्करैः ।
सेवकैः स्व-सदृशैरवस्थितैरावृतं परिचरद्भिरादरात्॥७२॥

श्लोकानुवाद—प्रभुके समान रूपवाले सेवक प्रभुके चारों ओर स्थित होकर चामर, पँखा, पादुकादि सुन्दर सेवाके उपकरणोंसे सुशोभित हाथों द्वारा आदर सहित प्रभुकी परिचर्या कर रहे थे॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदराद्भक्तितः; परिचरद्भिर्विचित्रसेवां कुर्वद्भिः; अतएवावस्थितैः त्यक्तोपवेशैः स्वस्य भगवतः सदृशै रूपाकारादिना तस्य तुल्यैरावृतम्। कीदृशैः? चामरादीनां श्रीयुक्तानां परिच्छदानां गणेन उल्लसन्त उच्चैरधिकं शोभमानाः करा येषां तैः॥७२॥

भावानुवाद—प्रभुके समान रूप और आकारवाले सेवक आदर सहित प्रभुकी विविध प्रकारसे सेवा कर रहे थे। वे प्रभुके चारों ओर खड़े थे तथा उनके हाथ चामर, पँखा, पादुकादि सुन्दर सेवाके उपकरणोंसे शोभायमान थे॥७२॥

भक्त्या नतैः शेषसुपर्ण-विष्वक्सेनादिभिः पार्षदवर्गमुख्यैः।
कृत्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यवतिष्ठमानैरग्रे विचित्रोक्तिभिरीड्यमानम्॥७३॥

श्लोकानुवाद—शेष, सुपर्ण, विष्वकसेन जैसे मुख्य पार्षद भक्तिवशतः सिर झुकाकर तथा दोनों हाथोंको जोड़कर प्रभुके सम्मुख खड़े होकर विचित्र वाक्यों द्वारा उनका स्तव कर रहे थे॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—पार्षदवर्गेषु मुख्यैः प्रधानैः शेषादिभिर्विचित्रोक्तिभिः कृत्वा ईड्यमानं स्तूयमानम्। कीदृशैः? भक्त्या आनतैर्नम्रशिरोभिरित्यर्थः। अतो मूर्ध्नि अञ्जलिं कृत्वाग्रेपुरतोऽवतिष्ठमानैः; आदि-शब्देन नन्द-सुनन्द-जय-विजय-प्रबल-बलादयो ग्राह्याः। तथा चाष्टमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ८/२१/१६-१७)—'*नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो-बलः। कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्रिराट्। जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः॥*' इति। ऐते गणाध्यक्षा ज्ञेयाः॥७३॥

भावानुवाद—पार्षदोंमें प्रधान जैसे शेष आदि विचित्र वाक्योंसे प्रभुकी स्तुति कर रहे थे। किस प्रकार? भक्तिवशतः नत-मस्तक होकर तथा दोनों हाथोंको जोड़कर मस्तक पर रख प्रभुके सम्मुख खड़े हुए थे। 'आदि' शब्दसे नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल इत्यादि पार्षदोंको भी समझना होगा। जैसा कि श्रीमद्भागवत (८/२१/१६-१७)में कथित है—"नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वकसेन, गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पवन्त तथा सात्वत।" ये सभी मुख्य पार्षदोंके रूपमें जाने जाते हैं॥७३॥

श्रीनारदस्याद्भुतनृत्यवीणागीतादिभङ्गीमयचातुरीभिः।
ताभ्यां प्रियाभ्यां कमलाधराभ्यां सार्द्धं कदाचिद्विहसन्तमुच्चैः॥७४॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी श्रीनारदके अद्भुत नृत्य और वीणा-गीतादिकी भङ्गीमय चातुरी देखकर प्रभु अपनी प्रिया कमला और धरणी सहित जोरसे हँसते थे॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—कदाचित्ताभ्यां पूर्वोद्दिष्टाभ्यां सर्वसद्गुणाढ्याभ्यां वा प्रियाभ्यां निजवल्लभाभ्यां कमलाधराभ्यां लक्ष्मी-धरणीभ्यां सार्धमुच्चैर्विहसन्तम्। कुतः? श्रीनारदस्य अद्भुतं विचित्रं यन्नृत्यं वीणया गीतञ्च आदि-शब्देन अभिनयनर्मादि, तेषां भङ्गीमयीभिश्चातुरीभिर्हेतुभिः॥७४॥

भावानुवाद—कभी-कभी प्रभु समस्त सद्गुणोंसे युक्त अपनी प्रिया कमला और धरणीदेवीके साथ जोरसे हँसते थे। किसलिए? श्रीनारदके अद्भुत विचित्र नृत्य और वीणा-गीतादि अर्थात् उनके परिहासपूर्ण अभिनयकी भङ्गिमा-चातुरी देखकर॥७४॥

**स्व-भक्तवर्गस्य तदेकचेतसः, कदाचिदानन्दविशेषवृद्धये।
प्रसार्य पादाम्बुजयुग्ममात्मनः, समर्पणेनैव लसन्तमद्भुतम्॥७५॥**

श्लोकानुवाद—किसी-किसी समय प्रभु अपने एकान्तिक भक्तोंके आनन्दवर्द्धनके लिए अपने दोनों श्रीचरणकमल इस प्रकार फैला देते मानों भक्तोंको समर्पण कर रहे हों तथा इस प्रकार वे अद्भुत क्रीड़ा करते॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वभक्तवर्गस्य आनन्दविशेष-वृद्धये कदाचित् पादाम्बुजयुग्मं प्रसार्य अद्भुतं यथा स्यात्तथा लसन्तं रममाणम्। कथम्? आत्मनः पादाम्बुजयुग्मस्य, किंवा तत्समर्पण-द्वारा भगवत एव समर्पणेन स्वभक्तवर्गे निक्षेपणेन इवेति चरणारविन्दद्वन्द्वस्य तत्त्वतः समर्पणासम्भवात्। तदुक्तं श्रीब्रह्मणापि तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/८/२६)—'*पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गैरभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम्। प्रदर्शयन्तम् कृपया नखेन्दुमयूख-भिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम्॥*' इति। अस्यार्थः—'स्वकामाय भगवत्प्राप्तये विविक्तमार्गैः श्रवणादिभक्तिप्रकारैः कृपया प्रदर्शयन्तं किञ्चिदुन्नमय समर्पयन्तमिति'। तत्र हेतुः—तस्मिन्नेवैकस्मिन् पादाम्बुजयुग्मे समर्पणरूप-तत्प्रसारेण वा चेतो यस्य तस्य॥७५॥

भावानुवाद—कभी-कभी अपने भक्तोंके आनन्दको वर्द्धन करनेके लिए प्रभु अपने दोनों श्रीचरणोंको अद्भुतरूपसे फैला देते, मानों भक्तोंको समर्पण कर रहे हों तथा इस प्रकारसे वे अतिसुन्दर क्रीड़ा करते। प्रभुके श्रीचरणकमल भक्तोंकी ही सम्पत्ति हैं, किन्तु वास्तवमें चरणकमलोंको दे देना सम्भव नहीं हो सकता, इसलिए उन्होंने अपने श्रीचरणोंको फैलाकर मानों भक्तोंको समर्पित ही कर दिया हो।

श्रीमद्भागवत (३/८/२६)में श्रीब्रह्माने कहा है—"अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए विशुद्ध अर्थात् भक्तिमार्गसे पूजा करनेवाले भक्तजनोंको भगवान् कृपापूर्वक अपने भक्तवाञ्छाकल्पतरु चरणकमलोंका दर्शन देते हैं। पुष्प-पत्रके समान प्रभुके सुन्दर श्रीचरण-अङ्गुलियोंके नखचन्द्रकी चन्द्रिका चमकती रहती है।" अर्थात् जो व्यक्ति केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिए श्रवणादि भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठानकर समस्त प्रकारकी कामनाओंको परिपूर्ण करनेवाले प्रभुके श्रीचरणकमलोंका अर्चन करते हैं, ऐसे भक्तोंके प्रति किये जानेवाले अनुग्रहके समान क्या श्रीप्रभु अपने चरणकमलोंको फैलाकर मुझे सेवाके लिए इङ्गित

करेंगे? जो ऐसी आशा पोषणकर श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं उन भक्तोंके लिए श्रीभगवान् उनकी आशाके अनुरूप लीला विस्तार करते हैं॥७५॥

तद्दर्शनानन्द-भरेण तेषां विस्मृत्य शिक्षां वत पार्षदानाम्।
गोपाल हे जीवितमित्यभीक्ष्णं क्रोशन्नधावं परिरम्भणाय॥७६॥

श्लोकानुवाद—किन्तु मैं प्रभुके दर्शनसे प्राप्त आनन्दके आवेशमें पार्षदों द्वारा प्रदानकी गयी शिक्षाको भूलकर उच्च स्वरसे बार-बार 'हे गोपाल! हे मेरे जीवन!' कहते-कहते प्रभुका आलिङ्गन करनेके लिए धावित हुआ॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवतो दर्शने य आनन्दभरस्तेन हेतुना तेषां मदानेतृणां पार्षदानां शिक्षणं तैः कृतं स्तवनादिप्रकारोपदेशं विस्मृत्य परिरम्भणाय बाहू प्रसार्य भगवन्तं परिरब्धुमधावम्। वत खेदे। किं कुर्वन्? 'हे गोपाल! जीवितं मम' इत्यभीक्ष्णं मुहुर्मुहुः क्रोशन् उच्चैर्जल्पन् दशाक्षरमन्त्रोपासनादि-स्वभावेनास्य भावविशेषोत्पत्तेर्भयगौरवहान्यादिकं जातमिति दिक्॥७६॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के दर्शनसे उदित आनन्दवशतः मैं अपने उपदेष्टा पार्षदों द्वारा प्रदान की गयी श्रीभगवान्‌के सम्मुख स्तवादिकी विशेष रीतिकी शिक्षाके विषयमें सब कुछ भूलकर दोनों भुजाओंको फैलाकर प्रभुको आलिङ्गन करनेके लिए उनकी ओर धावित हुआ। किस प्रकारसे? अत्यन्त उत्कण्ठा सहित उच्च स्वरसे बार-बार 'हे गोपाल! हे मेरे जीवन!' कहते-कहते मैं मोहग्रस्त हो गया। वस्तुतः दशाक्षर मन्त्रकी उपासनाके स्वभावसे उन्मादमय भावके उत्पन्न होनेके कारण इष्टके प्रति भय-गौरवादिकी हानि होती है॥७६॥

पृष्ठे स्थितैर्विज्ञवरैर्धृतस्तैर्दीनो महाकाकुकुलं प्रकुर्वन्।
प्रेमातिरेकेण-विनिर्जितोऽहं, सम्प्राप्य मोहं न्यपतं तदग्रे॥७७॥

श्लोकानुवाद—मेरी ऐसी अवस्था देखकर मेरे पीछे खड़े हुए उन समझदार पार्षदोंने मुझे पकड़कर रखा, जिस कारण मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। मैं प्रेममें विवश होकर दीनभावसे उन्हें काकुति-मिनति करने लगा और फिर मूर्च्छित होकर उनके आगे गिर पड़ा॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तैः पार्षदैर्धृतः सन् प्रेम्णोऽतिरेकेण उद्रेकेण विनिर्जितः परमवशीकृतचित्तः तस्य भगवत एव अग्रे पुरतो न्यपतम्॥७७॥

भावानुवाद—मेरी ऐसी उन्मादमय दशाको देखकर मेरे पीछे खड़े हुए उन पार्षदोंने मुझे पकड़कर रखा। प्रेमकी अधिकतावशतः चित्तके परम वशीभूत हो जानेके कारण मैं उन पार्षदोंसे अत्यधिक काकुति-मिनति करते-करते श्रीभगवान्‌के सामने ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ा॥७७॥

उत्थाप्य तैरेव बलाच्चिरेण, संज्ञां प्रणीतोऽश्रुनिपात-विघ्नम्।
सम्मार्जनेनाभिभवन् कराभ्यां नेत्रे प्रयत्नादुदमीलयं द्वे॥७८॥

श्लोकानुवाद—पार्षदोंने मुझे बलपूर्वक उठाकर सचेत किया। किन्तु मेरे प्रबल अश्रुपातके कारण मुझे प्रभुके दर्शनमें विघ्न होने लगा, इसलिए मैंने यत्नपूर्वक दोनों हाथोंसे अश्रु पोंछकर अपने नेत्रोंको खोला॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तैः पार्षदैरेव बलादुत्थाप्य चिरेण संज्ञां बोधं प्रणीतः प्रणयेन प्रापितः सन्; अश्रूणां निपातरूपं विघ्नं दर्शनान्तरायं, कराभ्यां यत् सम्मार्जनं तेन अभिभवन् निरस्यन् प्रयत्नाद्द्वे नेत्रे उन्मीलयम् उद्घाटितवानहम्॥७८॥

भावानुवाद—तब उन पार्षदों द्वारा मुझे बलपूर्वक उठाकर सचेत करने पर मैंने अपने दोनों हाथों द्वारा अश्रु पोंछे, क्योंकि अश्रुपात होते रहनेसे भगवान्‌के दर्शनमें विघ्न होता है। अतएव बहुत यत्नपूर्वक नेत्रोंका मार्जनकर मैंने अपने नेत्रोंको खोला॥७८॥

तावद्दयालु-प्रवरेण तेन, स्नेहेन गम्भीरमृदुस्वरेण।
स्वस्थो भवागच्छ जवेन वत्सेत्याद्युच्यमानं श्रुतवान् वचोऽहम्॥७९॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद वे दयालु शिरोमणि प्रभु स्नेह सहित गम्भीर और कोमल स्वरसे बोले—वत्स! स्वस्थ होओ और शीघ्र ही मेरे निकट आओ। श्रीभगवान्‌के इन वचनोंको सुनकर—॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तावत् मम मोहमारभ्य स्वास्थ्यपर्यन्तम्। तेन भगवता कर्त्रा स्नेहेन हेतुना गम्भीरमृदुलस्वरेण कृत्वा उच्यमानं वचोऽहं श्रुतवान् अश्रौषम्। कीदृशम्? *'हे वत्स! स्वस्थो भव, जवेनेत आगच्छ'* इत्यादिरूपम्। आदि-शब्देन

'मत्कृतं सम्भ्रमादिकं त्यज, मया सह सङ्गम्य सम्भाषस्व' इत्यादि। तथोक्तौ हेतुः—दयालुषु प्रवरेण श्रेष्ठतमेन॥७९॥

भावानुवाद—मेरे मोहग्रस्त होनेके समयसे लेकर स्वस्थ होने तक उन दयालु शिरोमणि श्रीभगवान्‌ने मेरे प्रति स्नेहके कारण गम्भीर और कोमल स्वरसे कहा—'हे वत्स! स्वस्थ होओ और शीघ्र मेरे निकट आओ।' इत्यादि। 'आदि' शब्दका अर्थ है—'मेरे प्रति गौरवादि त्याग करो तथा सब प्रकारसे भय रहित होकर मेरे साथ मिलो और बातचीत करो।' प्रभु द्वारा इस प्रकारके वचन बोलनेका कारण था कि वे दयालु जनोंमें श्रेष्ठतम थे॥७९॥

हर्षस्य काष्ठां परमां ततो गतो नृत्यन्महोन्माद-गृहीतवन्मुहुः।
भ्रश्यन्नमीभिः परमप्रयासतः, सम्प्रापितः स्थैर्यमथ प्रबोधितः॥८०॥

श्लोकानुवाद—मैं आनन्दकी चरम सीमाको प्राप्त हुआ तथा महा-उन्मादके वशीभूत होकर बार-बार नृत्य करने लगा। इसके बाद पार्षदोंने अत्यधिक प्रयासके साथ मुझे स्थिर किया और समझाया॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मात् वचःश्रवणात्; हर्षस्य आनन्दस्य परमां काष्ठां गतः प्राप्तः सन् महता उन्मादेन गृहीतोऽभिभूत इव मुहुर्नृत्यन्, मुहुर्भ्रश्यन् निपतन्; अमीभिः पार्षदैः परमप्रयासेन स्थैर्यं प्रापितः सन्; अथ क्षणानन्तरं प्रबोधितः प्रकर्षेण बोधं कारितः॥८०॥

भावानुवाद—अतएव मैं श्रीभगवान्‌के इन वचनोंको सुनकर आनन्दकी चरम सीमाको प्राप्त हुआ अर्थात् आनन्दके सागरमें निमग्न हो गया और उन्मादग्रस्त रोगीकी भाँति बार-बार नृत्य करने लगा, किन्तु पैरोंके स्खलित होनेके कारण मैं बार-बार भूमि पर गिर पड़ता। तब उन पार्षदोंने बहुत यत्नपूर्वक मुझे स्थिर किया और कुछ समय पश्चात् अनेक प्रकारके सान्त्वना वाक्यों द्वारा मुझे समझाने लगे॥८०॥

श्रीभगवानुवाच—

स्वागतं स्वागतं वत्स दिष्ट्या दिष्ट्या भवान् मया।
सङ्गतोऽत्र त्वदीक्षायां चिरमुत्कण्ठितेन हि॥८१॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे वत्स! स्वागत है, स्वागत है! मेरा सौभाग्य है, परम सौभाग्य है! मैं बहुत दिनोंसे तुम्हें यहाँ पर देखनेके लिए उत्कण्ठित था॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य सम्यक् स्वस्थतापादनाद्यर्थं स्वयमेव परमदयालु-तयातिथ्यविधिनेव सम्भाषते—स्वागतमिति। वीप्सातिहर्षे; दिष्ट्या भद्रं जातम्; हि यस्मात्; अत्र श्रीवैकुण्ठे तव ईक्षायामवलोकने चिरमुत्कण्ठितेन मया भवान् सङ्गतो मिलितः॥८१॥

भावानुवाद—मुझे पूर्णता स्वस्थ करनेके लिए दयालु शिरोमणि उन श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही आतिथ्य सत्कारवशतः मुझे कहा—हे वत्स! तुम्हारा स्वागत है! स्वागत है! यहाँ हर्षके कारण दो बार कहा गया है। मैं बहुत दिनोंसे तुम्हें देखनेके लिए उत्कण्ठित था, बहुत सौभाग्यका विषय है कि आज वैकुण्ठमें तुम्हारा साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ॥८१॥

बहूनि गमितान्यङ्ग जन्मानि भवता सखे।
कथञ्चिदपि मय्याभिमुख्यं किञ्चिदकारि न॥८२॥

श्लोकानुवाद—हे सखे! तुमने बहुत जन्म बिता दिये, किन्तु किसी प्रकारसे भी मेरे प्रति थोड़ासी उन्मुखता नहीं दिखायी॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—चिरोत्कण्ठामेव विवृणोति—बहूनीति द्वाभ्याम्। कथञ्चित् केनापि प्रकारेण किञ्चित् स्वल्पमपि; मयि आभिमुख्यं सन्मुखता भवता नाकारि॥८२॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् अपनी चिर-उत्कण्ठाका कारण 'बहूनि' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। हे वत्स! तुमने बहुत जन्म बिता दिये, किन्तु किसी प्रकारसे भी मेरे प्रति थोड़ीसी उन्मुखता नहीं दिखाई॥८२॥

अस्मिन्नस्मिन्निहेनैव भवे भावी मदुन्मुखः।
इत्याशया तवात्यन्तं नर्तितोऽस्मि सदाज्ञवत्॥८३॥
छलञ्च न लभे किंचिद्येनाद्यं परिपालयन्।
निबन्धं स्वकृतं भ्रातरानयाम्यात्मनः पदम्॥८४॥

श्लोकानुवाद—अब इसी जन्ममें ही तुम मेरे प्रति उन्मुख होओगे— इस आशासे तुम्हारे प्रत्येक जन्ममें ही मैं अज्ञकी भाँति निरन्तर नृत्य करता। देखो भ्राता! मुझमें किसी प्रकारका भी छल नहीं आया जिसके द्वारा मैं अपनी पूर्व आज्ञारूप वेद–मर्यादादिका उल्लंघनकर तुम्हें यहाँ ले आता॥८३–८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहन्तु सर्वथैव त्वदुन्मुख इत्याह—अस्मिन्निति। अस्मिन्नेव वर्त्तमाने भवे जन्मनि भवान् मयि उन्मुखः सापेक्षो भावी। अस्मिन्नित्यादेरेकार्थकस्यापि पुनः पुनरुक्तिरुत्कण्ठाबोधनार्था। यद्वा, इह इहेति जन्मानन्तर–विचित्रावस्था ग्राह्या। तथापि वीप्साद्वयेन तथैवार्थः। इति एवम्भूतया तव तद्विषयया आशया अज्ञवदहमत्यन्तं सदा बहुकालं नर्तितोऽस्मि; सर्वस्याशया स्वस्याज्ञतुल्यताकथनेन दर्शनोत्कण्ठाविशेष–बोधनमेवेति दिक्॥८३॥

नन्वेवं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमता स्वयमेव कथमहमत्र पुरमानीतस्तत्राह—छलमिति। व्याजमात्रमपि किञ्चिन्न लभे, येन छलेन हेतुना आद्यं पुरातनं निबन्धं स्वस्वमर्यादास्थापनादिरूपं नियमं स्वेन मयैव निजाज्ञारूप वेदादि प्रवर्त्तनद्वारा कृतं परिपालयन् रक्षन् सन् हे भ्रातरात्मनः पदं श्रीवैकुण्ठमिममानयामि। अनुमतौ सम्भावनायां वा पञ्चमी। सङ्केत–परिहासादिकृतेन मन्नामकीर्त्तनादिना केनापि प्रकारेण कदापि मया सह भवतः सम्बन्धो माऽभूत्, येन स्वकृतसेतुमप्यतिक्रम्याजा–मिलादिवदाकृष्यानयामीति भावः। अन्यथाऽनौचित्यप्रसङ्गेनानर्थापत्तेरिति दिक्॥८४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् सर्वदा ही जगतके जीवोंके प्रति उन्मुख रहते हैं—इसे बतलानेके लिए 'अस्मिन्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इसी जन्ममें ही तुम मेरे प्रति उन्मुख होओगे—इस आशासे तुम्हारे प्रत्येक जन्ममें ही मैं अज्ञ (अबोध)की भाँति नृत्य करता था। 'अस्मिन्नेव' अर्थात् इस वर्त्तमान जन्ममें ही तुम मेरे उन्मुख होओगे, इस आकांक्षासे मैं सदा ही व्याकुल रहता। मूल श्लोकमें 'अस्मिन्' शब्द दो बार प्रयोग हुआ है। यद्यपि दोनों शब्द एक ही अर्थका बोध कराते हैं, तथापि पुनरुक्ति भगवान्‌की उत्कण्ठाको बतानेके लिए जाननी होगी। अथवा इस जन्ममें मेरे उन्मुख न होने पर अर्थात् तुम्हारे द्वारा भविष्यमें विभिन्न जन्म ग्रहण करनेके द्वारा मेरी भी विचित्र अवस्थाएँ होंगी, अतः दोनों अर्थ ही उचित हैं। 'तुम इसी जन्ममें ही मेरे प्रति उन्मुख होओगे'—इस आशासे मैंने अबोधकी भाँति बहुत दिनों तक नृत्य किया। यहाँ श्रीभगवान् द्वारा अपनेको 'अबोधके

समान' कहनेसे उनमें गोपकुमारके दर्शनकी विशेष उत्कण्ठाका बोध होता है॥८३॥

यदि आपत्ति हो कि आपकी ऐसी अवस्था थी तो आप स्वयं ही क्यों नहीं आये, अर्थात् आप सर्वशक्तिमान हैं तथा मुझे अपने पास लानेकी तीव्र उत्कण्ठा पोषण करने पर भी स्वयं ही मुझे इस वैकुण्ठमें क्यों नहीं ले आये? इसके उत्तरमें 'छलम्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं—मुझमें मेरे नामकीर्त्तनादिके समान किसी प्रकारका छल नहीं आया जिसके बहानेसे मैं अपनी पूर्व आज्ञारूप वेदविधिका उल्लंघनकर तुम्हें यहाँ ले आता। अथवा मुझे थोड़ासा भी छल करनेका अवकाश प्राप्त नहीं हुआ जिससे कि मैं अपने वाक्यरूप वेदादिमें स्थापित मर्यादा मार्गका स्वयं ही उल्लंघन करता। हे भ्रातः! इसीलिए मैं तुम्हें श्रीवैकुण्ठमें नहीं ला सका। संकेत-परिहासादिरूपमें भी मेरे नामकीर्त्तन द्वारा मेरे साथ तुम्हारा किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं हुआ कि उस सम्बन्धके सहारे मेरे द्वारा बनाये गये वेदादि नियमरूप सेतुका उल्लंघनकर अजामिलादिकी भाँति आकर्षणकर तुम्हें यहाँ ले आता। अहो! जब ऐसा हुआ ही नहीं, तब मैं अनुचित सम्बन्ध द्वारा तुममें अनर्थ उत्पत्ति होनेके भयसे दुःखित रहने लगा॥८४॥

तत्ते मय्यकृपां वीक्ष्य व्यग्रोऽनुग्रहकातरः।
अनादिं सेतुमुल्लङ्घ्य त्वज्जन्मेदमकारयम्॥८५॥
श्रीमद्गोवर्धने तस्मिन् निजप्रियतमास्पदे।
स्वयमेवाभवं तात जयन्ताख्यः स ते गुरुः॥८६॥

श्लोकानुवाद—हे वत्स! मेरे प्रति तुम्हारी ऐसी उपेक्षा देखकर मैं व्याकुल हो गया और तुम्हारे प्रति कृपा-परवश होकर मैंने अपने द्वारा बनायी हुई अनादि धर्म-मर्यादाका उल्लंघनकर अपने प्रिय स्थान श्रीगोवर्धनमें तुम्हारा जन्म करवाया तथा मैं स्वयं जयन्त नामसे तुम्हारे गुरुरूपमें अवतीर्ण हुआ॥८५-८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथमिदानीं वृत्तमित्यपेक्षायामाह—तदिति सार्द्धेन, तस्मान्मद्विषयक-भवदुपेक्षणात्। अकृपां कृपाराहित्यं वीक्ष्य व्यग्रो व्याकुलः सन्

अनादिं सार्वकालिकं सेतुं स्वकृतमर्यादामुल्लङ्घ्यापि इदं वर्त्तमानं तव जन्म तस्मिन् त्वदनुभूतेऽनिर्वचनीये वा निजे मामके प्रियतमे आस्पदे क्षेत्रे श्रीमति गोवर्द्धनेऽकारयं प्रापयमित्यन्वयः; यतः अनुग्रहेण कातरो विवशः। किञ्च, हे तात! स्वयमेवाहं स जयन्ताख्यस्तव गुरुरुपदेष्टा अभवम्; अतो भगवत्कृपयैव भगवत्प्राप्तिरिति ज्ञेयम्। यथोक्तं श्रीब्रह्मणा द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/७/४२)—*'येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः, सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां, नैषां ममाहमितिधीः श्वशृगालभक्ष्ये॥'* इति। अस्यार्थः—स भगवान् श्रीकृष्णः स्वयमेव येषां यान् प्रति दययेत् दयां कुर्यात्, तत्र च यदि निर्व्यलीकं निश्छिद्रं दययेत्, तदा ते सर्वात्मना सर्वभावेन आश्रितचरणारविन्दाः सन्तः दुस्तरामपि देवस्य तस्य मायामतितरन्ति। चकारान्मुक्तिमपि तुच्छीकृत्य श्रीवैकुण्ठं यान्ति च। प्रत्यक्षमेव तेषां मायातितरणलक्षणमित्याह—'येषाम्' इति। श्व-शृगालानां भक्ष्ये देहे ममाहमितिधीर्न भवति, किन्तु भगवत्परेष्वेवेति दिक्॥८५-८६॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि मुझ पर आपकी कृपा किस रूपमें हुई—इसकी आकांक्षामें 'तत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मेरे प्रति तुम्हारी उपेक्षा देखकर मैं समझ गया कि तुम मुझ पर किसी प्रकारका अनुग्रह नहीं करोगे। मेरे प्रति तुम्हारी कृपाका अभाव देखकर मैं व्याकुल होकर तुम पर अनुग्रह करनेके लिए विवश हो गया। अतः मैंने अपने द्वारा बनायी हुई अनादि सेतुरूप धर्म-मर्यादाका उल्लंघनकर अपने प्रियतम स्थान उस श्रीगोवर्धन क्षेत्रमें तुम्हारा जन्म करवाया। तथा हे तात! मैं ही जयन्त नामसे तुम्हारा गुरु हुआ। इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌की कृपा ही भगवान्‌को प्राप्त करनेका हेतु है, अर्थात् भगवान्‌की कृपाके बिना भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस विषयमें श्रीब्रह्माने श्रीमद्भागवत (२/७/४२)में कहा है—"अनन्त शक्तिसे युक्त भगवान् श्रीकृष्ण जिनके प्रति स्वयं करुणा करते हैं और उनकी वह करुणा भी यदि कपट रहित हो, तब एकान्तिक रूपसे उनके चरणकमलोंकी शरण लेनेवाले व्यक्ति अत्यन्त कठिनतासे लँघनकी जानेवाली देवमायासे अनायास ही उत्तीर्ण हो सकते हैं। किन्तु जिनमें कुत्तों और भेड़ियों द्वारा खाये जानेवाले अनित्य देहमें 'मैं' और 'मेरा' रूपी अभिमान रहता है, उनके द्वारा मायाको लाँघना सहज नहीं है।"

यहाँ 'निर्व्यलीकम्' अर्थात् निष्कपट पद भगवान्‌की विशेष कृपाका बोध कराता है, क्योंकि श्रीभगवान्‌की साधारण कृपा सभी जीवोंकी समस्त कामनाओंको पूर्ण कर देती है। अतएव यह कृपा निष्कपट—अर्थात् श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके प्रति सम्मुखकारणी तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी इच्छाका नाश करनेवाली शक्तिविशेष है। इसलिए उद्धृत श्लोकमें 'च' कारका अर्थ है—मुक्तिको तुच्छकर श्रीवैकुण्ठमें गमन करना। मायासे उद्धार होनेके लक्षणको 'येषाम्' (उद्धृत) श्लोकमें कहा गया है। अतएव श्रीभगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेवाले व्यक्तिमें कुत्तों और भेड़ियों द्वारा भक्ष्य अनित्य देहमें 'मैं' और 'मेरा'का अभिमान नहीं रहता, अपितु भगवान्‌से सम्बन्धित वस्तुओं तथा उनमें अनुरक्त व्यक्तियोंमें ही ऐसा अभिमान होता है॥८५-८६॥

कामं दीर्घतमं मेऽद्य चिरात्त्वं समपूरयः।
स्वस्य मेऽपि सुखं पुष्णन्नत्रैव निवस स्थिरः॥८७॥

श्लोकानुवाद—अब तुमने मेरी दीर्घकालीन आशाको परिपूर्ण किया है। अतः यहाँ पर स्थिरभावसे रहकर मेरे और अपने सुखको पुष्ट करो॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमपि मया ते किं नामोपकृतम्? त्वया च महानेवोपकारः कृत इति विनयेनाह—काममिति। त्वमेव दीर्घतमं चिरकालीनं मम कामं वाञ्छामद्य चिरात् चिरकालेन सम्यक् अपूरयः। अतः स्वस्य भगवतो मे ममापि सुखं पुष्णन् विस्तारयन् अत्र वैकुण्ठे स्थिरः अव्यग्रः सन् नितरां वस वासं कुरु॥८७॥

भावानुवाद—'कामं' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीभगवान् विनयपूर्वक कह रहे हैं—मेरे द्वारा तुम्हारा कौनसा उपकार हुआ है? अपितु यहाँ आकर तुमने ही मेरा महान उपकार किया है। अभी तुमने मेरी दीर्घकालीन अभिलाषा पूर्ण की है। अतएव अब अपने और मेरे सुखवर्द्धनके लिए स्थिरभावसे यहाँ वास करो, किसी प्रकारकी व्याकुलता प्रकाश मत करना॥८७॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

एतच्छ्रीभगवद्वाक्यमहापीयूषपानतः ।
मत्तोऽहं नाशकं स्तोतुं कर्त्तुं ज्ञातुञ्च किञ्चन॥८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—हे माथुर विप्र! इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के वचनरूप महामृतको पानकर मैं मत्त हो गया, इसलिए मैं उस समय स्तव करना या अपने अन्य किसी कर्त्तव्यको भी जान नहीं सका॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्येवमेतदुक्तरूपं श्रीभगवद्वाक्यमेव महापीयूषं, तस्य पानतो मत्तो विस्मृताखिलः सन् भगवन्तं स्तोतुं किञ्चित् कर्त्तुं ज्ञातुञ्च नाशकम्॥८८॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीभगवान्‌के वचनरूप महामृतका पानकर मैं ऐसा मत्त हो गया कि स्तवादि करना तो दूर रहे, 'मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ'—सब कुछ भूल गया। अतएव उस समय मुझमें कुछ भी करने या जाननेका सामर्थ्य ही नहीं रहा॥८८॥

अग्रे स्थिता तस्य तु वेणुवादका,
गोपार्भवेशाः कतिचिन्मया समाः।
आश्वास्य विश्वास्य च वेणुवादने,
प्रावर्त्तयन् स्निग्धतराविकृष्य माम्॥८९॥

श्लोकानुवाद—कुछ समय बाद मैंने देखा कि मेरे समान कुछ गोपबालक-वेशधारी वेणुवादक प्रभुके सम्मुख वेणुवादन कर रहे हैं। उन्होंने स्नेहपूर्ण वाक्योंसे सान्त्वना और विश्वास दिलाकर तथा बलपूर्वक अपने साथ लेकर मुझे वेणुवादनमें प्रवृत्त कराया॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीभगवतोऽग्रे पुरतः स्थितास्तु कतिचिद्वेणुवादका मां विकृष्य बलान्निजसङ्गे नीत्वा वेणुवादने प्रावर्त्तयन् प्रवर्त्तितवन्तः। कुतः? मया समाः सदृशाः। यतो गोपार्भाणामिव वेशो येषां ते; अतः स्निग्धतराः। अतएव आश्वास्य सान्त्वयित्वा स्वस्थयित्वा वा विश्वास्य च सख्यमुत्पाद्य॥८९॥

भावानुवाद—कुछ देरके बाद मैंने देखा कि मेरे समान कुछ गोप-वेशधारी बालक श्रीभगवान्‌के सामने वेणुवादन कर रहे हैं। उन्होंने बलपूर्वक मुझे अपने सङ्गमें लेकर वेणुवादनमें प्रवृत्त कराया।

क्यों? वे मेरे समान गोपबालक-वेशधारी होनेके कारण मेरे प्रति स्नेहाशील थे, इसलिए उन्होंने मुझे सान्त्वना और विश्वास दिलाकर मेरे प्रति सख्यभाव प्रकाश किया॥८९॥

एतां स्व-वंशीं बहुधा निनादयन्, गोवर्द्धनाद्रिप्रभवां महाप्रियाम्।
श्रीमाधवं तं समतोषयं महावैदग्ध्यसिन्धुं सगणं कृपानिधिम्॥९०॥

श्लोकानुवाद—तब मैंने भी गोवर्धन पर्वत पर उत्पन्न इस महाप्रिय वंशीको विविध प्रकारसे वादन कर महावैदग्धीके सागर और कृपानिधि श्रीमाधवको उनके परिकरों सहित सन्तुष्ट किया॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतां मत्करे प्रत्यक्षं वर्त्तमानाम्; एवं तस्या अपि निर्विकारित्वादिकं दर्शितम्। तत्र हेतुः—गोवर्द्धनाद्रिप्रभवाम्, अतएव महाप्रियां स्ववंशीं निनादयन् वादयन्; तं श्रीभगवन्तं सम्यगतोषयम्; श्रीमाधवमित्यनेन लक्ष्म्या अपि सन्तोषणं ध्वनितम्। महावैदग्ध्यसिन्धुमिति वंशीवादने निजकौशलविशेषः सूचितः। कृपानिधिमिति निजौद्धत्यं परिहृतम्; यद्वा श्रीमाधवस्यापि अतएव महा-वैदग्ध्यसिन्धोरपि मद्वंशीनिनादेन सन्तोषणं केवलं तस्य कृपानिधित्वादेव॥९०॥

भावानुवाद—वह वंशी वैकुण्ठ गमनके समय भी गोपकुमारके हाथमें थी तथा गोपकुमार माथुर-विप्रको अपना वृत्तान्त सुनानेके समय भी अपने हाथमें उसी वंशीको धारण किये हुए थे—इसके द्वारा वंशीका भी विकार रहित होना प्रदर्शित होता है, अर्थात् वह कभी नष्ट नहीं होती। इसका कारण है कि वह वंशी गोवर्धन पर्वत पर उत्पन्न बाँससे निर्मित थी, अतएव गोपकुमारको अत्यन्त प्रिय थी। गोपकुमारने इस वंशीको ध्वनित कर महावैदग्ध्यके सागर श्रीमाधवको सन्तुष्ट किया। 'श्रीमाधव' (श्रीलक्ष्मीपति) सन्तुष्ट हुए, अतः इस शब्दसे श्रीलक्ष्मी भी सन्तुष्ट हुई—ऐसा सूचित होता है। 'महावैदग्ध्यसिन्धु' कहनेसे वंशीवादनमें श्रीमाधवका विशेष कौशल सूचित हुआ है। 'कृपानिधि'—अपनी महानताका गौरव त्यागकर अथवा श्रीमाधव अर्थात् लक्ष्मीपति हैं, अतएव महावैदग्ध्यसिन्धु होकर भी मेरी इस वंशी ध्वनि द्वारा सन्तुष्ट हुए। यह केवल उनके कृपानिधि होनेके गुणका ही परिचायक है, क्योंकि कृपाका स्वभाव है—थोड़ेको भी बहुत मानना॥९०॥

यथाकालं ततः सर्वे निःसरन्तो महाश्रियः।
आज्ञया निर्गमानिच्छुं युक्त्या मां बहिरानयन्॥९१॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् बाहर जानेका समय होने पर समस्त पार्षदगण बाहर आ गये। यद्यपि मेरी बाहर जानेकी इच्छा नहीं थी, तथापि श्रीमहालक्ष्मीके आदेशानुसार पार्षदगण मुझे कौशलपूर्वक बाहर ले आये॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च यथाकालं बहिर्निःसरणावसरे प्राप्ते सर्वे पार्षदास्ततो भगवत्पार्श्वतो निःसरन्तो बहिर्भवन्तः सन्तः, निर्गमे बहिर्भवने अनिच्छुमपि मां युक्त्या उपायेन बहिरानयन्। महालक्ष्म्या आज्ञयेति भोजनाद्यवसरे तस्मिन् तस्या एव स्थितियोग्यत्वात्। यद्वा, लौकिकरीत्या तस्या एव वक्ष्यमाणमहाविभूति-सम्पादन-पूर्वक-वैकुण्ठवाससुखभोगदापनाधिकारादिति दिक्॥९१॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् यथासमय समस्त पार्षद श्रीभगवान्के कक्षसे बाहर आ गये। यद्यपि मेरी बाहर जानेकी इच्छा नहीं थी, तथापि वे पार्षदगण कुशलतापूर्वक मुझे बाहर ले आये। इसका कारण था कि महालक्ष्मीकी आज्ञानुसार श्रीभगवान्के भोजनके समय वहाँ कोई भी नहीं रह सकता था, अर्थात् भोजनकालमें एकमात्र महालक्ष्मीका ही वहाँ रहनेका अधिकार था। अथवा लौकिकरीतिके अनुसार प्रभुको स्वच्छन्द-सुख प्रदान करनेके लिए प्रभुकी इच्छानुसार महालक्ष्मीके अलावा सभी बाहर आ गये। इस प्रकारसे महाविभूतिको प्राप्तकर वैकुण्ठवासके सुख-भोगादिमें भी अपना-अपना अधिकार निर्दिष्ट है॥९१॥

तत्रापरस्येव महाविभूतीरुपस्थितास्ताः परिहृत्य दूरे।
स्वयं सतीरात्मनि चाप्रकाश्य गोपार्भरूपो न्यवसं पुरेव॥९२॥

श्लोकानुवाद—उस समय समस्त प्रकारकी महाविभूतियाँ मेरे समीप उपस्थित हुईं, किन्तु मैंने यत्नपूर्वक उन्हें दूरसे परित्याग कर दिया। मैं अपनेमें स्थित समस्त विभूतियोंको भी गोपनकर पूर्वकी भाँति गोपबालकके रूपमें ही उस वैकुण्ठमें वास करने लगा॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च अपरस्यान्यस्य वैकुण्ठवासिन इव स्वयमेवोपस्थितास्ता अनिर्वचनीया महाविभूतीर्दूरे परिहृत्य उपेक्ष्य पुरेव पूर्ववदकिञ्चनतया गोपबालकरूप एव तत्र वैकुण्ठे न्यवसम्। न केवलमन्यदत्ता एव परिहृताः निजाश्च न प्रकटिता

इत्याह—स्वयमेव वैकुण्ठलोकप्राप्ति-स्वभावेन आत्मनि मय्येव सती वर्त्तमाना अपि महाविभूतीरप्रकाश्य च अनाविर्भाव्य॥९२॥

भावानुवाद—इसके उपरान्त समस्त वैकुण्ठवासियोंके लिए स्वयं ही उपस्थित होनेवाली समस्त प्रकारकी अनिर्वचनीय महाविभूतियाँ मेरे लिए भी उपस्थित हुईं। किन्तु मैंने उन्हें ग्रहण नहीं किया, अपितु उन्हें दूरसे ही परित्यागकर पूर्वकी भाँति अकिञ्चन गोपबालकके वेशमें ही वैकुण्ठमें रहने लगा। मैंने न केवल अन्योंके द्वारा प्रदत्त समस्त प्रकारकी महाविभूतियोंका परित्याग किया, बल्कि अपनेमें स्थित समस्त विभूतियोंको भी प्रकटित नहीं किया। अर्थात् वैकुण्ठलोकको प्राप्त करनेके स्वभावसे स्वतः ही मुझमें जो समस्त प्रकारकी महा-विभूतियाँ विद्यमान हुईं, उन्हें प्रकाश न कर मैं अकिञ्चनके समान उस वैकुण्ठमें वास करने लगा॥९२॥

सच्चिदानन्दरूपास्ताः सर्वास्तत्र विभूतयः।
स्वाधीना हि यथाकामं भवेयूः सम्प्रकाशिताः॥९३॥

श्लोकानुवाद—उस वैकुण्ठकी सच्चिदानन्दरूपा समस्त विभूतियाँ वैकुण्ठवासियोंके अधीन हैं और उनकी इच्छानुसार ही सम्यक्‌रूपसे प्रकाशित होती हैं॥९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि विशेषात्तत्र तुल्यतैव पर्यवस्यतीत्याह—सदिति। हि यस्मात्तत्र वैकुण्ठे। यथाकामं निजेच्छानुसारेण ताः सर्वा अपि विभूतयः सम्यक् प्रकाशिता विस्तारिता भवेयुः। यतः स्वाधीना निजायत्ताः। न च तासां प्रकाशनेऽपि प्राकृतविषयासङ्ग इव कोऽपि दोषः प्रसज्येतेत्याह—'सच्चिदानन्दरूपाः' इति॥९३॥

भावानुवाद—तथापि उस वैकुण्ठकी विशेषताएँ एक समान रूपमें ही पर्यवसित होती है—इसे बतलानेके लिए 'सत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'यथाकामं' अर्थात् अपनी-अपनी इच्छानुसार वे समस्त विभूतियाँ सम्यक् प्रकाशित होती हैं, क्योंकि वे वैकुण्ठवासियोंके अधीन हैं अर्थात् उनके द्वारा ही नियन्त्रित हैं। वस्तुतः उन समस्त विभूतियोंके वैकुण्ठवासियोंमें सम्यक् प्रकाशित रहने पर भी उनमें प्राकृत विषयसङ्ग जैसा कोई दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वे समस्त विभूतियाँ 'सच्चिदानन्दरूपा' हैं॥९३॥

इत्थन्तु वैभवाभावे वैभवं वैभवेऽपि च।
अकिञ्चनत्वं घटते वैकुण्ठे तत्स्वभावतः॥९४॥

श्लोकानुवाद—इसलिए वहाँ पर वैभवोंके अप्रकट रहने पर भी समस्त वैभव विद्यमान रहता है और फिर वैभवोंके प्रकटित होने पर भी अकिञ्चनत्व रहता है। यह वैकुण्ठलोकका असाधारण स्वभाव है॥९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थमुक्तप्रकारेण वैभवानां विभूतीनामभावे अप्राकट्येऽपि वैभवं घटते; सदा स्वाधीनतया स्वस्मिन्नेव विद्यमानत्वात्। वैभवे विभूतिविस्तारणेऽपि अकिञ्चनत्वमेव घटते; सच्चिदानन्दरूपत्वेन तेषां स्वस्मादभिन्नत्वात्। कुत? तस्य वैकुण्ठस्य स्वभावतः; यत एष एव श्रीवैकुण्ठलोकस्य स्वभाव इत्यर्थः। ब्रह्मघनत्वेनैक-रूपता विचित्रभजनानन्दरसमयत्वेन च नानारूपतेति प्रागुद्दिष्टमेवास्ति॥९४॥

भावानुवाद—उक्त प्रकारसे वैकुण्ठमें वैभवके अप्रकट रहने पर भी वैभव रहता है, क्योंकि वैभवके अभावमें भी समस्त वैभव सर्वदा वैकुण्ठवासियोंके अधीन अर्थात् उनमें विद्यमान रहते है। पुनः वैभवके विस्तार होने पर भी वहाँके वासियोंमें अकिञ्चनताकी हानि नहीं होती, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप होनेके कारण वैभव और अकिञ्चनता वस्तुतः वैकुण्ठवासियोंसे अभिन्न हैं। ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है? वैकुण्ठलोकके असाधारण स्वभाववशतः ही ऐसा सम्भव होता है। इस प्रकार यद्यपि वैकुण्ठके समस्त वैभव और परिकर वस्तुतः सच्चिदानन्दरूप होनेके कारण समान धर्मयुक्त हैं, तथापि विभिन्न प्रकारसे श्रीभगवान्‌की सेवा द्वारा प्राप्त विचित्र भजनानन्दरस हेतु नानारूपता दृष्ट होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है॥९४॥

तथापि पूर्वाभ्यासस्य बलेन महता प्रभोः।
भजनं खलु मन्येऽहं दीनवृत्त्या सदा सुखम्॥९५॥

श्लोकानुवाद—तथापि मैं पूर्व अभ्यासके बलसे सर्वदा दीन-भावसे ही श्रीभगवान्‌के भजनको सुखकर मानता॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि एवमभेदेऽपि सदा दीनवद्वृत्त्या स्थित्या यत् श्रीमहाप्रभोर्भजनं तदेव खलु निश्चितं सुखं मन्ये। कुतः? पूर्वाभ्यासस्य सदा

निष्किञ्चनतयैव भक्त्या वृत्तेर्बलेन यद्यपि प्रायस्तत्रत्यानां तेषामपि तादृशत्वमेव, तथाप्यस्य प्राप्यविशेषेण तदनुरूपो भावो व्यवहारश्च कार्य इति ज्ञेयम्। एव-मन्यदप्यूह्यम्॥९५॥

भावानुवाद—यद्यपि इस प्रकार वैकुण्ठमें सच्चिदानन्द रूपताके कारण परिपूर्ण वैभव और निष्किञ्चनता दोनोंका ही वैकुण्ठवासियोंसे अभेद है, तथापि मैं दीनके जैसी वृत्ति द्वारा ही सदा श्रीभगवान्के भजनको निश्चितरूपमें सुखकर मानता। ऐसा किस प्रकार सम्भव हुआ? पूर्व अभ्यासवशतः अर्थात् सदा निष्किञ्चनरूपमें भक्तिवृत्तिके बलसे। यद्यपि वहाँ वैकुण्ठनाथके भाव और व्यवहारके अनुरूप ही सेवा अनुष्ठित होती है, तथापि मैंने पहलेसे ही अनुभव किया था कि निष्किञ्चन वृत्ति द्वारा ही भजनसुखकी अधिक वृद्धि होती है॥९५॥

तदा हृदीदं परिनिश्चितं मया,
ध्रुवं स्वकीयाखिल-जन्म-कर्मणाम्।
फलस्य लभ्यस्य किलाधुना परा,
सीमा समाप्ता भगवत्कृपाभरात्॥९६॥

श्लोकानुवाद—उस समय मैंने हृदयमें निश्चय किया कि अब मैंने भगवान्की कृपाके बलसे अपने समस्त जन्मोंके कर्मोंसे मिलनेवाले फलोंकी चरम सीमाको प्राप्त किया है॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदन्तापरामृष्टमेव निर्दिशति—ध्रुवमिति। स्वकीयानामखिलानां जन्मनां कर्मणाञ्च; यद्वा, स्वकीय-सम्पूर्णजन्मनो यानि कर्माणि तेषां लभ्यस्य लब्धुं योग्यस्य फलस्य परा चरमा सीमा भगवतः कृपाभरात् कारुण्यातिशयेन। अधुना श्रीवैकुण्ठप्राप्तौ सत्यामेव समाप्ता परिपूर्णा मया सम्यक् प्राप्ता वा॥९६॥

भावानुवाद—अब गोपकुमार अपने चिन्तनके विषयको 'ध्रुवं' इत्यादि पदों द्वारा निर्देश कर रहे हैं। तब मैंने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब मैंने भगवान्की अत्यधिक करुणाके बलसे अपने समस्त जन्मोंके कर्मोंसे लाभ होनेवाले फलोंकी चरम सीमाको प्राप्त किया है। अतः अब सचमुच ही मुझे परिपूर्णरूपसे श्रीवैकुण्ठ प्राप्त हुआ है॥९६॥

अहो सुखं कीदृगिदं दुरूहमहो पदं कीदृगिदं महिष्ठम्।
अहो महाश्चर्यतरः प्रभुश्च, कीदृक् तथाश्चर्यतरा कृपास्य॥९७॥

श्लोकानुवाद—अहो, इस वैकुण्ठलोकमें वाक्य और मनके अगोचर कैसा सुख है! यह कैसा महान पद है! अहो, इस पदके प्रभु भी कैसे महा-आश्चर्यतर हैं! तथा उनकी कृपा भी कैसी महा-आश्चर्यतम है!॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवं विवृणोति—अहो इति आश्चर्ये। इदमत्रानुभूयमानं सुखम्। कीदृक्? केन सदृशमपि तु न केनापि तुल्यं परमानिर्वचनीयमित्यर्थः। यतो दुरूहं मनसापि तर्कयितुमशक्यम्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। इदं श्रीवैकुण्ठाख्यं च पदं कीदृङ्महिष्ठम्? महत्तमम्। प्रभुः श्रीवैकुण्ठेश्वरश्च कीदृक्? महाश्चर्यतरः। अस्य प्रभोः कृपा च कीदृशी? आश्चर्यतरा इति॥९७॥

भावानुवाद—अब गोपकुमार अपने द्वारा सम्यक्‌रूपमें वैकुण्ठ प्राप्त करनेका वर्णन 'अहो!' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। अहो! (आश्चर्य) यहाँ जो सुख अनुभव हो रहा है उसकी तुलना किसके साथ करूँ? अर्थात् परम अनिर्वचनीय होनेके कारण इसकी तुलना नहीं है, क्योंकि यह पद 'दुरूह' अर्थात् मन और तर्कके भी अगोचर है। इसे आगे भी कहा जायेगा। यह श्रीवैकुण्ठपद कैसा महा-उत्तम है! ये वैकुण्ठेश्वर प्रभु भी कैसे महाश्चर्यतर हैं! तथा इन प्रभुकी कृपा भी कैसी महाश्चर्यतम हैं!॥९७॥

अथ प्रभोश्चामरवीजनात्मिकां, समीपसेवां कृपयाधिलम्भितः।
निजां च वंशीं रणयन् समाप्नवं, तदीक्षणानन्दभरं निरन्तरम्॥९८॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् वंशीवादनरूप सेवाके साथ-ही-साथ मुझे प्रभुकी कृपासे चामर वीजनरूप उनके समीपकी सेवा भी प्राप्त हुई। इन सेवाओंके कारण मैं अपने प्रति होनेवाली प्रभुकी दृष्टिपातसे उत्पन्न प्रचुर आनन्दमें डूब जाता॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरमन्यस्मिन् दिन इत्यर्थः। चामरेण यद्वीजनं तदात्मिकां तद्रूपां प्रभोः समीपसेवां निकटवर्तित्वेन परिचर्यां प्रभोः कृपयैव, न तु मद्योग्यतया अधिकारित्वेन लम्भितः प्रापितः सन् निजां वंशीञ्च रणयन् वादयन्निति। वंशीवादन-सेवायाः स्वभावसिद्धत्वमुक्तम्। एवं सेवाद्वयेन अजस्रमविरतं तस्य प्रभोरीक्षणेन मत्कर्त्तृकेन आनन्दभरं सम्यक् आप्नवं सदान्वभवमित्यर्थः॥९८॥

भावानुवाद—इसके बाद एक अन्य दिन मैंने चामर वीजनरूप प्रभुके समीपवर्त्ती सेवाको प्राप्त किया। प्रभुकी कृपाके बलसे ही मुझे यह सेवा प्राप्त हुई—अपनी योग्यतासे नहीं। मेरी वंशीवादनरूप सेवा तो पहलेसे ही स्वभाव सिद्धरूपमें निर्दिष्ट थी। इस प्रकारसे मैं चामर वीजन और वंशीवादन सेवाओंके कारण अपने प्रति होनेवाले प्रभुके निरन्तर स्नेहयुक्त दृष्टिपातसे उदित आनन्दमें निमग्न रहता॥९८॥

पूर्वाभ्यासवशेनानुकीर्त्तयामि कदाप्यहम्।
बहुधोच्चैरये कृष्ण गोपालेति मुहुर्मुहुः॥९९॥

श्लोकानुवाद—किसी-किसी समय मैं पूर्व अभ्यासवशतः उच्च स्वरसे बार-बार 'हे कृष्ण! हे गोपाल!' बोलते हुए विविध प्रकारसे अनुकीर्त्तन करता॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं पूर्ववदुत्तमपदान्तरप्राप्तये वैकुण्ठवासेऽपि निर्वेद-हेतुमुपन्यस्यति—पूर्वेत्यादिना। अये कृष्णेत्यादि हे गोपालेति च सम्बोधनेन बहुधा नानाभङ्ग्या अनुकीर्त्तयामि॥९९॥

भावानुवाद—अब गोपकुमार पहलेकी भाँति उत्तम पद प्राप्तिके लिए वैकुण्ठवासमें भी निर्वेद उत्पन्न होनेका कारण 'पूर्व' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। वैकुण्ठमें वास करते हुए किसी-किसी समय पूर्व अभ्यासवशतः मैं 'हे कृष्ण! हे गोपाल!' सम्बोधनकर विविध प्रकारसे अनुकीर्त्तन करता॥९९॥

गोकुलाचरितञ्चास्य महामाहात्म्यदर्शकम्।
परमस्तोत्ररूपेण साक्षाद्गायामि सर्वदा॥१००॥

श्लोकानुवाद—मैं सर्वदा ही प्रभुकी महान महिमाका प्रदर्शन करनेवाली उनकी गोकुल-चरित्रावलीको परमस्तोत्रके रूपमें साक्षात् गान करता॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य प्रभोः गोकुले माथुर-व्रजभूमौ आचरितं वाल्यलीलाचेष्टितं परमस्तोत्रं परमोत्कर्ष-संकीर्त्तनं तद्रूपेणास्य साक्षात् सर्वदा गायामि च; यतोऽस्य महामाहत्म्यानां दर्शकं प्रकाशकम्॥१००॥

भावानुवाद—मैं उन प्रभुकी गोकुल अर्थात् माथुर-व्रजभूमिसे सम्बन्धित बाल्यलीलाओंका परम-स्तोत्रके रूपमें अर्थात् परमोत्कर्ष सहित संकीर्त्तन करता और उसी रूपमें ही सर्वदा साक्षात् गान करता, जिसके द्वारा प्रभुका महान माहात्म्य प्रकाशित होता॥१००॥

तत्रत्यैर्बहिरागत्य तैर्हसद्भिरहं मुहुः।
स्नेहार्द्रहृदयैरुक्तः शिक्षयद्भिरिव स्फुटम्॥१०१॥

श्लोकानुवाद—मेरा गान सुनकर वैकुण्ठवासी हँसते-हँसते बाहर आ जाते तथा स्नेह द्वारा द्रवीभूत हृदयसे मुझे स्पष्टरूपमें उपदेश देते॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रत्यैश्च वैकुण्ठवासिभिस्तैर्भगवत्सेवकैरिवेति तत्त्वतस्तथा लक्षणस्यानुपयोगात्॥१०१॥

भावानुवाद—वस्तुतः वैकुण्ठवासी सेवकोंके लिए भगवान्‌के वैसी बाल्यलीलाके लक्षण सम्पूर्णतः अनुपयोगी थे॥१०१॥

श्रीवैकुण्ठवासिन ऊचुः—

मैवं सम्बोधयेशेशं मा च संकीर्त्तयेस्तथा।
उपश्लोकय माहात्म्यमनन्तं त्वद्भुताद्भुतम्॥१०२॥

श्लोकानुवाद—श्रीवैकुण्ठवासियोंने मुझे कहा—ईश्वरोंके भी ईश्वर इन प्रभुको तुम 'हे कृष्ण! हे गोपाल!' कहकर सम्बोधन मत करो तथा न ही इस प्रकार इनकी महिमा गान करो। इनका अनन्त प्रकारका अद्भुत माहात्म्य है, उसे श्लोकछन्दमें गान करो॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ईशानां जगदीश्वराणां ब्रह्मादीनामपीशं परमेश्वरमित्यर्थः। एवम् अये कृष्ण! हे गोपालेति च बहुधा मा सम्बोधय, परमेश्वरस्य साक्षात्तया नाम-ग्रहणेन सम्बोधनायोग्यत्वात्। तथा तेन गोकुलकृत-बाल्यलीलादि-गानप्रकारेण मा संकीर्त्तय च संकीर्त्तनं मा कुरु च। किन्तु अद्भुताच्चित्तचमत्कारादप्यद्भुतमनन्तं बहुशो वर्त्तमानं माहात्म्यमेवोपश्लोकय श्लोकैरुपस्तुहि॥१०२॥

भावानुवाद—ये प्रभु ब्रह्मादिके भी परमेश्वर हैं, अतएव तुम 'हे कृष्ण! हे गोपाल!' कहकर बार-बार उन्हें सम्बोधन मत करो। विशेषतः परमेश्वरका साक्षात् नाम लेकर सम्बोधन करना सम्पूर्णतः

अनुचित है। प्रभुके सामने उनकी गोकुलकी बाल्यलीलामें घटित विषयका गान या संकीर्त्तन भी मत करो। किन्तु इन प्रभुके चित्त-चमत्कारी अनन्त प्रकारके अद्भुत माहात्म्य हैं, तुम उन सबका श्लोकाकारमें गान करो॥१०२॥

संहारायैव दुष्टानां शिष्टानां पालनाय च।
कंसं वञ्चयतानेन गोपत्वं मायया कृतम्॥१०३॥

श्लोकानुवाद—दुष्टोंके संहार और शिष्टोंके पालनके लिए तथा कंसको वञ्चित करनेके लिए—ये प्रभु ही माया द्वारा गोपवेश धारण करते हैं॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथा संकीर्त्तने को नाम दोषः स्यात्? इत्यपेक्षायामाह—संहाराय इति द्वाभ्याम्। अनेन परमेश्वरेण कंसं वञ्चयता वञ्चयितुमेव गोपत्वं गोपालनादिकं कृतम्; तच्च मायया कपटेनैव, तत्त्वतः परमेश्वरस्य तदसम्भवात्। कंसवञ्चने हेतुः—संहारायेति। दुष्टानां पूतनादीनां, शिष्टानां श्रीवसुदेवादीनाम्; अन्यथा तत्तन्निबन्धपालनेन तेन तेनैव प्रकारेण तत्तद्विधानानुपपत्तेः॥१०३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसी बाल्यलीलासे सम्बन्धित नामसंकीर्त्तनको करनेमें दोष क्या है? इसकी आकांक्षामें 'संहाराय' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। इन परमेश्वरने केवल कंसको वञ्चित करनेके लिए ही गोकुलमें गो-पालनरूप गोप-लीलाका आविष्कार किया था। यह उनकी माया या कपटलीला ही है, क्योंकि तत्त्वतः वे परमेश्वर हैं, अतः उनके द्वारा गोचारण लीला सम्भव नहीं है। कंसको वञ्चित करने अर्थात् दुष्ट पूतनादि सहित कंसके संहार और शिष्ट वसुदेवादिके पालनके लिए ही इन प्रभुने गोपवेश धारणकर गोकुल-लीला प्रकट की थी अन्यथा केवल गो-पालनके लिए भगवान् द्वारा इस प्रकारकी गोप-लीला करना असङ्गत है॥१०३॥

मायाया वर्णनञ्चास्य न भक्तैर्बहु मन्यते।
भक्त्यारम्भे हि तद्युक्तं तेन न स्तूयते प्रभुः॥१०४॥

श्लोकानुवाद—भक्तगण प्रभुकी कपटलीलाके वर्णनका विशेष आदर नहीं करते। यद्यपि भक्तिके आरम्भकालमें इस प्रकारका महिमा गान

उचित होता है, किन्तु इसके द्वारा प्रभुका यथार्थ गुणगान नहीं होता है॥१०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च किम्? अत आह—मायाया इति। अस्य परमेश्वरस्य मायायाः कपटस्य वर्णनं भक्तैर्न बहु मन्यते नाद्रियते। ननु *'मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः। शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥'* (श्रीमद्भा॰ २/७/५३) इति। भक्तगण-परमगुरु-श्रीब्रह्मोक्त-न्यायेन तद्वर्णनमपि श्रूयते। तत्राहुः—भक्तेरारम्भे प्रथमानुष्ठान-समये तत् मायावर्णनं युक्तम्; न च भक्तिफलरूपे श्रीवैकुण्ठे प्राप्ते सतीत्यर्थः। अतस्तेन मायावर्णनेन श्रीगोकुलाचरितसंकीर्त्तनेन वा प्रभुः श्रीवैकुण्ठेश्वरो न स्तूयते॥१०४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसी गोकुल-लीलाका वर्णन करनेमें क्या हानि है? इसकी अपेक्षामें 'मायाया' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इन परमेश्वरकी कपटलीलाके वर्णनमें भक्तगण विशेष आदर प्रकाश नहीं करते हैं। यदि कहो कि श्रीमद्भागवत (२/७/५३)में श्रीब्रह्माने श्रीनारदसे कहा है, "श्रीभगवान्‌की मायाके वर्णनको भी जो श्रद्धापूर्वक नित्य श्रवण करते हैं या अनुमोदन करते हैं, वे पुनः भगवान्‌की माया द्वारा विमोहित नहीं होते हैं।"—अतः इस प्रमाणकी सार्थकताकी किस प्रकार रक्षा होगी, क्योंकि भक्तगण परमगुरु श्रीब्रह्माके द्वारा उक्त न्यायानुसार उस लीलाका वर्णन और श्रवण करना युक्तियुक्त ही मानते हैं। इसके लिए कहते हैं—भक्तिके आरम्भकालमें परमेश्वरकी मायाका वर्णन उचित होने पर भी भक्तिके फलस्वरूप श्रीवैकुण्ठ प्राप्त होने पर मायाका वर्णन उचित नहीं होता। अतएव माया वर्णनसे अर्थात् गोकुल-चरित्रके संकीर्त्तनसे इन श्रीवैकुण्ठेश्वरकी स्तुति नहीं होती है॥१०४॥

तेष्वेव केचिदवदन् दुर्बोधाचरितस्य हि।
लीलैका सापि तत्तस्या न दोषः कीर्त्तने मतः॥१०५॥

श्लोकानुवाद—उन वैकुण्ठवासियोंमें से किसी-किसीने कहा कि परमेश्वरकी दुर्बोध लीलाओंमें गो-पालनादि लीला भी प्रभुकी ही है, अतः उसका कीर्त्तन करनेमें कोई दोष नहीं है॥१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा गो-पालनादिरूपापि एका काचित् लीला क्रीड़ा, न तु प्रपञ्चनिर्माणादिवन्माया। ननु भय-पलायन-स्तन्यार्थरोदन-कण्टकारण्यभ्रमण-गोचारणादिकं किं नाम सुखम्, येन लीला स्यात्? तत्राहुः—दुर्बोधमाचरितं यस्य तस्येति। तत् कारणादिकं केन बोद्धुं शक्यतां, परमेश्वरत्वात्॥१०५॥

भावानुवाद—फिर कुछ वैकुण्ठवासियोंने कहा कि प्रभुकी गो-पालनादि लीला भी एक अपूर्व लीला है तथा वह लीला ब्रह्माण्ड निर्माणके समान मायाका कार्य नहीं है। यदि आपत्ति हो कि भय, स्थान छोडकर भाग जाना, स्तनपानके लिए रोना, काँटेके वनोंमें भ्रमण और गोचारणादि—इन सबमें क्या सुख है कि इन्हें भगवान्की लीलाके रूपमें परिगणित किया जाय? इसके उत्तरमें कहते हैं—परमेश्वर होनेके कारण उनका चरित्र दुर्बोध है, अतः उनकी क्रियाओंके कारणको समझनेमें कौन समर्थ होगा?॥१०५॥

कैश्चिन्महद्भिस्तान् सर्वान् निवार्योक्तमिदं रुषा।
आः किमेवं निगद्येत भवद्भिरबुधैरिव॥१०६॥
कृष्णस्य भक्तवात्सल्याद्यस्य कस्यापि कर्मणः।
संकीर्त्तनं महानेव गुणः श्रीप्रभुतोषणः॥१०७॥

श्लोकानुवाद—फिर उनमें जो श्रेष्ठ सेवक थे, उन्होंने इस विवादसे अप्रसन्न होकर सबको रोककर कहा—तुम सब अज्ञानीकी भाँति ऐसी असङ्गत बातें क्यों कर रहे हो? श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके प्रति इतने वत्सल हैं कि उनके द्वारा किये गये किसी भी कर्मका संकीर्त्तन करना महान गुण ही है और उसके श्रवणसे हमारे श्रीप्रभु भी परम सन्तुष्ट होते हैं॥१०६-१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—महद्भिर्मुख्यसेवकैः भगवन्माहात्म्यविशेष विद्भिरित्यर्थः। यस्य कस्यापि सर्वस्यैवेत्यर्थः। कर्मणो भगवदाचरितस्य संकीर्त्तनं महान् गुण एव। कुतः? भक्तेषु वात्सल्यादेव कृतं, यथोक्तं भगवतैव—*'मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं शक्तो यद्यपि दानवान्। मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः॥ दर्शन-ध्यान संस्पर्शैर्मत्स्य-कूर्म-विहङ्गमाः। स्वान्यपत्यानि पुष्यन्ति तत्राहमपि पद्मजे॥'* इति। अतस्तन्माया-कृतं न भवति, नापि निरर्थकं बालकक्रीड़नवत्। अतएव श्रीप्रभुं श्रीवैकुण्ठनाथं तोषयतीति तथा सः। एवं श्रीवैकुण्ठवासिनामेतेषां भावभेदेन

त्रिविधत्वं दर्शितम्; तच्च पूर्वोक्तानुसारेण चिराभ्यस्त-ज्ञानादिसंभिन्न-भक्तिभेदहेतुकत्वेन, किंवा विचित्रभगवल्लीलानुसारेण। तथापि न कश्चिद्दोषः पर्यवस्यतीति, तथा कथमपि भगवद्भक्तिमात्रेणावश्यं वैकुण्ठप्राप्तिरित्यपि सकारणं प्रागुक्तमेवाग्रे च वक्ष्यते॥१०६-१०७॥

भावानुवाद—श्रीवैकुण्ठपतिके मुख्यसेवक भगवान्के विशेष माहात्म्यसे अवगत थे, अतः इस प्रकारके विवादसे अप्रसन्न होकर अन्य सेवकोंको कहा—तुम अज्ञानीकी भाँति कैसी असङ्गत बातें कह रहे हो? भगवान्ने जिस किसी कर्मको किया है, उन समस्त कर्मोंका संकीर्त्तन करना ही महान गुण है। किसलिए? भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंको सुख देनेके लिए ही विविध प्रकारकी लीलाएँ करते हैं तथा यही भगवान्का एकमात्र प्रयोजन होता है। श्रीभगवान्ने स्वयं ही श्रीब्रह्मासे कहा है—"मैं इच्छामात्रसे एक मुहूर्त्तमें समस्त दानवोंका संहार कर सकता हूँ, तथापि भक्तोंको सुख देनेके लिए असुर-संहारादि रूप विविध लीलाएँ करता हूँ। जिस प्रकार मछली दर्शनके द्वारा, कछुआ स्मरणके द्वारा और पक्षी स्पर्शके द्वारा अपनी-अपनी संतानका पोषण करते हैं, मैं भी उसी प्रकार दर्शन, स्मरण और स्पर्श द्वारा अपने भक्तोंका पालन करता हूँ।" अतएव श्रीभगवान्की कोई भी लीला मायाकी क्रिया नहीं है और न ही बालक्रीड़ाके समान निरर्थक है। इसलिए उन लीलाओंके कीर्त्तनसे श्रीवैकुण्ठनाथ भी सन्तुष्ट होते हैं।

इस प्रकार भावमें भेदके अनुसार वैकुण्ठवासियोंका तीन प्रकारका व्यवहार प्रदर्शित हुआ है। प्रथम वह जो व्रजकी लीलाको वैकुण्ठभावके योग्य नहीं मानते, दूसरे वह जो इस विषयमें थोड़े उदार हैं तथा तीसरे प्रकारके वैकुण्ठवासी भगवान्की किसी प्रकारकी लीलामें भेद स्वीकार नहीं करते। वैकुण्ठवासियोंके व्यवहारमें इस प्रकारके भेदका कारण है—अपने चिर अभ्यासवशतः किसी विशेष अङ्गके पालनसे प्राप्त भक्तिवृत्ति, जैसे ज्ञानका अनुशीलन अथवा भगवान्की विचित्र लीलाके अनुसार व्यवहारमें विचित्रता। तथापि वैकुण्ठवासियोंके ऐसे व्यवहारमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता है, क्योंकि पहले ही कहा गया है कि भगवद्भक्तिमात्रसे ही वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है। इसका कारण सहित विचार पहले भी कथित हुआ है और आगे भी होगा॥१०६-१०७॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तेषामेतादृशैर्वाक्यैरादौ लज्जा ममाजनि।
पश्चात्तोषस्तथाप्यन्तर्मनोऽतृप्यन्न सर्वतः ॥१०८॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—प्रथमतः वैकुण्ठवासियोंके वचन सुनकर मुझे लज्जा आयी। यद्यपि बादमें उनके वचन सुनकर मन अवश्य सन्तुष्ट हुआ, तथापि मेरा हृदय पूर्णता तृप्त नहीं हो सका॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदौ प्रथमसिद्धान्ते श्रुते, पश्चाच्छेषसिद्धान्ते श्रुते सतीत्यर्थः। तथापि तोषे सत्यपि मनो मम अत्यन्तं नितरामन्तर्न तृप्यति प्रीयते—भगवद्गोकुलचरितगानादौ वैकुण्ठवासिनामप्येतेषामैकमत्याभावेन हृदि कण्टकस्पर्शात्; यद्वा, तेभ्योऽपि निजहृद्य-तन्महिमविशेषाश्रवणात्। मनोऽत्यन्ततृप्तिस्त्वग्रे श्रीनारदोक्त्या सेत्स्यति, तत्त्वतो निजमनोरमसिद्धान्तनिष्ठा-श्रवणात्॥१०८॥

भावानुवाद—वैकुण्ठवासियोंके वैसे वचन, विशेषकर प्रथम वक्ताकी बातोंसे मुझे बहुत ही लज्जा आयी। यद्यपि अन्य वक्ताओंके वचनोंसे मैं अवश्य सन्तुष्ट हुआ, किन्तु मेरा मन पूर्णता तृप्त नहीं हुआ। इसका कारण था कि श्रीभगवान्‌के गोकुल-चरित्रके गानादिके प्रति उनमें एकमतका अभाव देखकर मेरे हृदयमें काँटा-चुभनेके समान पीड़ा अनुभव हुई। अथवा उन वैकुण्ठवासियों द्वारा अपने प्रियतम अर्थात् श्रीकृष्णकी व्रज-लीलाका माहात्म्य विशेष श्रवण न करनेसे मेरा मन तृप्त नहीं हुआ। श्रीनारदके वाक्यों द्वारा तत्त्वतः अपनी मनोरम सिद्धान्त-निष्ठाके सम्बन्धमें श्रवण करनेके कारण गोपकुमारके मनके अत्यन्त तृप्त होनेकी बात आगे प्रकाशित होगी॥१०८॥

निजेष्टदैवत-श्रीमद्गोपालचरणाब्जयोः ।
तादृग्रूपविनोदादेरनालोकाच्च दीनवत् ॥१०९॥

श्लोकानुवाद—विशेषतः वैकुण्ठमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंका असाधारण रूप और लीला आदिका अनुभव न करनेके कारण मेरा मन उदाससा हो गया था॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, तादृशोऽसाधारणस्य रूपस्य विनोदस्य च विहारस्य, आदि-शब्देन परिवार-परिच्छदाक्रीड़कारुण्यविशेषप्रकाशनादेरनालोकनात् अननुभवात् मन एव कर्त्तृ दीनवद्भवति। वति-प्रत्ययस्तु वैकुण्ठे दैन्यासम्भवाभिप्रायेण॥१०९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त वैकुण्ठमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालके असाधारण रूप, लीला-विहार तथा उनके परिवार, परिच्छद, क्रीड़ा और कारुण्यविशेषके अदर्शनसे अर्थात् श्रीवैकुण्ठनाथमें ऐसा अनुभव न करनेके कारण मेरा मन दीनवत् (उदास जैसा) हो गया। यहाँ 'वति' प्रत्ययका अभिप्राय है कि वस्तुतः वैकुण्ठमें दुःखी होना असम्भव है, इसलिए दीनवत् कहा गया है॥१०९॥

तर्ह्येव सर्वज्ञशिरोमणिं प्रभुं,
वैकुण्ठनाथं किल नन्दनन्दनम्।
लक्ष्मीं धराञ्चाकलयामि राधिकां,
चन्द्रावलीञ्चास्य गणान् व्रजार्भकान्॥११०॥

श्लोकानुवाद—उसी क्षण मैं सर्वज्ञशिरोमणि प्रभु वैकुण्ठनाथको नन्दनन्दनके रूपमें, लक्ष्मीदेवीको राधिकाके रूपमें, धरणीदेवीको चन्द्रावलीके रूपमें तथा अन्यान्य पार्षदोंको गोप-बालकोंके रूपमें देखने लगा॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि तस्मिन्नेव मनोदैन्याविर्भावक्षण एव वैकुण्ठनाथं नन्दनन्दनं तत्स्वरूपमेव आकलयामि साक्षात् पश्यामि; लक्ष्मीं धराञ्च क्रमेण राधिकां चन्द्रावलीञ्चाकल्यामि। अस्य वैकुण्ठनाथस्य गणान् सेवकान् व्रजार्भकान् गोपबालकानाकलयामि। न च मद्भावनाबलेन तथाकलनमित्याह—सर्वज्ञानां शिरोमणिं शिरोधार्यमिति। मन्मनोदुःखादिकं ज्ञात्वा स्वयमेव तथा कृतवन्तमित्यर्थः; यतः प्रभुं सर्वशक्तिमन्तम्॥११०॥

भावानुवाद—यद्यपि वैकुण्ठमें दुःखका अभाव है, तथापि मेरे मनमें वैसी वेदना उदित होने पर उसी क्षण प्रभु वैकुण्ठनाथ मेरे मनोभावको जान गये। तब मैंने उन प्रभुको स्वयं नन्दनन्दनके रूपमें, लक्ष्मीदेवीको राधिकाके रूपमें, धरणीदेवीको चन्द्रावलीके रूपमें और अन्यान्य पार्षदोंको गोपबालकोंके रूपमें देखा। मैं केवल अपनी भावनाके बलसे ऐसा नहीं देख रहा था, बल्कि उन सर्वज्ञशिरोमणि प्रभुने मेरे मनके

दुःखको जानकर स्वयं ही उस प्रकारका रूप प्रकाशकर मुझे कृतार्थ किया। इसका कारण है कि वे प्रभु सर्वशक्तिमान हैं॥११०॥

तथाप्यस्यां व्रजक्ष्मायां प्रभुं सपरिवारकम्।
विहरन्तं तथा नेक्षे खिद्यते स्मेति मन्मनः॥१११॥

श्लोकानुवाद—तथापि इस व्रजभूमिमें प्रभु जिस प्रकार अपने परिकरोंके साथ विहार करते हैं, वैकुण्ठमें प्रभुको उस रूपमें विहार करते हुए न देखकर मेरा मन खिन्न ही हुआ॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तद्दर्शने सत्यपि अस्यां श्रीवृन्दावनादिरूपायां, तथा तेन गोपालनादिना प्रकारेण विहरन्तं नेक्षे नावलोकयामि, इत्यतो हेतोर्मन्मनः खिद्यते स्म अदूयत॥१११॥

भावानुवाद—तथापि उस वैकुण्ठलोकमें प्रभुको श्रीनन्दनन्दन मूर्त्तिमें देखकर उन्हें इस श्रीवृन्दावनकी भाँति गो-पालनादि लीलामें विहार करते हुए न देखकर मेरा मन खिन्न ही हुआ॥१११॥

कदापि तत्रोपवनेषु लीलया, तथा लसन्तं निचितेषु गो-गणैः।
पश्याम्यमुं कर्ह्यपि पूर्ववत् स्थितं, निजासने स्व-प्रभुवच्च सर्वथा॥११२॥

श्लोकानुवाद—कदापि लीलावशतः प्रभु वैकुण्ठके उपवनमें जाकर व्रजकी भाँति लीला करते तथा मैं उपवनोंको गौओंसे परिपूर्ण देखता। फिर कभी पूर्वकी भाँति अपने सम्पूर्ण वैभव सहित सिंहासन पर विराजमान हो जाते, किन्तु उस समय वे समस्त प्रकारसे मेरे प्रभु गोपालके समान ही प्रतीत होते॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च अमुं श्रीवैकुण्ठनाथम्; तत्र वैकुण्ठे वर्त्तमानेषु उपवनेषु लीलया तथा तेनैव गोपालनादिना प्रकारेण लसन्तं रममाणं कदापि पश्यामि। कीदृशेषु? गोगणैर्गवां समूहैर्निचितेषु व्याप्तेषु निजासने स्वकीयमहा-प्रासादान्तर्वर्त्तिसिंहासनराजमूर्धनि पूर्ववत् लक्ष्मी-धरणी-शेष-गरुड़ादिभिः सहितो यथा मया प्राग्दृष्टस्तथैव स्थितं वर्त्तमानमपि सर्वथा सर्वेण वेशाकारपरिच्छद-परिवारादिना प्रकारेण स्वप्रभुः श्रीमदनगोपालदेवस्तद्वदेव कर्ह्यपि कदाचिच्च पश्यामि॥११२॥

भावानुवाद—फिर किसी समय मैं देखता कि श्रीवैकुण्ठनाथ उस वैकुण्ठके उपवनमें लीलावशतः जाकर गो-पालनादि रूप मनोहर

क्रीड़ा करते। उनकी लीला कैसी होती? कभी गो और गोपबालकों सहित गोचारण लीला करते या कभी पूर्वकी भाँति अपने भवनमें रत्न सिंहासन पर लक्ष्मी, धरणी, शेष और गरुड़ादि सहित विराजमान हो जाते। तथा कभी मैं उन्हें समस्त प्रकारसे अपने प्रभु श्रीमदन-गोपालदेवकी भाँति ही वेश, आकार, परिच्छद और परिवारादि सहित देखता॥११२॥

तथापि तस्मिन् परमेशबुद्धेर्वैकुण्ठलोकागमन–स्मृतेश्च।
संजायमानादरगौरवेण, तत्प्रेम–हान्या स्व–मनो न तृप्येत्॥११३॥

श्लोकानुवाद—तथापि मैं प्रभुको परमेश्वरके रूपमें ही मानता और 'मैं वैकुण्ठलोकमें आया हूँ'—ऐसी स्मृतिवशतः मुझमें आदर और गौरव उदित होता जिससे मेरे प्रेममें शिथिलता आती, अतः मेरा मन भी तृप्त नहीं होता॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मिन् श्रीवैकुण्ठनाथे परमेश्वर इति बुद्धेर्हेतोः। तथापि सर्वथा निजप्रभुदर्शनेन परमेश्वरबुद्धेरभावेऽपि वैकुण्ठलोके आगमनस्य स्मृतेरनुसन्धानतश्च तस्मिन्नेव सञ्जायमानेन आदरः सम्माननं तद्युक्तेन गौरवेण गुरुभावेन हेतुना या तस्मिन् प्रेम्णो हानिर्ह्रासः, तया हेतुना स्वस्य मम मनो न तृप्येत्, हर्षपरिपूर्णं न भवेत्॥११३॥

भावानुवाद—उन श्रीवैकुण्ठनाथमें परमेश्वर बुद्धि होनेके कारण मेरा मन तृप्त नहीं होता। तथापि समस्त प्रकारसे उनको अपने प्रभु श्रीमदनगोपालकी भाँति दर्शन कर उनके प्रति परमेश्वर बुद्धिके अभावमें भी, 'मैं वैकुण्ठलोकमें आया हूँ'—ऐसी स्मृति मेरे हृदयमें उदित होनेसे आदर और गौरववशतः मेरे प्रेमकी हानि होती। इस कारण मेरा मन तृप्त नहीं होता, अर्थात् हर्षपूर्ण नहीं रहता॥११३॥

गोपालदेवात् करुणाविशेषं, ध्याने यमालिङ्गन–चुम्बनादिम्।
प्राप्तोऽस्मि तं हन्त समक्षमस्मादीप्सन् विदूये तदसिद्धितोऽत्र॥११४॥

श्लोकानुवाद—मैंने ध्यानमें जिस प्रकार गोपालदेवकी विशेष करुणा—उनके द्वारा किये गये आलिङ्गन, चुम्बनादिका सुख प्राप्त किया था, किन्तु हाय! साक्षात् इन वैकुण्ठपतिके सम्मुख रहकर भी

मेरी वैसी वासना पूर्ण नहीं हो रही है। ऐसी चिन्ता द्वारा मेरा मन दुःखित रहता॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, गोपालदेवात् आलिङ्गनादिरूपं करुणाविशेषं यं यादृशं ध्यानविषये पूर्वं प्राप्तोऽस्मि। आदिशब्देन नर्मकेल्यादि। हन्त! खेदे। तं तादृशं करुणाविशेषम्। तस्मात् श्रीवैकुण्ठेश्वरात् समक्षं साक्षादीप्सन् प्राप्तुमिच्छन्। अत्र वैकुण्ठे तस्य करुणाविशेषस्याप्यसिद्धितः असम्पत्त्या विशेषेण दूये सीदामि॥११४॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कहते हैं—मैंने पूर्वमें ध्यानके समय जिस प्रकार श्रीमदनगोपालदेव द्वारा आलिङ्गन, चुम्बन और हास-परिहासादि रूप करुणाविशेष प्राप्त की थी, किन्तु हाय! साक्षात् इन वैकुण्ठपतिके सम्मुख रहकर भी मेरी वैसी वासना पूर्ण नहीं हो रही है। श्रीवैकुण्ठनाथसे भी वैसी करुणा प्राप्तिकी इच्छा होती, किन्तु इस वैकुण्ठलोकमें वैसी विशेष करुणा प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है—ऐसी चिन्ताकर मैं बड़ा ही दुःखित होता॥११४॥

कदाचिदीशो निभृतं प्रयाति, कुतोऽपि कैश्चित् सममन्तरीणैः।
तदाखिलानां खलु तत्र शोको, भवेदभावात् प्रभु-दर्शनस्य॥११५॥

श्लोकानुवाद—किसी-किसी समय वे प्रभु अपने कुछ अन्तरङ्ग सेवकोंके साथ किसी एकान्त स्थान पर चले जाते। तब उन प्रभुके दर्शनके अभावमें समस्त वैकुण्ठवासी शोकसे व्याकुल हो जाते॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु वैकूण्ठलोकवास-महिमस्वभावेन कालान्तरे तदपि भाव्यमित्याशया पूर्ववत् कथं सुखं नासीदिति चेत्, सत्यम्। तत्रापि कदाचित् किञ्चिन्न्मनोदुःखान्तरघटनादित्याह—कदाचिदिति। ईशः श्रीवैकुण्ठेश्वरः; अन्तरी-णैरभ्यन्तरवर्तिभिः कैश्चिच्छेषगरुड़ादिभिः समं, कुत्रापि निभृतं यदा प्रयाति तदा वैकुण्ठे वर्त्तमानानामखिलानाम्॥११५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठवासके महिमायुक्त स्वभावसे यथासमय आपका अभीष्ट पूर्ण होगा, अतः आपका पूर्ववत् (अनुभवगत) सुख क्यों नष्ट हुआ? यह सत्य है कि इस वैकुण्ठलोकमें किसीकी कोई भी वासना अपूर्ण नहीं रहती, किन्तु ऐसा होने पर भी मेरे मनके दुःखका विशेष कारण है—इसे बतानेके लिए 'कदाचित्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। किसी-किसी समय वे श्रीवैकुण्ठनाथ शेष, गरुड़ादि

अन्तरङ्ग परिकरोंके साथ किसी एकान्त स्थान पर चले जाते हैं, तब उन प्रभुके अदर्शनसे समस्त वैकुण्ठवासियोंमें शोक उपस्थित होता॥११५॥

मया सम्पृच्छ्यमानं तद्वृत्तं वररहस्यवत्।
संगोपयन्न कश्चिन्मे समुद्घाटयति स्फुटम्॥११६॥

श्लोकानुवाद—प्रभु कहाँ और किस कारणसे गये हैं? मेरे द्वारा वैकुण्ठवासियोंसे ऐसा पूछने पर भी वे परम रहस्यकी भाँति इस तथ्यको गोपन रखते, कोई भी स्पष्टरूपसे रहस्यको नहीं बतलाता॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्वार्त्ताज्ञानेनैव तद्विवरणज्ञानं स्यात्तच्च न घटत इत्याह— तस्य प्रभोर्निभृतगमनस्य वृत्तं विवरणं कुत्र किमर्थं यातीत्यादिरूपम्। यद्वा, तस्य प्रभुदर्शनाभावस्य वृत्तं कथं प्रभुर्न दृश्यते? कुत्र वर्तते इत्यादिरूपम्; मया सम्यक् साधुतया पृच्छ्यमानमपि कश्चिदपि स्फुटं नोद्घाटयति; यद्वा, स्फुटमपि मे मां प्रति न सम्यक् तत्त्वतः उद्घाटयति प्रकाशयति। कथम्? परमरहस्यवत् संगोपयन् संवृण्वन् महाप्रभोः परमरहस्यलीलायाः प्रकाशनायोग्यत्वात्। किञ्चात्र तादृशलीला-प्रकाशे वैकुण्ठवासे गौरवहानिप्रसङ्गात्॥११६॥

भावानुवाद—उस समय श्रीवैकुण्ठनाथके सम्बन्धमें कुछ भी विवरण प्राप्त न होनेके कारण ही मैंने पूछा—प्रभु एकान्तमें कहाँ और किसलिए गये हैं? अथवा उन प्रभुका दर्शन क्यों नहीं हो रहा तथा वे कहाँ गये हैं? मेरे द्वारा उचित रूपमें पूछे जाने पर भी कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता। अथवा मुझे बहिरङ्ग जानकर उस विषयको सम्पूर्णतः प्रकाशित नहीं करते। किसलिए? परम रहस्यके समान गोपनीय होनेके कारण प्रभुकी परम रहस्यलीला प्रकाश करनेके योग्य नहीं थी, क्योंकि वैसी लीलाको प्रकाशित करनेसे वैकुण्ठवासके गौरवकी हानि हो सकती है॥११६॥

तस्मिन्नेव क्षणे तत्रोदिते श्रीजगदीश्वरे।
दृश्यमाने स सन्तापो नश्येद्धर्षाब्धिरेधते॥११७॥

श्लोकानुवाद—फिर उसी क्षण श्रीजगदीश वैकुण्ठवासियोंके सम्मुख प्रकट होकर उनके सन्तापको दूर कर उनके आनन्दरूपी सागरका वर्द्धन करते॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत्तर्हि श्रीवैकुण्ठलोकवासेऽपि दुःखप्रसङ्गः स्यात्तत्राह—तस्मिन्निति द्वाभ्याम्। यस्मिन् प्रयातस्तस्मिन्नेव क्षणे, अनेन प्रभुदर्शनाभाव-समयानवकाशता दर्शिता। तत्रत्य-परमसूक्ष्मातिसूक्ष्मस्यापि कालस्य मर्त्यलोके परम-महत्त्वात्। यथोक्तं श्रीमैत्रेयेण तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/११/३८)—*'कालोऽयं द्विपरार्द्धाख्यो निमेष उपचर्यते। अव्याकृतस्य'* इत्यादि। एतदपि तत्र भगवन्मधुरतर-लीलारीत्यनुसारेणैव केवलमुपचारमात्रं, न त्वयमपि तत्रत्यानामायुर्गणनप्रकारः, अविनश्वरतादि-स्वभावकत्वात्। अतएव तेनैवोपचर्यते मात्रमिति अव्याकृतस्येत्यादि च। प्रस्तुतमनुसरामि। तत्र श्रीवैकुण्ठे उदिते आविर्भूते स तद्दर्शनादुद्भूतः अनिर्वचनीयो वा सन्तापो नश्येत्। न केवलं तन्नाश एव, परमहर्षभरश्च जायत इत्याह—हर्षाब्धिरानन्दसागर एव ते वर्धते। अत्र चन्द्रोदयो दृष्टान्तो द्रष्टव्यः॥११७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब तो श्रीवैकुण्ठवासमें भी दुःखका प्रसंग उपस्थित होता है—इसकी आशंकासे ही 'तस्मिन्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। श्रीजगदीश्वर जिस प्रकार अन्तर्हित होते हैं, उसी प्रकार पलक झपकते ही लौट आते हैं—इसके द्वारा प्रभुके दर्शनका अभाव अनुभव करनेका अवकाश ही नहीं रहता। किन्तु वहाँका अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म काल भूलोकके परम महान अर्थात् अति सुदीर्घकालके रूपमें प्रतीत होता। जैसा कि श्रीमद्भागवत (३/११/३८)में श्रीमैत्रेयने कहा है—"यह द्विपरार्द्ध तकका काल विकार-रहित, अनन्त और अनादि अर्थात् कालकी सीमाके अतीत समस्त जगतके कारण श्रीभगवान्का एक निमेषमात्रका काल है।" किन्तु ये निमेष ही ब्रह्माण्डके अन्तर्गत ब्रह्मकी आयुकाल है। वैकुण्ठमें कालकी गति या ह्रास-वृद्धि नहीं है—वहाँ सदा ही वर्त्तमान काल रहता है। श्रीभगवान्की मधुरतर लीलाकी रीतिके अनुसार ही कालका केवल रूपक मात्र किया गया है, किन्तु ये काल वैकुण्ठवासियोंकी आयु गणनाके अनुसार नहीं है, क्योंकि वैकुण्ठलोक स्वाभाविक रूपमें अनश्वर है। काल मायिक ब्रह्माण्डके ऊपर ही आधिपत्य विस्तार कर सकता है, उसमें वैकुण्ठके ऊपर आधिपत्य करनेकी शक्ति नहीं है। तथापि लीलानुसार कालबुद्धिके वशवर्त्ती न होनेसे लीलारसका उपभोग नहीं होता। वस्तुतः वैकुण्ठमें काल द्वारा कोई विकार नहीं होता है।

अब प्रस्तुत विषय पर आ रहे हैं। उस वैकुण्ठमें श्रीजगदीश्वरके लौटनेमात्रसे उनके दर्शनसे उदित अनिर्वचनीय आनन्दमें सभी वैकुण्ठवासी सन्ताप रहित हो जाते हैं। किन्तु केवल सन्ताप नाश होता हो, ऐसा नहीं अपितु जिस प्रकार चन्द्रके उदय होनेसे समुद्र वर्धित होता है, उसी प्रकार प्रभुके दर्शनसे समग्र वैकुण्ठ आनन्दोल्लाससे समृद्ध हो जाता है, अर्थात् आनन्द सागरमें निमग्न हो जाता है॥११७॥

यावत्तावच्च कैवल्यं मनसोऽस्तु स्वभावजम्।
तल्लोक-महिमोद्रेकात् क्षीयतेऽर्काद्‌यथा तमः॥११८॥

श्लोकानुवाद—जब कभी मेरे मनमें स्वभावतः व्याकुलता उत्पन्न होती, उस लोककी प्रचुर महिमा मेरे मनकी मलिनताको उसी प्रकार दूर कर देती जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे अन्धकारका नाश होता है॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु निजेष्टतमासिद्धौ अन्तर्दूःखसन्तापोऽनुमीयत एव, तत्राह—यावदिति। मम मनसः स्वभावेन जायमानं यावत्तावत् वैकल्यमस्तु भवतु नाम। तथापि तस्य वैकुण्ठलोकस्य महिम्न उद्रेकादतिशयाद्धेतोः क्षीयते। कथमिव? यथार्कात्तमोऽन्धकारः॥११८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अपनी अभीष्टतम सिद्धिके अभावमें निश्चय ही आपके हृदयमें दुःख-सन्ताप अनुभव होता होगा? इसकी आशंकासे 'यावत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जब कभी मेरे मनमें स्वभावतः व्याकुलता उत्पन्न होती, उस वैकुण्ठलोकके प्रभावसे अर्थात् वैकुण्ठकी प्रचुर महिमा हेतु सूर्यके उदय होनेसे अन्धकारके विनाशकी भाँति मेरे मनकी सन्तापरूप मलिनता दूर हो जाती॥११८॥

यदा कदाचिन्निज-लभ्यवस्तुनोऽनाप्त्येव हृत् सीदति पूर्वपूर्ववत्।
तदा तदीया परिपूर्णता रुजां निदानमाज्ञाय निरस्यते स्वयम्॥११९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि किसी-किसी समय अपने लक्ष्यवस्तुकी प्राप्तिके अभावमें मेरा मन पूर्वकी भाँति दुःखित होता, तथापि उस वैकुण्ठलोकको

परिपूर्णताको दिखाकर मैं अपने मनकी अस्वस्थतारूप पीड़ाको दूर करनेका प्रयास करता॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि श्रीमदनगोपालदेव-पादपद्मोपासन-परमफलमय-प्रियतमलोकविशेषप्राप्तये वैकुण्ठवासे निर्वेदकारणमुपदिशन्नपि तत्रत्यमहिमातिशयस्य विचारेणानुभवेन च स्वयमेवादौ निरस्यति—यदेति चतुर्भिः। यदा कदाचित् पूर्व-पूर्ववत् मे मम हृत् सीदति व्यथते। कथमिव? निजलभ्यस्यात्मप्राप्यस्य वस्तुनोऽनाप्त्येव श्रीवैकुण्ठप्राप्त्या निजाशेषप्राप्यस्य सिद्धौ सत्यामपि यथा निजेष्टासम्पन्नतया सीदति तथेति इव-शब्दार्थः। तदीया रुजो रोगास्तासां निदानमुत्पत्तिकारणं वैकुण्ठाधिक-प्राप्यान्तरलिप्सारूपमाज्ञाय सम्यग्बुद्ध्या निर्धार्य वा स्वयमेव तं निरस्यते मया॥११९॥

भावानुवाद—तथापि श्रीमदनगोपालदेवके युगल चरणमकलोंकी उपासनासे युक्त परमफलरूप प्रियतम अर्थात् विशेष लोक प्राप्त न होनेसे वैकुण्ठवासमें निर्वेदका कारण बतानेके उपक्रममें गोपकुमार प्रथमतः चित्तके अस्वस्थतारूप रोगको दूर करनेके अभिप्रायसे वैकुण्ठवासकी अत्यधिक महिमा विचार द्वारा अनुभवकर 'यदा' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि कभी-कभी पहलेके समान मेरे हृदयमें दुःख जैसा अनुभव होता। किसलिए? यदि कहो कि वैकुण्ठप्राप्ति द्वारा आपकी अनन्त प्रकारकी कामनाएँ पूर्ण हुई हैं, अतः आपके हृदयमें दुःखका अनुभव कैसे वैसे हो सकता है? इसके लिए कहते कि यह सत्य है, तथापि अपनी इष्टसिद्धि न होनेके कारण दुःख जैसा बोध होता है—इसलिए 'इव' कारका प्रयोग किया है। तब मैं अपने चित्तके रोगकी उत्पत्तिके कारण अर्थात् इस वैकुण्ठसे भी अधिक श्रेष्ठ प्राप्य वस्तुकी वाञ्छा की भलीभाँति अवधारणाकर स्वयं ही उसे दूर करनेका प्रयास करता॥११९॥

एतादृशात् प्राप्यतमं न किंचिद्वैकुण्ठवासात् किल विद्यतेऽन्यत्।
सन्देहमीषत्त्वमपीह कर्त्तुं नार्हस्यतोऽन्यः किमु पृच्छ्यतां तत्॥१२०॥

श्लोकानुवाद—रे मन! वैकुण्ठलोकको प्राप्तकर भी तुम्हारी चञ्चलता दूर नहीं हुई? ऐसे वैकुण्ठवाससे श्रेष्ठ अन्य कोई वस्तु नहीं है। इस विषयमें तुम कुछ भी सन्देह मत करो। इससे अधिक तुम क्या जानना चाहोगे?॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—निरसनप्रकारमेवाह—एतादृशादिति। अनिर्वचनीय-श्रीवैकुण्ठ-वासादन्यत् किञ्चित् प्राप्यतमं, किल निश्चितं, न विद्यते। इह अस्मिन् सिद्धान्ते ईशन्मनागपि सन्देहं हे मनस्त्वमपि कर्त्तुं नार्हसि, अस्यैव परमोत्कर्ष-चरम-काष्ठामयत्वात्। अतोऽस्माद्धेतोः अन्यो वैकुण्ठलोकवासात् पृच्छ्यतां मया॥१२०॥

भावानुवाद—चित्तकी अस्वस्थतारूप रोगको दूर करनेके प्रकारको 'एतादृश' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। हे मन! ऐसे अनिर्वचनीय वैकुण्ठवाससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है—इसे निश्चित रूपमें जानना। इस सिद्धान्तमें थोड़ा भी सन्देह मत करना, क्योंकि इस वैकुण्ठको प्राप्त करना ही समस्त उपलब्धियोंकी चरम सीमा है। अतएव तुम इस वैकुण्ठलोकवासके अलावा और अधिक क्या जानना चाहते हो?॥१२०॥

तस्मादरे चञ्चलचित्तबुद्ध्या–
द्यापि स्वभावं त्यज दूरतोऽत्र।
अस्मात् परं नास्ति परं फलं तत्,
शान्तिं परां युक्ति–शतेन गच्छ॥१२१॥

श्लोकानुवाद—अतएव, अरे चञ्चलचित्त! अब बुद्धि द्वारा अपने स्वभावकी चञ्चलताको दूरसे त्याग दो। इस वैकुण्ठलोकसे श्रेष्ठ अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः इसे ही परम फल जानो। इस विषयमें सैकड़ों युक्तियोंका विचारकर शान्ति प्राप्त करो॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र श्रीवैकुण्ठे स्वभावं चाञ्चल्यादिकं बुद्ध्या विचारेणाद्याधुनापि दूरतस्त्यज। तत्रोक्तमेव हेतुं पुनर्दार्ढ्याय निर्दिशति—तस्मादिति। श्रीवैकुण्ठलोकवासात् परमन्यत् उत्कृष्टं फलं नास्ति। इदमेव सर्वोत्कृष्टं फलमित्यर्थः। तत्र तस्मात् युक्तिशतेन इत्येवमादिविचारसमूहेन परां परमां शान्तिमुपशमं सुखं वा गच्छ प्राप्नुहि॥१२१॥

भावानुवाद—रे चञ्चल मन! इस वैकुण्ठलोकमें अपने स्वभावकी चञ्चलताको बुद्धि अर्थात् विचार आदि द्वारा अब दूरसे ही त्याग दो। उक्त विचारके कारणको दृढ़ताके लिए पुनः 'तस्माद्' इत्यादि श्लोक द्वारा बता रहे हैं। इस वैकुण्ठलोकमें वास करनेसे श्रेष्ठ अन्य कोई फल नहीं है, अतः इसे ही सर्वश्रेष्ठ फल जानों। अतएव सैकड़ों

युक्तियों द्वारा इस विषयमें विचारकर परम-शान्ति या दुःख-शमनरूप सुखको प्राप्त करो॥१२१॥

तद्बोधयन्नेव विलोकयाम्यहं स्वं सच्चिदानन्दमयं तथा प्रभोः।
वैकुण्ठलोके भजनात् परं सुखं सान्द्रं सदैवानुभवन्तमद्भुतम्॥१२२॥

श्लोकानुवाद—मैं जब मनको इस प्रकार समझाता, उसी क्षण अपनेको सच्चिदानन्दमय रूपमें देखता तथा उस वैकुण्ठलोकमें प्रभुका भजनकर सर्वदा ही परम अद्भुत घनीभूत सुखका अनुभव करता॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् स्वमनो बोधयन्नेव स्वमात्मानमेवाहं सच्चिदानन्दमयं विलोकयामि साक्षात्करोमि। अथेति समुच्चये। प्रभोर्भगवतो वैकुण्ठलोके यद्भजनं तस्माद्धेतोः सान्द्रं परमं सुखं सदैव अद्भुतं विचित्रं यथा स्यात्तथानुभवन्तञ्च स्वयमेव विलोकयामि। यदा तु श्रीमदनगोपालदेवाकृष्टतयात्मनो विचारविशेषहानिः स्यात्तदा तु मनः सीदेदेवेति ध्वनितम्॥१२२॥

भावानुवाद—इस प्रकार जब मैं अपने मनको समझाता, उसी क्षण स्वयंको सच्चिदानन्द स्वरूपमें देखता तथा उस वैकुण्ठलोकमें वैकुण्ठेश्वरका भजनकर सर्वदा ही परम अद्भुत घनीभूत सुखका अनुभव करता। किन्तु जब श्रीमदनगोपालदेवके प्रति चित्त आकृष्ट होता तथा उस प्रकार विचार करनेकी बुद्धिका ह्रास होता, तब मेरा मन भी दुःखित जैसा हो जाता॥१२२॥

एवं कदाचिदुद्विग्नः कदाचिद्धर्षवानहम्।
वैकुण्ठे निवसन् दृष्टो नारदेनैकदा रहः॥१२३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार वैकुण्ठमें वास करते हुए कभी मैं उद्विग्न होता और कभी हर्षित होता। तब एकबार श्रीनारदने मुझे वहाँ निर्जनमें देखा॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारेण कदाचिदुद्विग्नः क्षुभितः शोकार्तो वा। एकदा एकस्मिन्नपि समये नारदेनाहं दृष्टः॥१२३॥

भावानुवाद—उक्त प्रकारसे वैकुण्ठमें वास करते हुए किसी समय मैं उद्विग्न होता और कभी हर्षित होता। एक समय श्रीनारदने मुझे निर्जनमें देखा॥१२३॥

दयालु–चूड़ामणिना प्रभोर्महाप्रियेण तद्भक्तिरसाब्धिनामुना।
शुभाशिषानन्द्य करेण भाषितः संस्पृश्य वीणासुहृदा शिरस्यहम्॥१२४॥

श्लोकानुवाद—दयालु शिरोमणि, प्रभुके अत्यन्त प्रिय, भक्तिरसके सागरस्वरूप उन श्रीनारदने अपनी प्रिय वीणाको धारण किये हुए हाथ द्वारा मेरे सिरको स्पर्शकर आशीर्वादपूर्वक कहा—॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च अमुना श्रीनारदेन शुभाशिषा आनन्द्य अभिनन्द्य हर्षयित्वा वीणासुहृदा वीणासङ्गवता, करेण शिरसि संस्पृश्य चाहं भाषितः उक्तः। तत्र हेतुः—दयालूनां चूड़ामणिना मूर्धन्येन। कुतः? प्रभोः श्रीकृष्णदेवस्य महाप्रियेण, यतस्तस्य प्रभोर्भक्तिरसानामब्धिनेति॥१२४॥

भावानुवाद—इसके बाद वे श्रीनारद शुभ आशीर्वादके साथ अभिनन्दनकर हर्ष सहित अपनी प्रिय वीणाको धारण करनेवाले हाथसे मेरे सिरको स्पर्शकर कहने लगे। उनके द्वारा ऐसा करनेका कारण था कि वे दयालु चूड़ामणि हैं। किसलिए? प्रभु श्रीकृष्णके महाप्रिय होनेके कारण वे प्रभुके भक्तिरसके समुद्र हैं अथवा उसमें डूबे हुए हैं॥१२४॥

श्रीभगवन्नारद उवाच—

भो गोपनन्दन श्रीमद्वैकुण्ठेशानुकम्पित।
मुखम्लान्यादिना किञ्चिच्छोचन् दीन इवेक्ष्यसे॥१२५॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीनारदने कहा—हे गोपनन्दन! हे वैकुण्ठानाथके कृपापात्र! तुम्हारा मलिन मुख देखकर अनुमान होता है कि तुम किसी शोकके कारण उदास जैसे हो रहे हो॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीमता वैकुण्ठेशेनानुकम्पितेति। शोकहेतोरसम्भवः सूचितः। किञ्चिच्छोचन् सन् दीन इव मुखम्लान्यादिना लिङ्गेन ईक्ष्यसे लक्ष्यसे। आदि-शब्देन शून्यदृष्टित्वोच्चश्वासादि॥१२५॥

भावानुवाद—'हे श्रीवैकुण्ठनाथके कृपापात्र!'—इस सम्बोधनसे सूचित होता है कि यद्यपि वैकुण्ठलोकमें शोकका कोई कारण होना असम्भव है तथापि मुख-मलिनतादि चिह्न देखकर बोध होता है कि तुम किसी विषयके लिए शोक करते हुए दुःखी जैसे हो रहे हो। 'आदि' शब्दसे शून्यदृष्टि, दीर्घ-श्वासादिको भी ग्रहण करना होगा॥१२५॥

शोकदुःखावकाशोऽत्र कतमः स्यान्निगद्यताम्।
परं कौतूहलं मेऽत्र यन्न दृष्टः स कस्यचित्॥१२६॥

श्लोकानुवाद—इस वैकुण्ठमें शोक-दुःखका कोई स्थान ही नहीं है, अतः फिर किस प्रकार तुममें शोक-दुःख उदित हुआ, मुझे स्पष्टरूपमें बताओ। मैंने आज तक किसीको भी यहाँ पर दुःखका अनुभव करते हुए नहीं देखा है, अतः मैं इसे जाननेके लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहा हूँ॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु शोकार्त्त एवाहमिति चेत्तत्राह—शोकेति। अत्र वैकुण्ठलोके शोक-दुःखयोरवकाशः प्रवेशो वा कतमः स्यात्? स तन्निदानं वा निगद्यतां त्वया निरूप्यताम्, यस्मादत्र स शोक-दुःखावकाशः कस्यचिदपि मया न दृष्टोऽस्ति। अतएव मम परमं कौतूहलं भवतीत्यर्थः॥१२६॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमार कहते हैं कि वे शोकके कारण दुःखी जैसे हैं, इसके लिए श्रीनारद 'शोक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस वैकुण्ठलोकमें तुममें शोकका सञ्चार कैसे हुआ? उसका मूल कारण तुम स्पष्टरूपमें कहो, क्योंकि मैंने आज तक यहाँ किसीको भी शोक-दुःखका अनुभव करते हुए नहीं देखा है, इसीलिए मुझमें विशेष कौतूहल उत्पन्न हो रहा है॥१२६॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

परमाप्तं सुहृच्छ्रेष्ठं तं प्राप्य स्वगुरूपमम्।
हार्दं तद्वृत्तमात्मीयं कात्स्न्येनाकथयं तदा॥१२७॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—मैंने परम विश्वसनीय और शुभ-चिन्तकोंमें श्रेष्ठ गुरुतुल्य उन श्रीनारदको प्राप्तकर उसी क्षण उन्हें अपने हृदयका समस्त वृत्तान्त कह सुनाया॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं श्रीनारदं प्राप्य। कीदृशम्? परममाप्तम्; आप्तलक्षणञ्च-उक्तम्; तथा सुहृत्सु निरुपाधिहितकृत्सु श्रेष्ठम्; अतः स्वस्य मम गुरुतुल्यम्। अतएव हार्दं हृत्स्थितम् आत्मीयं निजं तत् आदावुद्दिष्टं वृत्तं वृत्तान्तं कात्स्न्येन निःशेषतयाऽकथयम्॥१२७॥

भावानुवाद—मैंने उन श्रीनारदको प्राप्त किया। किसरूपमें प्राप्त किया? परम विश्वसनीय रूपमें, क्योंकि वे बिना किसी कारणके हित

करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव मेरे गुरुतुल्य हैं। अतएव मैंने अपने हृदयका समस्त वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया॥१२७॥

श्रुत्वा तदखिलं किञ्चिन्निश्वस्य परितो दृशौ।
सञ्चार्याकृष्य मां पार्श्वेऽब्रवीत् सकरुणं शनैः॥१२८॥

श्लोकानुवाद—मेरा वृत्तान्त सुनकर श्रीनारदने कुछ निःश्वास त्याग कर एकबार चारों तरफ दृष्टिपात किया और फिर मुझे अपने निकट बुलाकर करुणापूर्वक धीरे-धीरे कहने लगे॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्वृत्तमखिलं श्रुत्वा स्वयमपि तदप्राप्त्या सदा दीन एवाधुना विशेषतस्तत्स्मरणेन शोकान्निश्वस्य किञ्चिदनिर्वचनीयमत्युच्चैरित्यर्थः। स्वल्पमिति वा, मम शोकवृद्धिभयेन यत्नतो निजशोकसम्वरणात् परित इतस्ततः दृशौ सञ्चार्य सर्वा दिशो विलोक्येत्यर्थः। वक्ष्यमाण-परमनिगूढ़ार्थ-प्रकाश-शङ्कया। अतएव पार्श्वे स्वनिकटे मामाकृष्य शनैरब्रवीत्। करुणा कृपा करुणो रसो वा, तेन सहितं यथा स्यात्॥१२८॥

भावानुवाद—श्रीनारदने मेरे हृदयका समस्त वृत्तान्त सुना। वे स्वयं भी उसी वस्तुको प्राप्त न कर सकनेके कारण सदा दीनकी भाँति रहते थे, किन्तु अब उसका स्मरण होनेसे शोकके कारण उन्होंने कुछ श्वास त्याग किया, क्योंकि वह विषय अनिर्वचनीय था। उस विषयका थोड़ासा भी वर्णन करनेसे मेरे शोककी वृद्धि होनेका भय था, अतः उन्होंने यत्नपूर्वक अपने शोकका सम्वरणकर इधर-उधर चारों ओर दृष्टिपात किया। अर्थात् परम निगूढ़ार्थको प्रकाश करनेके लिए उन्होंने चारों ओर देखा फिर मुझे अपने निकट बुलाकर करुणारससे परिपूर्ण होकर धीरे-धीरे कहने लगे—॥१२८॥

श्रीनारद उवाच—

इतः परतरं प्राप्यं किञ्चिन्नास्तीति यत्त्वया।
मन्यते युक्तिसन्तत्या तत् सत्यं खलु नान्यथा॥१२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—तुमने जो अनेक प्रकारकी युक्तियों द्वारा निश्चित किया है कि इस वैकुण्ठलोकसे श्रेष्ठतम अन्य कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं है, वह सत्य है, इसमें तनिक भी सन्देह मत करना॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इतोऽस्मात् श्रीवैकुण्ठलोकात् परतरं श्रेष्ठतमं किञ्चित् प्राप्यं फलं नास्तीत्येवं तद्युक्तीनां सन्तत्या श्रेण्या यत्त्वया मन्यते, तत् सत्यमेवात्रान्यथा नास्ति॥१२९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२९॥

यञ्च स्वीयेष्टदेवस्य विनोदं ध्यानसङ्गतम्।
साक्षादत्रानुभवितुं तथैवेच्छसि सर्वथा॥१३०॥

श्लोकानुवाद—तथापि तुम जो ध्यानमें उदित अपने इष्टदेवकी लीलाको इस वैकुण्ठमें साक्षात् अनुभव करनेकी इच्छा करते हो—इस विषयमें कुछ कह रहा हूँ॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तु स्वीयस्य इष्टदेवस्य श्रीमदनगोपालभगवतो विनोदं लीलाविशेषं ध्याने स्वयं क्रियमाणे स्मरणविशेषसङ्गतं मिलितम्। अत्र वैकुण्ठे तथैव तेन ध्यानसङ्गतप्रकारेणैव। तत्रापि सर्वथा सर्वेन तद्विशेषप्रकारेण साक्षादनुभवितुं यमिच्छसि॥१३०॥

भावानुवाद—किन्तु तुमने जो अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालकी विनोद लीलाका ध्यानमें स्वयं अनुभव किया है, अथवा ध्यानमें उनसे मिलित हुए हो तथा अब इस वैकुण्ठमें भी उसी प्रकारसे अर्थात् ध्यानके अनुरूप उनके द्वारा आलिङ्गन, चुम्बनादिको साक्षात् भावसे अनुभव करनेकी इच्छा कर रहे हो—इस विषयमें कुछ कह रहा हूँ॥१३०॥

तस्यापि सोऽत्यन्तसुखप्रदायकश्चेतोहरः प्रीतिविशेषगोचरः।
गोप्योत्तमस्तद्व्रजलोकवन्महाप्रेमैकलभ्योऽसुलभो हि मादृशाम्॥१३१॥

श्लोकानुवाद—ऐसी विनोदलीला प्रभुको भी अत्यन्त सुखप्रद होती है तथा चित्तवृत्तिका हरण करनेवाली किसी विशेष प्रीतिके द्वारा ही गोचर होती है। वह परम गोपनीय लीलाएँ मेरे जैसे ऋषियोंके लिए भी सुदुर्लभ है, केवल मात्र व्रजवासियोंके समान महान प्रेमके बलसे ही वह प्राप्त होती है॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—स विनोदस्तस्य भगवतोऽप्यत्यन्तसुखप्रदायकः। तथा चेतोहरः मनोहारी, तथा प्रीतिविशेषस्य असाधारणप्रियताया गोचरो विषयो मादृशां

हि निश्चितमसुलभः, यतस्तस्यैव गोप्येषु मध्ये उत्तमः श्रेष्ठः। किञ्च, तेषां सुप्रसिद्धमहिम्नां व्रजलोकानामिव यन्महाप्रेम तेनैकेनैव लभ्यः अनुभवितुं शक्य इत्यर्थः। एवमादौ श्रीवैकुण्ठवासिभिः विकल्पितस्य श्रीभगवद्गोकुललीला-विषयकसिद्धान्तस्यायं निश्चयो ज्ञेयः॥१३१॥

भावानुवाद—वैसी मनोहर विनोद लीला प्रभुके लिए भी अत्यन्त सुखप्रद होती है तथा वह लीला असाधारण प्रीतिके द्वारा ही गोचर होती है। उस लीलाका अनुभव मेरे जैसे व्यक्तियोंके लिए भी निश्चितरूपमें सुदुर्लभ है, क्योंकि वह गोपनीय वस्तुओंमें भी परम गोपनीय है। तदुपरान्त कहते हैं कि वह लीला केवलमात्र सुप्रसिद्ध महिमासे युक्त व्रजवासियोंके महाप्रेमके बल द्वारा ही अनुभवकी जा सकती है। इस प्रकार प्रारम्भमें श्रीवैकुण्ठवासियोंके द्वारा श्रीभगवान्‌की गोकुल-लीलाके विषयमें कल्पित मतका यथार्थ सिद्धान्त यहाँ निश्चितरूपमें श्रीनारद द्वारा विज्ञापित हुआ है॥१३१॥

स वै विनोदः सकलोपरिष्टाल्लोके क्वचिद्भाति विलोभयन् स्वान्।
सम्पाद्य भक्तिं जगदीश-भक्त्या वैकुण्ठमेत्यात्र कथं त्वयेक्ष्यः॥१३२॥

श्लोकानुवाद—प्रभुकी वैसी क्रीड़ा समस्त लोकोंके ऊपर विराजमान किसी एक एकान्त स्थान पर अपने समस्त भक्तोंके मनका हरण करते हुए प्रकाशित रहती है। तुमने प्रभुके प्रति जगदीश बुद्धिसे भक्ति कर इस वैकुण्ठलोकको प्राप्त किया है, अतएव यहाँ पर वैसी क्रीड़ाका सुख किस प्रकार अनुभव करोगे?॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु स कुत्र लभ्यः स्यादित्यपेक्षायामाह—स इति। स वै प्रसिद्धौ। सकलस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य प्रपञ्चातीतस्य च उपरिष्टाद्वर्त्तमाने लोके भुवनविशेषे भाति विराजते। क्वचित् कस्मिंश्चिदिति अनिर्वचनीयत्वात् परमरहस्यतया तदानीं प्रकाशनायोग्यत्वात्। किं कुर्वन्? स्वान् निजभक्तान् विलोभयन् सन्। अतस्त्वया जगदीशबुद्ध्या भक्तिं सम्पाद्य तया वैकुण्ठलोकमेत्यागत्यात्र वैकुण्ठे स विनोदः कथमीक्ष्यः साक्षादनुभवितुं शक्यः। भगवति परमप्रियतमबुद्ध्या प्रेमविशेष-सम्पादनेनैव तल्लोकविशेषप्राप्त्या तदनुभवः स्यादिति भावः॥१३२॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि वैसी क्रीड़ा कहाँ पर अनुभव होगी? इसकी आकांक्षामें 'स' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वैसी प्रसिद्ध क्रीड़ा प्रपञ्च और प्रपञ्चके अतीत समस्त लोकोंके ऊपर किसी

अनिर्वचनीय परम रहस्यमय स्थान पर अपने समस्त भक्तोंके मनका हरण करते हुए विराजमान है। तुम जगदीश्वर बुद्धिसे प्रभुकी भक्ति करके इस वैकुण्ठमें आये हो, अतः इस वैकुण्ठलोकमें वैसी क्रीड़ाको अनुभव करनेमें कैसे समर्थ होओगे? भगवान्‌के प्रति परम प्रियतम बुद्धिके प्रभावसे प्राप्त विशेष प्रेमके बलसे ही वह लोक प्राप्त होता है, अर्थात् उन लीलाओंका रस अनुभव किया जाता है॥१३२॥

भगवत्परमैश्वर्यप्रान्तसीमाप्रकाशने　　।
वैकुण्ठेऽस्मिन् महागोप्यः प्रकटः सम्भवेत् कथम्॥१३३॥

श्लोकानुवाद—यह वैकुण्ठलोक भगवान्‌के परम ऐश्वर्यकी चरम सीमाके प्रकाशका एकमात्र स्थान है। अतएव यहाँ पर महागोपनीय माधुर्यमय लीलाका प्रकटन किस प्रकार सम्भव हो सकता है?॥१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—भगवदिति। महागोप्यः परमगुह्यः स विनोदः। अस्मिन् वैकुण्ठलोके कथं प्रकटः सम्भवेत्? कुतः? भगवतः परमैश्वर्यस्य प्रान्तसीम्नः परमान्त्यकाष्ठायाः प्रकाशनं यस्मिन् तस्मिन् तद्रूप इति वा। अतो भगवतः परमप्रियबन्धु-भावविशेष-प्रकाशनयोग्यपद एव तद्विनोदानुभवः स्यादिति भावः॥१३३॥

भावानुवाद—श्रीनारद वैकुण्ठमें वैसी क्रीड़ाके अभावका हेतु 'भगवत्' इत्यादि श्लोक द्वारा बता रहे हैं। वह विनोद क्रीड़ा महागोपनीय अर्थात् परम रहस्यमय है, अतः वैसी लीलाका प्रकटन वैकुण्ठलोकमें कैसे सम्भव होगा? इसका कारण है कि यह वैकुण्ठ भगवान्‌के परम ऐश्वर्यकी चरम सीमाके प्रकाशका एकमात्र स्थल है, परन्तु श्रीभगवान्‌के साथ परमप्रिय-बन्धुभावके प्रकाशके योग्य स्थान पर ही वैसी विनोद लीलाका अनुभव होता है॥१३३॥

शोकं सर्वं विहायेमं श्रीमद्वैकुण्ठ-नायकम्।
निजेष्टदेवबुद्ध्यैव वीक्षस्व भज मा भिदाम्॥१३४॥

श्लोकानुवाद—अतएव तुम समस्त शोकका परित्यागकर श्रीवैकुण्ठ-नाथको ही अपना इष्टदेव जानकर भजन करो तथा उन दोनोंमें भेद ज्ञान मत करो॥१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजस्तावक इष्टदेवः श्रीमदनगोपालो भगवान् स एवायमिति बुद्ध्या श्रीमन्तं वैकुण्ठनायकं वीक्षस्व अवलोकय भावयेति वा। एवं भिदां तयोर्भेदं मा भज आश्रय॥१३४॥

भावानुवाद—अतएव समस्त शोक परित्यागकर अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालको ही श्रीवैकुण्ठनायकके रूपमें देखकर अर्थात् उनसे अभेदबुद्धि रखकर भजन करो। अपने इष्ट श्रीमदनगोपाल और इन भगवान्में कभी भी भेदबुद्धि मत करना॥१३४॥

ततोऽत्रापि सुखं तत्तदनन्तं परमं महत्।
वर्द्धमानं सदा स्वीयमनःपूरकमाप्स्यसि॥१३५॥

श्लोकानुवाद—ऐसा होने पर इस स्थानमें ही तुम अपने मनको तृप्त करनेवाले उस अनन्त, परममहान तथा सदा वर्द्धित होनेवाले सुखको प्राप्त करोगे॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मादभेददर्शनात्; तत्र श्रीवैकुण्ठेऽपि स्वीयस्य मनसः पूरकं तृप्तिकरं तत्तदनिर्वचनीयं सुखं लप्स्यसे। कीदृशम्? सदा वर्द्धमानं प्रतिक्षणं नूतनत्वेन माधुरीविशेषो दर्शितः। तथापि कदाचिन्नूतनता नास्तीत्याह—परमं महदिति; तच्च न सीमवदित्याह—अनन्तमपरिच्छिन्नमिति। एतच्चादौ विवृतप्रायमेवास्ति॥१३५॥

भावानुवाद—अतएव ऐसे अभेद दर्शनके कारण इस श्रीवैकुण्ठमें ही तुम अपने मनको तृप्त करनेवाले अनिर्वचनीय सुखको प्राप्त करोगे। वह सुख किस प्रकारका है? सदा वर्द्धनशील अर्थात् प्रतिक्षण नव-नव माधुरीको प्रकट करनेवाला। यदि कहो कि तथापि कभी-कभी उसमें नवीनता नहीं रहती होगी। इसके लिए कहते हैं—वह सुख परम महान होता है तथा उसकी कोई सीमा नहीं होती, अर्थात् वह अनन्त और असीम होता है। इसे प्राय पहले ही कहा जा चुका है॥१३५॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

ततः कानपि सिद्धान्तान् स्व-प्रज्ञा-गोचरानपि।
ऐच्छं तदाननाच्छ्रोतुं श्रोत्रेण प्रेरिते हठात्॥१३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—तत्पश्चात् श्रीनारदके मुखसे निकले कुछ वैष्णव सिद्धान्त मेरी बुद्धिके गोचर होने पर भी अचानक

श्रवणेन्द्रियों द्वारा प्रेरित होकर मेरी उनके मुखसे और भी कुछ श्रवण करनेकी इच्छा हुई॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीनारदोक्ति-पाटवेनाश्वासमिवासाद्य। *'एतत्परमवैचित्रीहेतुं वक्ष्यामि तेऽग्रतः।'* इति प्रतिज्ञातमर्थं निष्पादयन् श्रीवैष्णवसिद्धान्त-महारत्न-प्रकाशनेनाशेष-संशयोपद्रवान् निराकर्त्तुं प्रसङ्गान्तरमारभते तत इत्यादिना तत्प्रसादत इत्यन्तेन। स्वस्य मम प्रज्ञाया बुद्धेर्गोचरान् विषयानपि कानपि वैष्णववृन्द-वल्लभान् सिद्धान्तान् तस्य नारदस्य आननान्मुखात् श्रोतुमैच्छम्। कुतः? श्रोत्रेण श्रवणेन्द्रियेण हठाद्बलाद् प्रेरितः सन्, अन्यथा श्रोत्रसुखं न स्यादिति भावः॥१३६॥

भावानुवाद—इस प्रकार मैं श्रीनारदकी वचन चातुरी द्वारा आश्वस्त हुआ। 'इस परम वैचित्रीका हेतु बादमें कहूँगा।'—श्लोक ३९में उक्त इस प्रतिज्ञा किये हुए वचनको पूर्ण करते हुए गोपकुमार श्रीवैष्णवसिद्धान्तरूपी महारत्नके प्रकाश द्वारा माथुर विप्रके अनेक प्रकारके संशयोंका उपद्रव दूरकर अन्य प्रसंग आरम्भ करते हुए 'तत' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीनारदकी कृपासे वैष्णवोंके प्रिय कुछ सिद्धान्त मेरी बुद्धिके गोचर होने पर भी मुझमें श्रीनारदके मुखसे और भी कुछ सुननेकी इच्छा हुई। किसलिए? हठात् अपनी श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रेरित होकर, क्योंकि इसके अलावा श्रवणसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता॥१३६॥

शक्नोमि च न तान् प्रष्टुममुं गौरवलज्जया।
अभिप्रेयाय सर्वज्ञवरो भागवतोत्तमः॥१३७॥
मदीयकर्णयोः स्वीयजिह्वायाश्च सुखाय सः।
व्यञ्जयामास संक्षेपात् सर्वांस्तान् मद्धृदि स्थितान्॥१३८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि गौरव और लज्जावशतः मैं उनसे कोई भी प्रश्न नहीं कर सका, तथापि वे सर्वज्ञवर उत्तम भागवत मेरे मनके भावको जान गये। मेरे दोनों कानोंको तथा अपनी जिह्वाको सुख प्रदान करनेके लिए उन्होंने मेरे हृदयस्थित समस्त विषयोंको संक्षेपमें कुछ व्यक्त किया॥१३७-१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तांश्च सिद्धान्तान् अमुञ्च श्रीनारदं प्रष्टुं न शक्नोमि। गौरवेण तस्य तस्य गुरुत्वेन या लज्जा तया; स च सर्वज्ञवरः तान् सर्वान् मम हृदि स्थितानपि अभिप्रेयाय अभिप्रायेण ज्ञातवान्। ततश्च तान् सर्वान् संक्षेपेण

व्यञ्जयामास व्यक्ततया व्याचख्यौ। किमर्थम्? मदीययोः कर्णयोः सुखाय, स्वीयाया जिह्वायाश्च सुखाय; यतो भागवतेषु उत्तमः श्रेष्ठः सः॥१३७–१३८॥

भावानुवाद—किन्तु उन समस्त वैष्णव-सिद्धान्तोंको श्रवण करनेके लिए मैं श्रीनारदसे कोई भी प्रश्न करनेमें समर्थ नहीं हुआ। अर्थात् उनके प्रति गौरव या गुरुबुद्धि हेतु और लज्जावशतः मैंने केवल मन-ही-मन इस विषयमें चिन्ता की। तथापि उन सर्वज्ञवरने मेरे हृदयस्थित अभिप्रायसे अवगत होकर उस विषयको संक्षेपमें व्यक्त किया। किसलिए? मेरे कानों और अपनी जिह्वाके सुख-वर्द्धनके लिए, क्योंकि वे उत्तम भागवत थे॥१३७–१३८॥

श्रीनारद उवाच—

पशु-पक्षिगणान् वृक्ष-लता-गुल्म-तृणादिकान्।
अत्र दृष्टान् न मन्यस्व पार्थिवांस्तामसानिव॥१३९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे गोपकुमार! तुम इस वैकुण्ठमें पशु-पक्षी-वृक्ष-लता-गुल्म-तृणादि जो कुछ भी देख रहे हो, उन सभीको पार्थिव (जड़) जगतकी तामस योनिके समान मत मानना॥१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ वैकुण्ठलोके गो-हय-गजादि-पशूनां पारावत-कोकिलादि-पक्षीगणानां मन्दार-कुन्दादिवृक्षलतादीनाञ्च दर्शनेन सम्भवन्तीं तामस-पश्वादि-योनिभ्रान्तिं निवारयति—पश्विति। अत्र श्रीवैकुण्ठे पश्वादीन् दृष्ट्वा तामसान् तमोयोनिगतान् पार्थिवानिव न मन्यस्व। आदि-शब्दात् कीटादि॥१३९॥

भावानुवाद—प्रथमतः गोपकुमारको इस वैकुण्ठलोकमें गाय, अश्व और हाथी आदि पशुओं और कबूतर, कोयल आदि पक्षियों तथा मन्दार, कुन्दादि वृक्ष-लता आदिको देखकर उनको तामसिक पशु आदिकी योनिका मानकर भ्राँति हो सकती है। इस भ्रान्तिके निवारणके लिए श्रीनारद 'पशु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस श्रीवैकुण्ठमें पशु आदिको देखकर उन्हें तामस योनिमें स्थित जड़ जगतके प्राणियोंके समान मत मानना। 'आदि' शब्दसे कीट-पतङ्गादिको भी ग्रहण करना होगा॥१३९॥

एते हि सच्चिदानन्दरूपाः श्रीकृष्ण-पार्षदाः।
विचित्रसेवानन्दाय तत्तद्रूपाणि बिभ्रति॥१४०॥

श्लोकानुवाद—ये सभी श्रीकृष्णके पार्षद हैं तथा वस्तुतः इन सभीका सच्चिदानन्दस्वरूप है। विचित्र रूपमें प्रभुकी सेवाका अनन्द आस्वादन करनेके लिए इन्होंने ऐसे रूपोंको धारण किया है॥१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानि तानि पशुपक्ष्यादीनि रूपाणि आकारान् बिभ्रति अनुकुर्वन्ति। किमर्थम्? विचित्राभिर्विविधाभिः सेवाभिर्य आनन्दः सुखविशेषस्तदर्थम्; यद्वा, विचित्राय परमाद्भुताय सेवानन्दाय। एवं तृतीयस्कन्धे श्रीवैकुण्ठे श्रीब्रह्मणा वर्णितानां पक्षि-भृङ्ग-वृक्ष-लतादीनां तामसयोनित्वादि-शङ्का निरस्ता॥१४०॥

भावानुवाद—ये श्रीकृष्णके पार्षद हैं और इन सभीका सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ये सभी पशु-पक्षीका आकार धारण किये हुए हैं। किसलिए? विचित्र परमाद्भुत सेवानन्द अर्थात् विशेष सुखका आस्वादन करनेके लिए। श्रीब्रह्माने भी तृतीय-स्कन्धमें श्रीवैकुण्ठ-वर्णन प्रसंगमें ऐसा कहा है। अतः वैकुण्ठके पक्षी-भृङ्ग-वृक्ष-लतादिके तामस-योनिमें होनेकी आशंका दूर हुई॥१४०॥

यद्वर्णवद्यदाकारं रूपं भगवतोऽस्य ये।
निजप्रियतमत्वेन भावयन्तोऽभजन्निमम्॥१४१॥

श्लोकानुवाद—भक्तगण इन वैकुण्ठनाथकी अपने प्रियतम जिस वर्ण, रूप और आकारमें सर्वदा भावना कर भजन करते हैं, उसीके समान अपने रूपको प्राप्त करते हैं—॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजन्तु रूपमेषां श्रीभगवद्रूपसमानमिति वदन् तत्रैव वैचित्री-हेतुमाह—यदिति सार्द्धेन। अस्य श्रीवैकुण्ठनाथस्य श्रीभगवतो रूपं श्रीमूर्त्ति यद्वर्णयुक्तं यदाकारञ्च निजप्रियतमत्वेन भावयन्तश्चिन्तयन्तो ये इमं श्रीभगवन्तमभजन्, तेऽस्य भगवतस्तादृशं तद्वर्णाकारादि-सदृशं सारूप्यं समानरूपतां प्राप्ताः सन्तः, अतएव नानाविधाः आकृतयः श्रियश्च वर्णादिशोभा येषां तादृशा बभूवुरित्यर्थः॥१४१॥

भावानुवाद—इन वैकुण्ठवासियोंका रूप श्रीभगवान्के रूपके समान होने पर भी इनमें विचित्रता होनेका हेतु 'यद्वर्ण' इत्यादि डेढ़ श्लोकमें कह रहे हैं। भक्तगण इन श्रीवैकुण्ठनाथके जिस रूप अर्थात् श्रीमूर्त्ति

तथा जिस वर्ण और आकारको अपने प्रियतमरूपमें भावनाकर उनका भजन करते हैं, वे भक्तगण भी श्रीभगवान्‌के उसी वर्ण और आकारादिका सारूप्य (समानरूपता) प्राप्त करते हैं। अर्थात् वे भी श्रीभगवान्‌के समान नाना-प्रकारकी आकृति और गौर, श्याम, शुक्ल तथा रक्तादि वर्णसे युक्त शोभा प्राप्त करते हैं॥१४१॥

तादृशं तेऽस्य सारूप्यं प्राप्ता नानाकृतिश्रियः।
मनुष्या मुनयो देवा ऋषयो मत्स्य-कच्छपाः॥१४२॥
वराहा नरसिंहाश्च वामनाश्च त्रिलोचनाः।
चतुर्मुखाः सहस्राक्षाः महापुरुषविग्रहाः॥१४३॥
सहस्रवक्त्राः सूर्येन्दु-वायु-वह्न्यादिरूपिणः।
चतुर्भुजादिरूपाश्च तत्तद्वेशादिरूपिणः॥१४४॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के किसी विशेष रूपके साथ सारूप्य प्राप्त कर वे नानाविध रूप, आकार और शोभादि प्राप्त करते हैं। कोई मनुष्य, कोई मुनि, कोई देवता, कोई ऋषि, कोई मत्स्य, कोई कच्छप आदिकी मूर्त्ति ग्रहणकर रहते हैं। अपनी-अपनी उपासनाके अनुसार कोई वराहके समान रूप, कोई नृसिंहके समान रूप और कोई वामनके समान रूप प्राप्त करते हैं। कोई-कोई त्रिलोचन (शिव), चतुर्मुख (ब्रह्मा), सहस्राक्ष (इन्द्र) और महापुरुषविग्रह तथा सहस्रवदन (शेष), सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि आदिके रूपमें हैं तथा कोई-कोई चतुर्भुजादि मूर्त्तिमें है और वे सभी उन-उन रूपोंके अनुरूप चिह्न-वेशादि भी प्राप्त करते हैं॥१४२-१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—*'श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः, पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः। सर्वे चतुर्वाहव उन्मिषन्मणि, प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः। प्रवाल-वैदूर्य-मृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्ड़लमौलिमालिनः॥'* (श्रीमद्भा॰ २/९/११) इत्यनेन द्वितीयस्कन्धे वर्णिता पार्षदानां भगवत्-स्वरूपता-प्रक्रिया-वर्ण-वैचित्री चात्राप्यूह्या। आकारवेशादिवैचित्रीञ्च दर्शयन् तानेव निर्दिशति—मनुष्या इति सार्द्धत्रयेण। श्रीरघुनाथादीनां सारूप्यप्राप्त्या मनुष्याकाराः; श्रीकपिलादीनाञ्च मुनयः; मन्वन्तरावतारश्रीविभुः, सत्यसेनादीनां देवाः; श्रीपरशुरामादीनामृषयः; मत्स्याः कच्छपाश्च, मत्स्यादयश्च व्यक्ता एव। सुप्रसिद्धतत्तन्महावतारादीनां त्रिलोचनाश्चतुर्मुखाश्च। भगवद्‌बुद्धिविशेषेण श्रीशिव-

ब्रह्मोपासनया तयोः; एवमेवेन्द्राणां सहस्राक्षाः, शेषस्य च सहस्रास्याः, सूर्यादीनाञ्च तत्तत्सदृशरूपिण इत्यूह्यम्। जगदीशत्वेनैषामुपासनमैन्द्र्यादि-श्रुतिषु प्रसिद्धमेव। अतएव प्लक्षद्वीपादौ तथैव सूर्यादीनामुपासनं पञ्चमस्कन्धादितः श्रूयते। यद्वा, वैकुण्ठवासिनामेषां त्रिलोचन-चतुर्मुख-सहस्रास्य-सहस्रसूर्यादिरूपिणां तत्तदाकार-प्राप्ति-कारणं श्रीरघुनाथादि-सादृश्यविलक्षणमनुष्याकारप्राप्तिकारणमिव निरन्तरश्लोकाभ्यामूह्यम्। साक्षाच्छ्रीभगवच्च-रणारविन्द-प्रेमभक्त्यैव श्रीवैकुण्ठप्राप्तिसिद्धेः। अतएव श्रीभगवदभेदेन श्रीशिवाद्युपास-कास्तत्तत्पार्षदश्रेष्ठं प्राप्ताः तत्तन्महिमान एव सन्तः तत्तल्लोके निवसन्तीति वामनपुराणादौ प्रसिद्धम्। महापुरुषविग्रहास्तु भगवत्प्रथमावतारस्य महापुरुषस्य सारूप्यं प्राप्ताः सहस्र-बाहु-पाद-शीर्षाद्यवयवयुक्ताः। आदि-शब्देन आद्येन धर्मार्यमादयोऽन्येऽपि भगद्विभूतिरूपा देववरा ग्राह्याः। द्वितीयेण चाष्टभूजा द्वादशभूजादयः। अतएव तान् तान् मनुष्याद्युचितान् वेशान् अलङ्कारान्। आदि-शब्देन तत्तदुपयुक्तविचित्रलक्षणानि च धारयितुं शीलमेषामिति तथा ते॥१४२-१४४॥

भावानुवाद—श्रीमद्भागवत (२/९/११)में कथित है—"वैकुण्ठमें श्रीहरिके जो समस्त पार्षद हैं, उनका वर्ण श्यामल और उज्ज्वल है, चक्षु कमलके समान विस्तृत हैं, वस्त्र पीतवर्णके है, कान्ति अत्यन्त मनोहर है और अङ्ग सुकोमल हैं। वे सभी चतुर्भुज हैं, उत्तम प्रभावशाली मणिमय आभरणोंसे विभूषित हैं तथा उनके तेजकी सीमा नहीं है। उनकी प्रभा प्रवाल, वैदूर्यमणि और मृणालकी प्रभाको भी तुच्छ करती है। वे दीप्तिमान कुण्डल और माल्यादि धारण किये हुए हैं।" इस प्रकारसे द्वितीय-स्कन्धमें वर्णित पार्षदोंकी भगवान्‌के समान रूप प्राप्त करनेकी प्रक्रिया और वर्ण-वैचित्रीको यहाँ व्यक्त किया गया है। पार्षदोंके आकार और वेशादिकी वैचित्री प्रदर्शनकर अब उसका हेतु निर्देश करनेके लिए 'मनुष्या' इत्यादि साढ़े तीन श्लोक कह रहे हैं।

जिन्होंने श्रीरघुनाथादिकी उपासनाकर उनके समान रूप प्राप्त किया है—वे मनुष्यमूर्त्ति हैं, इस प्रकार जो श्रीकपिल आदिकी उपासना करते हैं—वे मुनिमूर्त्ति हैं, जो मन्वन्तरावतार श्रीविभु और सत्यसेन आदिकी उपासना करते हैं—वे देवमूर्त्ति हैं तथा जो श्रीपरशुराम आदिकी उपासना करते हैं—वे ऋषिमूर्त्ति हैं। इस प्रकार उपासनानुसार कोई मत्स्य सारूप्य, कोई कच्छप सारूप्य, कोई वराह सारूप्य तो कोई वामन सारूप्य प्राप्त होते हैं। जो सुप्रसिद्ध महावतार त्रिलोचन अर्थात् श्रीशिव और चतुर्मुख अर्थात् श्रीब्रह्मादिको भगवान्‌के अवतार मानकर

उपासना करते हैं, वे उनके समान रूपादि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इन्द्रादिकी उपासनासे सहस्रलोचन, शेषदेवकी उपासनासे सहस्रमुख और सूर्यादिकी उपासनासे उन–उनके समान रूप प्राप्त होता है। अन्यान्य देवताओंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही जानना होगा। जगदीश रूपमें इन्द्रादिकी उपासना ऐन्द्रादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवतके पञ्चम–स्कन्धमें प्लक्षद्वीप आदिमें उसी रूपमें सूर्यादिकी उपासनाके सम्बन्धमें भी सुना जाता है। अथवा वैकुण्ठवासियोंके द्वारा शिव, ब्रह्मा, शेष या सूर्यादिके आकार प्राप्तिका कारण श्रीरघुनाथादिके समान विलक्षण मनुष्य आकार प्राप्तिके कारणके समान ही जानना होगा, इसे प्रथम दो श्लोकोंमें कहा गया है।

साक्षात् श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी प्रेमभक्तिके बलसे ही यह वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है। अतएव श्रीवामनपुराणमें कथित है कि श्रीभगवान्के साथ अभेदभावसे अर्थात् श्रीभगवान् और श्रीशिव–ब्रह्मादिमें भेद नहीं है—ऐसे भावसे युक्त श्रीशिवादिके उपासक भी भगवान्के श्रेष्ठ पार्षदोंके समान होकर उनके समान महिमायुक्त हुए हैं तथा श्रीशिवादिके लोकोंमें अथवा वैकुण्ठमें वास भी कर रहे हैं। महापुरुषका विग्रह कहनेका अर्थ है—वे पार्षद भगवान्के प्रथम पुरुषावताररूप महापुरुषके समान रूप प्राप्त करते हैं अर्थात् सहस्रबाहु, सहस्रपद, सहस्रशीर्ष इत्यादि अङ्गोंसे युक्त होते हैं। श्लोक १४४में 'आदि' शब्द दो बार कथित हुआ है—प्रथमतः यम, आर्यमा (पितृलोकके देवता) आदि भगवान्की विभूतिरूप समस्त देवताओंके लिए तथा द्वितीयतः अष्टभुज, द्वादशभुज अङ्गोंसे युक्त पार्षदोंके लिए। अतएव उन–उन पार्षदोंका मनुष्यादिके अनुरूप वेश, भूषा और अलङ्कारादि हैं। 'आदि' शब्दसे उन–उन रूपोंके उपयोगी विचित्र लक्षण तथा स्वभावादिको भी समझना होगा॥१४२–१४४॥

रसेन येन येनान्ते वेशाकारादिना तथा।
सेवित्वा कृष्णपादाब्जे यो यो वैकुण्ठमागतः॥१४५॥
तस्य तस्याखिलं तत्तच्छ्रीमद्भगवतः प्रियम्।
तस्मै तस्मै प्ररोचेत तस्मात्तत्तद्रसादिकम्॥१४६॥

श्लोकानुवाद—साधक भजनयोग्य देहसे भजनकर उस देहके अन्त कालमें जिस भजनयोग्य रस, आकार और वेशादिसे युक्त होकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा की भावना करते हैं, सिद्धि प्राप्तकर वैकुण्ठमें आकर वे उसी वेश और आकारको श्रीभगवान्‌का प्रिय जानकर अङ्गीकार करते हैं तथा अपने भजनके अनुरूप रस ही उनके हृदयको रोचक होता है॥१४५-१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु रघुनाथ-कपिलादीनां मनुष्य-मुन्याद्याकारादि-विलक्षण-तत्तदाकारादियुक्ता अपि श्रीवैकुण्ठवासिनः केचिद् दृश्यन्ते, तथा श्रीभगवदवताररूप-भिन्ना वानरदैत्याद्याकाराश्चात्र केचिदीक्ष्यन्ते। तत्र तत्र किं कारणमित्यपेक्षायां तद्वदन् तेषां पूर्वोद्दिष्टरसभेदेऽपि कारणमाह—रसेनेति द्वाभ्याम्। अन्ते संसारान्ते शेषे वा यो यो जनः येन येन कीर्त्तनादिना रसेन भावेन तथा येन येन वेशेनाकारेण आदि-शब्दाद्विविधलक्षणेन च कृष्णपादाब्जे सेवित्वा वैकुण्ठमागतः, तस्य तस्य जनस्य तत्तद्रसादिकमखिलमेव श्रीमतो भगवतः प्रियं, तत्तद्रूपेण परमप्रीत्या श्रीमद्भगवतो वशीकरणात्; प्रियत्व-हेतुत्वेन श्रीमदिति पृथक् पदं वा; तत्तदित्यस्य विशेषणं श्रीवैकुण्ठप्रापक-प्रेमभक्तिसम्बन्धेन तत्तत्तेषां सर्वमेव शोभातिशययुक्तमित्यर्थः। तस्माद्-भगवत्प्रियाद्धेतोस्तत्तद्रसादिकं तस्मै तस्मै प्रकर्षेण रोचेत। अतः स्वस्वचरम-देहवर्ति-तत्तदाकारवेशरसादिकं तदा तेऽनुकुर्वन्तस्तथा तथा दृश्यन्त इति भावः। अतएव प्रपञ्चान्तर्गतेन्द्र-चन्द्रादि-सदृशकर्माण्यपि ते कदाचिद्भगवदिच्छया कुर्वन्तीत्यपि बोद्धव्यम्। श्रीवैकुण्ठलोके प्रपञ्चस्य प्रपञ्चातीतस्य चाशेषस्यैव सपरिकरस्य यथावद्विद्यमानत्वादिति दिक्॥१४५-१४६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीरघुनाथकी भाँति मनुष्याकार, कपिलादिकी भाँति मुनिका आकार अथवा उनके आकारादिसे विलक्षण बहुत मूर्त्तियाँ भी इस वैकुण्ठलोकमें देखी जाती हैं। किन्तु श्रीभगवान्‌के अवतार-रूपोंसे भिन्न जो समस्त वानर और दैत्यादिका आकार देखा जाता है, उन आकारोंका क्या कारण है? इसकी आकांक्षामें 'रसेन' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं—उनका पूर्व उद्दिष्ट रसभेद ही उनके वैसे आकारोंका कारण है।

संसारके अन्तमें अर्थात् साधक देहके पतनकालमें जिन्होंने जैसे-जैसे कीर्त्तनादि और रसकी भावनासे युक्त होकर अपनेको जिस आकार, वेश और विविध लक्षणोंसे सुशोभितकर श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी सेवाकर इस वैकुण्ठमें आगमन किया है, वे सभी अपने

उन-उन रसोंके उपयोगी रूपको श्रीभगवान्‌का प्रिय जानकर ग्रहण करते हैं। इसका कारण है कि वह रूप श्रीभगवान्‌के प्रिय होनेके कारण उनके वशीकरणमें समर्थ होता है।

श्रीवैकुण्ठको प्राप्त करानेवाली प्रेमभक्तिके सम्बन्ध द्वारा उनका सब कुछ (वेश-अलङ्कारादि) ही परम शोभासे युक्त होता है। अतएव श्रीभगवान्‌को प्रिय होनेके कारण वही रस भक्तको परम रोचक होता है। इसलिए अपने-अपने चरम अर्थात् अन्तिम साधक देहमें उन्होंने जिस आकार, वेश और रसादिके अनुसार सेवायोग्य पार्षदतनुकी चिन्ताकर मानसिक सेवा की थी, उस देहके त्यागके बाद इस वैकुण्ठमें आगमनकर उसी मानस-चिन्तित देहको साक्षात्‌रूपमें प्राप्त करते हैं। अतएव कभी-कभी भगवान्‌की इच्छासे वैकुण्ठ स्थित पार्षदगण प्रपञ्चके अन्तर्गत इन्द्र-चन्द्रादिके समान कर्म (उपासना) करते हैं—ऐसा भी बोध होता है। अतएव प्रपञ्चके अन्तर्गत या प्रपञ्चके अतीत जो कुछ भी है, वह अपने अङ्ग-उपाङ्गके साथ यथार्थ रूपमें श्रीवैकुण्ठलोकमें विद्यमान हैं॥१४५-१४६॥

ते च सर्वेऽत्र वैकुण्ठे श्रीनारायणमीश्वरम्।
तत्तद्वर्णादियुक्तात्मदेवरूपं विचक्षते॥१४७॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठमें प्रत्येक भक्त ईश्वर श्रीनारायणको ही अपने-अपने इष्टदेवकी मूर्त्ति और वर्णादिके अनुरूप दर्शन करते हैं॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु ये यद्रूपं भगवन्तं परमप्रेम्णा पूर्वमभजन्, तेऽधुना तत्सारूप्यं प्राप्ताः सन्तो वैकुण्ठेऽत्र तद्रूपमेव तं द्रष्टुमर्हन्ति, निजप्रियतमत्वात्; तत् कथमिमे सर्वेऽपि श्रीवैकुण्ठेश्वरं चतुर्भुजं पश्यन्तः प्रीयन्ते? तत्राह—ते चेति द्वाभ्याम्। तैस्तैर्निजनिजप्रियतमैर्वर्णैः; आदि-शब्देनाङ्गोपाङ्गादिभिः युक्तस्य आत्मदेवस्य निजेष्टदैवतस्य रूपं तुल्यं स्वरूपं वा श्रीनारायणं वैकुण्ठेश्वरमेवेमं पश्यन्ति। ननु कथमेवमाश्चर्यं सम्भवति? तत्राह—ईश्वरं सर्वशक्तिमन्तमिति॥१४७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि परम प्रेमसे युक्त होकर भक्तोंने श्रीभगवान्‌के जिस-जिस रूपका पूर्वमें भजन किया था, अब वे भगवान्‌के उसी-उसी स्वरूपका सारूप्य प्राप्तकर इस वैकुण्ठलोकमें भी

वैसे वर्ण और आकारादिसे युक्त भगवान्‌का ही दर्शन करेंगे, क्योंकि वैसे-वैसे आकारादिसे युक्त भगवान् ही उनके प्रियतम हैं। अतएव किसलिए सभी इन श्रीवैकुण्ठेश्वरकी ही चतुर्भुज मूर्त्तिका दर्शन कर प्रीति-सुख प्राप्त कर रहे हैं? इसकी आकांक्षामें 'ते च' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। वे सभी इस वैकुण्ठमें श्रीनारायणको अपने-अपने प्रियतम इष्टदेवताके आकार, वर्ण, अङ्ग और उपाङ्गसे युक्त रूपमें ही दर्शन करते हैं, अर्थात् अपने-अपने इष्टदेवताको इन वैकुण्ठेश्वरमें ही देखते हैं। यदि कहो कि ऐसी आश्चर्यपूर्ण क्रिया किस प्रकार सम्भव होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वैकुण्ठेश्वर—ईश्वर हैं अर्थात् सर्वशक्तिमान हैं, अतः सब कुछ करनेमें समर्थ हैं॥१४७॥

पूर्ववद्भजनानन्दं प्राप्नुवन्ति नवं नवम्।
सर्वदाप्यपरिच्छिन्नं वैकुण्ठेऽत्र विशेषतः॥१४८॥

श्लोकानुवाद—उन भक्तोंको पहलेके समान सर्वदा असीम भजनानन्द ही इस वैकुण्ठमें नये-नये रूपोंमें विशेषरूपसे प्राप्त होता है॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः पूर्ववत् चरमदेह इव भजनानन्दमपरिच्छिन्नमपि सर्वदा नवं नवं प्राप्नुवन्ति। अत्र वैकुण्ठे चाधुना विशेषतः केन केनापि विशेषेण ततोऽप्यधिकतरं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥१४८॥

भावानुवाद—अतएव समस्त भक्तोंने पूर्वकी भाँति अर्थात् साधक देहमें जिस प्रकार असीम भजनानन्दको सर्वदा नव-नव रूपमें अनुभव किया है, अब इस वैकुण्ठमें भी किसी विशेष कारणसे उससे भी अधिक भजनानन्दको प्राप्त कर रहे हैं॥१४८॥

ये त्वसाधारणैः सर्वैः पूर्वैरात्ममनोरमैः।
परिवारादिभिर्युक्तं निजमिष्टतरं प्रभुम्॥१४९॥
सम्पश्यन्तो यथापूर्वं सदैवेच्छन्ति सेवितुम्।
तेऽत्यन्ततत्तन्निष्ठान्त्यकाष्ठावन्तो महाशयाः॥१५०॥

श्लोकानुवाद—जिन्होंने पूर्वमें असाधारण लक्षणसे युक्त अपने आत्म-मनोरम इष्टका भजनकर इस वैकुण्ठको प्राप्त किया है, पूर्वकी भाँति अब भी वे अपने प्रभुको उनके परिवारादिके साथ सर्वदा

विहारादिसे सुशोभित देखने और सेवा करनेकी इच्छा करते हैं। अतएव ऐसे महाशयगणोंकी इष्ट-निष्ठा परिपक्वताकी चरम सीमाको प्राप्त हुई है—ऐसा समझना होगा॥१४९-१५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—असाधारणैः सर्वविलक्षणैः पूर्वैः पुरोपासितैः परिवारैः श्रीरघुनाथस्य जानकी-लक्ष्मणादिभिरिव; आदि-शब्देन परिच्छदविहाराक्रीड़ादिभिः। तस्यैव कोदण्डादिवनवासाद्ययोध्यादिभिरिव आत्मनां तत्तद्भक्तानां मनोरमैर्युक्तं निजम् इष्टतरं परमप्रियं प्रभुं यथापूर्वं पुरेव सम्यक् पश्यन्तः सन्तः; ये सदैव सेवितुमिच्छन्ति, ते तु महाशयाः परमगम्भीराक्षोभ्यचित्तवृत्तयः, यतः अत्यन्ता सुदृढ़ा तस्मिन् तस्मिन् या निष्ठा एकान्तिता तस्या अन्त्यकाष्ठा चरमसीमा तद्वन्तः॥१४९-१५०॥

भावानुवाद—जिन्होंने पूर्वमें असाधारण अर्थात् समस्त प्रकारसे विलक्षण श्रीरघुनाथका जानकी-लक्ष्मण और उनके परिच्छद तथा क्रीड़ादि सहित भजन कर वैकुण्ठको प्राप्त किया है, वे अब भी ऐसी भावना सहित कोदण्डपाणि (श्रीरामचन्द्र), अयोध्या और वनवासादि लीलाओंकी चिन्ता करते हुए अपने मनोरम इष्टतर परमप्रिय प्रभुका पूर्वकी भाँति सम्यक् दर्शन और सदा उनकी सेवा करनेकी कामना करते हैं। अतएव ऐसे भक्त महाशय हैं अर्थात् परम गम्भीर क्षोभरहित चित्तवृत्तिसे युक्त हैं, क्योंकि उनमें अपने-अपने इष्टमें अत्यन्त सुदृढ़ निष्ठा है, अर्थात् उन्होंने एकान्तिकताकी चरम सीमाको प्राप्त किया है॥१४९-१५०॥

ते चास्यैव प्रदेशेषु तादृशेषु पुरादिषु।
तथैव तादृशं नाथं भजन्तस्तन्वते सुखम्॥१५१॥

श्लोकानुवाद—अतएव वे इस वैकुण्ठके ही विशेष प्रदेशमें अपने-अपने नाथकी पहलेकी भाँति अयोध्यादि पुरियोंमें वैसी लीलासहित सेवाकर सुखका विस्तार करते हैं॥१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्य वैकुण्ठलोकस्यैव प्रदेशेषु निगूढ़देशविशेषेषु वर्त्तमानेषु तादृशेषु निजेष्टदेवपौर्विकावासादि-सदृशेषु पुरादिषु अयोध्यादिषु; आदि-शब्दात् क्षेत्रादि। अथापौर्विक-प्रकारेणैव तादृशं तत्तत्परिवारपरिच्छदादियुक्तमेव नाथं निजेष्टदेवं भजन्तः सेवमानाः सुखं विस्तारयन्ति, निजमनोरमस्याशेषस्य सम्पत्त्या

कुत्रापि संकोचाभावात्। यद्यपि सर्वशक्तिमान् श्रीवैकुण्ठेश्वर एव निजतत्तदखिल-परिवारादिवृत-श्रीवैकुण्ठान्तर्विराजमानः महाप्रासादान्तर्वर्तिसिंहासनवरासीनः सन्नपि निजैकान्तभक्तिनिष्ठं प्रति तन्मनोरमतयात्मानं तादृक्परिवारपरिच्छदादियुक्तं तत्र तथैव दर्शयितुं प्रभवति। तत्र च न तात्त्विकता, किन्तु प्रतीतिमात्रतेति कल्पना च न सम्भवेत्—तस्यैव तत्त्वतस्तदखिल-सामर्थ्यसम्भवात् श्रीवैकुण्ठे मायासम्बन्धाद्य-भावाच्च। तथापि वैकुण्ठलोकस्य तत्तन्निज-परिवार-परिच्छदादी-नामशेषा-णामेवान्यथात्वेनायोध्यादिभिः समं निर्विशेषतापत्त्या वैकुण्ठमध्ये तदीयप्रदेशान्तरेषु वा तथा तथा सम्पद्यतां नाम, नास्ति कोऽपि विशेषः, प्रत्युत पार्थक्यात् वैभवादिविशेषेण श्रीभगवन्महिमविशेषसम्पत्तेरेकान्तिनां तेषामसंकीर्णतादिना परमानन्दविशेष एव सम्पद्यत इति दिक्॥१५१॥

भावानुवाद—इस वैकुण्ठलोकमें ही कई निगूढ़ प्रदेश विद्यमान है, जो उनके इष्टदेवके पूर्व-वासादि अर्थात् अयोध्यादिके समान है। 'आदि' शब्दसे क्षेत्रादि भी ग्रहणीय हैं। पूर्वमें उन्होंने जिस प्रकार अपने इष्टदेवका भजन किया था, अब इस वैकुण्ठमें भी उसी भावसे अर्थात् परिवार-परिकर और परिच्छदादिसे युक्त अपने-अपने इष्टदेवकी सेवाकर वे सुख प्राप्त करते हैं। अर्थात् उन्हें अपनी असीम मनोरम सम्पत्तिका कहीं भी अभाव नहीं होता।

यद्यपि सर्वशक्तिमान श्रीवैकुण्ठेश्वर अपने अनन्त परिवारादि सहित इस वैकुण्ठके अन्तर्गत अपने महाप्रासाद (भवन)में स्थित श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान रहकर अपने ऐकान्तिक भक्तिनिष्ठ भक्तोंको उनकी मनोरम श्रीमूर्त्तिका तदनुरूप परिवार-परिकर और परिच्छदादिसे युक्तकर वहीं पर दर्शन कराकर उन्हें सुखी कर सकते हैं। यदि कहो कि उन मूर्त्तियोंमें तात्त्विकता नहीं है, केवल प्रतीति मात्र हेतु कल्पना है। यहाँ ऐसी आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तत्त्वविचारसे इन वैकुण्ठेश्वरमें ही उन समस्त मूर्त्तियोंको प्रकट करनेका सम्पूर्ण सामर्थ्य विद्यमान है तथा इस वैकुण्ठमें मायासम्बन्ध नहीं है। तथापि इस वैकुण्ठलोकमें अयोध्या आदि विशेष प्रदेश पृथक् भावमें ही विद्यमान हैं और उन-उन भक्तोंके भावानुरूप मनोरम परिच्छद और परिवारादि भी पृथक् रूपमें प्रकाशित रहते हैं, वह देखनेमें भिन्न प्रतीत होने पर भी तत्त्वतः भिन्न नहीं होते। पृथक्-पृथक् रूपमें उक्त अयोध्या आदि

क्षेत्रोंका प्रकटन इन वैकुण्ठेश्वरकी ही महिमाको विस्तार करता है, जो भगवान्‌की विभिन्न मूर्त्तियोंमें निष्ठ एकान्तिक भक्तों द्वारा असंकोच सेवा प्राप्तिका हेतु है। इसलिए भक्त और भगवान् दोनों ही परमानन्द प्राप्त करते हैं। अतएव इस वैकुण्ठके बीच स्थित उस अयोध्या आदि प्रदेशोंकी इस वैकुण्ठसे कोई विशेषता नहीं है, पार्थक्य केवल वैभवादिके प्रकटनके कारण है॥१५१॥

ये चैकतररूपस्य प्रीतिनिष्ठा भवन्ति न।
अविशेषग्रहास्तस्य यत्किञ्चिद्रूपसेवकाः॥१५२॥

श्लोकानुवाद—जो भक्त भगवान्‌के किसी एक रूपके प्रति प्रीति-निष्ठा नहीं रखते, अपितु समस्त रूपोंमें ही समान प्रीति प्रकाश करते हैं, वे भगवान्‌के किसी एक रूपकी विशेषता ग्रहण न करनेके कारण जिस किसी भी स्वरूपके सेवक हो जाते हैं॥१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु प्रायः सर्वे निज-निजेष्टदेवभक्तिनिष्ठा एव दृश्यन्ते, तत् कतमे लोकमिममायान्तीत्यत्राह—ये चेति द्वयेन। अस्य भगवत एकतरे रूपे श्रीमूर्त्तौ प्रीति-निष्ठा न भवन्ति, किन्तु सर्वेष्वप्यस्य रूपेषु प्रीतिमन्तः; अतस्तस्य भगवतः यत्किञ्चिदनिर्धारितं रूपमेकं सेवन्त इति तथा ते। तत्र हेतुः—न विद्यते विशेषे तत्तदवतारादौ ग्रहः आग्रहो येषां ते। अयमर्थः—सर्वाण्येव भगवतोऽवतार-रूपाणीमानि, तेष्वेकतमस्य कस्यचिद्रूपस्योपासनेनैव तत्प्राप्तिः स्यादिति व्यवस्य किञ्चित्तस्यैक्यं रूपं द्वित्राणि बहूनि वा तद्रूपाणि सेवन्त इति॥१५२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि प्राय समस्त भक्तोंमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रति भक्तिनिष्ठा देखी जाती है, किन्तु क्या वे सभी इस एक ही वैकुण्ठधाममें आते हैं? इसके उत्तरमें 'ये' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। इस वैकुण्ठमें अनन्त प्रकोष्ठ हैं और अनन्त भक्तोंके अनन्त भावोंके अनुरूप उन प्रकोष्ठों या विशेष प्रदेशोंमें लीला-परिकरादि सहित श्रीभगवान् विराजमान रहते हैं। किन्तु जो श्रीभगवान्‌की किसी एक मूर्त्तिमें प्रीति-निष्ठा प्रकाश न कर समस्त मूर्त्तियोंमें ही प्रीति-निष्ठा प्रकाश करते हैं, अर्थात् जो मानते हैं कि भगवान्‌के अनन्त अवतार और अनन्त रूप हैं, अतः उनके किसी एक रूपकी उपासना करनेसे ही श्रीभगवान्‌को पाया जा सकता है। ऐसे भक्त किसी एक

निर्दिष्ट मूर्त्तिमें आग्रह प्रकाश नहीं करते, अपितु समस्त मूर्त्तियोंमें ही प्रीतियुक्त होते हैं। अतएव विशेषग्राही न होनेके कारण वे श्रीभगवान्‌के जिस किसी रूपके ही सेवक हो जाते हैं, अथवा कोई-कोई किसी एक, दो या अधिक रूपोंकी सेवा करते हैं॥१५२॥

ये च लक्ष्मीपतेरष्टाक्षरादिमनु-तत्पराः।
ते हि सर्वे स्व-देहान्ते वैकुण्ठमिममाश्रिताः॥१५३॥

श्लोकानुवाद—जो लक्ष्मीपतिके अष्टाक्षरादि मन्त्रोंसे उनकी उपासना करते हैं, वे अपनी-अपनी देहके अन्तमें इस वैकुण्ठका ही आश्रय प्राप्त करते हैं॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ये च अष्टाक्षरे आदिशब्दात् पञ्चाक्षर-द्वादशाक्षरादिषु मनुषु मन्त्रेषु तत्परास्तत्तदुपासका इत्यर्थः। यथोक्तं विष्णुपुराणे श्रीपराशरेण—*'गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः। अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः॥'* इति। द्वादशाक्षरमन्त्रश्च सर्वानपि भगवन्मन्त्रानुपलक्षयति, सर्वेषामेव तेषां भगवन्नाममयत्वात्। ते प्रकारद्वयोक्ताः सर्वे स्वदेहानामन्ते नाशे सति आश्रिताः प्राप्ताः। एकस्मिन्नेव निजेष्टदेवे भक्तिनिष्ठा अपि परमेश्वरबुद्ध्या तमुपास्य वैकुण्ठमाप्नुवन्तीति। पूर्वमुद्दिष्ट-मेवास्ति॥१५३॥

भावानुवाद—जो श्रीलक्ष्मीपतिके अष्टाक्षर, पञ्चाक्षर, द्वादशाक्षरादि मन्त्रोंसे उनकी उपासना करते हैं, वे किसी एक या अधिक रूपमें प्रीति-निष्ठा प्राप्तकर इस वैकुण्ठमें आगमन करते हैं। जैसा कि श्रीविष्णुपुराणमें श्रीपराशरका वचन है—"चन्द्र-सूर्यादि ग्रहोंका पुनः-पुनः आवागमन अर्थात् सृजन और संहार होता है, किन्तु जो द्वादशाक्षर मन्त्रका चिन्तन करते हैं, वे आज तक कभी नहीं लौटे अर्थात् वे वैकुण्ठको प्राप्त करते हैं।" यहाँ 'द्वादशाक्षर मन्त्र' पद भगवान्‌के समस्त मन्त्रोंका उपलक्षण है, अर्थात् वस्तुतः इसके द्वारा समझना होगा कि अष्टाक्षर, पञ्चाक्षर जैसे भगवन्नामात्मक प्रत्येक मन्त्र ही वैकुण्ठकी प्राप्ति कराते हैं। इस प्रकार किसी एक इष्टदेवके प्रति भक्तिनिष्ठा युक्त होकर उन्हें परमेश्वर मानते हुए भजनकर अपनी-अपनी देहके अन्तमें इस वैकुण्ठलोकका ही आश्रय प्राप्त करते हैं। इसे पहले ही बताया जा चुका है॥१५३॥

यथाकामं सुखं प्रापुः सर्वतोऽप्यधिकं सुखात्।
तेषां स्व–स्व–रसानैक्यात्तारतम्येऽपि तुल्यता॥१५४॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठके भक्तोंमें रसगत पार्थक्य और तारतम्य रहने पर भी वे परस्पर एक समान हैं। वे अपने–अपने भजनानुरूप अभिलाषित सुखको अन्य सभीसे अधिकतर रूपमें अनुभव करते हैं॥१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वैकुण्ठ–प्राप्त्या तेषां पूर्वतोऽपि फलविशेषप्राप्तिमाह— यथेति। पूर्वतः निजपूर्वदेहकृत–भजनलब्धसुखतोऽपि। नन्वेवं श्रीवैकुण्ठप्राप्तानां भगवद्भक्तिपराणामेकरूपाणामपि विविधो भेदः प्रसज्येत, स च न सङ्गच्छते, सर्वेषामेव तेषां सच्चिदानन्दविग्रत्वेनैक्यात्। तत्राह—तेषामिति। स्वस्य स्वस्य रसानां श्रवण–कीर्त्तनादिविषयकभावविशेषाणामनैक्याद्भिन्नत्वात् तारतम्ये न्यूनाधिकत्वे सत्यपि तुल्यतैव भवति, निज–निज–रसानुसारेणैव यथेष्टं सर्वेषामपि तत्तद्रसजातीय–सुखपरमकाष्ठासम्पत्तेः। अतएवोक्तं यथाकामं सुखं प्रापुरिति। एतच्च पुरा विवृतमस्ति, अग्रेऽपि विस्तरेण व्यक्तीभावि॥१५४॥

भावानुवाद—पूर्वतः अर्थात् अपनी पूर्वदेहमें किये भजन द्वारा वे जितना सुख प्राप्त करते थे, इस वैकुण्ठमें आकर अब उससे भी अधिक सुख प्राप्त करते हैं। यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठको प्राप्त करनेवाले भगवान्‌की भक्तिमें अनुरक्त सभी भक्तोंमें विविधताका भेद सङ्गत नहीं है, क्योंकि सच्चिदानन्द विग्रह होनेके कारण वे सभी एकरूप हैं। इस आशंकाके निराकरणके लिए कहते हैं कि अपने–अपने रस अर्थात् श्रवण–कीर्त्तनादिसे सम्बन्धित भावविशेषमें पार्थक्य और तारतम्य होने पर भी वे परस्पर एक समान हैं, क्योंकि अपने–अपने रसानुसार वे सभी अपने–अपने रसजातीय सुखकी चरम सीमाको प्राप्त होते हैं। इसीलिए कहा है कि वे सभी अपनी अभिलाषाके अनुसार सुखको प्राप्त करते हैं। इसे पहले भी कहा गया है, बादमें भी कहा जायेगा॥१५४॥

यथा धरालम्बन–रत्नभूता नारायणोऽसौ स नरोऽथ दत्तः।
श्रीजामदग्न्यः कपिलादयोऽपि ये कौतुकाच्च प्रतिमा–सरूपाः॥१५५॥
ये स्वर्गलोकादिषु विष्णु–यज्ञेश्वरादयोऽमी भवतैव दृष्टाः।
मत्स्योऽथ कूर्मश्च महावराहः श्रीमन्नृसिंहो ननु वामनश्च॥१५६॥

अन्येऽवताराश्च तथैव तेषां प्रत्येकमीहाभिदया प्रभेदाः।
ते सच्चिदानन्दघना हि सर्वे नानात्वभाजोऽपि सदैकरूपाः॥१५७॥

श्लोकानुवाद—पृथ्वी पर अवतार लेनेवाले श्रीभगवान्‌के विभिन्न रूप पृथ्वीके आश्रय और रत्न स्वरूप हैं तथा उनमें विविधता होने पर भी सभी एकरूप ही है। उनमें नर-नारायण, दत्तात्रेय, जमदग्नि पुत्र परशुराम, कपिलादि समस्त अवतार तथा स्वर्गादि लोकोंमें (जिनके तुम दर्शन करते हुए आये हो) विष्णु और यज्ञेश्वरादि तथा मत्स्य, कूर्म, महावराह, श्रीमन् नृसिंह, वामन इत्यादि अवतार हैं। इन सबके नाम और चेष्टादि भिन्न-भिन्न होनेके कारण ही वे परस्पर भिन्न हैं, किन्तु वे सभी सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न विशेषता होने पर भी सर्वदा एकरूप ही हैं॥१५५-१५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु बहुधा भेदं प्राप्तानामेषामैक्यं कथं सङ्गच्छतामित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन साधयति—यथेति त्रिभिः। धरायाः पृथिव्या आलम्बनानि आश्रयाः तेषु रत्नानि श्रेष्ठानि; यद्वा, आलम्बनमाधारः रत्नञ्च महाधनं तत्स्वरूपा ये नारायणादयः, ये च भगवदवताराः कौतुकाद् विनोदात् प्रतिमास्वरूपाः प्रतिमाकृतिसदृशा इलावृतवर्षादिवर्तिनः श्रीसङ्कर्षणादयः, तथा क्षेत्रपूर्यादिस्थिताः श्रीजगन्नाथदेव-श्रीरङ्गनाथादयः ये च स्वर्गादिषु वर्त्तमाना विष्ण्वादयः, तथा ये च मत्स्यादयः सुप्रसिद्धमहावतारा, अन्ये च हयग्रीव-हंसादयः, तथा तेषां मत्स्यादीनामीहायाश्चेष्टाया भिदया भेदेन ये प्रत्येकं प्रभेदा नानाविशेषास्ते सर्वे सदा नानात्वभाजः बहुविधभेदवन्तोऽपि एकरूपा अभिन्ना एवेति त्रयाणामन्वयः। हि यतः सर्वे ते सच्चिदानन्दघनाः। तथा च महासंहितायाम्—*'तस्य सर्वावतारेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन। देहि-देह-विभेदश्च न परे विद्यते क्वचित्॥ सर्वेऽवतारा व्याप्ताश्च सर्वे सूक्ष्माश्च तत्त्वतः। ऐश्वर्ययोगाद्भगवान् क्रीड़त्येष जनार्दनः॥'* इति। असौ बदर्याश्रमे तपश्चर्या गुरुर्धर्मनन्दनः; स तादृशस्तदनुजो नरश्च। आदि-शब्देनाद्येन व्यास धन्वन्तर्यादि, द्वितीयेन महर्लोक-सत्यलोकौ पार्थिवावरणानि च, तृतीयेन महापुरुषः स्वस्वावरणेषु पृथिव्यादिषु पूज्यमान-वराहादि। अमी च विष्ण्वादयस्तत्र तत्र भवतैव दृष्टाः सन्ति। नन्विति निश्चये। स्वर्गाधिष्ठातुश्चतुर्भुजत्वादिविशिष्टाच्छ्रीविष्णोः सकाशात् श्रीवामनरूपस्य भिन्नत्व-विवक्षया। मत्स्यादीनाञ्च कालकर्मादिभेदेन प्रत्येकमनेकत्वं तत्तत्पुराणतो ज्ञेयम्। तथा हि प्रसिद्धिः—एको महामीनो युगान्ते महाप्रलयोदधावाविर्भूतो वेदादीनुद्दधार; अन्यश्च मायिकाकाण्डप्रलयोदधौ सत्यव्रतानुग्रहार्थमाविर्भूतः। कूर्मश्चैकोऽमृत-मन्थने मन्दराद्रिं पृष्ठे दधार; अन्यश्च क्षितिं सदा बिभर्ति। वराहश्चैको ब्रह्मणो नासारन्ध्रात् सृष्ट्यादावाविर्भूय पृथिवीमुद्धृत्याप्सु न्यस्यान्तर्दधे; अन्यश्चाकाण्ड़प्रलयोदधौ

निमग्नायाः पृथिव्या उद्धरणे तथैवाविर्भूतो हिरण्याक्षं हत्वा स्वलोकं गतः। अन्यश्च यक्षाङ्गो यज्ञादि-प्रवर्तको धराधरो धरणीं प्रति पुराणवक्ता योगेनान्तर्दधे। अन्यश्च विषमां पृथ्वीं समां कर्त्तुमवतीर्णो दन्ताघातैरद्रींश्चूर्णयित्वा वराहीरूपधारिण्या तया सह रममाणः पुत्रौ जनयामास। पश्चाच्छ्रीनरसिंहमूर्तौ लीनः। अन्यश्च पृथिवीमधो विभर्तीत्येवमनेकरूपः। नृसिंहस्य च मातृचक्र-प्रमथन-हिरण्यकशिपुदारण मार्जार-रूपधारणादिनानेकत्वं बृहत्सहस्रनामादौ प्रसिद्धमेव। वामनश्च धुन्धोर्बलेश्च छलनार्थं वारद्वयमाविर्बभूव। एवं हयग्रीवहंसौ च द्वौ द्वौ प्रसिद्धौ॥१५५-१५७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भगवान्‌के अवतारोंमें बहुत प्रकारकी विविधता रहने पर भी उनमें किस प्रकार ऐक्य सङ्गत होता है? इस आशंकाका 'यथा' इत्यादि तीन श्लोकोंमें दृष्टान्त द्वारा समाधान कर रहे हैं। जिस प्रकार पृथ्वीके आश्रय और रत्न स्वरूप होकर अथवा आधार और महाधन स्वरूप नर-नारायणादिने तथा जिन समस्त भगवदवतारोंने कौतुकवशतः प्रतिमा स्वरूपमें इलावृत वर्षादिमें प्रसिद्ध श्रीसङ्कर्षणादि श्रीमूर्त्ति, क्षेत्र या पुरीमें स्थित श्रीजगन्नाथ-देव, श्रीरङ्गम्‌में श्रीरङ्गनाथादि मूर्त्तिरूपमें तथा स्वर्गादि लोकमें वर्त्तमान विष्णु, यज्ञेश्वरादि जिनका तुमने दर्शन किया है और मत्स्य, कूर्म, महावराह, श्रीमन् नृसिंह, वामन और अन्यान्य सुप्रसिद्ध महावतार तथा हयग्रीव, हंसादि अन्यान्य अवतारोंमें परस्पर आकार और स्वभावादिमें नानाविध भेदवशतः भिन्न-भिन्न मूर्त्ति धारणकी है, उनके नाम और चेष्टामें भेद होनेके कारण परस्पर भिन्नता दिखायी देने पर भी वे सभी सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हैं। अतएव नाना आकार और चेष्टादिके भेदसे नाना-प्रकारका वैशिष्ट्य होने पर भी वे सभी सदा एकरूप हैं। महा-संहितामें वर्णन है—"श्रीभगवान्‌के समस्त प्रकारके अवतार ही समान हैं तथा उनमें परस्पर कोई विशेषता या भेद नहीं है, क्योंकि भगवान्‌में देह और देहीका भेद नहीं है। विशेषतः सर्व-व्यापकता और सूक्ष्मता तत्त्वतः समस्त अवतारोंका ही धर्म है, इस प्रकार भगवान् जनार्दन अपने ऐश्वर्ययोग द्वारा क्रीड़ा करते हैं।"

धर्मनन्दन श्रीनारायण और उनके समान उनके अनुज नर इस भूमण्डल स्थित बद्रिकाश्रममें तपस्वियोंके गुरु हैं। श्लोक १५५में प्रथम 'आदि' शब्दसे व्यास, धन्वन्तरी इत्यादि भी ग्रहणीय हैं। श्लोक १५६में

द्वितीय 'आदि' शब्दसे महर्लोक, सत्यलोक और पृथ्वीके आवरण अधिष्ठाता समस्त देवता तथा तृतीय 'आदि' शब्द द्वारा महापुरुष और पृथ्वी आदि तत्त्वोंके आवरणोंमें पूज्यमान वराहादि भी ग्रहणीय हैं। 'अमी' शब्दका अर्थ है कि वहाँ विष्णुके बहुत प्रकारके अवतार दृष्टिगोचर होते हैं।

शास्त्रकारोंने निश्चित किया है कि स्वर्गाधिष्ठाता चतुर्भुज श्रीविष्णुसे श्रीवामनदेवका पार्थक्य है और उनके उद्देश्यसे उन्होंने पृथक् पाठ भी निर्देश किया है। उसी प्रकार मत्स्यादि समस्त अवतारोंका भी काल और कर्म भेदसे या पुराण भेदसे अनेकत्व जाना जाता है। शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है कि एक महामीनने युगके अन्तमें प्रलय समुद्रमें आविर्भूत होकर वेदादि शास्त्रोंकी रक्षा की थी। एक अन्य महामीनने अचानक मायिक प्रलय समुद्रमें आविर्भूत होकर सत्यव्रत मुनि पर अनुग्रह किया था। एक कूर्मने अमृत मन्थनकालमें अपनी पीठ पर मन्दर पर्वत धारण किया था। अन्य एक कूर्म सर्वदा ही पृथ्वीको धारण किये रहते हैं। उसी प्रकार पाँच प्रकारके वराहोंका वर्णन मिलता है। प्रथम वराह सृष्टिके आरम्भमें श्रीब्रह्माके नासिका छिद्रसे आविर्भूत होकर पृथ्वीका उद्धारकर पुनः उस पृथ्वीको जलमें निक्षेपकर अन्तर्हित हुए थे। द्वितीय वराह पृथ्वीके आकस्मिक रूपमें प्रलय-समुद्रमें निमग्न होने पर उसके उद्धारके लिए आविर्भूत होकर हिरण्याक्षका संहारकर स्वर्गलोकमें गमन किये। तृतीय प्रकारके वराह यज्ञ-अङ्गके रूपमें यज्ञादिका प्रवर्त्तनकर धरणीको धारणकर अनुग्रहपूर्वक उसे पुराणादि श्रवण कराते-कराते सहसा अन्तर्धान हो गये। चतुर्थ प्रकारके वराहने असमतल पृथ्वीको समतल भूमिमें बदलनेके लिए अवतीर्ण होकर अपने दन्ताघातसे समस्त पर्वतोंको चूर्ण-विचूर्ण किया। पुनः वराहीरूप धरणीदेवीके साथ विविध क्रीड़ाकर दो पुत्रोंको उत्पन्न किया और अन्तमें श्रीनृसिंहदेवमें लीन हो गये। पँचम प्रकारके वराह सब समयके लिए पृथ्वीको धारण किये हुए हैं। बृहत्-सहस्त्रनाम स्तोत्रमें श्रीनृसिंहदेवके भी विभिन्न अवतारोंका वर्णन मिलता है। एक श्रीनृसिंहदेवने देव-माताओंको पराजित किया था। द्वितीय श्रीनृसिंहदेवने हिरण्यकशिपुका वध किया था तथा एक अन्य नृसिंहदेवने बिल्लीका रूप धारण किया

था। श्रीवामनदेव भी बलिको छलनेके लिए और धुन्धके प्रति अनुग्रह करनेके लिए दो बार आविर्भूत हुए थे। इसी प्रकार हयग्रीव और हंसके भी दो-दो अवतार प्रसिद्ध हैं॥१५५-१५७॥

नानात्वमेषाञ्च कदापि मायिकं,
न जीव-नानात्वमिव प्रतीयताम्।
तच्चिद्विलासात्मकशक्तिदर्शितं,
नानाविधोपासक-चित्रभावजम् ॥१५८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार भगवान्‌की मूर्त्तियोंका नाना रूपोंमें प्रकटन कभी भी जीवोंके नानात्वकी भाँति मायिक प्रतीति नहीं है। परन्तु उनका नाना रूपोंमें जो विलास है, वह स्वरूपशक्ति द्वारा प्रकटित है और नाना उपासकोंके नाना भावोंसे उत्पन्न है। अर्थात् विभिन्न रुचियुक्त उपासकोंके भावोंके अनुसार ही भगवान्‌की मूर्त्तियाँ नाना रूपोंमें आविर्भूत होती हैं॥१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेकस्य नानात्वं मायया घटत एवेत्याशङ्क्याह-नानात्वमिति। एषामुक्तानां भगवद्रूपाणां नानात्वं जीवनानात्वमिव तत्त्वत एकस्य जीवस्याविद्योपाधि-भेदेन किंवा एकस्यैव ब्रह्मणोऽविद्याप्रतिबिम्बितस्य स्वतोऽविद्यानानात्वेन जीवरूपेण नानात्वमिव मायिकं न प्रतीयतां, किन्तु तस्य भगवतः चिद्विलासो ज्ञान-वैभवविशेषस्तदात्मिकया शक्त्या दर्शितं प्रकटितम्। तत्र हेतुमाह—नानाविधानामुपासकानां भगवद्भक्तानां चित्रेभ्यो नानाविधेभ्यो भावेभ्यः प्रीतिविशेषेभ्यो जायत इति तथा तत्। अयमर्थः—विचित्राश्चर्य रससागरस्य भगवतो विचित्रलीलया जायमान-विविधरुचीनामुपासकानां भावस्य नानाविधत्वेन भगवद्रूपाणामपि नाना-विधत्वमाविर्भवत्येव, तत्र च तदेकापेक्ष-काणामुपासकानां भावविशेषेण दर्शनोत्कण्ठातिशये जाते तत्कालमेव तत्तदुपास्यस्य तत्तन्निकटे साक्षान्नित्यत्वं सत्यत्वं व्यापकत्वादिकञ्च घटते। एवमेवाखिलानामुपासकानां स्वस्वमनःपूर्तिः स्यात्, अन्यथा तु भगवतो भक्तवात्सल्य-महिमविशेषस्य हानिप्रसङ्गः स्यात्। यतस्तेषामेकस्यापि रूपस्यानित्यत्वेऽसत्यत्वे च तथा सर्वत्राव्याप्यत्वे च सति तदुपासकानां परमासहिष्णुतया महाननर्थः स्यात्, तत्तच्च कथमपि न सङ्गच्छेत, अतो मायासम्बन्धरहितत्वमेवेति॥१५८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि एक वस्तुका नाना रूपमें प्रकटन तो माया द्वारा ही संघटित होता है। इस आशंकाके निवारणके लिए 'नानात्व' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भगवान्‌की मूर्त्तियोंका नाना

रूपोंमें प्रकटन जीवोंके नानात्वकी भाँति मायिक नहीं है। जिस प्रकार एकजीववादीगण कहते हैं कि एक जीवतत्त्व अविद्याकी उपाधिके द्वारा नाना रूपोंमें प्रतीत होता है अथवा एक ही ब्रह्म अविद्यारूप उपाधिमें प्रतिबिम्बित होकर नाना जीवरूपोंमें प्रतिभात होते हैं। वस्तुतः भगवान्‌के रूपोंका नानात्व इस प्रकार मायिक प्रतीतिमात्र नहीं है, किन्तु वह रूप भगवान्‌के सच्चिदानन्द-विलासके ज्ञान-वैभवरूपी उनकी स्वरूपशक्ति द्वारा प्रकटित होते हैं। इसका कारण है कि नाना-प्रकारके उपासकोंके विचित्र भावों अर्थात् विशेष प्रकारकी प्रीतिवशतः भगवान्‌के नानास्वरूप प्रकटित होते हैं। भगवान्‌की विचित्र लीलावशतः ही ऐसा विचित्र और अद्भुत रसका सागर उत्पन्न होता है तथा विचित्र रुचिवाले समस्त उपासकोंमें उत्पन्न नाना-प्रकारके भावोंके कारण भगवान्‌की समस्त मूर्त्तियाँ भी नाना रूपोंमें आविर्भूत होती हैं।

विशेषतः किसी एक मूर्त्तिके या बहुत मूर्त्तियोंके दर्शनकी आशा करनेवाले समस्त उपासकोंके विशेष-विशेष भावोंके अनुसार उनके किसी एक मूर्त्तिके दर्शनके लिए अत्यधिक उत्कण्ठित होने पर उसी क्षण वे उपास्यदेव उनके निकट आविर्भूत होते हैं। श्रीभगवान्‌का वैसा आविर्भाव भी साक्षात् नित्य, सत्य और व्यापकतादि गुणोंसे युक्त अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होता है। अतएव समस्त उपासकोंका मनोरथ पूर्ण होता है और अपने-अपने भावानुरूप उन्हें आनन्द भी अनुभव होता है। यदि ऐसा न हो तो श्रीभगवान्‌में भक्त-वात्सल्यादिरूप महिमा विशेषके अभावका दोष उपस्थित हो सकता है। इस प्रकारसे आविर्भूत होनेवाले रूपोंमें से किसी एकके भी अनित्य, असत्य और अव्यापक होने पर उस मूर्त्तिके उपासकमें परम असहिष्णुतावशतः महान अनर्थ (दुःख) उपस्थित होता है, तथा ऐसा होना कभी भी सङ्गत नहीं होता है। अतएव भगवान्‌के नाना रूपोंका मायासे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् वे माया द्वारा प्रभावित नहीं होते हैं॥१५८॥

अतो न बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भेदतो, विचित्रता सा सलिले रवेरिव।
किन्त्वेष खस्थोऽद्वय एव सर्वतः स्व-स्व-प्रदेशे बहुधेक्ष्यते यथा॥१५९॥

श्लोकानुवाद—अतएव भगवान्‌की मूर्त्तियोंमें भेद, जलमें होनेवाले सूर्यके बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप भेदके समान प्रतीतिमात्र नहीं है, अपितु भगवान्‌के समस्त रूप ही बिम्बस्वरूप सूर्यके समान हैं जो अखण्ड रूपमें आकाशमें स्थित होकर भी सर्वत्र ही दृश्यमान है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें दिखता है॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्मादुक्तन्यायात् सा भगवद्रूप-सम्बन्धिनी विचित्रता नानात्वं बिम्ब-प्रतिबिम्ब भेदस्तन्न्यायेन न भवति। सर्वेषामेव तेषां नित्यत्वात् सत्यत्वाच्च। अन्यथा बिम्बभूतस्यावतारि-रूपस्यैव नित्यत्वं सत्यत्वादिकञ्च सिध्यति। अन्येषाञ्चावताररूपाणां मायोपाधीनां प्रतिबिम्ब-भूतत्वेनानित्यत्वादिप्रसङ्गः स्यात्। तच्चातीवायुक्तम्। सर्वेषामेव सच्चिदानन्दघनत्वेन बिम्बस्वरूपत्वात्। अत्रानुरूपो दृष्टान्तः—सलिल इत्युपलक्षणयादर्शादीनाम्; यथा जलादौ स्थाने स्थाने प्रतिबिम्बितस्य रवेर्बिम्बप्रतिबिम्बभेदेन विचित्रता स्यात्, तथा न भवति; किन्तु यथा एष रवेर्बिम्बभूत एव खस्थो गगनस्थित एव अद्वय एक एव सर्वत्रैव स्वस्व-प्रदेशे निज-निजस्थाने सर्वैरेव जनैः बहुधा तत्तद्देशवर्त्ति-वृक्षादिनिकटवर्त्तितयानेकत्वेन तत्र च तदुपासकैर्नानाविध-तदीयरूप-वर्ण-लक्षणादितत्त्वं भावयद्भिः स्वस्वभाव-विशेषानुरूपं—कश्चित्तेजोघनमण्डलरूपः, कश्चिच्चतुर्भुजो रक्तः, कश्चिदुद्यतपद्मद्वयधारि-बाहुयुगल इत्यादिनानाप्रकारेण तत्र तत्रेक्ष्यते; तत्र च यथा न मायिकत्वादि सङ्गच्छते, भक्तजनैः साक्षादनुभूयमानत्वात्तेषु च तस्य वञ्चनानुपयोगात्तथात्रापीति॥१५९॥

भावानुवाद—अतएव भगवान्‌के रूपोंकी विचित्रता या नानात्वके विचारसे बिम्ब-प्रतिबिम्बकी भाँति भेद-सिद्धान्त सङ्गत नहीं है। इसका कारण है कि आकाशमें स्थित बिम्बस्वरूप सूर्यके जलमें जो अनेक प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होते हैं, वे समस्त प्रतिफलन ही अनित्य, मिथ्या और मायिक होते हैं, किन्तु भगवान्‌के पूर्वोक्त समस्त अवतार बिम्ब-प्रतिबिम्बकी भाँति मायिक नहीं हैं। यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब न्याय स्वीकार करनेसे अवतारीका ही बिम्ब होना स्वीकृत होता है और समस्त अवतारोंका प्रतिबिम्ब होना प्रतिपादित होता है, अतः इस विचारमें मायिक सम्बन्ध प्रवेश करता है जिसके फलस्वरूप भगवान्‌के उन स्वरूपोंमें भक्तोंके हृदयको पीड़ा देनेवाले अनित्यत्त्व आदि दोष उपस्थित होते हैं। परन्तु श्रीभगवान्‌के समस्त अवतार ही सच्चिदानन्दमय बिम्बस्वरूप हैं।

इस विषयमें अनुरूप दृष्टान्त है कि जिस प्रकार आकाशमें स्थित एक ही सूर्यको समस्त दर्शक अपने-अपने प्रदेशमें अपनी-अपनी दृष्टिसे बहुत प्रकारसे अर्थात् उस-उस स्थानमें स्थित वृक्ष-पर्वतादिके निकटवर्ती रूपमें दर्शन करते हैं, उसी प्रकार सूर्यके नाना-प्रकारके उपासक भी अपनी भावनाके अनुसार उनके रूप, वर्ण और लक्षणादिका निरूपणकर उनका दर्शन करते हैं। अपने-अपने भावके अनुसार कोई-कोई सूर्यको तेजघनमण्डल रूपमें, कोई-कोई रक्तवर्ण चतुर्भुजधारी रूपमें और कोई खिले हुए कमलधारी द्विभुज रूपमें भावना करते हैं, इस प्रकार एक ही सूर्य नाना-प्रकारसे प्रतिभात होता है। जिस प्रकार उक्त दृष्टान्तमें मायिक सम्बन्धकी गन्ध भी नहीं है, उसी प्रकार भगवान्‌के भक्तों द्वारा साक्षात् अनुभूत समस्त अवतार उनके भक्तिचक्षुमें सर्वदा माया सम्बन्ध रहित परम सत्यस्वरूपमें प्रतिभात होते हैं॥१५९॥

यथैव च पृथग्ज्ञानं सुखञ्च पृथगेव हि।
तथापि ब्रह्म-तादात्म्ये तयोरैक्यं सुसिद्ध्यति॥१६०॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञानके साधनसे प्राप्त सुख—दोनों पृथक होने पर भी एक हैं, क्योंकि दोनों ही ब्रह्मसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार भगवान्‌के समस्त अवतार अलग-अलग होने पर भी तत्त्वतः एक हैं॥१६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्रैव प्रसिद्धं स्पष्टं दृष्टान्तान्तरमाह—यथैवेति। हि-शब्देन ज्ञान-सुखयोः कार्य-कारणत्वादिना सर्वैरनुभूयमानं पार्थक्यं निश्चित्य बोध्यते; तच्च पार्थक्यममायिकत्वेन सत्यमेव, तयोर्ब्रह्मस्वरूपत्वात्। तथापि पार्थक्ये सत्ये सत्यपि तयोर्ज्ञानसुखयोर्ब्रह्मणः तादात्म्ये तत्स्वरूपत्वे ऐक्यमेव सुष्ठु सिध्यति, अन्यथा भेद-प्रसक्तेः। यतो ज्ञानस्वरूपञ्च सुखस्वरूपञ्च ब्रह्म, तच्च एकमेवाद्वितीयत्वात्। एवं यथा तयोरैक्यं पृथक्त्वञ्च सत्यत्वञ्च सङ्गच्छते, तथानेकमपि भगवद्रूपमेकमेव, तथानेकत्वमपि सत्यमेवेति दिक्। अतएवोक्तं वराह-पुराणे—'*न तस्य प्राकृता मूर्त्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा। न योगित्वादीश्वरत्वात् सत्यरूपोऽच्युतो विभुः॥*' इति। महावाराहे च—'*सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥ परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः। सर्वे सर्वगुणैः*

पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः॥ अन्यूनानधिकाश्चैव गुणैः सर्वैश्च सर्वतः। देहि-देह-भिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्॥ तत्स्वीकारादिशब्दस्तु हस्तस्वीकारवत् स्मृतः। वैलक्षण्यान्न वा तत्र ज्ञानमात्रार्थमीरितम्॥ केवलैश्वर्यसंयोगादीश्वरः प्रकृतेः परः। जातो गतस्त्विदं रूपं तदित्यादि-व्यवस्थितिः॥' इति॥१६०॥

भावानुवाद—अब 'यथैव' इत्यादि श्लोकमें एक अन्य प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा विषयको सुस्पष्ट कर रहे हैं। यहाँ 'हि' शब्दका अर्थ है—ज्ञान तथा यह ज्ञान तत्त्वमसि आदि महावाक्यसे प्राप्त ज्ञानसे पृथक् है और इस ज्ञानरूप साधनका साध्य—सुख भी ज्ञानसे पृथक् है। अर्थात् कार्य और कारणादिके रूपमें अनुभव होनेवाले पार्थक्यको निश्चित्‌रूपमें समझा जाता है और यह पार्थक्य भी नित्य सत्य है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूप है। यह पार्थक्य सत्य होने पर भी ब्रह्मसे अभिन्न स्वरूप होनेके कारण उक्त ज्ञान और सुख दोनोंका ऐक्य सुसिद्ध होता है। अर्थात् ज्ञान और सुखका पार्थक्य दूर होता है, अन्यथा ब्रह्ममें अद्वयतत्त्वको नष्ट करनेवाला भेद उपस्थित हो जायेगा। इस दृष्टान्त द्वारा जिस प्रकार ज्ञान और सुखका अभेद, भेद और सत्यत्व प्रतिपादित होता है, उसी प्रकार भगवान्‌का एकरूप और बहुरूप होना दोनों ही सत्य हैं। अतएव वराहपुराणमें कथित है, "भगवान्‌की समस्त मूर्त्तियाँ किसी प्रकारकी प्राकृत वस्तु अर्थात् माँस, मेद्य, अस्थि इत्यादिसे निर्मित नहीं हुईं। अथवा वे मूर्त्तियाँ महायोगियोंकी भाँति स्वेच्छापूर्वक धारण किये रूप भी नहीं हैं। वे ईश्वर हैं, अतएव उनके समस्त रूप ही सच्चिदानन्द हैं तथा अच्युत, विभु और सत्यस्वरूपमें नित्य विराजमान हैं।"

महा-वराहपुराणमें भी वर्णन है—"भगवान्‌के समस्त शरीर ही नित्य और शाश्वत हैं, उनमें किसी प्रकारका ह्रास और वृद्धि नहीं होती है तथा उनकी देह किसी मायिक उपादान द्वारा गठित नहीं हुई है। ये मूर्त्तियाँ सर्वदा ही परम आनन्द और शुद्ध ज्ञान (चेतना)से परिपूर्ण हैं तथा समस्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त और दोषोंसे रहित हैं। उन मूर्त्तियोंमें न्यून और श्रेष्ठका विचार नहीं है, सभी समस्त प्रकारके गुणोंसे युक्त हैं। अतएव ईश्वरमें कभी भी देह-देहीका भेद नहीं है। शास्त्रोंमें जो उनके द्वारा देहको स्वीकार करनेके सम्बन्धमें

कथित हुआ है, उसे मित्रतावशतः हस्त स्वीकारके समान अर्थात् जिस प्रकार एक मित्र प्रीतिवशतः अपने दूसरे मित्रसे हाथ मिलाता है, भगवान्के द्वारा देहको स्वीकार करनेके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार जानना होगा। 'वे सभीसे विलक्षण हैं'—इस उक्तिका अर्थ यह नहीं है कि वे ज्ञानमात्र ही हैं। अपनी ऐश्वर्य शक्तिसे युक्त होनेके कारण प्रकृतिसे अतीत हैं अर्थात् अपनी कृपाशक्तिका वैभव प्रकट करनेके लिए जगतमें आविर्भूत होते हैं" ॥१६०॥

एवं विचित्रदेशेषु स्वप्नादावप्यनेकधा।
दृश्यमानस्य कृष्णस्य पार्षदानां पदस्य च ॥१६१॥
एकत्वमप्यनेकत्वं सत्यत्वञ्च सुसङ्गतम्।
एकस्मिंस्तोषिते रूपे सर्वं तत्तस्य तुष्यति ॥१६२॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण ही विचित्र स्थानोंमें या स्वप्न-मनोरथादिमें नाना रूपोंमें दृश्यमान होते हैं, तथापि वे सब रूप एक ही हैं। इस प्रकार उनके पार्षदों और उनके पद वैकुण्ठादिका युगपत् एकत्व, अनेकत्व और सत्यत्व सुसङ्गत होता है। अतएव श्रीभगवान्के किसी एक स्वरूपके प्रसन्न होनेसे उनके समस्त स्वरूप ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥१६१-१६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तन्यायेन नानास्थानेषु स्वप्नमनोरथादिषु च अनेकधा विचित्रबहुलरूपत्वेन दृश्यमानस्यापि कृष्णस्य कृष्णरूपस्येति वक्तव्ये ऐक्यापेक्षया कृष्णस्यैवेति, पार्षदानां श्रीशेष-गरुड़ादीनाञ्च, तथा पदस्य स्थानस्य श्रीवैकुण्ठादेवेकत्व-मनेकत्वमपि, तथानेकत्वस्य सत्यत्वञ्च सुष्ठु सङ्गतं, कथमप्यसङ्गतं न भवतीत्यर्थः। अतएव तस्य कृष्णस्य एकस्मिन् कस्मिंश्चिद्रूपे तोषिते सति सर्वमपि तद्रूपं तुष्यति। अतएव एकस्य भजनेन सर्वेषामेव प्रीतिः स्यात्। तत्तद्भक्तानाञ्चान्योऽन्यं प्रीतिरिति सर्वत्रानुभूयते ॥१६१-१६२॥

भावानुवाद—इस प्रकार पूर्वोक्त न्यायानुसार श्रीभगवान्की समस्त मूर्त्तियोंकी नित्यता स्थिर होती है। अतएव समस्त साधक नाना स्थानोंमें और स्वप्न-मनोरथादिमें जिन समस्त धामों, परिकरों और भगवान्की मूर्त्तियोंका दर्शन प्राप्त करते हैं, उन सबमें युगपत् एकत्व और बहुत्व जानना होगा। इस प्रकार विचित्र और बहुत रूपोंमें

दृश्यमान श्रीकृष्ण, उनके पार्षद श्रीशेष और गरुड़ादिमें तथा उनके धाम श्रीवैकुण्ठादिमें युगपत् एकत्व, बहुत्व और सत्यत्व सङ्गत होता है। अतएव उन श्रीकृष्णके किसी एक रूपके भी सन्तुष्ट होनेसे उनके समस्त रूप ही परितुष्ट हो जाते हैं, अतः किसी एक मूर्त्तिका भजन करनेसे ही समस्त मूर्त्तियोंमें प्रीति उत्पन्न होती है। इसलिए उन मूर्त्तियोंके समस्त भक्त भी परस्पर प्रीति युक्त होते हैं—यही सर्वत्र अनुभव होता है॥१६१-१६२॥

एको वैकुण्ठनाथेऽयं श्रीकृष्णस्तत्र तत्र हि।
तत्तत्सेवक–हर्षाय तत्तद्रूपादिना वसेत्॥१६३॥

श्लोकानुवाद—एक वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण ही विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूपोंमें अपने सेवकोंको हर्षित करनेके लिए विराजित हो रहे हैं॥१६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमेवाभिव्यञ्जयति—एक इति। तत्र तत्र स्थाने बदर्यादौ तेषां तेषां सेवकानां स्वभक्तानां श्रीनारदादीनां हर्षाय, तेन तेन रूपेण धर्मनन्दनादिमूर्त्या वसेत् वर्तते; आदि-शब्दात् भूषणलीलादि। एवं श्रीवैकुण्ठनाथस्य महिमविशेष उक्तः, अवतारित्वोपपादानात् श्रीगोलोकनाथेन सहाभेदाभिप्रायेण श्रीकृष्ण-शब्दप्रयोगाच्च। तथाग्रे वक्ष्यमाण-श्रीकृष्णस्य सर्वतोऽधिक-महिमविशेषश्च सूचित इति॥१६३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी किसी एक मूर्त्तिके सन्तुष्ट होनेसे समस्त मूर्त्तियाँ सन्तुष्ट हो जाती हैं—इस वाक्यका हेतु बतानेके लिए 'एक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। एक वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण ही बदरिकाश्रम इत्यादि विभिन्न स्थानों पर अपने-अपने सेवकों अर्थात् श्रीनारदादिको हर्षित करनेके लिए विभिन्न रूपोंमें अर्थात् धर्मनन्दन—नर-नारायणादि मूर्त्तियोंमें अपने भूषण और लीलादिके उपयोगी परिकरोंके साथ विराजते हैं। इस प्रकारसे वैकुण्ठनाथकी विशेष महिमा वर्णित हुई है। श्रीगोलोकनाथ और श्रीवैकुण्ठनाथ दोनों अवतारी हैं, अतः इस अभेदके अभिप्रायसे ही श्रीवैकुण्ठनाथके स्थान पर यहाँ 'श्रीकृष्ण' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके द्वारा सूचित होता है कि आगे श्रीकृष्णकी ही सर्वाधिक महिमा कथित होगी॥१६३॥

एतच्च वृन्दाविपिनेऽघहन्तुर्हत्वार्भ–वत्साननुभूतमस्ति।
श्रीब्रह्मणा द्वारवतीपुरे च प्रासादवर्गेषु मया भ्रमित्वा॥१६४॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने इस विषयको वृन्दावनमें श्रीकृष्णके बछड़ोंका हरण करके अनुभव किया था तथा मैंने द्वारकापुरीके समस्त महलोंमें भ्रमणकर इसका अनुभव किया था॥१६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विद्वदनुभवेन प्रमाणयति—एतच्चेति। एकमेव तत्त्वतोऽनेकमपीत्येतत् श्रीब्रह्मणा वृन्दावनेऽनुभूतमस्ति। किं कृत्वा? अघहन्तुः अघासुर–घातिनः श्रीकृष्णस्य सखीनर्भकान् गोपबालकान् पाल्यमानान् वत्सांश्च हृत्वा चोरयित्वा, इदञ्च श्रीदशमस्कन्धे व्यक्तमेव। यथा एक एव भगवान् श्रीकृष्णो गोप्यादिमुदे तत्तद्बालकवत्सगणरूपोऽभूत्। वर्षान्तरे ब्रह्मणा पुनरागम्य क्षणात् सर्वेऽपि वत्सपालादयो भगवद्रूपा एव दृष्टा इति। न च मन्तव्यं, एकमेव रूपं बिम्बभूतं सत्यं, अन्यानि च मायाविलासमयानीति। यतः *'सत्यज्ञानानन्तानन्द–मात्रैकरसमूर्तयः। अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/१३/५४) इत्येवंरूपेण तेनैव साक्षाद्दृष्टत्वात् तत्र। यथा एकत्वं बहुत्वञ्च तच्च सत्यमेवामायिकत्वात्, तथा अत्रापि। तदुक्तं तेनैव स्तुतौ (श्रीमद्भा॰ १०/१४/१८) *'अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितमेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि। तावन्तोऽपि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासितास्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥'* इति। अस्यार्थः—अस्य प्रपञ्चस्य यन्मायात्वं मिथ्यात्वं, तच्च स्वप्नमनोरथादौ मायामयेऽत्र प्रपञ्चे वर्त्तमानादपि तथा विचित्रबहुलरूपतया तत्र तत्र दृश्यमानादपि त्वत्तो विनैवेति न किं मे मां प्रति अद्य त्वया आदर्शितं सम्यग्बोधितमपि तु त्वां विनैवेत्यादर्शितम्। यतः स्वयं त्वं यद्भवसि, तत्तत् सर्वं सत्यमेव परब्रह्मरूपत्वादित्याह—एकोऽसीति। प्रथममेक एवासीः, आसीः सामीप्ये वर्त्तमाना, ततः पश्चाद्व्रजसुहृदः गोपबालका वत्साश्च समस्ता अप्यसि। ततश्च तैः कार्यकारणरूपैरखिलैः साकं मया मत्सहितैरुपमिताश्चतुर्भुजास्तावन्तः वत्सबालपरिमिता एवासीः। एवं प्रत्येकं निखिलब्रह्माण्ड–कार्य–कारणवर्गसेवितत्वेन तावन्ति वत्स–बालपरिमितान्येव जगन्ति ब्रह्माण्डानि अभूः; तत्ततः अमितमपरिच्छिन्नं ब्रह्म अद्वयमेकमेव शिष्यते, पश्चात् परब्रह्मरूपस्त्वमेक एवावशिष्टोऽभूरित्यर्थः। तेषां सर्वेषामेकत्वेनैव दर्शनात्। यद्वा, तच्च सर्वममितं प्रत्येकमपरिच्छिन्नं यतो ब्रह्मरूपम्, अतश्चाद्वयमभिन्नमेव अवशिष्यते; सामीप्ये वर्त्तमाना। तदेकशेषवृत्तं मायादिकृत–भेदास्पृष्टत्वादिति। किञ्च, मया च स्वयं द्वारवतीपुरे प्रासादवर्गेषु प्रतिमहिषीगृहेषु भ्रमित्वा अनुभूतमस्ति। एतदपि तत्रैव तृतीयांशशेषे स्पष्टम्। यथा प्रतिमहिषीगृहे भ्रमन्नयं पृथक् पृथक् सर्वत्रैव बहुधा भगवन्तं ददर्श। न च मन्तव्यम्—तत्र एकत्रैव

सत्यतयावस्थितिरन्यत्र च मायया वृत्तिरिति, यतस्तथा सति तत्रत्यनिजप्रियजनेषु भगवतः परमोपेक्षा प्रसज्येत, मायया तेषां वञ्चनात्। तच्च परमदयालुसिंहस्य भक्तवत्सलस्य प्रियजनपरवशस्य नैव सङ्गच्छते। तर्हि एकत्वमसिद्धमित्यपि न मन्तव्यं, तत्र तत्र सर्वत्रापि तस्यैकस्यैव दृश्यमानत्वात्। तथा सर्वैरपि तस्य एकत्वस्यैवानुभूयमानत्वात्, अन्यथा यादवादीनामभेदेन तत्र तत्र व्यवहारानुपपत्तेः। किञ्च, बहुधा प्रतिगृहतो निःसृतस्य सभायामागच्छत एकस्यैव दृश्यमानत्वात्। तथा तेनैव श्रीनारदेन तदानीमेव भगवत्कृपया तस्यैकस्यैव सकलमहिषीगणेषु वृत्तेर्दृष्टत्वाच्च। यथोक्तं श्रीशुकेन तत्रैव—*'तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह।'* (श्रीमद्भा॰ १०/६९/४१) इति। तदध्यायारम्भे च (श्रीमद्भा॰ १०/६९/२-३)—*'चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥ इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत्।'* इति। अत्र च एकेनैव तेन षोडशसहस्रकन्यकानां पृथक् पृथक् एकेनैव वपुषा युगपदुद्वहनादेव खलू नारदस्यौत्सुक्यम्, अन्यथा च रूपप्रकटनेन सर्वासां तासामेकदैव पृथक्तया विवाहे सति न तस्यौत्सुक्यं स्यात्, स्वस्यापि तस्य तथान्येषां योगेश्वराणां सौभरिप्रभृतीनामपि च तादृश-शक्तिमत्त्वादित्येषा दिक्। एवं श्रीदेवकी-वसुदेवोद्धवादीनामपि तत्र तत्र तेनैव तथा दृष्टत्वात्तेषामपि तादृक्त्वं सिद्धम्। अतो युक्तमेवोक्तम्— *'दृश्यमानस्य कृष्णस्य पार्षदानाः पदस्य च। एकत्वमप्यनेकत्वं सत्यत्वञ्च सुसङ्गतम्॥'* इति॥१६४॥

भावानुवाद—अब 'एतच्च' इत्यादि श्लोकमें श्रीनारद विद्वानोंके अनुभवरूप प्रमाण द्वारा उक्त विषयको सुदृढ़ रूपमें प्रमाणित कर रहे हैं। तत्त्वतः श्रीभगवान् एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रतिभात होते हैं—इसे श्रीवृन्दावन-लीलामें श्रीब्रह्माने अनुभव किया है। किस प्रकार? अघासुरका वध करनेवाले श्रीकृष्णके सखाओं अर्थात् गोपबालकों और उनके द्वारा पालन किये जानेवाले बछड़ोंका अपहरणकर ब्रह्माने श्रीकृष्णके एकत्व और नानात्वका अनुभव किया था। यह श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें व्यक्त है। उस समय एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णने ही बछड़ों और गोपबालकोंकी मूर्त्ति ग्रहणकर समस्त वात्सल्यवती गोपियों और गायोंके आनन्दका वर्द्धन किया था। इस प्रकार श्रीकृष्णने क्रमशः उनके बालकों और बछड़ोंके रूपमें एक वर्ष तक लीला की थी। वर्षके अन्तमें ब्रह्माने पुनः आकर उन समस्त गोपबालकों और बछड़ोंको भगवान्के रूपमें दर्शन किया था। अतएव ये समस्त प्रकारकी मूर्त्तियाँ मायिक नहीं हैं, क्योंकि सभीको ही ब्रह्माने सत्यरूपमें निरीक्षण किया था। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता

है कि बिम्बस्वरूप मूलरूप ही सत्य है और अन्यरूप मायाके विलास हैं। इसका कारण श्रीमद्भागवत (१०/१३/५४)में ही कथित है—"वे समस्त मूर्त्तियाँ सत्य, अनन्त, ज्ञान और केवल आनन्दसे परिपूर्ण एकरस थीं। इसलिए उपनिषद्का अनुशीलन करनेवाले ज्ञानियोंने भी इन समस्त मूर्त्तियोंका प्रचुर माहात्म्य वर्णन किया है।"

ये समस्त मूर्त्तियाँ एक होकर भी बहुत हैं तथा इन्हें मायासे रहित और सत्य जानना होगा, क्योंकि श्रीब्रह्माने पुनः श्रीमद्भागवत (१०/१४/१८)में स्तुति की है—"हे भगवन्! अभी आपने मुझे दिखलाया कि एकमात्र आपके अलावा समस्त विश्व ही माया है। आप पहले एक थे, फिर आपने समस्त गोपबालकों और बछड़ोंका रूप धारण किया। अर्थात् आपके सखाओं और बछड़ोंको स्थानान्तरित करनेके बाद मैंने प्रथमतः आपको अकेला ही देखा, उसके बाद आपको अनन्त गोपबालकों और गो-बछड़ोंके रूपमें देखा। उसके बाद आपके उन समस्त रूपोंको ही चतुर्भुज मूर्त्तियोंमें देखा तथा यह भी देखा कि आपकी जितनी चतुर्भुज मूर्त्तियाँ हैं उतने ही ब्रह्माण्ड हैं और मैं भी निखिल प्राणियों और तत्त्वोंके साथ उन समस्त मूर्त्तियोंकी उपासना कर रहा हूँ। उसके बाद फिर देखा कि आप अपने उसी अपरिमित अद्वय नराकृति परब्रह्म (श्रीकृष्ण) रूपमें विराज रहे हैं।"

अतएव श्रीब्रह्माने श्रीकृष्णसे पूछा कि क्या श्रीकृष्णने उन्हें उसी क्षण अपने अलावा समस्त वस्तुओंका मायिक स्वभाव नहीं दिखलाया है? हे भगवन्! आपकी अचिन्त्यशक्तिकी महिमा अधिक क्या कहूँ? आपकी मायाशक्ति द्वारा प्रकाशित यह दृश्यमान जगत स्वप्नमें देखी हुई वस्तुके समान क्षणस्थायी है, किन्तु जीवका जगतमें अभिनिवेश होनेसे उसको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं रहता है। परन्तु यह जगत आपमें अधिष्ठित होनेके कारण कोई भी इसकी अनित्य और अज्ञानमय रूपमें धारणा नहीं कर सकता है। आपकी नित्यतासे जगत भी नित्य प्रतीत होता है, क्योंकि आप ही समस्त जगतके आधार-स्वरूप नित्य स्वप्रकाश परमानन्द विग्रह हैं। हे भगवन्! अन्योंके सम्बन्धमें क्या कहूँ, आज आपने ही कृपापूर्वक मुझे जिस महामायाके

वैभवको दिखाया है, वह परम आश्चर्यमय है। अर्थात् आपके द्वारा कृत दृश्यमान अनन्त जगतकी सत्ता क्या आपके बिना ही हैं? जब आपके अलावा कुछ भी नहीं है, तब सब कुछ ही आपका स्वरूप है, अतएव आपने मुझे मायात्व नहीं, चिन्मयत्व ही दिखाया है।

यदि कहो किस प्रकार? इसके लिए कहते हैं—सर्वप्रथम आप एक थे, फिर अपनी स्वरूपशक्ति द्वारा गोपबालक और बछड़ोंके रूपमें हुए, उसके बाद अपनी योगमाया द्वारा उस समस्त लीलाको आच्छादितकर अनन्त चतुर्भुजमूर्त्ति हो गये। वे समस्त चतुर्भुज मूर्त्तियाँ कैसी थीं? प्रत्येक चतुर्भुज मूर्त्तिके निकट एक-एक ब्रह्माण्डके कीटाणुसे लेकर ब्रह्मा तक तथा प्रत्येक धूलिकणसे लेकर सुमेरु पर्वत तक जड़-वस्तुएँ और उनके अधिष्ठात्री देवतागण उपस्थित होकर अपने-अपने अधिकारके अनुसार सेवा कर रहे थे। इसके बाद देखते-ही-देखते समस्त मूर्त्तियाँ अन्तर्हित हो गयीं तथा आप मुग्ध बालककी भाँति वन-वनमें सखाओं और बछड़ोंको ढूँढ़ते हुए घूमने लगे। आप सर्वव्यापी होकर भी अभी मेरे भाग्यसे मेरे द्वारा साक्षात् दर्शन किये जा रहे हैं, अर्थात् योगमायाने अपना आवरण हटाकर आपको मेरी दृष्टिके सम्मुख विद्यमान किया है। आपकी कृपासे आज मैंने साक्षात् अपने नेत्रोंसे अनुभव किया है कि आप ही समस्त जगतके मूलतत्त्व हैं और एक होकर भी अपनी योगमायाके प्रभावसे नाना रूपोंमें विराजित हो रहे हैं। पूर्वोद्धृत श्रीमद्भागवत (१०/१४/१८)में 'अभूः' शब्दके प्रयोगका उद्देश्य है कि श्रीभगवान्‌का धाम, पार्षद, लीला और श्रीविग्रहादिके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् स्वरूपशक्ति-रूपायोगमायाके प्रभावसे उनकी लीलादि प्रकाशित होती है। अज्ञानी व्यक्ति योगमाया और गुणमायाके पार्थक्यको न जानकर ही लीलादिको मायिक मानते हैं। अतएव श्रीब्रह्माके इन समस्त वाक्यों द्वारा समझना होगा कि श्रीभगवान् एकरूप होकर भी अनन्त रूप हैं तथा उनके समस्त विग्रह नित्य और सनातन हैं।

मैंने (श्रीनारदने) भी द्वारकापुरीके समस्त महलोंमें अर्थात् प्रत्येक महिषीके गृहमें भ्रमणकर ऐसा अनुभव किया है। श्रीमद्भागवतके (१०/६९/४१) श्लोकमें स्पष्टरूपसे वर्णन है, "श्रीनारदने प्रत्येक

महिषीके भवनमें जाकर सर्वत्र श्रीकृष्णको पृथक्-पृथक् निरीक्षण किया।" यहाँ ऐसा मन्तव्य नहीं किया जा सकता कि श्रीभगवान्की एक स्थान पर अवस्थिति ही सत्य है और अन्य स्थानों पर मायिक है। ऐसा होनेसे वहाँ स्थित अपने नित्य परिकरों अर्थात् प्रियजनोंके प्रति भगवान्की परम उपेक्षा ही प्रकाशित होगी, मानों श्रीभगवान्ने माया द्वारा उनकी वञ्चना कर दी हो। विशेषतः परमदयालु शिरोमणि, भक्तवत्सल अर्थात् प्रियजनोंके वशीभूत रहनेवाले श्रीभगवान्के द्वारा ऐसा आचरण कभी भी सङ्गत नहीं हो सकता है। द्वारकामें समस्त महिषियोंके भवनमें श्रीकृष्णको एक ही समयमें पृथक्-पृथक् रूपोंमें देखने पर भी उनके एकत्वको अस्वीकार नहीं जा सकता, क्योंकि समस्त महाजनोंने ही श्रीभगवान्के एकरूपत्वका ही अनुभव किया है और कर रहे हैं। यदि श्रीकृष्णका एकरूप स्वीकार न करें तो उन समस्त यादवोंको श्रीकृष्णके अनेक रूपोंके साथ व्यवहारमें असङ्गतिरूप दोष उपस्थित होता है।

तदुपरान्त श्रीनारदने भगवान्की कृपाके बलसे दर्शन किया कि उन श्रीकृष्णने प्रत्येक महिषीके गृहसे पृथक्-पृथक् रूपमें बाहर आकर एकरूपमें ही सभामें प्रवेश किया और फिर सभासे निकलते समय वे एक ही भगवान् प्रत्येक महिषीके गृहमें नाना मूर्त्तियोंमें प्रवेश कर रहे हैं तथा समस्त गृहोंमें विचित्र-विचित्र भावोंसे लीला कर रहे हैं। इसलिए श्रीशुकदेवने श्रीमद्भागवत (१०/६९/४१)में कहा है—"श्रीनारदने श्रीकृष्णके एक ही रूपको समस्त महिषीगृहोंमें गृहस्थोंको पवित्र करनेवाले धर्मोंका आचरण करते हुए दर्शन किया था।" तथा उसी अध्यायके आरम्भमें अर्थात् श्रीमद्भागवत (१०/६९/२-३)में श्रीशुकदेवने कहा—"अहा! यह अत्यन्त आश्चर्यका विषय है कि एक श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे एक ही समयमें सोलह हजार कन्याओंके साथ पृथक्-पृथक् गृहोंमें विवाह किया था। ऐसा सुनकर श्रीनारदने दर्शन करनेके लिए अति उत्सुक होकर द्वारकापुरीमें गमन किया।" यहाँ "एक श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे पृथक्-पृथक् गृहमें सोलह हजार कन्याओंका पाणिग्रहण किया।"—यही श्रीनारदके लिए आश्चर्यका विषय हुआ। योगबलसे बहुतरूप प्रकटकर सोलह हजार एक सौ

आठ महिषियोंसे विवाह होनेसे श्रीनारदके समान सर्वज्ञ महाजनमें विस्मय उपस्थित न होता, क्योंकि वे जानते हैं कि योगबलसे सौभरि जैसे सिद्धगण भी कायव्यूह विस्तारकर नाना मूर्त्तियाँ ग्रहण कर सकते हैं। अतएव यहाँ श्रीकृष्णकी नाना मूर्त्तियाँ मायिक नहीं, अपितु सर्व–विलक्षण, सत्य और स्वतःसिद्ध हैं। अर्थात् सौभरि आदिके समान कायव्यूह विस्तारके समान मायिक नहीं हैं। विशेषतः श्रीनारद श्रीभगवान्की भाँति उनके परिकरोंकी भी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे अवगत हैं। अर्थात् उन्होंने अपनी आँखोंसे देखा था कि प्रत्येक गृहमें ही वसुदेव–देवकी और उद्धव जैसे परिकरगण एकत्रित होकर श्रीकृष्णके विवाहको सम्पादन करा रहे हैं। 'अतएव दृश्यमान श्रीकृष्ण, उनके पार्षद, धाम और लीलादि एक होकर भी अनन्त और सत्यसिद्ध हैं—यही सुसङ्गत सिद्धान्त है'॥१६४॥

दुर्वितर्क्या हि सा शक्तिरद्भुता पारमेश्वरी।
किन्त्वस्यैकान्तभक्तेषु गूढ़ं किञ्चिन्न तिष्ठति॥१६५॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि इस भेद और अभेदको प्रतिपादन करनेवाली भगवान्की अपनी अद्भुत शक्ति तर्कके अगोचर है, तथापि उनके एकान्तिक भक्त उस शक्तिके रहस्यको सम्पूर्णरूपसे अनुभव करते हैं॥१६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतच्च भगवतो महाशक्ति–विशेषकृतं परमदुर्वितर्क्यं तदीयप्रसादविशेषेणैव तदेकान्तभक्तानां चित्ते सम्यगुन्मीलतीत्याह—दुर्वितर्क्येति। सैव पारमेश्वरी परमेश्वरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य निजशक्तिः, अतो दुर्वितर्क्यातदीयैर्वितर्कयितुमप्यशक्या, यतोऽद्भुता परमाश्चर्यरूपा। ननु तद्विशेषज्ञानेन विना कथं भक्तिविशेषः सम्पद्यतां? येनैकान्तिता सिध्येत्तत्राह—किन्त्विति। अन्यैर्दुर्वितर्क्यमपि तद्भक्तेषु स्वयमेव तत् सर्वं यथावत् प्रकाशत इत्यर्थः। ततः क्रमेण एकान्तितासिद्धिरिति भावः॥१६५॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्की अचिन्त्यशक्तिको कोई भी तर्कके द्वारा निरूपण करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उनकी समस्त लीला ही उनकी विशेष महाशक्ति द्वारा कृत होनेके कारण परम दुर्वितर्क्य है। तथापि भगवान्की कृपाविशेष द्वारा उस शक्तिका रहस्य उनके

एकान्तिक भक्तोंके हृदयमें स्फुरित होता है—इसे बतलानेके लिए 'दुर्वितर्क्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी पारमेश्वरी अद्भुत शक्ति दुर्वितर्क्य है अर्थात् तर्कके द्वारा कोई भी उसे निश्चय करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि वह परम आश्चर्यरूपा है। यदि आपत्ति हो कि उस शक्तिका विशेषज्ञान न होनेसे भक्ति कैसे होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि अन्योंके लिए दुर्वितर्क होने पर भी भगवान्के ऐकान्तिक भक्तोंके चित्तमें उस शक्तिका रहस्य स्वयं ही स्फुरित होता है। जो विश्वास सहित भक्तोंकी शरण लेकर इसको समझनेकी चेष्टा करते हैं, वे भी ऐकान्तिकता प्राप्त होनेसे उस शक्तिको सम्यक्रूपमें समझ सकते हैं। इसी विश्वासमूलमें ही क्रमानुसार ऐकान्तिकता भी दृढ़ होती है॥१६५॥

पत्नी-सहस्रैर्युगपत् प्रणीतं द्रव्यं स भुंक्ते भगवान् यदैकः।
पश्यन्ति नान्यत्र यथा प्रतिस्वमादौ ममादत्त तदेव मेऽत्ति॥१६६॥

श्लोकानुवाद—जब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी हजारों पत्नियों द्वारा लाये गये द्रव्योंको एक ही स्वरूपमें और एक ही समयमें उपभोग करते हैं, तब उनकी प्रत्येक पत्नी देखती हैं कि प्रभु सर्वप्रथम मेरे द्वारा प्रदत्त भोजन ही ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रेयसी ही श्रीकृष्णको पृथक्-पृथक् रूपमें केवल अपने द्वारा प्रदत्त द्रव्योंका ही भोजन करते देखती हैं॥१६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतदेव परमदुर्वितर्क्यत्वं श्रीमत्प्रियावर्गविषयकभगवत्प्रेम-व्यवहारदृष्टान्तेन प्रमाणयति—पत्नीति, पत्नीनां श्रीराधादीनां श्रीरुक्मिण्यादीनां वा सहस्रैर्युगपत् एकदैव प्रणीतमुपनीतं द्रव्यं भोग्यादिवस्तु स भगवान् श्रीकृष्णः एक एव सर्वमादाय यदा भुंक्ते, तदा तानि पत्नीसहस्राणि प्रतिस्वं प्रत्येकं सर्वाण्येव अत्र भोजने पश्यन्ति। किम्? तदाह—*'आदौ प्रथमं ममैव द्रव्यमादत्त, मे मदीयं तदेव अत्ति भुंक्ते'* इति। अत्र च यथा किमप्यन्यथा न सम्भवति निर्विशेषतया सर्वास्वेव प्रियासु प्रेमविशेषविस्तारणचातुर्या सर्वासामेव तासां तत्त्वतः प्रियाचरणस्या-वश्यकत्वात्॥१६६॥

भावानुवाद—इस प्रकार परम दुर्वितर्क्य अचिन्त्यशक्तिका प्रभाव अपनी प्रियाओंके प्रति श्रीभगवान्के प्रेम-व्यवहारके दृष्टान्त द्वारा

'पत्नी' इत्यादि श्लोकमें प्रमाणित कर रहे हैं। श्रीराधादि व्रजरमणियों या श्रीरुक्मिणी आदि हजारों-हजारों प्रेयसियों द्वारा युगपत् खाद्यसामग्री प्रदान किये जाने पर भी एक ही भगवान् श्रीकृष्ण एक ही समयमें उन समस्त खाद्यद्रव्योंका भोजन करते हैं और हजारों-हजारों प्रेयसियाँ उस समय उस भोजनलीलाका दर्शन करती हैं। किस रूपमें दर्शन करती हैं? प्रत्येक प्रेयसी देखती है—"अहो! मेरा कैसा सौभाग्य है कि प्रभु सबसे पहले मेरे द्वारा प्रदान किया गया भोजन ग्रहण कर रहे हैं।" इस श्लोकके 'यथा' शब्दसे भगवान् द्वारा किसी अन्य प्रकारका अर्थात् मायिक आचरण सम्भव नहीं है—ऐसा ध्वनित होता है। विशेषतः श्रीकृष्ण अपने प्रेमके विस्तार-चातुर्यके कारण उन सभीके प्रति प्रिय आचरण करते हैं तथा इसमें कोई अधिक विशेषता नहीं है, क्योंकि सभीके प्रति प्रिय आचरण करना ही उनका प्रयोजन है। अतएव ऐसा प्रिय आचरण कभी भी मायिक नहीं हो सकता है॥१६६॥

क्वचित् केष्वपि जीवेषु तत्तच्छक्ति-प्रवेशतः।
तस्यावेशावतारा ये तेऽपि तद्वन्मता बुधैः॥१६७॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी किसी योग्यतम जीवमें भगवान्‌की विशेषशक्तिका प्रवेश होनेके कारण जो अवतार होता है, उस आवेशावतारको भी विवेकीजन सत्य और भगवान्‌के समान ही अंगीकार करते हैं॥१६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रापि तच्छक्तिविशेषवैभवमुह्यमित्यर्थः। एतच्चाशेष-निजैश्वर्य-माधुरीप्रकटनपरं श्रीकृष्णावतार एव प्रायः सुव्यक्तमिति तच्चरितमत्र निर्दिश्यते। तच्चाग्रे परमावतारित्वेन तस्यैव सर्वोत्कृष्टमहिमविशेष-विवक्षया। अतएव तत्र तत्र कृष्णशब्द-प्रयोग इति दिक्॥१६७॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌की शक्तिका विशेष वैभव प्रदर्शन करनेके लिए कहते हैं कि कभी-कभी किसी-किसी महानतम जीवमें भी उस शक्तिका प्रवेश होनेके कारण उस जीवको आवेश अवतारके नामसे जाना जाता है। परन्तु ये आवेशावतार भी परम सत्य होते हैं और इन विशेष अवतारोंके चरित्रमें भी श्रीकृष्णके अनन्त ऐश्वर्य-माधुरिमाका

प्रकटन होनेके कारण पण्डितोंने उनको श्रीकृष्णके अवतार रूपमें ही प्रायः सुव्यक्त तथा निर्देश किया है। अतएव यहाँ और आगे भी श्रीकृष्णके परम अवतारी होनेकी सर्वोत्कृष्ट महिमाविशेष कही गयी है, अतएव उन-उन स्थानों पर वैकुण्ठेश्वर श्रीनारायण शब्दका प्रयोग न कर 'श्रीकृष्ण' शब्दका प्रयोग किया गया है॥१६७॥

यादृशो भगवान् कृष्णो महालक्ष्मीरपीदृशी।
तस्य नित्यप्रिया सान्द्र-सच्चिदानन्दविग्रहा॥१६८॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णकी जैसी महिमा है, उनकी नित्यप्रिया सच्चिदानन्दघन-विग्रह महालक्ष्मीकी भी वैसी ही महिमा है॥१६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीभगवद्रूपाणां तत्त्वं निरूप्य तत्प्रियतमायाः श्रीमहालक्ष्म्या अपि तत्त्वं प्रसङ्गादाह—यादृश इति चतुर्भिः। ईदृशी भगवत्सदृशी। तत्र हेतुः—तस्येति। यथा श्रीकृष्णस्य भगवतो वैकुण्ठेश्वरस्यावतारित्वादिना श्रीविष्णवाद्यवतारतो महिष्ठत्वेन महाविष्णवादिसंज्ञा, तथा अस्या अपि महालक्ष्मीत्यादिसंज्ञा ज्ञेया। तथा च श्रीविष्णु-पुराणे—*'नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥'* इति। तथा—*'देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥'* इति॥१६८॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीभगवान्के रूपोंका तत्त्व निरूपण कर अब उनकी प्रियतमा श्रीमहालक्ष्मीके तत्त्वको भी प्रसंगक्रमसे निरूपण करनेके लिए 'यादृश' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। महालक्ष्मी श्रीनारायणकी शक्ति हैं तथा इस श्लोकमें पुनः श्रीनारायणको कृष्ण कहा गया है। जिस प्रकार वैकुण्ठेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके अवतारी होनेके कारण श्रीविष्णु आदि अवतारोंसे श्रेष्ठ हैं, इसलिए उन्हें महाविष्णु इत्यादि नामोंसे भी जाना जाता है, उसी प्रकार उनकी नित्यप्रिया भी श्रीमहालक्ष्मी इत्यादि नामोंसे जानी जाती है। विष्णु-पुराणमें लिखा है—"हे द्विजोत्तम! महालक्ष्मी जगतकी नित्य माता हैं तथा सदैव विष्णुके सङ्ग विराजित रहती हैं। विष्णुकी भाँति वे भी सर्वव्यापक हैं।" वहाँ और भी वर्णन है—"श्रीविष्णु जब देवता रूपमें प्रकट होते हैं, तब महालक्ष्मी देवीरूप धारण करती हैं और जब श्रीविष्णु मनुष्यरूपमें लीला करते हैं, तब वे भी मानुषी होकर

भगवान्‌के साथ नित्य विहार करती हैं। इस प्रकार वे श्रीविष्णुकी देहके अनुरूप अपनी देह प्रकटकर लीला करती हैं"॥१६८॥

सा सदा भगवद्वक्षःस्थले वसति तत्परा।
तस्या एवावतारास्ताः कृष्णस्येवापरा हि याः॥१६९॥

श्लोकानुवाद—वे लक्ष्मी सर्वदा भगवान्‌के वक्षःस्थल पर निवास करते हुए सेवामें तत्पर रहती हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्णके अवतार उनसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार महालक्ष्मीके अवतार भी महालक्ष्मीसे अभिन्न हैं॥१६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—स्वेति। या अपरा लक्ष्म्यः स्वर्गादौ श्रीविष्ण्वादीनां प्रियात्वेन तत्तन्निकटे सन्ति, ता हि तस्या महालक्ष्म्या एवावताराः, अतस्तत्तुल्या एवेत्यर्थः। अत्रानुरूपो दृष्टान्तः—कृष्णस्यैवेति। यथा तस्यावतारास्तत्सदृशा एव नानारूपा अप्यभिन्ना एव, तत्र च भगवत्ताप्रकटन-तारतम्येन तेषु तारतम्य-कल्पना तथेति दिक्॥१६९॥

भावानुवाद—श्रीमहालक्ष्मीके द्वारा श्रीविष्णुके देहानुरूप होकर सेवा करनेके विषयमें बतलानेके लिए 'सा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। स्वर्ग आदि जहाँ भी श्रीविष्णुका अवतार होता है, उनकी प्रिया महालक्ष्मी भी अपने अवतार रूपोंमें श्रीविष्णुकी सेवामें तत्पर होकर उनके साथ विराजित रहती है; अतः उनके समस्त अवतार ही श्रीविष्णुके अवतारोंके तुल्य हैं। इस विषयमें अनुरूप दृष्टान्त है— श्रीकृष्णके जितने भी अवतार हैं, वे सभी श्रीकृष्णके समान ही हैं तथा नाना रूपोंमें होकर भी उनसे अभिन्न हैं। केवल भगवत्ता प्रकटनके तारतम्यसे उनमें तारतम्य कल्पित हुआ है, उसी प्रकार महालक्ष्मीके समस्त अवतारोंमें भी तारतम्य होता है॥१६९॥

या महासिद्धिवत्तासु सर्वसम्पदधीश्वरी।
मुमुक्षु-मुक्त-भक्तानामुपेक्ष्या सैव भूतिदा॥१७०॥

श्लोकानुवाद—उन लक्ष्मियोंमें से जो समस्त प्रकारकी सम्पत्तिकी अधीश्वरी और अणिमादि सिद्धियोंसे पूर्ण हैं तथा ऐश्वर्यको प्रदान करनेवाली हैं, उन देवीको ही मुमुक्षु, मुक्त और भक्तगण परित्याग करते हैं॥१७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथं 'यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः, श्रिया च देव्या मुनिभिश्च सात्वतैः।' (श्रीमद्भा॰ १०/३८/८) इत्यादिवचनेषु स्तुतिरिति व्याख्यानादिना मुक्त-भक्तादिभ्योऽपि तत्तदपेक्षणीयत्वेन लक्ष्म्या न्यूनता श्रूयते? तत्राह—येति द्वाभ्याम्। तासु महालक्ष्मीमूर्त्तिषु मध्ये सर्वासां बहुविधानां सर्वेषां वा लोकपालादीनां सम्पदां विभूतीनामधिश्वरी अधिष्ठात्री, महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तद्वद्या वर्त्तते। अस्य पदस्य उपेक्ष्येत्यनेन वा सम्बन्धः। सैव मुमुक्षूणां मुक्तानाञ्च उपेक्ष्या; यतो भूतीः वैभवानि ददातीति तथा सा, विषय-तद्भोगादिरूपाणां भूतीनां मुक्त्यादिबाधकत्वात्॥१७०॥

भावानुवाद—श्रीलक्ष्मीकी महिमा शास्त्रोंमें कथित है। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/३८/८) "ब्रह्मा, शिव आदि देवगण, लक्ष्मीदेवी तथा समस्त मुनि और भक्तगण श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी अर्चना करते हैं।" इन वचनों द्वारा की गयी स्तुति आदिके अनुसार ध्वनित होता है कि श्रीभगवान्के उपासकोंमें मुक्तों और भक्तोंसे भी श्रीलक्ष्मीकी अधिक महिमा है, अतः तब क्यों उन लक्ष्मीकी न्यूनताके सम्बन्धमें सुना जाता है? इसके उत्तरमें 'या' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। उन महालक्ष्मीकी समस्त मूर्त्तियोंमें जो मूर्त्ति समस्त प्रकारकी सम्पद् अर्थात् लोकपालादिरूप विभूतिकी अधीश्वरी और अणिमादि महासिद्धि प्रदानकारी हैं, उन ऐश्वर्य-प्रदानकारी लक्ष्मीको ही मुमुक्षु, मुक्त और भक्तगण परित्याग करते हैं। वे लक्ष्मी आराधित होनेसे विभूति और वैभवादि प्रदान करती हैं, किन्तु इस प्रकारकी विषय-भोगादिरूप विभूति मुक्ति-भक्ति आदिकी बाधक है॥१७०॥

यस्या एव विलोलायाः प्रायः सर्वत्र कथ्यते।
नवानामपि भक्तानां भगवत्प्रियताधिका॥१७१॥

श्लोकानुवाद—ऐसा सर्वत्र कथित है कि चञ्चला लक्ष्मीकी तुलनामें श्रीभगवान्को नवीन भक्त अधिक प्रिय हैं॥१७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्या एव सकाशात् नवानामर्वाचीनानामपि; अस्तु तावत् प्राचीनानां भक्तानां, भक्तिपराणां भगवत्प्रियता अधिका उत्कृष्टा सर्वत्र पुराणादौ कथ्यते। कुतः? प्रायो बाहुल्येन विलोलायाः परमचञ्चलायाः दुर्वासःशापादिव्याजेन तत इतस्तिरोभावाविर्भावादिना तथा सहसा निजाश्रितपरित्यागेन च, एवमस्या अपि महालक्ष्म्यवतारत्वेन तत्सादृश्याद्भगवत्परिग्रहतया तद्वक्षोनिवासलाभादिचरितममृत-

मथनादौ श्रूयमाणं युक्तमेवेति दिक्। भगवत्परायाश्च तत्प्रियतमाया महालक्ष्म्याः सदा कृततद्वक्षोनिवासायाः परमस्थिरतराया भगवत इव भक्तगणैः सदाराध्यत्वात् कथमपि कदाचिदुपेक्षा नैव सम्भवेदिति भावः॥१७१॥

भावानुवाद—जो लक्ष्मी परम चञ्चला हैं अर्थात् दुर्वासाके शापके बहाने एक स्थानसे दूसरे स्थान पर गमन द्वारा सहसा अपने आश्रित-जनोंका परित्याग कर देती हैं, उन चञ्चला लक्ष्मीकी तुलनामें प्राचीन भक्तों अर्थात् भक्तिमें अनुरक्त भक्तोंकी तो बात दूर रहे, नवीन भक्त भी श्रीभगवान्‌को अधिक प्रिय हैं—ऐसा पुराणादिमें सर्वत्र कथित है। किन्तु महालक्ष्मीका अवतार होनेके कारण वह चञ्चला लक्ष्मी भी महालक्ष्मीके समान ही है। इसलिए ऐसा सुना जाता है कि अमृत (क्षीर-सागर) मन्थनादिके समय आविर्भूत होने पर श्रीभगवान्‌ने उनको अपने वक्षःस्थल पर धारण किया था। परन्तु जो श्रीभगवान्‌की प्रियतमा महालक्ष्मी हैं, वे भगवान्‌के वक्षस्थल पर परम स्थिररूपमें वास करती हैं तथा सर्वदा भक्तों द्वारा आराधित होती हैं। वह किसी प्रकारसे भी उपेक्षणीय नहीं हैं॥१७१॥

एवं धरण्यपि ज्ञेया पराश्च भगवत्प्रियाः।
तथैव भगवच्छक्तिरपि सा ज्ञायतां त्वया॥१७२॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार महालक्ष्मी भगवान्‌की प्रिया हैं, उसी प्रकार धरणीदेवी भी भगवान्‌की प्रिया हैं तथा इस प्रकार प्रभुकी समस्त शक्तियोंको ही समान जानना होगा॥१७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रसङ्गादन्येषामपि भगवत्प्रियजनानां तथात्वमाह—एवमिति। यथा महालक्ष्मीः तथा धरण्यपि ज्ञेया। एका श्रीवैकुण्ठनाथस्य प्रियतमा नित्यपार्श्वस्थिता सच्चिदानन्दविग्रहा, अन्याश्च तत्र तत्र श्रूयमाणास्तदवतारा इत्यर्थः। परे श्रीशिव-दुर्गादयश्च। एवमेव प्रत्येकं भैरव-चामुण्डादिभेदेनानेकरूपत्वादिकं गता अप्येकरूपा एवेत्यर्थः। सा भगवच्छक्तिरपि तथैव तादृश्येव ज्ञायताम्॥१७२॥

भावानुवाद—'एवम्' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रसंगक्रममें भगवान्‌के अन्यान्य प्रियजनोंके विषयमें भी कह रहे हैं। जिस प्रकार श्रीमहालक्ष्मी भगवान्‌की प्रिया हैं, उसी प्रकार धरणीदेवी भी भगवान्‌की प्रिया और सच्चिदानन्दविग्रह हैं। श्रीवैकुण्ठनाथके नित्य

समीप स्थित प्रियतमा सच्चिदानन्दविग्रह श्रीमहालक्ष्मी हैं तथा अन्य जिन शक्तियोंके सम्बन्धमें सुना जाता है, वे सभी महालक्ष्मीके ही अवतार हैं। इस प्रकारसे श्रीशिव-दुर्गा और उनके वैभव भैरव-चामुण्डादि भेदसे विविध रूपादियुक्त देवियोंको भी भगवान्‌की शक्तिरूपमें जानना होगा॥१७२॥

महाविभूति-शब्देन योग-शब्देन च क्वचित्।
योगमायादि-शब्देन या क्वचिच्च निगद्यते॥१७३॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌की शक्तिरूपा लक्ष्मी किसी स्थान पर महाविभूति, कहीं योग और कहीं योगमाया शब्द द्वारा कथित होती हैं॥१७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथात्वं विवृण्वन् तामेव स्वरूपतः कर्मतश्च लक्षयति—महेति चतुर्भि। यच्छब्दानां पूर्वेणैवान्वयः। आदि-शब्दात् प्रकृतिशक्ति-शब्दादिः। तथा च महासंहितायाम्—*'श्री-भू-दुर्गेति या भिन्ना जीवमाया महात्मनः। आत्ममाया तदिच्छा स्याद्गुणमाया जड़ात्मिका॥'* इति। शब्दमहोदधौ च—*'त्रिगुणात्मिकाथ ज्ञानञ्च विष्णुशक्तिस्तथैव च। मायाशब्देन भण्यन्ते शब्दतत्त्वार्थवेदिभिः॥'* इति। स्कान्दे च—*'मायामयेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च। प्रकृतिर्वासनेत्येवं तवेच्छानन्त कथ्यते॥'* इति॥१७३॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌की शक्तिके स्वरूपका वर्णनकर अब कार्य-भेदसे उनके विभिन्न नामोंका परिचय 'महा' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा प्रदान कर रहे हैं। वह भगवान्‌की शक्ति किसी स्थान पर महाविभूति शब्दसे या कहीं योगमाया आदि शब्दसे भी कथित होती है। यहाँ 'आदि' शब्दसे प्रकृति, शक्ति इत्यादि शब्दोंको भी समझना होगा। जैसा कि महा-संहितामें वर्णन है—"भगवान्‌की वह माया श्री, भू और दुर्गा नामोंसे भी जानी जाती हैं, जिनका कार्य क्रमशः जीवोंका प्रकटन, आत्ममाया अर्थात् भगवान्‌की इच्छा तथा त्रिगुणमय जड़ जगतका प्रकटन होता है।" शब्दमहोदधि कोषमें भी उल्लेख है—"शब्दके तत्त्वार्थको जाननेवालोंके अनुसार 'माया' शब्द द्वारा त्रिगुणत्मिका शक्ति, ज्ञान और विष्णुशक्तिका बोध होता है।" स्कन्दपुराणमें कहा गया है—"श्रीभगवान्‌की इच्छाशक्तिके अनन्त नाम हैं यथा—माया,

अविद्या, जड़, मोहिनी, प्रकृति, वासना इत्यादि।" अतएव कार्य-भेदसे भगवान्‌की एक ही शक्तिके भिन्न नाम हैं॥१७३॥

या सान्द्रसच्चिदानन्दविलासाभ्युदयात्मिका।
नित्या सत्याप्यनाद्यन्ता याऽनिर्वाच्या स्वरूपतः॥१७४॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌की वह शक्ति सच्चिदानन्दघन विलास-वैभवस्वरूप, नित्य, सत्य, अनादि और अनन्त होनेके कारण अनिर्वचनीय है॥१७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—सान्द्रस्य निविड़स्य सच्चिदानन्दस्य विलासः शोभाविशेषः, तस्याभ्युदयो वैभवं स एवात्मा स्वरूपं यस्याः सा; अतो या नित्या सत्या अनादिरनन्ता च। तथा स्वरूपतः तत्त्वतोऽनिर्वाच्या निर्वक्तुमशक्या परब्रह्मरूपभगवन्महा-शक्तित्वेनावितर्क्या॥१७४॥

भावानुवाद—जो शक्ति सच्चिदानन्दघन विलासकी शोभा है और उस विलासका वैभव ही जिसका स्वरूप है, वह शक्ति नित्य, सत्य, अनादि, अनन्त तथा अनिर्वचनीय है। कोई भी उसका स्वरूपतत्त्व निरूपण करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि परब्रह्मरूप भगवान्‌की महाशक्ति होनेके कारण वह तर्कके अगोचर है॥१७४॥

भगवद्भजनानन्दवैचित्री-जननी हि सा।
नानाविधो भगवतो विशेषो व्यज्यते यया॥१७५॥

श्लोकानुवाद—वही शक्ति भगवान्‌के समस्त प्रकारके अवतार और उनकी विशेषताओंको प्रकाशित करनेके कारण भजनानन्द-वैचित्रीकी जननी कही जाती है, अर्थात् वह नये-नये रूपमें भजनके आनन्दका विस्तार करती है॥१७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं द्वाभ्यां स्वरूपलक्षणमुक्त्वा तटस्थलक्षणमाह—भगवदिति द्वाभ्याम्। या हि भगवद्भजनानन्दस्य वैचित्रीणां नानामधुराश्चर्यप्रकाराणां जननी आविर्भावयित्री—सच्चिदानन्दविग्रहत्वेन भगवता सह साम्यमिव गतानामेकरूपाणामपि भक्तगणानां तस्माद्‌भेदनेन प्रत्येकं नानाविधविशेषसम्पादनेन च, तथा जीवतत्त्वब्रह्मणः परब्रह्मरूपस्य च भगवतो रविरश्मिजालमण्डलवद्भेदापादनेन, तथा तादृश्यास्तदीय-भक्तेरपि विविधरसविशेषाविर्भावणेन च सदा नवनवमधुरमधुरभजनानन्दविस्तारणात्;

किञ्च, यया भगवतो नानाविधो विशेषो व्यज्यते प्रकाश्यते—अद्वितीयैकपरब्रह्मरूपस्यापि तस्य विविधरूपवर्गाणां तथा तत्त्वतोऽनेकत्वैकत्वादीनां तथाविध-सौन्दर्य-माधुर्यादीनां तथा विचित्रलीला-प्रकारादीनाञ्च प्रत्येकं विविधविशेषेण तस्य सदा सत्यत्वेना-विर्भावणात्॥१७५॥

भावानुवाद—इस प्रकार उक्त दो श्लोकोंमें श्रीभगवान्‌की लक्ष्मी स्वरूपा शक्तिका स्वरूप-लक्षण वर्णनकर अब 'भगवत्' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा उस शक्तिका तटस्थ-लक्षण वर्णन कर रहे हैं। जो शक्ति भजनानन्दकी वैचित्री अर्थात् नाना-प्रकारके मधुर आश्चर्योंकी जननी है, वह लक्ष्मीरूपा शक्ति सच्चिदानन्द विग्रह श्रीभगवान्‌के साथ समान होनेके कारण एकरूप होकर भी भक्तोंमें भेद अर्थात् नाना-प्रकारकी विचित्रताको उत्पन्न करती हैं। यद्यपि भगवान् और जीव दोनों ही सच्चिदानन्द वस्तु होनेके कारण एक ब्रह्मतत्त्व ही है, तथापि जीव-ब्रह्म और पर-ब्रह्ममें उसी प्रकारसे भेद है, जिस प्रकार सूर्यकी किरणों और सूर्यमें भेद है। उसी प्रकार वही शक्ति भक्तिके विविध भेद अर्थात् साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति तथा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भेदसे विविध रसोंका आविर्भाव कराकर सर्वदा नव-नव मधुर-मधुर भजनके आनन्दका विस्तार करती है। तदुपरान्त कहते हैं कि वही शक्ति सर्वदा एक अद्वितीय परब्रह्म-स्वरूप भगवान्‌के विविध रूपोंकी, तत्त्वतः एक होने पर भी उनके अनेकत्वकी तथा प्रत्येक स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्य और विचित्र लीलाके प्रकार अर्थात् विविधताकी सत्यता आविर्भाव कराती है॥१७५॥

तथैव लक्ष्म्या भक्तानां भक्तेर्लोकस्य कर्मणाम्।
सा सा विशेष-वैचित्री सदा सम्पद्यते यतः॥१७६॥

श्लोकानुवाद—अतः उस लक्ष्मीरूपा शक्तिके प्रभावसे ही भगवान्‌के भक्तों, उनकी भक्ति, उनके धामों तथा उनके समस्त कर्मों अर्थात् लीलाकी विशेष विचित्रता सदा उदित होती है॥१७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—भक्तानां श्रीशेष-गरुड़ादीनाम्; भक्तेः श्रवणकीर्त्तनादिरूपायाः; लोकस्य श्रीवैकुण्ठस्य; कर्मणां भगवदाचरितानाम्। सा सा अनिर्वचनीया विशेषस्य

भेदस्य वैचित्री नानारूपता; यतः शक्तेर्हेतोः सम्पद्यते, अन्यथा सच्चिदानन्दघनत्वादि-नैकरूपाणामेषां नानाविशेषघटनानुपपत्तेः। सदेति नित्यत्व-नानात्वादिकमुक्तम्। तथा चोक्तं श्रीविष्णुसंहितायाम्—*'इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिति त्रिधा। शक्ति-शक्तिमतोश्चापि न भेदः कश्चिदिष्यते॥'* इति। एतद्विचित्र-वैचित्री च द्वितीयाध्यायान्ते प्रायो विवृतास्ति; तथा श्रीशेष-गरुड़ादीनां तत्तत्स्थानवर्तिकाद्रवेय-वैनतेयादिभेदेन, श्रीवैकुण्ठलोकस्य च श्वेतद्वीप-रमाप्रियादिवैकुण्ठभेदेन, भक्तेर्नानाविध-कीर्त्तनादिरसभेदेन, कर्मणाञ्च भक्तवात्सल्यादिना तत्तद्रूपेणाविर्भाव-स्तन्यपान-रिङ्गणादि-विनोदभेदेनापि प्रत्येकमूह्या॥१७६॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌की उस शक्तिके प्रभावसे ही श्रीशेष और गरुड़ादि भक्तों, श्रवण-कीर्त्तनादिरूप भक्ति, श्रीवैकुण्ठ आदि लोकों तथा भगवान् द्वारा आचरित कर्मों अर्थात् उनकी लीलाओंमें अनिर्वचनीय भेदरूप विचित्रता उदित होती है। अन्यथा सच्चिदानन्दघन एक रूपमें इस प्रकारसे अनेक रूपोंमें नाना विशेषताओंकी उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् भक्त, भक्ति, लोक और भगवान्‌की लीला—इन सबके सच्चिदानन्दघनत्व हेतु एक होने पर भी शक्तिके प्रभावसे ही प्रत्येकमें बहुत प्रकारकी विचित्रता या भेद उदित होता है। श्लोकमें उक्त 'सदा' शब्दके द्वारा नाना-प्रकारके भेदोंकी नित्यता ही सूचित हुई है। श्रीविष्णुसंहितामें कथित हुआ है—"इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके भेदसे यह शक्ति तीन प्रकारकी है, किन्तु शक्ति और शक्तिमानके अभेद हेतु यह शक्ति स्वरूपतः एक प्रकारकी ही है।"

इस प्रकारकी विचित्रताका विषय द्वितीय अध्यायके अन्तमें वर्णित हुआ है। जैसे भक्तभेद—शेष (कद्रुनन्दन), गरुड़ादि (विनतानन्दन); भक्तिभेद—श्रवण और कीर्त्तनादि; लोकभेद—रमाप्रिय, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठादि; कर्मभेद—भक्तवात्सल्यादिके अनुसार आविर्भाव, स्तनपान, भूमि पर रेंगना तथा लीला-विनोद इत्यादि भेदको भी जानना होगा। यह समस्त भेद सर्वदा नित्यरूपमें विद्यमान है॥१७६॥

सा च तस्याश्च सा चेष्टा ज्ञेया तच्छुद्धसेवकैः।
अतर्क्या शुष्कदुस्तर्कज्ञान-सम्भिन्नमानसैः॥१७७॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌के शुद्ध भक्त उस शक्तिको तथा उसके प्रभाव और चेष्टादिको समझ पाते हैं। किन्तु जिनका मन कुतर्कसे

उदित शुष्क ज्ञान द्वारा कुलषित है, वे कदापि उसे समझ नहीं सकते हैं॥१७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कीदृशी सा शक्तिः? कथं वा तयेदृशी वैचित्री सम्पाद्यते? इत्यपेक्षायामाह—सा चेति, सा अनिर्वचनीया चेष्टा च तस्य भगवतः शुद्धसेवकैर्विशुद्धभक्तिमद्भिरेव ज्ञेया ज्ञातुं शक्या। शुष्केण नीरसेन दुस्तर्केण दुष्टन्यायेन यज्ज्ञानं तेन सम्भिन्नानि मिलितानि मानसानि येषां तैस्तु अतर्क्या तर्कयितुमप्यशक्या *'दुर्वितर्क्या हि सा शक्तिः'* इत्यनेन पूर्वं केवलं श्रीभगवद्रूपाणामेकत्वानेकत्वोपपत्तेरेवोक्तम्। इदानीञ्च सामान्येन सर्वेषामेव विचित्र-विशेषोपपत्तावित्येव-मुक्तपोषन्यायेनापुनरुक्तताऽस्य पद्यस्योह्या॥१७७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि वह शक्ति कैसी है तथा किस प्रकारसे उस शक्ति द्वारा ऐसी विचित्रता उदित होती है? इसकी आकांक्षामें 'सा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे सम्पन्न शुद्ध सेवकगण ही उस शक्ति और उस शक्तिकी अनिर्वचनीय चेष्टासे अवगत हो सकते हैं। शुष्क-दुस्तर्कसे उदित ज्ञानसे अर्थात् दुष्टन्यायके अनुगत ज्ञानसे मिलित होकर जिनका मन कलुषित हुआ है, वे उस शक्तिके तत्त्वको तर्कके माध्यमसे भी नहीं जान सकते हैं। इसलिए पहले (श्लोक १६५में) केवल श्रीभगवान्‌के नाना रूपोंके एकत्व और अनेकत्वका निरूपण करते हुए श्रीनारदने कहा था—'दुर्वितर्क्या हि सा शक्तिः' अर्थात् 'वह शक्ति निश्चित रूपमें अचिन्त्य है'। अब सामान्यरूपसे जड़ और चित् समस्त सत्ताकी विचित्रताके भेदको दुर्वितर्क्य प्रतिपादित करनेके लिए 'उक्तपोष' न्यायके अनुसार पहले जो कहा गया है उसे पुष्ट करनेके लिए पुनः उस विषयकी अवतारणा कर रहे हैं। इसका कारण है कि अत्यन्त कठिन तत्त्वको पुनः-पुनः न कहनेसे कोई उसे समझ नहीं सकता है॥१७७॥

सा परापरयोः शक्त्योः परा शक्तिर्निगद्यते।
प्रभोः स्वाभाविकी सा हि ख्याता प्रकृतिरित्यपि॥१७८॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌की 'परा' और 'अपरा' नामक दो शक्तियोंमें से वह 'परा' शक्ति है। प्रभुके स्वरूपसे उत्पन्न होनेके कारण वह स्वाभाविकी है तथा किसी-किसी स्थान पर उसे प्रकृति भी कहा जाता है॥१७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा उक्तप्रकारा महाशक्तिः परापरयोर्द्वयोः शक्त्योर्मध्ये परेति निगद्यते, श्रीप्रह्लादादिभिर्मुख्यत्वात्। तथा च विष्णुपुराणे प्रह्लादस्तुतौ—*'सर्वभुतेषु सर्वात्मन्! या शक्तिरपरा तव। गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर॥ यातीतगोचरा वाचां मनसाञ्च विशेषणा। ज्ञानि-ज्ञान-परिच्छेद्या वन्दे तामीश्वरीं पराम्॥'* इति। एतयोरर्थः—अपरा मायाख्या जड़रूपा वाचां मनसाञ्चातीतोऽतिक्रान्तो गोचरो विषयो यया सा, अवाङ्मानसगम्येत्यर्थः। यतो जातिगुणादिविशेषणहीना, परब्रह्मस्वरूपत्वात्। किन्तु ज्ञानी जीवः, ज्ञानं बुद्धिः तदुभयमपि परिच्छेद्यं बाह्यघटादिवत् प्रकाश्यं यस्याः सा, तस्याः सर्वभासकत्वात्। यद्वा, ज्ञानिनां केवल ज्ञाननिष्ठानां ज्ञानं परिच्छेद्यं तत्तर्कवितर्कण-सामर्थ्याभावात् सङ्कोचनीयं कुण्ठतायोग्यं भवति यया सा, विशुद्धभक्तिमतां चित्तेनैवागम्यत्वात्। ईश्वरीम् ईश्वरस्य तव स्वरूपभूतां, नित्यत्वादिना भेदाभावात्। यद्वा, तत्तद्वैचित्र्यापादन-महासामर्थ्यवतीं परां चिद्विलासरूपामिति सा शक्तिः प्रकृतिरित्यपि ख्याता प्रसिद्धा कथिता वा पौराणिकैः। हि यतः प्रभोर्भगवतः स्वाभाविकी सहजा, प्रकृति-शब्दस्य स्वभावार्थकत्वात्, अभेदोपचारश्च तदेकरूपत्वाभिप्रायात्॥१७८॥

भावानुवाद—श्रीप्रह्लाद आदि महाजनोंने उक्त प्रकारकी महाशक्तिको 'परा' और 'अपरा' नामक दो शक्तियोंमें से 'परा' शक्तिके रूपमें गुणगान किया है। जैसा कि श्रीविष्णुपुराणमें श्रीप्रह्लाद द्वारा की गयी स्तुतिमें इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंके सम्बन्धमें उल्लेख है—"हे समस्त प्राणियोंकी आत्मा! हे देवताओंके देव! मैं आपकी उस शाश्वत अपरा शक्तिको नमस्कार करता हूँ जो तीनों गुणोंकी आश्रय स्वरूप है। किन्तु जो शक्ति विशेषतासे रहित, मन और वचनके अतीत है तथा ज्ञानी और उसके ज्ञानका विभाजन करती है, ईश्वरकी उस परम शक्तिकी मैं वन्दना करता हूँ।" अपरा शक्ति मायाके नामसे विख्यात जड़रूपा है और परा नामक शक्ति वाक्य और मनके अगोचर है, क्योंकि वह जाति-गुण-क्रियादि विशेषणसे रहित और परब्रह्मस्वरूप है। किन्तु यही पराशक्ति सर्वप्रकाशकारी होनेके कारण ज्ञानी अर्थात् जीव और उसका ज्ञान अर्थात् बुद्धि दोनोंको परिच्छेद अर्थात् बाह्य घट आदिकी भाँति प्रकाशित करती है। अथवा इसी शक्तिके बलसे केवल ज्ञाननिष्ठ ज्ञानियोंका ज्ञान तर्क-वितर्कके सामर्थ्यके अभाववशतः संकुचित हो जाता है, किन्तु विशुद्ध भक्तोंके चित्तमें वह ज्ञान स्वतः ही प्रकाशित होता है। इस शक्तिको ईश्वरकी

स्वरूपभूता अर्थात् उनके स्वरूपसे उत्पन्न हुई जानों, क्योंकि ईश्वरकी भाँति ही इस शक्तिमें नित्यता आदि धर्म विद्यमान होनेके कारण यह उनसे भेदरहित है। इसलिए इस शक्तिको 'ईश्वरी' कहा जाता है। अथवा नाना-प्रकारकी विचित्रताको प्रकाशित करनेमें महा-सामर्थ्यवती होनेके कारण वह शक्ति परा अर्थात् चिद्विलासरूपा है। अथवा समस्त पौराणिकजन इसे 'प्रकृति' कहते हैं, क्योंकि यह भगवान्‌की स्वाभाविकी शक्ति है। 'प्रकृति' शब्दका अर्थ स्वभाव होनेके कारण भगवान्‌से अभेदवशतः इस शक्तिको भगवान्‌का स्वरूप ही जानो॥१७८॥

अंशाः बहुविधास्तस्या लक्ष्यन्ते कार्य-भेदतः।
तस्या एव प्रतिच्छायारूपा माया गुणात्मिका॥१७९॥

श्लोकानुवाद—कार्य-भेदके अनुसार उस पराशक्तिके बहुत प्रकारके अंश या भेद लक्षित होते हैं। किन्तु त्रिगुणात्मिका माया इस पराशक्तिकी छाया है॥१७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्याः पराख्यशक्तेः बहुविधा अंशा भेदाः कार्याणां तत्कृतार्थानां भेदतो वैचित्र्याल्लक्ष्यन्ते, भक्तिभक्तभजनीयादिविषयकतत्तद्रस-भाव-रूपादिवैचित्रीभेदनेन; यद्वा, ज्ञानकर्मादिभेदेन तत्तदवान्तरभेदेन च तत्तत्कारणरूपायाः शक्तेरपि विविध-विशेषदर्शनात्। अतएव श्रीपराशरादिभिरस्या बहुत्वमुक्तम्—*'शक्तयः सर्वभूतानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः। भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥'* इति। व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—'लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्यज्ञानगोचराः, अचिन्त्यं तर्कासहं यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं तस्य गोचराः सन्ति; यद्वा, अचिन्त्या भिन्नाभिन्नत्वादि-विकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्तिज्ञानगोचराः सन्ति। यत एवमतो ब्रह्मणः श्रीविष्णोरपि तास्तथाविधाः सर्गाद्याः सर्गादिहेतुभूता भावशक्तयः स्वभावसिद्धाः शक्तयः सन्त्येव, पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत्।' श्रुतिश्च (श्वे॰ ६/८)—*'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान-वल-क्रियाच॥'* इति। यद्येवं योजना—सर्वेषां भावानां पावकस्योष्णताशक्तिवदचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्त्येव, ब्रह्मणः पुनस्ताः स्वभाव-भूताः स्वरूपादभिन्नाः शक्तयः 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादि श्रुतेः, अतो मणि-मन्त्रादिभिरग्न्युष्णतादिवन्न केनचिद्विहन्तुं शक्यन्ते। अतएव तस्य नित्य-निरङ्कुशमैश्वर्यम्, तथा च श्रुतिः—*'सदा अयमस्य सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः*

सर्वस्याधिपतिः' इत्यादि। यत एवमतो ब्रह्मणो हेतोः सर्गाद्या भवन्तीति तस्याश्चिद्विलासरूपाया एव प्रतिच्छाया आभासस्तद्रूपा या मायाख्या शक्तिः चिद्विलासशक्ति-विहितानां वैकुण्ठवर्तिनामेव सादृश्यं प्रपञ्चे वृत्तेः, यतो गुणात्मिका त्रिगुणमयी, विविधभेदोपपादनात्॥१७९॥

भावानुवाद—उस 'परा' नामक शक्तिके बहुत प्रकारके भेद अर्थात् कार्य भेदसे बहुत प्रकारकी विचित्रताएँ लक्षित होती हैं। अर्थात् भक्ति-भेद, भक्त-भेद, भजनीय-भेद तथा उनसे सम्बन्धित रस, भाव और रूपादिकी विचित्रताके भेदसे उक्त शक्तिके बहुत प्रकारके भेद लक्षित होते हैं। अथवा ज्ञान और कर्मादिके भेद तथा उनके अन्तर्गत भेदसे भी कारणरूपा शक्तिकी विविध विशेषताएँ (भेद) दृष्ट होती हैं। इसलिए श्रीपराशरादि ऋषियोंने इसका बहुत्व वर्णन किया है, "समस्त सत्ताशील वस्तुओंकी अपनी-अपनी शक्ति होती है जिसे केवल अचिन्त्य अर्थात् दिव्य ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। सृष्टि आदि कार्योंको करनेके लिए परब्रह्मकी विभिन्न शक्तियाँ हैं तथा ये शक्तियाँ उसी प्रकार उनसे अभिन्न हैं जिस प्रकार अग्निसे उसकी उष्णता अभिन्न है।" श्रीधरस्वामिपादने इस श्लोकको व्याख्यामें कहा है कि इस लोकमें समस्त वस्तुओं जैसे मणि, मन्त्र आदिकी शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञानके गोचर हैं। अचिन्त्यज्ञान तर्कसे अतीत है तथा अन्यथानुपपत्ति प्रमाण द्वारा ही गोचर है। यहाँ 'अन्यथानुपपत्ति' कहनेका अर्थ है कि साक्षात् कार्य देखे जाने पर भी कारणसे भिन्न कार्य नहीं हो सकता—ऐसा मानकर कार्य-दर्शनमें कारणकी कल्पना करना। अथवा अचिन्त्य अर्थात् भिन्नता और अभिन्नताके विकल्पके कारण उस ज्ञानका विश्लेषण करना सम्भव नहीं है। अतएव वह केवल 'अर्थापत्ति' (वह प्रमाण जिसमें एक बातको कहनेसे दूसरी बातकी सिद्धि स्वतः ही हो जाय) द्वारा ही गोचर है। जिस प्रकार अग्निमें दाहिका शक्ति है, उसी प्रकार परब्रह्म—श्रीविष्णुमें भी सर्गादि (सृष्टिके) हेतु अचिन्त्य स्वभावसिद्ध समस्त शक्तियाँ वर्त्तमान हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/८)में कथित है—"उनका कार्य भी नहीं है और कारण भी नहीं है तथा उनसे अधिक शक्तिसम्पन्न कुछ भी देखा नहीं जाता है। इन परब्रह्मकी ज्ञान, बल और क्रियादि विविध

शक्तियोंके विषयमें सुना जाता है।" अतएव जिस प्रकार अग्निमें उष्णता शक्ति है, उसी प्रकार समस्त वस्तुओंमें भी अचिन्त्य ज्ञानके गोचर शक्तियाँ हैं तथा ब्रह्ममें भी उनके स्वरूपसे अभिन्न शक्तियाँ हैं। जैसा कि श्रुति इत्यादिके प्रमाण हैं—"परब्रह्मकी विविध प्रकारकी शक्तियोंके विषयमें सुना जाता है।" जिस प्रकार मणि-मन्त्रादिके द्वारा भी अग्निकी उष्णता शक्तिको दूर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भगवान्‌से भी उनकी स्वाभाविक शक्तिको दूर नहीं किया जा सकता। अतएव उनका ऐश्वर्य नित्य और बाधा रहित है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२२)में उक्त है—"वे परब्रह्म सबके प्रभु हैं, सबके ईश्वर हैं तथा सबके अधिपति हैं।" वे परब्रह्म ही अपनी चिद्-विलास रूप शक्तिकी प्रतिछाया अर्थात् आभास रूप शक्ति या माया शक्ति द्वारा इस जगतकी सृष्टि-स्थिति-संहारके कारण हैं। यह त्रिगुणमयी माया अनेक प्रकारकी विविधताओंको सृष्ट करती है तथा चिद्-विलास शक्तिकी छाया होनेके कारण उस माया द्वारा सृष्ट प्रपञ्च वैकुण्ठके समान प्रतीत होती है॥१७९॥

मिथ्याप्रपञ्च-जननी　मिथ्याभ्रान्तितमोमयी।
अतोऽनिरूप्याऽनित्याद्या जीव-संसारकारिणी॥१८०॥

श्लोकानुवाद—यह जड़ माया ही मिथ्या-प्रपञ्चकी जननी है और मिथ्या भ्रान्तिके रूपमें तमोमयी है, इसलिए इस मायाका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता है। अनादिकालसे जीवकी संसारकारिणी रूपमें वर्त्तमान रहने पर भी जीवको स्वरूपज्ञान होने पर वह नष्ट हो जाती है, इसलिए वह अनित्य है। चित्‌शक्तिरूपा मायाकी छाया होनेके कारण यह 'आद्या' कही जाती है॥१८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तामेव विशेषेण स्वरूपतः कार्यतश्च लक्षयति—मिथ्येति त्रिभिः। मिथ्यारूपस्य प्रपञ्चस्य कार्य-कारणजातस्य जननी; यतो मिथ्याभूता या भ्रान्तिर्ज्ञानाज्ञान-मोक्षबन्धनादिरूपा सैव तमस्तत्त्वज्ञानावरकत्वात् तन्मयी, अतः अनिरूप्या इदमित्थन्तया स्वरूपतो निर्देष्टुमशक्या, अनित्याज्ञानेन लयात्; आद्या चिच्छक्तिच्छायारूपत्वात्; जीवानां संसारस्य कारिणी अविद्या-प्रसारणेन संसृति-कारणत्वात्॥१८०॥

भावानुवाद—अब विशेषरूपसे उस जड़ मायाका स्वरूपगत और कार्यगत परिचय प्रदान करनेके लिए 'मिथ्या' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। माया ही मिथ्यारूप प्रपञ्चकी कार्य-कारण जननी है तथा वह ज्ञान-अज्ञान, मोक्ष-बन्धन आदिरूप मिथ्या भ्रान्तिको उत्पन्न करती है। अतएव उक्त माया तमोमयी होनेके कारण तत्त्वज्ञानको ढक लेती है। इसलिए यह 'अनिरूप्या' है अर्थात् इसके स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता है तथा यह 'अनित्या' है अर्थात् जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान होने पर यह माया लीन या विनष्ट हो जाती है। चित्शक्तिकी छाया होनेके कारण उसे 'आद्या' कहा जाता है। यह माया ही जीवके संसारका कारण होनेसे 'अविद्या' कहलाती है अर्थात् अज्ञानका प्रसार कर जीवके आवागमनका कारण है॥१८०॥

अष्टमावरणस्याधिष्ठात्री मूर्त्तिमती हि या।
कार्याकारविकारस्याप्राप्त्या प्रकृतिरुच्यते॥१८१॥

श्लोकानुवाद—यही माया मूर्त्तिमान होकर ब्रह्माण्डके अष्टम आवरणकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें विराजित हैं। किन्तु इस मायाके स्वरूपमें कार्यरूप विकार नहीं है, इसलिए ये 'प्रकृति' शब्दसे भी जानी जाती हैं॥१८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, या मुर्त्तिमती रूपधारिणी सती अष्टमावरणस्याधिष्ठात्री अधिकारिणी, या च प्रकृतिरित्युच्यते। केन हेतुना? कार्याकारस्य कार्य-रूपस्य विकारस्य विक्रियाया अप्राप्त्या प्रकृतिशब्दस्य विकृतिप्रतियोग्यार्थकत्वात्, कारणत्वेनैव तस्या वृत्तेः। इत्थमेव चिद्विलासशक्त्या सह तदंशत्वादिना अभेदाभिप्रायेणानया निजावरणे श्रीगोपकुमारमिमं प्रत्युक्तम्—*'भक्तिमिच्छसि चेद्विष्णोस्तथाप्येतस्य चेटिकाम्। भगिनीं शक्तिरूपां मां कृपया भज भक्तिदाम्॥'* इति॥१८१॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कहते हैं—मूर्त्तिमती होकर अर्थात् रूप धारणकर यह माया अष्टम आवरणकी अधिष्ठात्री है और 'प्रकृति' शब्दसे भी जानी जाती है। किसलिए? कार्यरूप विकारको प्राप्त न होनेके कारण यह 'प्रकृति' शब्दसे भी जानी जाती है। विशेषतः यह प्रकृति विकारका कारण होनेके कारण स्वयं विकृतिके विरोधी है, अर्थात् विकार रहित है। यह मायाशक्ति चिद्विलासरूपा शक्तिकी अंश

होनेके कारण उससे अभिन्न है, अतएव अपने आवरणमें गोपकुमारके आगमन करने पर इस शक्तिने गोपकुमारसे कहा था (श्रीबृहद्भागवतामृतम् २/३/२८)—"यदि भक्तिकी इच्छा करते हो तो भी श्रीविष्णुकी दासी, बहन या शक्ति जानकर मेरा भजन करो। मैं उनकी शक्तिरूपा होनेके कारण श्रीविष्णुभक्ति वर्द्धित करती हूँ तथा बहन होनेके कारण भक्तिदानकर भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करती हूँ" ॥१८१॥

यस्यास्त्वतिक्रमेणैव मुक्तिर्भक्तिश्च सिद्ध्यति।
उत्पादितं यया विश्वमैन्द्रजालिकवन्मृषा ॥१८२॥

श्लोकानुवाद—इस मायाको लाँघनेसे मुक्ति और भक्ति प्राप्त होती है। इसी माया द्वारा जादूगरके जादूकी भाँति यह मिथ्या जगत सृष्ट होता है॥१८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्या मायायाः; यया मायया ऐन्द्रजालिकवत्, यथा ऐन्द्रजालिकेन मिथ्यैव किमपि किमपि दर्श्यते तथा मृषैव उत्पादितम् उत्पाद्य दर्शितम्, मायाया मिथ्याभ्रान्तिविलासमयत्वात्॥१८२॥

भावानुवाद—यह माया ऐन्द्रजालिककी भाँति है अर्थात् जादूगर जिस प्रकार दर्शकोंके सामने कैसी-कैसी विचित्र वस्तुएँ प्रदर्शित करता है, किन्तु वास्तवमें वे समस्त वस्तुएँ मिथ्या भ्रान्ति ही होती हैं। उसी प्रकार माया द्वारा ऐन्द्रजालिककी भाँति यह मिथ्या विश्व सृष्ट होता है, क्योंकि मिथ्या भ्रान्तिको फैलाना ही इस मायाका कार्य है॥१८२॥

शक्त्या सम्पादितं यत्तु स्थिरं सत्यञ्च दृश्यते।
कर्दमप्रभृतीनां तत्तपोयोगादिजं यथा ॥१८३॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌की चित्‌शक्ति द्वारा जो कुछ सृष्ट होता है, वह उसी प्रकार स्थिर और सत्यके रूपमें ही प्रतीत होता है, जिस प्रकार कर्दम आदि ऋषियों द्वारा तप और योगादिसे सृष्ट द्रव्य॥१८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—चिद्विलासशक्तिकृतञ्च सर्वं नित्यञ्च सत्यञ्चेति सदृष्टान्तं युक्त्या दर्शयति—शक्त्येति द्वाभ्याम्। यत्तुद्रव्यं शक्त्या सामर्थ्येन सम्पादितं भवति, तत् स्थिरं चिरस्थायि सत्यञ्च दृश्यते। तत्र दृष्टान्तः—कर्दमेति। प्रभृति-शब्देन सौभर्यादयो गृह्यन्ते। तत् सुप्रसिद्धं कामग-विमानादि तपोयोगादेर्जायत इति तथा

तत्, यथा स्थिरं सत्यञ्च दृश्यते। आदिशब्दान्मणिमन्त्रादि। अयमर्थः—ऐन्द्रजालिकैः कपटपाटवेन लोकानां भ्रमदृष्ट्युत्पादनमात्रेण कृतं सर्वमेव मिथ्याभूतं, क्षणेनैव नश्वरत्वात्, व्यवहाराद्यसिद्धात्तत्त्वतो वृत्त्यभावाच्च। तथा तत्कर्त्तृषु तेषु साफल्याप्राप्तेरपि तपोयोगादिसिद्धेश्च तत्तत्सामर्थ्येन साधितं वस्तु नित्यञ्च सत्यञ्च लोके दृश्यते, तैरेव यथेच्छमुपभुज्यमानत्वात् चिरस्थायित्वाच्च॥१८३॥

भावानुवाद—भगवान्‌की चिद्विलास शक्ति द्वारा किये गये समस्त कार्य नित्य और सत्य हैं। इसे दृष्टान्त तथा युक्ति द्वारा 'शक्त्या' इत्यादि दो श्लोकोंमें दिखला रहे हैं। इस चिद्विलास शक्ति द्वारा जो कुछ भी सृष्ट होता है, वह चिरस्थायी और सत्यरूपमें प्रतीत होता है। इस सम्बन्धमें दृष्टान्त है—कर्दम और सौभरि जैसे ऋषियोंके तपोयोगसे सृष्ट सुप्रसिद्ध कामग-विमान और अट्टालिकादि समस्त वस्तुएँ ही चिरस्थायी और सत्यरूपमें दृष्ट हुई थीं। यहाँ 'आदि' शब्द द्वारा मणि-मन्त्रादिकी सृष्टत्व शक्तिको ग्रहण करना होगा।

इसका तात्पर्य है कि जादूगर जिस प्रकार कपट-पटुता द्वारा समस्त दर्शकोंमें दृष्टिभ्रम उत्पन्नकर नाना-प्रकारके मिथ्या पदार्थ सृष्टि करता है और वे समस्त पदार्थ देखनेवालोंके लिए तात्कालिक सत्यके रूपमें बोध होने पर भी क्षणकालमें उनकी नश्वरता उपलब्ध हो जाती है। विशेषतः उन समस्त पदार्थोंका किसीके द्वारा किसी प्रकारका भी उपयोग सम्भव नहीं होता है। परन्तु तप-योगादि द्वारा सिद्ध पदार्थोंको नित्य और सत्यरूपमें देखा जाता है और उन समस्त पदार्थों द्वारा इच्छानुसार भोग सम्भव होनेके कारण उन समस्त वस्तुओंको चिरस्थायी कहा जाता है॥१८३॥

निःशेषसत्कर्मफलैकदातुर्योगीश्वरैरर्च्यपदाम्बुजस्य ।
कृष्णस्य शक्त्या जनितं तया यन्नित्यञ्च सत्यंच परं हि तद्वत्॥१८४॥

श्लोकानुवाद—योगीश्वरगण भी जिनके चरणकमलोंका अर्चन करते हैं, तपस्यादि सत्कर्मोंके एकमात्र फलदाता उन श्रीकृष्णकी पराशक्ति द्वारा जो कुछ भी सृष्ट होता है, वह श्रीकृष्णकी भाँति ही नित्य और सत्य होता है॥१८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं जीवानां तपादीनां सत्कर्मणां शक्त्या कृतमपि स्थिरं सत्यञ्च दृश्यते। परमेश्वरस्य च महाशक्तिकृतं स्वतएव सर्वथा ततोऽप्युत्कृष्टतरतामेव

घटत इत्याह—निःशेषेति। निःशेषाणां तपादीनां सत्कर्मणां यानि फलानि तेषामेकोऽद्वय एव दाता यस्तस्येत्यर्थः। योगीश्वरैर्महासिद्धैः तया अनिर्वचनीयया चिद्विलासरूपया शक्त्या जनितमाविर्भावितं यत्, हि निश्चये, तत् सर्वं तद्वत् तच्छक्तिवत् कृष्णवद्वा परं परमं नित्यं परं सत्यञ्च स्यादेवेत्यर्थः॥१८४॥

भावानुवाद—इस प्रकार यदि जीवों द्वारा किये गये तप-योगादि सत्कर्मोंकी शक्ति द्वारा सृष्ट वस्तुओंको चिरस्थायी और सत्यरूपमें देखा जाता है, तो समस्त योगीश्वर भी जिनके चरणकमलोंका अर्चन करते हैं और तपस्यादि समस्त सत्कर्मोंके एकमात्र फलदाता परमेश्वर श्रीकृष्णकी महाशक्ति द्वारा सृष्ट वस्तुएँ तो सर्वथा और स्वतः ही तप-योगादिसे उत्पन्न वस्तुओंसे श्रेष्ठतम होंगी—इसे बतलानेके लिए 'निशेष' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अतएव अनिर्वचनीय चिद्विलासरूप शक्तिके द्वारा प्रकटित जो कुछ वस्तुएँ हैं, वे उस शक्तिकी भाँति अथवा शक्तिमान श्रीकृष्णकी भाँति ही परम नित्य और परम सत्यके रूपमें प्रतीत होती हैं॥१८४॥

एवं भगवता तेन श्रीकृष्णेनावतारिणा।
न भिद्यन्तेऽवतारास्ते नित्याः सत्याश्च तादृशाः॥१८५॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण अवतारी हैं, इसलिए उनके जितने भी अवतार हैं, उन समस्त अवतारोंके साथ उनका कोई भेद नहीं है। अतएव वे सभी अवतार अवतारीकी भाँति ही नित्य और सत्य हैं॥१८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य *'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'* (श्रीमद्भा॰ १/३/२८) इत्यादिना प्रतिपाद्यमानं सर्वेभ्योऽवतारेभ्यः श्रीकृष्णदेवस्य माहात्म्यविशेषं वक्ष्यन्नुक्तमेव तत्सादृश्येन तद्रूपाणां नित्यत्वं सत्यत्वञ्चानुवदन्नुपसंहरति—एवमिति। तेन श्रीगोलोकनाथेन सह ते बदरीनाथ-नारायणादयो न भिद्यन्ते भिन्ना न भवन्ति, यतस्तादृशाः श्रीकृष्णतुल्या एव, अतः सर्वेऽपि ते नित्याः सत्याश्च॥१८५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे प्रासंगिक विषयको समाप्तकर 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'—श्रीमद्भागवत (१/३/२८)में निर्धारित प्रमाण द्वारा प्रतिपाद्य विषय अर्थात् समस्त अवतारोंसे श्रीकृष्णका विशेष माहात्म्य स्थापित करनेके अभिप्रायसे उनके सादृश्यवशतः उनके अन्यान्य रूपोंकी भी

नित्यता और सत्यताको बतलानेके लिए 'एवं' इत्यादि श्लोक द्वारा उपसंहार कर रहे हैं। अवतारी गोलोकनाथ श्रीकृष्णके साथ अवतार बद्रीनाथ श्रीनारायणादिका भेद नहीं है, क्योंकि वैसे समस्त अवतार श्रीकृष्णके समान ही हैं, अतः सभी नित्य और सत्य हैं॥१८५॥

एकः स कृष्णो निखिलावतारसमष्टिरूपो विविधैर्महत्त्वैः।
तैस्तैर्निजैः सर्व विलक्षणैर्हि, जयत्यनन्तैर्भगशब्दवाच्यैः॥१८६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि समस्त अवतार श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं, तथापि समस्त अवतार उनकी श्रीमूर्त्तिमें ही विराजित रहते हैं। इसलिए अपनी सर्वविलक्षण 'भग' शब्द-वाच्य विविध महिमाओंके द्वारा श्रीकृष्ण सर्वोपरि जययुक्त रहते हैं॥१८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमभिन्नत्वेऽपि सिद्धेऽवतारित्वादिना तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि श्रीकृष्णस्य परमोत्कर्षः सिद्ध्यतीत्याह—एक इति। निखिलानामवताराणां समष्टिः सूक्ष्मरूपेण वृत्तिः तत्स्वरूपः; यद्वा, तेषां समष्टिः रूपे श्रीमूर्त्तौ यस्य सः, सर्वावतारबीजत्वात्। अतः सर्वेभ्यस्तेभ्यो विलक्षणैः भग-शब्देन वाच्यैः *'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य (वीर्यस्य) यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना॥'* इत्येवमभिधेयैः अनन्तैरपरिच्छिन्नैस्तैस्तैरनिर्वचनीयैर्निजैरसाधारणैः स्वाभाविकैर्वा विविधैर्महत्त्वैर्महिमभिरेकः सः श्रीगोलोकनाथः श्रीकृष्णो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते॥१८६॥

भावानुवाद—इस प्रकार समस्त अवतारोंके अवतारीसे अभिन्न होने पर भी अवतारी श्रीकृष्णके परमोत्कर्षको 'एकः' इत्यादि श्लोक द्वारा स्थापन कर रहे हैं। श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके समष्टिरूप हैं अर्थात् समस्त अवतार सूक्ष्मरूपमें उनकी श्रीमूर्त्तिमें ही विराजित रहते हैं, इसलिए वे ही समस्त अवतारोंके बीज स्वरूप हैं। अतएव वे समस्त अवतारोंसे विलक्षण 'भग' शब्द वाच्य हैं। "समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यशः, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य—इन छः अङ्गोंको 'भग' कहते हैं।" इस प्रकारसे अनन्त, असीम, अनिर्वचनीय और असाधारण या अपनी स्वाभाविक सर्व विलक्षण विविध महिमाओंके द्वारा वे गोलोकनाथ श्रीकृष्ण समस्त प्रकारके उत्कर्षके साथ जययुक्त हो रहे हैं॥१८६॥

नारायणादप्यवतारभावे संव्यज्यमानैर्मधुरैर्मनोज्ञैः।
तत्प्रेमभक्त्यार्द्रहृदेकवेद्यैर्माहात्म्य-वर्गैर्विविधैर्विशिष्टैः ॥१८७॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठनाथ श्रीनारायणसे भी विशेष (विस्तारशील) मधुर, मनोहर तथा सबके चित्तको आकर्षण करनेवाली महिमाके द्वारा ये श्रीकृष्ण अपने अवतारभावसे सर्वोपरि जययुक्त हो रहे हैं। परन्तु जिनके हृदय प्रेमभक्ति द्वारा द्रवीभूत हो चुके हैं, केवल वे ही उनकी महिमाको अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं॥१८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीवैकुण्ठनाथः श्रीनारायणोऽप्यवतारीति श्रूयते, तत् कथं तस्मादपि भेदेन श्रीकृष्णस्य महिमातिशयः सिध्येत्? तत्राह—नारायणादिति। श्रीवैकुण्ठनाथादपि विविधैर्माहात्म्यवर्गैर्विशिष्टः स श्रीकृष्णो जयतीति पूर्वेणैवान्वयः। स विशिष्टो भवतीति वाक्यसमाप्तिर्वा। तत्रहेतुः—अवतारभावे अवतारत्वे सम्यग्व्यज्य-मानैर्विस्तार्यमाणैः, अतो मधुरैः अतएव मनोज्ञैः सर्वचित्ताकर्षकैः। ननु अवतारेभ्योऽव-तारिणोऽपि सकाशात् परमोत्कृष्टास्ते तदीयमाहात्म्यवर्गाः कीदृशाः? इत्यपेक्षयामाह—तस्य कृष्णस्य प्रेमभक्त्या आर्द्रं स्निग्धं हृदयं यस्य तेनैवैकेन; यद्वा, आर्द्रेण हृदा एकेनैव वेद्यैः वेदितुं शक्यैः। अयमर्थः—बदरीनाथ-श्रीनारायणादयोऽवतारा एव, वैकुण्ठनाथ-श्रीनारायणश्चावतारी परमेश्वर एव, श्रीकृष्णस्तु अवतारोऽवतारी च। अतोऽवतारत्वेन विविध-लीलादि-माधुरीणामवतारित्वेन च परमैश्वर्यादीनां युगपदेकस्मिन्नेव तस्मिन् वृत्तेः। तेभ्यस्तस्मादप्ययं श्रेष्ठ एव स्यादिति। तत्तन्महत्वानि चोत्तराध्याये व्यक्तीभविष्यन्ति। यद्दुष्टदमन-हननादि-लीलाया अपि माधुर्यविशेषो न केनचिद्वर्णयितुं तर्कयितुं वा शक्यते, विचारेण तस्य तस्य परमानुग्रह एव पर्यवसानात्। तथा तेन तेन मधुरमधुरप्रकारेण तत्तद्दमन-हननादिकरणाच्च; अस्तु तावत् स्वभक्तजनविषयानुग्रहेण निजरसविशेषेण च कृतभोजन पान-शयन-वेणुवादन-रासक्रीड़ादीनामिति दिक्। अस्य चाग्रे विस्तारो भावी॥१८७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसा सुना जाता है कि वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण भी अवतारी हैं, अतः तब किस प्रकार उनसे भेद अर्थात् श्रेष्ठतावशतः श्रीकृष्णकी अत्यधिक महिमा सिद्ध होती है? इसके उत्तरमें 'नारायणात्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वैकुण्ठनाथ श्रीनारायणसे भी अधिक विविध प्रकारकी विशेष महिमाओंसे युक्त होनेके कारण गोलोकनाथ श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट रूपमें जययुक्त हो रहे हैं। इसका कारण है कि दोनोंके अवतारी होने पर भी गोलोकनाथ

श्रीकृष्णमें अवतारभाव विद्यमान है, अर्थात् वे अवतार रूपमें सम्पूर्णता विस्तारशील मधुर, मनोहर तथा सबके चित्तको आकर्षण करनेवाली महामाधुरीसे युक्त हैं।

यदि कहो कि समस्त अवतारों और अवतारी श्रीनारायणसे भी श्रीकृष्णकी महिमा किस प्रकारसे परमोत्कृष्ट हो सकती है? इसकी आकांक्षामें कहते हैं—जिनका हृदय श्रीकृष्णकी प्रेमभक्तिके प्रभावसे द्रवीभूत हो चुका है, केवल वे ही उस महिमासे अवगत हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि बद्रीनाथ श्रीनारायणादि अवतार हैं और वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण अवतारी परमेश्वर हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं अवतार और अवतारी दोनों रूपोंमें जययुक्त होते हैं। अवतार होनेके कारण विविध-लीलादिकी माधुरी और अवतारी होनेके कारण परमैश्वर्यका श्रीकृष्णमें एक ही कालमें एकसाथ समावेश होता है, इसीलिए श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसे युगपत् ऐश्वर्य और माधुर्यकी महिमा आगेके अध्यायोंमें व्यक्त होगी।

यद्यपि दुष्ट-दमन-हननादि लीलाओंमें जो माधुरी स्फुरण होती है, उसे तर्क द्वारा निश्चय नहीं किया जा सकता, तथापि विचार करनेसे जाना जाता है कि वे मधुर-मधुर प्रकारसे उस दुष्ट-दमनादि लीला द्वारा परम-अनुग्रहका ही प्रकाश करते हैं। इस प्रकार दुष्ट-दमनादिके समय भी उनके माधुर्य विशेषकी हानि नहीं होती है—जिस प्रकार स्तनपान लीलाके बहाने उन्होंने पूतनाका वधकर उसको धात्रीके समान गति प्रदान की थी। अतएव यदि दुष्ट-दमनादि लीलामें भी उनकी परमकृपा प्रकट होती है, तो फिर अपने भक्तोंके प्रति उनके अनुग्रहके विषयमें क्या कहा जाये? श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके विशेष रसके अनुरूप क्रीड़ा करते हैं जैसे—भोजन, पान, शयन, वेणुवादन और रासक्रीड़ादि। इस विषयका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा॥१८७॥

तेषामप्यवताराणां सेवकैः परमं महत्।
लभ्यते सुखमात्मात्मप्रियसेवा-रसानुगम्॥१८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके जितने अवतार हैं, उन समस्त अवतारोंके सेवकगण भी अपने-अपने रसके अनुरूप अपने प्रिय इष्ट-स्वरूपकी सेवा करके महानसुख प्राप्त करते हैं॥१८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत्तर्हि सर्वोत्कृष्ट-महामहिमसागरं श्रीकृष्णदेवमेव सर्वोत्कृष्टसुखलब्धये किमिति सर्वे न सेवन्ते स्व-स्वोपास्य-सेवयापि निज-निज-भावानुरूपमनःपरिपूरकसुखविशेषसिद्धेरित्याह-तेषामिति। आत्मात्मप्रियस्य स्वस्वेष्टदेवस्य सेवारसमनुगच्छति अनुसरतीति। तथा तत् परमं महत् सुखं तेषां सेवकैरपि सर्वैर्लभ्यत एव, अशेषाणामेव तेषां निज-निजभावानुसारेण तत्तद्रसजातीयसुख-चरमकाष्ठासिद्धेः॥१८८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसा होने पर सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त करनेके लिए सभी लोग सर्वोत्कृष्ट महामहिमाके सागर श्रीकृष्णदेवकी सेवा क्यों नहीं करते हैं? इसके उत्तरमें 'तेषाम्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि अपने-अपने उपास्यकी सेवासे भी अपने-अपने भावके अनुरूप हृदयको परिपूर्ण सुख प्राप्त होता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अनन्त अवतार हैं, उनमें जिस मूर्त्तिके द्वारा उन्होंने जिस भक्त पर कृपा की है, वह भक्त उसी मूर्त्तिको अपना प्रिय इष्टदेव मानकर उनकी सेवारूप रसका अनुसरण करते हैं तथा सभी अपने-अपने भावके अनुरूप मनोरथ परिपूरक, अर्थात् अपने-अपने रससे सम्बन्धित सुखकी चरम सीमाको प्राप्त करते हैं॥१८८॥

उपासनानुसारेण दत्ते हि भगवान् फलम्।
न तत्रापरितोषः स्यात् कस्यचित् साध्यलाभतः॥१८९॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान् उन सबकी उपासनाके अनुसार फल प्रदान करते हैं। अतएव अपने साध्य-फलकी प्राप्तिसे किसीके भी चित्तमें असन्तोष नहीं होता है॥१८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सर्वज्ञशिरोमणिर्दयालुसिंहः श्रीभगवानेव सर्वेभ्यस्तेभ्यो निज-निजसेवकेभ्यः सर्वोत्कृष्टतरमेकमेव सुखं कथं न दद्यात्? तत्राह—उपासनेति। नन्वेवं तारतम्यापत्त्या न्यूनसुखसेवकस्यापरितोषः सम्भवेदेव? तत्राह—नेति। तत्र फले सुखे वा अपरितोषः मानसतृप्त्यभावो न स्यात्। कुतः? साध्यस्य स्वस्व-साधनफलस्य लाभतः सिद्धेः॥१८९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सर्वज्ञशिरोमणि तथा सर्वोत्तम दयालु श्रीभगवान् अपने समस्त सेवकोंको एक समान सर्वोत्कृष्टतम सुख क्यों नहीं प्रदान करते हैं? इसकी अपेक्षामें 'उपासना' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान् उपासकोंकी उपासनाके अनुसार ही फल प्रदान करते हैं, अर्थात् जो भक्त जिस भावसे उनका भजन करता है, वे भी उसे उसी भावसे फल प्रदान करते हैं। यदि कहो कि इस प्रकारके तारतम्यवशतः सुखके कम और अधिक होनेसे सेवकोंमें किसी–किसीको असन्तोष होनेकी सम्भावना हो सकती है? इसके लिए कहते हैं कि भगवान्के द्वारा प्रदान किये गये साध्य–फल या सुखमें किसीको भी असन्तोष या अतृप्ति नहीं होती, क्योंकि जो जैसे फलकी आशासे भजन करते हैं, भजनके परिपक्व होने पर वे वैसे–वैसे साध्य–फलको प्राप्त करते हैं। अतः अपने–अपने साधनका फल प्राप्त करनेसे किसीके भी चित्तमें असन्तोष नहीं होता है॥१८९॥

विचित्रलीलाविभवस्य तस्य समुद्रकोटीगहनाशयस्य।
विचित्र–तत्तद्रुचिदानलीला–विभूतिमुत्तर्कयितुं प्रभुः कः॥१९०॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्की लीला विविध रूपमें विस्तार करती है। उनका हृदय करोड़ों समुद्रोंके समान गम्भीर है, अतएव किस अभिप्रायसे श्रीभगवान्ने भक्तोंके हृदयमें पृथक्–पृथक् रुचि प्रदानकर अपनी लीलाके वैभवका विस्तार किया है, इसे तर्कके द्वारा कोई भी निश्चय नहीं कर सकता है॥१९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सर्वज्ञानक्रियाशक्तिप्रवर्तकः हृषिकेशोऽयं सर्वोत्कृष्ट–तरमुपासनमेव सर्वेभ्योऽपि तेभ्यः साम्येन किं न दद्यात्तत्राह—विचित्रेति, विचित्राणां विविधानां तासां तासां रुचीनां भावविशेषाणां रसानां वा दानं तेभ्यो वितरणम्। तानेति पाठे विस्तारणं, तदेव लीला, तस्या विभूतिं वैभवं को जनः उत् उच्चैस्तर्कयितुं प्रभुः शक्तः? अपि तु न कोऽपि; तत्र हेतुः समुद्र–कोटिभ्योऽपि गहनो गम्भीर आशयोऽभिप्रायो यस्य तस्य। विचित्ररुचिविस्तारणे हेतुः—विचित्रा लीलाया विभवा वैभवानि यस्य तस्य, अन्यथा विविधलीलावैभव–माधुर्यासम्पत्तेरिति भावः॥१९०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वे प्रभु समस्त प्रकारके ज्ञान और क्रियाशक्तिके प्रवर्त्तक—हृषीकेश होकर भी अपने सभी भक्तोंको समान रूपसे सर्वोत्कृष्ट उपासनाके प्रति रुचि प्रदान क्यों नहीं करते हैं? इसकी अपेक्षामें 'विचित्र' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णने विचित्र-विचित्र रस आस्वादन करनेके लिए समस्त भक्तोंके हृदयमें विचित्र-विचित्र रुचि अर्थात् विशेष भावका दानकर अपनी लीला-वैभवका विस्तार किया है। विशेषतः उनकी लीलाकी विभूतिको कोई भी तर्कके द्वारा निश्चित नहीं कर सकता है, क्योंकि उन प्रभुका हृदय करोड़ों-करोड़ों समुद्रोंके समान गम्भीर है।

विचित्र रुचिके विस्तारका कारण है कि भगवान्‌को विविध लीला विस्तार द्वारा लीला-माधुर्यके आस्वादनका सुयोग प्राप्त होता है, अन्यथा वैसा माधुर्य आस्वादन सम्भव नहीं होता। इस प्रकारसे भगवान्‌के द्वारा विविध लीला-वैभवका विस्तार करने पर ही भक्तगण अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌की करुणाका अनुभव करते हैं तथा अपने-अपने भावको सर्वोत्कृष्ट मानकर उससे सम्बन्धित रसास्वादन द्वारा कृतार्थ होते हैं॥१९०॥

सिध्येत्तथाप्यत्र कृपा-महिष्ठता, यत्तारतम्येऽपि निज-स्वभावतः।
स्पर्द्धाद्यवृत्तैर्निखिलैर्यथारुचि, प्राप्येत सेवा-सुखमन्त्यसीमगम्॥१९१॥

श्लोकानुवाद—विचित्र रुचिके अनुसार नाना-प्रकारके फलदान करने पर भी श्रीकृष्णकी कृपाकी परम महिमा ही स्थापित होती है। उसमें फलगत तारतम्य रहने पर भी समस्त भक्त अपने-अपने भक्तिमार्गके अनुवर्ती स्वभाववशतः स्पर्धा और मात्सर्यादि दोषशून्य तथा परस्पर प्रीति द्वारा प्रेरित होकर अपनी रुचिके अनुसार परमश्रेष्ठतम सेवासुखको प्राप्त करते हैं॥१९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं वैषम्येण तस्य परमदयालुतारूपमहामहिमा कथं सम्पद्येत? तत्राह—सिध्येदिति। तथापि विचित्ररुचिविस्तारणद्वारा विचित्रविचित्रफलदानेनापि अस्य भगवतः कृपायाः कृपया वा परममहिष्ठता परममहिमा सिध्येदेव। यद्यस्मात्तारतम्ये न्यूनाधिकत्वे सत्यपि निखिलैः सर्वैरपि तैः अन्त्यसीमगं चरमकाष्ठाप्राप्तं यथारुचि निजनिजरसानुसारेण सेवासुखं सेवया सेवारूपं वा सुखं प्राप्येतैव, भगवत्सेवानुभावेन

तत्र कस्याप्यपरितोषाभावात्। ननु तारतम्येन स्वर्गादाविव स्पर्धासूयादि-सम्भवात् सुखबाधा प्रसज्येतैव, तत्राह—निजेन भक्तिमार्गानुवर्तिना स्वभावेन स्पर्धादीनामवृत्तेर-भावाद्धेतोः। आदिशब्देन मदमात्सर्यादिभक्तिमार्गस्वभावेन पूर्वमेव तेषां तत्तदशेषदोष-विनाशादथ चान्योऽन्यं प्रीत्यासक्त्या यथेष्टं सुखप्राप्तिः स्यादेवेति भावः॥१९१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसी विषमता रहनेसे भगवान्‌की परम दयालुतारूप परम महिमा कैसे स्थापित होगी? इसकी अपेक्षामें 'सिध्येत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अपने भक्तोंके हृदयमें विचित्र-विचित्र रुचि उत्पन्न कराकर नाना-प्रकारके फलदान करने पर भी भगवान्‌की परम महिमाकी हानि नहीं होती है, अपितु उनकी कृपाकी परम महिमा ही स्थापित होती है। अतएव फलदानमें तारतम्य रहने पर भी समस्त भक्त अपने-अपने रसके अनुरूप सेवासुखकी चरम सीमाको प्राप्त करते हैं तथा भगवान्‌की वैसी सेवाको प्राप्तकर किसीको भी असन्तोष नहीं होता है। यदि कहो कि तारतम्य रहनेसे स्वर्गादिकी भाँति स्पर्धा और मात्सर्य जैसे दोषोंकी सम्भावनाके कारण सेवासुखमें बाधा उपस्थित हो सकती है? इसके लिए कहते हैं कि भक्तिमार्गका अनुगमन करनेवाले भक्तोंमें अपने-अपने स्वभावके प्रभावसे स्पर्धादि दोषोंके अभाववशतः परस्पर प्रीति ही रहती है। यहाँ 'आदि' शब्दका अर्थ है—भजनके आरम्भमें ही मद-मात्सर्यादि दोषोंके भक्तिमार्गके स्वभाववशतः पूर्णता विनष्ट हो जानेके कारण वे (भक्त) परस्पर प्रीतिसे आसक्त होते हैं, इसलिए निर्मत्सर भक्तोंके द्वारा यथेष्ट सुखको प्राप्त करनेमें कोई बाधा नहीं होती है॥१९१॥

न सच्चिदानन्दघनात्मनां हि स्वल्पेऽपि सौख्ये बहुसौख्यबुद्धिः।
सांसारिकाणामिव नापि तुच्छसुखानुभूतिर्यतिनामिव स्यात्॥१९२॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार सांसारिक विषयी तुच्छ सुखको भी पूर्णसुख मानते हैं और यतिगण आत्मगत-ज्ञान द्वारा मोक्षरूप तुच्छ सुखके अनुभवसे परितृप्त होते हैं, किन्तु सच्चिदानन्दघन स्वरूपसे युक्त भक्त वैसे अल्पसुखको महान सुखके रूपमें नहीं मानते हैं॥१९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु न्यूनसुखेऽपि पूर्णबुद्धिरज्ञानाद्घटत एव, तत्राह—नेति। सांसारिकाणां विषयलम्पटानां यथा तुच्छेऽपि विषयसुखे बहुमतिः स्यात्तथा तेषां

न्यूनसुखे पूर्णसुखबुद्धिर्न भवतीत्यर्थः। किञ्च, यथा च यतीनां संन्यासिनां स्वरूप-मात्रज्ञानेन मोक्षप्राप्त्या तुच्छसुखप्राप्तिः स्यात्, तथा तुच्छसुखस्य अनुभूतिः साक्षात् प्राप्तिरेव तेषां नापि स्यात्। उभयत्र हेतुः, सच्चिदानन्दघन आत्मा स्वरूपं विग्रहो वा येषां तेषामिति ज्ञानघनत्वात्तेषां कस्याप्यज्ञानं न सम्भवेदेव येन न्यूनेऽपि पूर्णबुद्धिः स्यात्, नापि कस्यापि न्यूनसुखप्राप्तिरेव तेषामेवानन्दघनत्वादित्यर्थः॥१९२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अल्पसुखमें पूर्ण सुखकी बुद्धि तो अज्ञानके प्रभावसे ही संघटित होती है। इसके समाधानके लिए 'न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। सांसारिक विषय-लम्पट व्यक्ति जिस प्रकार तुच्छ विषयसुखको भी महानसुख मानते हैं, किन्तु भक्त वैसे अल्पसुखको पूर्णसुख नहीं मानते हैं। तथा यतिगण भी मात्र आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्षरूप तुच्छ सुखकी आशा करते हैं, किन्तु उन्हें उस तुच्छसुखका साक्षात् अनुभव भी नहीं होता है। अपने सच्चिदानन्दघन आत्म स्वरूपका अनुभव न कर पानेके कारण सांसारिक और यति—दोनों प्रकारके लोग अल्पसुखको ही पूर्णसुख मानते हैं। अपने स्वरूपका ज्ञान होने पर अज्ञान रहना सम्भव नहीं होता, अतः भक्त कभी भी अल्पसुखको अधिकसुख नहीं मानते, क्योंकि वे स्वयं ही आनन्दघन हैं॥१९२॥

तारतम्यन्तु कल्प्येत स्व-स्व-सेवानुसारतः।
तत्तद्रससजातीयसुखवैचित्र्यपेक्षया ॥१९३॥

श्लोकानुवाद—भक्तोंमें अपनी-अपनी सेवा तथा अपने-अपने रस-जातीय सुखकी विचित्रताके अनुसार तारतम्य कल्पित होता है॥१९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि भावभेदेन तदनुरूपफलप्राप्त्या उक्तं तारतम्यं कथं सिध्येत्तत्राह—तारतम्यमिति। स्वस्वसेवाया अनुसारतः अनुसरणेन ये ते नानाविधा रसा भावविशेषाः तेषां स्वजातीयस्य तत्तद्रसजात्यनुरूपस्य सुखस्य वैचित्रीणामपेक्षया अभिप्रायेण तारतम्यं कल्प्येत, न तु सुखादेस्तत्त्वतो न्यूनाधिकतयेत्यर्थः। अयं भावः, श्रवणकीर्त्तनादीनां भक्तिप्रकाराणां मध्ये तथा वैकुण्ठादौ महाप्रभोः साक्षात् पादसम्वाहन-केशप्रसाधन-द्वारपालनादि-सेवाप्रकाराणाञ्च मध्ये यं प्रकारं यद्रूपे भगवति यः प्रीत्यानुतिष्ठति, तस्य तत्प्रकारेण तस्मिन्नेव भगवद्रूपे प्रेमविशेषबुद्ध्या निजसेवानुरूप-सुखपरमकाष्ठाप्राप्तिः स्यादेव। तत्र च स्वस्वरुच्यनुसारेण श्रवणादीनां पादसम्वाहनादीनां च तारतम्यानुमननात्तत्सुखस्यापि तारतम्यकल्पनया तदनुभविनामपि

तारतम्यं यथा कल्प्यते, तथात्र निजनिजेष्ठ-देवोपासनेऽपीति केषाञ्चिन्मते चास्तां वा विचारेण तत्त्वतः सेवादितारतम्यं, तथापि तस्य तस्य तत्र तत्रैव रसविशेषेण न्यूनतादृष्ट्यसद्भावात् मनस्तृप्त्या पूर्णसुखानुभवः स्यादेव, इत्थं तारतम्यकल्पना स्वतः सिध्यत्येवेति दिक्॥१९३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि समस्त भक्त ही यदि अपने-अपने रसके अनुसार सुखकी चरम सीमाको प्राप्त करते हैं, तब भावभेदके अनुरूप फल प्राप्त होनेसे उक्त सुखका तारतम्य कैसे सङ्गत हो सकता है? इसके समाधानके लिए 'तारतम्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अपनी-अपनी सेवाके अनुसार जो नाना-प्रकारके रस या भावविशेष स्फुरित होते हैं, उन-उन रसों अर्थात् भावोंके अनुरूप सुखकी वैचित्री रहनेके अभिप्रायसे उस अनुभव किये गये सुखमें भी तारतम्य कल्पित होता है, किन्तु तत्त्वतः उस सुखमें तारतम्य नहीं है।

इसका अर्थ है कि श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिके प्रकारोंमें और वैकुण्ठ आदि स्थानोंमें श्रीभगवान्के साक्षात् पाद-सम्वाहन (चरणोंको दबाना), केश-प्रसाधन (बालोंको संवारना), द्वार-पालनादि विभिन्न सेवाओंमें जो जिस प्रकारसे भगवान्के जिस रूपके प्रति जैसी प्रीतिपूर्ण सेवा करते हैं, वे उस प्रकारकी सेवाके द्वारा भगवान्के उसी रूपके प्रति प्रेमविशेष उदित होनेके कारण अपनी सेवाके अनुरूप सुखकी चरम सीमाको प्राप्त करते हैं। इसमें भी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किये गये श्रवण-कीर्त्तन और पाद-सम्वाहनादि सेवाओंमें तारतम्य रहनेके कारण ही उस सेवा द्वारा अनुभव किये गये सुख और उसका अनुभव करनेवाले भक्तोंमें तारतम्य कल्पित होता है। इस प्रकारसे किसी-किसीके मतानुसार अपने-अपने इष्टदेवकी उपासनामें भी तारतम्य कल्पित होता है, किन्तु तत्त्व विचारसे ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह तारतम्य सेवादिसे उत्पन्न होता है। तथापि समस्त भक्तोंमें अपने-अपने रसविशेषसे उदित सुखमें न्यूनता नहीं देखी जाती है, इसलिए वे सभी मनकी तृप्तिवशतः पूर्णसुखका ही अनुभव करते हैं। अतः ऐसे फलस्वरूप सुखमें तारतम्यकी कल्पना स्वतः ही सिद्ध होती है॥१९३॥

वैकुण्ठवासिनो ह्येते केचिद्वै नित्यपार्षदाः।
परे कृष्णस्य कृपया साधयित्वेममागताः ॥१९४॥

श्लोकानुवाद—हे गोपकुमार! वैकुण्ठवासियोंमें कोई-कोई नित्य पार्षद हैं और कोई-कोई श्रीकृष्णकी कृपासे साधन करके इस वैकुण्ठमें उपस्थित हुए हैं॥१९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सच्चिदानन्दघनात्मनामित्यनेन सेवकानामपि सच्चिदानन्द-घनविग्रहोक्त्या श्रीभगवता सह भेदापगमात् कथं सेव्य-सेवकता घटेत? तत्राह—वैकुण्ठेति षड्भिः। केचिच्छ्रीशेष-गरुड़ादयः, परे तु जय-विजयादयो भरत-प्रियव्रतादयो वा, इमं श्रीवैकुण्ठलोकं साधयित्वा आगताः सम्यक्प्राप्ताः साधकत्वेनाधुनिकाः पार्षदा इत्यर्थः॥१९४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठवासी सेवकोंका विग्रह सच्चिदानन्दघन है और श्रीभगवान् भी उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन मूर्त्ति हैं, तब भेदके दूर होने पर दोनोंके बीच सेव्य-सेवक सम्बन्ध किस प्रकार संघटित हो सकता है? इसके समाधानमें 'वैकुण्ठ' इत्यादि छह श्लोक कह रहे हैं। इन वैकुण्ठवासी सेवकोंमें कोई-कोई जैसे श्रीशेष, गरुड़ादि नित्य पार्षद हैं, किन्तु जय-विजयादि और भरत-प्रियव्रतादि साधन करके इस वैकुण्ठलोकमें आये हैं, इसलिए इन्हें आधुनिक (नवीन) पार्षद कहा जा सकता है॥१९४॥

भजनानन्द-साम्येऽपि भेदः कश्चित् प्रकल्प्यते।
बाह्यान्तरीणभावेन दूरपार्श्वस्थतादिना ॥१९५॥

श्लोकानुवाद—इन सभीके भजनके आनन्दमें समानता रहने पर भी किसी-किसी अंशमें भेद भी कल्पित होता है। जैसे भगवान्‌की बाह्यसेवाके कारण कोई दूरमें रहते हैं और कोई अन्तरङ्ग सेवाके कारण उनके निकट रहते हैं। इस प्रकार निकट और दूरका भेद कल्पित होता है॥१९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु एवं भेदापत्त्या फलेऽपि भेदः प्रसज्येतैव, अन्यथा नित्यत्वाधुनिकत्वयोर्विशेषानुपपत्तेस्तत्राह—भजनेति। द्विप्रकाराणामेषां भजनानन्दसाम्येऽपि कश्चित् स्वल्पो भेदः कल्प्यते। कथम्? बाह्यभावेन बहिर्वृत्तितया अन्तरीणभावेन अन्तर्वर्तितया तत्रापि दूरस्थतया पार्श्वस्थतया चेत्यर्थः। आदिशब्दात् भूतलाद्यवतरणसमये

प्रभोः सङ्गे गमनागमनादि; एवं फले भेदो नास्त्येव केवलं सेवादिभेदः, केषाञ्चिन्मते अस्तु सेवादिभेदेन फलभेदोऽपि; तथापि तत्त्वतो नातीव भेदः प्रसज्येत, तच्चोक्तमेव॥१९५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकारसे पार्षदोंमें भेद कल्पित होनेसे उनके द्वारा प्राप्त फलोंमें भी भेद होता होगा, अन्यथा नित्यपार्षद और आधुनिक पार्षद—ऐसे विशेष ज्ञानमें असङ्गति होगी? इसके समाधानके लिए 'भजन' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इन दो प्रकारके पार्षदोंके भजनानन्दमें समानता रहने पर भी कभी-कभी उनमें स्वल्पमात्र भेद कल्पित होता है। यह भेद किस प्रकारका होता है? बाह्यभावसे बहिर्वृत्ति तथा अन्तर्भावसे अन्तर्वृत्ति, अर्थात् बाह्यभावमें कोई-कोई सेवावशतः दूर रहते हैं और कोई-कोई अन्तरङ्ग भावसे प्रभुके निकटमें रहते हैं। यहाँ 'आदि' शब्दका अर्थ है कि भूतलादिमें अवतरणके समयमें कोई-कोई प्रभुके साथ गमन करते हैं। इस प्रकारसे फलका भेद न रहने पर भी केवल सेवामें भेद रहता है। किसी-किसीके मतानुसार सेवामें भेद होनेसे फलमें भी भेद होता है, तथापि तत्त्वतः कोई विशेष भेद नहीं होता है, इसे पहले ही कहा गया है॥१९५॥

यद्यप्येषां हि नित्यत्वात् साम्यं भगवतो भवेत्।
सेव्यसेवकताप्यास्ते नित्या सत्या स्वभावतः॥१९६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि नित्य होनेके कारण सभी सेवकोंकी भगवान्के साथ समानता सिद्ध होती है, तथापि सेव्य-सेवकका स्वभावगत भाव भी नित्य और सत्य होनेके कारण दोनोंमें भेद है॥१९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमाधुनिकानां भगवता सह भेदः सिध्यत्येव, नूतनत्वात्तेषाञ्च पूर्वपूर्वाभ्यासबलेन स्वत एव भगवति सेवकता सिद्धैव। नित्यानाञ्च को भेदः, येन सेवकता घटेत? तत्राह—यद्यपीति। एषां श्रीशेष-गरुड़ादीनाम्। अयमर्थः—यथा नित्यं साम्यमस्ति तथा नित्या सत्या च स्वभावतः सेव्यसेवकताप्यास्ते। अतो भगवतः सदा सेव्यत्वेनैव वृत्तिस्तेषाञ्च सदा सेवकतयैव, तच्च स्वभावप्राप्तमेवेति तत्र युक्तिरपि नापेक्ष्येति॥१९६॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे आधुनिक पार्षदोंका भगवान्के साथ भेद स्थापित हो सकता है, क्योंकि नवीन होनेके कारण उनके पूर्व-पूर्व

अभ्यासवशतः स्वतः ही उनका सेवक होना सिद्ध होता है। किन्तु नित्य पार्षदोंके साथ किस प्रकारसे सेव्य-सेवकका भेद घटित होगा? जिस प्रकार इन श्रीशेष और गरुड़ादि नित्य पार्षदोंकी सच्चिदानन्द धर्मवशतः श्रीभगवान्‌के साथ नित्य समानता और नित्य सत्यता है, उसी प्रकार उनमें स्वाभवतः सेव्य-सेवक भाव भी विद्यमान है। अतः भगवान्‌में सदैव सेव्यवृत्ति तथा पार्षदोंमें सदा सेवकवृत्ति स्वभावतः विद्यमान रहती है। इसमें अन्य किसी युक्ति-तर्कका स्थान नहीं है॥१९६॥

सच्चिदानन्दसान्द्रत्वाच्चैषां भगवता सह।
साम्येऽपि भजनानन्दमाधुर्याकर्षविद्यया॥१९७॥
कयाचिदनयातर्क्यनानामधुरिमार्णवे।
तस्मिन् श्रीकृष्ण-पादाब्जे घटते दासता सदा॥१९८॥

श्लोकानुवाद—भगवान् और नित्य पार्षदोंमें सच्चिदानन्द स्वरूपवशतः समानता रहने पर भी भगवान्‌के भजनानन्द माधुर्यकी आकर्षक विद्या सेवकोंको किसी एक तर्कसे अतीत नाना वैचित्र्यमय माधुर्यसागर सदृश श्रीकृष्णके चरणकमलोंके दास स्वरूपमें ही सर्वदा निमग्न रखती है॥१९७-१९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—युक्तिमपि दर्शयति—सदिति द्वाभ्याम्। कयाचिदनिर्वचनीयया अनया पूर्वपूर्वाभ्यासवशेन सदा स्वतः सम्पद्यमानया; यद्वा, अस्माभिः पार्षदगणैः सदा साक्षादनुभूयमानया भजनानन्द-माधुर्या आकर्ष-विद्यारूपया, एकं पदं वा, भजनानन्दमाधुर्येवाकर्षविद्या तया। तस्मिन् अनिर्वचनीयमहिमनि श्रीमत्कृष्णपादाब्जे विषये एषा नित्यपार्षदानामपि दासता सदा घटत एवेत्यन्वयः। तत्र हेतुः—अतर्क्याणां तर्कयितुमप्यशक्यानां नानारूपाणां मधुरिम्णामर्णव इति तेभ्योऽपि तस्मिन् तादृशोऽचिन्त्योऽद्भुतविविधमहिममाधुरीविशेषो वर्त्तते, येन तेऽपि तद्भजने समाकृष्यन्त इति भावः; अन्यथा सदा सेव्यसेवकतानुपपत्तेः॥१९७-१९८॥

भावानुवाद—उक्त विषयमें युक्ति प्रदर्शन करनेके लिए 'सत्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। किसी अनिर्वचनीय भजनमाधुरी द्वारा पूर्व-पूर्व अभ्यासवशतः आधुनिक भक्तोंकी श्रीभगवान्‌के प्रति सेवाकी भावना सर्वदा स्वतः ही सम्पादित होती है। अथवा हम पार्षदों द्वारा सदा

साक्षात् अनुभवकी जानेवाली भजनानन्द माधुरीकी आकर्षणी विद्या द्वारा आकर्षित होकर सेव्य–सेवक रूप भेद विद्यमान रहता है तथा अविर्नचनीय महिमासे युक्त श्रीकृष्णके चरणकमलोंके दासरूपमें नित्य पार्षदगण भी सर्वदा निमग्न रहते हैं। इसका कारण है कि श्रीकृष्णके चरणकमल अतर्क्य अर्थात् तर्क द्वारा निश्चय करनेमें अक्षम नाना–प्रकारकी मधुरिमाके सागर हैं। यदि उनमें ऐसी अचिन्त्य, अद्भुत, विविध माधुरी विशेष विद्यमान न रहती, तब उनके प्रति चित्त आकर्षित नहीं होता अथवा सेव्य–सेवकभाव भी सर्वदा विद्यमान न रहता॥१९७–१९८॥

तैः सच्चिदानन्दघनैरशेषैः श्रीकृष्णदेवस्य यथावतारैः।
ख्यातोऽवतारित्वमृतेऽपि साम्ये तैस्तैर्महत्त्वैर्मधुरैर्विशेषः॥१९९॥

श्लोकानुवाद—सच्चिदानन्दघन समस्त अवतारोंसे अवतारी श्रीकृष्णके अभिन्न होने पर भी अपनी अनिर्वचनीय सुप्रसिद्ध विविध महिमाओं द्वारा स्वभावतः ही श्रीकृष्णकी अवतारोंसे विशेषता है। उसी प्रकार भगवान् और उनके समस्त नित्य पार्षदोंके सच्चिदानन्द–विग्रहरूपमें अभिन्न होने पर भी विचित्र लीला माधुरी और महिमा द्वारा पार्षदोंसे भी भगवान्‌की विशेषता स्वतः ही सिद्ध होती है॥१९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सच्चिदानन्दघनत्वेनाविशेषप्रतीतेः कथं तादृशो विशेषः प्रतीयेतेत्याशङ्क्य साम्येऽपि भेदसम्भवं दृष्टान्तेन साधयति—तैरिति। उक्तैर्नारायणादि–भिरवतारैः सह श्रीकृष्णदेवस्य गोलोकनाथस्य साम्ये सच्चिदानन्दघनत्वेन अभेदे सत्यपि यथा तैस्तैरनिर्वचनीयैः सुप्रसिद्धैर्वा विविधैर्महत्त्वैर्माहात्म्यै(मधुरैः)र्विशेषैस्तेभ्यः सकाशात्तस्य विशेषः वैशिष्ट्यं ख्यातः विख्यातः कथितो वा पौराणिकादिभिः तथेति। नन्ववतारित्वेन तस्य तेभ्यो विशेषो घटत एव, तत्राह—अवतारित्वम् ऋते विनापीति। अपि–शब्देन अवतारितया विशेषस्तु स्वत एव सिध्यतीति सूचितम्। अयमर्थः—सच्चिदानन्दघनविग्रहत्वेन साम्येऽपि अवतारित्वेन तत्तदशेषनिधानतया, तथावतारत्वेनापि विचित्रलीलादिमाधुरीविशेषेण यथा तेभ्योऽशेषावतारेभ्यः श्रीकृष्णस्य विशेषः प्रसिद्धः, एवं पार्षदेभ्यस्तेभ्योऽपि सकाशाद्भगवत्ताभिधेय–स्वाभाविक–परमैश्वर्यविशेषापेक्षया, तथानन्यसाधारण–मधुरमधुरविचित्र–सौन्दर्यादि–महिमविशेष–दृष्ट्या भगवतो महान् विशेषः सिध्यत्येव; अन्यथा सदा परमभावेन तेषां तस्मिन् विचित्रभजनरसानुपपत्तेरिति दिक्॥१९९॥

भावानुवाद—यदि कहो कि अवतारी और अवतारोंके सच्चिदानन्दघन होनेके कारण अभेद प्रतीतिके बीचमें भेद प्रतीति कैसे होगी? इस आशंकाके निराकरणके लिए समानताके बीचमें भी जो भेद सम्भव है, उसे दृष्टान्त द्वारा 'तैः' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। सच्चिदानन्दघन-विग्रह श्रीनारायण आदि अनन्त अवतारोंके साथ गोलोकनाथ श्रीकृष्णकी सच्चिदानन्दघन रूपमें समानता होने पर भी वे गोलोकनाथ अपनी अनिर्वचनीय अथवा सुप्रसिद्ध विविध महिमाओं, अर्थात् विशेष माधुरी द्वारा उन अवतारोंकी तुलनामें स्वभावतः ही विशेषताओंसे युक्त हैं। समस्त पौराणिक भी ऐसा ही कहते हैं। यदि कहो कि अवतारी होनेके कारण उनमें कोई विशेषता होगी? इसके लिए कहते हैं—अवतारी होनेके कारण उनकी विशेषता स्वतः सिद्ध है।

इसका अर्थ है कि सच्चिदानन्दघन विग्रहवशतः अवतार और अवतारीमें समानता होने पर भी अवतारी होनेके कारण श्रीकृष्ण उन सबके आधार हैं तथा अपने अवताररूपमें भी विचित्र लीला माधुरी विशेष द्वारा अन्यान्य अवतारोंकी तुलनामें श्रीकृष्णकी विशेषता प्रसिद्ध है। उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन रूपमें पार्षदों और भगवान्‌में समानता रहने पर भी पार्षदोंकी तुलनामें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका प्रतिपादन करनेवाले स्वाभाविक परम-ऐश्वर्य विशेष तथा अनन्य (अर्थात् जिस सौन्दर्य-माधुर्यका एकमात्र स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अलावा भगवान्‌के अन्य किसी स्वरूपमें प्रकाश नहीं है) और असाधारण, मधुरसे भी मधुर नाना-प्रकारके सौन्दर्य आदि विशेष महिमाओंको देखकर श्रीकृष्णकी महान विशेषता स्वतः ही सिद्ध होती है। अन्यथा उनके पार्षदोंके द्वारा सर्वदा ही परम भावोंके साथ श्रीकृष्णके नाना-प्रकारके भजनरसरूप सुखका अनुभव करना सम्भव नहीं होता॥१९९॥

वदन्ति केचिद्भगवान् हि कृष्णः, सुसच्चिदानन्दघनैकमूर्त्तिः।
स यत् परं ब्रह्म परे तु सर्वे, तत्पार्षदा ब्रह्ममया विमुक्ताः॥२००॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, क्योंकि वे सच्चिदानन्दघनैक विग्रह हैं और उनके समस्त पार्षद भी विमुक्त ब्रह्मस्वरूप हैं॥२००॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्वमतं निरूप्य तत्रैव मतान्तरमाह—वदन्तीति द्वाभ्याम्। भगवान् श्रीकृष्ण एव सुशोभनो मधुरमधुरो यः सच्चिदानन्दः तद्घना एका असाधारणी मूर्त्तिः श्रीविग्रहो यस्य तथाभूतः। यद्यस्मात् सः कृष्णः परं ब्रह्म, परे तस्मादन्ये तु तस्य पार्षदाः श्रीशेष-गरुड़ादयः सर्व एव ब्रह्ममयाः; स्वरूपे मयट्, ब्रह्मस्वरूपा इत्यर्थः। तर्हि मुक्तेभ्यस्तेषां को विशेषस्तत्राह—विमुक्ता वैकुण्ठलोक-प्राप्त्या मुक्तिविशेष-भाज इत्यर्थः॥२००॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे अपने मतका निरूपणकर 'वदन्ति' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा श्रीनारद अन्य मत कह रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सुशोभित मधुरसे भी मधुर मूर्त्तिधारी अर्थात् सच्चिदानन्दघन असाधारण मूर्त्ति हैं। जिस प्रकार वे श्रीकृष्ण परमब्रह्म हैं, उसी प्रकार उनके श्रीशेष-गरुड़ादि सभी पार्षद भी ब्रह्ममय हैं। ऐसा होने पर मुक्तजनोंसे उन पार्षदोंकी विशेषता क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि विमुक्त अर्थात् वैकुण्ठलोककी प्राप्ति द्वारा साधारण मुक्तगणोंकी तुलनामें वे विशेष प्रकारकी मुक्तिके योग्य हुए हैं॥२००॥

भक्त्यानन्दविशेषाय लीलाविग्रहधारिणः।
तया भगवतः शक्त्या चिद्विलास-स्वरूपया॥२०१॥

श्लोकानुवाद—परन्तु भक्तिके विशेष आनन्दको अनुभव करनेके लिए ही भक्त भगवान्की चिद्विलास स्वरूपशक्ति द्वारा लीलावशतः स्वेच्छापूर्वक विग्रह धारण करते हैं॥२०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथमित्यपेक्षायामाह—भक्त्येति, भक्त्या भगवद्भजनेन भक्तिरूपो वा य आनन्दविशेषस्तस्मै; लीलया लीलामयं वा विग्रहं धारयन्तीत्यर्थः। ननु ब्रह्मरूपतां प्राप्तानां कथं भेदेन लीलयापि विग्रहधारित्वं सम्भवति? तत्राह—तयेति। एतदुक्तार्थमेव; एषाञ्च मते सेव्यसेवकता स्पष्टेव। यदि च वक्तव्यं, ब्रह्मरूपत्वेन मुक्तानामिव भक्तानां तेषां स्वल्पमेव सुखं घटते, न तु मुक्तेभ्योऽधिकं, सच्चिदानन्दघनत्वाद्भावेन प्रायो मुक्तसादृश्यापत्तेरिति। तदा मुक्तेभ्योऽप्यधिकं घनसुखं तेषां सम्पद्यत इत्येव सिद्धान्तो जीवस्वरूपभूतस्येत्यादिना प्रागुक्त एवात्र द्रष्टव्यः। ततः सर्वं निरवद्यमिति दिक्॥२०१॥

भावानुवाद—उस विशेष मुक्तिका प्रकार कैसा है? इसकी अपेक्षामें 'भक्त्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भक्तगण भगवान्के भजन अर्थात्

भक्तिके विशेष आनन्दको प्राप्त करनेके लिए लीलावशतः विग्रह धारण करते हैं। यदि आपत्ति हो कि ब्रह्मरूपता (अर्थात् ब्रह्मसे ऐक्य रूप मुक्ति) प्राप्त मुक्तजनोंके लिए किस प्रकार भेदरूपमें लीलावशतः भी विग्रह धारण करना सम्भव होता है? इसके लिए कहते हैं कि भक्तगण भगवान्‌की चिद्विलासरूप लीलाशक्तिके प्रभावसे विग्रह धारण करते हैं। अतएव इस मतके अनुसार भी सेव्य-सेवक सम्बन्ध स्पष्टरूपसे व्यक्त हुआ है।

यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रह्मरूप होनेके कारण मुक्तजनोंकी भाँति भक्तोंको भी स्वल्पमात्र सुख ही प्राप्त होता है, मुक्तगणोंसे अधिक नहीं; अर्थात् सच्चिदानन्दघनत्वके अभावमें उन्हें प्राय मुक्तजनोंके समान ही सुख प्राप्त होता है। तथापि इस विषयमें सिद्धान्त यह है कि भक्तोंकी मूर्त्ति सच्चिदानन्दघन होनेके कारण उनमें मुक्तोंकी तुलनामें अधिक घनसुख स्वतः ही उत्पन्न होता है। इसका कारण पहले ही अर्थात् श्रीबृहद्भागवतामृतम् (२/२/१७६)में कथित हुआ है कि मुक्तगणोंका आनन्द जीवस्वरूप ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतः अल्प आनन्द ही होता है। इसके द्वारा समस्त विषयोंका सुसामञ्जस्य होता है॥२०१॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

पृष्टं मयेदं भगवन् धरातले, तिष्ठन्ति याः श्रीप्रतिमा महाप्रभोः।
ताः सच्चिदानन्दघनास्त्वया मता, नीलाद्रिनाथः पुरुषोत्तमो यथा॥२०२॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! मैंने पुनः श्रीनारदसे पूछा—"हे भगवन्! पृथ्वी पर भगवान्‌के जितने भी श्रीविग्रह विराजमान हैं, आपके मतमें क्या वे सब नीलाचलपति श्रीपुरुषोत्तमके समान सच्चिदानन्दघन स्वरूप ही हैं?"॥२०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रसङ्गादुक्तं स्थिराणां श्रीभगवन्मूर्त्तीनां माहात्म्यं श्रुत्वा तदर्चने महामहाफलं मन्यमानस्तद्विरुद्धवचनार्थतो जायमानं तत्र संशयं निराकर्त्तुं सिद्धान्तान्तरमुत्थापयति—पृष्टमिति। किन्तदाह—भगवन्नित्यादि। हे श्रीनारद! यथा पुरुषोत्तमः श्रीजगन्नाथदेवस्तथैव ताः श्रीप्रतिमा अपि सच्चिदानन्दघना एव त्वया मताः; *'ते सच्चिदानन्दघना हि सर्वे'* इत्युक्तत्वात्॥२०२॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रसंगक्रमसे कथित श्रीभगवान्‌की अचल प्रतिमाओंका माहात्म्य श्रवणकर और उनके अर्चन द्वारा महा-महा फल प्राप्तिकी बातको गोपकुमारने मन-ही-मन स्थिर किया तथा उसके विरुद्ध वाक्योंके अर्थों द्वारा उत्पन्न संशयोंके निराकरणके लिए 'पृष्टम्' इत्यादि श्लोक द्वारा अन्य सिद्धान्त उत्थापित कर रहे हैं। इसके बाद श्रीगोपकुमारने कहा—हे श्रीनारद! पृथ्वी पर श्रीभगवान्‌की जितनी भी प्रतिमाएँ विराजित हैं, वे समस्त क्या पुरुषोत्तम श्रीजगन्नाथके समान सच्चिदानन्दघन स्वरूप हैं?॥२०२॥

एकोऽपि भगवान् सान्द्रसच्चिदानन्दविग्रहः।
कृपया तत्र तत्रास्ते तत्तद्रूपेण लीलया॥२०३॥

श्लोकानुवाद—एक सच्चिदानन्द विग्रह भगवान् ही समस्त भक्तोंके प्रति कृपा प्रकाशकर पृथक्-पृथक् स्वरूपमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर लीलावशतः विराजित हैं॥२०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तदुक्तमेव हेतुं निर्दिशति—एकोऽपीति। भगवान् श्रीपुरुषोत्तमः श्रीकृष्णदेवो वा तत्र तत्र वर्षपुर्यादिस्थाने तेन तेन रूपेण श्रीमूर्त्तिना प्रकारेण वा कृपया निजभक्तानुग्रहेण सर्वलोकहितार्थं वा, लीलया हेतुना आस्ते वर्त्तते॥२०३॥

भावानुवाद—उन समस्त प्रतिमाओंके सच्चिदानन्दघन होनेका कारण निर्देश करनेके लिए 'एकोऽपि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। एक सच्चिदानन्दघन विग्रह भगवान् श्रीपुरुषोत्तम अथवा श्रीकृष्ण विभिन्न वर्षों और पुरी आदि धामोंमें भिन्न-भिन्न रूपों अर्थात् प्रतिमाओंमें समस्त भक्तोंके प्रति कृपा वितरण करनेके लिए या समस्त लोगोंके हितके लिए लीलावशतः विराजित हैं॥२०३॥

तत् सर्व-नैरपेक्ष्येण को दोषः स्यात्तदर्चने।
कथञ्चित् क्रियमाणेऽपि महालाभोऽपि बुध्यते॥२०४॥

श्लोकानुवाद—अतएव समस्त प्रकारके साधनोंका परित्यागकर उन प्रतिमाओंका अर्चन करनेमें क्या दोष हो सकता है? अपितु विचार

करने पर बोध होता है कि किसी भी प्रकारसे प्रतिमाका अर्चन करनेसे परम लाभ ही होता है॥२०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात् सर्वेषु धर्म-कर्मयोगादिषु नैरपेक्ष्येण औदासीन्येन तासां प्रतिमानामर्चने को नाम विशेषः स्यात्, प्रत्युत केनचित् प्रकारेणापि क्रियमाणे तदर्चने महान् लाभ एव गुणः फलं वा बुध्यते विचारेणावगम्यते, एकत्रैवाशेषभक्ति-प्रकाराणां सिद्धेः॥२०४॥

भावानुवाद—समस्त प्रकारके धर्म-कर्म योगादिके प्रति निरपेक्ष होकर अर्थात् समस्त प्रकारके साधनोंका परित्यागकर उन प्रतिमाओंका अर्चन करनेसे क्या दोष हो सकता है? अपितु जिस किसी प्रकारसे भी प्रतिमाका अर्चन करनेसे परम लाभ अर्थात् महान फल ही होता है। विचार द्वारा भी ऐसा ही बोध होता है, क्योंकि अर्चनमें एक साथ समस्त प्रकारकी भक्ति सिद्ध होती है॥२०४॥

ततः कथं पुराणेभ्यः श्रूयन्ते तत्तदुक्तयः।
अप्रमाणञ्च ता न स्युर्महन्मुख-विनिःसृताः॥२०५॥

श्लोकानुवाद—हे भगवन्! तब किसलिए पुराणोंमें अर्चनके सम्बन्धमें विपरीत वचन (दोष) श्रवण किये जाते हैं? वे समस्त वचन अप्रमाणिक भी नहीं लगते हैं, क्योंकि वे वाक्य महापुरुषोंके मुखसे निकले हैं॥२०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्र दोषः केनोच्येत? तत्राह—तत इति। यदि लाभ एव स्यात्, ततस्तदा तास्ता उक्तयो वचनानि कथं श्रूयन्ते? तथा हि—*'अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४७) इति। *'यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वार्चां भजते मोढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥'* (श्रीमद्भा॰ ३/२९/२२) इति। *'अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे। नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥'* (श्रीमद्भा॰ ३/२९/२४) इति। *'प्रतिमा मन्दबुद्धीनाम्'* इत्यादीनि ता उक्तयश्च अप्रमाणं न स्युः, यतो महतां मुनीश्वराणां मुखतो विनिःसृताः। आप्तवचनानां प्रामाण्यादित्यर्थः। श्रीभगवद्वचनानामपि श्रीशुकदेवादिमुखादेरभिव्यक्तेर्महतामित्युक्तिः; यद्वा, महच्छब्देन भगवान् तद्भक्ताश्च मुनयो गृह्यन्ते इति दिक्। यद्यपि तत्तद्वर्षादौ स्थिताः श्रीसङ्कर्षणादयो भारतवर्षेऽपि तत्तत्क्षेत्रपुर्यादौ वर्त्तमानाः श्रीरङ्गनाथादयः साक्षाद्भगवानिव, ते सर्वेऽपि श्रद्धया पूज्या

एव, तत्र न कस्यापि वैमत्यं सम्भवति, तथापि तत्तद्वचनेषु प्रतिमाशब्दश्रवणात्तेषामपि लीलया प्रतिमा-सादृश्यात् प्रतिमावर्गान्तर्भावानुमानेन तदर्चनेऽपि संशयेन सामान्यतः प्रश्न इत्यूह्यम्॥२०५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अर्चनमें दोषकी बात क्यों कही जाती है? इसकी आशंकासे 'ततः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यदि ऐसे अर्चनसे परम लाभ ही होता है, तब पुराणादिमें दोष सम्बन्धी उक्तियाँ क्यों सुनी जाती हैं? जैसे कि श्रीमद्भागवत (११/२/४७)में कथित है—"जो व्यक्ति श्रद्धासहित प्रतिमामें हरिकी पूजा करते हैं, किन्तु उनके भक्तों या अन्य किसीकी भी पूजा नहीं करते हैं, वे प्राकृत-भक्त अर्थात् साधारण श्रेणीके भक्त हैं।" श्रीमद्भागवत (३/२९/२२)में भगवान् श्रीकपिलदेव अपनी माताको कह रहे हैं—"मैं समस्त वस्तुओंमें विद्यमान हूँ और समस्त प्राणियोंकी आत्मा और ईश्वर हूँ। जो व्यक्ति मूढ़तावशतः मेरे उस परमात्मा स्वरूपका त्यागकर मेरी प्रतिमाका अर्चन करता है, वह केवल राखमें घीकी आहूति देता है।" तथा श्रीमद्भागवत (३/२९/२४)में कथित है—"हे माते! जो प्राणियोंका अनादर करता है, किन्तु नाना-प्रकारके द्रव्यों और नाना द्रव्योंसे उत्पन्न क्रिया द्वारा मेरी प्रतिमाका अर्चन करता है, मैं उसके प्रति प्रसन्न नहीं होता हूँ।" तथा "प्रतिमा मन्दबुद्धिवाले लोगोंके लिए है"—यह समस्त वाक्य कभी भी अप्रमाणिक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि यह महापुरुषोंके मुखसे निकले हैं। विशेषतः आप्तवचन अर्थात् प्रमाद आदि दोषोंसे रहित वचन अथवा वेद-श्रुतिके वचन ही प्रमाण शिरोमणि हैं। यहाँ श्रीमद्भागवतके वचन श्रीशुकदेवके मुखसे अभिव्यक्त होनेके कारण उन वचनोंको 'महापुरुषोंकी उक्ति' कहा गया है। अथवा 'महत्' शब्दके द्वारा स्वयं भगवान् और उनके भक्त श्रीशुकदेवादि महामुनियोंको ग्रहण किया गया है।

यद्यपि भू-लोकके विभिन्न वर्षोंमें अवस्थित श्रीसङ्कर्षणादि और भारतवर्षमें भी विभिन्न क्षेत्र और पुरी आदिमें वर्त्तमान श्रीजगन्नाथ और श्रीरङ्गनाथादि साक्षात् भगवान् ही हैं और श्रद्धा सहित पूजित हो रहे हैं तथा उस पूजामें किसीके भी मनमें किसी प्रकारका संशय उदित नहीं होता। तथापि महापुरुषोंके उन वाक्यों अर्थात् 'प्रतिमा' शब्दमात्र

सुनकर उन समस्त श्रीमूर्त्तियों द्वारा लीलावशतः मौनमुद्रा धारणकर प्रतिमाकारमें विराजित रहनेके कारण कोई-कोई व्यक्ति (प्रतिमा सादृश्य हेतु) उन्हें प्रतिमा रूपमें ही अनुमानकर उनके अर्चनमें होनेवाले संशयोंके निराकरणके लिए इस प्रश्नको कर रहे हैं॥२०५॥

तच्छ्रुत्वोक्तं प्रभोः पूजामार्गादिगुरुणामुना।
उत्थाय परमानन्दान्मामाश्लिष्येदमुत्तरम्॥२०६॥

श्लोकानुवाद—इन समस्त बातोंको सुनकर भगवान्के पूजा-मार्गके आदि गुरु श्रीनारदमुनिने परमानन्दके साथ उठकर मुझे आलिङ्गन किया और उत्तर देने लगे॥२०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तन्मत्पृष्टं मद्वाक्यं श्रुत्वा अमुना श्रीनारदेन परमानन्दादुत्थाय मामाश्लिष्य इदं वक्ष्यमाणमुत्तरमुक्तम्। तत्र हेतुः—प्रभोर्निजेश्वरस्य पूजाया मार्गस्य वर्त्मनः; यद्वा, मृग्यत इति मार्गः फलं पूजारूप-मार्गस्य आदिगुरुणा प्रथमोपदेशकेन पञ्चरात्रप्रवर्तनात्॥२०६॥

भावानुवाद—मेरा प्रश्न श्रवणकर श्रीनारदने परमानन्दपूर्वक उठकर मुझे आलिङ्गन किया और उत्तर देने लगे। इसका कारण है कि पञ्चरात्रके प्रवर्त्तन द्वारा वे अपने प्रभुके पूजारूप-मार्गके प्रदर्शक हैं, अथवा 'मृग्यते' अर्थात् जिस मार्गको फलरूपमें सभी अनुसन्धान करते हैं, उस पूजारूप-मार्गके आदि गुरु अर्थात् प्रथम-उपदेशक हैं॥२०६॥

श्रीनारद उवाच—

प्रतिमा या मयोद्दिष्टाः साक्षाद्भगवता समाः।
तासामर्चन-माहात्म्यं तावदास्तां सुदूरतः॥२०७॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—साक्षात् भगवान्के समान जिन मूर्त्तियोंके सम्बन्धमें मैंने पहले वर्णन किया था, उनके अर्चनकी महिमा तो दूर रहे—॥२०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—साक्षाद्भूतेन भगवता श्रीकृष्णेन समास्तुल्याः, सच्चिदानन्द-घनत्वात्; सुदूरतस्तावदास्तामिति तत्पूजने दोष-शङ्काराहित्यं, महान् गुणश्चेति किं वक्तव्यमित्यर्थः॥२०७॥

भावानुवाद—साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके तुल्य जिन समस्त सच्चिदानन्दघन प्रतिमाओंके सम्बन्धमें मैंने पहले कहा था, उन सबके अर्चनकी महिमाका वर्णन करना तो दूर रहे, उनकी पूजामें किसी भी दोषकी आशंका नहीं है—इस प्रकारका विश्वास ही महागुण है। अधिक क्या कहूँ?॥२०७॥

आद्यामाधुनिकीं वार्चां स्व-धर्माद्यनपेक्षया।
साक्षाच्छ्रीभगवद्बुद्ध्या भजतां कृत्रिमामपि॥२०८॥
न पातित्यादिदोषः स्याद्गुण एव महान् मतः।
सेवोत्तमा मता भक्तिः फलं या परमं महत्॥२०९॥

श्लोकानुवाद—जो लोग स्व-धर्मका त्यागकर साक्षात् भगवत् बुद्धिसे प्राचीन अथवा आधुनिक (प्रकटित) या स्वनिर्मित प्रतिमाका भजन करते हैं, उनको वर्णाश्रम-धर्मके त्यागसे उत्पन्न दोष नहीं लगता, अपितु वे महान गुणोंका ही सञ्चय करते हैं—ऐसा महा-पुरुषोंका मत है। यह अर्चन रूप भगवान्‌की सेवा ही उत्तमा-भक्ति है तथा यही परम महान फलस्वरूप है॥२०८-२०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—आद्यां पुरातनीम् आधुनिकीं वा सम्प्रति आविर्भूतां तत्रापि कृत्रिमां स्वनिर्मितामपि अर्चां भगवत्प्रतिकृतिं साक्षाद्भूतो भगवानेवायमिति बुद्ध्या स्वधर्मादौ अनपेक्षया अनासक्त्या तत्परित्यागेन वा भजतां पूजयतां जनानां पातित्यं स्वधर्मत्यागादिना सदाचाराद्भ्रंशः; आदिशब्देन अनधिकारिता पूजाप्रकाराज्ञानादि च। तेन तेन यो दोषः इह लोकेऽपूज्यतादिः परत्र च नरकपातादिः; यद्वा, तत्तद्रूपो दोषः इह लोकेऽपूज्यतादिः परत्र च नरकपातादिः; यद्वा, तत्तद्रूपो दोषः दूषणं न स्यात्। *'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां क्रियालोपो भवेद्यदि। तेषां कर्माणि कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः॥'* इत्यादिवचनप्रामाण्यात्तथा भक्तौ प्रवृत्तानां कर्मस्वनधिकारेण कर्मणां सावधिकत्वश्रवणाच्च। एतच्चादौ निरूपितमस्ति, प्रत्युत महान् गुण एव मतः सद्भिः; यतः सा भगवत्पूजैव उत्तमा श्रेष्ठा भक्तिर्मता भक्तैः, भक्तिशब्दस्य मुख्यतया सेवार्थकत्वात्, सेवारूपायाञ्च पूजायामशेषभक्तिप्रकाराद्यनुवृत्तेश्च। या भक्तिः परमं महत् फलमिति मतम्, चतुर्वर्गेभ्योऽप्यधिकत्वात्॥२०८-२०९॥

भावानुवाद—पुरातन या आधुनिक अर्थात् जो अभी आविर्भूत हुई हैं अथवा स्व-निर्मित भगवान्‌की प्रतिमाओंको साक्षात् भगवान् मानकर स्व-धर्मादिके प्रति अनासक्त होकर या उसे स्वरूपतः त्यागकर जो

भजन-पूजन करते हैं, वे पतित नहीं होते अर्थात् उन्हें स्वधर्म त्याग आदिके कारण सदाचार उल्लंघनरूप दोष नहीं लगता है। यहाँ 'आदि' शब्दका अर्थ है—अर्चनमें अनधिकार (अयोग्यता) तथा पूजाकी रीतिके ज्ञानसे रहित होना। इन कारणोंसे वर्त्तमान लोकसमाजमें तिरस्कार या भविष्यमें नरकपतनादि रूप दोष उन्हें दूषित नहीं कर सकते हैं। श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—"जो मेरी भक्ति करते हैं, उनके द्वारा यदि कोई कर्त्तव्य-कर्म छूट जाता है तो उसे पूर्ण करनेके लिए तीस करोड़ महर्षि नियुक्त हैं।" इत्यादि पद्मपुराणमें उक्त इस प्रमाण द्वारा जाना जाता है कि जो भक्तिमें प्रवृत्त हुए हैं, उन्हें पुनः कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती है।

इस प्रकारसे कर्मोंकी अवधि (सीमा)के विषयमें सुना जाता है, अर्थात् कर्म करनेका अधिकार तब तक ही है जब तक भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न न हो। अतएव भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न होने पर कर्मका त्याग कर देना होता है—इसे पहले ही निरूपित किया जा चुका है। अतएव जो कर्मादिका परित्यागकर प्रतिमाका पूजन करते हैं, उनके लिए कोई दोष नहीं हो सकता है, अपितु वे महान गुणोंका ही सञ्चय करते हैं—ऐसा साधुजनोंका मत है। इसका कारण है कि भक्तजन भगवान्की पूजाको ही उत्तमा-भक्ति कहते हैं और भक्ति शब्द द्वारा मुख्यरूपमें सेवा-अर्थ ही प्रमाणित होता है। अतएव श्रीविग्रहकी सेवारूप पूजामें समस्त प्रकारके भक्ति-अङ्गोंका अनुशीलन होता है और वैसी भक्ति चतुर्वर्गसे भी अतिश्रेष्ठ होनेके कारण परम महानफल स्वरूप है॥२०८-२०९॥

सिद्धिः स्याद्भगवद्दृष्ट्या तृण-सम्माननादपि।
सकृदुच्चारणान्नामाभासस्य श्रवणात्तथा॥२१०॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्के अर्चा-विग्रहके पूजनकी महिमा तो दूर रहे, यदि एक तृणको भी भगवद्-दृष्टिसे सम्मान किया जाए तथा मात्र एकबार भी भगवान्का नाम आभासरूपमें उच्चारण या श्रवण किया जाये तो उनसे भी अभीष्ट फल प्राप्त हो सकता है॥२१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव कैमुत्यन्यायेनोपपादयति—सिद्धिरिति द्वाभ्याम्। भगवतो दृष्ट्या अन्तर्यामितया एव सतीति ज्ञानेन तृणस्य सम्माननादपि जलसेकप्रणामादिरूपात् सेवनात् सिद्धिर्मोक्षः सर्वार्थानां प्राप्तिर्वा स्यात्। तथा भगवतो नामाभासस्य सकृदुच्चारणादपि तथा तस्य श्रवणादपि सिद्धिः स्यात्॥२१०॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें उक्त विचारको 'कैमुत्य' न्यायानुसार स्थापित करनेके लिए 'सिद्धिः' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। भगवान्‌के अर्चा-विग्रहके पूजनकी महिमाकी बात तो दूर रहे, भगवद्-दृष्टिसे अर्थात् सबमें अन्तर्यामी परमेश्वर हैं—ऐसी भावनासे एक तृणको भी सम्मान करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। विश्वमें समस्त चराचर वस्तुएँ ही भगवान्‌की शक्ति हैं, अतः सभी भगवान्‌की विभूतिस्वरूप हैं, इस बुद्धिसे तुच्छ तृणको भी जल सींचने तथा प्रणामादि द्वारा परिचर्या करनेसे सिद्धि अर्थात् मोक्ष या सर्वाभीष्ट प्राप्त होता है। तथा श्रीभगवान्‌के नामको आभासरूपमें भी एकबार उच्चारण या श्रवण करनेसे यदि सिद्धि या उससे अधिक फल प्राप्त होता है, तब भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजाके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है?॥२१०॥

कुतस्तत्स्मारके तस्याधिष्ठाने मन्त्रसंस्कृते।
सर्वभक्तिपदे पूज्यमाने दोषादितर्कणम्॥२११॥

श्लोकानुवाद—अतएव जो साक्षात् भगवान्‌की स्मारक (स्मरण करानेवाली) हैं, जो उनका अधिष्ठान हैं तथा वैदिक मन्त्रों द्वारा संस्कृत हैं, भगवान्‌की ऐसी मूर्त्तियोंका अर्चन करनेसे दोषादिके तर्कका स्थान ही कहाँ है? विशेषतः ऐसी श्रीमूर्त्तियाँ ही समस्त प्रकारकी भक्तिकी आश्रय स्वरूप हैं॥२११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवतोऽधिष्ठाने प्रतिमायां पूज्यमाने सति कुतो दोषादीनां तर्कणं स्यात्? कुतो दोषादयस्तत्र विचार्याः स्युरित्यर्थः; अपि तु विचारेण न घटन्त एव। तत्र हेतवः—मन्त्रैरावाहनादिना संस्कृतः; एवं दारुशिलादिमयत्व-बुद्ध्यपगमेन तत्र भगवन्मूर्त्तिदृष्टेरुत्पत्तिर्दर्शिता। तत्र कुतर्कश्च कोऽपि न सम्भवति, मणिमन्त्रमहौषधीनामचिन्त्यप्रभावत्वादिति च सूचितम्। किञ्च, तस्य भगवतः स्मारके तदाकारादिसादृश्येन तत्स्मृतिजनके ध्यातृणां ध्यानसम्पादके इति वा।

सुन्दरसर्वाङ्गोपाङ्गादीनां युगपत्साक्षाद्दर्शनादनायासेन भावनासिद्धेः; किञ्च, सर्वस्या नवप्रकाराया अपि भक्तेः पदे विषये पूजायां स्वत एव श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण-परिचर्या-वन्दनादीनां सिद्धेः॥२११॥

भावानुवाद—जब तृणादि तुच्छ पदार्थोंको भगवद्-बुद्धिसे सम्मान करने पर भी सिद्धि प्राप्त होती है, तब भगवान्के अधिष्ठान—प्रतिमाकी पूजा करनेसे दोष आदि तर्कका स्थान कैसे हो सकता है? वहाँ दोषादिका विचार नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्र और आवाहन आदि द्वारा संस्कृत होने पर तथा प्रतिमामें लकड़ी और पत्थर आदिकी बुद्धिके दूर होने पर वह भगवान्की मूर्त्तिके रूपमें ही दृष्ट होती है। अतः ऐसी स्थितिमें कुतर्ककी कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि प्राकृत जगतमें मणि, मन्त्र और औषधि आदिका प्रभाव अचिन्तनीय है। यदि मन्त्रशक्तिके बलसे काष्ठ-पत्थरादि संस्कृत हो जाते हैं, तब मन्त्र और आवाहन आदि द्वारा संस्कृत श्रीविग्रहके प्रति जड़बुद्धि करना बुद्धिमान व्यक्तिका कर्त्तव्य नहीं है। विशेषतः प्रतिमाएँ भगवान्के आकारके समान होनेके कारण उनकी स्मृति उदित कराती हैं तथा ध्यानकारीके ध्यानको साधित करती हैं, अर्थात् भगवान्के समस्त अङ्ग और उपाङ्गोंकी सुन्दरताके एक ही साथ साक्षात् दर्शन होनेके कारण अनायास ही भावनाकी सिद्धि होती है। तदुपरान्त भगवान्की ऐसी प्रतिमाएँ नौ प्रकारकी भक्तिका भी विषय हैं, अर्थात् श्रीमूर्त्तिकी पूजासे स्वतः ही श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, परिचर्या और वन्दनादि सिद्ध होता है॥२११॥

कदापि कृष्ण-प्रतिमार्चनावतां, न सम्भवेत् कृष्णपरेष्वनादरः।
घटेत चेत् कर्ह्यपि तद्विषक्तितो गृणन्ति नागस्तदमी स्तुवन्त्यथ॥२१२॥

श्लोकानुवाद—जो श्रीकृष्णकी प्रतिमाका अर्चन करते हैं, उनके द्वारा श्रीकृष्णभक्तका अनादर होना कदापि सम्भव नहीं है। किन्तु पूजामें आसक्त रहनेके कारण कभी अनादर होने पर भी वैष्णवगण उस अपराधको ग्रहण नहीं करते हैं, अपितु उनकी प्रशंसा ही करते हैं॥२१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि वैष्णवविषयकापराधेन भगवत्पूजायाः फलं न सिध्यत्येव, तत्राह—कदापीति। कृष्णप्रतिमाया अर्चनावतां प्रतिमाबुद्ध्यापि कृष्णमर्चयतामित्यर्थः। कृष्णपरेषु श्रीवैष्णवेष्वनादरः उपेक्षा कदापि न सम्भवेदेव, भक्तौ प्रवृत्त्या वैष्णवैः सह प्रीत्युत्पत्तेः। तस्यां कृष्णप्रतिमार्चनायां विषक्तित आसक्तेर्हेतोश्चेद्यदि कदाचिदनादरो घटेत, तत् अनादरघटनम्, तदिति वा। अमी कृष्णपराः आगः अपराधं न गृणन्ति वदन्ति, अथ प्रत्युत स्तुवन्ति श्लाघन्ते, भगवत्पूजासक्तिदर्शनात्॥२१२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तथापि वैष्णवोंके प्रति अपराध होनेसे भगवान्‌की पूजाका फल सिद्ध नहीं होता है—इसकी आशंकासे 'कदापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जो श्रीकृष्णकी प्रतिमाको साक्षात् भगवान् मानकर अर्चन करते हैं, उनके विषयमें तो क्या कहा जाय, जो केवल प्रतिमा मानकर भी उस प्रतिमामें श्रीकृष्णका अर्चन करते हैं, उनके द्वारा भी कदापि कृष्णभक्तों अर्थात् वैष्णवोंके प्रति अनादर या उपेक्षा नहीं हो सकती है। इसका कारण है कि भक्तिमें प्रवृत्त होनेसे ही समस्त वैष्णवोंके प्रति स्वभावतः प्रीति उत्पन्न होती है। श्रीकृष्णकी प्रतिमाके पूजा कार्यमें आसक्तिवशतः कभी किसी व्यक्तिका किसी वैष्णवके प्रति अनादर घटित हो सकता है, किन्तु वैष्णवगण उस अपराधको ग्रहण नहीं करते हैं, अपितु पूजा करनेवालेकी प्रशंसा ही करते हैं। अर्थात् भगवान्‌की पूजामें उनकी आसक्तिको देखकर परमानन्दित होकर उनकी स्तुति ही करते हैं॥२१२॥

ये तु तत्प्रतिमां नूत्नामधिष्ठानं हरेरिति।
भेददृष्ट्याथ शैल्यादिबुद्ध्या सम्पूजयन्ति हि॥२१३॥

श्लोकानुवाद—किन्तु जो व्यक्ति श्रीहरिकी प्रतिमाको नव-निर्मित होनेके कारण भगवान्‌से भिन्न मानकर पत्थर, लकड़ी इत्यादि बुद्धिसे उनकी पूजा करते हैं— ॥२१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि तत्तद्वचनानि किं विषयकानि भवन्तु? तत्राह—ये त्विति त्रिभिः। हरेर्भगवतोऽधिष्ठानमेतत्, न त्वयं साक्षाद्भूतो हरिरित्येतया भेददृष्ट्या। अथ अतो हेतोः, शैली शिलानिर्मिता प्रतिमेयमिति बुद्ध्या, आदिशब्दाद्दारवीलौहीत्यादि। ये तु तस्य हरेः प्रतिमां नूत्नां कृत्रिमां सम्पूजयन्ति॥२१३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसा होने पर किसलिए पूर्वोक्त पुराणवाक्यों द्वारा प्रतिमापूजककी निन्दा की गई है? इसके समाधनके लिए 'ये तु' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। जो लोग श्रीहरिकी प्रतिमाको अधिष्ठानमात्र मानते हैं तथा प्रतिमाके प्रति साक्षात् भगवद्-बुद्धि नहीं करते हैं, अर्थात् ये प्रतिमा साक्षात् श्रीहरि नहीं हैं, अपितु उनकी प्रतीकमात्र हैं। इस प्रकार भगवान और उनकी प्रतिमामें भेद बुद्धिवशतः जो लोग प्रतिमाको पत्थर, लकड़ी अथवा लोहे द्वारा निर्मित मानते हैं अथवा नव-निर्मित या कृत्रिम प्रतिमा मानकर पूजा करते हैं, पुराणवाक्यों द्वारा उन समस्त लोगोंकी ही निन्दा की गई है॥२१३॥

न मानयन्ति तद्भक्तान् सर्वभूतावमानिनः।
पूजा-गर्वेण वेदाज्ञामतिक्रामन्ति च प्रभोः॥२१४॥

श्लोकानुवाद—समस्त प्राणियोंका तिरस्कार करनेवाले ऐसे व्यक्ति ही हरिभक्तोंकी अवज्ञा करते हैं तथा अपनी पूजाके गर्वमें प्रभुकी वेदरूपी आज्ञाका भी उल्लंघन करते हैं॥२१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य हरेर्भक्तान् न मानयन्ति नाद्रियन्ते, न पूजयन्तीति वा। किञ्च, सर्वेषां भूतानामवमानकर्तारः सन्तः प्रभोर्भगवतः वेदरूपामाज्ञां लङ्घयन्ति च, स्वधर्मादित्यागात्॥२१४॥

भावानुवाद—ऐसे लोग ही हरिभक्तोंका अनादर करते हैं। वे समस्त प्राणियोंका तिरस्कार करते हैं तथा अपनी पूजाके गर्वमें मत्त होकर प्रभुकी वेदरूपी आज्ञाका भी उल्लंघन कर स्वधर्मका त्याग कर देते हैं॥२१४॥

त एव सर्वभक्तेभ्यो न्यूनास्ते मन्दबुद्धयः।
पूजा-फलं न विदन्ति त एव हि यथोदितम्॥२१५॥

श्लोकानुवाद—ऐसे मन्दबुद्धिवाले लोग ही समस्त प्रकारके भक्तोंमें निकृष्ट हैं तथा वे शास्त्रमें कथित पूजाके यथार्थ फलको भी प्राप्त नहीं करते हैं॥२१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वेभ्यो निर्गुण-गुणभक्तेभ्यो न्यूनाः कनिष्ठाः *'अर्चायामेव हरये पूजाम्'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४७) इत्यनेन तेषां प्राकृतत्वोक्तेः, तद्वचनञ्चैतद्विषयकं मन्तव्यम्; एवमग्रेऽप्यूह्यम्। मन्दबुद्धयः *'प्रतिमा मन्दबुद्धीनाम्'* इत्येवमुक्त्वा अल्पमतयस्त एव, यथोदितं शास्त्रानुसारेण पूजाफलं त एव न लभन्ते, *'भस्मन्येव जुहोति सः'* इत्युक्तेः। यद्वा, श्रीभगवानेव हि तेषां पूजां न स्वीकरोतीति बोद्धव्यम्। यथोक्तं श्रीप्रह्लादेन श्रीनृसिंहस्तुतौ सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/९/११)—*'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो, मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते। यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं, तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥'* इति। अस्यार्थः—'आत्मनो मम प्रभुरयं श्रीनृसिंहदेवः; यद्वा, जातावेकवचनम्, आत्मनो जीवस्य प्रभुः स्वामी; अनेन जीवानां यत् किञ्चिदस्ति, तत् सर्वं तस्यैवेत्यर्थः। तथापि जनाज्जीवात् सकाशात् मानं तत्कृतपूजां करुणोऽपि न वृणीते न स्वीकरोति। कीदृशात्? अविदुषः मूर्खात्, मूर्खत्वञ्च शैलीत्वादिबुद्ध्या श्रीभगवत्-प्रतिमापूजनेन तथा मिथ्याभिमानेन वैष्णवानादर-सर्वभूतावमानादिना पूर्वोक्तप्रकारेणोह्यम्। अतएव न वृणीत इति भावः। यथोक्तं श्रीनारदेनैव चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/३१/२१)—*'न भजति कुमनीषिणां स इज्या, हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः। श्रुत-धन-कुल-कर्मणां मदैर्ये, विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु॥'* इति। तत्रैव हेतुः—निजलाभेन स्वकीय-स्वाभाविकघनानन्दानुभवेनैव पूर्णः सन्तृप्तः, अनेन निजलाभपूर्णोऽपि विदुषः सकाशान्मानं वृणीत इत्युक्तं स्यात्, भक्तवात्सल्येन निजस्वभावस्याप्यतिक्रमसम्भवात्; यद्वा, निजेभ्य आत्मभक्तेभ्यो यो लाभः प्रेमसम्पत्तेः पूजाया वा प्राप्तिस्तेनैव पूर्णः। एवं स्वभक्तेभ्यो निजेष्ट-भोगसम्पत्त्यान्यार्पितभोगापेक्षा तस्य नास्तीति दर्शितम्। न च मन्तव्यम्—तत्र कृतधनव्ययादिकं तस्य व्यर्थं जातमिति; यतस्तेन प्रकारेणापि कृताया भगवत्पूजायाः फलं भवत्येवेत्याह—यद्यदिति। प्रथमं सामान्येन यद्यदिति निर्दिश्य पश्चान्मानमिति विशेषेण निर्देशः। एवं लिङ्गभेदेऽप्यदोषः। यद्वा, अव्ययत्वेन यं यमिति। एवं तदिति च भगवते मानं विदधीत पूजाद्रव्यमर्पयेत्। यद्वा, भगवदर्थं पूजां कुर्यात्, तत् सर्वमात्मने स्वहिताय भवत्येव। अत्र दृष्टान्तः—यथा मुखे कृता श्रीस्तिलकादिशोभाऽवश्यं प्रतिमुखस्य दर्पणादौ प्रतिबिम्बितस्य मुखस्य भवत्येव, तथा एवं फलं भवेदेव, किन्तु गौणमेव न मुख्यम्; अतो नोत्तमं भगवत्स्वीकारेण च मुख्यं परमोत्तममुचितं फलं भवतीति महाविशेषो ज्ञेयः। यद्वा, करुणोऽप्यविदुषो मानं न वृणीत इत्यत्र हेतुः—यद्यदिति। अविद्वानयं जनो यद्यद्भगवते विदधीत, ततसर्वमात्मने स्वहितार्थमेव विदधीत, न तु भगवत्प्रीत्यर्थम्। ननु भगवत्पूजाविधानेन कथं स्वहितं स्यादित्यत्राह—प्रतिमुखस्येति। भगवदर्पणं विना स्वार्थसिद्ध्येनुपपत्तेरिति भावः। यद्वा, करुणतया भगवान् विदुषोऽपि मानं वृणीत एव; तत्र यद्भगवते विदधीत, तत्तद्यदि आत्मने स्वार्थं विदधीत तदा मुखश्रीर्यथा प्रतिमुखस्य आभासरूपेणैव भवति न तु

तत्त्वतः, तथा तदपि फलं प्रतिच्छायातुल्यं तुच्छमेव भवति, न तु पारमार्थिकमित्यर्थः। अतः केवलं श्रीभगवत्प्रीत्युद्देशेनैव यत् क्रियते, तस्य फलं परमोत्तमं तदीयप्रेमभक्ति-सम्पत्त्या; श्रीवैकुण्ठादि-तदीयपदलाभेन सदा तत्-सन्दर्शन-सहविहारादिकं सम्पद्यते इत्यूह्यम्। यद्वा, अयं प्रभुरीश्वरो जनाज्जीवान्मानं पूजां न वृणीते नापेक्षते, यतो निजलाभेनैव पूर्णः। ननु तर्हि स्वात्मार्थं न वृणीतु किन्तु जनस्य तस्य हितार्थं वृणुयात्, तत्राह—अविदुष इति हिताहितज्ञानरहितस्य। अतो भगवत्पूजार्थकधनव्ययादिना कदाचित्तस्य शोकार्त्तिपरतादर्शनेन करुणतया भगवान् तत्पूजां नापेक्षत इति भावः। अतएवोक्तं करुण इति। यद्वा, अविदुष इति पूजाप्रकारमजानत इत्यर्थः, भूतहिंसादिना पूजोपचारसम्पादनात्। ननु तथापि सर्वदेवशिरोमणिना पूजकस्य हितं कर्त्तुं युज्यत एव, तत्राह—करुण इति। तस्य हिते क्रियमाणे अन्येषामहितं स्यात्, तच्च परमदयालोर्नैवोचितमिति भावः। यद्वा, निजलाभपूर्णतया स्वार्थं न वृणीत एव; जनस्य हितार्थमपि न वृणीत इत्यत्र हेतुः—अविदुष इति, करुण इति च। अयमर्थः—यथा भगवन्मानेन स्वहितं स्यात्तन्न जानाति, केवलं बहुलपूजाद्रव्यसामग्री-निमित्तमेवाज्ञत्वेन नित्यमत्यन्तं क्लिश्यति, भगवांश्च परमदयालुत्वेन तस्य तत्क्लेश-दुःखमसहमानस्तस्मात् पूजां नेच्छत्येवेति। ननु भगवन्मानेन स्वहितं कथं स्यादित्यपेक्षायामाह-यद्यदिति। तदेवात्मने भवति नान्यत् किमपि। तत्र दृष्टान्तः—यथा मुखश्रीरेव प्रतिमुखस्य भवति न त्वन्या, तया विना तत्र साक्षात्कर्त्तुमशक्तेरिति। अथवा आत्मनः प्रभुरपि निजानां भक्तानां लाभेन सम्पत्त्या सङ्गत्या वा। यद्वा, भक्तकर्त्तृकमनोरथसिद्ध्यैव पूर्णोऽपि जनादविदुषोऽपि मानं न वृणीते, काक्वा वृणीत एवेत्यर्थः। कुतः? करुणः तत्स्वीकारेण विना फलासिद्धेः। तदेवाह—यद्यदिति। एवं भगवदर्पणं विना जीवानां न किञ्चिदात्मने उपतिष्ठति; अतस्तुच्छमपि फलं भगवत्स्वीकारेणैव सिध्यतीति वक्ष्यमाणफलसिद्धौ हेतुरयमूह्य इति दिक्॥२१५॥

भावानुवाद—ऐसे मन्दबुद्धियुक्त व्यक्ति सभी प्रकारके निर्गुण या सगुण अर्थात् तीन गुणोंमें स्थित भक्तोंसे भी निम्न हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवत (११/२/४७)में उक्त हुआ है—“जो केवल श्रीहरिकी प्रतिमाकी पूजा करते हैं तथा वैष्णवों और समस्त प्राणियोंका अनादर करते हैं, वे प्राकृत भक्त हैं तथा सबसे निम्न श्रेणीके हैं।” अर्थात् यही इस विषयमें प्रमाण है, यह आगे भी व्यक्त होगा। ‘प्रतिमाकी पूजा मन्दबुद्धिवाले लोगोंके लिए है’—शास्त्रके इस वचनके अनुसार मन्दबुद्धिवाले लोग शास्त्रमें कथित पूजाके फलको प्राप्त नहीं करते हैं, उनकी पूजा केवल राखमें घीकी आहूति देनेके समान होती है। अथवा श्रीभगवान् भी उनकी पूजाको स्वीकार नहीं करते हैं—ऐसा

समझना होगा। श्रीमद्भागवतकी श्रीनृसिंह स्तुतिमें श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा है—"मेरे प्रभु परम दयालु हैं तथा अपने आपमें पूर्ण भी हैं, इसलिए अज्ञानी मनुष्योंकी पूजा ग्रहण नहीं करते हैं। किन्तु जिस प्रकार अपने मुखकी शोभा सुन्दर होनेसे प्रतिबिम्बरूप मुखकी शोभा भी सुन्दर होती है, उसी प्रकार जो जिस प्रकारसे भगवान्‌की पूजा करते हैं, उसीके अनुरूप ही आत्मसुखको प्राप्त करते हैं।" तात्पर्य यह है कि यद्यपि मेरे प्रभु अथवा जीवमात्रके ही प्रभु श्रीनृसिंहदेव परम दयालु हैं तथा समस्त जीवोंसे जो कुछ भी प्राप्त हो सकता है वह सब कुछ श्रीनृसिंहदेवके ही अधिकृत है, तथापि वे समस्त जीवोंसे पूजा ग्रहण नहीं करते हैं। वे जीव कैसे होते हैं? जो मूर्खतावशतः पत्थर, लकड़ी इत्यादिकी बुद्धिसे श्रीभगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करते हैं और मिथ्या अभिमानयुक्त होकर समस्त वैष्णवोंका अनादर तथा समस्त प्राणियोंका तिरस्कार करते हैं, ऐसे जीवोंकी पूजाको ही वे स्वीकार नहीं करते हैं।

श्रीनारदने भी श्रीमद्भागवत (४/३१/२१)में कहा है, "भगवान्‌को ही सर्वस्व माननेवाले अकिञ्चन भक्त भगवान्‌के प्रिय है। भगवान् रसज्ञ हैं, अतः वैसे भक्तोंकी ऐकान्तिक अहैतुकी भक्तिमें कितना माधुर्य होता है, इसे वे जानते हैं। जो लोग विद्या, धन, कुल और कर्मके अहंकारमें मत्त होकर अकिञ्चन साधुओंका अनादर करते हैं, भगवान् उन दुर्बुद्धियुक्त लोगोंकी पूजाको कभी ग्रहण नहीं करते हैं।" इसका कारण है कि भगवान् अपने आपमें ही परिपूर्ण हैं अर्थात् अपने स्वाभाविक घनानन्दके अनुभव द्वारा भलीभाँति तृप्त हैं। इस प्रकार अपने आपमें पूर्ण होने पर भी वे भगवान् भक्तोंके द्वारा की जानेवाली पूजाको ग्रहण करते हैं। अतएव वे प्रभु अपने भक्तोंमें ही अनुरक्त हैं अथवा भक्तवात्सल्य गुणके कारण अपने स्वभावका भी लंघन कर देते हैं। अथवा वे अपने भक्तों द्वारा प्रदानकी गयी प्रेम-सम्पत्तिरूप पूजाको ग्रहणकर परिपूर्ण होकर रहते हैं। इस प्रकार अपने भक्तों द्वारा प्रदानकी गयी अपनी अभीष्ट प्रेमरूप भोग सम्पत्तिको ग्रहण करनेके कारण दूसरोंके द्वारा अर्थात् अभक्तों द्वारा अर्पित भोग-पूजाकी आकांक्षा नहीं करते हैं।

शास्त्रमें कथित है—'भगवान्‌की पूजा जिस किसी प्रकारसे भी किये जाने पर उसका फल प्राप्त होता है।' अतः ऐसा मन्तव्य नहीं किया जा सकता है कि धन व्ययादि द्वारा जो पूजा होती है, वह व्यर्थ होती है। इसका कारण 'यद्यत्' (उद्धृत श्लोक श्रीमद्भा॰ ७/९/११) इत्यादि पद द्वारा प्रथमतः सामान्यरूपमें निर्देशकर फिर 'मानं' पद द्वारा विशेषरूपमें प्रतिपादन करेंगे। यह सत्य है कि भगवान्‌के पूजकका धन-व्ययादि कभी भी व्यर्थ नहीं होता, क्योंकि धन-व्ययादि द्वारा जो भगवान्‌को जिस रूपमें पूजाके द्रव्य अर्पण करते हैं, वे उसी अनुरूप फलको प्राप्त करते हैं। विषयी लोगों द्वारा प्रदान किए गए पूजाके द्रव्य भगवान्‌की प्रीतिके लिए अर्पित नहीं होते, किन्तु पूजकके अपने हितकी कामनासे ही भगवान्‌को अर्पित होनेके कारण परिणाममें पूजकके भोगोंमें ही पर्यवसित होते हैं। उदाहरणके लिए—जिस रूपमें तिलकादि मुखमण्डलकी शोभावर्द्धनके लिए धारण किये जाते हैं, दर्पणमें भी उसीके अनुरूप प्रतिबिम्ब दृष्ट होता है। अर्थात् जिस उद्देश्यको लेकर जिस रूपमें धन-व्यय करके पूजाकी जाती है, पूजाका फल भी उसीके अनुरूप उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसा फल भगवान्‌की पूजाका मात्र गौणफल होता है, मुख्य या उत्तम फल नहीं, क्योंकि वैसी पूजा भगवान्‌की प्रीतिके लिए कल्पित नहीं होती, बल्कि अपनी लौकिक और पारलौकिक सुखकी कामनासे अर्पित होती है। परन्तु पूजाकालमें जो द्रव्य केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिए अर्पित होते हैं, श्रीभगवान् भी उन्हींको ही स्वीकार करते हैं और भगवान्‌के द्वारा स्वीकार किया जाना ही उस पूजाके मुख्य या परम उत्तम फलके रूपमें परिगणित होता है। अथवा अविद्वान व्यक्ति भगवान्‌को जो कुछ भी अर्पण करते हैं, वह सब कुछ केवल अपने हितके लिए ही प्रयोग करते हैं, भगवान्‌की प्रीतिके लिए नहीं। इसलिए ऐसे अविद्वान व्यक्तिके प्रति करुणावशतः ही भगवान् उसका द्रव्य स्वीकार नहीं करते हैं। इसका हेतु भी पूर्वोक्त 'यद्यत्' इत्यादि पदमें उक्त विचारके अनुसार ही है।

यदि आपत्ति हो कि भगवान्‌की पूजा करनेसे किस प्रकारसे अपना हित हो सकता है? इसीके लिए उद्धृत श्लोक अर्थात् श्रीमद्भागवत

(७/९/११)का 'प्रतिमुखस्य' पद कह रहे हैं। अर्थात् भगवान्‌को अर्पण किये बिना जीवका कोई भी स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है। अथवा विद्वान व्यक्ति द्वारा दिये गये द्रव्योंको भगवान् करुणापूर्वक स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह उनकी प्रीतिके लिए होते हैं। किन्तु ऐसे विद्वान व्यक्ति भी यदि अपने हितके लिए भगवान्‌को कोई द्रव्य अर्पण करते हैं, उसका फल भी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेवाले मुखकी भाँति आभासतुल्य अतितुच्छ ही होता है, अतएव उस फलको पारमार्थिक या मुख्य फल नहीं कहा जा सकता है। इसके द्वारा स्थिर होता है कि केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिए ही जो कुछ किया जाता है, उसीका फल परम उत्तम अर्थात् उनके प्रति प्रेमभक्तिरूप सम्पत्तिको प्रदान करनेवाला होता है। इस प्रेमभक्तिके द्वारा श्रीवैकुण्ठादि उनके धामकी प्राप्ति होती है तथा वहाँ सर्वदा ही भगवान्‌का दर्शन और उनके साथ विहारादि अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता है।

अथवा ये प्रभु ईश्वर हैं, अतः जीवसे सेवा ग्रहण करनेकी आकांक्षा नहीं करते, क्योंकि ये अपने आपमें सर्वदा पूर्ण हैं। यदि आपत्ति हो कि ऐसा होने पर अपने लिए पूजा ग्रहण न करें, किन्तु अन्योंके स्वार्थके लिए या उन समस्त पूजकगणोंके हितके लिए उनकी पूजा क्यों नहीं ग्रहण करते हैं? इसके लिए ही उद्धृत श्लोक अर्थात् श्रीमद्भागवत (७/९/११)में 'अविदुष' पद कहा गया हैं। हित और अहितके विवेकसे रहित अविद्वान व्यक्ति भगवानकी पूजाके लिए धन व्यय कर कभी-कभी शोकवशतः दुःखी होते हैं। यद्यपि श्रीभगवान् दयापरवश होकर उनकी पूजाकी आकांक्षा नहीं करते हैं, तथापि उन्हें प्राकृत फल देकर परितृप्त करते हैं, क्योंकि वे करुणामय हैं। अथवा 'अविदुष'का अर्थ है जो पूजाकी रीति और क्रियासे अवगत नहीं हैं। ऐसे अविद्वान व्यक्ति ही प्राणी हिंसारूप उपचार द्वारा पूजा करते हैं, इसलिए ही श्रीभगवान् उनके द्वारा की गयी पूजाको स्वीकार नहीं करते हैं।

यदि कहो कि ये प्रभु समस्त देवोंके शिरोमणि हैं, अतएव सभी जीवोंके हितकारी होकर भी किसलिए उन समस्त पूजकोंका हित पूरा नहीं करते हैं? इसके उत्तरमें उद्धृत श्लोक श्रीमद्भागवत (७/९/११)का

'करुण' इत्यादि पद कह रहे हैं। वे परम करुण हैं, इसीलिए उनका हित पूरा नहीं करते हैं। प्राणियोंके द्रोही पूजकोंका हित पूर्ण करनेसे अन्यान्य प्राणियोंका अहित करना होगा तथा सचमुच परमदयालु भगवान्‌के लिए ऐसा उचित नहीं होता है। अथवा ये प्रभु अपने आपमें पूर्ण होनेके कारण अपने स्वार्थके लिए प्राणियोंके द्रोही पूजकोंका हित पूर्ण नहीं करते हैं अथवा जनहितके लिए भी उनके हितको पूर्ण नहीं करते हैं। इसका कारण है कि वे पूजक अविद्वान हैं तथा श्रीभगवान् 'परमकरुण' हैं। तात्पर्य यह है कि अविद्वान लोग जानते नहीं हैं कि भगवान्‌को प्रसन्न करनेसे उनका भी हित होता है। इस तत्त्वको न जानकर वे केवल बहुत प्रकारकी पूजा सामग्रीके संग्रहके लिए सर्वदा अनेक क्लेश स्वीकार करते हैं। परमदयालु होनेके कारण श्रीभगवान् उन अविद्वान व्यक्तियोंके उस क्लेश-दुःखको भी सहन नहीं कर सकते हैं। इसलिए उनमें उन पूजककों द्वारा की गयी पूजाको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं होती है।

यदि प्रश्न हो कि श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करनेसे अपना हित किस प्रकार पूर्ण होगा? इसके उत्तरमें पूर्वोक्त 'यद्यदिति' पदके अनुसार कहते हैं—जो कुछ भी श्रीभगवान्‌के लिए अर्पित होता है, वह स्वार्थके लिए ही अर्पित होता है, अन्य किसी कारणसे नहीं। इसका उदाहरण है—अपने मुखकी शोभा दर्पणमें प्रतिबिम्बित होती है, अतः मुखमण्डलको सुन्दर न बनानेसे जिस प्रकार दर्पणमें वह सुन्दरता प्रतिबिम्बित नहीं होती, उसी प्रकार मुखमण्डल स्थानीय श्रीभगवान्‌में प्रीतिपूर्वक पूजादि अर्पित न होनेसे भगवान्‌के विभिन्नांश जीवमें वह किस प्रकार प्रतिफलित होगी? यदि कहो कि समस्त आत्माओंकी आत्मा वे प्रभु अपने भक्तोंसे उस प्रेम-सम्पत्तिको प्राप्त करनेके कारण अथवा अपने भक्तोंके द्वारा अपना मनोरथ पूर्ण होनेके कारण अर्थात् भक्तोंके हृदयस्थित स्वविषयक भक्तिरसमें आविष्टता हेतु पूर्ण होनेके कारण ही क्या अभक्तोंकी पूजा ग्रहण नहीं करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—भगवान् उनकी पूजा अवश्य ग्रहण करते हैं, क्योंकि वे करुण हैं। पूजाको अस्वीकार करनेसे पूजाका फल ही प्राप्त नहीं होगा। इसलिए पूर्वोक्त 'यद्यदिति' पदका प्रदर्शन कर रहे हैं। इस

प्रकारसे श्रीभगवान्में सर्वस्व अर्पणके बिना जीवका परम स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है। श्रीभगवान् द्वारा पूजाको ग्रहण न किये जानेसे तुच्छ फल भी सिद्ध नहीं होगा। अतएव भगवान् द्वारा पूजाको स्वीकार करना ही कहे जानेवाले समस्त फलोंकी सिद्धिका कारण जानों। इस प्रकारसे इस विचारका दिग्दर्शन हुआ है॥२१५॥

यद्यप्यशेषसत्कर्मफलतोऽधिकमुत्तमम्।
तेषामपि फलत्येव तत्पूजा-फलमात्मना॥२१६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि इस प्रकारसे भगवान्की प्रतिमाका अर्चन करनेका फल अन्यान्य समस्त सत्कर्मोंके फलसे श्रेष्ठ और उत्तम है— ॥२१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भगवत्पूजा कथं वैफल्यमर्हति, साफल्ये वा कथं निन्दा स्यात्? तत्राह—यद्यपीति द्वाभ्याम्। तेषां तथा प्रतिमार्चकानां तस्यास्तादृश्याः पूजाया अपि फलं निर्दोषमहाविषयभोगादिरूपम् आत्मना स्वत एव फलति सम्पद्यत एव। कीदृशम्? अशेषाणां सत्कर्मणां फलतोऽधिकगुरुतरम् अतएव उत्तमं, स्वर्गादि-भोगविषयक-दोषराहित्यात्॥२१६॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि भगवान्की पूजा किस प्रकार विफल होती है तथा सफल होने पर भी उसमें निन्दाकी सम्भावना कैसे होती है? इसके उत्तरमें 'यद्यपि' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। जो सकाम भावसे भगवान्की प्रतिमाकी अर्चना करते हैं, उस पूजाका फल भी स्वतः ही निर्दोष महाविषय-भोगरूपमें उत्पन्न होता है। वह भोग किस प्रकारका होता है? वह भोग समस्त प्रकारके सत्कर्मोंके फलसे भी अधिक श्रेष्ठ, अतएव उत्तम होता है, अर्थात् स्वर्गादिके भोग-विषयक दोषसे रहित होता है॥२१६॥

तथापि भगवद्भक्ति-योग्यं न जायते फलम्।
इति साधुवरैस्तत्तत्तत्र तत्र विनिन्द्यते॥२१७॥

श्लोकानुवाद—तथापि यह फल भगवद्भक्तिके अनुरूप नहीं होता है, इसलिए ऐकान्तिक भक्तों द्वारा इस प्रकारके अर्चनकी निन्दा की गयी है॥२१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगवद्भक्तेर्योग्यमुचितं फलं श्रीकृष्णचरणारविन्दविषयकं प्रेमसम्पत्त्या तदीयलोकलाभेन सदा तत्सन्दर्शनसहविहारादिरूपं नोत्पद्यत इत्यतो हेतोः साधुवरैरेकान्तिभिस्तत्तत्पूजनादिकं फलं वा तत्र तत्र पुराणादौ प्रसङ्गे वा निन्द्यते॥२१७॥

भावानुवाद—तथापि भगवद्भक्तिका उचित या मुख्य फल—श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्धित प्रेम-सम्पत्तिके बलसे उनके लोकोंकी प्राप्ति तथा वहाँ सर्वदा उनके दर्शन और उनके साथ विहारादि करना होता है, किन्तु इसे प्राप्त न करनेके कारण ही ऐकान्तिक भक्त उस प्रकारकी पूजादिकी तथा उसके फलकी निन्दा करते हैं। पुराणादिमें भी प्रसंगक्रममें ऐसी पूजाकी निन्दा हुई है॥२१७॥

तानि तानि पुराणादि-वचनान्यखिलान्यपि।
तत्तद्विषयकान्येव मन्यस्व न तु सर्वतः॥२१८॥

श्लोकानुवाद—पुराणादिके वचनों द्वारा वैसे प्रतिमा पूजकोंकी ही निन्दा की गयी है, परन्तु उन वचनों द्वारा समस्त प्रकारके प्रतिमा पूजकोंकी निन्दाका अभिप्राय नहीं हैं॥२१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तानि तानि तादृशप्रतिमार्चकस्य न्यूनतादिप्रतिपादनपराणि ते ते उक्तप्रकारप्रतिमार्चनकारिण एव विषया अधिकरणानि येषां तथाभूतान्येव, न तु सर्वतः अखिलप्रतिमार्चकविषयकानित्यर्थः॥२१८॥

भावानुवाद—इसलिए पुराणादिमें वैसे प्रतिमा पूजकोंकी न्यूनता (निकृष्टता) प्रतिपादन करनेवाले वाक्य दृष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि ये समस्त वचन पूर्वोक्त प्रतिमा अर्चनकारियोंको भगवद्भक्तिरूप महाप्रेम-सम्पद प्राप्त न होनेके कारण ही कहे गये हैं। इन वचनों द्वारा सभी प्रतिमा पूजकोंकी निन्दाका अभिप्राय नहीं है॥२१८॥

तेऽपि नूनं न तां पूजां त्यजेयुर्यदि सर्वथा।
तदा तन्निष्ठया चित्ते शोधिते गुणदर्शिनाम्॥२१९॥

श्लोकानुवाद—यदि वैसे निकृष्ट पूजक भी प्रतिमा-पूजाका त्याग न कर निरन्तर पूजा करते हैं, तब उस पूजानिष्ठाके द्वारा ही उनका चित्त शोधित होता है॥२१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि यथा-कथञ्चिद्भगवदर्चकानां तादृशं तुच्छं फलं न युज्यत एव; *'वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु। तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्॥'* इत्याद्युक्तेः। तत्राह—तेऽपीति द्वाभ्याम्। शैलीत्यादिबुद्ध्या भगवता सह भेददृष्ट्या नूतनप्रतिमार्चका अपि महाभिमानेनोत्पथगामिनोऽपि भूतवर्गावमानकारिणेऽपि अनादृतवैष्णवगणा अपीत्यर्थः। तां तादृशीमपि पूजां सर्वथा नूनं निश्चितं यदि न त्यजेयुः, सर्वथेत्यस्य परेण वा सम्बन्धः, तदा तस्यां पूजायां निष्ठया तया वा पूजानिष्ठया चित्ते शोधिते सति प्रक्षीणा अशेषा दोषा अभिमानादयो येषां तादृशाः सन्तः, कालेन कियता स्वल्पेनैवेत्यर्थः, परमोत्तमाः शुद्धभक्तिमन्तो भवन्ति। ये च दम्भादिना तादृशीं पूजां कृत्वा तत्फले लब्धे तत्कालमेव तां त्यजेयुस्ते च बहुना कालेनोत्तमा भवन्तीति ज्ञेयम्॥२१९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तथापि जिस किसी भावसे भगवान्‌का अर्चन करनेसे जागतिक तुच्छ फल कदापि सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि "हे मैत्रेय! जिनका मन जप, होम या अर्चनकालमें वासुदेवमें निमग्न रहता है, उनके लिए देवराज पद आदि फलोंकी प्राप्ति बाधा स्वरूप हैं।"—इस प्रमाणसे पूजामात्र द्वारा महान फलका उत्पन्न होना सुना जाता है, अतएव पूर्वोक्त पूजाका तुच्छफल किसी भी रूपमें सङ्गत नहीं होता। इसे बतानेके लिए 'तेऽपि' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं।

जो प्रतिमाको पत्थर, काष्ठ इत्यादिसे निर्मित मानकर भगवान्‌के साथ भेददृष्टिसे उसकी पूजा करते हैं, जो किसी नव-निर्मित प्रतिमाके अर्चक हैं, जो महाभिमानवशतः धर्मके पथसे दूर हो गये हैं, जो प्राणियोंका तिरस्कार करनेवाले हैं तथा जो समस्त वैष्णवोंका अनादर करनेवाले हैं—ऐसे समस्त निकृष्ट प्रतिमा पूजक भी यदि अपनी-अपनी पूजाका परित्याग न करें, अपितु निरन्तर पूजा करते रहें, तब उस पूजानिष्ठाके प्रभावसे अथवा उनकी पूजानिष्ठाको देखकर किसी भक्तकी कृपावशतः उनके दोषोंके क्षीण होनेसे उनका चित्त शोधित हो जाता है। इस प्रकार अल्पकालमें ही उनके अभिमान आदि समस्त दोष विलीन हो जाते हैं और वे शुद्ध भक्तिमान हो जाते हैं। किन्तु जो दम्भपूर्वक वैसी पूजा करते हैं और पूजाका फल प्राप्त होते ही उसी क्षण पूजाको त्याग देते हैं, वे बहुतकालके उपरान्त ही उत्तम पूजकके रूपमें परिगणित हो सकते हैं॥२१९॥

कृपया कृष्ण–भक्तानां प्रक्षीणाशेषदूषणाः।
कालेन कियता तेऽपि भवन्ति परमोत्तमाः॥२२०॥

श्लोकानुवाद—केवल गुणोंको ही ग्रहण करनेवाले श्रीकृष्णभक्तोंकी कृपासे वैसे प्रतिमा पूजकोंके समस्त दोष अल्पकालमें ही क्षीण हो जाते हैं तथा वे यथाकालमें उत्तम भक्तके रूपमें परिगणित होते हैं॥२२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वनादरेण जाताद्वैष्णवेष्वपराधात् कथं तादृक्त्वं नाम सिध्येत्? तेषामेव महतामनुग्रहादित्याह—कृष्णभक्तानां कृपयेति। ननु तादृशेषु महतामुपेक्षैव युक्ता, तत्राह—गुणानेव द्रष्टुं शीलं येषां तेषामिति। भगवद्दर्शनात्तादृशा-नामप्यपराधस्तैर्न गृह्यते, प्रत्युतानुग्रह एव क्रियत इति भावः॥२२०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैष्णवोंके अनादर हेतु वैष्णव अपराध संघटित होनेसे किस प्रकार उनका उत्तम होना सिद्ध होगा? वैसे पूजक भी महापुरुषों अर्थात् कृष्णभक्तोंके अनुग्रहसे उत्तम हो जाते हैं—इसे बतलानेके लिए 'कृपया' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णभक्तोंकी कृपासे दोष क्षीण होने पर शीघ्र ही वे उत्तम भक्तके रूपमें परिगणित होते हैं। यदि कहो कि वैसे वैष्णव अपराधियोंके प्रति समस्त महत्जनोंकी उपेक्षा ही देखी जाती है। इसके लिए कहते हैं कि गुणग्रहण करना ही वैष्णवोंका स्वभाव होता है, अतः सर्वदा भगवान्का दर्शन करनेके कारण वे प्रतिमाके अर्चनकारीके गुणमात्र ही ग्रहण करते हैं। इसलिए उनके द्वारा अपराधीको दण्ड देनेकी बात तो दूर रहे, अपितु वे उन पर अनुग्रह ही करते हैं॥२२०॥

यथा सकामभक्ता हि भुक्त्वा तत् कामितं फलम्।
काले भक्ति–प्रभावेण योग्यं विन्दन्ति तत् फलम्॥२२१॥

श्लोकानुवाद—सकाम भक्तगण भक्तिके प्रारम्भमें भक्तिके अनुरूप फलको प्राप्त नहीं करते, परन्तु अपनी कामनाके अनुसार तुच्छ विषयोंको भोगकर कालक्रममें भक्तिके प्रभावसे यथार्थ फल प्राप्त करते हैं॥२२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति द्वाभ्याम्। तद्विषयभोगादिरूपं तुच्छमित्यर्थः। योग्यं भगवद्भक्त्युचितं वाञ्छातीतमपि भक्तिप्रभावेण कालान्तरे यथा लभन्ते, तथा तेऽप्युत्तमतां कालेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥२२१॥

भावानुवाद—कालक्रममें निम्न भक्तोंके भी उत्तम होनेका दृष्टान्त प्रदर्शन करनेके लिए 'यथा' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। जिस प्रकार सकाम भक्तगण अपनी-अपनी कामनाके अनुसार प्राप्त विषय-भोगरूप तुच्छफलको भोगकर कालक्रममें भक्तिके उचित और अपनी वाञ्छाके भी अतीत फलको भक्तिके प्रभावसे प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार कालक्रममें उनकी उत्तमता भी सिद्ध होती है॥२२१॥

यथा च तत्र तत्कालं भक्तेर्योग्यं न सत्फलम्।
सञ्जातमिति तच्छुद्धभक्तिमद्भिर्विनिन्द्यते॥२२२॥

श्लोकानुवाद—सकाम अवस्थामें तत्क्षणात् ही भक्तिका परम मुख्य फल प्राप्त नहीं होता, इसलिए शुद्धभक्तगण सकाम भक्तिकी निन्दा करते हैं॥२२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र सकामभक्तौ तत्कालं तदैव सत् फलं न सञ्जातं, किन्तु तत्र कालविलम्बोऽभूदित्यर्थः। इत्यतो हेतोः तत् सकामभक्तप्राप्तं शुद्धभक्तिमद्भिर्निष्कामभक्तैर्यथा विनिन्द्यते, तथा तदपि तैर्विनिन्द्यत इत्यर्थः॥२२२॥

भावानुवाद—किन्तु सकाम भक्तिमें तत्काल ही उत्तम फल उत्पन्न नहीं होता है, कुछ काल विलम्बसे प्राप्त होता है। अर्थात् सकाम अवस्थामें भक्तिका यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता है, इसलिए निष्काम शुद्धभक्तगण सकाम भक्तोंके द्वाराकी जानेवाली फलकामनाकी निन्दा करते हैं। उसी प्रकार भगवान् और उनकी प्रतिमामें भेदबुद्धि रखनेवाले कनिष्ठ प्रतिमा-पूजक भी उत्तम-पूजक द्वारा निन्दित होते हैं॥२२२॥

ते हि भक्तेः फलं मूलं भगवच्चरणाब्जयोः।
सदा सन्दर्शन-क्रीड़ानन्दलाभादि मन्वते॥२२३॥

श्लोकानुवाद—शुद्धभक्त भगवान्के युगल चरणकमलोंका सदैव दर्शन और उनके साथ क्रीड़ादिरूप आनन्द प्राप्तिको ही भक्तिका मुख्यफल मानते हैं॥२२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तत् सत् फलं यत्तैः स्तूयत इत्यपेक्षायामाह—ते हीति। शुद्धभक्तिमन्तः सदा सन्दर्शनं साक्षादवलोकनं, क्रीड़ा सहविहारः सैवानन्दः

तयोर्लाभादि मूलं सुखं फलं मन्वते, प्रेमभक्त्या तदेकप्रियत्वात्। आदिशब्दादनुग्रह-विशेषे-साक्षात्-सेवानन्दलाभादि॥२२३॥

भावानुवाद—भक्तिका वह वास्तविक फल क्या है जिसकी शुद्धभक्त इतनी स्तुति करते हैं? इसकी अपेक्षामें 'ते हि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। शुद्ध भक्त श्रीभगवान्‌के युगल चरणकमलोंका निरन्तर सन्दर्शन अर्थात् साक्षात् अवलोकन और उनके साथ क्रीड़ा और विहारादिरूप सेवानन्दकी प्राप्तिको ही भक्तिके मुख्यफलके रूपमें मानते हैं, क्योंकि एकमात्र प्रेमभक्ति ही भगवान्‌को प्रिय है। मूल श्लोकके 'आदि' शब्द द्वारा विशेष अनुग्रह और साक्षात् सेवानन्दको प्राप्त करना भी ग्रहणीय है॥२२३॥

नापि तत्र सहन्ते ते विलम्बं लव-मात्रकम्।
भगवानपि तान् हातुं मनागपि न शक्नुयात्॥२२४॥

श्लोकानुवाद—वे शुद्धभक्त भगवान्‌के दर्शनमें लवमात्र कालका भी विलम्ब सहन करनेमें असमर्थ होते हैं तथा श्रीभगवान् भी क्षणभरके लिए भी उन्हें त्याग नहीं करते हैं॥२२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तदपि कालेन सेत्स्यति इति त्वयैवोक्तं, तत्राह—नापीति। ते प्रेमभक्ताः तत्र सन्दर्शनादिलाभे लवमात्रकं लवपरिमितकालप्रमाणकमपि; यद्वा, स्वार्थे कः, लवमात्रं कालं व्याप्यापि विलम्बम् अन्तरायं न सहन्ते। किञ्च, विलम्बे सति श्रीभगवतोऽपि विरहदुःखं भवेदित्याह—भगवानिति। तान् प्रेमभक्तान्, अतः कालविलम्बहेतुकं कामफलं तैर्निन्द्यत इति युक्तमेवेति भावः॥२२४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सकाम भक्तगण जब अपनी कामनाके अनुसार विषयरूप फलको भोगकर कालक्रममें भक्तिके योग्य फलको प्राप्त करते हैं, तब भी उनकी निन्दा क्यों की जाती है? इसके समाधानके लिए 'नापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रेमी भक्तगण मुख्य फलप्राप्तिमें अर्थात् श्रीभगवान्‌के दर्शनके विषयमें लवमात्र कालके विलम्बको भी सहन नहीं कर सकते हैं। तथा श्रीभगवान् भी वैसे भक्तोंके अपने प्रति विरह-दुःखको सहन नहीं कर सकनेके कारण उन्हें क्षणकालके लिए भी त्याग नहीं कर सकते हैं। अतएव भगवान्‌की प्राप्तिमें काल विलम्ब हेतु प्रेमी भक्तगण काम्य फलोंकी निन्दा करते हैं॥२२४॥

अतोऽन्यान्यतितुच्छानि सर्वकामफलानि हि।
मुक्तिश्च सुलभान्यस्मात्तद्भक्तिर्न तु तादृशी॥२२५॥

श्लोकानुवाद—अतएव अन्य-अन्य समस्त प्रकारके अतितुच्छ काम्यफल और मुक्तिको सुलभतासे ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु श्रीभगवान् अपनी भक्तिको सहज ही प्रदान नहीं करते हैं॥२२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्मादुक्ताद्धेतोः अन्यानि तत्सन्दर्शनादिव्यतिरिक्तानि सर्वाण्येव कामफलानि परमतुच्छानि, मुक्तिरपि तुच्छा, अतोऽस्माद्भगवतः सकाशात् तानि सा च सुलभानि, न तु तादृशी प्रेमलक्षणा तस्य श्रीकृष्णदेवस्य भक्तिः सुलभा, किन्तु मुक्तेरपि सकाशात् परमदुर्लभेत्यर्थः। यथोक्तं श्रीशुकदेवेन पञ्चमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ५/६/१८)—*'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां, दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः। अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥'* इति। अस्यार्थः—राजन् हे परीक्षित् भवतां पाण्डवानां यदूनाञ्च पतिः पालकः, गुरुरुपदेष्टा, दैवमुपास्यः, प्रियः सुहृत्, कुलपतिर्नियन्ता। किं बहुना, क्व च कदाचित् दौत्यादिषु वः पाण्डवानां किङ्करोऽपि आज्ञानुवर्ती; अस्तु नामैवं तथाप्यन्येषां भजतामपि मुक्तिं ददाति, यतो मुकुन्दः, मुकुं मुक्तिसुखम्, यद्वा, मुं मुक्तिं कुं भुक्तिञ्च ददातीति तथा सः, न तु कदाचिदपि सप्रेमभक्तियोगं, यतो भगवान् परमेश्वरतया परमस्वतन्त्र इत्यर्थः, तद्दानेन भक्तवश्यतया परमास्वातन्त्र्यापत्तेः। यदि च सर्वज्ञवर इत्यर्थः, तदा तद्रसानभिज्ञाय तद्दानस्यायोग्यत्वान्न ददातीत्यर्थो द्रष्टव्य इति। परमप्यत्र हेतुं स्वयमेवाग्रे वक्ष्यति॥२२५॥

भावानुवाद—भक्ति ही श्रीभगवान्‌की पूजाका मुख्य फल है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के दर्शनादिके अलावा परमतुच्छ समस्त प्रकारके काम्यफल, यहाँ तक कि तुच्छ मुक्ति भी श्रीभगवान्‌से अनायास ही प्राप्त की जा सकती है, किन्तु प्रेम-लक्षणा भक्तिको वे सहजमें किसीको भी प्रदान नहीं करते हैं। इसलिए वह प्रेम-लक्षणा श्रीकृष्णभक्ति मुक्तिसे भी परम दुर्लभरूपमें कथित होती है। यथा श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (५/६/१८)में कहा है—"हे राजन्! भगवान् मुकुन्द तुम्हारे और यादवोंके पालक, गुरु, उपास्य, सुहृद और कुलके नियन्ता होकर भी कभी-कभी दूत द्वारा किये जानेवाले कार्योंको करनेके कारण तुम्हारे किंकरके समान व्यवहार करते हैं। यद्यपि श्रीभगवान् तुम्हारे प्रति ऐसा व्यवहार करते हैं, किन्तु अन्य लोग जो उनका भजन करते हैं, उन्हें

वे प्राय मुक्ति ही देते हैं तथा कभी भी किसीको सहजमें भक्ति प्रदान नहीं करते हैं।" तात्पर्य यह है कि हे राजन्! (हे परीक्षित!) भगवान् मुकुन्द तुम्हारे और यादवोंके पति (पालक), गुरु (उपदेष्टा), देव (उपास्य), प्रिय (सुहृत), कुलपति (नियन्ता) हैं। अधिक क्या, कभी-कभी दूत (संदेशवाहक) कार्योंके समय वे तुम्हारे किंकरके समान आज्ञापालक होते हैं। हे अङ्ग! (हे प्रिय!) यह सब बातें तो दूर रहें, जो अन्य लोग उनका भजन करते हैं, उन्हें वे मुक्ति ही प्रदान करते हैं तथा कभी भी किसीको सहजमें भक्तियोग प्रदान नहीं करते हैं। इसका कारण है कि वे मुकुन्द हैं; मुकुं—मुक्तिसुख देनेवाले, अथवा 'मु'—मुक्ति, 'कुं'—भुक्ति भी दान करते हैं, किन्तु कभी भी किसीको सहजरूपमें प्रेमभक्ति दान नहीं करते हैं। वे भगवान् परमेश्वर होनेके कारण परम स्वतन्त्र हैं, किन्तु अपनी प्रेमभक्तिको दान करनेसे वे भक्तोंके वशीभूत रहनेके कारण परम अस्वतन्त्र हो जायेंगे। वे सर्वज्ञ शिरोमणी हैं, अतः प्रेमरससे अनभिज्ञजनोंको प्रेमभक्तिदानके अयोग्य मानकर ही उसे प्रदान नहीं करते हैं। इसका कारण आगे कहा जायेगा॥२२५॥

तत्प्रसादेन भक्तानामधीनो भगवान् भवेत्।
इति स्वातन्त्र्य-हान्येव न तां दद्यान्महेश्वरः॥२२६॥

श्लोकानुवाद—भक्तिकी कृपासे श्रीभगवान्‌को भी भक्तोंके अधीन होना पड़ता है। वे भगवान् महेश्वर हैं, भक्तोंके अधीन होनेमें उनकी स्वतन्त्रतामें बाधा आती है, इसलिए वे अपनी भक्तिको सहजमें प्रदान नहीं करते हैं॥२२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्धेतुमेव परमतनिरूपणेन प्रपञ्चयति—तदिति षड्भिः। तस्याः प्रेमभक्तेः प्रसादेन, इत्यतो हेतोः, इवेत्युत्प्रेक्षायां, महेश्वरः परमेश्वरः स्वभावतो न कथमपि कस्यचिदधीन इत्यर्थः॥२२६॥

भावानुवाद—उस भक्तिको सहजमें प्रदान न करनेका कारण बतानेके लिए 'तद्' इत्यादि छह श्लोकों द्वारा प्रथमतः अन्योंके मतका निरूपण करते हुए तत्पश्चात् अपने मतका प्रकाश कर रहे हैं। प्रेमभक्तिकी कृपासे वे भगवान् भक्तोंके वशीभूत हो जाते हैं, इसीलिए

वे सहजमें किसीको भी भक्तियोग प्रदान नहीं करते हैं। इसका कारण है कि जो महेश्वर (परमेश्वर) स्वभावतः कभी भी किसीके अधीन नहीं हैं, वे किस प्रकारसे अपनी स्वतन्त्रताको त्यागकर भक्तोंके अधीन होंगे? (इसे अन्योंका मत जानो।)॥२२६॥

मन्ये महाप्रेष्ठजनानुवश्यता न दुःख–दोषौ विदधीत कौचन।
किन्तु प्रमोदं निज–भक्तवत्सलत्वादीन्महाकीर्त्तिगुणांस्तनोति सा॥२२७॥

श्लोकानुवाद—परन्तु हम तो यह मानते हैं कि श्रीभगवान्‌को भक्तिवशतः अपने महाप्रियतम भक्तोंकी अधीनतामें दुःख या दोष कुछ भी नहीं होता, अपितु ऐसा करनेसे उन्हें महान आनन्द ही प्राप्त होता है। इस प्रकार भगवान् अपने भक्तवात्सल्यादि महाकीर्त्तिरूप गुणका ही विस्तार करते हैं॥२२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परमतमुक्त्वा निजमतमाह—मन्य इत्यादिना। तत्रादौ परमतं निरस्यति—मन्य इति द्वाभ्याम्। महाप्रेष्ठजनेषु अनुवश्यता अधीनता प्रियजनानां दुःखदोषौ न विदधीत, स्वातन्त्र्यभङ्गे न किञ्चिद्दुःखम्। तथा पराधीनत्वेनैश्वर्यहान्या किञ्चिद्दोषञ्च न कुर्यादित्यर्थः। किन्तु सा प्रेष्ठजनानुवश्यता लोकानां प्रमोदमेव विस्तारयति, तथा भक्तवत्सलत्वादीन् महाकीर्तिरूपान् गुणांश्च विस्तारयति। आदि-शब्देन परमोदारतादि। प्रियतमाधीनताया मिथो हर्षभरविवृद्धिहेतु-प्रेमविशेष-विस्तारणरूपत्वान्न किञ्चिद्दुःखं, प्रत्युत प्रमोद एव स्यात्, भक्तवात्सल्यरूपत्वाच्च महाकीर्त्तिसम्पत्त्या न कोऽपि दोषोऽथ च गुण एवेति विवेकः॥२२७॥

भावानुवाद—इस प्रकार अन्योंका मत कहकर अब अपना मत प्रकाश कर रहे हैं तथा उसमें भी सर्वप्रथम अन्योंके मतका खण्डन 'मन्य' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कर रहे हैं। भगवान् द्वारा अपने महाप्रियतमजनोंकी अधीनता स्वीकार करनेसे उन प्रियतम भक्तोंमें किसी प्रकारका दुःख-दोष उत्पन्न नहीं होता तथा अपनी स्वतन्त्रताको भक्तोंके अधीन करनेसे भगवान्‌को भी कोई दुख नहीं होता है। तथा पराधीनतावशतः ऐश्वर्यकी हानिसे भी किसी प्रकारका दोष नहीं होता। अपने प्रियतमजनोंकी अधीनता द्वारा भगवान् जगतमें आनन्दका तथा अपने भक्तवात्सल्यादि महाकीर्त्तिरूप गुणका ही विस्तार करते हैं। 'आदि' शब्द द्वारा परम-उदारता या महा-वदान्यतारूप गुण भी

ग्रहणीय हैं। इस प्रकार प्रियतमकी अधीनतामें परस्पर हर्षके वर्द्धन हेतु प्रेमविशेष विस्ताररूप लीला प्रकटित होनेके कारण दुःखकी गन्धमात्र भी नहीं रहती, अपितु आनन्दका ही विस्तार होता है। विशेषतः भगवान्‌की भक्तवात्सल्यरूप महाकीर्त्तिके विस्तार होनेके कारण इसमें किसी प्रकारका दोषादि स्पर्श नहीं कर सकता है, बल्कि यह महागुणके रूपमें ही पर्यवसित होता है॥२२७॥

विशेषतो नागरशेखरस्य, स्वारामतादि-स्वगुणापवादैः।
अपेक्षणीया परमप्रिया सा, काष्ठा परा श्रीभगवत्त्वसीम्नः॥२२८॥

श्लोकानुवाद—विशेषतः नागर-शिरोमणि श्रीकृष्ण अपने आत्मारामता जैसे समस्त गुणोंको परित्याग कर सकते हैं, किन्तु अपने प्रिय भक्तोंकी अधीनतारूप गुणको कदापि परित्याग नहीं कर सकते हैं, बल्कि आदरसहित उसे वरण करते हैं। यही उनकी भगवत्ताकी चरम सीमा है॥२२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन सर्वेषामेव सा युक्ता भवति। भगवतः परमवैदग्धीरभसावेगत्वाद्विशेषेणोचितैवेत्याह—विशेषत इति। सा प्रेष्ठजनानुवश्यता नागरशेखरस्य तु भगवतः प्रमोदं महाकीर्त्तिगुणांश्च विशेषत आधिक्येन तनोतीति पूर्वेणैवान्वयः। सा भगवतः परमप्रियेति, वाक्यसमाप्तिर्वा। तत्र हेतुः—सैव श्रीमतो भगवत्त्वस्य भगवत्स्वभावस्य सीम्नः सीमायाः परा चरमा काष्ठा निष्ठा, भक्तवात्सल्य-विशेषरूपमहागुणाविष्कारात्। अतएव स्वारामता आत्मारामता, आदिशब्देन पूर्णकामता-महायोगेश्वरतादि, तद्रूपाणां स्वगुणानामपवादैः परिहारैरपि अपेक्षणीया आदरणीया। एतच्च श्रीसत्यभामादेवी-मानभञ्जनादिप्रसङ्गे हरिवंशादितो व्यक्ततां गतमेवास्ति॥२२८॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्यरूपसे प्रियजनोंके वशीभूत रहना सभी अवतारोंके लिए ही उचित होने पर भी परमवैदग्धीपूर्ण आवेगके कारण श्रीकृष्णके सम्बन्धमें वैसी अधीनताका विशेषरूपमें प्रयुक्त होना ही उचित है। इसे बतलानेके लिए 'विशेषतो' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अपने प्रियतमजनोंकी अधीनता नागर-शिरोमणि श्रीकृष्णको आनन्दित करती है तथा उनकी महाकीर्त्तिरूप समस्त गुणोंको अधिकसे भी अधिकतर रूपमें विस्तार करती है। अतएव वैसी अधीनता श्रीभगवान्‌को परमप्रिय है। इसका कारण है कि श्रीकृष्णका स्वरूप ही भगवान्‌के

स्वभावकी चरम सीमा है, जिसमें भक्तवात्सल्यरूप महागुणका विशेषरूपमें आविष्कार हुआ है। यहाँ तक कि श्रीभगवान् अपनी आत्मारामता, पूर्ण-कामता, महायोगेश्वरता आदि समस्त गुणोंका परित्याग कर सकते हैं, किन्तु अपने प्रियजनोंकी अधीनताका त्याग नहीं कर सकते, अपितु आदर सहित उसे हृदयमें धारण किये रहते हैं। यह समस्त विचार श्रीहरिवंशादिमें श्रीसत्यभामादेवीके मान-भञ्जनादि प्रसंगमें व्यक्त है॥२२८॥

सप्रेमभक्तेः परिपाकतः स्यात् काचिन्महाभावविशेषसम्पत्।
सा वै नरीनर्ति महाप्रहर्षसाम्राज्यमूर्धोपरि तत्त्वदृष्ट्या॥२२९॥

श्लोकानुवाद—उस प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशामें कोई एक ऐसी अनिर्वचनीय महा-भावरूपी विशेष सम्पत्ति उदित होती है तथा तत्त्वदृष्टिसे विचार करने पर वह सुख-सम्पत्ति महासुख साम्राज्यके मस्तक पर भी नृत्य करती है॥२२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथं न दत्ते? तत्राह—सप्रेमेति द्वाभ्याम्। काचिदनिर्वचनीया महतो महती वा भावविशेषस्य विरहाग्निवैकुल्यरूपस्य सम्पत् सम्पत्तिः स्यात्; सा सम्पत् तत्त्वदृष्ट्या परमार्थविचारेण महाहर्षाणां साम्राज्यस्य परमवैभवस्य मूर्धोपरि यद्यपि नरीनर्ति भृशं नृत्यति, परममहानन्दविशेषमयीत्यर्थः॥२२९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भक्तवात्सल्य गुणवशतः भगवान् समस्त भक्तोंको ही उस सम्पदको दान क्यों नहीं करते हैं? इसके समाधानके लिए 'सप्रेम' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। प्रेमभक्ति अपनी परिपक्व दशामें कोई एक अनिर्वचनीय महाभावविशेष अर्थात् विरहाग्निकी विकलतारूप सम्पत्ति होती है। वह सम्पत्ति तत्त्वदृष्टि या परमार्थ विचारसे महाहर्ष साम्राज्यके परमवैभवोंके मस्तक पर भी सुखपूर्वक पुनः-पुनः नृत्य करती है, क्योंकि वह सम्पत्ति परम आनन्दरूपा है॥२२९॥

स्वभावतोऽथापि महार्त्तिशोक-सन्ताप-चिह्नानि बहिस्तनोति।
बाह्यापि सा प्रेष्ठतमस्य सोढुं दशा न शक्येत कदापि तेन॥२३०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि महाभावकी अवस्थामें स्वभावतः बाहरसे महादुःख, शोक और सन्तापादिके चिह्न प्रकटित होते हैं तथा भक्तोंके हृदयमें एक अनिर्वचनीय आनन्दका सञ्चार होता है, तथापि अपने प्रियतम भक्तोंकी वैसी बाह्य अवस्थाको भी श्रीकृष्ण सहन नहीं कर सकते हैं। इसलिए वे अपनी प्रेमभक्ति सहजमें प्रदान नहीं करते हैं॥२३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथापि तथापि स्वभावतः निजसहजधर्मतो हेतोर्महतां बृहत्तराणाम् आर्त्तिशोकसन्तापानां चिह्नानि महार्त्तनादाद्रोदनादीनि बहिस्तनोति न त्वन्तः, तत्त्वतः प्रेमभक्तेः परमानन्दमयत्वात्, अन्यथा तस्या धिक्कृतब्रह्मानन्दानुभव-रूपतानुपपत्तेः। सा दशा अवस्था बाह्यापि तेन भगवता सोढुं न शक्येत। कुतः? प्रियतमस्य परमप्रियतमजनविषयकमिथ्यादुःखस्यापि प्रियतमेनासह्यत्वात्। एवं भगवच्छब्दस्य तस्य परमप्रियतमार्थोऽभिप्रेतः॥२३०॥

भावानुवाद—तथापि वैसी महाभाव अवस्थारूप सम्पद स्वभावतः अर्थात् अपने सहज धर्मवशतः बाह्यरूपसे भक्तोंमें महादुख, शोक और सन्तापके समस्त चिह्न तथा क्रन्दन और रोदन प्रकटित करती है। किन्तु अन्तरमें परमानन्दका सञ्चार होता है, क्योंकि तत्त्वतः प्रेमभक्ति परमानन्दमय है। ऐसा न होनेसे उस सम्पत्तिमें ब्रह्मानन्द अनुभवके सुखको तुच्छ करनेके दृढ़ धर्मका लोपरूप असङ्गति दोष उपस्थित हो सकता है। यद्यपि भक्तोंमें दुःख-शोक आदि अवस्था बाह्य ही होती है, तथापि श्रीभगवान् उसे भी सहन नहीं कर सकते हैं। किसलिए? प्रियतम द्वारा अपने परम प्रियतमजनोंका मिथ्या दुःख भी किसी प्रकारसे सहन नहीं हो सकता है। यहाँ 'भगवत्' शब्द 'परम प्रियतम'के अर्थमें प्रयोग हुआ है॥२३०॥

लोका बहिर्दृष्टिपरास्तु भावं तं भ्रामकं प्रेमभरं विलोक्य।
भक्तावकामा विहसन्ति भक्तांस्तत्प्रेमभक्तिं भगवान्न दत्ते॥२३१॥

श्लोकानुवाद—किन्तु बाह्यदृष्टिसे सभी लोग भक्तोंकी प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशासे उदित वैसे शोकपूर्ण रोदन आदि चिह्न देखकर भ्रमग्रस्त हो जाते हैं। ऐसेमें वे लोग भक्ति करनेकी इच्छासे रहित

होकर समस्त भक्तोंका उपहास करते हैं, इसीलिए भी श्रीभगवान् अपनी प्रेमभक्तिको प्रदान नहीं करते हैं॥२३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, मूर्खलोकहितार्थञ्च न ददातीत्याह—लोका इति। तमुक्तप्रकारकं प्रेमभरं प्रेमभक्तिपरिणतिजं भावम् आर्त्तनादादिरूपां चेष्टां परमार्त्तिमयं स्वभावं वा विलोक्य लोका भक्तौ विषये अकामास्तदनिच्छवः सन्तः भक्तान् तादृशभाववतो जनान् विहसन्ति उपहसन्ति। कुतः? बहिर्दृष्टिपराः, न तु तत्तत्त्ववेदिनः। कीदृशं भावम्? भ्रामकं, किमयं भावः परमदुःखमयः परमसुखमयो वेति बहिर्दृष्टीनां भ्रमजनकम्। अतएव प्रायशो बहिर्दृष्टिपरा लोकास्तत्तत्त्वं बोद्धुमसमर्थास्तादृशान् प्रेमभक्तानुपहसन्तीति भावः। तत्तस्मात् प्रेमभक्तिं न दत्ते, यतो भगवान् परमदयालुत्वेनाखिललोकहितकारीत्यर्थः॥२३१॥

भावानुवाद—तदुपरान्त 'लोका' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि मूर्ख लोगोंके हितके लिए भी श्रीभगवान् उस प्रेमभक्तिरूप सम्पत्तिको सभीको प्रदान नहीं करते हैं। इसका कारण है कि बाह्यदृष्टि रखनेवाले लोग प्रेमभक्तिके तत्त्वको नहीं जानते, अतएव प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशामें उत्पन्न होनेवाले क्रन्दन-रोदन आदि परम दुखमय भावोंको देखकर भक्तिके प्रति श्रद्धाहीन होकर प्रेमी भक्तोंके वैसे स्वभावको देखकर उपहास करते हैं। भक्तोंका वह भाव किस प्रकारका होता है? बाह्यदृष्टिमें अनुरक्त लोग यह चिन्ता करते हैं कि क्या भक्तोंका भाव परम दुःखमय है अथवा सुखमय है? इसे निश्चित न कर पानेके कारण ही उनके लिए वैसा भाव भ्रामक होता है। अतएव वे भक्तिके तत्त्वको समझनेमें असमर्थ होकर प्रेमी भक्तोंका उपहास करते हैं। इसीलिए श्रीभगवान् सहजमें प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते हैं, क्योंकि वे परमदयालु होनेके कारण सभी लोगोंके हितकारी हैं॥२३१॥

सप्रेमका भक्तिरतीव दुर्लभा, स्वर्गादिभोगः सुलभोऽभवश्च सः।
चिन्तामणिः सर्वजनैर्न लभ्यते लभ्यते काचादि कदापि हाटकम्॥२३२॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार काँच और कभी-कभी स्वर्ण किसीको भी प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु चिन्तामणि परम दुर्लभ होनेके कारण सबको प्राप्त नहीं होती है। उसी प्रकार स्वर्गादि भोग और मोक्षसुख सुलभ हैं, किन्तु प्रेमभक्ति अत्यन्त दुर्लभ है॥२३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि भवादृशैः कथं सा प्राप्ता? तत्राह—सप्रेमेति। स्वर्गादिभोगस्तु सुलभः, स्वर्गशब्देन तत्रत्याः परमोत्कृष्टा विविधविषया लक्ष्यन्ते। आदिशब्दात् भू-पाताल-महर्लोकादि। अप्यर्थे चकारः। स परमदुर्लभत्वेन मुमुक्षुभिः प्रतिपाद्यमानोऽभवो मोक्षोऽपि सुलभः युक्तमेवेत्याह—चिन्तामणिरिति, चिन्तामणिः प्रेमभक्तिस्थानीयः, काचादि स्वर्गादिभोगस्थानीयं, हाटकञ्च मुक्तिस्थानीयं, कामादिभोगतो मुक्तेर्दौर्लभ्यात्; काचादेः सकाशात् स्वर्णस्येव। तदपि कदाचिदिति। तस्मिन्नेव एतत् कैश्चित् प्राप्यते, न तु चिन्तामणेः स्वर्णतोऽपि तस्य परमदौर्लभ्यात्। एवं कदाचित् केनचिदेव प्रेमभक्तिः प्राप्यत इति भावः॥२३२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब आप (श्रीनारद) जैसे व्यक्तियोंने किस प्रकार उस प्रेमभक्तिको प्राप्त किया है? इसकी अपेक्षामें 'सप्रेम' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। स्वर्गादिमें भोग सुलभ हैं। 'स्वर्ग' शब्दसे वहाँ स्थित समस्त प्रकारके परम श्रेष्ठ भोगविषयोंको ग्रहण करना होगा। 'आदि' शब्दसे भू-स्वर्ग, बिल-स्वर्ग (सप्त पाताल) और दिव्य-स्वर्गके ऊपर स्थित महर्लोक इत्यादिको ग्रहण करना होगा। यहाँ तक कि मुमुक्षुओं द्वारा जिसे परमदुर्लभ निर्धारित किया गया है, वह मोक्ष भी सुलभ है। इस विषयमें दृष्टान्त है—स्वर्गादिरूप भोग काँचके समान हैं, मोक्ष स्वर्णके समान है तथा प्रेमभक्ति चिन्तामणिके समान है। जिस प्रकार काँचकी तुलनामें स्वर्णकी प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार काम आदि भोगोंसे मुक्तिकी दुर्लभता है। काँच सभीको सहज ही सुलभ होता है, अर्थात् थोड़ा यत्न करनेसे ही पाया जा सकता है तथा स्वर्ण सभीको सुलभ न होने पर भी चेष्टा करनेसे कोई-कोई प्राप्त कर सकता है। किन्तु चिन्तामणि तो स्वर्णसे भी परम दुर्लभ है, इस चिन्तामणिको प्राप्त करनेकी बात तो दूर रहे, यह देखनेको भी नहीं मिलती है। तात्पर्य यह है कि काँचतुल्य स्वर्गादि भोगसुख सभी प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु स्वर्गादिकी भोग-लालसा रहनेसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती है, इसलिए स्वर्गादि भोगोंसे मुक्ति दुर्लभ है। तथा स्वर्णसे भी चिन्तामणिके परम दुर्लभ होनेके कारण प्रेमभक्तिको चिन्तामणिके समान कहा गया है, क्योंकि भुक्ति-मुक्ति कामनाकी गन्धमात्र भी रहने पर प्रेमभक्ति प्राप्त नहीं होती है। समस्त प्रकारकी वासनाओंका परित्याग करनेसे श्रीभगवान्की कृपावशतः

कभी किसीको ये चिन्तामणि तुल्य प्रेमभक्ति प्राप्त हो सकती है॥२३२॥

कदाचिदेव कस्मैचित्तदेकार्थस्पृहावते।
तां दद्याद्भगवान् भक्तिं लोकबाह्याय धीमते॥२३३॥

श्लोकानुवाद—एकमात्र प्रेमभक्तिकी अभिलाषासे युक्त तथा लोक-व्यवहारसे अतीत किसी महान हृदयवाले व्यक्तिको ही श्रीभगवान् कभी-कभी इस प्रेमभक्तिको प्रदान करते हैं॥२३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—कदाचिदिति। तस्मिन्नेव एकस्मिन्नर्थे प्रेमभक्तिरूपे स्पृहा लालसा तद्वते। तां प्रेमलक्षणाम्; धीमते महाशयाय; लोकबाह्याय लोकातीताय, अतो लोका अपि महोन्मादादिग्रस्तमिवोपेक्ष्यत्वान्न तमुपहसन्तीति भावः॥२३३॥

भावानुवाद—'कदाचित्' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं कि श्रीभगवान् कभी-कभी किसीको अपनी प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं। जिन्होंने केवल प्रेमभक्तिके लिए प्रबल लालसासे युक्त होकर समस्त प्रकारके सुखोंको विष-वमनकी भाँति त्याग दिया है, ऐसे लोक-व्यवहारसे अतीत किसी महान हृदयवाले व्यक्तिको ही श्रीभगवान् प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं। अतएव समस्त लोग उसके लोकातीत व्यवहारके कारण उसे महा-उन्मादग्रस्त मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं, किन्तु उपहास नहीं॥२३३॥

शक्यं न तद्भावविशेषतत्त्वं, निर्वक्तुमस्माभिरथो न योग्यम्।
भक्तिप्रवृत्त्यर्थपरैः प्रभोः सच्छास्त्रैरिवाज्ञेषु विरुद्धवत् स्यात्॥२३४॥

श्लोकानुवाद—प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशामें उदित विशेष भावका तत्त्व हम भी निरूपण करनेमें असमर्थ हैं। यद्यपि तटस्थ-लक्षण द्वारा कुछ वर्णन किया जा सकता है, तथापि उसमें विरोध उपस्थित होता है। इसलिए सत्शास्त्रोंकी भाँति प्रभुकी भक्तिप्रवृत्तिरूप अर्थमें अनुरक्त भागवत्गण भी उसे प्रकाशित नहीं करते हैं, क्योंकि मूर्ख व्यक्तिके लिए वह विपरीतरूपमें प्रतीत होता है॥२३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कीदृशोऽसौ प्रेमभक्तिपरिपाकजो भावविशेषः? इत्यपेक्षायामाह—शक्यमिति। तस्य प्रेमभक्तिपरिपाकजस्य भावविशेषस्य तत्त्वं स्वरूपं

निर्वक्तुं निरूपयितुमस्माभिर्नशक्यम्, अवाङ्मनसगोचरत्वात्। ननु तटस्थलक्षणेन निरूपयति चेत्तत्राह—अथो इति, वाक्यान्तरे समुच्चये वा, निर्वक्तुं न योग्यञ्च। तत्र हेतुः—सच्छास्त्रैः श्रीभागवतादिभिरिव; प्रभोः श्रीकृष्णदेवस्य भक्तेः प्रवृत्तिरेव अर्थः प्रयोजनं तत्परैः, तत्त्वतः परमानन्दभरपरिपाकमयस्यापि तद्भावविशेषस्य तत्त्वे निरूप्यमाणे प्रलयाग्निकोटितुल्यतदीयस्वभावश्रवणेन भयान्न कस्यापि प्रेमभक्तौ प्रवृत्तिः स्यादिति भावः। अतएव *'हसत्यथो रोदिति रौति गायति'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४०) इत्यादौ रोदितीत्यादेर्दुःखलक्षणतापरिहाराय *'एतावन्तं कालमहमुपेक्षितोऽस्मि'* इत्येवमादि-प्रकारेण श्रीधरस्वामिपादादिभिश्चतुरवरैरर्थो व्याख्यायत इति ज्ञेयम्। ननु यदि भाव-विशेषोऽसौ तत्त्वतः परमानन्दभरपरिपाकमय एव, तदा परमसन्तापमयस्यापि तदीयबाह्यस्वभावस्य प्रतिपादनेन न कोऽपि दोषः प्रसज्येत, सत्यम्, तथाप्यनभिज्ञेषु तदयुक्तमित्याह—अज्ञेषु तत्तत्त्वं ज्ञातुमशक्तेषु जनेषु विरुद्धवत् तत्प्रतिपादनं विपरीतमिव स्यात्। तत्स्वभावश्रवणेन दुःखशङ्कया प्रेमभक्तौ निवृत्तिदुःखाभावमत्या मुक्त्यादावेव प्रवृत्तिः स्यादिति भावः। रतिस्तु लोकोक्तौ; यद्वा, अज्ञानां प्रेमभक्तिरयोग्यत्वेन स्वत एव तत्राप्रवृत्तेरविरोधात्॥२३४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि उस प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशामें उत्पन्न भावविशेष किस प्रकारका है? इसकी अपेक्षामें 'शक्यं न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशामें उदित भाव विशेषके तत्त्वको निरूपण करनेमें हम भी असमर्थ हैं, क्योंकि वह वाणी और मनके अगोचर है। यदि कहो कि क्या उसके कुछ तटस्थ लक्षणोंका निरूपण नहीं हो सकता है? इसके लिए कहते हैं कि उस तत्त्वको वचन-चातुरी द्वारा भी व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यद्यपि श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों तथा श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी भक्तिप्रवृत्तिरूप प्रयोजनमें ही अनुरक्त साधुओंने भी उस भाव विशेषका तत्त्व परमानन्दके परिपक्वमय रूपमें निरूपण या अनुभव किया है, तथापि उसका स्वभाव 'करोड़ों प्रलयकालीन अग्निके तुल्य है'—ऐसा सुनते ही भयवशतः किसी की भी प्रेमभक्तिमें प्रवृत्ति नहीं होती है। अतएव "भक्त कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं और कभी चीत्कार करते हैं" (श्रीमद्भा॰ ११/२/४०)। इस श्लोकको टीकामें श्रीधरस्वामिपादने अत्यन्त चतुरतापूर्वक भक्तोंके रोदन आदि दुखके लक्षणोंको स्पर्श न करते हुए कहा है—भक्तोंके हँसने, रोने या चीत्कार करनेका अर्थ है कि भक्त कृष्णको पाकर कहते हैं, 'हे प्रभो! इतने समय तक आपने

मेरी उपेक्षा की है।' इस प्रकार श्रीधरस्वामिपादने श्रीकृष्णके विरहसे उत्पन्न दुःख–तापके सम्बन्धमें उल्लेख नहीं किया है।

यदि आपत्ति हो कि वह भावविशेष जब तत्त्वतः परमानन्दकी परिपक्वमय अवस्था है, तब उसका बाह्य स्वभाव परम सन्तापमय होने पर भी उसका वर्णन करनेसे किसी प्रकारका दोष नहीं हो सकता है। यह सत्य है, किन्तु जो उस तत्त्वको समझ नहीं सकेंगे, उनके लिए विपरीत फल होगा। अर्थात् मूर्खके सम्मुख उस तत्त्वका वर्णन करनेसे उक्त बाह्य स्वभावके श्रवणमात्रसे दुःखकी आशंकाकर वह प्रेमभक्तिके साधनमें तत्पर नहीं होगा, अपितु दुःखनिवृत्ति रूप अर्थात् दुःख–अभावमयी मुक्तिकी चेष्टा करेगा। अथवा वैसी प्रेमभक्तिमें मूर्खजनोंकी अयोग्यता होनेके कारण स्वभावतः ही उनकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होती है॥२३४॥

तद्भावोत्कर्षमाधुर्यं विदुस्तद्रससेविनः।
तत्रत्यस्त्वमपि ज्ञास्यस्यचिरात्तत्प्रसादतः॥२३५॥

श्लोकानुवाद—उस प्रेमभक्तिकी श्रेष्ठता और माधुरीको केवल उस रसका आस्वादन करनेवाले ही जानते हैं। हे गोपकुमार! तुम भी श्रीकृष्णके परिकर हो, इसलिए उनकी कृपासे तुम उस रहस्यसे शीघ्र ही अवगत होओगे॥२३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि दीनवात्सल्येन मयि किञ्चित्तन्मधुरमाहात्म्यं प्रकाशयेति चेत्तत्राह—तदिति। तस्य भावस्य उत्कर्षः माहात्म्यं तस्य माधुर्यं, तद्रससेविनः तं तादृग्भावरूपमेव रसं सेवितुं शीलमेषामिति तथा त एव विदुर्जानन्ति, नान्ये। अतो मया तन्न ज्ञायते इति भावः। विनयपरिपाटीयम्; किञ्च, त्वमपि ज्ञास्यसि, तस्य श्रीगोकुलनाथस्य प्रसादतः। तत्र हेतुः—तत्रत्यः तद्गोकुलभूमिभव इति॥२३५॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमार श्रीनारदसे कहें कि तथापि दीनवत्सलताके कारण आप मेरे लिए उस भावविशेषका किञ्चित् मधुर माहात्म्य प्रकाश करें। इसकी अपेक्षामें श्रीनारद 'तद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस भावविशेषका उत्कर्ष या माहात्म्य तथा उसका माधुर्य उस रसका सेवन करनेवाले व्यक्ति ही जानते हैं। अर्थात् उस भावका

रसास्वादन करना ही जिनका स्वभाव है, केवल वे ही उसका माधुर्य जानते हैं, अन्य कोई नहीं। मैं भी उस तत्त्वसे अवगत नहीं हूँ। (वस्तुतः यह श्रीनारदकी विनययुक्त वचन परिपाटीमात्र है।) तदुपरान्त कहते हैं—श्रीगोकुलनाथकी कृपासे तुम उस तत्त्वको जान सकते हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म उस गोकुलभूमिमें हुआ है॥२३५॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

एवं निजेष्टदेव-श्रीगोपाल-चरणाब्जयोः।
नितरां दर्शनोत्कण्ठा तद्वाचा मे व्यवर्धत॥२३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—श्रीनारदकी बात सुनकर मुझमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंके दर्शन करनेकी उत्कण्ठा वर्द्धित हो गयी॥२३६॥

दिग्दर्शिनी टीका— *'गूढ़ा वैष्णवसिद्धान्तमणिमञ्जुषिका हठात्। स्फुटमुद्घाटिता येन तं प्रपन्नोऽस्मि नारदम्॥'* एवमुक्तप्रकारया तस्य नारदस्य वाचा निजेष्ट-देवस्य श्रीगोपालस्य चरणाब्जयोर्दर्शनोत्कण्ठा मे मम नितरां व्यवर्धत, तत्र तत्र तेन तेन प्रकारेण तस्यैव परमोत्कर्षभरप्रतिपादनात्॥२३६॥

भावानुवाद—श्रीगोपकुमारने श्रीनारदको प्रणाम करते हुए कहा—"जिन्होंने अति निगूढ़ वैष्णव-सिद्धान्तरूप मणि-मञ्जूषाको हठात् खोलकर सिद्धान्तरूप मणियोंको प्रकाशित किया है, मैं उन श्रीनारदकी शरण ग्रहण करता हूँ।" इस प्रकारसे श्रीनारदके वचनोंको सुनकर मुझमें मेरे इष्टदेव श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंके दर्शनकी उत्कण्ठा अत्यधिक वर्द्धित हुई। इसका कारण था कि उन्होंने मेरी उत्कण्ठाको बढ़ानेके लिए ही श्रीकृष्णकी परमोत्कर्षताओंका प्रतिपादन किया था॥२३६॥

तादृग्भावविशेषाशा-वात्याप्यजनि तत्क्षणात्।
ताभ्यां शोकार्णवे क्षिप्तं मामालक्ष्याह सान्त्वयन्॥२३७॥

श्लोकानुवाद—उसी क्षण मुझे प्रेमभक्तिके भावविशेष और अपने इष्टदेवके दर्शनकी लालसा—इन दोनों आशाओंके बवंडररूप शोकसमुद्रमें निमग्न देख श्रीनारद सान्त्वना देते हुए कहने लगे—॥२३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव तादृशि प्रेमभक्तिपरिपाकजसदृशे भावविशेषे आशा लालसैव वात्या वातसमूहः, तयाभिभूतस्य महावातुल-साम्यापत्तेः; सापि तत्क्षणादजनि। ताभ्यां दर्शनोत्कण्ठाशावात्याभ्याम्॥२३७॥

भावानुवाद—अतएव मैं वैसी प्रेमभक्तिकी परिपक्व दशामें उत्पन्न भावविशेषको प्राप्त करनेकी आशारूप बवंडरमें निमग्न हो गया तथा उसी समय मुझमें मेरे इष्टदेव श्रीमदनगोपालदेवके दर्शनकी उत्कण्ठा भी प्रबल हो गयी। इन दोनों लालसाओंने मुझे महापागलके समान बना दिया और मैं शोकसमुद्रमें निमग्न हो गया। ऐसा देख कृपामय ऋषिवर श्रीनारद मुझे सान्त्वना देते हुए कहने लगे॥२३७॥

श्रीनारद उवाच—

यद्यप्येतन्महागोप्यं युज्यते नात्र जल्पितुम्।
तथापि तव कातर्य-भरैर्मुखरितो ब्रुवे॥२३८॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—यद्यपि यह महागोपनीय रहस्य इस वैकुण्ठमें प्रकाश करना उचित नहीं है, तथापि तुम्हारी अत्यधिक कातरता देखकर मैं उस रहस्यको बोलनेके लिए बाध्य हो रहा हूँ॥२३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र वैकुण्ठे, एतद्वक्ष्यमाणं व्यक्तं वक्तुं यद्यपि न युज्यते, तथापि ब्रुवे वदामि। तत्र हेतुः—तव कातर्यभरैरार्तिविशेषातिशयैर्मुखरितो मुखरीकृतः सन्॥२३८॥

भावानुवाद—यद्यपि इस वैकुण्ठलोकमें मेरे द्वारा कहे जानेवाले इस गोपनीय विषयका वर्णन करना उचित नहीं है, तथापि मैं कह रहा हूँ। इसका कारण है कि तुम्हारी कातर आर्त्ति (दुःखपूर्ण विवशता) ही मुझे मुखरीकृत अर्थात् बोलनेको बाध्य कर रही है॥२३८॥

इतोऽदूरेऽयोध्या विलसति पुरी श्रीरघुपते-
स्ततो दूरे श्रीमन्मधुरमधुपुर्यैव सदृशी।
पुरी द्वारावत्युल्लसति दयिता श्रीयदुपते-
स्तमेवास्यां गत्वा निज-दयितदेवं भज दृशा॥२३९॥

श्लोकानुवाद—यहाँसे थोड़ी दूरी पर अयोध्यापुरी है, जहाँ श्रीरघुपति विराजित हैं। वहाँसे कुछ दूर श्रीमथुरापुरीके समान परमसुन्दर

द्वारकापुरी प्रकाशमान है। वह द्वारकापुरी यदुपति श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय है, अतएव तुम द्वारकामें जाकर अपने प्रियदेवके साक्षात् दर्शन करो॥२३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—इत इत्यष्टभिः। इतः श्रीवैकुण्ठात् श्रीनारायणपुरीतो वा दूरे श्रीरघुपतेः श्रीरामचन्द्राधिष्ठिता अयोध्या नाम पुरी विलसति विशेषेण शोभते। ततस्तस्य अयोध्यापुर्या दूरे श्रीयदुपतेः श्रीकृष्णचन्द्रस्य दयिता प्रिया द्वारवती नाम पुरी उल्लसति उच्चैः शोभते। कीदृशी? श्रीमत्या मधुरया मधुपुर्या मथुरानगर्या सदृश्येव। हरिवंशोक्त-श्रीविकद्रुवाक्यानुसारेण द्वारकाया मथुरैकप्रदेशरूपत्वात् प्रायो माथुराणामेव यादवादीनां लोकानां तत्र निवासाच्च। एवं तत्प्राप्त्या श्रीमथुरैव त्वया प्राप्तेति भावः। अतः अस्यां द्वारवत्यां गत्वा तं श्रीयुदुपतिमेव निजं तावकमिष्टं देवं दृशा भज, साक्षात् पश्येत्यर्थः॥२३९॥

भावानुवाद—अब 'इत' इत्यादिसे आरम्भकर आठ श्लोकोंमें श्रीनारद गोपकुमारको उसके इष्टदेवके साक्षात् दर्शन करनेका उपाय वर्णन कर रहे हैं। इस वैकुण्ठस्थित श्रीनारायणपुरीसे थोड़ी दूरी पर रघुपति श्रीरामचन्द्रकी अयोध्या नामक पुरी विशेषरूपमें शोभायमान है। फिर उस अयोध्या पुरीसे भी कुछ दूर यदुपति श्रीकृष्णकी प्रियतमा द्वारावती नामक पुरी प्रकाशमान है। वह द्वारावती पुरी कैसी है? वह श्रीमधुपुरी अर्थात् मथुरानगरीके समान है। श्रीहरिवंशमें उक्त श्रीविकद्रुके वाक्यानुसार द्वारका मथुराका ही एक प्रदेशविशेष होनेके कारण मथुराके यादवगण ही द्वारकापुरीमें वास करते हैं। ऐसी द्वारकाको प्राप्त करनेसे मथुराकी भी प्राप्ति हो जाती है। अतएव तुम इस द्वारावतीमें जाकर अपने इष्टदेव श्रीयदुपतिका साक्षात् दर्शन करो और उनका भजन करो॥२३९॥

प्रागयोध्याभिगमने सदुपायमिमं शृणु।
श्रीरामचन्द्र-पादाब्जसेवैकरसिकैर्मतम् ॥२४०॥

श्लोकानुवाद—सर्वप्रथम तुम अयोध्या जानेका श्रेष्ठ उपाय श्रवण करो, जो श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंकी सेवामें अनुरक्त रसिक साधुओं द्वारा सम्मत है॥२४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्र कथं गन्तव्यमित्यपेक्षया क्रमेण तत्र गमनोपायमुप-दिशन्नादावयोध्यागमनप्रकारमाह—प्रागिति चतुर्भिः। इमं वक्ष्यमाणं सन्तमुत्तममुपायं शृणु। कीदृशम्? श्रीरामचन्द्रपादाब्जयोः सेवायामेकस्यामेव रसिकैर्लम्पटैर्मतमनुज्ञातं, तेषां सम्मतमिति वा॥२४०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि मैं उस द्वारावतीमें किस प्रकार जाऊँगा? इसकी अपेक्षामें क्रमपूर्वक वहाँ जानेके उपायका उपदेश देनेके प्रसंगमें प्रथमतः अयोध्या जानेका उपाय—'प्राग्' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। अब कहे जानेवाले उत्तम उपायको श्रवण करो। वह उपाय किस प्रकारका है? श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंके रसिक सेवकों द्वारा सम्मत उपाय है॥२४०॥

साक्षाद्भगवतस्तस्य श्रीकृष्णस्यावतारिणः।
उपासना–विशेषेण सर्वं यद्यपि लभ्यते॥२४१॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि अवतारी श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं तथा उनकी विशेष उपासना करनेसे ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है— ॥२४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—उपाय-विशेषोपदेशे आशङ्कानिरसनपूर्वकहेतुमाह—साक्षादिति द्वाभ्याम्। तस्य श्रीगोलोकनाथस्य श्रीकृष्णस्य उपासनाविशेषेण श्रीमदनगोपाल-दैवत्यदशाक्षरमन्त्रराजाश्रयणेनैव सर्वं श्रीरघुनाथपादपद्मादिकं यद्यपि लभ्यते, तत्र हेतुः—अवतारिणः सर्वावतारबीजस्य, यतः साक्षाद्भगवतः प्रकटाशेषपारमैश्वर्ययुक्तस्य। तदुक्तं श्रीसूतेन प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/३/२८)—*'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'* इति॥२४१॥

भावानुवाद—अयोध्या गमनके लिए किसी विशेष उपायका उपदेश देनेकी आशंकाको दूर करते हुए उसका हेतु 'साक्षात्' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा बतला रहे हैं। उन श्रीगोलोकपति साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना विशेषसे अर्थात् श्रीमदनगोपालदेवके दशाक्षर मन्त्रराजका आश्रय करनेसे यद्यपि श्रीरघुनाथके चरणकमलादि सब कुछ ही प्राप्त किया जा सकता है। इसका कारण है कि श्रीकृष्ण अवतारी हैं, अर्थात् समस्त अवतारोंके बीज हैं तथा साक्षात् भगवान्

होनेके कारण प्रकटित अनन्त–अपार ऐश्वर्यसे युक्त हैं। श्रीमद्भागवत (१/३/२८)में श्रील सूतगोस्वामीने कहा है—"जिन समस्त अवतारोंके सम्बन्धमें मैंने कहा है, उनमें कोई भगवान्‌का अंश है और कोई कला है, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं"॥२४१॥

तथापि रघुवीरस्य श्रीमत्पादसरोजयोः।
तयो रसविशेषस्य लाभायोपदिशाम्यहम्॥२४२॥

श्लोकानुवाद—तथापि श्रीरघुवीरके चरणकमलोंके विशेष रसको प्राप्त करनेके लिए मैं पृथक् रूपमें इस उपदेशको दे रहा हूँ॥२४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तयोरसाधारणयोः श्रीमतोः दण्डकारण्यकण्टकचिह्नकृत-शोभातिशययुक्तयोः; यथोक्तं श्रीशुकेन नवमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ९/११/१९)—*'स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। सपादपल्लवं राम आत्मयोनिरगात्ततः॥'* इति। पादसरोजयोर्यो रसविशेषः असाधारणभजनानन्द इत्यर्थः, तस्य लाभाय अनुभवाय। अयमर्थः—यद्यपि सर्वावतारनिदानस्य श्रीमदनगोपालदेवस्य भक्त्यैव सर्वं सुसिध्यति, तथाप्यवतारत्वेन श्रीरघुनाथस्य किञ्चिद्विशेषापत्तेस्तद्भक्तिविशेषं विना तद्गतरसविशेषो नैवानुभूतः स्यादतएवोपदेशविशेषं करोमीति॥२४२॥

भावानुवाद—तथापि श्रीरघुवीरके असाधारण अर्थात् दण्डकारण्यके काँटोंके चिह्नों द्वारा सुशोभित श्रीयुगल चरणकमलोंके रसविशेष अर्थात् असाधारण भजनानन्दको प्राप्त करनेके लिए मैं पृथक् रूपमें उपदेश दे रहा हूँ। श्रीमद्भागवत (९/११/१९)में श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है—"दण्डकारण्यमें वासके समय श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें जो काँटे चुभे थे, स्मरणकारी भक्तजन काँटोंके चिह्नोंसे सुशोभित उन श्रीचरणकमलोंको अपने हृदयमें स्थापनकर श्रीरघुनाथके लोकमें गमन करते हैं।" तात्पर्य यह है कि यद्यपि समस्त अवतारोंके आदि कारण श्रीमदनगोपालदेवके प्रति भक्तिके प्रभावसे सभी कुछ प्राप्त होता है, तथापि श्रीरघुनाथके अवतारके विषयमें कुछ विशेषता होनेके कारण ही उनके प्रति भक्तिविशेषके बिना श्रीरघुवीर सम्बन्धी रसविशेष अनुभव नहीं किया जा सकता है। इसीलिए उनके प्रति भक्तिका उपदेश पृथक् रूपमें कर रहा हूँ॥२४२॥

"सीतापते श्रीरघुनाथ लक्ष्मणज्येष्ठ प्रभो श्रीहनुमत्प्रियेश्वर।"
इत्यादिकं कीर्त्तय वेदशास्त्रतः ख्यातं स्मरंस्तद्गुणरूपवैभवम्॥२४३॥

श्लोकानुवाद—"हे सीतापते! हे श्रीरघुनाथ! हे लक्ष्मणज्येष्ठ! हे प्रभो! हे श्रीहनुमत् प्रियेश्वर!"—इस प्रकारसे नामकीर्त्तन करो तथा वेदशास्त्रोंमें वर्णित श्रीरघुनाथजीके प्रसिद्ध रूप-गुण-लीलादि वैभवका स्मरण भी करो॥२४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेवाह—सीतेति। श्रीहनूमतः प्रियश्चासावीश्वरश्च तस्य सम्बोधनम्। आदि-शब्दात् श्रीकौशल्यानन्दन दाशरथे भरताग्रज सुग्रीवसख इत्यादि। किं कुर्वन्? तस्य श्रीरघुनाथस्य गुणानां लज्जा-विनयादीनां, रूपस्य च सौन्दर्यस्य कोदण्डपाणित्वादेर्वैभवं महिमानं, द्वन्द्वैकत्वं वा, गुणानुरूपं वैभवञ्च चरितादिकं संस्मरन्। ननु तत् कीदृशम्? तत्राह—वेदतः शास्त्रतश्च पुराणादिभ्यः ख्यातं प्रसिद्धमेव। अतो भवता तद्विज्ञाय तत्र वेति भावः॥२४३॥

भावानुवाद—उस उपदेशको बतानेके लिए 'सीतापते' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'हे श्रीहनुमत्प्रिय ईश्वर!' आदि श्रीरामचन्द्रजीके सम्बोधनसूचक नाम हैं। 'आदि' शब्दसे श्रीकौशल्यानन्दन, दाशरथि, भरत-अग्रज, सुग्रीवसखा इत्यादि नाम भी ग्रहण करने होंगे। अतएव इन समस्त नामोंका कीर्त्तन करो। और क्या करना होगा? श्रीरघुवीरके सुप्रसिद्ध लज्जा-विनयादि गुण, रूप तथा दूर्वादल-श्यामल सौन्दर्य, धनुष-धारणादि वैभव-चरित्र और उनकी महिमाका स्मरण करो अर्थात् मन-ही-मन चिन्ता करो। यदि कहो कि उनका वैभव-चरित्रादि कैसा है? इसके लिए कहते हैं कि वह वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, अतएव तुम्हें वह सब ज्ञात हैं॥२४३॥

येन प्रकारेण निजेष्टदेवो, लभ्येत तस्यानुसृतिः कृतित्वम्।
यत्रास्य गन्धोऽपि भवेत् क्रियेत, प्रीतिः परा तत्र तदेकनिष्ठैः॥२४४॥

श्लोकानुवाद—जिस किसी प्रकारसे अपने इष्टदेवकी सेवा प्राप्त होती है, उसी क्रियाका अनुष्ठान करना ही कर्त्तव्य है। तथा जिस विषयमें अपने इष्टदेवके सम्बन्धकी लेशमात्र भी गन्ध रहती है, उनके एकनिष्ठ भक्त उसमें परम प्रीति प्रकाश करते हैं॥२४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीमदनगोपालदेवेन चिरं हृतचित्ताय मे तदन्यत् किमपि न रोचते, तत्कथमधुनान्यं प्रेम्णा हृदि ग्रहीष्यामि? तत्राह—येनेति। तस्य प्रकारस्य अनुसृतिः अनुसरणमनुष्ठानमिति यावत्। तदेव कृतित्वं चातुर्यं *'स्वकार्यमुद्धरेत् प्राज्ञः कार्यध्वंसेन मूर्खता।'* इति न्यायात्। अयं भावः—प्रदेशक्रमेणादावयोध्यां याहि, ततो द्वारका प्राप्तव्या, तत्र निजेष्टदेवप्राप्तिरपि भविता। यद्वा, श्रीरघुनाथरूपस्य भगवतोऽनुग्रहविशेषेणैव श्रीगोपालदेवो भगवान् प्राप्येत, श्रीशिवस्यानुग्रहविशेषेण यथा श्रीविष्णुरिति। नन्वेवं ममैकपत्यव्रतभङ्गः स्यान्नेत्याह—यत्रेति। तस्य निजेष्टदेवस्य गन्धः स्वल्पसम्बन्धोऽपि यत्र भवेत् वर्त्तते, तस्मिन्निजे देवे एकस्मिन्नेव निष्ठा ऐकपत्यव्रतेन स्थितिर्येषां तैस्तत्र तस्मिन्नपि परा उत्तमा प्रीतिः क्रियते, तदेव प्रीतिविशेष-निष्ठालक्षणं, तेनैव च सुखमसौ लभ्येतेति भावः॥२४४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीमदनगोपालदेवने बहुत समय पहलेसे ही मेरे चित्तका हरण कर लिया है, इसलिए अन्य किसी विषयमें मेरी रुचि नहीं है, अतः अब मैं किस प्रकार प्रेमसहित किसी अन्यदेवको हृदयमें ग्रहण करूँगा? इस आशंकाके समाधानके लिए 'येन' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस प्रकारसे भी अपने इष्टकी प्राप्ति हो, उस अनुष्ठानको करना ही चतुर लोगोंका कार्य है। "अपने कार्यको सम्पूर्ण करना ही बुद्धिमानी है तथा अपने कार्यको नष्ट करना ही मूर्खता है।"—इस न्यायानुसार जिनकी कृपासे अपनी इष्टसिद्धि होती है, उनके प्रति प्रीति करना कर्त्तव्य है। अतएव इस प्रदेशको पारकर प्रथमतः तुम अयोध्यामें प्रवेश करोगे, उसके बाद द्वारका गमन करोगे जहाँ अपने इष्टदेवको प्राप्त करोगे। अथवा जिस प्रकार श्रीशिवकी विशेष कृपासे श्रीविष्णुको प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार श्रीरघुनाथकी विशेष कृपा द्वारा ही भगवान् श्रीगोपालदेवको प्राप्त किया जाता है।

यदि आपत्ति हो कि इससे मेरी अपने इष्टमें एकान्तिकता भङ्ग हो सकती है? इसके समाधानमें 'यत्र' इत्यादि पदों द्वारा कहते हैं कि ऐसी आशंका मत करो, क्योंकि जिनमें अपने इष्टदेवका स्वल्पमात्र भी गन्ध रहता है, एक पतिव्रतकी भाँति एकनिष्ठ भक्त उनको भी परम प्रीतिके साथ स्वीकार करते हैं। इस प्रकारकी विशेष प्रीति ही इष्ट निष्ठाका लक्षण है और इसीमें परमसुख प्राप्त होता है॥२४४॥

श्रीरामपादाब्जयुगेऽवलोकिते, शाम्येन्न चेत् सा तव दर्शनोत्कता।
तेनैव कारुण्य–भरार्द्रचेतसा प्रहेष्यते द्वारवतीं सुखं भवान्॥२४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीरामचन्द्रजीके युगल चरणकमलोंका दर्शन करने पर भी यदि तुम्हारी अपने इष्टदेवके दर्शनकी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती, तब अत्यन्त करुणासे द्रवित चित्तवाले वे श्रीरामचन्द्रजी ही सुखपूर्वक तुम्हें द्वारावतीकी ओर भेज देंगे॥२४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्चायोध्याप्राप्त्या श्रीरामचन्द्रस्य पादाब्जयुगे अवलोकिते साक्षाद्दृष्टेऽपि सा श्रीमदनगोपाल–देवविषयका तव दर्शने उत्कता उत्कण्ठा चेद् यदि न शाम्येत् नोपरमेत, तदा तेन श्रीरामचन्द्रेणैव सुखं यथा स्यात्तथा भवान् द्वारवतीं प्रहेष्यते। तत्र हेतुः—कारुण्यभरेणार्द्रं कोमलं चेतो यस्य तेन तादृशेन सता वा। अयमर्थः—त्वदीय श्रीमदनगोपालदेवदर्शनोत्कण्ठाविशेषेण तस्यानुग्रहविशेषस्त्वयि तादृग्भविष्यति, येनाचिरात् द्वारकाप्राप्तिर्भवेदिति॥२४५॥

भावानुवाद—उस अयोध्यामें पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके युगल चरणकमलोंका साक्षात् दर्शन करने पर भी यदि तुम्हारी श्रीमदनगोपालदेवसे सम्बन्धित दर्शनकी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती, तब उन श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा ही तुम सुखपूर्वक द्वारकामें भेजे जाओगे। इसका कारण है कि उनका चित्त करुणासे द्रवीभूत रहता है अर्थात् उनका हृदय अत्यन्त कोमल हैं। तात्पर्य यह है कि तुममें श्रीमदनगोपालदेवके दर्शनकी विशेष उत्कण्ठा देखते ही वे तुम पर ऐसी विशेष कृपा करेंगे कि तुम शीघ्र ही सुखपूर्वक द्वारका पहुँच जाओगे॥२४५॥

संकीर्त्तनं तस्य यथोदितं प्रभोः, कुर्वन् गतस्तत्र निज–प्रियेश्वरम्।
श्रीकृष्णचन्द्रं यदुभिर्वृतं चिरं, दिदृक्षितं द्रक्ष्यसि तं मनोहरम्॥२४६॥

श्लोकानुवाद—अपने प्रभुका नामसंकीर्त्तन ही उस द्वारकाको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। वहाँ पहुँचकर तुम यादवोंसे घिरे हुए अपने परम मनोहर प्रिय ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन करोगे, जिनके लिए तुम चिरकालसे व्याकुल हो रहे हो॥२४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः किमत आह—संकीर्त्तनमिति। तत्र द्वारवत्यां गतः, तमनिर्वचनीयमाहात्म्यं चिरं द्रष्टुमिष्टं श्रीकृष्णचन्द्रं यदुभिर्वृतं द्रक्ष्यसि। ननु श्रीमदनगोपालदेव एव ममेष्ट–देवश्चिरं दिदृक्षितः, तत्राह—निजप्रियेश्वरं, स एव

तवेष्टदेवः श्रीमदनगोपालो भगवान् इत्यर्थः। अतएव मनोहरं परमचित्ताकर्षकम्। ननु तर्हि किं प्रकारकगमनेन सुखमयो ध्यातो वेगेन द्वारका प्राप्तव्या? तदुपाय-मप्युपदिशेत्यपेक्षायामाह—तस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य संकीर्त्तनं सुस्वरगाथामुच्चैर्नामोच्चारण-गुणकीर्त्त्यादिगानं स्तुतिञ्च कुर्वन्। कथम्? यथोदितं शास्त्रोक्तानुसारेण। ननु मया तत् कथं ज्ञेयम्? तत्राह—प्रभोरिति। निजस्वामिनो महिमा स्वेषु न गूढ़ः स्यादिति भावः। यद्वा, यथा उदितं चित्ते आविर्भूतं स्यात्, तथैव संकीर्त्तनं कुर्वन्, न तु शास्त्रोक्तमेवानुसरन्नित्यर्थः। ननु शास्त्रोक्तातिक्रमेण कथं सुखं तत्प्राप्तिः स्यात्? तत्राह—प्रभोरिति। परमशक्तिमतः यथा-कथञ्चित्तत्संकीर्त्तनेनापि सर्वं सुसिध्यतीति भावः॥२४६॥

भावानुवाद—उस द्वारावतीमें मैं कैसे पहुँचूँगा? इसकी अपेक्षामें 'संकीर्त्तनम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस द्वारावतीमें पहुँचकर परम अनिर्वचनीय माहात्म्यसे युक्त यादवोंसे घिरे हुए उन श्रीकृष्णका दर्शन करोगे, जिनको देखनेकी तुम चिरकालसे इच्छा कर रहे हो। यदि आपत्ति हो कि मैं तो अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालदेवको ही चिरकालसे देखनेकी इच्छा कर रहा हूँ। इसके लिए कहते हैं कि वही तुम्हारे प्रिय ईश्वर हैं तथा वही तुम्हारे इष्टदेव भगवान् श्रीमदनगोपालदेव हैं, अतएव मनोहर अर्थात् सम्पूर्णरूपमें चित्तको आकर्षित करनेवाले हैं। यदि कहो कि तब मैं किस प्रकार सुखपूर्वक अर्थात् शीघ्र ही उस द्वारकामें पहुँचूँगा? इस आशंकाके समाधानमें कह रहे हैं—उन श्रीकृष्णचन्द्रका नामसंकीर्त्तन ही उस द्वारकामें गमनका एकमात्र उपाय है। अतएव शास्त्र विधि अनुसार सुस्वरसे उनकी गुण-कीर्त्ति, गाथा गान, उच्च स्वरसे नाम उच्चारण और स्तुति आदि करो।

यदि कहो कि मुझे उस विषयका ज्ञान कैसे होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—अपने प्रभुकी महिमा कभी भी गूढ़ नहीं होती है, वह शास्त्रादिमें सुप्रसिद्ध है। अथवा जिस प्रकारसे वह चित्तमें आविर्भूत हो, उसी प्रकारसे गान अर्थात् संकीर्त्तन करो, तब फिर शास्त्रविधिकी आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि कहो कि शास्त्रविधिको लाँघकर किस प्रकार सुखपूर्वक अपने इष्टकी प्राप्ति होगी? इसके लिए कहते हैं—ऐसी आशंका मत करो, क्योंकि वे प्रभु अपने सेवकोंके अनन्त अपराध क्षमा कर देते हैं। विशेषतः वे परम शक्तिमान हैं, अतः जिस किसी प्रकारसे भी उनका नामसंकीर्त्तन करनेसे सभी कुछ प्राप्त होता है॥२४६॥

वैकुण्ठस्यैव देशास्ते कोशला–द्वारकादयः।
तत्तत्र गमनायाज्ञा तद्भर्तुर्न ह्यपेक्ष्यताम्॥२४७॥

श्लोकानुवाद—अयोध्या और द्वारका आदि इस वैकुण्ठके ही विशेष प्रदेश हैं, अतः वहाँ जानेके लिए श्रीवैकुण्ठनाथकी आज्ञा लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥२४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि तत्र गमनाय श्रीवैकुण्ठनाथस्याज्ञा मया तत्समीपे गत्या गृह्यताम्, तत्राह—वैकुण्ठस्येति त्रिभिः। ते मयोद्दिष्टाः कोशला अयोध्या द्वारका च; आदि-शब्देन श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रादयः, श्रीवैकुण्ठस्यैव देशाः प्रदेशविशेषाः। तत्तस्मात्तद्भर्तुः श्रीवैकुण्ठनाथस्य आज्ञा अनुज्ञा, हि निश्चितं, नापेक्ष्यतां त्वया, तदीयवैकुण्ठलोकत्यागाभावात्॥२४७॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमारको आपत्ति हो कि अयोध्यामें जानेके लिए श्रीवैकुण्ठनाथके पास जाकर आज्ञा लेनेकी आवश्यकता होगी? इसकी आशंकामें श्रीनारद 'वैकुण्ठ' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। मेरे द्वारा संकेत किये गये अयोध्या, द्वारकादि इस वैकुण्ठके ही प्रदेश विशेष हैं। 'आदि' शब्दसे श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रादिको भी समझना होगा। अतएव उन-उन स्थानों पर जानेके लिए श्रीवैकुण्ठनाथकी आज्ञा ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है और फिर तुम तो उनके वैकुण्ठलोकका त्याग नहीं कर रहे हो॥२४७॥

तस्याज्ञयागतोऽत्राहं सर्व–हृद्वृत्तिदर्शिनः।
मन्मुखेनैव तस्याज्ञा सम्पन्नेत्यनुमन्यताम्॥२४८॥

श्लोकानुवाद—सबके हृदयकी बातको जाननेवाले उन श्रीवैकुण्ठनाथकी आज्ञासे ही तो मैं तुम्हारे पास आया हूँ, अतएव मेरे मुखसे निकले वचनोंको तुम प्रभुके आदेशरूपमें ही मानों॥२४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि तदनुमोदनेनैव गमनप्रयोजनं किल सुप्रसिध्यति, तत्राह—तस्येति। श्रीवैकुण्ठनाथस्यैव आज्ञया *'भो नारद त्वं रहसि गत्वा तस्य गोपकुमारस्य मनोरथं कृत्स्नं परिपूरय'* इत्यादिरूपया। अत्र त्वत्समीपेऽहमागतः। कीदृशस्य? सर्वेषां सर्वामपि हृद्वृत्तिं द्रष्टुं शीलमस्येति तथा तस्य। वैकुण्ठवासेऽत्र तव मनोऽतृप्तिं विज्ञायाभीष्टपदे तव प्रस्थापनाय तेनैवाहमाज्ञप्तोऽस्मीत्यर्थः। अतस्तस्य श्रीवैकुण्ठनाथस्य आज्ञा मम मुखेन वचनेनैव कृत्वा सम्पन्ना इत्येतत् अनुमन्यतां ज्ञायतां प्रतीयतामिति वा॥२४८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि तथापि श्रीवैकुण्ठनाथका अनुमोदन होनेसे मेरा अयोध्या जानेका प्रयोजन पूर्णता सफल होगा। गोपकुमारकी इस आशंकाके समाधानके लिए श्रीनारद 'तस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उन श्रीवैकुण्ठनाथकी आज्ञासे ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ। मेरे प्रति उनकी आज्ञा थी—"हे नारद! तुम चुपचाप गोपकुमारके पास जाकर उसका मनोरथ पूर्ण करो।" इसका कारण है कि वे प्रभु सर्वदा सबके हृदयकी बात जानते हैं। इस वैकुण्ठमें वास करते हुए तुम्हारे मनकी अतृप्तिको जानकर तुम्हें अभीष्टपद (स्थान) पर भेजनेके लिए ही उन्होंने मुझे आज्ञा दी है। अतएव मेरे वचनोंको तुम उन श्रीवैकुण्ठनाथकी अनुमतिके रूपमें ही जानों॥२४८॥

एकं महाभक्तमनुग्रहीतुं स्वयं, कुतश्चिद्भगवान् गतोऽयम्।
सोढुं विलम्बं न हि शक्ष्यसि त्वं, तन्निर्गमे तेऽवसरो वरोऽयम्॥२४९॥

श्लोकानुवाद—अभी किसी एक महान भक्त पर कृपा करनेके लिए ही भगवान् श्रीवैकुण्ठनाथ कहीं गये हैं। तुम उनके आने तकके विलम्बको सहन नहीं कर सकते हो, अतएव तुम्हारे यहाँसे जानेका यही उपयुक्त अवसर है॥२४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि दूरगमने स श्रीभगवान् साक्षाद्दृष्टवा प्रगन्तुमुपयुज्यत इति निजभक्तिविशेषेणाग्रहश्चेत्तत्रेदमवधार्यतामित्याह—एकमिति। कञ्चिन्निजभक्तवरम्; अतएव स्वयं साक्षाद्भूयानुग्रहीतुं कुतश्चित् कुत्रापि भगवान् गतः। नन्विदानीमेवाहं वैकुण्ठमध्ये तं दृष्ट्वात्रागतं, तत्राह—अयमिति। अधुनैव गतः, त्वया च तत्प्रस्थानात् पूर्वमेवात्रागतमिति भावः। ननु तर्हि ततोऽसौ समायातु, तत्राह—सोढुमिति। अयमर्थः—परमभक्तजनानुग्रहेण तस्य तत्र विलम्बोऽवश्यं भविता, त्वञ्च निजाभीष्टप्राप्तये सदा परमोन्मुखः क्षणमप्यन्यत्र स्थितौ समुद्विग्नस्तावत् कालं तस्य विलम्बं सोढुं, किल न शक्ष्यसि। *'किञ्चाहो वत, निकटे वर्त्तमानो भगवान् साक्षाद्गत्वा कथं न प्रणतः'* इत्यनुतापञ्च न लप्स्यसे, तस्यान्यत्र गमनात् मद्द्वारा तद्गमनाज्ञाविधानाच्च। तत्तस्मान्निर्गमे श्रीवैकुण्ठादितो निःसरणे ते तव अयं वरः श्रेष्ठोऽवसरः समय इति। आज्ञार्थं श्रीवैकुण्ठनाथस्य साक्षाद्गमनेन तत्सन्दर्शने वृत्ते तत्परिहारेणान्यत्र जिगमिषा कदापि न स्यात्, ततश्च तस्य चिरन्तनाभीष्टसिद्धिर्न स्यादित्यादिविमर्शेन श्रीभगवतैव तथा तथा कृतमिति ज्ञेयम्॥२४९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तथापि दूर जानेसे पूर्व उन श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन कर लेना ही उचित है। अपनी भक्तिविशेषके कारण गोपकुमारके इस आग्रहकी अपेक्षामें श्रीनारद 'एकमिति' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। किन्तु अभी वे प्रभु अपने किसी एक महान भक्त पर स्वयं ही कृपा करनेके लिए कहीं गये हैं। यदि कहो कि मैं अभी तो इस वैकुण्ठमें उनके दर्शन करके आ रहा हूँ। इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे भी अभी गये हैं। अर्थात् तुमने जब उनके दर्शन किये थे, उसके पश्चात् ही वे अन्य स्थान पर चले गये। यदि कहो कि तब मैं उनके लौट आने तक यहाँ प्रतीक्षा करूँगा। इसके लिए कहते हैं कि अपने परम भक्त पर अनुग्रह प्रकाश करनेमें श्रीभगवान्‌को अवश्य ही विलम्ब होगा। तुम उस विलम्बको सहन नहीं कर सकते हो, क्योंकि तुममें जो अपने अभीष्ट प्राप्तिके लिए अत्यन्त उत्कण्ठा है, उसके कारण तुम क्षणकालके लिए भी किसी अन्य स्थान पर रहनेमें असमर्थ हो।

'अहो! श्रीभगवान् निकटमें ही हैं, अन्ततः साक्षात् उनके पास जाकर प्रणाम भी नहीं कर सकता हूँ?'—ऐसा अनुताप भी मत करो, क्योंकि अन्य स्थान पर जाते समय श्रीवैकुण्ठनाथने मुझे तुम्हारे जानेके विषयमें आज्ञा प्रदान की है। अतएव तुम्हारे किसी अन्य स्थान पर जानेका यही उपयुक्त समय है। अथवा श्रीवैकुण्ठनाथके साथ तुम्हारा यदि पुनः साक्षात्कार होता है, तब तुम्हारी मतिमें भी परिवर्तन हो सकता है, अर्थात् तुममें इस स्थानसे अन्य स्थान पर जानेकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। विशेषतः श्रीभगवान्‌के सन्दर्शनमें तुम्हें जो आनन्दका अनुभव होगा, उसके द्वारा तुम्हारी अन्य स्थान पर गमनकी इच्छा भी शान्त हो जायेगी और तुम्हारा चिरकालका अभीष्ट पूर्ण नहीं होगा। श्रीभगवान्‌ने ही श्रीनारद द्वारा गोपकुमारको यह परामर्श प्रदान करवाया—ऐसा जानना होगा॥२४९॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

श्रुत्वा तन्नितरां हृष्टो मुहुः श्रीनारदं नमन्।
तस्याशीर्वादमादाय शिक्षाञ्चानुस्मरन्नयाम्॥२५०॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—हे विप्र! श्रीनारदकी इन समस्त बातोंको सुनकर मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ। उनको बार-बार प्रणाम करके तथा उनका आशीर्वाद ग्रहणकर उनके उपदेशोंको स्मरण करते-करते मैंने उस स्थानसे प्रस्थान किया॥२५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् नारदोक्तं श्रुत्वा नितरां हृष्टः सन् तस्य श्रीनारदस्य शिक्षाञ्च *'श्रीसीतापते! श्रीरघुनाथ'* इत्यादिना कृताम् अनुसरन् तदुपदिष्ट-प्रकारकं कीर्त्तनं स्मरणञ्च कुर्वन्नित्यर्थः, अयां प्रस्थापनमकरवमित्यर्थः॥२५०॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् मैं श्रीनारदके वचनोंको श्रवण कर अत्यन्त आनन्दित हुआ और उनकी शिक्षाके अनुसार 'जय श्रीसीतापते! जय श्रीरघुनाथ!' इत्यादि नामोंका कीर्त्तन और स्मरण करते-करते अयोध्याकी ओर चल दिया॥२५०॥

दूरादेव गतोऽद्राक्षं वानरांस्तानितस्ततः।
प्लवमानान् महालोलान् राम रामेति वादिनः॥२५१॥

श्लोकानुवाद—मैंने दूरसे देखा कि महा-चञ्चल बन्दर इधर-उधर उछल-कूद रहे हैं और मुखसे बार-बार श्रीराम नामका उच्चारण कर रहे हैं॥२५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तान् अनिर्वचनीयमाधुर्यान् इतस्ततः प्लवमानान् प्लुतगत्या गच्छतः महालोलान् परमचपलान्॥२५१॥

भावानुवाद—श्रीरामचन्द्रजीके अनिर्वचनीय माधुर्यके कारण उनके पार्षद परम-चञ्चल वानर इधर-उधर उछल-कूद रहे थे॥२५१॥

तैः सहाग्रे गतो वंशीमाकर्षद्भिः करान्मम।
नरानपश्यं वैकुण्ठपार्षदेभ्योऽपि सुन्दरान्॥२५२॥

श्लोकानुवाद—उन बन्दरोंके सामने पहुँचते ही उन्होंने मेरे हाथोंसे वंशीको छीन लिया। फिर उनके साथ पुरीमें प्रवेश कर मैंने देखा कि वहाँ पर वैकुण्ठके पार्षदोंसे भी अधिक सुन्दर मनुष्य शोभा पा रहे हैं॥२५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्लक्षणमेव दर्शयति—मम कराद्वंशीमाकर्षद्भिरिति। श्रीरघुनाथभक्तता-वैसादृश्यासहिष्णुतया परममनोहरत्वादिना वा वंश्याकर्षणमूह्यम्।

तैर्वानरैः सह अग्रे गतः सन् नरान् मनुष्याकारान् श्रीरघुनाथ-पार्षदान् अपश्यम्। कीदृशान्? श्रीवैकुण्ठपार्षदेभ्यः श्रीनारायणसारूप्यप्राप्तेभ्यश्चतुर्भुजेभ्योऽपि सुन्दरान् श्रीरघुनाथसारूप्यप्राप्तेः॥२५२॥

भावानुवाद—अब अयोध्याके लक्षण बता रहे हैं। प्रथमतः उन बन्दरोंने मेरे हाथोंसे वंशीको छीन लिया, क्योंकि श्रीरघुनाथजीके भक्त होनेके कारण मेरे हाथोंमें स्थित वंशी उन बन्दरोंसे मेरी असमानताको सूचित कर रही थी, अतः असहिष्णुता वशतः अथवा परम मनोहर जानकर उन्होंने मेरी वंशीको छीन लिया। उन बन्दरोंके साथ आगे जाते-जाते मैंने मनुष्य-आकारके समान श्रीरघुनाथजीके पार्षदोंके दर्शन किये। वे सब किस प्रकारके थे? वे श्रीवैकुण्ठके पार्षदोंसे भी अत्यन्त सुन्दर थे। श्रीवैकुण्ठके पार्षद श्रीनारायणका सारूप्य प्राप्त करनेके कारण चतुर्भुज थे और ये सब श्रीरघुनाथजीका सारूप्य प्राप्त करनेके कारण द्विभुज थे, अतएव वैकुण्ठके पार्षदोंसे भी अधिक सुन्दर थे॥२५२॥

तैरेवार्यवराचारैर्मन्नत्याद्यसहिष्णुभिः ।
पुरीं प्रवेशितो बाह्यं प्राक् प्रकोष्ठमगामहम्॥२५३॥

श्लोकानुवाद—आर्योंमें परम श्रेष्ठ आचरणसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीके वे सेवकगण मेरे द्वारा प्रणाम-वन्दनादि किये जाने पर संकोचवशतः मुझे ऐसा करनेसे रोकते थे। तब मैंने उनके साथ पुरीके प्रथम प्रकोष्ठमें प्रवेश किया॥२५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैर्नरैर्वानरैश्च पुरीं प्रवेशितः सन् प्राक् प्रथमं बाह्यं प्रकोष्ठं प्रदेशविशेषं प्राप्तोऽहम्। एवशब्देन तेषां सन्दर्शनानन्दभरव्याप्तत्वात् स्वयमहं न प्रवेष्टुमशकम्, किन्तु तैरेव प्रवेशित इति ध्वन्यते। ते चेममग्रतोऽभिगम्य पुरीं प्रवेशयितुमेव श्रीरघुनाथस्याज्ञयैव तावद्दूरमागता इत्येव गम्यते, अन्यथा तच्चरणारविन्दनिरन्तरसेवैकनिष्ठानां दूरे निर्गमनासम्भवात्। मया च श्रीवैकुण्ठवासिनामिव तेषां गमनादिकं यथेच्छं कर्त्तुं न शक्तमित्याह—मम नत्यादेरसहिष्णुभिरसहनशीलैः। आदिशब्देन स्तवन-पादग्रहणादि। कुतः? आर्यवराणां परमविनीतानामिवाचारो येषां तैः, आर्यवराणामप्याचारो येभ्य इति वा॥२५३॥

भावानुवाद—तब मैं उन सभी मनुष्यों और बन्दरोंके साथ पुरीके भीतर अर्थात् प्रथम बाह्य प्रकोष्ठमें पहुँचा। 'एव' कारका तात्पर्य है

कि मेरा कलेवर उन पार्षदोंके दर्शनसे उदित आनन्दसे व्याप्त हो गया था, इस कारण मैं स्वयं कभी भी उस पुरीके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता था, परन्तु उन्होंने ही अग्रसर होकर मुझे पुरीमें प्रवेश करवाया। यह सब उन श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे ही हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि उनके श्रीचरणकमलोंकी निरन्तर सेवामें अनुरक्त सेवकों द्वारा उस सेवाको छोड़कर दूर आना असम्भव था। जिस प्रकार मैं अपनी इच्छानुसार श्रीवैकुण्ठवासियोंका अभिवादन न कर सका, उसी प्रकार अयोध्यावासियोंका भी अभिनन्दन नहीं कर सका। इसे बतानेके लिए कह रहे हैं कि वे मेरे द्वारा किये जानेवाले प्रणाम, वन्दना, स्तव और चरणस्पर्श आदिको भी सहन नहीं करते थे, क्योंकि श्रेष्ठ आर्योंके समान उनका आचरण परम विनीत था॥२५३॥

सुग्रीवाङ्गदजाम्बवत्प्रभृतिभिस्तत्रोपविष्टं सुखं,
श्रीमन्तं मधुरैर्नरैश्च भरतं शत्रुघ्नयुक्तं पुरः।
दृष्ट्वाहं रघुनाथमेव नितरां मत्वा स्तुवंस्तत्स्तवैः
कर्णौ तेन पिधाय दास्यपरया वाचा निषिद्धो मुहुः॥२५४॥

श्लोकानुवाद—मैंने देखा कि सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान आदि पार्षदों और परम मनोहर मनुष्योंसे घिरकर श्रीभरत और शत्रुघ्न वहाँ अत्यन्त सुखसे विराजित हैं। मैंने उनके दर्शन करके उन्हें श्रीरघुनाथजी समझा और उनके उपयुक्त स्तव, स्तुति आदि करने लगा। तब श्रीभरतने अपने दोनों कानोंको बन्द कर लिया और 'हम उनके दास हैं' कहते-कहते मुझे बार-बार स्तुति करनेसे रोक दिया॥२५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र प्रकोष्ठे भरतं पुरोऽभिमुखे दृष्ट्वा रघुनाथं श्रीरामचन्द्रमेव नितरां सर्वतोभावेन मत्वा, तस्य रघुनाथस्य योग्यैः स्तवैर्जयमहाराजाधिराज श्रीराघवेन्द्र श्रीजानकीवल्लभेत्यादिरूपैस्तमेव स्तुवन् सन्, तेन भरतेन कर्णौ पिधाय तादृक्स्तुत्यश्रवणाय स्वहस्ताभ्यां निजकर्णद्वयरन्ध्रमाच्छाद्य दास्यपरया दासोऽस्मीत्यादिरूपया श्रीरघुनाथदासताप्रतिपादिकया वाचा कृत्वा मुहुरहं निषिद्धस्तथा-स्तवने निवारित इत्यर्थः। सादृश्येन श्रीरघुनाथ इति मननाय विशेषणानि—मधुरैः परममनोहरैः श्रीसुग्रीवादिभिर्वानरैर्नरैश्चायोध्यानिवासिभिः सह वर्त्तमानम्; यद्वा, उपविष्टमित्यनेनैव सम्बन्धः; ततश्च तेषामप्युपवेशो यथोचितमूह्यः; किञ्च, सुखं यथा स्यात्तथा उपविष्टं महाप्रासादान्तर्वर्ति-दिव्यसिंहासनोपरि-महाराजलीलयासीनमित्यर्थः; किञ्च,

श्रीमन्तं श्रीरामचन्द्रसदृशरूपवेशादिना शोभातिशययुक्तम्; यद्वा, भरतस्यापि भगवदंशत्वात् तत्पत्न्या अपि लक्ष्म्यंशत्वाभिप्रायेण स्वभार्यया सह वर्त्तमानमित्यर्थः। किञ्च, शत्रुघ्नेन युक्तम्। एवं भरतपत्न्याः सीतासादृश्येन शत्रुघ्नस्य च श्रीलक्ष्मण-सादृश्येन भरतस्य श्रीरामचन्द्रसादृश्यं सिद्धम्॥२५४॥

भावानुवाद—उस प्रकोष्ठमें अपने सम्मुख श्रीभरतको अत्यन्त सुखपूर्वक बैठे देखकर श्रीरामचन्द्रजीके भ्रमसे अर्थात् उनको साक्षात् श्रीरामचन्द्र समझकर मैं उनके उपयुक्त स्तव आदि करने लगा—'महाराजाधिराजकी जय! श्रीराघवेन्द्रकी जय! श्रीजानकीवल्लभकी जय!' इस प्रकार स्तव करने पर श्रीभरतने अपने दोनों कानोंको बन्दकर मुझे स्तुति करनेसे निषेध करते हुए बार-बार कहा—"मैं उनका दास हूँ, मैं उनका दास हूँ।" उनको श्रीरघुनाथ समझनेका कारण था कि वे परम मनोहर सुग्रीव, अङ्गद आदि पार्षद बन्दरों तथा अयोध्यानिवासी मनुष्यों द्वारा घिरकर विराजित थे। अथवा यथायोग्य अर्थात् राजभवनके भीतर दिव्य सिंहासनके ऊपर महाराजोचित भङ्गीके साथ सुखपूर्वक बैठे हुए थे। तदुपरान्त कह रहे हैं, वे श्रीमन्त अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके समान रूप और वेश आदिके द्वारा अत्यधिक शोभासे युक्त थे। अथवा श्रीभरतजी भगवान्के अंश हैं और उनकी पत्नी भी श्रीलक्ष्मीजीकी अंश है, इस अभिप्रायसे कह रहे हैं कि वे अपनी पत्नीके साथ विराजमान थे। अर्थात् श्रीभरतकी पत्नीके श्रीसीतादेवीके सादृश्यके कारण और श्रीशत्रुघ्नके श्रीलक्ष्मणजीके सादृश्यके कारण श्रीभरतजी ही श्रीरामचन्द्रजीके सादृश्य प्रतीत हो रहे थे॥२५४॥

भीतस्तदग्रेऽञ्जलिमानवस्थितो निःसृत्य वेगेन हनूमता बलात्।
प्रवेशितोऽन्तःपुरमद्भुताद्भुतं व्यलोकयं तं नृवराकृतिं प्रभुम्॥२५५॥

श्लोकानुवाद—तब मैं उनके सामने भयपूर्वक दोनों हाथोंको जोड़कर खड़ा हो गया। उस समय श्रीहनुमान अत्यन्त वेग सहित आये और बलपूर्वक मेरे हाथको पकड़कर पुरीके भीतर ले गये। वहाँ मैंने अद्भुतसे भी अद्भुत परम सौन्दर्यमय श्रेष्ठ मनुष्य आकृतिसे युक्त भगवान् श्रीरघुनाथजीका दर्शन किया॥२५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तदसम्मतकर्मणा अपराधादिव भीतः सन्, अतस्तस्य भरतस्याग्रे पुरतः अञ्जलिमान् कृताञ्जलिः सन्नवस्थितोऽहं हनूमता वेगेन निःसृत्य पुरान्तर्वर्ति-श्रीरघुनाथचरणारविन्द-समीपान्निर्गत्य बलात् शीघ्रगमनाय हस्ताकर्षणादिना अन्तःपुरं प्रवेशितः सन् तं प्रभुं श्रीरघुनाथं व्यलोकयं साक्षादकरवम्। कीदृशम्? अद्भुतादाश्चर्यादप्यद्भुतम्, अदृष्टाश्रुत-परमसौन्दर्यादियुक्तमित्यर्थः। अतो नृवरस्येवा-कृतिर्यस्य तम्॥२५५॥

भावानुवाद—मेरा इस प्रकार स्तव आदि करना श्रीभरतके द्वारा असम्मत कार्य जानकर मैं अपराधीकी भाँति भयभीत होकर उनके सम्मुख दोनों हाथोंको जोड़कर खड़ा रहा। उसी समय श्रीहनुमान अन्तःपुरस्थित श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंके निकटसे शीघ्रतापूर्वक आये और बलपूर्वक मेरे हाथको पकड़कर मुझे अन्तःपुरमें ले गये। उस समय मैंने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका साक्षात् दर्शन किया। वे प्रभु कैसे थे? अद्भुतसे भी अद्भुत अर्थात् अदृष्ट (जिसको पहले कभी नहीं देखा था) और अश्रुत (जिसे पहले कभी सुना नहीं था) परम सौन्दर्यमय श्रेष्ठ नर आकारसे युक्त थे॥२५५॥

प्रासादमुख्येऽखिलमाधुरीमये, साम्राज्यसिंहासनमास्थितं सुखम्।
हृष्टं महापूरुषलक्षणान्वितं, नारायणेनोपमितं कथञ्चन॥२५६॥

श्लोकानुवाद—वे अत्यन्त सुन्दर महलके भीतर महाराजाधिराजके उपयुक्त सिंहासन पर सुखपूर्वक विराजित थे। वे महापुरुषके समस्त लक्षणोंसे युक्त तथा प्रसन्न-चित्त थे। इस प्रकार वे कुछ-कुछ श्रीनारायणके तुल्य थे॥२५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अद्भुताद्भुतत्वमेव दर्शयन् तं वर्णयति—प्रासादेति द्वाभ्याम्। साम्राज्यसिंहासनं महाराजाधिराजोचितं सिंहासनवरं सुखं यथा स्यात्तथा आस्थितमधिष्ठाय स्थितम्, हृष्टं सदा हर्षयुक्तमित्यर्थः। निरन्तर-श्रीमुखप्रसत्तेः महापुरुषस्य लक्षणैः *'व्यूढ़ोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः'* इत्याद्युक्तप्रकारैरन्वितं युक्तम्। ननु तथापि कीदृशोऽयमिति विशेषतो वर्णयेति चेत्तत्राह—कथञ्चन केनापि प्रकारेण, न तु सर्वथा, नारायणेन श्रीवैकुण्ठनाथेन सह उपमितं तुलितम् अवयवसौष्ठववयोवर्णादि-शोभाभूषणादिकञ्च श्रीवैकुण्ठनाथस्येव; अतस्तद्विशेषवर्णनेन किमित्यर्थः॥२५६॥

भावानुवाद—गोपकुमारने जिस अद्भुतसे भी अद्भुत वैभवके दर्शन किये उसीको 'प्रासाद' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। भगवान्

श्रीरामचन्द्र अपने साम्राज्यके सिंहासन अर्थात् महाराजाधिराजके उपयुक्त सिंहासन पर सुखपूर्वक विराजित थे और सर्वदा हर्षयुक्त थे। उनका श्रीमुखचन्द्र सदैव प्रसन्न था और वे महापुरुषोंके लक्षणों—'विस्तीर्ण वक्षःस्थल (चौड़ी छाती), वृषस्कन्ध (बैल जैसे कन्धे), आजानुलम्बित महाभुज (घुटने तक लम्बी बाहु)', इत्यादिसे सुशोभित थे। फलस्वरूप उनके माधुर्यको कोई भी सम्यक्रूपमें वर्णन नहीं कर सकता था। यदि कहो कि तथापि उनकी कुछ विशेषताओंका वर्णन करो। इसके लिए कहते हैं कि यद्यपि वैकुण्ठनाथ श्रीनारायणके साथ उनकी कुछ तुलना हो सकती है, परन्तु सम्पूर्णरूपमें नहीं। केवल अङ्गोंके सौन्दर्य, आयु, वर्ण आदिकी शोभा और भूषणादिमें ही वे श्रीनारायणके सदृश थे॥२५६॥

ततोऽपि कैश्चिन्मधुरैर्विशेषैर्मनोरमं चापविलासिपाणिम्।
सप्रश्रयह्रीरमितावलोकं राजेन्द्रलीलं श्रितधर्मवार्तम्॥२५७॥

श्लोकानुवाद—परन्तु किसी-किसी विशेष माधुर्यके प्रभावके कारण वे श्रीनारायणसे भी मनोहर थे। उनके हाथोंमें मनोहर धनुष शोभा पा रहा था तथा उनका अवलोकन विनय और लज्जाके कारण सुन्दर था। राजराजेश्वरकी भाँति लीला प्रकटनके द्वारा वे प्रजापालन तथा श्रीमुखसे आश्रितजनोंके धर्म और आचरण सम्बन्धी वार्त्तालापमें रत थे॥२५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथञ्चिदित्यनेन ध्वनितमुत्कर्षमेव दर्शयति—तत इति, तस्मात् श्रीनारायणादपि मनो रमयतीति तथा तम्; कैर्मधुरैः कैश्चिद्द्विभुजत्वादिभि-र्विशेषैः; तदेवाभिव्यञ्जयति—चापेन कोदण्डवरेण विलासिनौ पाणी यस्य; किञ्च सप्रश्रयया विनययुक्तया ह्रिया लज्जया रमितो विलसितोऽवलोको यस्य; किञ्च, राजेन्द्रस्य सम्राज इव लीला प्रजापालनादिरूपा यस्य; अतएव श्रिता आश्रिता धर्मवार्त्ता सत्कर्माचरणादिकथा येन॥२५७॥

भावानुवाद—पिछले श्लोकमें 'कथञ्चन' अर्थात् 'किसी-किसी' पद द्वारा श्रीरघुनाथजीका जो उत्कर्ष ध्वनित हुआ है, उसे 'तत्' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। किसी-किसी विशेष माधुर्यके प्रभावके कारण वे श्रीनारायणसे भी मनोहर थे—जैसे मधुर द्विभुज

रूपविशेष और हाथोंमें मनोहर धनुषकी शोभा। वे विनययुक्त थे तथा लज्जावशतः झुके हुए नेत्रों द्वारा मधुर-मधुर दृष्टिपात कर रहे थे। वे राजचक्रवर्तीके समान प्रजापालन आदि लीला कर रहे थे तथा अपने श्रीमुखसे आश्रितजनोंके लिए धर्मवार्त्ता अर्थात् सत्कर्मके आचरणके विषयमें उपदेश प्रदान कर रहे थे॥२५७॥

तद्दर्शनानन्द-भरेण मोहितो, दण्डप्रणामार्थमिवापतं पुरः।
ततश्च तेनार्थवरेण वञ्चितो व्युत्थापितस्तत्कृपया व्यलोकयम्॥२५८॥

श्लोकानुवाद—मैं उनके दर्शनसे उत्पन्न आनन्दसे मूर्च्छित होकर उनके सम्मुख दण्डवत् प्रणाम करनेकी भाँति भूमि पर गिर पड़ा। मूर्च्छाके कारण मैं उस आनन्दसे वञ्चित हो गया, तथापि उन प्रभुकी कृपासे मूर्च्छाके दूर होने पर पुनः उनके दर्शन करने लगा॥२५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। तस्य प्रभोर्दर्शनानन्दभरेण मोहितः सन् यदपतं, तद्दण्डप्रणामार्थमिवेति। ततस्तस्मान्मोहेन पतनाच्च। तेन तदीयसाक्षाद्दर्शनानन्द-भरेण वञ्चितो रहितः सन्, मोहेन साक्षाद्दर्शनाभावात्। कीदृशेन? अर्थेषु अशेषपुरुषार्थेषु मध्ये वरेण श्रेष्ठेन, भक्त्यापि तस्यैव साध्यत्वात्। तस्य प्रभोः कृपया व्युत्थापितः संज्ञां प्रापितः सन्नित्यर्थः॥२५८॥

भावानुवाद—उन प्रभुके दर्शनसे उदित आनन्दके कारण ही मैं मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा, मानो उनको दण्डवत् प्रणाम कर रहा हूँ। परन्तु इससे मैं प्रभुके साक्षात् दर्शनके आनन्दसे वञ्चित हो गया, क्योंकि मोहदशामें साक्षात् दर्शन नहीं होता। यदि कहो कि मोहदशामें साक्षात् दर्शनका अभाव होने पर भी अन्तरमें उस दर्शनका आनन्द अनुभव होता है, अतः फिर साक्षात् दर्शनके लिए इतना आग्रह क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं कि बाहरमें चक्षुके द्वारा जो दर्शन होता है, वही समस्त पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ है और वही अन्तःसाक्षात्कार रूप ध्यानकी परिपक्व अवस्था अथवा अन्तःसाक्षात्कारका साध्य फल है। अतएव जिस कृपाके प्रभावसे अन्तःसाक्षात्कार होता है, उसकी तुलनामें अधिक कृपा नहीं होनेसे बाहरमें साक्षात्कार नहीं होता। बादमें उन प्रभुकी कृपाके बलसे मैं सचेतन हुआ और पुनः उनका साक्षात् दर्शन करने लगा॥२५८॥

मां तत्र हित्वा निजसेवयाहृतः
प्लुत्यैकया श्रीहनुमान् गतोऽन्तिकम्।
सीतानुरूपा रमते प्रिया प्रभोः
सव्येऽस्य पार्श्वेऽनुजलक्ष्मणोऽन्यतः ॥२५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानजी मुझे वहाँ उसी अवस्थामें छोड़कर अपनी सेवामें अनुरक्त होनेके कारण एक छलाँग लगाने पर ही प्रभुके निकट पहुँच गये। मैंने देखा कि प्रभुके वाम ओरमें उनके ही अनुरूप उनकी प्रिया श्रीसीतादेवी तथा दक्षिण ओरमें छोटे भाई श्रीलक्ष्मण और अन्यान्य परिकर विराजमान थे॥२५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—विलोकितमेवाह—मामिति त्रिभिः। तत्रेति, यत्राहमपतं तस्मिन्नेव स्थाने मां हित्वा विहाय एकया प्लुत्या वानरस्वाभाविकप्लुतगत्या अन्तिकं प्रभोः पार्श्वं गतः। ननु त्वां दूरे त्यक्त्वा कथं गतः? तत्राह—निजया स्वाभाविकया सेवया आहृत आकृष्टः, तच्चास्यैवानन्दविशेषायेत्यूह्यम्। यतः सहज-परममहानन्दमय-दर्शनस्यापि तस्य भगवतो जानकी-लक्ष्मणाभ्यां प्रियतमाभ्यां सहितस्यापि परमदासवरेण श्रीहनूमता सेव्यमानस्यैव सतः शोभातिशयवतः सन्दर्शनादानन्दविशेषो जायेत, तस्यैव भक्तवात्सल्य-विशेषप्रकटनशीलत्वादिति दिक्। प्रभोरनुरूपा, अतो लक्ष्म्या अव्यधिक-सौन्दर्यादिमतीत्यर्थः। तस्य प्रभोः सव्ये वामे पार्श्वे रमते शोभते ताम्बूलार्पणादिना क्रीड़तीति वा; अन्यतः दक्षिणे पार्श्वे अनुजः कनीयान् भ्राता लक्ष्मणो रमते॥२५९॥

भावानुवाद—सचेतन होने पर गोपकुमारने जो देखा उसे 'माम्' इत्यादि तीन श्लोकोंमें कह रहे हैं। उस समय मैंने देखा कि मुझे सान्त्वना देनेके लिए मेरे पासमें ही खड़े श्रीहनुमान मुझे वहीं पर छोड़कर वानर-स्वभाववशतः एक छलाँग लगाकर प्रभुके निकट चले गये। यदि कहो कि तुम्हें दूरमें त्याग कर वे किसलिए चले गये? इसके लिए कहते हैं कि अपनी स्वाभाविक सेवाके प्रति आकृष्ट होनेके कारण चले गये। अर्थात् सेवा ही मानों उनको आकर्षण कर प्रभुके निकट ले गयी हो, क्योंकि सेवामें ही उनका आनन्द था। मैंने और भी देखा कि उन प्रभुके सहज-परमानन्दमय दर्शन होने पर भी वे अपने वाम ओरमें भगवती श्रीजानकीदेवी और दक्षिण ओरमें प्रिय श्रीलक्ष्मण तथा सम्मुखमें परम दास शिरोमणी श्रीहनुमान द्वारा सेवित

होकर अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे, इसलिए उनके दर्शनसे विशेष आनन्द उत्पन्न हो रहा था। प्रभुके द्वारा भक्त-वात्सल्यरूप विशेषताके प्रकटनकी तो कोई तुलना ही नहीं थी। उनकी प्रिया श्रीजानकीदेवी प्रभुके अनुरूप ही थीं, अतएव श्रीलक्ष्मीदेवीसे भी अधिक सौन्दर्यमयी थीं। श्रीसीतादेवी प्रभुके वाम ओरमें शोभित होकर ताम्बूलादि प्रदान कर प्रभुकी सेवा कर रही थीं तथा उनके दक्षिण ओरमें अनुज लक्ष्मण शोभा पा रहे थे। ऐसी मनोहरणकारी शोभाका दर्शन कर मैं आनन्द सागरमें निमग्न हो गया॥२५९॥

कदापि शुभ्रैर्वरचामरैः प्रभुं,
गायन् गुणान् वीजयति स्थितोऽग्रतः।
कदाप्युपश्लोकयति स्वनिर्मितै-
श्चित्रैः स्तवैः श्रीहनुमान् कृताञ्जलिः॥२६०॥

श्लोकानुवाद—किसी समय तो श्रीहनुमानजी प्रभुका गुणगान करते हुए सुन्दर श्वेत चामर ढुलाते और किसी समय उनके सामने खड़े होकर हाथ जोड़कर स्वरचित श्लोकोंके द्वारा उनका स्तव करते॥२६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीहनूमतः सेवामेव प्रपञ्चयति—कदापीति द्वाभ्याम्। श्रीहनूमान् अग्रतः प्रभोः पुरतः स्थितः सन् कदापि शुभ्रैः श्वेतैर्वरैर्महत्तरैश्चामरैः प्रभुं वीजयति। किं कुर्वन्? गुणान् प्रभोरेव गायन्, कदापि कृताञ्जलिः सन् स्वयमेव विरचितैर्विचित्रैः स्तोत्रैः प्रभुमुपश्लोकयति, श्लोकैरुपस्तौति॥२६०॥

भावानुवाद—अब 'कदापि' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा श्रीहनुमानजीके द्वाराकी जानेवाली सेवाका वर्णन कर रहे हैं। वे श्रीहनुमान प्रभुका गुणगान करते हुए किसी समय प्रभुके सामने और कभी प्रभुके पीछे खड़े होकर सुन्दर श्वेत चामर ढुलाया करते थे। किसी समय हाथ जोड़कर स्वरचित श्लोकादिके द्वारा प्रभुका स्तव करते थे॥२६०॥

श्वेतातपत्रञ्च विभर्त्यसौ क्षणं, सम्वाहयेत्तस्य पादाम्बुजेक्षणम्।
सेवा-प्रकारान् युगपद्बहून् क्षणं, तस्मिन्नवैयग्र्यमहो तनोति च॥२६१॥

श्लोकानुवाद—किसी समय वे प्रभुके ऊपर श्वेत वर्णका छत्र धारण करते और फिर क्षणकालके बाद प्रभुके श्रीचरणकमलोंका

सम्वाहन करने लगते। कभी-कभी एकाग्र होकर वे एक ही समयमें बहुत प्रकारकी सेवाएँ करते थे॥२६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—असौ श्रीहनूमान् क्षणं श्वेतमातपत्रं छत्रं विभर्ति च प्रभोरुपरि धारयति; क्षणञ्च तस्य प्रभोः पादपद्मद्वयं सम्वाहयेत्; क्षणं बहून् सेवाप्रकारान् गुणगान-वीजन-स्तवन-पादसम्वाहनादीन् अवैयग्र्यं यथा स्यात्तथा युगपदेकदैव तस्मिन् प्रभौ विषये तनोति च। अहो विस्मये॥२६१॥

भावानुवाद—कभी वे श्रीहनुमान प्रभुके ऊपर श्वेत छत्र धारण करते और फिर क्षणकालमें प्रभुके श्रीचरणयुगलका सम्वाहन करने लगते। कभी-कभी वे एक ही समयमें अत्यन्त निपुणताके साथ विचित्र प्रकारकी सेवाएँ करते, जैसे—गुणगान, स्तव, बीजन, पाद-सम्वाहनादि। अहो! ऐसा प्रतीत होता मानों वे अकेले ही बहुत रूप धारण कर प्रभुकी विचित्र प्रकारकी सेवाएँ कर रहे हों॥२६१॥

परमहर्षभरात् क्रमितो ह्यहं जय जयेति वदन् प्रणमन्मुहुः।
मृदुलवागमृतैः परमाद्भुतैर्भगवतार्द्रहृदा परितर्पितः॥२६२॥

श्लोकानुवाद—मैंने परम हर्षके साथ 'जय-जयकार' करते हुए जब भगवान् श्रीरामचन्द्रको बार-बार प्रणाम किया, तब करुणासे द्रवीभूत हृदयवाले वे श्रीभगवान् परमाद्भुत कोमल वचनोंके द्वारा मुझे सन्तुष्ट करके कहने लगे—॥२६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च परमहर्षभरेण आक्रमितो यन्त्रितः सन् मुहुर्जयजयेति वदन् मुहुः प्रणमंश्चाहं मृदुलाः कोमला वाच एवामृतानि तैः कृत्वा भगवता परितर्पितः नितरामाप्यायितः। कीदृशैः? परमाद्भुतैः पूर्वं कुत्राप्यननुभूतैरित्यर्थः। आर्द्रं कारुण्यभरस्निग्धं हृत् यस्य तेन॥२६२॥

भावानुवाद—इस प्रकार सेवक और प्रभुके माधुर्यको दर्शन कर मैं परम हर्षके वशीभूत होकर 'जय जय' शब्द उच्चारण कर उन्हें प्रणाम करने लगा। तदुपरान्त करुणासे स्निग्ध हृदयवाले उन श्रीभगवान्‌के कोमल वचनामृतके द्वारा मैं तृप्त हुआ। वचनामृत किस प्रकारके थे? परमाद्भुत अर्थात् इससे पहले मैंने ऐसी कृपा कहीं भी अनुभव नहीं की थी॥२६२॥

श्रीभगवानुवाच—

भो गोपनन्दन सुहृत्तम साधु साधु
स्नेहं विधाय भवता विजयः कृतोऽत्र।
विश्रम्यतामलमलं बहुभिः प्रयासै-
रेतैर्न दुःखय चिरं निज-बान्धवं माम्॥२६३॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे सुहृतोंमें श्रेष्ठ गोपकुमार! बड़े मङ्गलका विषय है कि तुम मेरे प्रति स्नेहके वशीभूत होकर यहाँ आये हो। तुम अभी विश्राम करो तथा इस प्रकार प्रणामादि करनेका कोई दुःख मत उठाओ। मैं तो तुम्हारा चिरकालका बान्धव हूँ॥२६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—भो इति द्वाभ्याम्। भवता स्नेहं मादृशेषु विधाय अत्रायोध्यायां विजयः शुभागमनं कृतो यत् तत् साधु साधु भद्रं भद्रमित्यर्थः। अतिहर्षे वीप्सा; अतः विश्रम्यताम् इतस्ततो गमनायासं विहायात्रैव स्थैर्येणोष्यताम्; यद्वा, मदीयप्रणामादेरुपरम्यतामित्यर्थः। एतैरलमलमतिशयेन परिपूर्णता जातेत्यर्थः। तथापि तथैव कुर्वन्तं प्रत्याह—बहुभिरेतैर्नमनादिप्रयासैश्चिरं मां न दुःखय, यतो निजमात्मीयं बान्धवं मित्रम्॥२६३॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के कोमल वचनामृतकी रीतिका प्रदर्शन करनेके लिए 'भो' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। (श्रीभगवान्ने कहा) हे सुहृत्तम! तुमने मेरे प्रति स्नेह प्रदर्शन करके इस अयोध्यामें शुभ आगमन किया है। साधु! साधु! अर्थात् मङ्गलका विषय है। यहाँ अत्यन्त हर्षवशतः पुनरोक्ति हुई है। अतएव इधर-उधर जानेका प्रयास छोड़कर सुखपूर्वक यहीं पर ही विश्राम करो। अथवा प्रणामादिके प्रयासका परित्याग करो, तुम्हारे आगमन मात्रसे ही मैं परिपूर्णरूपमें सन्तुष्ट हूँ। तथापि गोपकुमार प्रणाम करने लगे, तब श्रीभगवान् बोले—प्रणामादि करके दुःख मत उठाओ और मुझे भी दुःख मत दो। मैं तो तुम्हारा निज बान्धव हूँ॥२६३॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गौरवात् सम्भ्रमं त्यज।
त्वदीयप्रेमरूपेण यन्त्रितोऽस्मि सदा सखे॥२६४॥

श्लोकानुवाद—हे सखे! उठो, उठो! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम मेरे प्रति गौरव-बुद्धिका त्याग करो। तुम्हारे प्रेमसे तो मैं सर्वदा वशीभूत हूँ॥२६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उत्तिष्ठोत्तिष्ठ आदरे वीप्सा। तथाप्यनुतिष्ठन्तमाशीर्वादे-नाभिनन्दयति। भद्रम्, ते तव मङ्गलं भूयादिति। तथापि सम्भ्रमेण प्रणमन्तमेव दृष्ट्वाह—मम गौरवाद्यस्ते सम्भ्रमस्तं त्यज, यतोऽहं तव स्वाधीनश्च एव, न तु गौरवविषय इत्याह—त्वदीयेति। यन्त्रितो वशीकृतोऽस्मि॥२६४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने आदरके साथ कहा—हे सखे! उठो, उठो, तथापि मैं नहीं उठा। तब आशीर्वादके साथ अभिनन्दन करते हुए बोले, तुम्हारा मङ्गल हो। तथापि मुझे सम्भ्रमके साथ प्रणाम करते हुए देखकर वे बोले, हे सखे! सम्भ्रम भावको त्याग करो, मैं तुम्हारे अधीन हूँ, अतः यह गौरवका विषय नहीं है। मैं तुम्हारे प्रेमसे सर्वदा वशीभूत हूँ॥२६४॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

अथ तस्याज्ञयागत्योत्थापितोऽहं हनूमता।
श्रीमत्पादाब्जपीठस्य नीतश्च निकटं हठात्॥२६५॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—तब प्रभुकी आज्ञाके अनुसार श्रीहनुमानजी मेरे समीप आये और मुझे उठाकर बलपूर्वक श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी पीठ (चरण-चौकी)के निकट ले गये॥२६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि परमानन्दभरविवशत्वात् प्रणामादविरमन् तस्य श्रीरघुनाथस्याज्ञया हनूमता आगत्याहमुत्थापित इत्यर्थः। श्रीमतोः पादाब्जयोः पीठस्य सिंहासनाधस्तात् स्थापितस्य श्रीचरणाब्जधारणासनस्य निकटं हठाद् बलान्नीतश्च प्रापितः॥२६५॥

भावानुवाद—तथापि परमानन्दमें विभोर होनेकी विवशताके कारण मैं उनको प्रणाम करनेसे विरत नहीं हो पाया। उस समय श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे श्रीहनुमान मेरे समीप आये और मुझे बलपूर्वक उठाकर श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंकी पीठके निकट अर्थात् सिंहासनके निम्न भागमें स्थित श्रीचरणकमलोंको धारण करनेवाली चौकीके निकट ले गये॥२६५॥

तदाकार्षं मनस्येतद्दीर्घाशा फलिताधुना।
वाञ्छातीतञ्च सम्पन्नं फलं तत् कुत्र यान्यतः॥२६६॥

श्लोकानुवाद—तब मैं मन-ही-मन विचार करने लगा कि मेरी दीर्घकालीन अभिलाषा आज सफल हुई है। यहाँ तक कि मैंने वाञ्छासे भी अधिक फल प्राप्त किया है, जो आजतक मुझे कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ॥२६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—न केवलं दीर्घाशैवाधुना फलिता किन्तु वाञ्छातीतञ्च फलं सम्पन्नं, श्रीरघुनाथस्य तादृशकारुण्यभराद्यनुभवात्। तत्तस्मात्, अतोऽस्मात् स्थानात् पुराद्वा कुत्र यानि गच्छानि, अपि तु न कुत्रापि यास्यामीत्यर्थः॥२६६॥

भावानुवाद—श्रीहनुमानजी द्वारा बलपूर्वक खींचे जाने पर मैं चिन्ता करने लगा कि अभी न केवल मेरी दीर्घकालीन अभिलाषा पूर्ण हुई है, अपितु मुझे वाञ्छासे भी अधिक फल प्राप्त हुआ है। श्रीरघुनाथजीकी वैसी प्रचुर करुणाका अनुभव करके मैंने निश्चित किया कि इस अयोध्यापुरीको त्यागकर मैं किसी अन्य स्थान पर नहीं जाऊँगा॥२६६॥

गोपबालकवेशेन स्वकीयेनैव पूर्ववत्।
कियन्तं न्यवसं कालं तत्रानन्द-भरार्दितः॥२६७॥

श्लोकानुवाद—मैंने अपने गोपबालक वेशमें ही पहलेके समान आनन्दमें विभोर होकर कुछ समय तक वहीं निवास किया॥२६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्ववदिति, यथा वैकुण्ठनाथनिकटे चामरान्दोलनादिसेवां कुर्वन् न्यवसम्, तथैव तत्रायोध्यायां कियन्तं स्वल्पं कालं न्यवसम्। ननु द्वारावत्यां जिगमिषोस्ते कथं तत्र वासो वृत्तः? तत्राह—आनन्दभरेण तत्पदस्वाभाविकानन्दातिशयेन अर्दितो वशीभूतः सन् श्रीरघुनाथचरणारविन्दमकरन्दधारापानेन सर्वमेव विस्मृत-मिवेत्यर्थः॥२६७॥

भावानुवाद—पूर्वमें मैं जिस प्रकार श्रीवैकुण्ठनाथकी चामर वीजन आदि सेवा करता था, उसी प्रकार मैंने चामर वीजन आदि सेवा करते-करते इस अयोध्यामें कुछ समय तक वास किया। यदि कहो कि द्वारावती जानेकी इच्छा होने पर भी किस प्रकार अयोध्यामें वास स्थिर हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—आनन्दमें विभोर होनेके कारण।

अर्थात् उस अयोध्याके स्वाभाविक प्रचुर आनन्दके द्वारा वशीभूत होकर, विशेषतः श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंकी मकरन्दधाराको पान करके मैं सब कुछ भूल गया था॥२६७॥

अथ श्रीरघुसिंहस्य महाराजाधिराजताम्।
लीलां तदनुरूपाञ्च वीक्षे धर्मानुसारिणीम्॥२६८॥

श्लोकानुवाद—वहाँ मैंने श्रीरघुनाथजीकी महाराजाधिराजोंके अनुरूप लीलाओं तथा उनके अनुरूप धर्म-आचरणोंको भी देखा॥२६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तत्पदस्वभावं दर्शयित्वा ततोऽप्युत्तमपदान्तरलाभाय तत्र वासे निर्वेदहेतून् पूर्ववदुपक्षिपति—अथेति द्वाभ्याम्। तस्या महाराजाधिराजताया अनुरूपामुचिताम्; अतएव धर्मानुसारिणीं, न तु भक्तवात्सल्यभरेण कदाचिद्धर्म-मर्यादातिक्रमणादिरूपां वीक्षेऽनुभवामि॥२३८॥

भावानुवाद—उस अयोध्याके स्वभावको प्रदर्शनकर अब उससे भी उत्तम स्थान प्राप्त करनेके अभिप्रायसे वहाँके वासमें निर्वेदका कारण 'अथ' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। मैंने उन श्रीरघुनाथजीकी महाराजाधिराजके उचित धर्म-आचरण लीलाका अवलोकन किया, परन्तु भक्त-वात्सल्यतावशतः धर्म-मर्यादा आदि उल्लंघनरूप उनकी लीलाका कभी भी दर्शन नहीं किया। अर्थात् मैं अपनी अभिलाषाके अनुसार लीला-माधुर्यका अनुभव नहीं कर पाया॥२६८॥

न चेष्टदेवपादानां तत्तत्क्रीड़ानुसारिणीम्।
विहारमाधुरीं काञ्चिन्नापि तां तां कृपां लभे॥२६९॥

श्लोकानुवाद—किन्तु मैंने उस अयोध्यापुरीमें न तो अपने इष्टदेवके चरणकमलोंकी विविध प्रकारकी क्रीड़ा-माधुरीका दर्शन किया और न ही आलिङ्गन, चुम्बनादिरूप उनकी कृपा प्राप्त की॥२६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च काञ्चिद्विहारमाधुरीं विनोदमाधुर्यं वीक्षे। कीदृशीम्? इष्टदेवपादाः श्रीमदनगोपालो भगवान्, गौरवेण बहुत्वम्, तेषां यास्तास्ताः परमानिर्वचनीया वेणुवादनगोपीमोहनादिरूपाः क्रीड़ास्तासाम् अनुसारिणीं सादृश्यवतीम्। किञ्च, तां तामनिरूप्यां, ध्याने श्रीगोपालदेवतः स्वयमनुभूयमानामिति वा काञ्चित् कृपाञ्चालिङ्गन-चुम्बनादिरूपां नापि लभे अनुभवामि॥२६९॥

भावानुवाद—उस अयोध्यामें मैंने कभी भी श्रीरघुनाथजीकी विहार-माधुरीका दर्शन नहीं किया। वह विनोद-माधुर्य लीला किस प्रकारकी है? अत्यधिक गौरववशतः गोपकुमार श्रीगोपालदेवका नाम न लेकर उन्हें 'इष्टदेव पादानां' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। भगवान् श्रीमदनगोपालके समान परम अनिर्वचनीय वेणुवादन और गोपी-मोहन आदि क्रीड़ाओंकी माधुरीका दर्शन श्रीरघुनाथजीकी लीलामें नहीं हुआ। तदुपरान्त कहते हैं कि मैं ध्यानमें जिस प्रकार श्रीमदनगोपालदेवके द्वारा आलिङ्गनादि अनुभव करता था, वहाँ उस प्रकार चुम्बन और आलिङ्गनरूप कृपाको साक्षात् प्राप्त नहीं कर पाया॥२६९॥

ततः शोकमिवामुत्राप्याप्नुवन् श्रीहनूमतः।
श्रीरामचन्द्र-पादाब्जमहिम्नां श्रवणेन हि॥२७०॥
साक्षादनुभवेनापि मनो-दुःखं निवारये।
तस्मिन्निजेष्टदेवस्य सर्वमारोपयामि च॥२७१॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैं अयोध्यामें शोकातुरकी भाँति रहने लगा, किन्तु श्रीहनुमानके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंकी महिमाको श्रवणकर तथा उसे साक्षात् अनुभवकर अपने मनके दुःखको दूर कर लेता। इस प्रकार मैं श्रीरामचन्द्रजीमें ही अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालके रूप, गुणादिका आरोप करने लगा॥२७०-२७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माद्धेतोरमुत्र अयोध्यायां शोकमिवाप्नुवन्नपि मनोदुःखं निवारय इत्यन्वयः। इवेति वस्तुतस्तच्छोकस्यापि भगवत्प्रेमकृतत्वेन परमानन्द-विशेषरूपत्वात्। केन? श्रीहनूमतः सकाशात् श्रीरामचन्द्रपादाब्जयोर्महिम्नां लज्जाविनयनम्रतासरलस्वभावादीनां श्रवणेन, तेषां साक्षादनुभवेनापि। अतस्तस्मिन् श्रीरामचन्द्रे निजेष्टदेवस्य श्रीमदनगोपालस्य भगवतः सर्वं रूपगुणादिकम् आरोपयामि च मनसा अध्यस्यामि॥२७०-२७१॥

भावानुवाद—इसीलिए उस अयोध्यामें शोकातुरकी भाँति रहने पर भी मैं अपने मनके दुःखको दूर कर लेता। यहाँ 'इव' कारका तात्पर्य है कि वैसा शोक होने पर भी वह वस्तुतः भगवान्के प्रेम द्वारा क्रियमान था, अतः परमानन्दका ही विशेषरूप था। अर्थात् बाहरमें

शोकार्त्तिके समान प्रतीत होने पर भी अन्तरमें विशेष परमानन्द अनुभव होता। किस प्रकार? श्रीहनुमानके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंकी महिमा अर्थात् उनकी लज्जा, विनय, नम्रता, सरल-स्वभावादिके विषयमें श्रवणकर तथा उसे साक्षात् अनुभवकर मैं अपने मनके दुःखको दूर कर लेता। तथा उन श्रीरामचन्द्रजीमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालकी समस्त भगवत्ता अर्थात् रूप-गुणादिका भी आरोप करता॥२७०-२७१॥

पूर्वाभ्यासवशेनेयं व्रज-भूमिर्यदा बलात्।
सा तल्लीलानुकम्पाशाप्याक्रमेद्धृदयं मम॥२७२॥

श्लोकानुवाद—परन्तु जब कभी पूर्व अभ्यासके बलसे मुझको इस व्रज-भूमिका स्मरण होता, तब अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपालकी लीलाओंके अनुभवकी आशा मेरे हृदयको अत्यन्त व्याकुल कर देती॥२७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—बलादारोपणञ्च न चिरस्थायि भवेदित्यभिप्रायेणाह—पूर्वेति। इयं श्रीवृन्दावनादिरूपा, सा निजा दीर्घा, तस्य निजेष्टदेवस्य लीलाया अनुकम्पायाश्च आशा अनुभवनलालसा यदा अभ्यासवशेन मम हृदयं चित्तमाक्रमेत्, तदा तु परमशोकार्त्तः सन्नयोध्यातः द्वारकां गन्तुमिच्छेयमिति वाक्यशेषोऽत्रोह्यः। अग्रेऽहमालक्ष्य तत्र रक्ष्येयेत्युक्तेः॥२७२॥

भावानुवाद—जो कुछ बलपूर्वक आरोप किया जाता है, वह प्राय चिरस्थायी नहीं होता है। गोपकुमार द्वारा बलपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीमें श्रीमदनगोपालदेवकी भावना करना चिर-स्थायी नहीं रहा—इसे बतलानेके लिए 'पूर्व' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस समय इस श्रीवृन्दावनादिसे सम्बन्धित मेरे इष्टदेवकी लीला और उनकी कृपाकी आशा या उनके अनुभवकी लालसा पूर्व अभ्यासके प्रभावसे मेरे हृदयमें आक्रमण करती, उसी समय मैं शोकसे अत्यधिक व्याकुल हो जाता तथा अयोध्यासे द्वारावती जानेकी मेरी इच्छा बलवती हो जाती॥२७२॥

तदा मन्त्रि-वरेणाहमालक्ष्य श्रीहनूमता।
विचित्रयुक्तिचातुर्यै रक्ष्येयाश्वास्य तत्र हि॥२७३॥

श्लोकानुवाद—उस समय श्रीरामचन्द्रजीके श्रेष्ठ मन्त्री श्रीहनुमानजी मेरे मनोभावसे अवगत होकर नाना युक्ति-चातुरीके द्वारा मुझे आश्वासन देकर वहीं रोक देते॥२७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—आलक्ष्य मुखम्लान्यादिलक्षणेन परमशोकसन्तप्तोऽहमित्य-भिप्रेत्येत्यर्थः। विचित्रासु युक्तिषु न्यायेषु चातुर्यैः पाटवैः कृत्वा आश्वास्य सान्त्वयित्वा तत्रायोध्यायामेवाहं रक्ष्येय। ननु कथमेवं घटेत? तत्राह—मन्त्रिवरेणेति। मदीयचित्तानुकूल्येन तथा तथा विधीयते, येन तत्स्थानं त्यक्तुं न शक्नोमीति भावः। अथापि पुनरसौ शोकः प्रादुर्भवेदेवेति वाक्यशेषोऽत्राप्यूह्यः। श्रीरामेणाश्वास्य सुखं व्रजेत्यादिश्य च तां पुरीं गमित इति पुरस्तादुक्तेः॥२७३॥

भावानुवाद—मुख-मलिनतादि लक्षणों द्वारा मुझे परम शोकमें सन्तप्त देखकर श्रीहनुमानजी नाना-प्रकारकी युक्ति-चातुरी द्वारा आश्वासन प्रदानकर मुझे अयोध्यामें ही रोककर रखते। यदि कहो कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता? इसके लिए कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीके श्रेष्ठ मन्त्री श्रीहनुमान मेरा मनोभाव जानकर मेरे चित्तके अनुकूल बातों द्वारा मुझे सान्त्वना देते और मुझे उस स्थान पर स्थिर रखते, अर्थात् मैं किसी प्रकारसे भी अयोध्याका त्याग करनेमें समर्थ न होऊँ। तथापि पुनः उस प्रकारके शोकके उदित होने पर करुणामय श्रीरामचन्द्रने स्नेहपूर्ण वाक्योंसे मुझे आश्वासन देकर कहा—सखे! तुम सुखपूर्वक द्वारावती गमन करो॥२७३॥

अथ श्रीरामेण प्रखरकरुणाकोमलहृदा,
जगच्चित्तज्ञेन प्रणयमृदुनाश्वास्य वचसा।
व्रज-द्वारावत्यां सुखमिति समादिश्य गमितः,
समं तां भल्लूकावलिपरिवृढेनाहमचिरात्॥२७४॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते श्रीगोलोकमाहात्म्यखण्डे
वैकुण्ठ नाम चतुर्थोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् प्रखर-करुणावशतः कोमल-हृदयवाले तथा समस्त जगतके चित्तकी बातोंको जाननेवाले श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमयुक्त मधुर-मधुर वाक्योंसे मुझे आश्वासन देते हुए कहा—"हे

गोपकुमार! तुम सुखपूर्वक द्वारावती जाओ।" ऐसा कहकर उन्होंने भालूपति श्रीजम्बवानको मुझे शीघ्र ही द्वारका ले जानेका आदेश दिया॥२७४॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके चतुर्थ अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरं श्रीरामेण तां द्वारावतीं भल्लूकानामावलेः श्रेण्याः परिवृढ़ेन नायकेन श्रीजाम्बवता समम् अहमचिराद्गमितः प्रापितः। श्रीसाम्बमातामहस्य तस्य तत्रापि प्रियसम्बन्धात्। किं कृत्वा? प्रणयेन स्नेहेन मृदुना आर्द्रेण वचसा आश्वास्य द्वारावत्यां सुखं व्रजेति समादिश्य च, अन्यथा तत्परित्यागेनान्यत्र गमनासम्भवात्। तत्र हेतुः—जगतां चित्तं तद्वृत्तिं जानातीति तथा तेन। अयं श्रीमदनगोपालदेवपादपद्मोपासकस्तदेकप्रेमनिष्ठस्तत्सङ्गैकयोग्य एव; अतोऽत्रत्यानन्दविशेषानुभवेनापि, तथा श्रीहनूमत्-कृपाश्वासनादिनापि न संहृष्येदन्तरनुतप्यत एव। केवलं द्वारावतीमेव जिगमिषतीत्यादिकं जानतेत्यर्थः। तथापि तस्यान्यत्र प्रेषणं न युक्तमेव, तत्राह—प्रखरया परमोत्कृष्टया करुणया कोमलं हृद्यस्य तेन तदीयशोकाद्यसहिष्णुतया तस्य सुखार्थमेव तत्र स प्रहित इति भावः॥२७४॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां द्वितीयखण्डे चतुर्थोऽध्यायः।

भावानुवाद—इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी द्वारा प्रेरित होकर भालूपति श्रीजाम्बवानके साथ मैं अति शीघ्र ही द्वारकापुरी पहुँच गया। श्रीजाम्बवान श्रीसाम्बके नाना हैं, इसलिए उनका द्वारकामें भी प्रिय सम्बन्ध था। श्रीरामचन्द्रजीने किस प्रकारसे प्रेरित किया? उन्होंने स्नेहसे द्रवीभूत होकर मधुर-कोमल वाक्योंके द्वारा मुझे आश्वासन देकर कहा, "हे सखे! तुम सुखपूर्वक द्वारका जाओ।" अन्यथा मेरे लिए उस अयोध्याका परित्यागकर कहीं भी जाना असम्भव था। श्रीरामचन्द्रजी द्वारा ऐसा आदेश देनेका कारण था कि वे जगतके लोगोंकी चित्तवृत्तिसे अवगत हैं। अर्थात् वे जानते थे कि मैं (गोपकुमार) श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंका उपासक हूँ और केवल उन्हींके प्रेममें निष्ठ होनेके कारण उनका ही सङ्ग प्राप्त करनेके लिए उत्कण्ठित हूँ। इसलिए अयोध्यामें आनन्द विशेष अनुभव करने पर भी तथा श्रीहनुमान द्वारा कृपा और आश्वासनादि

प्राप्त होने पर भी मेरा चित्त हर्षित नहीं हो रहा था, अपितु अनुतप्त ही हो रहा था। अर्थात् द्वारावती जानेकी उत्कण्ठाके क्रमशः बलवती होने पर चित्तमें केवल अनुताप ही प्राप्त हो रहा था, किसी प्रकारसे भी शान्ति प्राप्त नहीं हो रही थी। अतएव श्रीरघुनाथजी द्वारा मुझे अन्यत्र कहीं न भेजकर केवल द्वारावती भेजना ही युक्तियुक्त था। इसीलिए कह रहे हैं—परमोत्कृष्ट करुणा द्वारा जिनका हृदय सर्वदा कोमल है तथा जो दूसरोंका स्वल्पमात्र शोक-दुःख भी सहन नहीं कर सकते, उन प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने मेरे सुखके लिए आज्ञा की—'शीघ्र द्वारका जाओ।' ऐसा कहकर उन्होंने श्रीजाम्बवानको मुझे द्वारका ले जानेका आदेश प्रदान किया॥२७४॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके चतुर्थ अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

मूल–श्लोकानुक्रमणिका

अ

अंशाः बहुविधास्तस्या ४/१७९
अकस्मादागतास्तत्र २/३६
अग्रे स्थिता तस्य ४/८९
अतः सान्द्रसुखं तस्य २/१८०
अत ऊर्ध्वं महर्लोको २/४२
अतस्तत्रापि भवतो २/२२९
अतस्तस्मादभिन्नास्ते २/१८६
अतस्तेऽन्योन्यमेकत्वं ४/४८
अतो न बिम्ब– ४/१५९
अतोऽन्यान्यतितुच्छानि ४/२२५
अत्यजंश्च जपं २/२८
अत्यन्तसन्निकर्षेण पितृ– २/१५५
अत्रादृष्टाश्रुताश्चर्य– ४/२१
अत्रापि भगवन्तं ३/११३
अत्रेतिहासा बहवो १/११०
अथ तस्मिन् महाराजे १/१९७
अथ तस्याज्ञयागत्योत्– ४/२६५
अथ तस्यान्तरीणायां १/१८२
अथ तैः पार्षदैः ४/६१
अथ प्रभोश्चामरवीजन– ४/९८
अथ श्रीरघुसिंहस्य ४/२६८
अथ श्रीरामेण प्रखर– ४/२७४
अथ सन्दर्शनोत्कण्ठा २/३
अथातिथ्येन सन्तोष्य १/९५
अथापि गोवर्द्धनगोपपुत्र– ३/१०७
अथापुत्रः स राजा १/१५१
अथाप्याचर्यमाणा सा २/१९९
अथाभ्यासबलेनान्तर्बहिश्च २/११८
अथेश्वरेच्छयातीत्य ३/३२
अथैकस्य मुनीन्द्रस्य २/२३
अथो तदाकर्ण्य २/१३४
अनन्तरञ्च तत्रैव २/९४
अनादिसिद्धया शक्त्या २/१८५
अनिर्वाच्यतमांश्चेतोहारि– ३/७९
अन्तःपुरे देवकुले १/१४२
अन्तः प्रवेश्यमानो ४/५७
अन्तरङ्गान्तरङ्गान्तु २/१०२
अन्तर्धाय कदाचिच्चेत् २/१४५
अन्तर्ध्यानेन दृष्टोऽपि २/९६
अन्तर्बहिश्च पश्यामस्तं २/१०८
अन्यथेतरकर्माणीवैतेऽपि ३/१३६
अन्येभ्य इव कर्मेभ्यो ३/१३७
अन्येऽवताराश्च तथैव ४/१५७
अन्येषामिव तेषाञ्च १/२२
अपूर्वलब्धमानन्दं २/५१
अबोधयं मनोऽनेन ३/७०
अभिनन्द्य शुभाशीर्भिर्मां २/३९
अमी चाष्टमुखस्यैतद्– ३/८७
अये विप्रज! जानासि १/६१
अवान्तरफलं भक्तेरेव २/२०९
अशेषशोकसन्त्रासदुःख– २/१३७
अशेषसाधनैः साध्यः २/१०३

अष्टमावरणस्याधिष्ठात्री ४/१८१
अस्मदीश्वरसन्मन्त्र- ३/१२१
अस्मिन्नस्मिन्निहेनैव ४/८३
अस्मिन् हि भेदाभेदाख्ये २/१९६
अस्य लोकस्तु २/१२६
अस्यास्तु व्रजभूमेः १/१४९
अहञ्च तद्वियोगार्त्त ३/८
अहञ्चाभिनवो २/३८
अहन्तु वैष्णवानेव २/१४८
अहो! तत्क्षेत्रमाहात्म्यं १/१६३
अहो श्लाघ्यः कथं २/२००
अहो सुखं कीदृगिदं ४/९७

आ

आगमानां विवादोऽभूत्तम् २/१६५
आज्ञां भगवतः स्मृत्वा ३/३
आज्ञामालां प्रातरादाय १/२१९
आत्मारामाश्च भगवत्- २/२०६
आद्यामाधुनिकीं ४/२०८
आनन्दकस्वभावोऽपि २/१००
आरुह्य पक्षीन्द्रमितस्ततोऽसौ २/११
आर्त्तस्तत्र जगन्नाथं २/४
आशीर्भिर्वर्द्धयित्वा तान् २/१२३

इ

इच्छावशात् पापम् ३/१६९
इतः परतरं प्राप्यं ४/१२९
इत ऊर्ध्वतरे लोके २/७१
इतस्ततो न दृष्ट्वा २/८०
इतस्ततो महायज्ञैः २/१४९
इतस्ततोऽमृग्यतासौ १/१८७
इतिकर्त्तव्यतामूढ़ो १/५२
इति बोधयितुं चास्य १/१०७
इतोऽदूरेऽयोध्या विलसति ४/२३९
इत्थं समाधिजान्मोक्षात् २/२१६
इत्थं हर्षप्रकर्षेण- ४/५६
इत्थन्तु वैभवाभावे ४/९४
इत्थमह्नां कतिपये २/१४६
इत्थमानन्द- ३/४२
इत्थमुद्विग्नचित्तं मां २/२३३
इत्यकृत्रिमसन्तापं १/१३६
इत्यादिमन्मनो-वृत्तं ३/८४
इत्येवं कोटिकोटीनां ३/८८
इदं महत् पदं हित्वा २/८६
इदं स विमृशत्येषामुपास्यो १/७२
इन्द्रचन्द्रादिसदृशा- ४/३८

उ

उतास्य तेजोमयपूरुषस्य ३/४६
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ४/२६४
उत्थाप्य तैरेव बलाच्चिरेण ४/७८
उद्यतेन गृहं गन्तुं १/१३३
उपद्रवोऽयं को मेऽनु १/८१
उपानयन् महासिद्धीरणिमा- ३/२६
उपासनानुसारेण दत्ते ४/१८९

ए

एकं महाभक्तमनुग्रहीतुं ४/२४९
एकः स कृष्णो ४/१८६
एकत्वमप्यनेकत्वं ४/१६२
एकदा तं निजप्राणनाथं ४/९
एकदा तु तथैवासौ १/८३
एकदा मुक्तिमत्राप्तमेकं २/१५७
एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं ३/१६२

एकाकित्वेन तु ध्यानं ३/१५७
एकाकिनात्र भ्रमता ४/१
एको नारायणो वृत्तो २/१११
एकोऽपि भगवान् ४/२०३
एको वैकुण्ठनाथेऽयं ४/१६३
एतच्च वृन्दाविपिने– ४/१६४
एतच्छ्रीभगवद्वाक्य– ४/८८
एतत्परमवैचित्रीहेतुं ४/३९
एतस्मिन्नेव समये १/१५८
एतां स्व–वंशीं बहुधा ४/९०
एतादृशात् प्राप्यतमं ४/१२०
एते वैकुण्ठनाथस्य ३/८५
एते हि मृत्युकालेऽपि ३/९०
एते हि सच्चिदानन्दरूपाः ४/१४०
एवं कदाचिदुद्विग्नः ४/१२३
एवं तदाज्ञया हर्षशोक– २/२४०
एवं ताञ्चदिदृक्षुः २/७५
एवं तुष्टमनास्तस्य ३/७३
एवं दिनानि १/१५०
एवं धरण्यपि ज्ञेया ४/१७२
एवं निजेष्टदेव– ४/२३६
एवं निवसता तत्र २/३५
एवं प्रभोर्ध्यानरतैर्मतं ३/१५०
एवं भगवता तेन ४/१८५
एवं ममापि भगवानयं २/२२
एवं मां स्वास्थ्यमापाद्य २/३२
एवं वसन् सुखं १/१९६
एवं विचित्रदेशेषु ४/१६१
एवं विनिश्चित्य १/१०९
एवं सगानं बहुधाह्वयंस्तं ४/८
एवं स पूर्ववन्मन्त्रं १/७९
एवं सम्वत्सरे जाते १/२१४
एवमात्मात्मसेवासु ४/३१
एवमुद्भूतहृद्रोगोऽद्राक्षं १/१८५
एवमेतं भवन्मन्त्रं १/१२१
एषां यज्ञैकनिष्ठा– २/५७
एषा हि लालसा ३/८२

क

कङ्कणाङ्गदविभूषणायत– ४/६७
कथञ्चित्तत्–प्रभावेण ४/५०
कथञ्चिद्भगवन्नाम– २/१७३
कदाचित् पुष्करद्वीपे २/१२१
कदाचित् सनकादींश्च २/११९
कदाचित् स्वर्णरत्नादिमयं ४/४९
कदाचिदीशो निभृतं ४/११५
कदाचिदेव कस्मैचित्– ४/२३३
कदाचिद्भक्तवात्सल्याद्– २/९२
कदापि कृष्ण– ४/२१२
कदापि तत्रोपवनेषु ४/११२
कदापि तस्मिन्नेवाहं ३/४०
कदापि परराष्ट्राद्धीः १/१५५
कदापि शुभ्रैर्वरचामरैः ४/२६०
कमिमं यजसि १/१३०
कयाचिदनयातर्क्य– ४/१९८
करे पतद्ग्राहभृता ४/७१
कर्पूर–गौरं त्रिदृशं ३/५०
कर्मविक्षेपकं तस्या २/२०५
कामं दीर्घतमं मेऽद्य ४/८७
कामिनां पुण्यकर्तृणां १/१०
कायाधवादेर्हृदि ३/१८१
कार्योपाधिमतिक्रान्तैः ३/१३
कालेन कियता पुत्र २/२३९
किं निद्राभिभवोऽयं १/८२

किंवानुष्ठितया सम्यक् २/१६१
किन्तु यज्ञसमाप्तौ २/६०
कीदृशो जगदीशोऽसौ १/१२८
कीर्त्तयन्तं मुहुः कृष्णं १/११४
कुतस्तत्स्मारके ४/२११
कुत्रत्याः कतमे ३/८३
कृत्स्ने लोकत्रये नष्टे २/१४३
कृपया कृष्ण-भक्तानां ४/२२०
कृपाभरोद्यद्वरचिलिनर्त्तनं ४/६९
कृष्णं प्रणम्य निरूपाधि- १/३२
कृष्णभक्तिरसाम्भोधेः १/५
कृष्णभक्त्यैव साधुत्वं २/२०२
कृष्णस्य नानाविध- ३/१५८
कृष्णस्य भक्तवात्सल्य- ४/१०७
कृष्णस्य साक्षादपि ३/१८२
केचित् क्रमेण मुच्यन्ते १/१२
केचित् सपरिवारास्ते ४/३४
केचिद्विचित्ररूपाणि धृत्वा ४/३६
केचिन्नरा वानराश्च ४/३७
केऽप्येकशो द्वन्द्वशोऽन्ये ४/२८
केवलं तत्पदाम्भोज- १/१०३
कैलासाद्रिमलंकर्तुं ३/५९
कैश्चिदुक्तं सगाम्भीर्यं २/१६०
कैश्चिन्महद्भिस्तान् ४/१०६
कौतुकेन वयं बाला १/११७
कौस्तुभाभरण-पीनवक्षसं ४/६८
क्रमेण मत्स्यं सूर्यञ्च ३/२१
क्वचित् केष्वपि जीवेषु ४/१६७
क्वचित् प्रस्तूयतेऽस्माभि- २/१७०
क्षणात् स्वस्थोऽप्यहो ३/८१
क्षणान्निराकार- ३/३९

ग

गच्छतो लीलया ३/८९
गच्छदागच्छतोऽहं तान् ४/५५
गतो वृन्दावनं तत्र १/८७
गत्वा सम्प्रति वैकुण्ठे ३/९४
गन्तुं वृन्दावनं १/२१३
गर्भान्तरे च १/२८
गाढ़माश्लिष्यति १/११८
गूढ़ोपनिषदः काश्चित् २/१६३
गृहादिकं परित्यज्य १/४०
गोकुलाचरितञ्चास्य ४/१००
गोपबालकवेशेन ४/२६७
गोपार्भवर्गैः सखिभिर्वने १/७७
गोपालदेवात् करुणाविशेषं ४/११४
गोपालवृत्तेर्वैश्यस्य १/१११
गौड़े गङ्गा-तटे ३/१२२
गौर्या निजाङ्काश्रितयानु- ३/५१

घ

घनान्धकारारण्यान्तः १/९०

च

चतुर्युग-सहस्रस्य २/६१
चतुर्विधेषु मोक्षेषु ३/१०८
चामरव्यजनपादुकादिक- ४/७२
चिराद्दिदृक्षितो दृष्टो १/१७२
चेद्ध्यानवेगात् खलु ३/१५१

छ

छलञ्च न लभे ४/८४

ज

जगदीशं मुहुः पश्यन् १/१३२
जगदीशाद्विधातेव लालनं २/१४०
जगदीश्वरतः पुत्र– २/१५४
जगदीश्वरनैवेद्यं १/१५६
जगद्विलक्षणैश्वर्यो ३/५३
जगाद च निजं ३/६
जीवस्वरूपं यद्वस्तु २/१८२
जीवस्वरूपभूतस्य २/१७६
ज्ञात्वा भगवता तेन ३/६१
ज्ञात्वेमं शिवलोकस्य ३/६७
ज्ञानभक्तास्तु तेष्वेके १/१६
ज्येष्ठसोदरसम्बन्धमिव २/३०

त

तं दृष्ट्वा सर्वथामंसि ४/२६
तं मत्वा श्रीहरिं ४/२४
तं श्रुत्वा परमानन्द– ३/७५
त एव सर्वभक्तेभ्यो ४/२१५
तच्छङ्करप्रसादेन परानन्दभरं ३/११४
तच्छिष्यरूपेण च १/३०
तच्छोकदुःखैरनुतप्यमानः २/२९
तच्छ्रुत्वाचिन्तयं ब्रह्मन् २/५६
तच्छ्रुत्वा तत्र गत्वा २/१२९
तच्छ्रुत्वाहं सुसंप्राप्तो १/१३१
तच्छ्रुत्वोक्तं प्रभोः ४/२०६
तच्छ्रुत्वोपहसन्ति १/६०
तच्छ्रुत्वैन्द्रपदे सद्यो २/४५
तज्ज्ञापकञ्च भज ३/१२४
ततः कथं पुराणेभ्यः ४/२०५
ततः कानपि सिद्धान्तान् ४/१३६
ततः कृतार्थतानिष्ठां २/५३
ततः शोकमिवामुत्राप्याप्नुवन् ४/२७७
ततः श्रीमाधवं वीक्ष्य १/६९
ततः स प्रातरुत्थाय १/८६
ततस्ताननुमान्याहमनङ्गीकृत्य २/५८
ततो जपेऽपि मे २/११४
ततो जातबहिर्दृष्टिः १/९३
ततो महापुराणानां २/१६६
ततो यो जायते २/३३
ततोऽकार्षमहं चित्ते २/७४
ततोऽक्षयवटच्छाये क्षेत्रे २/६३
ततोऽत्रापि सुखं ४/१३५
ततोऽदितिं शचीं २/२६
ततोऽपि कैश्चिन्– ४/२५७
ततोऽसौ लज्जितो १/६४
तत्क्षेत्रमचिरात्– १/१६६
तत्क्षेत्रोपवनश्रेणी– १/१९५
तत्तत्त्वं सादरं पृष्टास्ते २/१६८
तत्तत्त्ववृत्तं संपृष्टा २/१२४
तत्तत्संकीर्त्तनेनापि तथा ३/१५६
तत्तद्रहितकालेऽपि २/१२०
तत्ते मय्यकृपां वीक्ष्य ४/८५
तत्प्रदेशविशेषेषु १/१९
तत्प्रसादेन भक्तानामधीनो ४/२२६
तत्प्रसादैकलभ्यो २/१०४
तत्प्रसादोदयाद्यावत् २/९५
तत्प्रेमभक्तैः सुलभस्य ३/९७
तत्र किञ्चित् पुराणं १/७०
तत्रत्य–देवीं कामाख्यां १/३६
तत्रत्यानाञ्च सर्वेषां ४/४४
तत्रत्यैर्बहिरागत्य ४/१०१
तत्र दृष्टो मया २/७६
तत्र नीपनिकुञ्ज– १/९१

तत्र मत्परमप्रेष्ठं २/२३६
तत्र वैकुण्ठलोकोऽस्ति २/१२७
तत्र श्रीकृष्णपादाब्ज- १/१५
तत्राग्रतो गन्तुमनाश्च १/१६८
तत्राथाप्यवसं तेषां २/८३
तत्रानुभविता सोऽनुभवनी- २/२१४
तत्रापरस्येव महाविभूती- ४/९२
तत्राभिषिक्तः १/१९८
तत्रासाधारणं हर्षं १/८५
तत्रैकदा महातेजःपुञ्जरूपो २/६७
तत्रैव गन्तुकामं मां २/११०
तत् सङ्कल्प्य जपं २/४६
तत् सर्व-नैरपेक्ष्येण ४/२०४
तत्सुखं वर्धतेऽभीक्ष्नमनन्तं २/१९३
तत् स्वरूपमनिर्वाच्यं २/२२७
तथापि कार्या प्रेम्णैव ३/१२९
तथापि जीवतत्त्वानि २/१८३
तथापि तद्रसज्ञैः सा ३/१२७
तथापि तस्मिन् ४/११३
तथापि दीर्घवाञ्छा ३/७२
तथापि पूर्वाभ्यासस्य ४/९५
तथापि प्रत्यभिज्ञेयं १/७१
तथापि ब्राह्मयकृत्याब्धि- २/१५२
तथापि भगवद्भक्ति- ४/२१७
तथापि भवतो ब्रह्मन् ४/४२
तथापि मम १/२०८
तथापि यदिदं ३/११८
तथापि रघुवीरस्य ४/२४२
तथापि लोकसम्मानादर- १/२१२
तथापि सर्वदा ३/१३१
तथापि स्वगुरोः प्राप्तं १/३४
तथाप्यन्तर्महोद्वेगः २/१५६
तथाप्यस्यां व्रजक्ष्मायां ४/१११
तथाप्यस्वस्थमालक्ष्य ३/७१
तथाप्युत्कलभक्तानां १/२०५
तथैतदनुकूलानि पुरा- २/१९८
तथैव लक्ष्म्या भक्तानां ४/१७६
तदन्तरे रत्नवरावलीलसत्- ४/६४
तदर्थमुचितं स्थानमेकं १/२४
तदशेषमनादृत्य ३/२९
तदस्वीकृत्य तु स्वीयं ४/१४
तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽहमैच्छं ३/६०
तदाकार्षं मनस्येतद्दीर्घाशा ४/२६६
तदा निजं महामन्त्रं २/२२४
तदानीञ्च मनोवृत्त्यन्तरा- २/८९
तदानीयेत सर्वार्तिस्तमः २/६६
तदा मन्त्रि-वरेणाहमालक्ष्य ४/२७३
तदा हृदीदं परिनिश्चितं ४/९६
तदेव मन्यते भक्तेः ३/१६५
तद्गच्छ भारतं वर्षं २/१०७
तद्दर्शनस्वभावोत्थप्रहर्षा- ३/८०
तद्दर्शनानन्द-भरेण तेषां ४/७६
तद्दर्शनानन्द-भरेण मोहितो ४/२५८
तद्दर्शने जातमनोरथाकुलः २/१२
तद्दर्शने ज्ञानदृशैव ३/१७६
तद्दर्शनोज्जृम्भितसम्भ्रमाय २/५०
तद्दिग्भागं गतः प्रेम्णा १/८९
तद्दिदृक्षाभिभूतोऽहं १/१६५
तद्दृष्टान्तकुलेनैव तत्तत् ४/४३
तद्धेतुश्चित्तशुद्धिर्वा २/२१२
तद्बोधयन्नेव विलोक- ४/१२२
तद्भक्तिरसकल्लोल- ३/११९
तद्भक्तिरसिकानान्तु २/२०३
तद्भावोत्कर्षमाधुर्यं ४/२३५

तद्धीत्यालीयत ब्रह्मा २/१४७
तद्भुक्त्वा सत्वरं १/१७४
तद्रागकान्ताधरबिम्बकान्ति- ४/७०
तद्वाक्यगौरवेणैव १/१२५
तद्वाक्यञ्चानुसन्धाय १/१२७
तद्वाचानन्दितोऽगत्वा १/१४१
तद्वियोगेन दीनः १/१९३
तन्नाम-संकीर्त्तन- ३/१७१
तन्निदानमनासाद्य ३/६८
तन्महापुरुषस्यैव १/१२६
तन्महारम्यताकृष्टः १/५१
तन्मातापुत्रयोर्विद्वन् संवादः १/३
तन्मानयञ्छिवस्याज्ञामितो ३/१८५
तयाशु तादृशी ३/१४५
तयैवात्राद्य सर्वज्ञं १/१०१
तर्कार्चितविचारौघैरिदमेव ३/४३
तर्ह्येव भगवन्! दूरे ३/७४
तर्ह्येव सर्वज्ञशिरोमणिं ४/११०
तल्लीलास्थलपालीनां १/१०५
तल्लोके भवतो ३/११७
तस्मादरे चञ्चलचित्त- ४/१२१
तस्मिँलसन्माधवपादपद्मे १/५५
तस्मिन् गोभूषितेऽपश्यन् १/८८
तस्मिन् गोवर्द्धने १/११२
तस्मिन्निजेष्टदेवस्य ३/२४
तस्मिन्नेव क्षणे ४/११७
तस्य कारुण्यशक्त्या २/९३
तस्य तस्याखिलं ४/१४६
तस्य पुत्र इव ब्रह्मा २/१२८
तस्य प्रसादमासाद्य ४/५
तस्यां कारणरूपायां ३/१७
तस्याः शतगुणा ३/१०५
तस्याज्ञयागतोऽत्राहं ४/२४८
तस्याज्ञया महेन्द्रेण २/१६
तस्यान्नं पाचितं १/१६१
तस्यापि सोऽत्यन्तसुख- ४/१३१
तांश्च पश्यन् पुरेवाहं ४/२९
तादृग्भक्तिविशेषस्य १/८
तादृग्भावविशेषाशा- ४/२३७
तादृशं तेऽस्य सारूप्यं ४/१४२
तानि तानि पुराणादि- ४/२१८
तानि माहात्म्यजातानि ४/४१
तान्यतिक्रम्य लभ्येत २/२२६
तामनुज्ञाप्य केनाप्या- ३/१९
तारतम्यन्तु कल्प्येत ४/१९३
तारतम्यवतामेषां फले १/१७
तावत्तैः पार्षदैरेत्य ४/१०
तावद्दयालु-प्रवरेण तेन ४/७९
ते च सर्वेऽत्र वैकुण्ठे ४/१४७
ते चास्यैव प्रदेशेषु ४/१५१
तेन तं प्रकटं ३/४७
तेन विस्मृत्य तद्दुःखं २/३१
तेन वैकुण्ठनाथेन ३/११६
तेनामी सेवितास्तत्र २/४४
ते निर्विकारताप्रान्तसीमां ४/४७
तेनेदं विफलं जन्म १/१००
तेऽपि नूनं न तां पूजां ४/२१९
ते हि भक्तेः फलं ४/२२३
तेषां कस्मिंश्चिदेकस्मिन् ३/१२८
तेषां नवप्रकाराणामेकेनैव ३/१२५
तेषां सदा गीत-नति- १/५६
तेषामप्यवताराणां सेवकैः ४/१८८
तेषामेतादृशैर्वाक्यैरादौ ४/१०८
तेषामेतैर्वचोभिर्मे २/२३१

तेषु चान्तःप्रविष्टेषु ४/२२
तेषु लोकेष्वलोकेषु ४/१६
तेषु वै दृश्यमानेषु ४/५२
तेषु स्वसेवासामग्रीं ४/३०
तेष्वेव केचिदवदन् ४/१०५
तैः सच्चिदानन्दघनैरशेषैः ४/१९९
तैः सहाग्रे गतो ४/२५२
तैः स्तूयमानो ४/१८
तैरेवार्यवराचारैर्मन्नत्याद्य- ४/२५३
तैर्वर्ण्यमानमाचारं १/४२
त्रैलोक्ये यत् सुखं २/४७
त्रैलोक्यैश्वर्यमासाद्य २/२१
त्वमेतस्य प्रभावेण १/१९१
त्वरा चेद्विद्यते ३/१४३

द

दण्डवत् प्रणमन्तं १/१८८
दयालु-चूडामणिना ४/१२४
दयालूनां महर्षीणां २/५२
दारुब्रह्म जगन्नाथो १/१५९
दासोऽस्मि दासदासो- ४/२५
दिव्याम्बरालङ्करणस्रगावली १/१६९
दिव्यैर्द्रव्यैस्तर्पितो २/१७
दिष्ट्या दिष्ट्या गतोऽसि २/१५
दुःसङ्गदोषं भरतादयो ३/१७२
दुर्वितर्क्या हि सा ४/१६५
दूराच्छंखध्वनिं श्रुत्वा १/१२९
दूराददर्शि पुरुषोत्तम- १/१६७
दूरादेव गतोऽद्राक्षं ४/२५१
दूषितान् बहुदोषेण ३/१०
दृग्भ्यां प्रभोर्दर्शनतो ३/१७९
दृश्यते स स मन्येत ४/६०
देव्याः प्रभावादानन्द- १/७८
देव्याज्ञादरतो मन्त्रमपि १/४४
देव्यादेशेन तं मन्त्रं १/३८
दैवैरन्विष्य बहुधा २/२४
द्वारकावासि-विप्रेण ३/११२
द्वारे द्वारे द्वारपालास्तादृशा ४/५८
द्विपरार्धायुषि स्वस्य २/१५३

ध

ध्यानं परोक्षे युज्येत ३/१८३
ध्यानञ्च संकीर्त्तनवत् ३/१५४

न

न कश्चित् प्रभवेद्बोद्धुं ४/५१
न चेत् कथञ्चिन्न ३/१७८
न चेष्टदेवपादानां ४/२६९
न दोषास्तत्र शोको वा २/५९
न पातित्यादिदोषः ४/२०९
न मात्सर्यादयो दोषाः ४/४५
न मानयन्ति तद्भक्तान् ४/२१४
नववैष्णव किं १/१३७
नवीनसेवकानान्तु प्रीत्या ३/१४१
न सच्चिदानन्दघनात्मनां ४/१९२
न स सम्भाषितुं १/१८६
न ह्यन्यकर्मवद्भक्तिरपि ३/१३८
नानात्वमेषाञ्च कदापि ४/१५८
नानासंकल्पवाक्यैश्च १/४३
नान्यत् किमपि १/१७९
नापि कोदण्डपाणिः १/७५
नापि तत्र सहन्ते ते ४/२२४
नामसंकीर्त्तनं प्रोक्तं ३/१६४
नामसंकीर्त्तनस्तोत्रगीतानि १/२०६

नाम्नान्तु संकीर्त्तन– ३/१६७
नायं नरार्द्धसिंहार्द्ध– १/७४
नारायणादप्यवतारभावे ४/१८७
निःशेषसत्कर्मफल– ४/१८४
निज–प्रियतमां याहि २/२३४
निजप्रियसखस्यात्र १/२७
निजस्तुत्या तया ३/१२०
निजात्मारामता पश्चाद्व्रजतां २/२१३
निजेन्द्रिय–मनःकाय– ३/१३३
निजेष्टदेवता– १/९२
निजेष्टदैवत–श्रीमद्गोपाल– ४/१०९
निजैः प्रियतमैर्नित्य– १/२०२
नित्यसिद्धास्ततो जीवा २/१८४
नित्यापरिच्छिन्नमहासुख– ३/९६
नित्यैश्वर्यो नित्यनानाविशेषो २/२२१
निद्रालीलां प्रभुर्भेजे २/१४१
निपीय हृत्कर्णरसायनं ३/१८६
निर्गुणे सच्चिदानन्दात्मनि ३/१३४
निर्भरानन्दमपूरेण ३/९५
निर्वक्तुं भक्तिमाहात्म्यं २/१७९
निशम्य सादरं तस्य १/१०२
निष्कामेषु विशुद्धेषु ३/१०४
नेत्थं ज्ञातः सतां १/१७७
नैतत् स्वशक्तितो राजन् १/४
नैतन्निश्चेतुमीशेऽयं ३/३८

प

पतिव्रतोत्तमा सा ३/७६
पत्नी–सहस्रैर्युगपत् ४/१६६
पदस्वाभाविकानन्द– ३/४४
परं गोप्यमपि स्निग्धे १/६
परं श्रीमत्पदाम्भोज– ३/१४४
परं श्रीमथुरा ३/२
परं समाधौ सुखमेकम्– २/२१५
परमं विस्मयं प्राप्तो ३/५२
परमहर्षभरात् क्रमितो ४/२६२
परमातिशयप्राप्त– २/१९२
परमात्मा परब्रह्म स २/१९४
परमात्मा वासुदेवः २/८८
परमानन्दपूर्णोऽहं १/१४६
परमानन्दयुक्तेन ४/१५
परमाप्तं सुहृच्छ्रेष्ठं ४/१२७
परमैश्वर्यसम्पन्नः स २/१२२
परां काष्ठां गतं १/२०
परानन्दघनं श्रीमत् २/९८
परानन्दभराक्रान्तचेतास्तद्– ३/५४
पर्यवस्यति सारूप्य– १/१८
पशु–पक्षिगणान् ४/१३९
पश्यन् प्रभो रूपमदो २/१४२
पश्येमेऽप्यपरे यान्ति ३/८६
पाञ्चभौतिकतातीतं ३/९
पारब्राह्मयं मधुरमधुरं २/२१९
पारमेष्ठ्येन संरुद्धो २/१५०
पार्षदैरिदमुक्तोऽहं ४/२०
पिबंश्च गोरसं २/२
पूजाविधिं शिक्षयितुं १/१२२
पूज्या देवा नृणां २/४०
पूर्वं गङ्गातटनृपगृहे २/१३
पूर्वं ये बहुकालेन ३/११
पूर्ववत्तान्यतिक्रम्य ३/२३
पूर्ववद्व्रजनानन्दं प्राप्नुवन्ति ४/१४८
पूर्ववद्राजमानोऽसौ ४/४
पूर्वाभ्यासवशेनानुकीर्त्तयामि ४/९९
पूर्वाभ्यासवशेनेयं व्रज– ४/२७२

पृथिव्याः साधवः १/२००
पृथिव्यावरणं तेषु ३/१५
पृष्टं मयेदं भगवन् ४/२०२
पृष्ठे स्थितैर्विज्ञवरैर्धृतः ४/७७
प्रकृत्यैव न जानामि १/१३५
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा स्रष्टा २/१२५
प्रणामनृत्यस्तुति- १/१७०
प्रतिद्वारान्तरे गत्वा ४/५९
प्रतिमा या मयोद्दिष्टाः ४/२०७
प्रपञ्चान्तर्गता भोगपरा ४/४६
प्रफुल्लपुण्डरीकाक्षे १/१६४
प्रभोः कृपापूरबलेन ३/१७७
प्रमोदवेगात् पतितं २/१३५
प्रयासैर्बहुभिः स्वास्थ्यं ३/४
प्रविश्य तत्तद्रूपेण ३/१४
प्रागयोध्याभिगमने ४/२४०
प्रादुर्भूतस्य विष्णोस्तु २/३४
प्रादुर्भूतोऽथ भगवानिज्य- २/६५
प्राधानिकैर्जीवसङ्घैर्भुज्यमानं ३/३०
प्राप्य प्राप्यं द्रष्टुमिष्टञ्च २/१४
प्रायः सर्वे समाधिस्था २/८१
प्रासादमुख्येऽखिलमाधुरीमये ४/२५६
प्रासादमेकं विविधैर्महत्ता- ४/६३
प्रीतिर्यतो यस्य ३/१५२
प्रेम्णोऽन्तरङ्गं किल ३/१४६

फ

फलं लब्धं जपस्येति १/१८१

ब

बहुकालविलम्बञ्च २/२३०
बहुलोपनिषद्देव्यः श्रुति- २/१५९
बहुरूपं दुर्विभाव्यं ३/३१
बहूनि गमितान्यङ्ग ४/८२
बाल्यलीलास्थलीभिश्च १/२१७
बाह्यान्तराशेष- ३/१४९
बुद्ध्वा गोपकुमारं १/९६
बृहद्व्रतैकलभ्यो यः २/७२
ब्रह्मंस्तत्प्राप्तये जातमहा- ३/९९
ब्रह्मलोकात् सुखैः ३/१२
ब्रह्मलोकादिमां पृथ्वी- ३/१
ब्रह्मर्षिभिश्च बहुधा २/१५९
ब्रह्माण्डदुर्लभैर्द्रव्यैर्महा- ३/१६
ब्रह्माण्डशतभूत्याढ्य- ४/२३
ब्रह्माण्डात् कोटिपञ्चाशद्- २/२२५

भ

भक्तानां सच्चिदानन्द- ३/१३९
भक्तान् कृत्स्नभयात् ३/९१
भक्ता भगवतो १/१३
भक्तावतारास्तस्यैते ३/९२
भक्तिं नवविधां ४/३
भक्तिं विनापि तत्सिद्धा- २/२११
भक्तिः प्रकृष्टा ३/१४७
भक्तिप्रभावेण विचारजातैः ३/१७३
भक्तिमिच्छसि वा ३/२८
भक्तिर्यस्येदृशी सोऽत्र २/२३२
भक्तेः फलं परं प्रेम २/२१०
भक्तौ नवविधायाञ्च २/१०१
भक्त्या नतैः शेषसुपर्ण- ४/७३
भक्त्यानन्दविशेषाय ४/२०१
भक्त्या परमया यत्नादग्रे ३/३३
भगवत्परमैश्वर्यप्रान्त- ४/१३३
भगवत्पार्षदाः श्रुत्वा ३/११५

भगवत्सेवकैस्तत्र गतैश्च २/२२८
भगवद्दर्शनाशा च २/८२
भगवद्भजनानन्दरसैकापेक्ष– ३/१११
भगवद्भजनानन्दवैचित्री– ४/१७५
भगवन्तं मुहुः २/१३६
भगवन्तं सहस्रास्यं ३/६६
भगवन्तमिमे विष्णुं १/६२
भगवल्लक्षणं तेषु २/७८
भगवांस्तु परं ब्रह्म २/१७८
भजनानन्द–साम्येऽपि ४/१९५
भयेन वेपमानस्तानवोचं २/११२
भवतैकं क्षणं स्वस्था १/५९
भवांस्तु यदि मोक्षस्य २/२२३
भिन्नाभिन्नैर्महासिद्धैः ३/४१
भीतस्तदग्रेऽञ्जलि– ४/२५५
भुक्तेर्मुक्तेश्च दातायं ३/५७
भुञ्जानो विष्णुनैवेद्यं १/१४८
भूषाभूषणगात्रांशुच्छटाच्छादि– ३/७८
भूषाभूषणसर्वाङ्गा ४/३२
भोगान्ते मुहुरावृत्तिमेते १/११
भो गोपनन्दन क्षेत्रमिदं १/२१६
भो गोपनन्दन श्रीमद्– ४/१२५
भो गोपनन्दन सुहृत्तम ४/२६३
भो गोपवैश्यपुत्र २/५४
भो वादका नर्त्तका १/५८

म

मत्प्रसाद–प्रभावेण २/२३८
मदीयकर्णयोः स्वीय– ४/१३८
मधु–कैटभमुख्य– २/९९
मनःसुखेऽन्तर्भवति २/९०
मनसो हि समाधानं २/१०६
मनस्यकरवं चैतदहो २/२०
मनोदृगानन्दविवर्द्धनं ३/३४
मनोवृत्तिं विना २/९१
मन्यामहे कीर्त्तनमेव ३/१४८
मन्येऽथापि मदीयोऽयं १/७६
मन्ये महाप्रेष्ठजन– ४/२२७
ममापि तत्र तत्राशा १/२०४
मया गोरसदानादि– १/११९
मया च लब्ध्वा १/१५२
मया तु किमिदं १/१२४
मयाभिप्रेत्य तद्भावं २/१६७
मया सम्पृच्छ्यमानं ४/११६
मयैव कृष्णस्यादेशात् ३/११०
मर्मशल्येन चैतेन १/१५७
महत्तमतया श्रूयमाणा ३/१२६
महद्भिर्भक्तिनिष्ठैश्च न ३/१४२
महर्लोके गतेऽप्यात्म– २/६४
महर्षीणामेकतमो २/५५
महाकालपुरे सम्यग्गमामेव २/२३७
महातेजस्विनां तेजो ४/१२
महादयालुनानेन ३/१०१
महानिर्वाच्यमाहात्म्यः २/१०५
महाप्रसादसंज्ञञ्च १/१६२
महाभिमानिभिर्देवैर्मत्सरा– २/४१
महामहाचित्रविचित्रगेह ४/६२
महारसेऽस्मिन्नबुधैः २/२२२
महारहस्यं निगमार्थतत्त्वं २/१३३
महारूपधरैर्वारि– ३/२०
महाविभूतिमान् १/१६०
महाविभूति–शब्देन योग– ४/१७३
महाशया ये हरिनाम– ३/१७०
महासंसारदुःखाग्नि– ३/१०९

महासम्भ्रमसन्त्रास– ३/३६
महासाधोः पुरीं १/१३९
महासुखमयो लभ्यः २/७
महेन्द्रेणार्च्यते २/१९
मां तत्र हित्वा ४/२५९
मां द्रक्ष्यसि कदाप्यत्र १/१९२
मातुरेवं महारम्य– १/२५
माथुरोत्तम विश्रान्तौ २/१
माधवं नम चालोक्य १/६८
मा मूर्ख! कुरु १/५३
मायाया वर्णनञ्चास्य ४/१०४
मिथ्याप्रपञ्च–जननी ४/१८०
मुक्ताश्चास्य तया २/२०७
मुक्तेः परममुत्कर्षं २/१५८
मुक्तौ स्वतत्त्वज्ञानेन २/१८८
मुख्यो वागिन्द्रिये ३/१६३
मुनीन्द्रगोष्ठ्यामुपदेश्य १/३१
मुहूर्त्तानन्तरं दृष्टी २/१३०
मृदूपधानं निजवाम– ४/६५
मैवं सम्बोधयेशेशं ४/१०२
मोक्षोऽनुभगवन्मन्त्र– २/१६४

य

यच्च देव्याज्ञया १/९९
यञ्च स्वीयेष्टदेवस्य ४/१३०
यथाकामं गते तस्मिन् २/६९
यथाकामं सुखं प्रापुः ४/१५४
यथाकालं ततः सर्वे ४/९१
यथा च तत्र तत्कालं ४/२२२
यथा ज्वररुजार्त्तानां ३/१५५
यथा धरालम्बन–रत्नभूता ४/१५५
यथा यज्ञेश्वरः २/७३
यथारोग्ये सुषुप्तौ २/१७२
यथा सकामभक्ता हि ४/२२१
यथास्थानं प्रयातेषु २/७९
यथा हि कोटिगुणितं २/४३
यथैव च पृथग्ज्ञानं ४/१६०
यदा कदाचिन्निज– ४/११९
यदा वा लीलया १/२०३
यदास्या दर्शनोत्कण्ठा १/१९४
यदि पूजोत्सवं १/१३८
यद्यत् संकल्प्य १/१८९
यद्यपि स्वप्रकाशोऽसावतीत् ३/३७
यद्यप्यशेषसत्कर्मफल– ४/२१६
यद्यप्यस्ति बिलस्वर्गो २/८
यद्यप्येतन्महागोप्यं युज्यते ४/२३८
यद्यप्येतादृशी भक्तिर्यत्र ३/१३०
यद्यप्येषां हि नित्यत्वात् ४/१९६
यद्यस्य मत्पितुः सम्यक् ३/९८
यद्वर्णवद्यदाकारं ४/१४१
यश्चक्रवर्ती तत्रत्यः १/१८३
यस्मिन् श्रीजगदीशोऽस्ति २/१०
यस्यां श्रीब्रह्मणाप्यात्म– २/२३५
यस्या एव विलोलायाः ४/१७१
यस्यास्त्वतिक्रमेणैव ४/१८२
यात्रामहोत्सव– १/२०९
यादृशः सम्भवेद्भ्रात– २/१३८
यादृशो भगवान् कृष्णो ४/१६८
या महासिद्धिवत्तासु ४/१७०
यावत्तावच्च कैवल्यं ४/११८
या सान्द्रसच्चिदानन्द– ४/१७४
ये च लक्ष्मीपते– ४/१५३
ये चैकतररूपस्य ४/१५२
ये तु तत्प्रतिमां ४/२१३

ये त्वसाधारणैः ४/१४९
येन प्रकारेण निजेष्टदेवो ४/२४४
येनानुवर्ती महतां १/२९
ये सर्वनैरपेक्ष्येण १/२१
ये स्वर्गलोकादिषु विष्णु– ४/१५६

र

रजन्यामिव जातायां २/६२
रसेन येन येनान्ते ४/१४५
राज्ञोऽस्य परिवारेभ्यः १/१५४
राज्ञोऽपत्येष्वमात्येषु १/२१०
राज्यं राजोपभोग्यञ्च १/२०१
रात्रौ महोत्सवे वृत्ते १/१७६
रूपं सत्यं खलु ३/१७५

ल

लब्धब्रह्माधिकारेदं २/१६९
लेभे मदनगोपाल– १/३७
लोकपालादिभिश्चोर्ध्व– ४/१७
लोकशिक्षा–हितार्थन्तु २/१०९
लोका बहिर्दृष्टिपरास्तु ४/२३१

व

वत्स त्वं सकलाभीष्ट– १/१२०
वदन्ति केचिद्भगवान् ४/२००
वनमध्ये च पश्यामो १/११३
वयमत्र प्रमाणं स्मोऽनिशं ३/१४०
वराहा नरसिंहाश्च ४/१४३
वसन्ति च तपोलोके ३/९३
वस्तुतत्त्वानभिज्ञोऽन्यत् १/३९
वस्तुस्वभावादानन्द– १/८०
वादेषु शुद्धबुद्धीनां १/४७
विक्रोशन्तं क्वचिद्भूमौ १/११५
विचारजाततः स्वस्य ३/१००
विचाराचातुरीरम्यो २/१७४
विचित्ररुचिलोकानां ३/१६१
विचित्ररूप–श्रीकृष्णपूजोत्सव– २/८
विचित्रलीलारससागरस्य ३/१६८
विचित्रलीलाविभवस्य ४/१९०
विचित्रशास्त्रविज्ञेभ्यस्तेभ्यश्चा– २/५
विज्ञाय तत्र १/१४३
वितन्वतो महालीला– ४/३३
वितायमानेषु महामखेषु २/४८
विधाय भगवत्पूजां ३/१८
विप्र विश्वेश्वरस्यानुस्मर १/८४
विप्रान् गङ्गातटेऽपश्यत् १/४१
विप्रो निष्किञ्चनः १/३५
विमानावलिभिः २/६
विलपामि ततो २/११६
विविधानां महिम्नां १/२३
विविधा वर्धितास्तस्य १/१९९
विशुद्धे तु विवेकेन ३/१३५
विशेषतो नागरशेखरस्य ४/२२८
विश्वेश्वरं प्रणम्यादौ १/४६
विसंज्ञं पतितं क्वापि १/११६
विहाय यज्ञकर्माणि २/६८
वैकुण्ठं दुर्लभं मुक्तैः १/१४
वैकुण्ठवासिनो ह्येते ४/१९४
वैकुण्ठस्यैव देशास्ते ४/२४७
वैकुण्ठादपि मन्वाना १/९
व्यक्तं तासां वचोऽश्रुत्वा २/१६२
व्रजभूमाविहागत्य ३/४८

श

शंख-चक्र-गदा-पद्म- १/७३
शक्त्या सम्पादितं यत्तु ४/१८३
शक्नोमि च न तान् ४/१३७
शक्यं न तद्भावविशेष- ४/२३४
शारीरं मानसं १/१८०
शिव-कृष्णापृथग्दृष्टि- ३/५८
शुद्धात्मतत्त्वं यद्वस्तु २/१७७
शोकं सर्वं विहायेमं ४/१३४
शोक-दुःखातुरं १/२१५
शोकदुःखावकाशोऽत्र ४/१२६
शृण्वन्नविरतं १/४८
श्रीकृष्णकरुणासार- १/७
श्रीकृष्ण गोपाल ४/७
श्रीकृष्णचन्द्रस्य ३/१७४
श्रीकृष्णजीविते १/२६
श्रीकृष्णनामामृतमात्महृद्यं ३/१५९
श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवकेषु १/१७८
श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवा- १/१९०
श्रीनारदस्याद्भुतनृत्यवीणा- ४/७४
श्रीनृसिंहतनुं केचिद्रघुनाथं १/६३
श्रीमत्सहस्रभुजशीर्षपदं २/१३१
श्रीमद्गोवर्धने तस्मिन् ४/८६
श्रीमद्भगवतस्तस्य मयि ३/१०६
श्रीमद्भागवताम्भोधि- १/२
श्रीमन्नाम प्रभोस्तस्य ३/१८४
श्रीमन्मदनगोपालदेव- ३/६९
श्रीमन्मदनगोपालपाद- १/१०४
श्रीमन्मदनगोपालान्निज- ३/६२
श्रीमन्मदनगोपालोपासक- १/९४
श्रीमन्मधुपुरीं क्रीड़ाभ्रमण- ४/२
श्रीमन्महाभागवतोपदेशतः ३/४५
श्रीमोहिनी-मूर्त्तिधरस्य ३/२५
श्रीरामपादाब्जयुगेऽवलोकिते ४/२४५
श्रीविष्णोराज्ञया देवैर्गुरुणा २/२५
श्रुतिस्मृतिस्तूयमानः १/६७
श्रुतिस्मृतीनां वाक्यानि १/३३
श्रुत्वा तदखिलं ४/१२८
श्रुत्वा तन्नितरां हृष्टो ४/२५०
श्रुत्वा बहुविधं साध्यं १/९८
श्वेतातपत्रञ्च विभर्त्यसौ ४/२६१

स

संकीर्त्तनं तस्य यथोदितं ४/२४६
संकीर्त्तनाद्ध्यानसुखं ३/१५३
संज्ञां प्राप्तोऽथ किञ्चिन्न १/१२३
संज्ञां लब्ध्वा समुन्मील्य १/१७१
संवाह्यमानचरणं २/१३२
संसार-यातनोद्विग्नै २/१९०
संहारायैव दुष्टानां ४/१०३
सकार्पण्यमिदञ्चासौ १/९७
सगुणत्वागुणत्वादिविरोधाः २/१७९
सच्चिदानन्दरूपाणां २/१८७
सच्चिदानन्दरूपास्ताः ४/९३
सच्चिदानन्दसान्द्रत्वाच्चैषां ४/१९७
सज्जनोपद्रवोद्यानभङ्गादौ १/१८४
सञ्जातप्रेमकाच्चास्माच् १/१०६
सञ्जातेनाचिरात् प्रेमपूरेण ४/६
सत्यं प्रतीहि वयमत्र ३/१२३
सत्यं सच्छास्त्रवर्गार्थसारः १/१
सदा गुणातीतमशेषसद्गुणं ३/३५
सदा दोलायमानात्मा १/२१८
सदा नीलाचले २/८५
सदा प्रमाणभूतानामस्माकं २/१९७

सदा वैजात्यमाप्तानां २/१९५
सदा सर्वत्र वसति १/६५
सदैकरूपं बहुरूपमद्भुतं २/२१७
सदैकरूपोऽपि २/२१८
सदैकरूपो भगवान् ३/६४
सद्य एवागतांस्तत्राद्राक्षं ३/७७
सनत्कुमारनामायं २/७०
स निर्विद्य गतः १/४५
सन्तु वा कतिचिद्– २/१८
सप्रेमका भक्तिरतीव ४/२३२
सप्रेमभक्तेः परिपाकतः ४/२२९
समाधत्स्व मनः स्वीयं २/८७
सम्पश्यन्तो यथापूर्वं ४/१५०
सम्पूजितविविध– १/१४५
सम्प्राप्तो जन्मसाफल्यं १/१४७
सम्भ्रमात् प्रणमन्तं ४/१३
सम्भ्रमैः प्रणमन्तं ४/२७
सम्मन्यमानास्तत्रत्यैः २/७७
स यज्ञमूर्त्ती २/४९
सर्वथा प्रतियोगित्वं २/२०१
सर्वप्रकारिका भक्ति– ३/१३२
सर्वप्रपञ्चातीतानां ४/४०
सर्वमन्यादृशं दृष्ट्वा ४/११
सर्वाङ्गसुन्दरतरं १/१४४
सर्वान्तरात्मा जगदीश्वर– १/६६
सर्वेषां भगवन्नाम्नां ३/१६०
सर्वेषां साधनानां ३/१८०
सल्लक्षणं प्रेमभरस्य ३/१६६
सवेत्रघातं प्रतिहारिभिस्तदा १/१७३
स वै विनोदः ४/१३२
सशोकं कथ्यमाना सा २/११७
ससम्भ्रमं सुरैः सर्वैर्ऋषि– २/३७
स सहासमवोचन्मां ३/५६
सस्नेहञ्च जगादेदं ३/२७
सहस्रवक्त्राः सूर्येन्दु– ४/१४४
सा कर्मज्ञानवैराग्य– २/२०४
साक्षादनुभवेनापि मनो– ४/२७१
साक्षाद्दर्शनमप्यस्य २/९७
साक्षाद्भगवतस्तस्य ४/२४१
सा च तस्याश्च सा ४/१७७
साधुसङ्गबलाद्गत्वा १/२०७
सा परापरयोः शक्त्योः ४/१७८
सारासारविचाराप्त्या ४/५४
सा सदा भगवद्वक्षःस्थले ४/१६९
सिद्धिः स्याद्भगवद्दृष्ट्या ४/२१०
सिध्येत्तथाप्यत्र कृपा– ४/१९१
सीतापते श्रीरघुनाथ ४/२४३
सुखं तद्गण–मध्येऽहं ३/६३
सुखं रहो जपं कुर्वन् १/२११
सुखरूपं सुखाधारः २/१८१
सुखस्य तु पराकाष्ठा २/१९१
सुग्रीवाङ्गदजाम्बवत्प्रभृति– ४/२५४
सुषुप्तिरिव काचिन्मे २/११५
सोऽतीव दुर्लभो ३/१०३
सोत्कण्ठो मथुरां १/५४
सोऽबुधो विस्मयं प्राप्तो १/५७
सोमं शिवं तत्र मुदा ४/१९
सोऽशेषदुःखध्वंसो २/१७५
सौन्दर्य–माधुर्यमयाङ्ग– ४/६६
स्तूयते चित्रवाक्यैः २/१४४
स्थान–स्वभावजाच्चित्– २/८४
स्नात्वा स्वदत्तमन्त्रस्य ३/५
स्नानं विश्वेश्वरं १/४९
स्नेहमन्वभवो लक्ष्म्या २/१३९

स्पृष्टोऽहं तैर्मूर्ध्नि २/११३
स्वकार्यात् पूर्व- ३/२२
स्वजप्यं गौरवात्- १/५०
स्व-भक्तवर्गस्य ४/७५
स्वभक्तानां तत्तद्विविध- २/२२०
स्वभावतोऽथापि महार्त्ति- ४/२३०
स्वयं तस्याः प्रभावेण २/२७
स्वयञ्च क्वचिदासक्ति- १/१५३
स्वयमेव स्वमाहात्म्यं १/१०८
स्वसाधनानुरूपं हि २/१८९
स्वस्मिन्नेव विलाप्यैके ४/३५
स्वागतं स्वागतं ४/८१
स्वाभिन्नभगवद्भक्ति- ३/६५
स्वारामता त्वहङ्कारत्याग- २/२०८
स्वारामाः पूर्णकामा ४/५३

ह

हर्षवेगादुपव्रज्य ३/५५
हर्षस्य काष्ठां परमां ४/८०
हर्षेण महता तस्य ३/७
हा हा धृतः १/१३४
हृत्पूरकं महानन्दं १/१४०
हृदि कर्तुं न शक्यते १/१७५
हृष्टोऽहं परितः पश्यन् ३/४९
हे श्रीवैष्णव पार्वत्या ३/१०२

उद्धृत–श्लोकानुक्रमणिका

सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

ख॰—खण्ड	ब्र॰सं॰—ब्रह्म संहिता	श्रीमद्भा॰—श्रीमद्भागवतम्
प॰पु॰—पद्म पुराण	व॰पु॰—वराह पुराण	श्वे॰—श्वेताश्वतर उपनिषद्
बृ॰ना॰पु॰—बृहन्नारदीय पुराण	वि॰पु॰—विष्णु पुराण	ह॰भ॰सु॰—हरिभक्तिसुधोदय
बृ॰भा॰—बृहद्भागवतामृतम्	श्रीगी॰—श्रीभगवद्गीता	

पूर्वार्द्ध (श्लोकका प्रथम चरण)

श्लोक	स्रोत	टीकामें स्थान
अ		
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो	विष्णु पुराण	१/४१
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं	योगवाशिष्ठ	३/९६–९७
अज्ञानसंज्ञो भवबन्ध-	श्रीमद्भा॰ (१०/१४/२६)	२/१७२
अतो भ्रमन्ति वचनैरसुरा		२/१७९
अथात आनन्ददुघं	श्रीमद्भा॰ (११/२९/३)	२/२०६
अथो अनन्तस्य मुख-	श्रीमद्भा॰ (२/२/२६)	१/१२
अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं	श्रीमद्भा॰ (१०/१४/१८)	४/१६४
अनारम्भं तमो यान्ति		२/१७९
अन्तर्याम्यैक्यवाचीनि		२/१७९
अन्त्यवर्णैर्हीनवर्णैः	भविष्य पुराण	१/१६२
अन्यूनानधिकाश्चैव	महावाराह पुराण	४/१६०
अपत्यं द्रविणं दारा	पद्म पुराण	२/१६१
अपवर्गश्च भवति यो-	श्रीमद्भा॰ (५/१९/१९)	२/२०४
अपि जन्मशतैः आग्रै-	बहवृच्परिशिष्ट	१/१६३
अपि पुष्पावदलनादपि	योगवाशिष्ठ	२/२०८
अपीव्यदर्शनं श्यामं	श्रीमद्भा॰ (१/१२/८–९)	१/२८
अप्रसिद्धेस्तद्गुणानामना-	वासुदेवाध्यात्म	२/१७९

अर्चायामेव हरये पूजां	श्रीमद्भा० (११/२/४७)	४/२०५; ४/२१५
अल्पशक्तिः सदोषश्च		२/१७९
अस्थूलश्चानणुश्चैव	कौर्म पुराण	२/१७९
अस्यस्मि त्वमहं		२/१७९
अहं भक्तपराधीनो	श्रीमद्भा० (९/४/६३)	२/२०२
अहमात्मा गुड़ाकेश !	श्रीगी० (१०/२०)	२/१७९
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः	श्रीमद्भा० (३/२९/२४)	४/२०५
अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं	ब्रह्म पुराण	१/१६३

आ

आचारप्रभवो धर्मो		१/४२
आत्मारामाश्च मुनयो	श्रीमद्भा० (१/७/१०)	२/१९७
आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः	नैयायिक	२/१७५
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	श्रीगी० (८/१६)	१/११

इ

इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः	विष्णुसंहिता	४/१७६
इति संचिन्त्य भगवान्	श्रीमद्भा० (१०/२८/१४)	१/१४
इत्थं सतां ब्रह्मसुख-	श्रीमद्भा० (१०/१२/११)	२/२१४
इत्युत्सुको द्वारवतीं	श्रीमद्भा० (१०/६९/३)	४/१६४

ई

ईश्वरो हि महद्भूतं	मोक्ष धर्म	२/१७९

ऊ

ऊर्ध्वरेतास्तपस्युग्रो		१/१०९

ए

एकदेशस्थितस्य-	विष्णु पुराण	२/१८०
एते चांशकलाः पुंसः	श्रीमद्भा० (१/३/२८)	४/१८५; ४/२४१
एवं व्रतः स्वप्रियनाम-	श्रीमद्भा० (११/२/४०)	३/१६४
एष दाता शरण्यश्च	श्रीमद्भा० (१/१२/२०)	१/२९

ऐ

ऐश्वर्ययोगाद्भगवान्	कौर्म पुराण	२/१७९
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य	वि॰पु॰ (६/५/७४)	४/१८६

क

कञ्चिज्जले मग्नं	वराह पुराण	२/१७३
कर्मचक्रन्तु यत् प्रोक्त–	ह॰भ॰सु॰	३/१६९
कामाद्द्वेषाद्भयात्	श्रीमद्भा॰ (७/१/२९)	२/२०१
कालेन सोऽजः	श्रीमद्भा॰ (३/८/२२)	२/९६
कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो	श्रीमद्भा॰ (३/११/३७)	४/११७
कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः	बृहद्विष्णु पुराण	१/१५६
कृषिवाणिज्य–गोरक्षा	श्रीमद्भा॰ (१०/२४/२१)	१/१११–११२
कृष्णः शरच्चन्द्रमसं	विष्णु पुराण	३/१८३
केवलैश्वर्यसंयोगादीश्वरः	महावाराह पुराण	४/१६०
क्वासि क्वासि महाभुज	श्रीमद्भा॰ (१०/३०/४०)	४/८
क्षित्यादिभिरेष किलावृतः	श्रीमद्भा॰ (६/१६/३७)	३/८८–८९

ग

गत्वा गत्वा निवर्तन्ते	विष्णु पुराण	२/१६६; ४/१५३
गदाशङ्खचक्रपद्मान्		१/७३
गुणदोषौ माययैव	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	२/१७९
गुणा विरुद्धा अपि तु	कौर्म पुराण	२/१७९
गुणाः सर्वेऽपि युज्यन्ते	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	२/१७९
गूढा वैष्णवसिद्धान्तमणि–		४/२३६

घ

घ्राणेन गन्धं रसनेन	श्रीमद्भा॰ (२/२/२९)	१/१२

च

चक्रं दक्षिणहस्ते–	श्रीमद्भा॰ (९/२०/२४)	१/१९८
चतुर्भुजा जनाः सर्वे	बहवृच्परिशिष्ट	१/१६३

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा	श्रीमद्भा॰ (१०/६९/२)	४/१६४
चिरस्थमपि संशुष्कं	स्कन्द पुराण	१/१६२

ज

जन्म बाल्यं ततः		१/२१७
जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदान–	योगवाशिष्ठ	२/२०५
जपेन देवता नित्यं	पाद्मनाभ	२/१६६
जयन्तः श्रुतदेवश्च	श्रीमद्भा॰ (८/२१/१७)	४/७३
जीवन्ति जन्तवः सर्वे	बृ॰ना॰पु॰	२/१६१

त

तं दृष्ट्वा गरुडारूढं	प॰पु॰ उत्तर॰ख॰	१/७६
तं प्रीयमाणं समुपस्थितं	श्रीमद्भा॰ (२/९/१८)	२/९६
तक्षकः सप्तमेऽहनि	श्रीमद्भा॰ (१/१८/३७)	१/२९
ततस्तेजः प्रज्वलित–	हरिवंश	२/२२७
ततो विशेषं प्रतिपद्य	श्रीमद्भा॰ (२/२/२८)	१/१२
तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो	श्रीमद्भा॰ (१०/१४/८)	२/२०४;२/२१३
तत्स्वीकारादिशब्दस्तु	महावाराह पुराण	४/१६०
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो	श्रीमद्भा॰ (२/९/१७)	२/९६
तद्विश्वनाभिं त्वति–	श्रीमद्भा॰ (२/२/२५)	१/१२
तथा हि मुक्तिपदं प्राप्ताः		२/१९८
तमेव परमात्मानं ये	पद्म पुराण	१/१६४
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति	श्वे॰	२/१५९
तस्मात् सर्वात्मना राजन्	श्रीमद्भा॰ (१०/४/४०)	२/२००
तस्मान्न मायया सर्वं	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	२/१७९
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य	श्रीमद्भा॰ (११/२०/३१)	२/२०५
तस्मै स्वलोकं भगवान्	श्रीमद्भा॰ (२/९/९)	१/१४; २/९६
तस्य सर्वावतारेषु न	महासंहिता	४/१५५–१५७
तस्यारविन्दनयनस्य	श्रीमद्भा॰ (३/१५/४३)	२/१७९
तस्यैव मेऽघस्य परा–	श्रीमद्भा॰ (१/१९/१४)	१/२९
तावत् कर्माणि कुर्वीत	श्रीमद्भा॰ (११/२०/९)	२/२०४
ते तं भुक्त्वा स्वर्ग–	श्रीगी॰ (९/२१)	१/११

तेन ते देवतातत्त्वं	ह॰भ॰सु॰	१/३१
तेनात्मनात्मानमुपैति	श्रीमद्भा॰ (२/२/३१)	१/१२
ते वा अमुष्य वदना–	श्रीमद्भा॰ (३/१५/४४)	३/१८२
त्रिगुणात्मिकाथ ज्ञानञ्च	शब्दमहोदधि	४/१७३
त्रैविद्या मां सोमपाः	श्रीगी॰ (९/२०)	१/११
त्वमेतस्य प्रभावेण	बृ॰भा॰ (२/१/१९१)	१/१११–११२

द

ददर्श तत्राखिलसात्वतां	श्रीमद्भा॰ (२/९/१४)	२/९६
दर्शन–ध्यान–संस्पर्शैर्मत्स्य–		४/१०६–१०७
दानं स्वधर्मो नियमो	श्रीमद्भा॰ (११/२३/४५)	३/१४७
दीक्षामात्रेण कृष्णस्य	ब्रह्म पुराण	३/१२५
दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय	श्रीमद्भा॰ (१०/८७/२१)	२/१९७
दृश्यमानस्य कृष्णस्य		४/१६४
देवत्वे देवदेहेयं	विष्णु पुराण	४/१६८
देहेन्द्रियासुहीनानां	श्रीमद्भा॰ (७/१/३४)	३/१४०
द्युपतय एव ते न	श्रीमद्भा॰ (१०/८७/४१)	३/८८–८९
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं	श्रीमद्भा॰ (१०/१/६)	१/२८

ध

धन्विनामग्रणीरेष तुल्य–	श्रीमद्भा॰ (१/१२/२१)	१/२९
धर्मार्थकाममोक्षाख्या	बृ॰ना॰पु	२/१६२
धर्मार्थकाममोक्षाणामुप–		१/११०
धर्मार्थकामैः किं तस्य	विष्णु पुराण	२/१६२
धृत्या बलिसमः कृष्णे	श्रीमद्भा॰ (१/१२/२५)	१/२९
ध्यायन् कृते यजन्	विष्णु पुराण	३/१४८
ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यम्–	मुद्गलोपाख्यान	३/१०४–१०६
ध्रुवं ततो मे कृत–	श्रीमद्भा॰ (१/१९/२)	१/३०

न

न कालनियमो विप्रा	गरुड पुराण	१/१६२
न तथा मे प्रियतमः	श्रीमद्भा॰ (११/१४/१५)	३/१८४

न तस्य कार्यं करणञ्च	श्वे॰	४/१७९
न तस्य प्राकृता मूर्त्तिः-	वराह पुराण	४/१६०
नन्दः सुनन्दोऽथ जयो	श्रीमद्भा॰ (८/२१/१६)	४/७३
न भजति कुमनीषिणां	श्रीमद्भा॰ (४/३१/२१)	४/२१५
न मय्येकान्तभक्तानां	श्रीमद्भा॰ (११/२०/३६)	२/२०४
न यत्र कालोऽनिमिषां	श्रीमद्भा॰ (२/२/१७)	१/१४
न यत्र शोको न	श्रीमद्भा॰ (२/२/२७)	१/१२
नरचेष्टामुपादाय आस्ते	तत्त्व-यामल	१/१६०
न शीतं न चोष्णं		२/२२७
नानाविधास्तस्य परि-	बृ॰भा॰ (२/५/५५)	१/२४
नारायणपराः सर्वे न	श्रीमद्भा॰ (६/१७/२८)	२/१९७
नास्ति तत्रैव राजेन्द्र	तत्त्व-यामल	१/१६२
नाहं प्रकाशः सर्वस्य	श्रीगी॰ (७/२५)	२/१८५
नाहं वसामि वैकुण्ठे	श्रीभगवान्	३/१३०
नित्यैव सा जगन्माता	विष्णु पुराण	४/१६८
निभृतनिकुञ्जगृहं गतया	श्रीगीत गोविन्द	३/११२
निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोग-	श्रीमद्भा॰ (१०/८७/२३)	२/२०१
निर्ममा निरहङ्कारा	मुद्गलोपाख्यान	३/१०४-१०६
नीलाद्रौ चोत्कले देशे	बृहद्विष्णु पुराण	१/१५९
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निः	श्रीमद्भा॰ (११/२०/३५)	२/२०४
नैवात्मनः प्रभुरयं निज-	श्रीमद्भा॰ (७/९/११)	४/२१५
नैवेद्यं जगदीशस्य	बृहद्विष्णु पुराण	१/१५६

प

पङ्कभूतं हि निमिरं	हरिवंश	३/२३
परं पदं वैष्णवमामनन्ति	श्रीमद्भा॰ (२/२/१८)	१/१४
परं ब्रह्म परं धाम	श्रीगी॰ (१०/१२)	२/१७८
परमानन्दसन्दोहा ज्ञान-	महावाराह पुराण	४/१६०
परात्परं ब्रह्म च ते	महद्भिः	२/१७९
पश्य यच्चात्मनस्तस्य	बृ॰भा॰ (२/७/४)	१/११०
पादत्रयाद्बहिश्चासन्न-	श्रीमद्भा॰ (२/६/२०)	१/१०
पारावतान्यभृत-सारस	श्रीमद्भा॰ (३/१५/१८)	४/४५

पार्थ प्रजाविता	श्रीमद्भा० (१/१२/१९)	१/२९
पितामहसमः साम्ये	श्रीमद्भा० (१/१२/२३)	१/२९
पिबन्ति ये भगवत	श्रीमद्भा० (२/२/३७)	३/१२४
पुण्या बत व्रजभुवो	श्रीमद्भा० (१०/४४/१३)	२/३
पुम्सां स्वकामाय	श्रीमद्भा० (३/८/२६)	४/७५
पुराणेषु द्विजश्रेष्ठाः	नारदीय पुराण	२/१९९
प्रकृतिः सा मम परा	हरिवंश	३/१०८–१११
प्रतिमा मन्दबुद्धीनाम्		४/२०५
प्रवर्तते यत्र रजस्तम–	श्रीमद्भा० (२/९/१०)	१/१४
प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते	श्रीमद्भा० (३/९/३९)	२/९६

ब

ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं	मुद्गलोपाख्यान	३/१०४–१०६
ब्रह्मणश्चापरं रूपं	प०पु० उत्तर०ख०	३/१०८–१११
ब्रह्मणा सह ते सर्वे		१/११
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्	श्रीगी० (१४/२७)	२/१७८; २/१८०
ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महद्	हरिवंश	३/१०८–१११
ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये	श्रीमद्भा० (१०/८७/१)	२/१७८
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा	बृहद्विष्णु पुराण	१/१५६
ब्रह्मादयः सुराः सर्वे	प०पु० उत्तर०ख०	१/७६

भ

भक्तिः परेशानुभवो	श्रीमद्भा० (११/२/४२)	२/२०५
भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी		२/१९७
भक्तिमिच्छसि वा	बृ०भा० (२/३/२८)	४/१८१
भक्तिर्दृढा भवेद्यस्य	बृ०ना०पु०	२/१६१
भक्त्या त्वनन्यया	श्रीगी० (११/५४)	२/१६१
भवबन्धच्छिदे तस्मै		२/१९७
भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुद	श्रीमद्भा० (५/१७/१६)	३/६६
भारते चोत्कले देशे	तत्त्व–यामल	१/१६०
भिद्यते हृदयग्रन्थि–	श्रीमद्भा० (१/२/२१); (११/२०/३०)	३/१८०

म

मत्कर्म कुर्वतां पुंसां	पद्म पुराण	२/२०४; ४/२०८–२०९
मनो वशेऽन्ये ह्यभवन्	श्रीमद्भा॰ (११/२३/४७)	३/१४७
मन्दारकुन्द–कुररोत्पल–	श्रीमद्भा॰ (३/१५/१९)	४/४५
ममैव तदघनं तेजो	हरिवंश	३/१०८–१११
ममोपरि यथेन्द्रस्त्वं	हरिवंश	२/१०
मयि भक्तिरस्तु ते	श्रीमद्भा॰ (४/२०/३२)	२/१९८
महर्षीणां भृगुरहम्	श्रीगी॰ (१०/२५)	२/३६
मायां वर्णयतोऽमुष्य	श्रीमद्भा॰ (२/७/५३)	४/१०४
मायामयेत्यविद्येति	स्कन्द पुराण	४/१७३
मायावादमसच्छास्त्रं	प॰पु॰ उत्तर॰ख॰	३/१०८–१११
मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीम्	श्रीमद्भा॰ (३/९/२९)	२/९६
मुक्ता अपि लीलया	श्रीशङ्कराचार्य वचन	२/१८६; २/१९७
मुक्तानामपि सिद्धानां	श्रीमद्भा॰ (६/१४/५)	२/१८६; २/२०७
मुक्तोपसृप्यात्	वेदान्त	२/१९७
मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं		४/१०६–१०७
मूकं करोति वाचालं		२/९३
मृगेन्द्र इव विक्रान्तो	श्रीमद्भा॰ (१/१२/२२)	१/२९
मृणालगौरायतशेषभोग–	श्रीमद्भा॰ (३/८/२३)	२/९६

य

यच्च व्रजन्त्यनिमिषमृ–	श्रीमद्भा॰ (३/१५/२५)	३/१४५
यत् कर्मभिर्यत्तपसा	श्रीमद्भा॰ (११/२०/३२)	२/२०५
यत् किञ्चिदिह लोके	मोक्ष धर्म	२/१७९
यत्र स्थिता जनाः	गरुड पुराण	१/१६३
यत् सङ्कुलं हरिपदानति–	श्रीमद्भा॰ (३/१५/२०)	४/४६
यथा वैरानुबन्धेन	श्रीमद्भा॰ (७/१/२६)	२/२०१
यदन्नं पाचयेल्लक्ष्मी–		१/१६२
यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः	श्रीमद्भा॰ (१०/३८/८)	४/१७०
यदा यदानुगृह्णाति	श्रीमद्भा॰ (४/२९/४७)	३/११२
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं		१/४२; २/१९०

यस्मिन् ज्ञाते न	पद्म पुराण	२/२०४
यस्मिन्न्यस्तमतिर्न याति	विष्णु पुराण	३/१४८
यस्य प्रभा प्रभवतो	ब्र॰सं॰ (५/४०)	२/१७९; २/१८०
यातीतगोचरा वाचां	विष्णु पुराण	४/१७८
या मया क्रीडता	श्रीमद्भा॰ (१०/४७/३७)	३/११२
या यथा भुवि वर्तन्ते		१/१९
युगे युगे भवन्त्येते	विष्णु पुराण	२/२६
येऽर्चयन्ति हरिं	मुद्गलोपाख्यान	३/१०४–१०६
ये वा मयीशे कृत–	श्रीमद्भा॰ (५/५/३)	२/२०४
येषां स एव भगवान्	श्रीमद्भा॰ (२/७/४२)	४/८५–८६
यो मां सर्वेषु भूतेषु	श्रीमद्भा॰ (३/२९/२२)	४/२०५

र

राजन् पतिर्गुरुरलं	श्रीमद्भा॰ (५/६/१८)	४/२२५
रासगेयं जगौ कृष्णो	विष्णु पुराण	३/१८३
रूपं तवैतन्ननु	श्रीमद्भा॰ (३/१३/३५)	२/४९

ल

लोकालोकं तथातीत्य	श्रीमद्भा॰ (१०/८९/४७)	३/२३

व

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण	विष्णु पुराण (३/८/९)	२/२०४
वासुदेवे मनो यस्य		४/२१९
विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्मा–	ब्रह्मवैवर्त्त पुराण	३/९६–९७
वृकोदरश्च धौम्यश्च	श्रीमद्भा॰ (१/१०/१०)	१/२६
वैमानिकाः सललनाश्–	श्रीमद्भा॰ (३/१५/१७)	४/४६
वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेना–	श्रीमद्भा॰ (७/१/४६)	३/११२
वैश्वानरं याति विहायसा	श्रीमद्भा॰ (२/२/२४)	१/१२

श

शक्तयः सर्वभूतानाम–	विष्णु पुराण	४/१७९
शाठ्येनापि नरा नित्यं		३/१२५

शार्ङ्गी सोत्तरदन्तः शूरो	क्रम दीपिका (२/५)	१/३५-३७
शृण्वन् सुभद्राणि	श्रीमद्भा॰ (११/२/३९)	३/१६४
श्यामावदाताः शत-	श्रीमद्भा॰ (२/९/११)	४/१४२-१४४
श्रवणाद्यैरुपायैर्यः	पद्म पुराण	१/१६४
श्री-भू-दुर्गेति या भिन्ना	महासंहिता	४/१७३
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे		२/२०४

ष

षड्भिर्मासोपवासैस्तु		१/१४८

स

स एव लोके विख्यातः	श्रीमद्भा॰ (१/१२/३०)	१/२८
सत्त्वं न चेद्धातरिदं	श्रीमद्भा॰ (१०/२/३५)	३/१३८
सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-	श्रीमद्भा॰ (४/३/२३)	२/८८
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्-	श्रीमद्भा॰ (१०/२८/१५)	१/१४
सत्यज्ञानानन्तानन्द-	श्रीमद्भा॰ (१०/१३/५४)	४/१६४
सत्यपि भेदापगमे नाथ	श्रीभगवच्छङ्करपादानां	२/१९६
सदा अयमस्य सर्वस्य	श्रुतिः	४/१७९
सदा सर्वत्रास्ते ननु		२/२१५
सदाचारवता पुंसा जितौ		१/४२
स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं	श्रीमद्भा॰ (२/२/३०)	१/१२
समुद्रस्योत्तरे तीरे आस्ते	पद्म पुराण	१/१५९
सम्प्रदिश्यैवमजनो	श्रीमद्भा॰ (२/९/३७)	२/९६
सम्सारसिन्धुमतिदुस्तर-	श्रीमद्भा॰ (१२/४/४०)	३/१२४
सम्सारसुखसम्युक्तं ब्रह्मा-	पुराण	३/९६-९७
सर्वं मद्भक्तियोगेन	श्रीमद्भा॰ (११/२०/३३)	२/२०५
सर्वकल्पेषु चाप्येवं	ह॰भ॰सु॰	२/२६
सर्वभुतेषु सर्वात्मन्	विष्णु पुराण	४/१७८
सर्वसद्गुणमाहात्म्य एष	श्रीमद्भा॰ (१/१२/२४)	१/२९
सर्वे नित्यां शाश्वताश्च	महावाराह पुराण	४/१६०
सर्वेऽवतारा व्याप्ताश्च	महासंहिता	४/१५५-१५७
साधवो हृदयं मह्यं	श्रीमद्भा॰ (९/४/६८)	२/२०२

सा सांख्यानां गतिं	हरिवंश	३/१०८–१११
सिद्धमन्त्रोऽपि पूतात्मा	तन्त्र	१/११३–११६
सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती	श्रीमद्भा॰ (१/१०/९)	१/२६
स्पर्शनादेव तत्क्षेत्रं नृणां	बहवृच्परिशिष्ट	१/१६३
स्मरतां हृदि विन्यस्य	श्रीमद्भा॰ (९/११/१९)	४/२४२
स्मर्तव्यं सततं विष्णुः–	श्रीशिवजी	२/२०४
स्रुक् तुण्ड आसीत्	श्रीमद्भा॰ (३/१३/३६)	२/४९
स्वधर्मनिष्ठः शत–	श्रीमद्भा॰ (४/२४/२९)	१/१०; २/१२६; ३/१०४–१०६
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च	बृहत् सहस्रनामस्तोत्रं	३/१०८–१११

ह

हरिर्दैवं शिवो	ह॰भ॰सु॰	१/३१

उत्तरार्द्ध (श्लोकका द्वितीय चरण)

अ

अस्तौद्विसर्गाभिमुख– श्रीमद्भा॰ (३/८/३३) २/९६

इ

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु श्रीगी॰ (५/९) ३/१३५

क

कौन्तेय प्रतिजानीहि न श्रीगी॰ (९/३१) २/२२१
क्वेदृग्विधा विगणिताण्ड– श्रीमद्भा॰ (१०/१४/११) ३/८८–८९
क्षतजाक्षं गदापाणि– श्रीमद्भा॰ (१/१२/९) १/२८

ग

गङ्गा शतगुणा प्रोक्ता व॰पु॰ (१५२/३०) १/८८
गायन्त्यस्तं तडित इव श्रीमद्भा॰ (१०/३३/७) ३/१८३

त

तमेव सर्वगेहेषु श्रीमद्भा॰ (१०/६९/४१) ४/१६४

प

पुण्यं मधुवनं यत्र श्रीमद्भा॰ (४/८/४२) २/३

ब

ब्रह्मेति परमात्मेति श्रीमद्भा॰ (१/२/११) २/१८२

म

मथुरा भगवान् यत्र श्रीमद्भा॰ (१०/१/२८) २/३
महतां मधुद्विट्– श्रीमद्भा॰ (५/१४/४४) २/१९७
महान्तस्ते समचित्ताः श्रीमद्भा॰ (५/५/२) २/२०४
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं श्रीमद्भा॰ (२/१०/६) २/१७५

य

यथा चरेद्बालहितं	श्रीमद्भा०	(४/२०/३१)	२/१९८
यान्त्यष्मणा महर्लोका-	श्रीमद्भा०	(३/११/३०)	२/३६

व

विक्रुश्य पुत्रमघवान्	श्रीमद्भा०	(६/३/२४)	२/१७३
वियत इवापदस्य तव	श्रीमद्भा०	(१०/८७/२९)	२/२१५

श

श्वित्रो न जातो	श्रीमद्भा०	(७/१/१८)	२/१००

स

सहस्रनामभिस्तुल्यं			३/१६०
स्थूलतुषावघातिनाम्	श्रीमद्भा०	(१०/१४/४)	३/१०८-१११

ह

हसत्यथो रोदिति रौति	श्रीमद्भा०	(११/२/४०)	४/२३४

शब्द–कोश

अ

अकिञ्चन—भगवत् भक्तिरूप सम्पत्तिके अलावा जिनके पास और कोई दूसरी सम्पत्ति न हो।

अघटन–घटन—असम्भवको भी सम्भव करना।

अज्ञ—ज्ञान रहित, नासमझ।

अद्वितीय—जिसके समान दूसरा न हो।

अनभिज्ञ—नासमझ, अकुशल।

अनसूया—ईर्ष्याका न होना।

अनुकम्पा—करुणा, दया।

अनुग्रह—कृपा, दया।

अनुनय—विनय, प्रार्थना।

अनुष्ठान—किसी क्रियाका प्रारम्भ।

अनुसन्धान—ढूँढ़ना।

अन्तर्हित—छिपा हुआ, गूढ़।

अन्त्यज—नीच जाति।

अन्यत्र—और कहीं।

अन्वय—सम्बन्ध, सङ्गति, अनुगमन।

अपकर्ष—छोटा करनेवाला, नीचे खींचने-वाला, कमी।

अपरिच्छिन्न—निरन्तर, असीम।

अपरिमित—असीम।

अपर्याप्ति—अपूर्णता।

अपेक्षा—आकांक्षा, उम्मीद।

अपेक्षित—इच्छा, आकांक्षा।

अभिधा वृत्ति—शब्दकी तीन शक्तियोंमें से प्रथम, जिसके द्वारा शब्दके मुख्य अर्थका ज्ञान होता है।

अभिनिवेश—दृढ़ अनुराग, दृढ़ मनोयोग।

अभिभूत—विवेक रहित, पीड़ित।

अभिषिक्त—अभिषेक किया हुआ।

अभिसार—प्रियसे मिलनेके लिए जाना।

अभिहित—कथित, वर्णित, सम्बोधित।

अभ्युपगम–न्याय—किसी बातको सत्य समझकर मान लेना, बिना परीक्षा किये किसी ऐसी बातको मानकर जिसका खण्डन करना है, फिर उसकी परीक्षा करनेको अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं।

अयाचित—बिना माँगे।

अलकावलि—घुँघराले बाल।

अवलम्बन—सहारा, आश्रय।

अवहेला—अवज्ञा, अपमान, तिरस्कार।

असंकोच—बेरोक, भय या लज्जा रहित।

असूया—ईर्ष्या, असहिष्णुता, निन्दा।

अस्फुट—अस्पष्ट, सन्दिग्ध।

आ

आकस्मिक—अचानक होनेवाला, बिना किसी कारणके।

आकुल—उद्विग्न, परेशान।
आक्रान्त—पीड़ित, पराजित, वशीभूत।
आग्रह—जोर देना, दृढ़तासे पकड़ना।
आघ्राण—सूँघना।
आजानुलम्बित—घुटने तक लम्बी।
आतुर—अधीर, उत्सुक।
आत्मारामता—अपनी आत्मामें प्रसन्न रहनेवाला।
आत्यन्तिक—बाधा रहित, स्थायी, सम्पूर्ण।
आरोहण—ऊपर चढ़नेकी क्रिया, सीढ़ी।
आर्त्तनाद—दर्द भरी ऊँची आवाज, करुण स्वरमें दुखका ज्ञापन।
आविष्कार—प्रकट करना, नई चीज बनाना।
आवृत—घेरा हुआ, फैला हुआ।

इ

इङ्गित—इशारा, संकेत।
इतर—दूसरा, अन्य, भिन्न।

ई

ईषत्—थोड़ासा, मन्द।

उ

उत्कर्ष—श्रेष्ठता।
उद्वेलित—उछाला हुआ, हिलना-डुलना।
उन्मुखता—उत्कण्ठित, उत्सुक, तैयार।
उपधान—वह वस्तु जिसका सहारा लिया जाय, तकिया।
उपादान—वह वस्तु जिससे कोई द्रव्य बने, कार्यरूप प्राप्त करनेवाला कारण।
उपायन—समीप गमन, शिष्य बनना, भेंट।
उपेक्षा—अवहेलना, तिरस्कार।

ऊ

ऊर्ध्वरेता—नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

ऐ

ऐक्य—एकरूपता, समानता।

क

कटाक्ष—तिरछी निगाह।
करतलगत—हथेलीमें आना।
कलेवर—देह, आकार।
कषाय—मैला, अनुचित।
कातर—उद्विग्न, अधीर।
किंकर—सेवक, आज्ञापालक।
किरीट—मुकुट, ताज।
'कैमुत्य' न्याय—जब यह बात दृष्टान्त द्वारा समझानेकी जरूरत होती है कि जिसने बड़े-बड़े काम कर डाले उसके लिए छोटा काम करना कुछ भी नहीं है तब इस उक्तिका प्रयोग किया जाता है।
क्षेय—विनाश होना, हटा जाना।

ग

गर्हित—निन्दित, दूषित।
गुल्म—झाड़ी।

च

चित्त—मन, हृदय, विचारशक्ति।

ज

जिज्ञासा—जाननेकी इच्छा।

ज्ञाति—पिता, पितृ वंशमें उत्पन्न व्यक्ति।

त

तदात्मिक (तदात्म्य)—अभिन्नता।

तन्मयता—निमग्न चित्त, तल्लीन।

तारतम्य—कम और अधिकके अनुसार क्रम।

तिरोहित—लुप्त हो जाना, अन्तर्धान।

तुमुल—शोरगुल, भीषण।

तोषक—प्रसन्न करनेवाला, सन्तोष करनेवाला।

द

दयार्द्र—दयासे भरा हुआ।

दारुब्रह्म—काठसे बने हुए श्रीविग्रह।

दिगम्बर—नग्न, शिव, जिनके लिए दिशाएँ ही वस्त्ररूप हों।

दुर्जेय—जिस पर विजय पाना कठिन हो।

दुर्वितर्क्य—तर्कसे अतीत।

दुष्कर—कठिन और पीड़ादायी कार्य, जिसे करना कठिन हो।

दुष्प्राप्य—जिसको प्राप्त करना अति कठिन हो।

देदीप्यमान—जाज्वल्यमान, खूब चमकता हुआ।

द्विपरार्द्धकाल—श्रीब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु।

ध

धनवत्ता—धनकी अधिकता।

न

नर्म—क्रीड़ा, हँसी-मजाक, परिहास।

निकृष्ट—नीच, घृणित।

निक्षेपण—फेंकना, त्यागना।

नितम्ब—स्त्रियोंके शरीरका कमरसे नीचेका उभरा हुआ भाग।

निदान—आदिकारण, रोगका निर्णय या निराकरण।

निधि—आधार, भण्डार, सम्पत्ति।

निरीह—कामनारहित, इच्छाशून्य।

निर्वाण—मोक्ष, जीवनसे मुक्त।

निर्विकल्प—विकल्पसे रहित।

निर्विकार—विकारसे रहित।

निर्वेद—वैराग्य, दुःख, अनुताप।

निवेश—प्रवेश, स्थापन।

निष्पन्न—सिद्ध, पूर्ण।

न्यास-मुद्रा—अपनेको अर्पण या स्थिर करनेकी क्रिया।

प

पक्षान्तर—दूसरा पक्ष।

पर—दूसरा, उच्चतर, प्रधान।

परायण—अति आसक्त, अनुरक्त।

परार्द्ध—ब्रह्माकी आयुका आधा भाग।

परिचर्या—सेवा।

परिचारक—सेवक।

परिच्छद—वस्त्र, आच्छादन।

परित्यज्य—त्याग करने योग्य।

परिवृत—घिरा हुआ।
परिव्याप्त—सम्पूर्णरूपसे घिरा हुआ।
परिहास—चिढ़ाना, हँसीमजाक।
पर्यटन—भ्रमण।
पर्यवसित—समाप्त, निश्चित।
पलायन—भाग जाना।
पातकी—पापी।
पारङ्गत—विद्वान, निपुण।
पिण्ड—किसी द्रव्यका ढेला, ठोस गोला।
पुञ्ज—राशि, ढेर।
प्रकृष्ट—उत्तम, मुख्य।
प्रकोष्ठ—महल या भवनके द्वारके पासका कमरा, आँगन।
प्रणयन—रचना, लिखना।
प्रतिकार—प्रतिशोध, बदला, विपक्षता।
प्रतिज्ञात—स्वीकार किया हुआ, प्रतिज्ञा।
प्रतिपादक—भलीभाँति समझानेवाला, निरूपण करनेवाला।
प्रबोध—जागना, पूर्ण बोध, सतर्कता, समझदारी।
प्रयोज्य—प्रयोगके योग्य।
प्रवर्त्तन—कार्यसञ्चालन, प्रेरणा।
प्रवृत्त—सञ्चालित, संलग्न, आरम्भ किया हुआ।
प्रवृत्ति—लगन, झुकाव।
प्रसरण—फैलानेकी क्रिया या भाव, आगे बढ़ना।
प्रसारित—फैलाया हुआ, पसारा हुआ।
प्रागल्भता—वीरता, चतुरता, प्रधानता, प्रबलता।
प्रायः—अधिकतर, लगभग।
प्रेयसी—प्रियतमा (पत्नी)।
प्लावित—डूबा हुआ, निमग्न।

ब

बिम्ब—प्रतिछाया, सूर्य या चन्द्रमाका मण्डल, दर्पण।

भ

भाजन—पात्र, योग्य अधिकारी।
भगवत्ता—भगवान् होनेका गुण।

म

मञ्जुषा—पिटारी।
मध्यस्थ—मध्यवर्ती, तटस्थ।
महिषी—रानी, पटरानी।
माङ्गलिक—मङ्गलजनक, मङ्गल सूचक।
मिष्टी—मधुर, स्वादिष्ट।
मुमुक्षु—मोक्षका अभिलाषी।

य

यथेष्ट—आवश्यकताके अनुसार, इच्छानुसार।
यथोचित—उचित रूपमें।
याजक—यज्ञ करानेवाला।
युगपत्—एक समय, साथ-साथ।
योजन—८ मील या ४ कोस।

र

रन्धन—पकानेकी क्रिया।
रूपक—एक अर्थालंकार जहाँ एक

समान गुणके कारण उपमेयमें उपमानका आरोप किया जाय।

ल

लम्पट—व्यभिचारी या कामुक पुरुष, लोभी।
लाज—खील, खोई।
लोकातिलोकोत्तर—समस्त लोकोंसे भी अतीत, असाधारण।

व

वाक्—शब्द, वाणी, जिह्वा।
विपुल—प्रचुर, विस्तृत, अगाध।
विशिष्ट—प्रसिद्ध, यशस्वी, विलक्षण।
विहित—किया हुआ, कृत, आदिष्ट।
वीजन—पंखा झलना।
वृत्ति—चित्त, मन आदिकी अवस्था।
वेष्टित—चारों ओरसे घिरा हुआ, अवरुद्ध।
वैशिष्ट्य—विशेषता, अन्तर।
वैदग्धी—दक्षता, चतुरता, रसिकता।
व्यतिक्रम—क्रमका उल्लंघन।
व्यतिरेक—अन्तर, भिन्नता, असादृश्य।
व्याघ्र—चीता, बाघ।
व्योम—आकाश, जल, विष्णु।

श

शोकातुर—शोकसे पीड़ित।
श्लेष—आलिङ्गन, संयोग, एक शब्द-अलंकार जिससे एक शब्दके कई अर्थों द्वारा काव्यमें चमत्कार उत्पन्न होता है।

स

सङ्गति—ऐक्य, आगे और पीछेके विचारसे मेल बैठना।
समन्वय—नियमित क्रम, सम्बन्ध फल।
समाहित—एकत्र किया हुआ, व्यवस्थित, पूर्ण।
सम्पन्न—पूर्ण किया हुआ।
सम्पादित—सम्पूर्ण किया हुआ।
सम्भाषण—बातचीत।
सम्भ्रम—मान, सम्मान, भय, शोभा।
सम्यक्—उचित, भलीभाँति।
सम्वाहन—चरण या शरीर दबाना।
सर्वोत्कृष्ट—सर्वश्रेष्ठ।
सहस्र—एक हजार।
सान्निध्य—उपस्थिति, सामीप्य।
सामंजस्य—सङ्गति, मेल, विषमता न होना।
सुधा—अमृत, रस।
सुषुप्ति—प्रगाढ़ निद्रा।
सोपान—सीढ़ी, जीना।
सौरभ—खुशबुदार, सुगन्धित।
सौहार्द—सद्भाव, मैत्री।
स्थानीय—तुलनीय।
स्पर्धा—ईर्ष्या, प्रतियोगिता।
स्वल्प—अति अल्प।

ह

हव्यान्न—देवताओंके योग्य अन्न, घीसे बना हुआ अन्न।